

29954



आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावालः ।

ग्रन्थाङ्कः २१

श्रीमद्द्वैप्रायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणि

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि ।

(द्वितीयाध्यायान्तिमपादद्वयसंमैतौ तृतीयचतुर्थाध्यायौ)

एकसंबेकरेत्युपाह्वैः वे० शा० रा० रा० नारायण-
शास्त्रिभिः संशोधितानि ।

तामि च

महादेव चिमणाजी आपटे

इत्यनेन

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

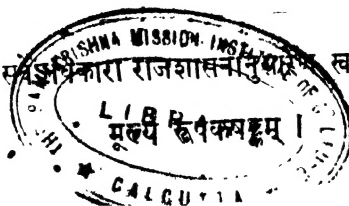
आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितानि ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८१३

ख्रिस्ताब्दाः १८९१

(अस्य सर्वप्रकारा राजशासननिषेधे स्वायत्तीकृताः)



| | |
|-----------------|---------------|
| R.M.I.C LIBRARY | |
| Acc No | 29954 |
| Class | 181.55 RAD |
| Date | |
| St. Card | |
| Class | ✓ |
| Cat | ✓ |
| Bk. Card | ✓ |
| Checked | am |

ब्रह्मसूत्रीयषोडशपादार्थदर्शनं

निर्घण्टपत्रम् ।

प्रतिपाद्यविषयाः ।

अध्यायाङ्काः । पादाङ्काः । पृष्ठाङ्काः ।

| | | | |
|---|---|---|------|
| पूर्वभागेण पञ्चमहाभूतश्रुतीनामुत्तरभागेण च जीव- श्रुतीनां परस्परविरोधपरिहारः, | २ | ३ | ५८५ |
| लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः, | २ | ४ | ६७७ |
| जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपूर्वकवैराग्यनि- रूपणम्, | ३ | १ | ७१५ |
| पूर्वभागेण त्वंपदार्थस्योत्तरभागेण च तत्पदार्थस्य च शोधनम्, | ३ | २ | ७५६ |
| सगुणविद्यासु गुणोपसंहारस्य, निर्गुणे ब्रह्मण्यपु- नरुक्तपदोपसंहारस्य च निरूपणम्, | ३ | ३ | ८२३ |
| निर्गुणज्ञानस्य बहिरङ्गसाधनभूतानामाश्रमयज्ञादीना- मन्तरङ्गसाधनभूतानां च शमदमश्रवणमनना- दीनां निरूपणम्, | ३ | ४ | ९६८ |
| श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृतवतो जीवतः पुण्यपापलेपविनाशलक्ष- णाया मुक्तेरभिधानम्, | ४ | १ | १०३३ |
| अग्रयमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारदर्शनम्, | ४ | २ | १०७५ |
| सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गाभिगमनम्, | ४ | ३ | १०९८ |
| पूर्वभागेण निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकेवल्यप्राप्तेः, उत्तर- भागेण च सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोकस्थितेर्निरू- पणम्, | ४ | ४ | ११२७ |

अथ व्यासाधिकरणार्थदर्शनं निर्घण्टपत्रम् ।

अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे ।

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

| | | | |
|---|-----|---|-----|
| वेदान्तवादिमत आकाशस्यानित्यत्वकथनम्, | १-७ | १ | ५८५ |
|---|-----|---|-----|

प्रतिपाद्यविधयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० पृष्ठाङ्काः ।

| | | | |
|---|-------|----|-----|
| स्वरूपवतो ब्रह्मणो वायोरुत्पत्तिकथनम्, | ८ | २ | ६०४ |
| सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽजन्यत्वं जगज्जनकत्वं च, | ९ | ३ | ६०६ |
| कार्यकारणयोरभेदेन वायुभूतस्य ब्रह्मणस्तेजःसृष्टिः, | १० | ४ | ६०८ |
| वेदोक्ततेजोरूपब्रह्मणो जलोत्पत्तिसिद्धिः, | ११ | ५ | ६११ |
| छान्दोग्योपनिषदुक्तजलोत्पन्नान्नस्य पृथिव्यर्थकत्वम्, | १२ | ६ | ६१२ |
| पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिसिद्धिः, | १३ | ७ | ६१४ |
| प्रलयकाले पृथिव्यादीनां विपरीतक्रमकल्पनम्, | १४ | ८ | ६१६ |
| प्राणादीनां भूतेष्वन्तर्भावान्न तेषां सृष्टिक्रमभङ्गः, | १५ | ९ | ६१८ |
| वपुषो जन्ममरणयोर्मुख्यत्वेन जीवस्यैतयोर्भाक्त्वम्, | १६ | १० | ६२० |
| जीवजन्मन और्पाधिकत्वेन तस्य वस्तुतो नित्यत्वम्, | १७ | ११ | ६२२ |
| जीवस्य चिद्रूपत्वखण्डनपूर्विका तच्चिद्रूपत्वासिद्धिः, | १८ | १२ | ६२७ |
| जीवस्याणुत्वखण्डनपूर्वकं तत्सर्वगत्वप्रतिपादनम्, | १९-२२ | १३ | ६२९ |
| जीवस्याकर्तृत्वानरसनपूर्वकं तत्कर्तृत्वप्रतिपादनम्, | २३-२९ | १४ | ६४७ |
| जीवकर्तृत्वस्य मध्यस्तत्वेनाव्यावृत्तविकत्वम्, | ४० | १५ | ६५१ |
| जीवस्येश्वरप्रवृत्तत्वेन न रागप्रवृत्तत्वम्, | ४१-४२ | १६ | ६५८ |
| और्पाधिककल्पनैर्जीवेशयोर्जीवानां च परस्परं व्यव- | | | |
| हारव्यवस्था | ४३-५३ | १७ | ६६२ |

उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।

| | | | |
|--|-------|---|-----|
| इन्द्रियाणामनार्दित्वनिराकरणपूर्वकं तेषामात्मसमुत्प- | | | |
| न्नत्वम्, | १-४ | १ | ६७७ |
| इन्द्रियाणामेकादशसंख्याकत्वस्य वेदान्तसंमतत्वम्, | ५-६ | २ | ६८४ |
| संख्यसंमतेन्द्रियसर्वगत्वनिराकरणपूर्वकं तेषां परि- | | | |
| च्छिन्नत्वकथनम्, | ७ | ३ | ६९१ |
| प्राणस्यानार्दित्वखण्डनपूर्वकं तदुत्पात्तिसमाधानम्, | ८ | ४ | ६९२ |
| प्राणवायोः स्वतन्त्रताकथनम्, | ९-१२ | ५ | ६९४ |
| प्राणस्य सर्माष्टरूपेणाऽऽधिदैविकी विभुताऽऽध्या- | | | |
| त्मिकी तु तस्याल्पताऽदृश्यता चेन्द्रियवदिति, | १३ | ६ | ७०० |
| इन्द्रियगणस्य देवताविशेषाधीनत्वकथनम्, | १४-१६ | ७ | ७०१ |
| विलक्षणत्वेन प्राणादिन्द्रियाणां पृथक्त्वम्, | १७-१९ | ८ | ७०५ |

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

सर्वजगत्सर्जने जीवस्याशक्तत्वादीशस्यैव सर्वशक्तिम-
त्त्वात्तस्यैव तन्निर्मातृत्वम्, २०-२२ '९ ७०९

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

साधनाख्यतृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे ।

जीवस्य भाविशरीरबीजरूपसूक्ष्मभूतवेष्टितस्यैवेतो

| | | | |
|---|-------|---|-----|
| गमनम् | १-७ | १ | ७१५ |
| कर्मान्तरेः सानुशयस्य जीवस्य लोकान्तरारोहणम्, | ८-११ | २ | ७२९ |
| पापिनां याम्यलोकगमनम्, | १२-२१ | ३ | ७३९ |
| अवरोहिणो जीवस्य वियदादिसमानत्वम्, | २२ | ४ | ७४६ |
| स्वर्गादिवतरणकाले स्वर्ग-वृष्टि-पृथिवी-पुरुष-योपितृभु क्रमशो जनिष्यतो जीवस्य स्वर्गे वृष्टौ च जन्मान् त्वरा, तदितरेषु च जन्मनि विलम्ब इति, | २३ | ५ | ७४८ |
| सस्यादौ जीवस्य न मुख्यजन्म किंतु संश्लेषमात्रमिति, २४-२७ | २४-२७ | ६ | ७४९ |

उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे ।

| | | | |
|---|-------|---|-----|
| स्वप्नदृष्टेर्मिथ्यात्वकथनम् | १-६ | १ | ७५६ |
| सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्, | ७-८ | २ | ७६७ |
| स्वप्नार्वास्थितस्यैव जीवस्य तस्मात्समुद्बोधो नापर- स्येति, | ९ | ३ | ७७५ |
| मूर्छाया जाग्रदाद्यवस्थान्तरभिन्नत्वम्, | १० | ४ | ७७८ |
| ब्रह्मणो नीरूपभावस्य वेदान्तसंमतत्वम्, | ११-२१ | ५ | ७८२ |
| ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वस्थापनम्, | २२-३० | ६ | ८०० |
| ब्रह्मणोऽन्यस्यावस्तुत्वव्यवस्थापनम्, | ३१-३७ | ७ | ८११ |
| कर्मफलोत्पत्तिं प्रतीश्वरस्यैव कर्तृत्वं नापूर्वस्येति, ३८-४१ | ३८-४१ | ८ | ८१९ |

उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे ।

छान्दोग्यबृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाभिविद्योपास-
नयोर्विध्यनुष्ठानफलसाम्येनैकत्वम्, १-४ १ ८२३

| प्रतिपाद्यविषयाः । | | | | सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः । | | |
|--|------|------|------|------------------------------------|----|-----|
| गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वम्, | | | | ५ | २ | ८३४ |
| छान्दोग्यकाण्वशास्त्रयोर्द्वीथविद्याभेदकथनम् | | | | ६-८ | ३ | ८३५ |
| ब्रह्मदृष्टेर्हेतुत्वेनाक्षरोद्वीथयोरेकत्वसंपादनम् | | | | ९ | ४ | ८४३ |
| वैसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहर्तव्यत्वम्, | | | | १० | ५ | ८४७ |
| आनन्दसत्त्वत्वादीनां ब्रह्मगुणानां प्रतिपत्तिफलत्वेन | | | | | | |
| सर्वशास्त्रासु समानत्वाद्यवस्थापकविध्यभावाच्च | | | | | | |
| तेषामुपसंहर्तव्यत्वम्, | | | | ११-१३ | ६ | ८५० |
| पुरुषज्ञानस्य संसारकारणात्, ज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरु- | | | | | | |
| षस्यैव वेद्यत्वम्, | | | | १४-१५ | ७ | ८५३ |
| ईश्वरस्यैवाऽऽत्मशब्दवाच्यत्वं न विराज इति, | | | | १६-१७ | ८ | ८५६ |
| काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोर्द्वयोर्वस्त्वेकत्वम्, | | | | १८ | ९ | ८६४ |
| प्राणोपासनं प्रति प्राणविद्याप्राप्तयोरनम्रताबुद्ध्याचम- | | | | | | |
| नयोरनम्रताबुद्धेरेव विधेयत्वम्, | | | | १९ | १० | ८६२ |
| काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणबृहदारण्यकयोः पठितायाः | | | | | | |
| शाण्डिल्यविद्याया एकविधात्वम्, | | | | २०-२२ | ११ | ८७१ |
| अहंरित्यादित्यगतस्याहमित्यक्षिगतस्य च वेद्यपुरुष- | | | | | | |
| स्यैकत्वेऽपि स्थानविशेषे तन्नामविशेषस्य युक्तत्वम्, | | | | २३ | १२ | ८७५ |
| विद्यैकत्वाभावात्संभृत्यादीनां गुणानां शाण्डिल्य- | | | | | | |
| विद्यादिष्वनुपसंहार्यत्वम् | | | | २४ | १३ | ८७७ |
| तैत्तिरीयकताण्डिनोः पुरुषविद्यायाः पृथक्त्वम् | | | | २५ | १४ | ८८० |
| वेदमन्त्रप्रवर्गादीनां विद्यानङ्गत्वम्, | | | | २६ | १५ | ८८८ |
| अर्थवादत्वेन पापपुण्ययोरुपायनस्य | | | | | | |
| हानावुपसंहर्तव्यत्वम् | | | | } १ वर्णकम् } ...२७-२८ १६ ८९५ | | |
| पापपुण्यविधूननस्य हानार्थकत्वमेव | | | | | | |
| न चालनार्थकत्वम् | | | | | | |
| भरणात्प्रागुपास्ये साक्षात्कृते भुक्- | | | | | | |
| तद्वृत्तक्षयः, | | | | } २ वर्णकम् } | | |
| उपासकस्यैवाचिरादिमार्गो न ज्ञानिन इत्यस्य | | | | | | |
| व्यवस्था, | | | | २९-३० | १७ | ८९७ |

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० पृष्ठाङ्काः ।

| | | | |
|---|-------|----|-----|
| सर्वास्त्रपासनासूत्तरमार्गविधानम् | ३१ | १८ | ८९९ |
| ब्रह्मतत्त्वज्ञानिनां मुक्तिर्नियता न तु पाक्षिकीत्यस्य प्रतिपादनम्, | ३२ | १९ | ९०२ |
| आत्मस्वरूपलक्षकाणां निषेधानां परस्परपसंहर्तव्य- त्वम्, | ३३ | २० | ९०७ |
| ऋतं पिबन्ताविति द्वा सुपर्णाविति च मन्त्रयोर्वैद्यै- कत्वम्, | ३४ | २१ | ९१० |
| एकशास्त्रास्थयोरुपस्तकहोत्रयोर्ब्राह्मणयोर्विद्यैक्यप्र- तिपादनम्, | ३५-३६ | २२ | ९१२ |
| उपासनार्थं पृथक्त्वेनोपास्यस्य द्वैधज्ञानम्, | ३७ | २३ | ९१४ |
| सत्यविद्याया एकत्वप्रतिपादनम्, | ३८ | २४ | ९१६ |
| दहराकाशहादाकाशयोरुपसंहर्तव्यत्वम्, | ३९ | २५ | ९१९ |
| उपासकस्य भोजने प्राणाहुतिलोपापत्तिः, | ४०-४१ | २६ | ९२१ |
| उद्गीथकर्माङ्गीभूतदेवतोपासनाया अनियतत्वम् | ४२ | २७ | ९२६ |
| संवर्गविद्योक्ताधिदैववाय्वध्यात्मप्राणयोरनुचिन्तनस्य पृथक्त्वम्, | ४३ | २८ | ९३० |
| मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रविद्यात्वस्वीकारः, | ४४-५२ | २९ | ९३६ |
| भौतिकस्याऽऽत्मत्वनिराकरणपूर्वकतदन्यस्याऽऽत्म- त्वप्रतिपादनम्, | ५३-५४ | ३० | ९४७ |
| ऐतरेयगतोक्तयोपासनायां पृथिव्यादिदृष्टेः कौपीत- क्यामपि समानत्वम्, | ५५-५६ | ३१ | ९५२ |
| विराडूपवैश्वानरस्य कृत्स्नस्यैव ध्यातव्यत्वं न तदं- शस्येति | ५७ | ३२ | ९५६ |
| अनुष्ठातव्यशाण्डिल्यदहरादिविद्यानां वेद्यब्रह्मभि- न्नत्वेन भिन्नत्वम्, | ५८ | ३३ | ९५९ |
| आत्मनः सगुणोपासनायामेकस्य द्वयोर्बहूनां चोपा- सनानां वैकल्पिकनियमकथनम्, | ५९ | ३४ | ९६२ |
| विकल्पेन समुच्चयेन वा प्रतीकोपासनाया ऐच्छिकत्वम्, | ६० | ३५ | ९६३ |
| विकल्पसमुच्चययोर्थाकाम्यम्, | ६१-६६ | ३६ | ९६४ |

उक्ताध्यायस्य चतुर्थे पादे ।

| | | | |
|---|-------------|------------|-------|
| आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वं न कर्तव्यत्वम् | १-१७ | १ | ९६८ |
| ऊर्ध्वरेतोरूपाश्रमाणामस्तित्वव्यव- स्थापनम् | } १ वर्णकम् | } ...१८-२० | २ ९८२ |
| लोककामिनामाश्रमिणां ब्रह्मनिष्ठा नर्हत्वम् | | | |
| उद्गीथावयवस्योद्धारस्य ध्येयत्वम् | २१-२२ | ३ | ९९१ |
| औपनिषदारूपानानां विद्यास्तावकत्वम् | २३-२४ | ४ | ९९४ |
| आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वम्, | २५ | ५ | ९९६ |
| विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वम्, | २६-२७ | ६ | ९९७ |
| आपदि सर्वास्त्राभ्यनुज्ञानम् | २८-३१ | ७ | १००१ |
| विद्यार्थानामाश्रमधर्माणां च यज्ञादीनां सकृदनुष्ठानम् | ३२-३५ | ८ | १००४ |
| अनाश्रमिणो ज्ञानसंभावनम्, | ३६-३९ | ९ | १००८ |
| आश्रमिणामवरोहाभावनिरूपणम्, | ४० | १० | १०११ |
| भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तसद्भावः, | ४१-४२ | ११ | १०१२ |
| भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तस्याऽऽमुष्मिकशुद्धिजनकत्वं तादृशशुद्धिमतो व्यवहारानर्हत्वं च, | ४३ | १२ | १०१६ |
| उपासनस्य कर्त्तात्वकर्मत्वम्, | ४४-४६ | १३ | १०१७ |
| मौनस्य विधेयत्वम्, | ४७-४९ | १४ | १०१९ |
| बाल्यस्य भावशुद्धित्वं न वयःकामचारोभयत्वम्, | ५० | १५ | १०२३ |
| इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिरिति ज्ञानोत्पत्तेः पाक्षिकत्वम्, | ५१ | १६ | १०२५ |
| सालोक्यादिमुक्तीनां जन्यत्वेन सातिशयत्वं निर्वाणमु- क्तेश्च निरतिशयत्वम् | ५२ | १७ | १०२८ |

इति तृतीयाऽध्यायः ॥

अथ फलाख्यचतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ।

| | | | |
|---|-----|---|------|
| श्रवणादीनामावर्तनीयत्वम्, | १-२ | १ | १०३३ |
| ज्ञाना जीवेन स्वात्मतया ब्रह्मणो ग्राह्यत्वम्, | ३ | २ | १०४१ |
| प्रतीकेऽहं दृष्ट्यभावः, | ४ | ३ | १०४५ |
| अब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्माधिपः कर्तव्यत्वम्, | ५ | ४ | १०४६ |

प्रतिपाद्यविषयः ।

सूत्राङ्काः । अधि० पृष्ठाङ्काः ।

| | | | |
|--|-------|----|------|
| कर्माङ्गेष्वदिदित्यादिदृष्टीनां कर्तव्यत्वम् | ६ | ५ | १०५० |
| उपासनायामासनस्य नियतत्वम्, | ७-१० | ६ | १०५५ |
| ध्यानसाधनस्यैकाग्र्यस्य प्रधानत्वेन दिग्देशकालाना- मनियमः, | ११ | ७ | १०५७ |
| उपास्तीनामामरणमावृत्तिः, | १२ | ८ | १०५९ |
| ज्ञानिनः पापलेपाभावः, | १३ | ९ | १०६१ |
| ज्ञानिनः पुण्यलेपाभावः, | १४ | १० | १०६५ |
| संचितयोरिवाऽऽरब्धयोः पुण्यपापयोर्ज्ञानोदयसमये विनाशाभावः, | १५ | ११ | १०६६ |
| अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो विद्योपयोग्यंशस्याविनाशः, सोपासनस्य निरुपासनस्य च नित्यकर्मणस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वम्, | १६-१७ | १२ | १०६९ |
| अधिकारिणां मुक्तिसद्भावः, | १८ | १३ | १०७१ |
| | १९ | १४ | १०७३ |

• उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे ।

| | | | |
|---|-------|----|------|
| वागादीनां मनसि वृत्तिप्रविलयो न स्वरूपेण, | १-२ | १ | १०७५ |
| मनसः प्राणे वृत्त्या प्रविलयः, | ३ | २ | १०७७ |
| प्राणस्य जीवे लयान्तरं पुनर्भूतेषु लयः, | ४-६ | ३ | १०७९ |
| ज्ञान्यज्ञानिनोरुत्क्रान्तेरपि साम्यम् | ७ | ४ | १०८२ |
| तेजःप्रभृतीनां भूतानां परमात्मनि वृत्त्या लयः, | ८-११ | ५ | १०८४ |
| देहादेव प्राणोत्क्रान्तेर्निषेधः, | १२-१४ | ६ | १०८६ |
| तत्त्वज्ञानिनो वागादीनां परमात्मनि लयः, | १५ | ७ | १०९० |
| तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः, | १६ | ८ | १०९१ |
| उपासकस्योत्क्रान्तेर्विशेषवत्त्वम् | १७ | ९ | १०९२ |
| निशायामाप्य भूतानां रश्मिप्राप्तिः, | १८-१९ | १० | १०९४ |
| दक्षिणायनमृतस्योपासकस्य ज्ञानफलप्राप्तिः, | २०-२१ | ११ | १०९६ |

उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे ।

| | | | |
|---|---|---|------|
| अर्विरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, | १ | १ | १०९८ |
| संवत्सरादित्यपीर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवेशयि- तव्यौ, | २ | २ | ११०१ |

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

वरुणादीनां सन्निवेशादर्चिरादिमार्गस्य व्यवस्थापि-

| | | | |
|---|-------|---|------|
| तत्त्वम्, | ३ | ३ | ११०४ |
| अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वम्, | ४-६ | ४ | ११०५ |
| उत्तरमार्गेण कार्यब्रह्मगमनम्, | ७-१४ | ५ | ११०६ |
| प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकांप्रापणम्, | १५-१६ | ६ | ११२४ |

उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।

| | | | |
|---|-------|---|------|
| मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वम्, | १-३ | १ | ११२७ |
| मुक्तस्य ब्रह्मणोऽभिन्नत्वम्, | ४ | २ | ११३० |
| मुक्तस्वरूपभूतस्य ब्रह्मणो युगपत्सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे, | ५-७ | ३ | ११३१ |
| अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोग्य- वस्तूनां सृष्टौ मानससंकल्पस्यैव हेतुत्वम्, | ८-९ | ४ | ११३३ |
| एकस्यापि पुरुषस्य देहभावाभावयोरैच्छिकत्वम्, | १०-१४ | ५ | ११३५ |
| सर्वेषां देहानां सात्मकत्वम्, | १५-१६ | ६ | ११३८ |
| ब्रह्मलोकगतानामुपासकानां जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभा- वेऽपि भोगमोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः, | १७-२२ | ७ | ११४१ |

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तमिदं व्यासाधिकरणार्थदर्शनिनिर्घण्टपत्रकम् ॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीमद्द्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राण्यनन्दगिरिकृतटीकासं-
लितशांकरशारीरकभाष्यसमेतानि ।

(द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।)

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतयं उपलभ्यन्ते ।
केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति केचिन्न तथा केचिद्वायो-
रुत्पत्तिमामनन्ति केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां च । एवमेव
क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषु लक्ष्यते । विप्रतिषे-
धाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रति-

अतिक्रान्ते पादे समन्वयस्थापनाय परपक्षाणां भ्रान्तिमूलत्वमुक्तम् । इदानीमपि सम-
न्वयस्थित्यै भूतभोक्तृविषयसृष्ट्यादिश्रुतिविगानं निराक्रियते । तत्रानुत्पत्तिप्रसङ्गेन
वियतोऽपि तदसंभवमाशङ्क्य परिहरन्नादावेकदेशिमतमाह । न वियदिति । आका-
शोत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्मिथो विरोधादप्रामाण्ये शङ्किते तन्निरासेन समन्वयवृद्धीकरणादस्य
पादादिसंगतिरित्यभिप्रेत्य पूर्वोत्तरपादसंगात् व्यक्तीकुर्वन्नापाततः सृष्टिश्रुतिविमतिं दर्श-
यति । वेदान्तेष्विति । तत्र तत्रेति सृष्टिप्रकरणोक्तिः । तासां भिन्नप्रस्थानत्वमेव प्रकट-
यन्प्रथममाकाशोत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यां तैत्तिरीयच्छान्दोग्यश्रुत्योर्विमतिमाह । केचिदिति ।
नभोवद्वायोरप्युत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यामपि तयोरेवास्ति विमतिरित्याह । तथेति । न केवलं
भूतविषयसृष्टिश्रुतिविमतिरपि तु भोक्तृभोगोपकरणविषयाऽपि साऽस्तीत्याह । एवमिति ।
यथा नभसो वायोश्चोत्पत्तिमधीयते तैत्तिरीयास्तथा जीवस्य सर्व एत आत्मानो
व्युच्चरन्तीति जन्माऽऽमनन्ति माध्यंदिना नैवमितरे । तथा प्राणानाम् “एतस्माज्जायते
प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” इत्युत्पत्तिं पठन्त्याथर्वणा नैवमन्ये । अतोऽस्ति धर्मिणो
विमतिरित्यर्थः । धर्मद्वाराऽपि विगानमाह । एवमेवेति । क्रमादीत्यादिशब्देनाक्रम-
संख्ये गृह्यते । श्रुत्यन्तरेषु श्रुतिविशेषेष्विति यावत् । सृष्टिश्रुतीनामस्वार्थपरत्वान्मिथो
विरोधेऽपि तात्पर्यवद्वाक्यप्रामाण्यादस्मत्पक्षसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । विप्रतिषेधा-
च्चेति । सर्वत्र परपक्षेषु स्तोक्तिविरोधाभावाद्वा श्रुतिविरोधो विवक्षितः । स्वपक्षो ब्रह्म-

षेधादेवानेपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थ-
निर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते । तदर्थनिर्मलत्वे च फलं
यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव । तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते
किमस्याऽऽकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति । तत्र तावत्प्रति-
पाद्यते न विषयश्रुतेरिति । न खल्वाकाशमुत्पद्यते । कस्मात् ।
अश्रुतेः । न ह्यस्योत्पात्तप्रकरणे श्रवणमस्ति । छान्दोग्ये हि
“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” [छा० ६।२।१]
इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य “तदैक्षत” “तत्तेजोऽसृजत”
[छा० ६।२।३] इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि

कारणवादः । विप्रतिषेधश्रुतीनामेवान्योन्यमिति द्रष्टव्यम् । सृष्टिश्रुतिष्वापातिकविरो-
धोक्त्या तत्फलमुक्त्वाऽनन्तरपादाववतारयति । इत्यत इति । तदर्थनिर्मलत्वमर्थाभा-
सनिवृत्त्या सम्यगर्थधीः । प्रपञ्चोऽनन्तरपादद्वयम् । ननु मुमुक्षूणामुक्तसमन्वयादेव
तत्त्वधीलाभात्कृतमेतन्निर्मलत्वेनेति तत्राऽऽह । तदर्थेति । वेदैकदेशस्य विरोधादप्रा-
माण्ये तदेकदेशान्तरस्यापि तथैवाप्रामाण्यशङ्कया तत्समन्वयात्तत्त्वज्ञानासिद्धेर्ब्रह्मकार-
णपक्षस्यानपेक्षणीयत्वशङ्कानिवृत्तिस्तदर्थनिर्मलत्वे फलतीत्यर्थः । इत्थं पादद्वयसंबन्धे
स्थिते भूतभोक्तृमृष्ट्यादिश्रुतिविवादापवादार्थे च तृतीये पादे सत्याद्याधिकरणतात्पर्य-
माह । तत्रेति । आकाशोत्पत्त्यनुत्पत्तिवादिवाक्ययोरनेकवाक्यत्वैकवाक्यत्वाभ्यां
मिथो विरोधसंदेहे विरोधनिरासेनाविरोधं संसाध्य समन्वयदार्ढ्यमत्र विवक्षितम् । सर्वेषु
चाधिकरणेषु पादद्वयगतेषु पूर्वपक्षेषु श्रुतीनां विरोधादप्रामाण्यं सिद्धान्ते वासामविरो-
धात्प्रामाण्यं फलम् । अत्र चाऽऽद्येऽधिकरणे श्रुत्योर्मिथो विरोधादप्रामाण्ये विषयादि-
कारणे ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिरेकत्रान्यत्र तयोरेकवाक्यतया विरोधाभावात्प्रामाण्यसि-
द्धेस्त्वसिद्धिरिति भावः । पादद्वये पूर्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधः सिद्धान्ते
त्वविरोधः साध्यते । तेन विरोधाविरोधाभ्यां संदेहे वाच्ये गौणवाच्यमिप्रायेणाऽऽह ।
किमस्येति । तैत्तिरीयच्छान्देग्यश्रुतिभ्यां सिद्धिं गौणवाच्यमिप्रायं प्रकट-
यितुं सूत्रमादत्ते । तत्रेति । तदक्षराणि व्यचिष्टे । न खल्विति । तैत्तिरीये विषय-
त्पत्तिश्रुतेरन्यत्र तदश्रुतेर्मिथो विरोधे पर्यवसानमाशङ्क्य वक्ष्यमाणप्रमाणविरोधाज्जन्म-
श्रुतेर्गौणत्वात्तेजोमुखैव सृष्टिरिति कुतो विरोधाशङ्क्येत्याशयेनाऽऽह । छान्दोग्ये हीति ।
आकाशस्य जन्माश्रवणेऽपि कथमनुमानसिद्धा तदुत्पत्तिरपह्नूयेतेत्याशङ्क्याऽऽह ।

[अ० २ पा० ३ सू० २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ५८७

कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्धानामुत्पत्तिः श्राव्यते । श्रुतिश्च नः
प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ । न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्यो-
त्पत्तिप्रतिपादिनी । तस्मान्नाऽऽकाशस्योत्पत्तिरिति ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । मानामाऽऽकाशस्य च्छान्दोग्ये भूदु-
त्पत्तिः श्रुत्यन्तरे त्वस्ति । तैत्तिरीयका हि समामनन्ति “सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” [तै० २ । १ । १] इति प्रकृत्य “तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” [तै० २ । १ । १] इति ।
ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः कचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः कश्चिदाकाशप्र-
मुखेति । नन्वेकवाक्यताऽनयोः श्रुत्योर्युक्ता । सत्यं सा युक्ता
न तु साऽवगन्तुं शक्यते । कुतः । “तत्तेजोऽसृजत” [छा०
६ । २ । ३] इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुप-
पत्तेः ‘तत्तेजोऽसृजत’ ‘तदाकाशमसृजत’ इति । ननु सकृच्छ्रु-
तस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते । यथा सूपं पक्त्वौदन्तं
पचतीत्येवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि ।
नैवं युज्यते । प्रथमजत्वं हि च्छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते तैत्ति-

श्रुतिश्चेति । तर्हि श्रुतिरेवास्तीत्याशङ्क्य सा गौणीति सूचितमित्याह । न चेति ।
तैत्तिरीयश्रुतेर्गौणत्वादन्यस्यामुख्यत्वान्न मिथो विरोधोऽस्तीत्युपसंहरति । तस्मा-
दिति ॥ १ ॥

पूर्वपक्षयति । अस्ति त्विति । सूत्रं व्याकुर्वन्पूर्वपक्षं विवृणोति । तुशब्द इति ।
श्रुत्यन्तरे त्वाकाशस्योत्पत्तिरस्तीत्युक्तं तदेव व्यनक्ति । तैत्तिरीयका हीति । सर्व-
नामार्थज्ञापनार्थं पूर्ववाक्यानुक्रमणम् । श्रुत्योराकाशोत्पत्त्यनुत्पत्तिवादित्वे फलितमाह ।
ततश्चेति । प्रामाण्यस्यैतस्मिन्कृत्वाद्विरोधेन प्रामाण्ययोगादेकवाक्यतया कथंचित्प्रामा-
ण्यमेष्वव्यमिति शङ्कते । नन्विति । संभवत्येकवाक्यत्वे तद्वेदो नेष्यते मिथो विरु-
द्धयोः श्रुत्योर्नैकवाक्यत्वेति परिहरति । संत्यमिति । तदाकाशं सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेत्ये-
कवाक्यत्वं ज्ञातुं शक्यमिति शङ्कते । कुत इति । च्छान्दोग्यानुसारेणैकवाक्यत्वायोगं
दर्शयति । तत्तेज इति । एकवाक्यतावादी दृष्टान्तेन शङ्कते । नन्विति । विप्रतिषे-
धवादी दूषयति । नैवमिति । किमिह व्यापारः सूपादिपाकवार्तिकं वा युगपदेकस्माद्वी-
जान्मूलाङ्कुरोत्पत्तिवृत्तदक्रमो नाऽऽद्यो द्वयोः प्रथमजश्रुतिविरोधादित्याह । प्रथमेति ।

१ क. ज. ‘रीया ही’ । २ क. ज. ‘सं. यु.’ । ३ क. ‘ते । स सू’ । ४ ज. ट. ‘था स सू’ ।
५ ड. ज. ‘ध्यामः । ने’ । ६ ड. ‘रीया ही’ । ७ ख. ट. ड. ‘धेनाप्रा’ । ८ ठ. ड. ‘जत्वभु’ ।

रीयके चाऽऽकाशस्य । न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति । एतेने-
तरश्रुत्यर्क्षरविरोधोऽपि व्याख्यातः । “तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः संभूतः” [तै० २ । १ । १] इत्यत्रापि तस्मादाकाशः
संभूतस्तस्मात्तेजः संभूतमिति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य संभव-
नस्य च विपत्तेर्जोभ्यां युगपत्संबन्धानुपपत्तेः । वायोरग्निरिति
च पृथगाग्नानात् ॥ २ ॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह ।

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

नास्ति विपत् उत्पत्तिरश्रुतेरेव । या त्वितरा विपदुत्पत्ति-
वादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति । कस्मात् ।
असंभवात् । न ह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या श्रीमत्क-
णभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु । ते हि कारणसामर्थ्यसंभवादा-

न द्वितीयः पाठक्रमोऽक्रमसृष्टेरिष्टत्वादित्याह । न चेति । छान्दोग्यानुसारेणैकवाक्य-
तायोगमुक्त्वा तैत्तिरीयानुसारेणापि तदयोगमाह । एतेनेति । एतच्छब्दार्थमेव स्फुट-
यति । तस्मादित्यादिना । इतश्च नैकवाक्यतेत्याह । वायोरिति । छान्दोग्ये हि
सदुपादानं तेजसो निर्दिश्यते । तैत्तिरीये त्वात्मनः सच्छब्दवाच्यादन्यो वायुस्तदुपा-
दानमाप्नायते तन्नैकवाक्यतेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रथमजत्वेनाऽऽकाशतेजसोरसहायत्वे सिद्धे तद्विरोधेन ससहायत्वकल्पनायोगाद्ब-
स्तुनि विकल्पानुपपत्तेरिदानं तिनसर्गवद्भूतसर्गस्यापि तथात्वानुमाने सर्गभेदेनापि व्यव-
स्थासिद्धेर्मिथो विरुद्धतया प्रकृतश्रुत्यप्रामाण्यान्न ब्रह्मकारणमिति पूर्वपक्षमनुभाष्य गौण-
वादिनोऽभिप्रायमाविष्कर्तुं सूत्रान्तरमवतारयति । अस्मिन्निति । ये त्वतिक्रान्तसू-
त्रद्वयं मतद्वयमुपन्यस्य विप्रतिषेधमभिदधत्पूर्वपक्षसंगतमिति व्याचक्षते तान्व्यावर्त्य
गौणवाधेव पूर्वत्रापि विपदनुत्पत्तिवादीति प्रत्यभिज्ञापयन्व्याचष्टे । नास्तीति । तदु-
त्पत्तिश्रुतेरपि दर्शितत्वाद्विप्रतिषेधे कः समाधिरित्याशङ्क्याऽऽह । या त्विति ।
तेजःप्राथम्यानुरोधेनाऽऽकाशस्योत्पत्तिः प्राथम्यं चेति द्वयबाधनमयुक्तमाकाशप्राथम्या-
नुरोधेन तेजसि प्राथम्यस्यैव बाधनमिति मन्वानश्चोदयति । कस्मादिति । न वयं
तेजःप्राथम्यमनुरुन्धाना द्वयबाधं शिष्यः किंतु मानान्तरविरोधादित्याह । असंभ-
वादिति । वैशेषिकाधिकरणेन तन्मतस्य निरस्तत्वात्तदवष्टम्भेन कथमसंभवकथेत्याश-
ङ्क्याऽऽह । न हीति । कणभुगभिप्रायस्यैव प्रकटयति । ते हीति । आकाशं नोत्प-

काशस्योत्पत्तिं वारयन्ति । समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते । द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति । न चाऽऽकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति । यस्मिन्समवायिकारणे सत्यसमवायिकारणे च तत्संयोग आकाश उत्पद्येत । तदभावात् तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाऽऽकाशस्य भवति । उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव पश्चाच्च भवतीति । आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते । किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम् । पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः । तस्माद्यथा लोक आकाशं कुर्वाकाशो जात इत्येवंजातीयको

द्यते कारणत्रयशून्यत्वादात्मवदित्यर्थः । हेतुसमर्थेनार्थे सामान्यन्यायमाह । समवायीति । परप्रसिद्धद्योतनार्थो हि शब्दः । तत्र स्वानभ्युपगमं दर्शयितुं किलेति । आकाशस्यापि तर्हि त्रीणि कारणानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्य समवायिकारणविशेषस्वरूपमाह । द्रव्यस्येति । तदभावमाकाशे दर्शयति । न चेति । समवायिकारणे निरस्ते सत्यसमवायिकारणमपि निरस्तमेवेत्याह । यस्मिन्निति । कारणद्वयनिरासेन निमित्तरणनिरसनं सुकरमित्याह । तदभावाच्चिति । कारणशून्यत्वादाकाशस्यानुत्पत्तिमनुमाय तत्रैवानुमानान्तरमाह । उत्पत्तिमतां चेति । ये जायन्ते तेषामनुभवार्थक्रिये प्रागुत्पत्तेर्नोपलभ्येते यथा तेजःप्रभृतीनाम् । न चाऽऽकाशस्य तादृशो विशेषोऽस्ति तस्मान्नोत्पद्यते कार्यलक्षणविकलत्वादात्मवदित्यर्थः । प्रकाशनं प्रकाशोऽनुभवः । आदिशब्देनार्थक्रिया गृह्यते । अभूत्वा भावित्वं हि कार्यलक्षणं तदाकाशस्यापि संभवतीति कथं हेतुसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । आकाशस्येति । तदेव स्फुट्यते । किं हीति । महाद्रव्याश्रयत्वयोग्यो देशोऽवकाशः । तद्विरुद्धद्रव्याश्रयत्वयोग्यं सुषिरम् । अणुद्वयवत्संयोगाश्रयत्वयोग्यं छिद्रम् । एतत्रयरहितं न किञ्चित्प्रागासीदिति विशेषणानामर्थः । किंचाऽऽकाशो न जायते विभुत्वान्निरवयवद्रव्यत्वादस्पृशैर्द्रव्यत्वाच्चाऽऽत्मवदित्यनुमानत्रयमाह । पृथिव्यादीति । उक्तानुमानानामुत्पत्तिश्रुतिविरोधमाशङ्क्य तस्या गौणत्वं सट्टष्टान्तमुपसंहरति । तस्मादिति । आलोकादिवदाकाशस्य प्रदेश-

गौणः प्रयोगो भवति । यथा च घटीकाशः कस्काकाशो गृहा-
काश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो
भवति । वेदेऽपि “आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्” इत्येवमुत्पत्तिश्रुति-
रपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति यत आह “वायुश्चा-
न्तरिक्षं चैतदमृतम्” [वृ० २ । ३ । ३] इति । न ह्यमृत-
स्योत्पत्तिरुपपद्यते । ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इति चाऽऽ-
काशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपभिमान आका-
शस्यापि तौ धर्मौ सूचयति । न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते ।
स यथाऽनन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्य इति
चोदाहारणम् “आकाशशरीरं ब्रह्म” [तै० १ । ६ । २]
“आकाश आत्मा” [तै० १ । ७ । १] इति च । न ह्याकाश-
स्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति नीलेनेवोत्पलस्य ।
तस्मान्नित्यमेवाऽऽकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

भेदवत्त्वान्मुख्यं जन्मेत्याशङ्क्य जन्मप्रयोजकप्रदेशभेदस्यापि गौणत्वमेवेत्याह । यथा
चेति । लौकिकव्यपदेशस्य गौणत्वेऽपि वैदिकव्यपदेशस्य मुख्यत्वमेवेत्याशङ्क्याऽऽह ।
वेदेऽपीति । इतिशब्दादुपरिष्ठादौ भेदव्यपदेशो भवतीति संबन्धः ॥ ३ ॥

न केवलमनुमानादाकाशस्याजत्वं किंतु श्रुतितोऽपीत्याह । शब्दाच्चेति । तद्व्याचष्टे ।
शब्दः खल्विति । अमृतत्वमेवात्र श्रूयते न त्वनुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति ।
श्रुतार्थापत्त्यन्तरमाह । आकाशवदिति । तथाऽपि कथमनुत्पत्तिस्तत्राऽऽह । न चेति ।
तदनुत्पत्तौ वाक्यमपि मानमित्याह । स यथेति । आदिमध्यावसानवैधुर्यमानन्त्यं
तदाकाशस्याऽऽदिमत्त्वे नोपपद्येताऽऽत्मनोऽपि तत्प्रसङ्गादित्यर्थः । किंच नीलमुत्प-
लमिति वदाकाशेन ब्रह्मणो विशेषणं दृष्टं तदाकाशस्यानुत्पत्तिमत्त्वं साधयतीत्याह ।
आकाशेति । चकारादुदाहरणमित्यनुकृष्यते । आकाशस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि तेन ब्रह्मणो
विशेषणत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य बहुव्रीहिणा तादात्म्यावगमान्मैवां ॥ ४ ॥ न
हीति । शब्दसामर्थ्यासिद्धमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । स्यादेतत् । कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” [तै० २।१] इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति । अत उत्तरमुच्यते । स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत् । यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य “तपसा ब्रह्मं विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म” [तै० ३।२] इत्यस्मिन्नधिकारेऽत्रादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः । यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत् । कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः “एकमेवाद्वितीयम् [छा० ६।२।१] इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते । ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति । कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति । तदुच्यते । एकमेवेति तावत्स्वकार्यपेक्षयोपपद्यते । यथा लोके कश्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेषुर्मृदण्ड्यक्रादीनि चोपलभ्यापरेषुश्च नानाविधान्यमत्राणि

संभूतशब्दमधिकृत्य संभावितशङ्कामुच्छिनत्ति । स्याच्चेति । पदविषयचोद्योत्तरमिदं सूत्रमिति तात्पर्यमाह । इदमिति । तदेव चोद्यं दर्शयति । स्यादेतदिति । एकवाक्यस्थस्यैकस्य पदस्यैकस्मिन्नेव प्रकरणे यत्रानुवृत्तिस्तत्र मुख्यत्वं यत्र प्रयोगस्तत्र गौणतेत्युक्तमित्यर्थः । चोद्योत्तरत्वेन सूत्रमवतार्य व्याकरोति । अत इति । दृष्टान्तं व्याचष्टे । यथेति । दार्ष्टान्तिके संभूतशब्दस्यैकस्यैव मुख्यत्वगौणत्वे दृष्टान्ते तु शब्दभेदोऽस्तीति वैषम्यमित्याशङ्क्य प्रकरणाभेदे शब्दप्रवृत्तेरेकरूपत्वस्यौत्सर्गिकत्वेऽपि तदसंभवेन गौणत्वमुख्यत्वे दृष्टान्तदृष्टे तथाऽत्रापीत्येतावन्मात्रस्य विवक्षितत्वान्मैवमित्याह । यथा चेति । अद्वितीयश्रुतिविरोधादवधारणश्रुतिविरोधाच्चाऽऽकाशानुत्पत्तिरयुक्तेति शङ्कते । कथमिति । का पुनः श्रुत्योरनुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽक्षेपैव ब्रूते । नान्विति । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्चाऽऽकाशानुत्पत्तिरयुक्तेत्याह । कथं चेति । चोद्यद्वयं परिहरति । तदुच्यत इति । तत्रावधारणश्रुतेरुपपत्तिमाकाशानुत्पत्तिपक्षेऽपि दर्शयति । एकमिति । अपेक्षिकमवधारणमित्यत्र दृष्टान्तमाह । यथेति । कुञ्जं गृहम् । अमत्राणि

प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयान्मृदेवैकात्मिनी पूर्वेद्युरासीदिति स च
 स्याऽवधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नाऽऽसीदित्यभिप्रेयाक
 दण्डश्चक्रादि तद्वदद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति । यथा
 मृदोऽन्नप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते नैवं ब्रह्मणो जग-
 त्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठाताऽस्तीति । न च नभसाऽपि द्वितीयेन
 सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम् । न
 च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति क्षीरोदकयोरिव संस्त-
 र्णयोर्गोपित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात् । सर्गकाले तु ब्रह्म जग-
 दुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरत्तिष्ठति तेनान्यत्वमवसीयते ।
 तथा च “ आकाशशरीरं ब्रह्म [तै० १ । ६ । २] इत्यादि-
 श्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः । अत एव च
 ब्रह्मैविज्ञानेन सर्वविज्ञानासाद्धिः । अपिच सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमा-
 काशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते । ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदे-
 शकालमेवाऽऽकाशं भवतीत्यतो ब्रह्मणा तत्कार्थेण च विज्ञातेन
 सह विज्ञातमेवाऽऽकाशं भवति । यथा क्षीरपूर्णे घटे

घटशरावादीनि पात्राणि । तत्रापि कथमवधारणेत्याशङ्क्याऽऽह । स चेति ।
 अन्यथा मृदादिप्रत्यक्षविरोधः स्यादिति भावः । प्रकृतेऽपि स्वकार्योपेक्षमवधारणमविरु-
 द्ध्यते । तदकार्यं तु तदतिरिक्तमपि प्रागवस्थायामस्तु का हानिरित्याह । तद्वदिति ।
 अवधारणश्रुतिवदद्वितीयश्रुतेरविरोधमाह । अद्वितीयेति । प्राप्त्यभावे किमर्थं तन्निवा-
 रणमित्याशङ्क्य प्राप्तिदर्शनपूर्वकं तन्निवारणमेव विवृणोति । यथेति । यदुक्तं नभसा
 द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म स्यादिति तत्राऽऽह । न चेति । नभश्चेद्वितीयं कथं तेन ब्रह्म
 सद्वितीयं नेत्याशङ्क्याऽऽह । लक्षणेति । शब्दवदाकाशशब्दादिमद्ब्रह्मेत्यस्ति प्रस्तु-
 तेऽपि लक्षणान्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । निरवयत्वारूपत्वादिसंग्रहार्थमा-
 दिपदम् । लक्षणभेदाभावे कथं पृथक्त्वमनयोरित्याशङ्क्याऽऽह । समेति । लक्ष-
 णान्यत्वनिमित्तभेदोपचारादद्वितीयत्वमित्युक्तेऽर्थे श्रुतिमनुग्राहिकामाह । तथेति ।
 आकाश आत्मा स्वं ब्रह्मेत्याद्या श्रुतिरादिशब्दार्थः । लक्षणान्यत्वाभावेनाऽऽकाशस्य
 ब्रह्मानन्यत्वं हेतुरुक्त्य चोद्यान्तरमपाकरोति । अत एवेति । इतश्च ब्रह्मविज्ञानेन
 सर्वविज्ञानमविरुद्धमित्याह । अपिचेति । ब्रह्मणि तत्कार्यं च ज्ञाते तदेकदेशकालमा-
 काशमपि सहज्ञातमित्यत्र दृष्टान्तमाह । यथेति । दृष्टान्तेऽपि कथमन्यस्य ग्राहद-

१ क. ज. 'याऽऽका' । २ झ. ट. 'ब्रह्मा' । ३ झ. सर्वका' । ४ क. 'लमाका' । ५ क.
 'पूर्ण' । ६ क. 'मिराकर' ।

[अ० २ पा० ३ सू० ६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ५९३

कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति । न हि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते । एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद्वृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति । तस्माद्भाक्तं नभसः संभवश्रवणमिति ॥ ५ ॥
एवं प्राप्त इदमाह ।

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

“येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति” [छा० ६ । १ । ३] “आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वविदितम्” [बृ० ८ । ४ । ६] इति “कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति” [मुण्ड० १ । १ । ३] न काचन सद्बहिर्धा विद्याऽस्तीति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते । तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात् । यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद्ब्रह्मणः स्यात् । व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद्ब्रह्मण उत्पद्येत । शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञा-

न्यस्य ग्रहणमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । दृष्टान्ते निविष्टमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति । एवमिति । गौणवादी स्वमतमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५ ॥

वियदुत्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वात्तदनुत्पत्तिश्रुत्या विरोधाभावात्ताप्रामाण्यमिति गौणवादिमत-
मनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । सूत्रं व्याकुर्वन्प्रतिज्ञास्वरूपमाह । येनेति । प्रति-
ज्ञाक्यमितिशब्दोपादानं शाखाभेदरूपापनार्थम् । तस्या विवक्षितत्वसिद्धयर्थं विशिनष्टि ।
प्रतिवेदान्तमिति । सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वप्रयुक्त्या प्रतिज्ञानुपरोधं साधयति । तस्या
इति । अत एव ब्रह्मविज्ञानेनेत्यादिना पूर्वोक्तन्यायेन व्यतिरेकेऽपि प्रतिज्ञा सिध्यति
वैत्किमव्यतिरेकेणेत्याशङ्क्याऽऽह । व्यतिरेके हीति । यदुत्पत्तिस्थितिलयत्वेन तद-
भेदादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं वक्तव्यं नान्यथा तन्मुख्यत्वम् । संभवति मुख्यत्वे कुतस्त-
दौपचारिकितेत्यर्थः । ननु प्रतिज्ञा सर्वस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वेनोपपद्यते न तदुत्पत्त्याद्य-
क्षेपे तत्र कल्पितत्वमन्तरेणाविद्यातत्कार्ययोस्तदुत्पत्त्याद्यभावादित्याशङ्क्याविद्यातत्सं-
न्धातिरिक्तत्वे सति तदुत्पत्त्याद्यतिरेकेण तत्र कल्पितत्वासिद्धेर्मेवमित्याह । स चेति ।
भवशिष्टं सूत्रावयवं व्याचष्टे । शब्देभ्यश्चेति । प्रकृतेर्विकाराणामव्यतिरेक एव

सिद्धिरवगम्यते । तथाहि “येनाश्रुतं श्रुतं भवति” [छा० ६।१।३] इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते । तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” [छा० ६।२।१] “तदैक्षत” “तत्तेजोऽमृजत” [छा० ६।२।३] इत्येवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्शयित्वेति प्रदर्शयन्ति “एतदात्म्यमिदं सर्वम्” [छा० ६।८।७] इत्यारभ्याऽऽ प्रपाठकपरिसमाप्तेः । तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञात आकाशं विज्ञायेत ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम् । तथा हि प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामिव प्रतिज्ञां स्थापयन्ति “इदं सर्वं यदयमात्मा” [बृ० २।४।६] “ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्” [मुण्ड० २।२।११] इत्येवमादयः । तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते । यदुक्तमश्रुतेर्न विद्यदुत्पद्यत इति । तदयुक्तं विद्यदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” [तै० २।१] इति । संत्यं दर्शितम् । विरुद्धं तु तत्तेजोऽमृजतेत्यनेन श्रुत्यन्तरेण । नैकवाक्यत्वात्सर्व-

न्यायस्तेनैवेति यावत् । शब्दानेवोदाहरति । तथाहीति । सदेवेत्यादिशब्दानां प्रतिज्ञाविषयत्वाभावात् सां तत्र विवक्षितेत्याशङ्क्याऽऽह । तत्साधनायेति । शब्दानां प्रतिज्ञापरत्वेऽपि कथमाकाशस्य ब्रह्मकार्यतेत्याशङ्क्याऽऽह । तद्यदीति । प्रतिज्ञाहानिमुदमानं प्रत्याह । न चेति । किंच प्रतिज्ञा चेदियमेका स्यात्तदा कथंचिदवि-
वक्षिता शङ्केत तास्तु भूयस्यो युक्तिसहिताश्च गम्यन्ते तन्नाविवक्षितत्वशङ्केत्याह । तथा चेति । तेन तेन दृष्टान्तेन दुन्दुभिः शङ्खवीणां मृदादिनेति यावत् । ते ते शब्दा इत्युक्तं व्यनक्ति । इदमिति । श्रौतप्रतिज्ञासामर्थ्यसिद्धमुपसंहरति । तस्मादिति । स्वपक्षसाधकं प्रमाणमुक्त्वा छान्दोग्यानुसारेण परोक्तमनुवदति । यदुक्तमिति । तैत्तिरीयकश्रुत्यनुरोधेन परिहरति । तदयुक्तमिति । एकदेशिनि दूषिते पूर्वपक्षी स्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधमुक्तं स्मारयति । सत्यमिति । विरुद्धत्वेनाप्रामाण्याङ्गीकारादेकवाक्यतया प्रामाण्यमेवाङ्गीकर्तुं युक्तमित्याह । नेत्यादिना । श्रुतीनामेकवाक्यत्व-

श्रुतीनाम् । भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानामिह तु विरोध उक्तः
सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासंभवाद्द्वयोश्च प्रथमजत्वा-
संभवाद्विकल्पासंभवाच्चेति । नैष दोषः । तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके
तृतीयत्वश्रवणात् “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।
आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः” [तै० २ । १] इति । अशक्या
हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम् । शक्यां तु परिणेतुं छान्दोग्य-
श्रुतिः । तदाकाशं वायुं च स्रष्ट्वा ‘तत्तेजोऽसृजत’ इति । न
हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्यो-
त्पत्तिं वीरयितुं शक्नोति । एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्व-
यासंभवात् । स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत् ।

स्याविरोधापेक्षत्वात्प्रकृते च श्रुतिद्वयविरोधस्योक्तत्वाच्चैकवाक्यतेति शङ्कते । भवत्विति ।
उक्तं विरोधमेव स्फोरयति । सकृदादिति । तत्तेजोऽसृजतेति स्रष्टा तच्छब्दार्थः सकृ-
देव श्रुतस्तस्य स्रष्टव्यद्वयेनाऽऽकाशेन तेजसा च संबन्धस्तदाकाशमसृजत तत्तेजोऽ-
सृजतेति नोपपद्यते तत्कथमेकवाक्यतेत्यर्थः । स सूपं पक्त्वैदं पचतीतिवदेकस्यापि
स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धसिद्धिरित्याशङ्क्य दृष्टान्ते क्रमसंबन्धेऽपि दार्ष्टान्तिके प्राथम्य-
दृष्टेरुभयोः सृष्टिक्रमस्य चेष्टत्वाद्युपपदनुत्पत्तेर्न विरोधसमाधिरित्याह । द्वयोश्चेति ।
शाखाभेदेन प्रथमजत्वं विकल्प्यतामित्याशङ्क्य वस्तुनि तदयोगाभैवमित्याह । विक-
ल्पेति । तेजःसृष्टिप्राथम्ये वियत्सृष्टिस्तत्प्राथम्यं चेत्युभयं बाध्यमाकाशसृष्टिप्राथम्ये
तु प्राथम्यमेव तेजःसृष्टेर्बाध्यं न तत्सृष्टिर्वायोरग्निरिति तस्या स्थानान्तरत्वप्रतिलम्भात्तत्र
श्रुतधर्मिबाधकल्पनादुभयबाधप्रसज्जकार्द्धमबाधकल्पनमेव युक्तमित्याह । नैष इति ।
किंच श्रुत्योरन्यथोपपद्यमानानुपपद्यमानयोरन्यथानुपपद्यमाना श्रुतिर्बलीयसीति तैत्ति-
रीयश्रुतिरेवानुमर्तव्येत्याह । अशक्येति । छान्दोग्यश्रुतेरन्यथोपपद्यमानत्वेन दुर्बल-
त्वमाह । शक्येति । अन्यथापरिणयनमेवाभिनयति । तदाकाशमिति । किंच तत्ते-
जोऽसृजतेति श्रुतिः साक्षादेवाऽऽकाशस्योत्पत्तिं वारयेदर्थद्वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूष-
यति । न हीति । न द्वितीय आर्थिकश्रुतेर्दुर्बलत्वादित्याह । श्रुत्यन्तरेति । तेजः-
श्रुतिस्तेजोजन्म वियदनुत्पत्तिश्चेत्युभयं साक्षादेव बोधयति चेत्का हानिरित्याश-
ङ्क्याऽऽह । एकस्येति । एकस्य स्रष्टुरनेकव्यापारवदेकस्यापि वाक्यस्य किं न
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । स्रष्टा त्वात् । वृद्धप्रयोगाधीनं शब्दसामर्थ्यावधारणं न
चाऽऽवृत्तिरहितस्य शब्दस्यानेकैत्रार्थे व्यापारो दृष्टो दृष्टं तु क्रमाक्रमाभ्यामेकस्यपि
कर्तुरनेकव्यापारवत्त्वमित्यर्थः । उक्तन्यायेन श्रुत्योरेकवाक्यत्वेनाविरुद्धार्थतया प्रामाण्यं

इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हा-
तव्या । न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धोऽभिप्रे-
यते श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथा च “सर्वं सखिवदं
ब्रह्म तज्जलान्” [छा० ३।१४।१] इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य
वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमु-
खमुत्पत्तिक्रमं वारयति । एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न
श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति । ननु
शमविधानार्थमेतद्वाक्यम् “ तज्जलानिति शान्तं उपासीत ”
[छा० ३।१४।१] इति श्रुतेर्नैतत्स्रष्टिवाक्यं
तस्मादेतन्न प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममनुरोद्धमर्हतीति । तत्ते-
जोऽसृजतेत्येतत्स्रष्टिवाक्यम् । तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रही-
तव्य इति । नेत्युच्यते । न हि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्य-
न्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति पदार्थधर्मत्वा-
त्क्रमस्य । अपिच तत्तेजोऽसृजतेति नात्र क्रमस्य वाचकः कश्चि-
च्छब्दोऽस्ति । अर्थात्तु क्रमो गम्यते स च वापोराग्निरित्यनेन

युक्तमित्युपसंहरति । इत्येकेति । एकं वाक्यमावृत्तिरहितमनेकव्यापारवन्न चेत्कथं
तर्हि तत्तेजोऽसृजतेत्यत्राऽऽकाशस्योत्पत्तिरुपसंहरतव्येत्याशङ्क्य नास्मिन्नर्थे वाक्य-
स्यैकस्य व्यापारोऽपि तु भिन्नानां वाक्यानामित्याह । न चेति । श्रुत्यन्तरसिद्धोऽपि
क्रमः श्रुत्यन्तरे संग्राहो भवतीत्येतद्वृष्टान्त्वेन स्पष्टयति । यथा चेति । दृष्टान्तवैषम्यं
शङ्कते । नन्वेति । तत्र विशेषणश्रुतिं प्रमाणयति । तज्जलानिति । व्यावर्त्यं
कीर्तयति । नैतदिति । यत्परः शब्दः स शब्दार्थो न चायं शब्दः सृष्टिपरोऽतो न
प्रसिद्धं क्रमं बाधितुमलमिति फलितमाह । तस्मादिति । दार्ष्टान्तिके विशेषमाह ।
तत्तेज इति । तस्य सृष्टिपरत्वेऽपि श्रुत्यन्तरप्रसिद्धक्रमानुरोधित्वमाशङ्क्याऽऽह ।
तस्मादिति । तत्परत्वात्परत्ववैषम्येऽपि तत्तेजोऽसृजतेत्यस्य न श्रुत्यन्तरसिद्धक्र-
मनिवारकत्वेत्याह । नेत्युच्यत इति । किंच गुणभूतक्रमविरोधान्न प्रधानभूतपदार्थ-
त्यागो युक्तो गुणप्रधानविरोधे प्रधानानुरोधस्यैव युक्तत्वादित्याह । न हीति । इतोऽपि
तेजःप्राथम्यानुरोधेन वियत्पदार्थत्यागानुपपात्तिरित्याह । अपिचेति । छान्दोग्ये
तत्प्राथम्यं शाब्दमर्थं वा नाऽऽद्यं इत्याह । तत्तेज इति । न द्वितीयोऽर्थसिद्धक्र-
मस्य श्रौतक्रमविरोधे बाधकत्वायोग्नदित्याह । अर्थात्त्विति । वियत्पवनयोः श्रुतिं विना

१ क. ज. झ. ट. 'क्यक' । २ ड. ज. 'नुसम' । ३ क. ज. ट. स वा । ४ क. ख. 'रत्वे
वै' । ५ क. 'नुत्पाति' । ६ ठ. ड. 'ग्ये प्रा' । ७ ठ. 'म्यं शब्देनाऽऽर्थ' । ८ क. ख. 'मार्थिकं वा ।

श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते । विकल्पसमुच्चयौ तु विय-
त्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ ।
तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः । अपिच च्छान्दोग्ये “येनाश्रुतं
श्रुतं भवति” इत्येतां प्रतिज्ञां वाभ्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमस्मा-
न्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यं किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके
समाम्नातं नभो न संगृह्यते । यच्चोक्तमाकाशस्य सर्वेणानन्यदे-
शकालत्वाद्ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्व्यत्यतो न
प्रतिज्ञा हीयते । न चैकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिकोपो भवति ।
क्षीरोदकवद्ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति । अत्रोच्यते ।
न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम् । मृदा-
दिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेत-
व्यमिति गम्यते । क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न

प्रथमतस्तेजःश्रुतिवशात्तस्य सृष्टौ प्राथम्यं भाति तच्च श्रुत्यन्तरे तृतीयत्वश्रुत्या व्याह-
तमित्यर्थः । शाखाभेदेन विकल्पो वा स्यादुभयप्राथम्यस्योभयत्रोपसंहृतेः समुच्चयो
वेत्याशङ्क्याऽऽह । विकल्पेति । प्रथमजत्वे सिद्धवस्तुत्वाद्विकल्पासंभवान्निरस्तः ।
वायोरग्निरिति श्रुतिविरोवान्नोभयोरुभयत्र प्रथमजत्वं न च क्रमसृष्टाविष्टायामुभयोरु-
भयत्र प्राथम्यमुपसंहर्तुं शक्यं तेन द्वाभ्यां द्वावपि निरस्तावित्यर्थः । तैत्तिरीयश्रुत्यनुरो-
धेन च्छान्दोग्ये श्रुतिनैनान्न तथोर्विरोधोऽस्तीत्युपसंहरति । तस्मादिति । न केवलम-
विरोधोऽपि तु च्छान्दोग्यश्रुतेरनुकूलैव तैत्तिरीयश्रुतिरित्याह । अपिचेति । उत्पत्तौ
वियदुपसंहारं विनाऽपि प्रतिपादितत्वात्प्रतिज्ञाया न च्छान्दोग्यश्रुत्यनुकूलः तैत्तिरी-
यश्रुतिरित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनुवदति । यच्चेति । अतो न प्रतिज्ञेत्यत्राऽऽकाशस्यो-
त्पत्त्यभावेऽपीति शेषः । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिसमाधानमनुवदति । न चेति । अन्य-
थाप्रतिज्ञोपपादनं तावद्दूषयति । अत्रेति । क्षीरपूर्णघटे प्रक्षिप्ता नारिन्दवस्तद्ब्रह्मणे-
नैव गृह्यन्ते न पृथक्पार्थाबिन्दूनां ग्रहणमवाशिष्यते । तथा ब्रह्मणि सकार्ये ज्ञाते तदभि-
न्नदेशकालं नभो विज्ञातमेव तदनेन दृष्टान्तेन नेदं प्रतिज्ञानं नेतुं युक्तं दृष्टान्ता-
नुरोधित्वाद्वाधार्थान्तिकस्य दृष्टान्तस्य च प्रकृतिविकाररूपत्वाद्वाधार्थान्तिकेऽपि तथात्वस्य
युक्तत्वात्तस्मादाकाशादेर्ब्रह्मविकारत्वे तत्प्रकृतिभूतब्रह्मणोऽनन्यत्वमित्यनेनैव न्यायेनेदं
नेयमित्यर्थः । इतश्च न क्षीरोदकदृष्टान्तेनैतन्नैतव्यमित्याह । न क्षीरेति । तत्र

सम्यग्बिज्ञानं स्यात् । न हि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्-
बिज्ञानगृहीतत्वमस्ति । न च वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीक-
वचनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते । साऽवधारणा चेयम् “एकमेवा-
द्वितीयम्” इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत । न च
स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयताव-
धारणं चेति न्याय्यं मृदादिष्वपि हि तत्संभवात् । नै तदपूर्वव-
दुपन्यसितव्यं भवति “श्वेतकेतो यन्तु सोम्येदं महामना अनूचा-
नमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः” [छा० ६ । १ । २]
‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’ इत्यादिना । तस्मादशेषस्तुविषयमेवेदं
सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥
यत्पुनरेतदुक्तमसंभवाद्वौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति । अत्र ब्रूमः ।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥ (१)

तुशब्दोऽसंभवाद्वाव्यावृत्त्यर्थः । न खल्वैकाशोत्पत्ताव-

हेतुमाह । न हीति । मा भूदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तत्राऽऽह । न
चेति । मायया भ्रान्तिरूपया यदलीकं मिथ्याभाषणं तेन वचनमन्यथाबोधनं तेन वा
विप्रेतिलिप्सादिभिर्वा नार्थावधारणमपौरुषेयस्य वेदस्योपपद्यते तेषां पुरुषधर्मत्वाद्दे-
देऽसंभवादित्यर्थः । यत्तु क्षीरनीरवद्ब्रह्मनममोरव्यतिरेकाद्वितीयश्रुतिरिति तत्राऽऽह ।
साऽवधारणेति । यद्यद्वितीयपदमौपचारिकं तर्हि कथमवधारणं न हि माणवके सिंह-
त्वोपचारेण सिंहादन्यो माणवको नेति प्रयोगोऽस्तीत्यर्थः । यत्तु स्वकार्यापेक्षया सर्व-
मिदमुपपन्नमिति तत्राऽऽह । न चेति । तत्संभवाद्ब्रह्मेणि विशेषणवैयर्थ्यमिति पूरयितुं
हिशब्दः । मृदादिष्वपि स्वकार्यापेक्षया वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमिच्छन्तं प्रति
दोषान्तरमाह । न तदिति । कथमपूर्ववदुपन्यासस्तत्राऽऽह । श्वेतकेतो इति ।
त्वत्पक्षे वा कथमिदं प्रतिज्ञानं तत्राऽऽह । तस्मादिति । स्वकार्यापेक्षया वस्त्वेकदेश-
विषयत्वासंभवादिति यावत् ॥ ६ ॥

सावधारणाद्वितीयश्रुतेरेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादनाच्च नभसोऽपि ब्रह्मकार्यत्वं
पृथिव्यादिवदित्युक्तम् । इदानीमनुमानविरोधादकाशोत्पत्तेरसंभवादुत्पत्तिश्रवणं गौण-
मित्युक्तमनुवदति । यत्पुनरिति । अनुमानस्य मानान्तरविरोधेनामानत्वान्नाऽऽकाशो-
त्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वापादनसामर्थ्यमिति सूत्रमवतारयति । अत्रेति । अक्षरोक्तमर्थं कथ-
यति । तुशब्द इति । व्यावृत्तिप्रकारमभिनयति । न खल्विति । तत्र विभक्तत्वहेतु-

१ क. ज. “स्यग्ज्ञानं” । २ क. ज. “स्यग्ज्ञान” । ३ ड. ज. अ. ट. “वचना” । ४ क. ड. ज.
अ. “मेकाद्वि” । ५ क. हि संभ । ६ क. न हि त । ७ क. ड. अ. “प्राक्षो ये” । ८ ड. अ. तत्र ।
९ क. ख. ठ. “प्रलि” । १० ड. “तिपत्यादि” । ११ क. ख. ठ. ड. “झाङ्गि” । १२ क. “पेक्षाया” ।

संभवाशङ्का कर्तव्या । यत्ते यावत्किंचिद्विकारजातं दृश्यते
घटघटिकोदञ्चनादि वा कटककेयूरकुण्डलादि वा सूचीना-
राचनिखिशादि वा तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते । न त्व-
विकृतं किंचित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते । विभागश्चाऽऽकाशस्य
पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते । तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुम-
र्हति । एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम् ।
नन्वात्माऽप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्वं घटा-
दिवत्प्राप्नोति । न । “आत्मन आकाशः संभूतः” इति श्रुतेः । यदि
ह्यात्माऽपि विकारः स्यात्तस्मात्परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि
सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात् । तथाच शून्यवादः
प्रसज्येत । आत्मत्वाच्चाऽऽत्मेनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः । न
ह्यात्माऽऽगन्तुकः कस्यचित्स्वयंसिद्धत्वात् । न ह्यात्माऽऽ-

कमनुमानं हेतुं कुर्वन्व्याप्तिमाह । यत् इति । यद्विभक्तं तत्कार्यं यथा च घटादीत्य-
वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह । न त्विति । यन्न कार्यं तन्न विभक्तं यथाऽऽत्मेत्यर्थः ।
व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतामाह । विभागश्चेति । विभक्तं कार्यमविद्याव्यतिरिक्तत्वे सति
विभक्तत्वात्सामान्यवर्त्तमानत्वाच्च घटवदित्यभिप्रेत्याऽऽह । तस्मादिति । दिगादिषु
व्यभिचारमाशङ्क्य पक्षतुल्यत्वान्नैवमित्याह । एतेनेति । आत्मा गगनादिभ्यो विभक्तो
न वा । आद्ये विभक्तोऽपि विकारो नेति व्यभिचारः । द्वितीये तदभिन्नत्वात्तद्व-
देव तस्यापि कार्यतेति मत्वा चोदयति । नन्विति । न तावदात्मनि व्यभिचारः
सति मातरि बाधविधुरे विभागाभावात् । न च तस्य प्रातीतिकविभागेन कार्यत्वं सर्व-
कारणत्वश्रुतिविरोधात् । न च तद्वदेवाऽऽकाशस्यापि न कार्यता तत्कार्यतायाः श्रुत-
त्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह । नाऽऽत्मन इति । आत्मनोऽपि वस्तुत्वाद्व्यवत्कार्यत्वानुमा-
नान्न सर्वकारणतेत्याशङ्क्यार्थापत्तिविरोधान्नैवमित्याह । यदि हीति । निरात्मकत्वं
निरुपादानत्वम् । तत्प्राप्तिफलमाह । तथाचेति । इष्टापत्तिं निराचष्टे । आत्मत्वाच्चेति ।
निराकर्तृऽस्ति न वा । आद्ये निराकर्तृत्वाऽऽत्मेत्यात्मनो नित्यसत्त्वम् । द्वितीये
तदभावे निराकरणासिद्धेर्नित्यत्वमित्यर्थः । आत्मकारणस्यैवाऽऽकाशादिकारणत्वान्न
सर्वस्य निरात्मकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । सत्तास्फूर्त्योरन्यानपेक्षत्वादात्म-
नोऽनागन्तुकत्वं तत्कथं तत्कारणमाकाशादिकारणमित्यर्थः । प्रमाणापेक्षया सिध्यन्नात्मा
कथं निरपेक्षस्फूर्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । तस्यापि स्वयमेव साधकत्वादित्यर्थः ।

त्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति । तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणा-
न्यसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते । न ह्याकाशादयः पदार्थाः
प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयं सिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । आत्मा
तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सि-
ध्यति । न चेदृशस्य निराकरणं संभवति । आगन्तुकं हि
वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम् । य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य
स्वरूपम् । न ह्यग्रेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते । तथाऽहमेदेदानीं
जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवाना-
गतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनान्यथा
भवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति सर्वदा वर्तमा-
नस्वभावत्वात् । तथा भस्मीभवत्यपि देहे नाऽऽत्मन उच्छेदो
वर्तमानस्वभावादन्यस्वभावत्वं वा न संभावयितुं शक्यम् ।

प्रत्यक्षाद्विरेकेणाऽऽत्मनः सिद्धत्वे तेषामानर्थक्यमित्याशङ्क्याऽऽह । तस्य
हीति । आत्मनः स्वयंसिद्धत्वे वस्तुत्वाविशेषादाकाशादीनामपि तथा संभवात्प्रमाणवै-
यर्थ्यतादवस्थमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । जडत्वादनभ्युपगमाच्च न स्वतःसिद्धता
तेषामित्यर्थः । आत्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं वादिनो नोपगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह ।
आत्मा त्विति । प्रमाणादिसाक्षित्वान्न तदधीनाऽऽत्मसिद्धिरित्यर्थः । आत्मनः स्वप्र-
काशत्वेऽपि कथमनिराकरणमित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । निराकरणत्वमपि तदधी-
नात्मलाभं तद्विरुद्धं नोदेतीत्यर्थः । अहमस्मि ब्रह्मेति तत्त्वज्ञानान्नाहं कर्ता भोक्ता
चेत्यात्मनोऽपि निराकरणं दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह । आगन्तुकं हीति । जीवत्वमनाग-
न्तुकमपि निराक्रियमाणमित्याशङ्क्याऽऽह । नेति । किं तर्हि स्वरूपं तदाह । य
एवेति । तदपि निराक्रियतामित्याशङ्क्य निराकर्त्रन्तराभावाच्चैवमित्याह । न हीति ।
आत्मनः सत्तास्फूर्त्योरन्यानपेक्षत्वमनागन्तुकत्वे कारणमुक्त्वा स्फूर्तविन्यानपेक्षत्वमुप-
पाद्य सत्तायामपि तदुपपादयति । तथेति । सदाऽहमित्यपरोक्षैकरूपानुभवान्नाऽऽ-
त्मनः सत्ताव्यभिचारो येनान्यतः सत्तामाकाङ्क्षेदित्यर्थः । जीवतो मातुरन्यथाभावाभा-
वेऽपि मृतस्य स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तथेत्यादिना । यत्स्वभावत्वमनुभवसिद्धं
तस्यान्यथात्वं बाधकादवसातव्यं बाधकं च घटादीनां स्वभावाद्विचलनं मानोपनीतं
यस्य तु न तदस्ति तस्याऽऽत्मनोऽनुभवसिद्धस्य नान्यथात्वमिति भावः । आत्मनः

[अ०२पा०३सू०७]भानन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ६०१

एवमप्रत्यारूपेयस्वभावत्वादकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाऽऽका-
शस्य । यच्चूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्तीति ।
तत्प्रत्युच्यते । न तावत्समानजातीयमेवाऽऽरभते न भिन्न-
जातीयमिति नियमोऽस्ति । न हि तन्तूनां तत्संयोगानां च
समानजातीयत्वमस्ति द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात् । न च निमित्त-
कारणानामपि तुरीयेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति ।
स्यादेतत्समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न
कारणान्तरविषय इति । तदप्यनैकान्तिकम् । सूत्रगोवालैह्यनेक-
जातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते । तथा सूत्रैरूर्णोदिभिश्च
विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते । सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समान-
जातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यं सर्वस्य सर्वेण समानजाती-
यकत्वात् । नाप्यनेकमेवाऽऽरभते नैकमिति नियमोऽस्ति ।

स्वतःसिद्धत्वेनानागन्तुकत्वे फलितमाह । एवमिति । विभक्तत्वहेतोरव्यभिचारेऽपि
बाधकवर्कभावादप्रयोजकतेत्याशङ्क्याऽऽह । कार्यत्वं चेति । अकार्यस्याऽऽत्मनः
स्वरूपोपाधावबाधितभेदशून्यत्वान्न मुख्यं विभक्तत्वम् । आकाशस्य तथाविधभेदवत्त्वा-
न्मुख्यविभागित्वेन कार्यत्वमन्यथा मुख्यविभागानुपपत्तिरिति कुतोऽप्रयोजकतेत्यर्थः ।
आकाशानुत्पत्त्यनुमानानां प्रत्यनुम्पनविरोधमुक्त्वा समवायिकारणशून्यत्वं विशेषतो
दूषयितुमनुभाषते । यच्चिति । तत्र समानजातीयस्याऽऽरम्भकत्वमयोगव्यवच्छेदेना-
न्ययोगव्यवच्छेदेन वेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति । तत्प्रतीति ।
नियमो हि कारणमात्रनिष्ठो वा निमित्तकारणनिष्ठो वा समवायिकारणनिष्ठो वेति
विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह । न हीति । न द्वितीय इत्याह । न चेति । तृतीयमादत्ते ।
स्यादेतादिति । समवायिकारणस्यापरजात्या वा परजात्या वा समानजातीयत्वमिति
विकल्प्याऽऽद्यं निरस्यति । तदपीति । अनैकान्तिकान्तरमाह । तथेति । न च
रज्ज्वादेः सूत्रवालादिसमुदायमात्रत्वं पंटादेरपि तथात्वापत्तावयवविसमुदायमात्रापाक-
रणप्रसङ्गादिति भावः । द्वितीये समानजातीयविशेषवैयर्थ्यप्रद्व्यस्यासतश्चानारम्भ-
कत्वेन सर्वस्यापि समानजातीयत्वसंभवादित्याह । सूत्रेति । समानजातीयमेवाऽऽ-
रम्भकमिति नियमं निराकृत्यानेकेषामारम्भकत्वनियमं निराकरोति । नापीति । तन्नि-

त' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्यते । चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्कि-
मर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः । अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्य-
माणो दृश्यते । यथा विशोऽन्नं राक्षानां पशवोऽन्नं विशामिति । तस्मादिष्टादीषु त्रिमित्रभृत्यादिभिरिव
गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्च-
र्वणं निगरणं वा । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृष्यन्ति' (छा० ३।६।१)
इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति । तेषां चेष्टादिकारिणां देवानप्रति गुणभावोपगताना-
मप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम् । अनात्मविस्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभो-
ग्यभाव उपपद्यते । तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवतामु-
पास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति । स
चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी
तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते ॥ अनात्मविस्वात्तथाहि दर्शय-
तीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानु-
ष्ठायिनः । पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात् । पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टा-
दिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्गाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै । पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता ।
वाक्यतात्पर्यावगमात् । तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके
विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र० ५।४) इति । तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितॄणां

रत्नप्रभाख्या

मिति भावः । केन दोषेण तेषां देवभोग्यतेत्यत आह—अनात्मविस्वाच्चेति । यथा पशुर्भोग्य एवमन्नः स भेदधी-
मान् देवानां भोग्य इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य मुख्यत्वबलेन सूत्रांशं व्याख्याय प्रकृतपञ्चाग्नयः सूत्रकृतात्मत्वेनोपचरित इति
व्याख्यान्तरमाह—अनात्मेत्यादिना । विद्यास्तुत्यर्थमन्नत्वं न मुख्यमित्यत्र श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथाहीति ।

भामतीव्याख्या

देवादिभक्ष्यत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इति यागभावनायाः कर्तृपेक्षितोपायतारूपविधिश्रुतिविरोधादन्नशब्दो भोक्तृणामेव सतां देवोपजीवि-
तामात्रेण भाक्तो गमयितव्यो न तु चर्वणनिगरणभ्यां मुख्य इति । अत्रैवापि श्रुत्यन्तरं संगच्छत इत्याह—तथाहि दर्शयति
श्रुतिरनात्मविदामनात्मविस्वादेव पशुवद्देवोपभोग्यतां न तु चर्वणीयतया । यथा हि बलीवर्दादयो भुञ्जाना अपि स्वफलं स्वमि-
ह्लादिवहनेनोपकुर्वाणा भोग्याः, एवं परमतत्त्वमविद्वांस इष्टादिकारिण इह दधिपयःपुरोडाशादिनाऽमुष्मिन्न लोके परिचारकतया
देवानामुपभोग्या इति श्रुत्यर्थः । अथवा अनात्मविस्वात्तथाहि दर्शयति इत्यस्यान्या व्याख्या । आत्मवित् पञ्चाग्निविद्यावित् न
आत्मवित् अनात्मवित् । यो हि पञ्चाग्निविद्यां न वेद तं देवा भक्षयन्तीति निन्ध्यते पञ्चाग्निविद्यां स्तोतुं तस्या एव प्रकृतत्वात् । तद-
नेनोपचारस्य प्रयोजनमुक्तम् । उपचारनिमित्तमनुपपत्तिमाह—तथाहि दर्शयति । श्रुतिर्भोक्तृत्वम् । स सोमलोके वि-

आनन्दगिरिय्याख्या

अधिक्रियतेऽनेनेत्यधिकारी विधिपुरुषसंबन्धनिमित्तं कामादि तदुक्ता श्रुतिरधिकारश्रुतिस्तस्या वैयर्थ्यपरिहारार्थमिष्टादिकारिणामन्नत्वं भा-
क्तमेवेत्यर्थः । उक्तमेव व्यनक्ति—चन्द्रेति । न केवलं मुख्यार्थबाधादन्नशब्दस्यामुख्यार्थत्वमन्यत्र प्रयोगादपीत्याह—अन्नेति ।
अन्नत्वस्यामुख्यत्वे कथं भक्षयन्तीत्युक्तं, तत्राह—तस्मादिति । न केवलमिष्टादिकारिणामन्नत्वस्यामुख्यत्वादमुख्यत्वेनां भक्षणं किं तु
श्रुत्यन्तरादपीत्याह—न ह वा इति । तथापि पारतन्त्र्येष्टादिकारिणां भोगसिद्धिरिति कुतो भोगाय गमनं, तत्राह—तेषां चेति ।
केन दोषेण तेषां देवभोग्यतेत्याशङ्क्य सूत्रावयवं व्याचष्टे—अनात्मेति । अत्र मानं दर्शयन्नवशिष्टं सूत्रांशं योजयति—तथाहीति ।
अविद्याधिकारारम्भार्थोऽथशब्दः । उपास्तिमेव भेददृष्टिं स्पष्टयति—अन्योऽसाविति । भेददृष्टिनिदानमाह—न स इति । तस्य
दृष्टान्तं देवोपभोग्यत्वमाह—यथेति । उक्तश्रुतेस्तात्पर्यमाह—स चेति । अनात्मश्रुतेर्मुख्यार्थत्वानुरोधेन सूत्रांशस्याधेयमुक्त्वा प्रक-
रणानुरोधेनार्थान्तरमाह—अनात्मेति । पञ्चाग्निविद्याविहीनत्वं तेषामनात्मविस्वम् । तद्वत्त्वेनात्मवित्त्वं चेत्तद्राहिल्येनानात्मवित्त्वं तद-
कथमित्याशङ्क्याह—पञ्चाग्नीति । इष्टादिकारिणां पञ्चाग्निविद्याशून्यत्वेऽपि कथं देवानप्रत्यन्नत्वं, तत्राह—पञ्चेति । गुणवादेन देवोपभो-
ग्यत्वेनेति यावत् । किमर्थं प्रशंसेत्याशङ्क्याह—पञ्चाग्नीति । तस्यापि विधित्सितत्वे हेतुमाह—वाक्येति । गौतमप्रवाहणसंवादरूप-
वाक्यस्य पूर्वोपरालोचनया पञ्चाग्निविद्याविधौ तात्पर्यावगतैरिति यावत् । अनात्मविस्वादिति व्याख्याय तथाहीत्यादि व्याख्याति—तथाहीति ।
इष्टादिकारी सर्वनामार्थः । पूर्वोक्तवाक्येन तुल्यार्थत्वबुद्ध्या तथेत्युक्तम् । पञ्चाग्निविद्याधिकारान्यत्र प्रवृत्तत्वमाह—अन्यादिति ।
अत एव श्रुत्यन्तरमित्युक्तम् । पर्यायान्तरोपक्रमाथोऽथशब्दः । जितो लोकः पूर्वसिद्धो लोको भोग्यो येषां तेषामाजानसिद्धानमिति

जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति । एवं भाक्तवाद्भगभावचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥



स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ॥ यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इत्येते ॥ १ ॥

जातमात्रस्य भोगित्वादिकर्मण्ये विरोधतः ॥ चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ॥ २ ॥

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन् यावत्संपातमुपित्वा यथेतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावद्गमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिमिति । तत्रेदं विचार्यते—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति । किं तावत्प्राप्तम् । निरनुशया इति । कुतः—यावत्संपातमिति विशेषणात् । संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माह्लोकादमुं लोके फलोपभोगायेति । यावत्संपातमुपित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति । 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते । स्यादेतत् । यावदमुष्मिह्लोके उपभोक्तव्यं कर्म तावदुपभुङ्क्ते इति कल्पयिष्यामीति । नैवं कल्पयितुं शक्यते यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात् । 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह

रत्नप्रभाव्याख्या

त्र गतिपर्यालोचनया वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इदानीं गत्यन्तरभाविनीमागतिं निरूपयति—कृतात्यय इति । भोक्तृकर्मसमाप्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावत्तावदान्नायत इति योजना । अत्र तावत्संपातमिति विशेषणाद्रमणीयचरणा इति वाक्याच्च संशयमाह—तत्रेति । अनुशयः कर्म, अत्र पूर्वपक्षे कर्माभावेनांतरनियमाद्वैराग्यदाढ्यं, सिद्धान्ते कर्मसत्त्वेनागतिनियमाद्वैराग्यदाढ्यमिति भेदः । तेषामिष्टादिकारिणां यदा तत्कर्म यथैति विपरिक्षीणं भवति तदा पुनरावर्तन्त इति श्रुत्यन्तरेणापि कृत्स्नकर्मणश्चन्द्रलोके भुक्तत्वमुच्यत इत्यर्थः । यावत्पदोचो न युक्तः श्रुत्यन्तरविरोधादित्याह—नैवमिति । अयं नरो यत्किंचिदिह लोके कर्म करोति तस्यान्तं फलं परलोके

भामतीव्याख्या

भूतिमनुभूयेति । शेषगतिरोहितार्थम् ॥ ७ ॥ कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च । यावत्संपातमुपित्वेति यावदुपबन्धात् । यत्किंचेह करोत्ययमिति च यत्किंचेह कर्म कृतं तस्यान्तं प्राप्यति श्रवणात्, प्राप्यन्त्य चैक-

आनन्दगिरीयव्याख्या

शब्दः । कर्मदेवत्वं व्युत्पादयति—य इति । श्रुत्यन्तरस्य तात्पर्यमाह—इष्टादीति । तेषामन्तवस्य भाक्त्ये फलितमाह—एवमिति । अत्रेति प्रश्नप्रतिवचनोक्तिः । इष्टादिकारिणां भोगाय चन्द्रं प्रति गमने संभाविते तेषामेव प्रश्नप्रतिवचनयोरपि प्रतीतेः पुंके प्रथमश्लोकेमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ७ ॥ कर्मसमवायिनीनामपां पथमाहुतां पुंपरिणामहेतुमाश्रित्याग्निः परिवेष्टितः जीवगतिरुक्ता संप्रति स्वर्गादवरोहतां कर्मेव नास्ति कुतस्तत्समवायिन्य आपः कुतस्तारां पुंपरिणाम इत्याशङ्क्याह—कृतेति । येषां पूर्वत्र चन्द्रमण्डलारोहणमुक्तं त एव प्रत्यवरोहतां विषय इति वक्तुं प्रत्यवरोहवाक्यमुदाहरति—इष्टादीति । तत्तच्छन्द्रमण्डलमिति यावत् । तस्मिन्नित्यपि तदेवोक्तम् । भोक्तृकर्मसमाप्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावदान्नायत इति योजना । यावत्संपातमिति विशेषणाद्रमणीयचरणा रमणीयां योनिमित्यादिवाक्याच्च संशयमाह—तत्रेति । प्रकृतपुनरावरोहस्य जीवेति यावत् । निरनुशयशब्दार्थमेव स्पष्टयति—मुक्तेति । अत्रापि प्रत्यवरोहतां सानुशयत्वसमर्थनद्वारा वैराग्याय संभारगतिरेव निरूप्यत इति पूर्ववत्पादादिसंगतिमभिप्रेत्य पूर्वपक्षमाकाङ्क्षापूर्वकं गृह्णाति—किं तावदिति । पूर्वपक्षे गतिरेव कर्म-कृतं तदभावकृता त्वागतिः सिद्धान्ते कर्मकृतत्वाविशेषो द्रव्योरिति फलभेदः । तत्र प्रश्नपूर्वकं किञ्च हेतूकरोति—कुत इति । यावत्पतनमुपित्वेलेतावदत्र भाति न तु कर्मणः सर्वस्य भुक्तत्वमित्याशङ्क्याह—संपातेति । यावत्पतनं तावदपतनमिति वचनमनर्थकमिति मत्वा वाक्यार्थमाह—यावदिति । चन्द्रमण्डले सर्वकर्मोपभोगे श्रुत्यन्तरसंमतिमाह—तेपामिति । इष्टादिकारिणां यदा तद्वोक्तव्यं कर्म पथैवेति परिगच्छति परिक्षीणं भवति तदा तत आवर्तन्त इत्युत्तरेणान्वयः । यावच्छब्दोपबन्धस्य गत्यन्तरं शङ्कते—तद्वोक्तव्यं कर्म पथैवेति परिगच्छति परिक्षीणं भवति तदा तत आवर्तन्त इत्युत्तरेणान्वयः । अयं संसारी यत्किंचिदिह लोके कर्म करोति तस्यान्तं फलं परलोके प्राप्य तस्माह्लोकात्पुनरस्मै लोकाय कर्मानुशयमागच्छति । पुनःशब्दात्पूर्वमप्यागत इति गम्यते संसारस्या-

करोत्यम् । तस्माद्भोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचे-
त्यविशेषपरामर्शेन कृत्वस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति । अपिच प्रायणमनारब्ध-
फलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम् । प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः ।
तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम् । नहि साधारणे निमित्ते नै-
मित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युप-
पद्यते । तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृ-
न्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्भयं शरीरं चन्द्रमस्यु-
पभोगायावद्भं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते । सवितुकिरणसंपर्कादिव हिमक-
रकाः । हुतभुगर्विःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम् । ततः कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलो-
पभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति । केन हेतुना । दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि
प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—‘तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रम-
णीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा
अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा’ (छा०

रत्नप्रभाष्याख्या

प्राप्य कर्मार्थं पुनरायातीति श्रुत्यर्थः । कर्माभावे श्रुतिमुक्त्वा युक्तिमाह—अपिचेति । अभिव्यक्तिः फलोन्मुखता, मरणेन
भिव्यक्तस्य सर्वस्य कर्मणः परलोकभोगस्यावश्यंभावात्कर्माभाव इत्यर्थः । चरणाख्यशीलमात्रादवरोह इति प्राप्ते सिद्धान्तप्र-
तिज्ञां व्याचष्टे—येनेत्यादिना । तत् तत्रावरोहतां जीवानां मध्ये ये केचिदिह कर्मभूमौ रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणः पुण्य
योनिभाज इति यत् तत् अभ्याशो ह अवश्यं हीत्यर्थः । कपूयं पापम् । दृष्टशब्दस्य श्रुत्यर्थमुक्त्वार्थान्तरमाह—

भामतीव्याख्या

प्रघट्टकेन सकलकर्माभिव्यञ्जकत्वात् । न खल्वभिव्यक्तिनिमित्तस्य साधारण्येऽभिव्यक्तियोगो युक्तः । फलदानाभिमुखीकरणं चाभि-
व्यक्तिस्तस्मात्समस्तमेव कर्म फलमुपभोजितवत् । स्वफलविरोधि च कर्म । तस्माच्छ्रुतेरुपपत्तेश्च निरनुशयानामेव चरणादाचारादवरोहे
न कर्मणः । आचारकर्मणी च श्रुतेः प्रसिद्धभेदे । यथाकारी यथाचारी तथा भवतीति । तथाच रमणीयचरणाः कपूयचरण
इत्याचारमेव योनिनिमित्तमुपदिशति न तु कर्म । स्तां वा कर्मशीले दे अप्यविशेषेणानुशयस्तथापि यद्यप्ययमिष्टापूर्तकारी स
निरनुशयो भुक्तभोगत्वात्तथापि पित्रादिगतानुशयवशात्तद्विपाकान् जाल्यायुर्भोगांश्चन्द्रलोकादवरुह्यानुभवयति । स्मर्यते बन्धस्य
सुकृतदुष्कृताभ्यामन्यस्य तत्संबन्धिनस्तत्फलभागिता—‘पतत्यर्धशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्’ इत्यादि । तथा श्राद्धवैश्वानरी-
येष्टादेः पितापुत्रादिगामिफलश्रुतिः । तस्माद्यावत्संपातमित्युपक्रमानुरोधात् ‘यत् किंचेह करोति’ इति च श्रुत्यन्तरानुसाराद्रमणीय-
चरणत्वं संबन्धन्तरगतमिष्टापूर्तकारिणि भाक्तं गमयितव्यम् । तथाच निरनुशयानामेव भुक्तभोगानामवरोह इति प्राप्त उच्यते—
येन कर्मकलापेन फलमुपभोजितं तस्मिन्मज्जतीतेऽपि सानुशया एव चन्द्रमण्डलादवरोहन्ति । कुतः—दृष्टस्मृतिभ्याम् । प्रत्यक्षदृष्ट
श्रुतिर्दृष्टशब्दाव्याख्या । स्मृतिश्चोपन्यस्ता । अथवा दृष्टशब्देनोच्चावचरूपो भोग उच्यते । अयमभिसंधिः—कपूयचरणा रमणीय-
चरणा इत्यवरोहतामेतद्विशेषणम् । नच सति मुख्यार्थसंभवे संबन्धिमात्रेणोपचरितार्थत्वं न्याय्यम् । न चोपक्रमविरोधाच्छ्रुत्यन्तर-

आनन्दगिरीव्याख्या

नद्वि
पसंहारः । परामर्शश्रुतेस्तात्पर्यमाह—इति हीति । न चोपसंहारे ब्राह्मण्यादिहेतुकर्मवर्गमादुपक्रमस्यापि संकोचस्तदनुसारेण-
कर्मणोऽप्युक्त्वा । उपक्रमे च यावत्संपातमिति श्रवणात्तस्य च प्रथमश्रुतस्य बलीयस्त्वाद्ब्राह्मण्यादिप्रापकचरणस्य चाचारता

५।१०।७) इति । चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्रा-
प्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युद-
यप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि 'वर्णो
आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुत-
वृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति । कः पुनरनुशयो
नामेति । केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डा-
नुसारिस्नेहवत् । यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्यैव कश्चि-
त्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति । ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषा-

रत्नप्रभाख्या

पृथ्वेति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिशास्त्रेण सुखदुःखयोर्धर्मोपभोगहेतुकत्वमवगतम् । ततश्च जन्मारभ्य
शो भोगः कर्महेतुकः, भोगत्वात्, स्वर्गभोगवदित्यनुशयसिद्धिः, विपक्षे च हेत्वभावात् भोगस्याकस्मिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । स्मृता-
श्रमाः आश्रमिणः प्रेत्य मृत्वा लोकान्तरे कर्मफलं भुक्त्वा ततः शेषेण भुक्तादन्येन कर्मणा अनुशयाख्येन पुनर्जन्म प्रतिपद्यन्ते
ति संन्यः । विशिष्टा देशादयो मेधान्ता दश गुणा येषु ते तथोक्ताः । श्रुतं ज्ञानं, वृत्तं आचारः । स्वाभिमतानुशयं वक्तुं
पृच्छति—**कः पुनरिति** । कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भोगे सति भुक्तस्य कर्मणो लेशोऽनुशयस्तद्वानवरोहति भाण्डे स्नेहशेषस्य
प्रवात्, ततः शेषेणेति स्मृतेर्ध्वलेकदेशिव्याख्यामाह—**केचिदित्यादिना** । रिच्यमानं स्नेहेन धियुज्यमानम् । ननु
भोगनादयत्वात् कर्मणो लेशो न युक्त इति शङ्कते—**नन्विति** । कृत्स्नकर्मणो भोगे जाते नाशः स्यात्, ननु भोगो जात

भामतीव्याख्या

शेषोपाच्च मुख्यार्थासंभव इति सांप्रतम् । दत्तफलैष्टापूर्तकर्मपेक्षयापि यावत्पदस्य यत्किंचेतिपदस्य चोपपत्तेः । नहि 'यावज्जीवम-
मिश्रेण जुहुयात्' इति यावज्जीवमाहारविहारदिसमयेऽपि होमं विधत्ते नापि मय्याह्लादावपि तु सायंप्रातःकालपेक्षया । सायंप्रातःकाल-
विधानसामर्थ्यात्, कालस्य चातुर्पादितयानङ्गस्यापि निमित्तातुप्रवेशात्तत्रैवमिति चेत् । न । इहापि रमणीयचरण इत्यादेर्मुल्यार्थ-
सानुशोधत्तदुपपत्तेः । तत्किमिदानीमुपसंहारादुरोधेनोपक्रमः संकोचयितव्यः । नेत्युच्यते । नद्यसावृपसंहाराननुरोधेऽप्यसंकुचद्वृत्ति-
गमनमर्हति । नहि यावन्तः संपाता यावतां वा पुंसां संपातास्ते सर्वे तत्रेष्टादिकारिणा भोगेन श्वयं नीयन्ते । पुरुषान्तराप्रयाणां
कर्मशयानां तद्भोगेन श्वयेऽतिप्रसङ्गात् । चिरोपभुक्तानां च कर्माशयानामसतां चन्द्रमण्डलोपभोगेनापनयनात् । तथाच स्वयं संकु-
चनी यावच्छ्रितरूपसंहारादुरोधप्रामाण्यं संकोचनमनगम्यते । एतेन 'यत्किंचेह करोति' इत्यपि व्याख्यातम् । अपि चेष्टार्थकारीह
नमनि केवलं न तन्मात्रमकार्षादपि तु गोदोहेननापः प्रणयन् पशुफलमप्यपूर्वं समर्चणीत् । एवमर्हतिंश्च वाञ्छनःशरीरचे-
ष्टाभिः पुण्यापुण्यमिहातुत्रोपभोग्यं संचितवतो न मर्त्यलोकादिभोग्यं चन्द्रलोके भोग्यं भवितुमर्हति । नच स्वफलविरोधिनोऽनु-
शयस्य कृते प्रायश्चित्तादात्मशान्नाददत्तफलस्य ध्वंसः संभवति । तस्मात्तेनानुशयेनायमनुशयवान् परावर्तत इति श्लिष्टम् । न
किमधिकः कर्माशय इत्यग्रे भाष्यकृद्वक्ष्यति । अन्ये तु सकलकर्मश्रेये परावृत्तिशङ्का निर्वर्जितं मन्यमाना अन्यथाधिकरणं वर्णयो-
क्तव्यत्वाह—**केचित्तावदाहुरिति** । अनुशयोऽत्र दत्तफलस्य कर्मणः शेष उच्यते । तत्रेदमिह विचार्यते—किं दत्तफलाना-
मभेष्टापूर्तकर्मणामवशेषादिहावर्तन्ते उत तान्युपभोगेन निरवशेषं क्षपयित्वाऽनुपभुक्तकर्मवशादिहावर्तन्ते इति । तत्रेष्टादीनां भो-
गण समूलकाश्च कथितत्वाच्चिरानुशया एव नुपभुक्तकर्मवशादावर्तन्ते इति प्राप्त उच्यते—सानुशया एवावर्तन्ते इति । कृतः—

आनन्दगिरियव्याख्या

त्राह—**चरणेति** । अनुशेते भोक्तारमनुगच्छतीत्यनुशयः कर्मसमूहः स चरणशब्दाधो भविष्यतीत्यर्थः । दृष्टशब्देन प्रत्यक्षश्रुतिरुक्ता ।
व्याख्यानान्तरमाह—**दृष्टश्चेति** । सर्वप्राणिषु जन्मारभ्य दृष्टोऽयमुत्कृष्टापकृष्टात्मा भोगोऽदृष्टनिमित्तः, भोगत्वात्स्वर्गादिभोगवदित्यर्थः ।
कर्मप्राप्तिस्वत्वासंभवः, तत्राह—**अभ्युदयेति** । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इति सुखदुःखयोः सुकृतदुष्क-
रकार्यत्वस्य सिद्धत्वाभोगः स कर्मनिमित्त इति व्याप्तिरनुशयसिद्धिरित्यर्थः । दृष्टं व्याख्याय स्मृतिं व्याचष्टे—**स्मृतिरपीति** ।
भाषणं कृत्वा चन्द्रलोकेमपिरुद्धेत्यर्थः । ततः शेषेण भुक्तादन्येन कर्मणा जन्म प्रतिपद्यन्ते इति संन्यः । श्रुतं ज्ञानम् । इच-
देशश्च जातिश्च कुलं च रूपं चायुश्च श्रुतं च वृत्तं च वित्तं च सुखं च मेधा च ते विशिष्टा येषु ते तथोक्ताः । अनुशय-

परे रुढेर्निर्धारणार्थं पृच्छति—**कः पुनरिति** । एकदेशिमतमाह—**केचिदिति** । किमिष्टादिकर्मस्वशेषतो भुक्त-
चित्तिः, अथवा तेषामेवावशेषादिति संशये युक्तत्वादित्थादीनामनुपभुक्तकर्मोत्तरादावृत्तिरिति प्राप्ते कृताल-
र्हति । यदिष्टादि स्वर्गार्थं कृतं तस्य युक्तस्यालये कश्चिदवशेषोऽनुशयस्तद्वानवरोहतीत्यर्थः । दृष्टे-
तदेव प्रपञ्चयति—**यथेति** । भाण्डानुसारिणः स्नेहस्याविरोधाभावात् शेषः । कर्म तु फलोदयविरो-
द्धास्य शेषसिद्धिरिति शङ्कते—**नन्विति** । कृत्स्नस्य कर्मणो यदि फलं जातं तदा नावशेषसिद्धिर्न

वस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः । नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशे-
षकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः । बाढम् । तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थानं
न लभ्यते । यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृष्टश्चिरप्रवासात्परि-
क्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थानं शक्नोति । एवमनुशयमात्रपरि-
ग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थानं शक्नोतीति । न चैतद्युक्तमिव । नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्या-
वशेषानुवृत्तिरूपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम् । नन्वेतदप्युक्तम् । न स्वर्गफलस्य कर्मणो
निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यतीति । तदेतदपेशलम् । स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं
निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति । न शब्दप्रमाणकानामीदृशी
कल्पनाऽवकल्पते । स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्ट्वादुपपद्यते । तथा सेवकस्योपकरण-
लेशानुवृत्तिश्च दृश्यते । न त्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते नापि कल्पयितुं
शक्यते स्वर्गफलवशात्स्वविरोधात् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो
भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति । यदिहि येन सुरुतेन कर्मणोऽदिना स्व-
र्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विप-
रीतः । तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरूपरुध्येत—‘तद्य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूयचरणाः’
(छा० ५।१०।७) इति । तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजा-
तमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति । यदुक्तं यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः
फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्तीति । नैतदेवम् । अनुशयसद्भावस्यावगमित-
त्वात् । यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मरन्ध्रभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति ग-

रत्नप्रभाष्याख्या

इति परिहारार्थः । भोगो न जायत इत्युक्तमिति शङ्कते—**नन्विति** । भोगः सावशेषो जात इति समाधत्ते—**बाढमित्य**
दिना । इदमेकदेशियाख्यानं दूषयति—**नचेति** । ‘स्वर्गकामो यजेत’ इत्यादिशास्त्रेण स्वर्गभोगार्थं कर्म चोदितं, तच्छेष-
मर्थभोगहेतुत्वे शास्त्रविरोध इत्यर्थः । किंच स्वर्गहेतुकर्मशेषादवरोहे कपूययोन्यापत्तिश्रुतिविरोध इत्याह—**अवश्यं चेति**
स्वाभिमतमनुशयमाह—**तस्मादिति** । पूर्वपक्षबीजमनूय दूषयति—**यदित्यादिना** । क्षपयित्वा पुनरागच्छन्तीति प्राप्य
न्तमिति वाक्येन गम्यत इति योजना । जन्मारम्भ्य दृष्टभोगलिङ्गानुगृहीतया रमणीयकपूयचरणश्रुत्यैहिकादनुशयाख्यकर्मविशेष-

भामतीव्याख्या

दृष्टानुसारात् । यथा भाण्डस्ये मधुनि सर्पिषि वा क्षालितेऽपि भाण्डलेपकं तच्छेषं मधु वा सर्पिर्वा न क्षालयितुं शक्यमि-
दृष्टमेवं तदनुसारादेतदपि प्रतिपत्तव्यम् । न चावशेषमात्राच्चन्द्रमण्डले तिष्ठसन्नपि स्थानं पारयति । यथा सेवको हास्तिकाशरीय-
दातिव्रातपरिवृतो महाराजं सेवमानः कालवशाच्छत्रपादुकावशेषो न सेवितुमर्हतीति दृष्टं तन्मूला च लौकिकी स्मृतिरिति दृष्टम-
तिभ्यां सानुशया एवावर्तत इति । तदेतदूषयति—**न चैतदिति** । एवकारे प्रयोक्तव्ये इवकारो गुञ्जिङ्गिकयो प्रयुक्तः । शब्देक-

आनन्दगिरीयव्याख्या

तु तदस्तीत्याह—**नायमिति** । येन कर्मणा चन्द्रमसमारूढास्तत्कर्म सर्वं तत्र न भुक्तमित्युक्तमिति शङ्कते—**नन्विति** । भोगा-
चन्द्रारोहणमङ्गीकृत्य विरोधं समाधत्ते—**बाढमिति** । अत्रापि दृष्टेति व्याचष्टे—**यथेति** । अत्र च स्मृतिशब्देन लौकिकी स्मृति-
बंधोक्तदृष्टमूला वा ‘ततः शेषेण’ इत्याद्या गृहीता । तदेतदेकदेशिमन्तं दूषयति—**नचेति** । इवकारो मधुरोमला प्रयुक्तो वस्तुतस्त्वेवकार-
विवक्षितः । अयुक्तत्वे हेतुमाह—**नहीति** । स्वर्गार्थेन कर्मणा स्वर्गश्रेष्ठारब्धो न तस्य शेषस्तेन स्वर्गो नारभ्यते चेन्न तस्यार्थ-
चेति भावः । स्वर्गस्यारब्धत्वेऽपि कृत्स्नस्यानारम्भान्नोक्तदूषणमिति शङ्कते—**नन्विति** । स्वर्गार्थं चोदितस्य कर्मणः स्वर्गार्थव्ययोगान्नै-
वभित्याह—**तदेतदिति** । परोक्तं दृष्टान्तं विषटयति—**ज्ञेहेति** । तथादृष्ट्वादुपपन्नेति यावत् । दार्ष्टान्तिकेऽपि तत्रैव लेशानु-
त्तिरित्याशङ्क्य दृष्टा कल्पिता वा सेति विकल्प्यायं प्रत्याह—**न त्विति** । इहेति शास्त्रीयव्यवहारभूमिरुक्ता । द्वितीयं निराह—
नापीति । शब्देकगम्यत्वान्नायमर्थः सामान्यतोदृष्टगम्य इत्यर्थः । किंच स्वर्गहेतुकर्मशेषादनुशयादवरोहे कपूययोन्यापत्तिश्राव-
रोधः स्यादित्याह—**अवश्यं चेति** । तदेव स्फुटयति—**यदीत्यादिना** । परमतायोगे स्वमतमुपसंहरति—**तस्मादिति** । प्रथमं
पूर्वपक्षबीजमनुभाषते—**यदिति** । यद्यपि यत्किंचयावत्संपातशब्दो चन्द्रमस्येव सर्वस्य कर्मणो भुक्तत्वप्रापकत्वेनानुशयाभावे लिङ्गभूत-
तथापि रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति शब्दयोर्विशिष्टजात्यारम्भकौहिककर्मसद्भाववेदकत्वादशेषभोगविषयसामान्यलिङ्गस्यैहिक-
मंसस्त्वविषयविशेषलिङ्गेनामुष्मिकविषयतया संकोचः स्यादिति मत्वाह—**नैतदिति** । फलभोगेन चन्द्रलोके स्थितेति शेषः । ४५५

म्यते । यदप्युक्तं प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिन्नल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न संभवतीति । तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम् । अपिच केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायत इति वक्तव्यम् । आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत । ततो वक्तव्यम् । यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासंभवाद्वलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति । न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात् । नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम् । ऐकान्तिकफलत्वविरोधात् । नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते । स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—‘कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति । मज्जनमानस्य संसारे यावदुःखाद्विमुच्यते’ इत्येवंजातीयका । यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं

रत्नप्रभाव्याख्या

परया विरोधात्, यत्किंचेति यावत्संपातमिति च सामान्यशब्दयोरामुष्मिकविषयत्वेन सङ्कोचो न्याय्य इति भावः । मरणकृत्स्नकर्माभिव्यञ्जकमित्युक्तम्, उक्तानुशयश्रुतिविरोधादित्याह—तदपीति । बलवदनारब्धकर्मप्रतिबन्धाच्च न कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिरित्याह—अपिचेत्यादिना । तस्य कृत्स्नकर्मव्यञ्जकत्वे हेतुर्नास्तीति भावः । प्रश्ने मत्वोत्तरं शङ्कते—आरब्धेति । आरब्धवदनारब्धस्यापि बलवतः प्रतिबन्धकत्वाच्च सर्वकर्मणः फलदानायाभिव्यक्तिरिति समाधत्ते—यथेति । अनारब्धफलवाविशेषात्सर्वकर्मणामभिव्यक्तिमाशङ्क्य मिथोविरुद्धस्वर्गनरकादिदेहफलानामेकदेहारम्भकत्वासंभव उक्तस्तं विवृणोति—नहीति । अस्तु तर्हि दुर्बलस्य कर्मणो नाश इत्यत आह—नापीति । नाभुक्तं क्षीयते कर्मैकान्त उत्तरगः स च प्रायश्चेत्तत्रज्ञानाध्यानैर्वाध्यते न मरणमात्रेणेत्यर्थः । मरणेन दुर्बलकर्माविनाशो मानमाह—स्मृतिरिति । कर्मनाशपक्षं निरस्य कृतकृत्स्नकर्माभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरमाह—यदि चेति । कृत्स्नकर्मणामेकस्मिन् देवादिजन्मानि भोगेन क्षयाच्च जन्मान्तरं यावत्, ज्ञानाभावाच्च मुक्तिरित्यज्ञदेवस्य कष्टान्तरालदशा स्यादित्यर्थः । ‘श्वश्रूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डा-

भामतीव्याख्या

पदेन न सामान्यतोऽह्यनुमानावसर इत्यर्थः । शेषमतितोऽहितार्थम् । पूर्वपक्षहेतुमनुभाषते—यदप्युक्तं प्रायणमिति । दूषयति—अप्यनुशयसद्भाव इति । रमणीयचरणा कपूयचरणा इत्यादिकयानुशयप्रतिपादनपरया श्रुत्या विरुद्धमित्यर्थः । अपिचेति । इह जन्मनि हि पर्यायेण सुखदुःखे भुज्यमाने दृश्येते । युगपच्चदेकप्रवृत्तेन प्रायणेन सुखदुःखफलानि कर्माणि व्यञ्जयेन् । गपदेन तत्फलानि भुज्येरन् । तस्मादुपभोगपर्यायदर्शनाद्वलीयसा दुर्बलस्याभिभवः कल्पनीयः । एवं विरुद्धजातिनिमित्तोपभोगत्वमपि कर्मसु द्रष्टव्यम् । न चाभिव्यक्तं च कर्म फलं न दत्त इति च संभवति । फलोपजनानिमित्तस्य हि कर्मणामभिव्यक्तिः ।

आनन्दगिरीयव्याख्या

विना नसांलोकानुपनस्मै लोकायागच्छताति प्राप्यान्तमित्यादिवाक्येन गम्यत इति योजना । द्वितीयं पूर्वपक्षधीनमनुवदति—सदपीति । मरणस्याविशेषेणाशेषानारब्धकर्मव्यञ्जकत्वे विभागाद्योगं फलितमाह—तत्रेति । रमणीयचरणा इत्याद्यनुशयवादिश्रुतिविरोधादभिव्यञ्जकमपि प्रायणं न सर्वकर्मव्यञ्जकमनुमातुं शक्यमित्याह—तदपीति । व्यञ्जकत्वं प्रायणस्यापीत्युक्तं, तदपि नास्तीत्याह—अपिचेति । नहि तस्य सर्वकर्मव्यञ्जकत्वे कारणं किञ्चिदिति भावः । पूर्ववादी पृष्ठे मत्वा हेतुमाह—आरब्धेति । नानाविधमुद्बुद्धफलकर्मणामुपपत्त्येण प्रायणेऽभिव्यक्तिश्चेत्फलमिमुख्यलक्षणत्वाच्चैत्युपगततत्फलभोगप्रसङ्गात्तस्य चादृष्टस्तत्फलबलकर्मप्रतिबन्धकत्वसंप्रपेक्ष क्रमेणैव तत्कर्मव्यक्तिरिति परिहरति—यथेति । युगपत्फलारम्भासंभवादित्यसिद्धम् । सर्वस्यापि कर्मणोऽनारब्धफलत्वाविशेषादेकजालारम्भकत्वसंभवदित्याशङ्क्य विरुद्धजातिनिमित्तभोगफलस्य कर्मणः शास्त्रयुक्तिविरुद्धमेकजालारम्भकत्वमित्याह—नहीति । प्रायणावस्थायामुपस्थिते विरुद्धे कर्मणि प्रवलेन दुर्बलस्योच्छेदः स्यादित्याशङ्क्याह—नापीति । कृतं कर्मव्यञ्जकफलकमिति नास्त्येकान्तः । प्रायश्चित्तेन ब्रह्मज्ञानेन च तत्क्षयश्रुतेरित्याशङ्क्य प्रकृतं तदभावाच्चोच्छेदोऽस्तीत्याह—नहीति । गपदित्येन वा ब्रह्मज्ञानेन वा भोगेन वा विना कर्मणां विच्छेदो नेत्यत्र मानमाह—स्मृतिरिति । इतोऽपि प्रायणाभिव्यक्तं सर्वमेव एकजालारम्भकमित्युक्तमित्याह—यदिचेति । पूर्वस्य कर्मणः सर्वस्याप्येकजालारम्भकस्य भोगेन क्षयान्मनुयाधिकारित्वाच्च गपस्य स्वादिनोपि कर्मासिद्धेर्न तन्निमित्तः संसारः स्यात् । न च नानाभावान्मुक्तिरिति दुर्घटेत्यर्थः । ‘श्वश्रूकरखरोष्ट्राणां गोऽजा-

सदेकां जातिमारभेत ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावाभोत्तरा जातिरूपयेत । ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्वर्यमाणुपरुध्येत । नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं संभावयितुम् । नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं संभवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना । प्रदीपोपण्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः । स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवशेदं द्रष्टव्यम् । यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम् । एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति । तस्माच्छ्रुतिस्मृतित्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्मभिव्यक्त्यभ्युपगमः । शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः । सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतः । तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेतमिति यथागतमित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपासत्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते । रात्र्याद्यसंकीर्तनाद्वाभ्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

रश्मिभाष्याख्या

लपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमुच्छति ।' इत्यादिस्मृतिविरोधाच्च न सर्वकर्मणामेकजन्मरश्मिकत्वमित्याह—ब्रह्मेति । नन्वेककर्मणः कथमनेकजन्मफलकत्वम्, अदृष्टत्वादित्याह—नचेति । किंच व्यञ्जकत्वेऽपि मरणस्य किं सर्वकर्मव्यञ्जकत्वं कल्प्यते उत यत्किञ्चित्कर्मव्यञ्जकत्वम् । नायः, इह कृतकारीर्यादेरत्रैव फलहेतोर्मरणव्यज्यत्वासंभवादित्याह—नचेति । द्वितीयं निरस्यन् परोक्तं दृष्टान्तं विषट्यति—प्रदीपेति । रूपाणां प्रदीपवत्, मरणं न कस्यचिदपि कर्मणो व्यञ्जकं किंतु प्रबलकर्मतिबन्धाभावे दुर्बलं व्यज्यत इत्यर्थः । एवं मरणस्य व्यञ्जकत्वानङ्गीकारेण प्रदीपदृष्टान्तो निरस्तः, अङ्गीकारेऽप्यनुकूलो दृष्टान्त इत्याह—स्थूलेति । सूक्ष्ममनुद्भूतरूपमिति मरणे सर्वकर्मभिव्यक्त्यसिद्धिरिति शेषः । एवं सर्वकर्मसद्वृत्त्येकजन्मरश्मि इत्येकभविकः कर्माशय इति मतनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति । चरणश्रुत्या 'ततः शेषेण' इत्यादिस्मृत्या 'प्रबलप्रतिबन्धादिति' न्यायेन चानभिव्यक्तकर्मसद्भावादित्यर्थः । ननु मुख्यनुपपत्त्याऽङ्गीकार्य ऐकभविक इत्यत आह—शेषेति । सूत्रशेषे व्याचष्टे—ते चेत्यादिना । अवरोहमार्गं इत्थं श्रूयते—'तस्मिन् यावत्संपातमुपित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियः ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते अतो वे खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमसि यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति त इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति । धूमाद्यध्वना यथेतं यथागतं तथेतमध्वानं पुनरायान्तीत्युक्त्वा धूमादिपपितृमार्गस्थरात्र्यादिकं नोक्तमधिकं चात्रादिकमुक्तमिति मत्वा सूत्रकृतोक्तं यथेतमनेवं चेति । अवशिष्टश्रुत्यर्थोऽ

भामतीव्याख्या

अपिच प्राणस्याभिव्यञ्जकत्वे स्वर्गनरकतिर्यग्योनिगतानां जन्तूनां तस्मिन्नन्मनि कर्मस्वनधिकारान्पूर्वकर्मोपजनः पूर्वकृतस्य कर्मशयस्य प्रायणाभिव्यक्ततया फलोपभोगेन प्रश्रयान्नास्ति तेषां कर्माशय इति न ते संसरेयुः । नच मुख्यैरन्नात्मज्ञानाभावादिति क्वताविधा दशम् । किंच स्वसमवेतमेव प्रायणेनाभिव्यज्यतेऽपूर्वं न परसमवेतं, येन पित्रादिगतेन कर्मणा वर्तेरन्निति । शेषं सुगम

आनन्दगिरिव्याख्या

विमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुत्कसानां च ब्रह्महा योनिमुच्छति ।' इत्यादिस्मृतिविरोधोऽपि कर्माशयस्यैकभविकत्वे स्यादित्याह—ब्रह्मेति एकस्यापि कर्मणोऽनेकजालारश्मिकत्वस्वरणादनेकेषामेकजालारश्मिकत्वं दूरनिरस्तमित्युक्तं तदनुक्तम् । एकं हि कर्मैकफलं दृष्टं न समान्यतोदृष्टविरुद्धं वचनं मानमिल्याशङ्क्याह—नचेति । किंच प्रायणं सर्वस्य वा कर्मणो व्यञ्जकं कस्यचिदेव वा । नाह—नचेति । कारीर्यादेरिहैवानुष्ठितस्यात्रैव भुज्यमानत्वाच्च प्रायणेन व्यञ्जयतेत्यर्थः । द्वितीयं निरस्यन्परोक्तं दृष्टान्तं प्रत्याह—प्रदीपेति । यच्च प्रदीपदृष्टान्तः सोऽपि प्रायणस्य सति व्यञ्जकत्वेऽनुकूलः स्यात् । यदा तु न तद्व्यञ्जकं किं तु बलवता प्रतिबन्धं दुर्बलं दृष्टमिति दर्शितं तदा तेनैव सोऽपि निरस्त इत्यर्थः । भवतु वा प्रायणस्य कचित्कर्मणि व्यञ्जकत्वं तदापि प्रदीपोऽनुकूलं भवतीत्याह—स्थूलेति । उक्तमेव व्यनक्ति—यथेत्यादिना । इति सर्वकर्मव्यञ्जकत्वासिद्धिः । कतिपयव्यञ्जकत्वमिष्टमेवेति शेषः ऐकभविकः कर्माशय इति मतनिरासं निगमयति—तस्मादिति । श्रुतिश्च श्रवस्फुरेत्याद्या । न्यायस्तु केन हेतुनेत्यादावुक्तः । यदि सर्वं कर्मैकस्मिन्मुखदेहे न भुज्यते तदावशिष्टकर्मानन्त्याच्च कदाचिन्मुक्तिरतो मुख्यनुपपत्त्या प्रायणव्यक्तं सर्वं कर्मैकदेहारश्मिकमित्याशङ्क्याह—शेषेति । सत्तावयवव्याख्यानमुपसंहरति—तस्मादिति । अवशिष्टं व्याचष्टे—ते चेति । निरुद्धमेतदित्याशङ्क्याह—धूमेति । यथेतंशब्दाच्चेति । यथेतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमिति श्रुतेश्चेत्यर्थः । विपर्ययप्रतीतिश्चाप

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्णाजिनः ॥ ९ ॥

अथापि स्यात् । या श्रुतिरनुशयसङ्गावप्रतिपादनायोदाहृता—‘तद्य इह रमणीयचरणाः’ (छा० ५।१०।७) सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति नानुशयात् । अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः । चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् । अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्मोभिप्रेतम् । श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—‘यथाकारी यथाचारी तथा भवति’ (बृ० ४।४।५) इति ‘यान्यनवद्यानि कर्मणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि’ (तै० १।११।२) इति च । तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत् । नैष दोषः । यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत् । कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याख्यते । ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्यसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति । अवश्यं च शीलस्यापि किञ्चित्फलमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत् । नैष दोषः । कुतः—तदपेक्षत्वात् । इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम् । नहि सदाचार-

रत्नप्रभाख्याख्या

रूपीभविष्यति ॥ ८ ॥ संप्रति श्रुतिस्थचरणशब्दमाक्षेपपूर्वकं सूत्रकृष्णाचष्टे—चरणादिति चेदिति । ‘अदोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः’ इति स्मृतावुक्तब्रह्मोदायः शास्त्रार्थज्ञानरूपं शीलं सर्वमाज्ञसूक्तं तद्विधेयं चरणपदमङ्गिनः श्रौतादिकर्मणो लक्षकं, कर्मण एवोत्तरावस्था धर्माधर्मव्याप्यमिति कर्मलक्षणमेव शिवापूर्वाख्यानुशयसिद्धिरिति कार्णाजिनमतम् ॥ ९ ॥ तदेव शङ्कासमाधानाभ्यामाह—आनर्थक्यमिति चेदित्याह—ना सूत्रेण । चरणशब्दवाच्यस्यैव ग्रहणसंभवात् लक्षणा युक्तेति शङ्कित्वैव ब्रूते—नन्विति । प्रतिषिद्धं शीलं क्रोधादुदिरूपं । किञ्च शीलस्य निष्फलत्वायोगाच्चतुत्योन्यापत्तिस्तस्यैव फलं नानुशयस्येत्याह—अवश्यं चेति । वेदास्तदर्थक्योपाचारं विना न फलन्तीति स्मृत्या शीलस्य कर्माङ्गत्वात् पृथक्फलापेक्षा, अङ्गिफलेनार्थवत्त्वात् । न चाज्ञमात्राद्योन्यापत्तिः फलमिति वाच्यम् । अङ्गस्य फलासंभवेन मुख्यार्थस्याचारस्य ग्रहणायोगालक्षणा युक्तेति समाधानार्थः । यथाचारस्य

भामतीव्याख्या

८ ॥ चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्णाजिनः । अनेन निरनुशया एवावरोहतीति पूर्वपक्षवीचं निगृह्यन्त्य निरस्यति । यद्यपि ‘अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः’ इति स्मृतः शीलोपाचारोऽनुशयाद्विस्तृतथाप्यस्यानुशयाङ्गतायाऽनुशयोपलक्षणत्वं कार्णाजिनिराचार्यो मेने । तथाच रमणीयचरणाः कर्णचरणा इत्यनानुशयोपलक्षणासिद्धे सातुशयानामेवावरोहणमिति ॥ ९ ॥ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् । ‘आचारहीनं न गतिं वेदाः’ इति हि स्मृत्या वेदपदेन वेदार्थेषुपलक्ष्यन्त्या वेदार्थानुष्ठानशेषत्वमाचारस्योक्तं न तु स्वतन्त्र आचारः फलस्य सात्तं, तेन वेदार्थानुष्ठानोपकारकतयाचारस्य नानर्थक्यं क्लृप्तस्य । तदनेन समिदादिवदाचारस्य ऋणत्वमुक्तम् । संप्रति खानादि-

आनन्दगिरीयव्याख्या

आह—राज्यादिति ॥ ८ ॥ पूर्वोदाहृतं श्रुतिमाक्षेपसमाधिभ्यां विवृणोति—चरणादिति । चोर्वं व्याकरोति—अथापीति । अथानुशयसत्त्वे दर्शितेऽपीति यावत् । चरणाद्या योन्यापत्तिः सातुशयादेव तयोरेक्यादिलाशङ्काह—अन्यदिति । तदेवात्यन्तं पृथङ्गत्वं चरणानुशयशब्दार्थमनुवदति—चरणमिति । तत्र श्रुतिमनुकूलयति—श्रुतिश्चेति । तयोर्भेदे फलितमाह—तस्यादिति । परिहारं व्याचष्टे—नेत्यादिना । ‘अदोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः’ इति स्मृतस्य शीलस्यापि कर्माङ्गत्वात्करणशब्देन शीलवाचिना कर्मानुशयो लक्ष्यत इति भावः ॥ ९ ॥ कार्णाजिननिवाक्यस्य पोरुपेतत्वान्मुले वक्तव्ये मुख्ययोगेन लक्षणाहेत्वभावाच्चरणशब्दितस्य शीलस्यैवानर्थक्यपरिहारार्थं योन्यापत्तिहेतुनेत्याशङ्क्य परिहरति—आनर्थक्यमिति । शङ्कां विभजते—स्यादिति । संभवति मुख्येऽप्ये लक्षणा न ग्राह्यत्वर्थः । कर्मणैव योन्यापत्तिसंभवाच्चरणशब्देन तल्लक्षणस्याशङ्क्य शास्त्रप्रामाण्यात्कर्मवच्चरणस्यापि योन्यापत्तिहेतुता स्यादिति पूर्ववाचेवाह—नन्विति । किञ्च कर्मलक्षणार्था तस्यैव फलं श्रुतिमिति शीलस्य तत्कल्प्येत तस्यापि विहितस्याफलत्वाद्योगात्तेन चरणस्यैव यथाश्रुतं फलमुपेतव्यमित्याह—अवश्यं चेति । ननुपगमे दोषमाह—अन्यथेति । आचारस्य कर्माङ्गत्वादङ्गिनोश्चैकाधिकारत्वात् पृथक्फलकल्पनेत्याह—नेत्यादिना । उक्तमर्थं प्रथमपूर्वकं मौनं हेतुमादाय विशदयति—कुत इति । कथमिष्टाधिकमसमुदायस्य चरणपेक्षत्वं, तत्राह—नहीति । सदाचारयु-

हीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्—‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’ इत्यादिस्मृतिभ्यः । पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम् । इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते । कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्णार्जिनेर्मतम् । नहि कर्मणि संभवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता । नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याख्येते इति मन्यते । चरणमनुष्ठानं कर्म-त्यनर्थान्तरम् । तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते । यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते धर्मं चरत्येष महात्मेति । आचारोऽपि च धर्मविशेष एव । भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते । तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥



चन्द्रं याति नवा पापी ते सर्वे इति वाक्यतः ॥ पञ्चमाहुतिलाभाय भोगाभावेऽपि बालसौ ॥ १ ॥

भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ॥ सर्वश्रुतिः सुकृतिनां यान्ये पापिगतिः श्रुता ॥ २ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम् । ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छ-

रत्नप्रभाष्याख्या

ज्ञानादिवत् पुरुषसंस्कारतया पुरुषार्थत्वं तदाप्यविरोध इत्याह—**पुरुषार्थत्वेऽपीति** । अज्ञावबद्धोपास्तिवदाचारोऽर्थवानित्यर्थः । अस्तु तर्हि शीलाख्याचारदेव योन्यापत्तिरित्याशङ्क्य ‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा’ इत्यादि श्रुत्या विरोधाच्चैव मित्याह—**कर्म चेति** । पारयमाणः शक्तः ॥ १० ॥ यद्यप्यक्रोधादिरूपं शीलं साधारणधर्मात्मकं विशेषरूपात् कर्मणोऽभिन्नं तथापि चरणाचारशब्दौ कर्मवाचिनावेव न शीलवाचकाविति न लक्षणावसर इति बादरिमत् मुख्यसिद्धान्तमाह—**सुकृतेति** । चरणशब्दाधुमुपसंहरति—**आचारोऽपीति** । कर्मण एवाचारत्वे यथाकारीत्यादिभेदोक्तिः कथमित्यत आह—**भेदव्यपदेश इति** । निरुपपदाचारशब्दात् सदाचाररूपो विशेषो भाति । अतस्तत्समभिव्याहृतः कर्मसामान्यवाचको यथाकारीति शब्दस्तदितरविशेषपरः । एवमनवधानि कर्माणीति सामान्यतः, अस्माकं सुचरितानीति विशेष इति विवेकः । तस्मादनुशयबलादागत्य वश्यंभावानुसन्धानाद्वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥ एवं पुण्यात्मनां गत्यागतिचिन्तया वैराग्यं निरूप्य पापिनां तच्चिन्तया तन्निरूपयति—**अनिष्टादिकारिणामपीति** । ‘ये वै के च’ इत्यविशेषश्रुतेः, ‘वैवस्वतं संगमनं जना-

माभतीत्याख्या

वपुरुषार्थत्वे पुरुषसंस्कारत्वेऽप्यदोष इत्याह—**पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्येति** । तदेवं चरणशब्देनाचारवाचिना सर्वोऽनुशयो लक्षित इत्युक्तम् ॥ १० ॥ बादरिस्तु मुख्य एव चरणशब्दः कर्मणीत्याह—**सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः** । ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायो गोबलीवर्दन्यायः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ११ ॥ **अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्** । ‘ये वै के च’ चास्माञ्चोक्त-

आनन्दगिरीयख्या

क्तस्य कर्माधिकारे मानमाह—**आचारेति** । वेदशब्देन वेदार्थोपलक्षणादाचारस्तच्छेषो न स्वतन्त्रफल इत्युक्तम् । इदानीं ज्ञानादि वत्पुरुषसंस्कारतया भिन्नफलत्वेऽपि न विरोधोऽस्तीत्याह—**पुरुषेति** । कथं तर्हि पृथक्फलत्वं, तत्राह—**इष्टादौ हीति** । अज्ञावबद्धोपास्तिवदित्यर्थः । आचारस्यैव योन्यापत्तिहेतुत्वेऽपि किमित्यनुशयस्य तत्कारणत्वेत्याशङ्क्य कर्मणस्तद्भेदतुल्यप्रसिद्धेरित्याह—**कर्म चेति** । एकदेशितमनुपसंहरति—**तस्मादिति** । तदेव प्रपञ्चयति—**नहीति** । अयुक्तत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**नहीति** । इतिशब्दो दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनार्थः ॥ १० ॥ साक्षात्सिद्धान्तमाह—**सुकृतेति** । तदेव विवृणोति—**बादरिस्त्विति** । कथं चरणशब्देन मुख्य-दृष्ट्या कर्मोच्यते, तत्राह—**चरणमिति** । वृद्धप्रयोगाभावे कथं तस्य कर्मविषयत्वं, तत्राह—**तथाहीति** । कर्मणः सर्वार्थकारित्वप्रसिद्धेराचारस्यातथात्वाद्भिन्नत्वेत्याशङ्क्य पूर्वोक्तस्तृतेरक्रोधादेः साधारणधर्मस्य शीलवत्सिद्धेर्मममित्याह—**आचारोऽपीति** । कथं तर्हि तस्मादिति ॥ ११ ॥ इष्टादिकारिणामनुशयवतामागतिरुक्ता । संप्रत्यनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रस्खललितानामनुशयवतामागतिसिद्धि-प्रेल चोदयति—**अनिष्टादीति** । प्रथमाधिकरणेनास्य संगतिमाह—**इष्टादीति** । व्यवहितमनूषानिष्टादिकारिणो विषयीकृत्य ये वै के चेत्विशेषश्रुतेर्वैवस्वतं संगमनं जनानामिति श्रुतेश्च संशयं दशयति—**ये त्विति** । अत्र चानिष्टादिकारिणां शुभमार्गेण गमनमात्रमपि

न्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न । कस्मात् । यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम् । एथाह्यविशेषेण कौषीत-
किनः समामनन्ति—‘ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ (कौषी०
१।२) इति । देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते । पञ्चम्यामाहुता-
वित्याहुतिसंख्यानियमात् । यस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदयुः । इष्टादिकारिणामितरेषां च
समानगतित्वं न युक्तमिति चेत् । न । इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्वतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

नुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति । एतत्कस्मात् । यतो भोगायैव
चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम् । नापि प्रत्यवरोहायैव । यथा कश्चिद्दृक्शमरोहति पुष्पफलोपादा-
नायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव । भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम् । त-
स्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे । ते तु संयमने यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृता-
नुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोके प्रत्यवरोहन्ति । एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भ-
वतः । कुतः—तद्वतिदर्शनात् । तथाहि यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यम-
वक्ष्यतां दर्शयति—‘न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको

रत्नप्रभाव्याख्या

म्’ इति श्रुतेश्च संशये प्रथमाधिकरणेन सिद्धान्त्यमाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—**तत्रेत्यादिना** । यमराजं पापि-
तानां सम्यग्गम्यं, हविषा प्रीणयतेति श्रुत्यर्थः । पूर्वपक्षे पुण्यवतामेव चन्द्रगतिरिति नियमाभावात् पुण्यवैयर्थ्यं पापा-
त्पादादर्थं चेति फलं, सिद्धान्ते पापिनां चन्द्रलोकदर्शनमपि नास्तीति पुण्यावैयर्थ्यं वैराग्यदार्ढ्यं चेति फलम् । पञ्चमामौ
प्रारम्भ इति नियमात्पापिनामपि प्रथमश्रुत्यादिप्रतिषेधेन—**देहारम्भ इति** । पापिनां स्वर्गभोगाभावेऽपि
तान्तराभावाच्चन्द्रगतिरिति भावः ॥ १२ ॥ सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**नुशब्द इत्यादिना** । संयमने यमलोके यमकृता
तना अनुभूयावरोहन्तीत्येवमारोहावरोहाविति योजना सूत्रस्य ज्ञेया । प्रयतां मृत्वा गच्छताम् । सम्यक् परस्ता-
प्यत इति संपरायः परलोकः, तदुपायः सांपरायः, बालमज्ञं, विशेषतो वित्तरागेण मूढं मोहात्प्रमादं कुर्वन्तं प्रति न
ति । स च बालोऽयं स्त्रीवित्तादिलोकोऽस्ति न परलोकोऽस्तीति मानी । स मे मम यमस्य वशमाप्नोतीत्यर्थः । पापिनां

भामतीव्याख्या

यमिति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ इति कौषीतकिनां समाधानात्, देहारम्भस्य च चन्द्रलोकगमनमन्तरेणानुपपत्तेः पञ्चम्यामाहुतावि-
गृह्यतिसंख्यानियमात् । तथाहि—युतोमृष्टश्चक्रेतःपरिणामक्रमेण ता एवापो योषिदग्रे हुताः पुरुषवचसो भवन्तीत्यविशेषेण श्रुतम् ।
‘वैतमनुष्याभिप्रायं, कपूयचरणाः स्वयोनित्मियमनुष्यापि श्रवणात् । गमनागमनाय च देवयानपितृप्राणयोरैव मार्गयोरान्नानात्,

आनन्दगिरीयव्याख्या

त्युक्त्या वैराग्ये दृढीकृते पूर्ववदेव पादादिसंगतयः । पूर्वपक्षे शुभाशुभकारिणामविशेषेण चन्द्रगतेश्च शुभकरणमर्कचिह्नकरमिति
श्रुतिः, सिद्धान्ते त्वशुभकारिणां गत्यन्तर्प्रोक्त्याच्चन्द्रगतौ प्रयोजकमिष्टावैवेति मत्वा पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—**तत्रेति** । तेषामिष्टादिकं
पक्षे चन्द्रलोकप्रापकमस्तीत्यतो नियमान्निषेधो न युक्तिमानिति शङ्कते—**कस्मादिति** । श्रुत्या परिहरति—**यत इति** । तामेवो-
त्तरति—**यथाहीति** । श्रुतेश्चन्द्रलोकगमनमुपपाद्य चकारसूचितयुक्तोऽपि तदुपपादयति—**देहेति** । देवयानपितृप्राणान्तरेकेण
गमनागमनमार्गाश्रवणादर्थैतयोः पथोर्न कतरेणचनेत्यारभ्य जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानमिति स्थानमात्रत्वश्रुत्या पथिचनेप्रतीते-
श्चन्द्रमण्डलं प्राप्यावर्तीर्णानामपि तद्योगान्न केषांचिदेव गतिरिति मत्वोपसंहरति—**तस्मादिति** । सर्वेषां तुल्यगतित्वे तस्यासिद्धे-
नुशास्त्वैयर्थ्यमिति शङ्कते—**इष्टादीति** । तत्र भोगाभावेऽपि मार्गान्तरशून्यतया ग्रामं गच्छन्त्यशुभान्युपसर्पतीतिवदुपपन्न गतिरि-
त्याह—**नेतरेषामिति** ॥ १२ ॥ सिद्धान्तमुपक्रमते—**संयमने त्विति** । सूत्रं व्याचष्टे—**नुशब्द इति** । पक्षव्यावृत्तिमेव व्य-
नक्ति—**नैतदिति** । का पुनरत्रानुपपत्तिः । तत्र तेषां तद्वनममफलं सफलं वेति विकल्प्याव प्रत्याह—**भोगायेति** । द्वितीयोऽपि
गमनस्य प्रत्यवरोहो वा भोगो वा फलं, नाथ इत्याह—**नापीति** । पक्षद्वयनिरासं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथेति** । कल्पान्तरं निर-
स्त्यति—**भोगश्चेति** । नुशब्दार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** । कथं तर्हि तेषामारोहावरोहाविलाशङ्क्य संयमने त्वनुभूत्यादि विभ-
क्ते—**ते त्विति** । तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—**कुत इति** । हेतुं व्याचष्टे—**तथाहीति** । प्रयतां प्रत्य गच्छतां संपरायः परलोकः ।
सम्यगवश्यभावेन परा परस्ताद्वैराग्यादादीयते गम्यत इति व्युत्पत्तेः । तत्प्राप्त्यर्थः साधनविशेषः सांपरायः । स बालमविशेषेन विशे-
ष्टो विचिन्मिच्छेन मोहेन मूढं छद्मदृष्टिमत एव प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं विषयप्रवणं प्रति न भाति । स न केवलमज्ञ एव किंतु
विपरीतदर्शी च यसाद्यमेव लोककृत्यत्रापानादिरस्ति न पर इति नानी मननशीलस्तसाच्चदनु रूपमाचरन्पुनः पुनर्जननमरणाप्राप्त्या

नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' (कठ० २।६) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अपिच मनुव्यासप्रभृतयैः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतो-
पाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

अपिच सप्त ॥ १५ ॥

अपिच सप्तजरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः । ताननिष्ठादिकारिणः प्राप्नुवन्ति । कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥ ननु विरुद्धमिदं यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्तीति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्ते इति । नेत्याह—

तत्रापि च तद्वापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापारान्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचना-
वसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसृक्षावतीनि भूतानि भवन्ति ।
जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति । तत्रैतयोः
पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् । प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयानपितृया-
णयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते । 'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः

रत्नप्रमाध्याख्या

यमवश्यतावादिविशेषश्रुतिस्मृतिबलात् 'ये वै के च' इत्यविशेषश्रुतिरिष्टादिकारिविषयत्वेन व्याख्येयेति भावः ॥ १३ ॥ सूत्रज-
यस्य भाष्यं सुबोधम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ यदुक्तं मार्गान्तराभावात् पापिनामपि चन्द्रगतिरिति । तत्र । तृतीयमार्ग-
श्रुतेरित्याह—विद्याकर्मणोरिति । मार्गद्वितयोक्यनन्तरं तृतीयमार्गोक्तिप्रारम्भार्थः । श्रुतावधशब्दः । एतयोर्विद्याकर्मणोः
पथिद्वयसाधनयोरन्यतरेणापि साधनेन ये नरा न युक्तास्ते जन्ममरणाश्रितिरूपतृतीयमार्गस्थानि भूतानि भवन्ति, क्रियाश्रुती-
लोद्, तेन पापिनां चन्द्रगत्याभावाच्चन्द्रलोको न संपूर्यत इति श्रुत्यर्थः । प्रतिपत्ताविति । प्राप्तिसाधने इत्यर्थः । अपिच पापिनां

भामतीव्याख्या

पथान्तरस्याश्रुतेः, 'जायस्वम्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्' इति च स्थानत्वमात्रेणावगमावधित्वेनाप्रतीतिश्चन्द्रलोकादवतीर्णानामपि च
तत्स्थानत्वसंभवादसंपूर्णेन प्रतिवचनोपपत्तेः, अनन्यमार्गतया च तद्भोगविरहिणामपि ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पतीति-

आनन्दगिरियस्याख्या

मे वशमापद्यत इति मूलोर्नचिकेतसं प्रति वचनम् । श्रुत्यन्तरमाह—वैवस्वतमिति । जनानां परलोकगतानां संगमनं संगमं
वैवस्वतं मम राजानं हविषा दुवस्यत प्रीणयतेत्यर्थः । ये वै के चास्मादित्यादिश्रुत्या सर्वेषां चन्द्रगतिः सिद्धेत्युक्तमित्याशङ्क्य विरोध-
नेकलिङ्गदृष्ट्या तद्वयथा नेयमित्याह—बह्वेवेति । 'ये वै के च' 'वैवस्वतं संगमनम्' इत्यनयोर्वचनयोः सामान्येन चन्द्रलोकयमलोकग-
तिवादिनोर्विद्याकर्मविशेषितमार्गद्वयभ्रष्टानामनिष्ठादिकारिणां तृतीयस्थानगतिवादिवाक्येनेष्टादिकारिणां चन्द्रगतिवाक्येन च विशेषार्थेन
विषयविशेषनियतिरिति भावः ॥ १३ ॥ इतश्चेष्टादिकारिविषये ये वै के चेत्यादिवाक्यस्य संकोच इत्याह—स्मरन्ति चेति । तद्व्य-
रोति—अपिचेत्यादिना ॥ १४ ॥ इतश्चानिष्ठादिकारिणां न चन्द्रगतिरित्याह—अपीति । तद्व्याख्याति—अपिचेत्यादिना ॥ १५ ॥
अनिष्ठादिकारिणां चन्द्रमण्डले भोगाभावाद्यमवश्यतायाश्च श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाच्च चन्द्रगतिरित्युक्तमिदानीं तेषां यमवश्यतामाक्षिपति—
नर्नविति । विरुद्धत्वे हेतुमाह—यावतेति । सूत्रेण परिहरति—नेत्याहेति । तद्विभजते—तेष्वपीति । एकत्रोभयोरधिष्ठातृत्वयो-
गमाशङ्क्याह—यमेति ॥ १६ ॥ मार्गद्वयभ्रष्टानां तृतीयस्थानोक्तेरपि नानिष्ठादिकारिणां चन्द्रगतिरित्याह—विधेति । हेतुवन्तरेण
प्रकटयन्भूमिकोक्तिपूर्वकं श्रुतिमुदाहरति—पञ्चेति । तद्विधेति प्रकरणमुक्तम् । श्रोतृ पञ्चतिर्विचारणार्थं । तृतीयस्थानोक्त्या-
न्माधेयशब्दः । तत्प्रतिपत्तिफलमाह—तेनेति । श्रुत्यर्थं सूत्रयोजनया विशदयति—तत्रेति । उक्ता श्रुतिः सप्तम्यर्थः । अपि-
शब्दस्यान्तरे रुडेर्विद्याकर्मार्थत्वे न मानमिति शङ्कते—कस्मादिति । तत्र प्रकरणं प्रमाणयति—प्रकृतत्वादिति । तदेव वि-
वृणोति—विधेति । प्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिसाधने । तत्र देवयानस्य पथो विद्याद्वारा प्रकृतत्वं प्रकटयति—तद्य इति । कर्मद्वारा विद-

पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृ-
याणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' इति श्रुतम् ।
एतदुक्तं भवति—ये न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषा-
मेव क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति । तस्मादपि नानिष्टादिकारिभि-
श्चन्द्रमाः प्राप्यते । स्यादेतत् । तेऽपि चन्द्रविम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त
इति । तदपि नास्ति । आरोहानर्थक्यात् । अपिच सर्वेषु प्रयत्नु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्ससौ
लोकः प्रयद्भिः संपूर्येत्यतः प्रश्विरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत । तथा हि प्रतिवचनं दातव्यं
यथाऽसौ लोको न संपूर्यते । अवरोहाम्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत् । न । अश्रुतत्वात् ।
सत्यमवरोहादप्यसंपूर्णमुपपद्यते । श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूर्णं दर्शयति—'एत-
न्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति । तेनानारोहादेवासंपूर्णमिति
युक्तम् । अवरोहस्याष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । तुशब्दस्तु
शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति । एवं सत्यधिकृतापक्षः शाखान्तरीये
वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते । ये वै केचिदधिकृता अस्माह्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छ-
न्तीति ॥ १७ ॥ यत्पुनरुक्तं देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्या-
हुतिसंख्यानियमादिति । तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

चन्द्रगतौ असौ लोकः संपूर्येत 'अतश्च न संपूर्यते' इत्येतत्प्रतिवचनं विरुद्धं प्रसज्येत्यन्वयः । अवरोहादसंपूर्णमश्रुतं न
कल्प्यं श्रुतहान्यापत्तेरित्याह—न । अश्रुतत्वादिति । अवरोह एव तृतीयं स्थानं श्रुत्युक्तमित्यत आह—अवरोहस्येति ।
इममश्वानं पुनर्निवर्तन्त इति इष्टादिकारिणामवरोहोक्तेरनिष्टादिकारिणामपि अवरोहस्यार्थसिद्धत्वात् पुनरुक्तिर्व्यर्थ इत्यर्थः ।
अर्थतयोरिति मार्गान्तरोपक्रमबाधस्तृतीयशब्दबाधश्चेत्यतः स्थानशब्दो मार्गलक्षक इति द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥ एवमविशेषश्रुते-
र्मार्गान्तराभावाच्चेति पूर्वपक्षबीजद्वयं निरस्य तृतीयबीजनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरित्यादिना । विद्याकर्मशून्यानां
हृमिक्रीडादिभावेन जायस्वेत्यादिश्रुत्या निरन्तरजन्मरणोपलब्धेर्नाहुतिसंख्यादर इत्यर्थः । पुरुषशब्दाच्चैवमित्याह—अ-

भामतीव्याख्या

यमनादिषु यमवश्यतायै चन्द्रलोकगमनोपपत्तेः, 'न कतरेणचन' इत्यस्यासंपूर्णप्रतिपादनपरतया मार्गद्वयनिषेधपरत्वाभावात्,
नेष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमने प्राप्तेऽभिधीयते—सत्यं स्थानतयावगतस्य न मार्गत्वं तथापि यत् यथाऽसौ मार्गो न संपू-
र्यस्य प्रतिवचनवासरे मार्गद्वयनिषेधपूर्व तृतीयं स्थानमभिवदन्नसंपूर्णाय तत्प्रतिपक्षमाचक्षीत । यदि पुनस्तन्नेव मार्गे-
गल जन्ममरणप्रबन्धवत् स्थानमभ्यासीत नेतृतीयं स्थानं भवेत् । नहीष्टादिकारिणश्चन्द्रमण्डलादवरुह्य रमणीयां निन्दितां वा
नि प्रतिपद्यमानस्तृतीयं स्थानं प्रतिपद्यन्ते । तत्कस्य हेतोः । पितृयाणेन पथावरोहात् । तद्यदि क्षुद्रजन्तवोऽप्यनेनैव पथाव-
रोहः, नेतृदेशं जन्ममरणप्रबन्धवत्तृतीयं स्थानं भवेत् । ततोऽगच्छामः संयमन सप्त च यातनाभूमिर्धर्मवशतया प्रतिपद्यमाना

आनन्दगिरीयव्याख्या

णस्यापि प्रकृतत्वमाह—इष्टेति । विद्याकर्मणोरेव प्रकृतत्वेऽपि प्रकृते किं जातं तदाह—तदिति । विद्याकर्मेशीनानां क्षुद्रजन्तु-
वोऽव निर्दिश्यते न पुनस्तृतीयोऽप्येत्याशङ्क्याह—एतदिति । मार्गद्वयप्रधानमनिष्टादिकारिणं तृतीयस्थानोक्तिकफलमाह—
स्यादिति । यदिदं तृतीयस्थानकीर्तनं तत्र चन्द्रगतिं वारयत्यागत्यापि तत्प्राप्तिर्भवति शङ्कते—स्यादिति । मानफलाभ्यां हि
लपना न चेह तदुभयं, तथाच नैवं कल्पनेत्याह—तदपीति । प्रतिवचनस्य कृत्स्नानुपपत्त्यप्रसङ्गादपि नेयं कल्पनेत्याह—अपि-
वेति । कथं तर्हि प्रश्नानुगुणं प्रतिवचनं, तत्राह—तथाहीति । गमनेऽपि तस्य प्रश्नानुगुणत्वसिद्धिरित्याह—अवरोहेति । अव-
रोहकृतासंपूर्णस्याश्रुतेर्नैवमपि श्रुतहान्यादि कल्पयितव्यमित्याह—नेति । तदेव प्रपञ्चयति—सत्यमिति । तर्हि तथैवासंपूर्णं
स्यादित्याशङ्क्य श्रुतिविरोधान्नैवमित्याह—श्रुतिस्त्विति । श्रुतिसिद्धमसंपूर्णं निगमयति—नेनेति । किमिति तदवरोहणकृतेनैव
कृतानपि नेष्टमित्याशङ्क्याह—अवरोहस्येति । युक्त्या स्वपक्षमुपपाद्य परपक्षं चापनु पूर्ववाच्यत्वात्तत्वावश्यकस्य सूत्राक्षरेणैव गतिं
दर्शयितुमारभते—तुशब्दस्त्विति । उच्छिष्टिप्रकारं प्रकटयति—युवमिति । उक्तन्यायेनानिष्टादिकारिणां चन्द्रगलयोरेव सतीति
याम् । अधिकृतशब्देनेष्टादिकारिणो गृह्यन्ते । सर्वशब्दस्याधिकृतार्थत्वे स्थितं स्थितं वाक्यायमाह—ये वा इति ॥ १७ ॥ परोक्ष-
क्षणेति युक्ता तदीयां युक्तिमुपवदति—यदिति । तदुत्तरत्वेन ऽमादत्ते—तदिति । प्रतिज्ञां पूर्यन्त्योजयति—नेत्यादिना ।

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादत्तव्यः । कुतः—तथोपलब्धेः । तथा-
ह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्वन्नियस्वेत्येतत्तृ-
तीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति । अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'
(छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन
पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते
नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते वाक्यस्य द्व्यर्थादोषात् । तत्र येषामारोहाव-
रोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविव्यति । अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्त-
रोपसृष्टाभिरङ्गिर्देह आरप्स्यते ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपिच लोके ॥ १९ ॥

अपिच स्मर्यते लोके । द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम् । तत्र द्रो-
णादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः ।
यथा च तत्राहुतिसंख्यानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति । बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं
धत्त इति लोकरूढिः ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अपिच चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यध-
र्मेमुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति । एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥ २० ॥ ननु तेषां
खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इति ।
अत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति । अत्रोच्यते—

रत्नप्रमाख्याख्या

पिचेति । मनुष्यदेहस्यापि नाहुतिसंख्यानियम इत्याह—**अपिचेत्यादिना ।** विधिनियमरूपार्थद्वये वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः ।
॥ १८ ॥ अनियमे स्मृतिसंवादाथं सूत्रम्—**स्मर्यतेऽपीति ।** लोकयतेऽनेनेति लोको भारतादिरुक्तः । मुख्यार्थमप्याह—
बलाकेति ॥ १९ ॥ 'अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च' इतिश्रुत्यवष्टम्भेन सूत्रं व्याचष्टे—**अपि-
चेति ।** अन्यत्राप्यनिष्ठादिकारिष्वित्यर्थः ॥ २० ॥ अनया श्रुत्या चातुर्विध्यं कथमुक्तं श्रुत्यन्तरे त्रीण्येवैलवधारणविरोधा-
दिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमादत्ते—**नन्वित्यादिना ।** जीवजं जरायुजं मनुष्यादि, भूमिमुद्भिज्जं जायते वृक्षादिकं, उदर

भामतीव्याख्या

अनिष्ठादिकारिणो न चन्द्रमण्डलादवरोहन्तीति । तस्मात् 'ये वै के च' इत्यादिदिकारिविषयं न सर्वविषयम् । पञ्चम्यामाहुतविति च
स्वार्थविधानपरं न पुनरपञ्चम्याहुतिप्रतिषेधपरमपि, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । संयमने त्वनुभूयेति सूत्रेणावरोहापादानतया संयमनस्यो-
पादानाच्चन्द्रमण्डलापादाननिषेध आस्रसः । तथाच सिद्धान्तसूत्रमेव । पूर्वपक्षसूत्रत्वे तु शङ्कान्तराध्याहारेण कथंचिद्रूपयितव्यम् ।

आनन्दगिरीव्याख्या

पृष्ठं हेतुमुक्त्वा व्याचष्टे—**कुत इति ।** भोगाय हि चन्द्रारोहणमित्यादिर्वर्णितः प्रकारः । उपलभ्यमेवाभिनयति—**जायस्विति ।**
ज्ञानकर्मशून्या हि कुमिकीयादिभावेन पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेति प्रसिद्धम् । नच तत्राहुतिसंख्योपलभ्यते । नच तेषां निरन्तं
जायमानानां म्रियमाणानां चाहुतिसंख्या कल्प्यते दृष्टविरोधे कल्पनानवकाशादित्यर्थः । किंच देहमात्रहेतुत्वेनाहुतिसंख्या नियम्यते
मनुष्यदेहहेतुत्वेन वा । तत्रार्थं पुरुषशब्दविरोधेन प्रत्याह—**अपिचेति ।** द्वितीयं निराह—**अपिचेत्यादिना ।** तत्र हेतुमाह—
वाक्यस्वेति । तस्य विधिनियमरूपार्थद्वयार्थायां वाक्यभेदादौक्ये च संभवति तदयोगादित्यर्थः । पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषकारपरिणा-
मेऽपि नापञ्चम्यामाहुतौ तासां तन्निषेधश्चेत्तर्हि तासामुभयथा देहारम्भसंभवे कथं व्यवस्थेयाशङ्क्याह—**तत्रेति । अन्येषां त्विति ।**
चन्द्रमण्डलं प्रत्यारोहस्ततोऽवरोहश्च येषां न युक्तस्तेषामिति यावत् ॥ १८ ॥ मनुष्यदेहारम्भं प्रत्याहुतिसंख्यानियमाभावे स्मृति
संवादयति—**स्मर्यतेऽपीति ।** सूत्रं व्याकरोति—**अपिचेति ।** लोकशब्देन सूत्रभाष्ययोरितिहासादिरपि व्युत्पत्त्योच्यते । अयो-
निजत्वाविशेषेऽपि द्रोणादिष्ववान्तरविशेषमाह—**तत्रेति ।** तद्दृष्टान्तनानिष्ठादिकारिष्वप्याहुतिसंख्यानियमाभावधीरिति फलितमाह—
यथेति । देहमात्रहेतुत्वेनाहुतिसंख्यानियमो नेत्यत्रापि सूत्रस्य तात्पर्यमस्तीत्याह—**बलाकेति ॥ १९ ॥** इतश्च देहमात्रारम्भे न-
हुतिसंख्यानियमोऽस्तीत्याह—**दर्शनाच्चेति ।** ऐतरेयश्रुत्यवष्टम्भेन सूत्रं व्याकरोति—**अपिचेत्यादिना ।** अन्यत्रापिनिष्ठादिकारिणो
निर्दिश्यन्ते ॥ २० ॥ श्रुत्यन्तरविरोधं शङ्कते—**नन्विति ।** अण्डजमेवाण्डजं पक्ष्यादि । जीवजं जरायुजम् । उद्भिज्जं जायते वृ-

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

‘आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्’ (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः । उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात् । स्वावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥ २१ ॥

साभाष्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ २२ ॥



वियद्वदिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः । वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात्तत्तत्त्वं प्रपद्यते ॥ १ ॥
स्ववरूपस्य वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥ २ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम् । अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—‘अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेत-
माकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽन्नं भवत्यन्नं भूत्वा मेघो भवति मेघो-
भूत्वा प्रवर्षति’ (छा० ५।१०।५) इति । तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिप-
द्यन्ते किंवाकाशादिसाम्यमिति । तत्र प्राप्तं तावदाकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति । कुतः—

रत्नप्रभाष्याख्या

भूत्वा जायते यूकादि जङ्गममिति भेदः । संशोकः स्वेदः ॥ २१ ॥ एवं पापिनां गत्यागती विचार्य संप्रतीष्टादिकारिणामव-
रोहे विशेषमाह—साभाष्यापत्तिरूपपत्तेः । यथेतमनेवं चेत्युक्तरीत्या यथागतं धूमाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, निवृत्ताश्चानुशयिनः
स्मान्ते द्रुतदेहा आकाशं गता आकाशसदृशा भवन्ति । आकाशसादृश्यानन्तरं पिण्डीकृता अतिसूक्ष्मलिङ्गोपहिताः वायुने-
तन्तश्च नीयमाना वायुसमा भवन्ति । सोऽनुशयी संघो वायुसमो भूत्वा धूमसंगतस्तत्समो भवति, धूमसमो भूत्वाऽन्नसमो
भवति । अपो बिभर्तौल्यन्नं, मेहति सिद्ध्यतीति वृष्टिकर्ता मेघस्तत्समो भूत्वा वर्षधाराद्वारा पृथिवीं प्रविश्य व्रीहियवादिरूपो
भवतीति सिद्धान्तगत्या ध्रुत्यर्थः । पूर्वोत्तरयुक्तिद्वयं संशयबीजं मन्तव्यं, पूर्वत्र मार्गद्वयमुक्त्वा तृतीयत्वेत्युक्तं स्थानशब्दस्य
मार्गलक्षकत्वमिह तु दुग्धं दधि भवतीत्यादिप्रयोगे भवतिश्रुतेर्विकारस्वरूपपत्तौ मुख्यत्वात् सादृश्यापत्तिलक्षणाबीजं नास्तीति

भामतीव्याख्या

जीवजं जरायुजम् । संशोकजं संस्वेदजम् ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥
साभाष्यापत्तिरूपपत्तेः । यद्यपि यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुमिल्यतो न तादात्म्यं स्फुटमवगम्यते तथापि वायुर्भूत्वेत्यादौ
स्फुटतरं तादात्म्यावगमाद्यथेतमाकाशमिल्येतदपि तादात्म्य एवावतिष्ठते । न चान्यस्यान्यभावात्तुपपत्तिः । मनुष्यशरीरस्य नदिके-

आनन्दगिरियव्याख्या

जिज्जं वृक्षादि । छाद्योग्यश्रुतिविरोधं सृजेण परिहरति—अत्रेति । तद्व्याख्याति—आण्डजमिति । उद्भिज्जशब्देन स्वेदजोपसंग्रहे
रतुमाह—उभयोरिति । ऐतरेयके तर्हि भेदव्यपदेशस्य का गतिः, तत्राह—स्वावरोति । श्रुत्योर्विरोधं निराकृतमुपसंग्रहरति—इत्य-
विरोध इति ॥ २१ ॥ अनिष्टादिकारिणामारोहावरोहरूपा गतिरुक्ता संप्रतीष्टादिकारिणामवशिष्टमवरोहप्रकारं निरूपयति—साभाष्येति ।
अवहितेन संवन्धं दर्शयति—इष्टादीति । विषयवाक्यमुदाहरति—तत्रेति । चन्द्रमसि भोगं समाप्य प्राप्तावरोहेष्विष्टादिकारिण्यति
पद्यत । चन्द्रे भोक्तव्यकर्मणः समाप्त्यानन्तर्यमथेत्युक्तम् । एतमेव वक्ष्यमाणं पन्थानं पुनर्निवर्तन्ते पुनःशब्दादनादौ संप्रसारं पूर्वमपि
चन्द्र गता निवृत्ताश्चेति गम्यते । कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्ते तमाह—यथेति । यथागतं मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाका-
शमाकाशाच्चन्द्रमिति गमनक्रम आगमनेऽप्याकाशोक्तयेथेतमिति भाति पितृलोकाद्यकीर्तनाद्भादिसंकीर्तनाच्चावेवमपीति गम्यते । तथाच
पितृभूम्युपलक्षणं याः स्वल्पापश्चन्द्रमण्डले देहमारुह्यवत्यस्ताः कर्मक्षये द्रुता आकाशं गतास्तत्सदृशा यदा जायन्ते तदा तदुपहिता
तुशयिनोऽप्याकाशसमा भवन्तीत्याह—आकाशादिति । तत्तुल्यतामापन्नाश्च वायुनेतश्चानुशयश्च नीयमाना वायुसमा अनुशयि-
नोऽप्युपहिता वायुतुल्या भवन्तीत्याह—आकाशमिति । तदनन्तरं यो धूमो गमनदशायामासीत्तुल्यो भवत्यनुशयीत्याह—
युतिरिति । ततोऽपि धारणासंभृतोदकं यदन्नं तत्तुल्योऽनुशयीत्याह—धूम इति । ततो जलसेचनान्मेघो वर्षणकर्ता तत्तुल्यः स
प्यतीत्याह—अन्नमिति । तत्सादृश्यमापद्य वर्षधाराभिरनुशयी पृथिवीमापद्यत इत्याह—मेघ इति । अवरोहस्तु देहस्तु
पथेवाकाशं वायुमिति कर्मत्वोक्तधूमो भवतीत्यादि भवतिश्रुतेश्च संदेहमाह—तत्रेति । देवानपितृदयाणी पन्थानौ प्रक्रम्य तृती-
येत्युक्तं स्थानशब्दस्य मार्गलक्षणत्वम् । भवतिश्रुतेश्च सादृश्यलक्षणत्वे हेत्वभावात्तादात्म्यार्थत्वमेवेति पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना ।
अचारोहरूपसंप्रसारगतिनिरूपणद्वारा वैराग्यदृढीकरणपूर्ववत्पादादिसंगतयः । पूर्वपक्षे भवतिश्रुतेर्मुखाधत्तल्लिङ्गिः । सिद्धान्ते तु-
या लक्षणिकार्थत्वधीः । यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुमिल्यत तादात्म्यादृष्टेरन्यस्य चान्यात्मत्वादित्येनाकाशादित्वादात्म्यमनुशयिनामिति
हो—कुत इति । वायुर्भूत्वेत्यादौ तादात्म्यसिद्धेर्नहुषादिषु चान्यादिभावानुभवाद्यथेतमाकाशमित्यादावपि तादात्म्यमेवेति परि-

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्ब्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विनाशः । किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसा-
दृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युतालपमल्पमिति । तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्र-
वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति । कुत एतत् । विशेषदर्शनात् । तथाहि ब्रीह्यादिभावापत्ते-
रनन्तरं विशिनष्टि—‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ (छा० ५।१०।६) इति । तकार एकदृष्टा-
न्त्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः । दुर्निष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादिभावा-
न्निःसरणं भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति ।
सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्ते-
रुपभोगासंभवात् । तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्भ्येनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥ २३ ॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥



ब्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिभेदे ॥ जायन्त इति मुख्यत्वात्पुनर्दिश्यादिपापतः ॥ १ ॥
वैधात्र पापसंश्लेषः कर्मव्यापुल्लुक्तितः ॥ श्रविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः क्षुता ॥ २ ॥

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—‘त इह ब्रीहियवा ओषधिष्वनस्पतयस्तिलमाषा इति

रत्नप्रभाख्याख्या

विचारिण्यतिदर्शनात्संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना । अनियमात् कदाचिद्विलम्बेन शोण्यापत्तिरिति पूर्वपक्षफलं,
मद्वान्ते तु ब्रीहियवादिभावादानुशयिनां विलम्बेन निर्गमनमिति विशेषादाकाशादिभावाच्छीघ्रं निर्गम इत्यविलम्बेन शोण्याप-
त्तेरित्यनुसंधानाद्वैराग्यदार्ढ्यमिति विवेकः । नन्वाकाशादिष्वनुशयिनां सुखं ब्रीहियवादिषु दुःखमिति दुःशब्दाद्भाति न चि-
त्तिरनिर्गमनमित्यत आह—सुखदुःखताविशेषश्चायमिति । अवधिः कालः ॥ २३ ॥ अन्याभिलापात् । श्रुतिक्रमात्
अर्थकमाच्चिकरणानां क्रमो बोध्यः । इह भूमौ वर्षधाराद्वारा पतितालेऽनुशयिनो ब्रीह्यादिसाम्येन जायन्त इति श्रुत्यर्थः ।

भामतीव्याख्या

निःसरणं ब्रूते न तु विलम्बेनेति मन्यते पूर्वपक्षी । विना स्थूलशरीरं न सूक्ष्मशरीरे दुःखभागीति दुर्निष्प्रपतरं विलम्बं लक्षयतीति
ज्ञातः ॥ २३ ॥ अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् । आकाशसारूप्यं वायुभृमादिसंपर्कैऽनुशयिनामुक्तं इहेदानीं ब्रीहियवा
विधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्त इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनुशयिनां भोगाधिष्ठानं ब्रीहियवादयः स्थावरा भवन्ति,
लोम्बिन् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेष्वपि संसर्गमात्रमनुभवन्तीति । तत्र मनुष्यो जायते देवो जायत इत्यादौ प्रयोगे जनेः शरीरपरिमृष्टे
सिद्धत्वादापि ब्रीह्यादिशरीरपरिमृष्ट एव जनिर्मुक्त्यर्थ इति ब्रीह्यादिशरीरा एवानुशयिन इति युक्तम् । न च रमणीयचरणाः कभू-
रणा इतिवत् कर्मविशेषासंकीर्तनात्तदभावे ब्रीह्यादीनां शरीरभावाभावात्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितानामेव तत्संपर्कमात्रमिति सांप्रतम् ।

आनन्दगिरीयव्याख्या

हम् तत्तत्सादृश्यं गतेष्विति यावत् । गन्तुभेदेन चिराचिराभ्यां गतिदर्शनात्तमेव संशयं विनाशयति—किमिति । शास्त्रमतीन्द्रियायें
न न चेह शास्त्रमस्ति तथाचानिर्धारणेति पूर्वपक्षयति—तत्रेति । न च ‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ इति ब्रीह्यादिभावादृष्टमेव
प्रत्यगमनावगमात्पूर्वमविलम्बसिद्धिरिति वाच्यम् । तत्र दुःखनिःसरणस्यैव विवक्षितत्वेन विलम्बस्यानिष्टत्वात् । न न देहावभावा-
वसिद्धेर्विलम्बाभिप्रायमेतदिति युक्तम् । तथापि प्रकृतसर्वपरामर्शकातःशब्दात्पूर्वसाद्विलम्बगमनप्रतीतिः सर्वत्र प्रयत्नगौरवं तुल्य-
भावः । अत्र आकाशादिभावमारभ्य ब्रीह्यादिभावपर्यन्तावरोहरूपसंसारगतेस्तत्तत्सादृश्यरूपाधिराचिरत्वनिरूपणेन वैराग्यस्यैव
कषापादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे सर्वत्र तत्तद्भावपरिहाराय प्रयत्नगौरवं कर्तव्यम् । सिद्धान्ते तु तदर्थं कर्तव्यप्रयत्नस्य कथितत्वात्
क्षेत्रमिति फलभेदः । पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तमवतार्य प्रतिज्ञां पूरयन्निवृत्तौ—एवमिति । नियामकशास्त्राभावात्तदित्याह
कृत इति । नियामकविषयं हेतुमवतार्य व्याचष्टे—विशेषेति । वाक्यस्य विवक्षितमर्थं वदन्पदं पूरयति—तकार इति ।
सूचित्वा पदार्थं वदन्वाक्यार्थमाह—दुर्निष्क्रमेति । कथमेतावताकाशादिभ्यो विलम्बमन्तरेण निःसरणं भाति तत्राह—तदिति ।
सुमनिःसरणमेवाकाशादिषु विशेषणादालक्ष्यते नाविलम्बनिःसरणमित्याशङ्क्याह—सुखेति । किमर्थमित्यं कल्प्यत आकाशदे-
मन्वेन निःसरणं ब्रीह्यादेस्तु दुःखेनेति यथाश्रुतमेव किं न स्यात्, तत्राह—तस्मिन्निति । अतःशब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वेऽप्येकवाक्यो-
पपन्नब्रीह्यादिपरामर्शित्वेन निराकाङ्क्षादावयान्तरोपात्ताकाशाद्यपरामर्शित्वादाकाशादिवर्षणान्तादविलम्बेन निःसरणमित्युपसंहरति—
स्यादिति । आकाशादौ ब्रीह्यादौ च तद्भावं परिहृय कर्तव्यप्रयत्नस्य लाघवगौरवविशेषं निगमयितुमितीत्युक्तम् ॥ २३ ॥ अनुश-
येनाकाशादिप्रवर्षणान्तसादृश्यं चिरमावि, तत्सादृश्यत्वात्, ब्रीह्यादिसादृश्यवदित्यस्य विशेषणश्रुत्या बाधमुक्त्वा प्रकृतावरोहवाक्यैकदे-
मन्वशिष्टं विचारयति—अन्येति । संगतिं सूचयन्विषयमाह—तस्मिन्निति । त इहेति तच्छब्देनानुशयिनो गृह्यन्ते । व्यवहार-

जायन्ते' (छा० ५।१।०६) इति । तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुख-
दुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्विक्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्ती-
ति । किं तावत्प्राप्तम् । स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति । कुत एतत् ।
जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः । पशुहिंसादि-
योगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः । तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म ।
श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वा-
दिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति । एवं व्रीह्यादिजन्मापीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैर-
धिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति । पूर्ववत् ।

रत्नप्रभाष्याख्या

अत्र जायन्त इति श्रुतेः पूर्वत्राकाशादिवर्षान्तसादृशयोक्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । अस्मिन्नवधौ वर्षसादृश्यानन्तरमित्यर्थः
दुर्निष्पत्तरशब्देन चिरनिर्गलनलक्षणोक्ता न युक्ता, दुःखेन निर्गमनमिति मुख्यसंभवादित्याक्षेपसङ्ख्या पूर्वपक्षयति—
किं तावदित्यादिना । अत्र पूर्वपक्षे स्थावरत्वनिवृत्तयेऽधिकारिणां यत्नगौरवं, सिद्धान्ते व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं परिहृ-
यन्नलाघवं वैराग्यदाढ्यं चेति विवेकः । ननु देहोत्पत्त्या जीवानां जन्म स्यान्न स्वतः, व्रीह्यादिस्तु न देहत्वमित्यत आह—स्थाव-
रभावस्येति । 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' इत्याद्या श्रुतिः । 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्याद्या स्मृतिः । नः
स्वर्गिणां पापाभावात्कथं स्थावरत्वं, तत्राह—पश्चिति । सोमायुच्छिष्टभक्षणसुराग्रहावादिशब्दार्थः । कत्वर्थहिंसादेरी
हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तेर्न हिंसादित्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वाकारेण दुरितापूर्वकारित्वमविरुद्धमिति साङ्ख्या आहुः । धृतोऽः
व्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां न जन्मरूपः कर्मविशेषपरामर्शं विनात्रोक्तत्वात्, पूर्वोक्ताकाशादिभाववदिति सिद्धान्तयति—ए-
व प्राप्त इत्यादिना । पूर्ववदिति पदं दृष्टान्तत्वेन हेत्वशत्वेन च व्याख्यातं यदत्र प्रकरणे कर्मविशेषपरामर्शपूर्वकमुच्यते तज्जन्मो

भामतीव्याख्या

इष्टादिकारिणामिष्टादिकर्मसंकीर्तनादिप्रादेशश्च हिंसादोषदूषितत्वेन सावद्यफलतया चन्द्रलोकभोगानन्तरं स्थावरशरीरभोगदुःखकलत्र
स्याप्युपपत्तेः । नच 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यशास्त्रस्याभीषोमीयपशुहिंसाविषयविशेषशास्त्रेण बाधनं, सामान्यशास्त्र-
हिंसासामान्यद्वारेण विशेषोपसर्पणं निलम्बनेति साक्षाद्विशेषस्पृशः शास्त्राच्छीघ्रतरप्रवृत्ताहुर्वैलत्वादिति सांप्रतम् । नहि बलवदित्ये
दुर्बलं बाधते किंतु सति विरोधे । न चेहास्ति विरोधः, भिन्नगोचरचारित्वात् । 'अभीषोमीयं पशुमालभेत' इति हि क्रतुपक्ष-
सामानातं कत्वर्थतामस्य गमयति न त्वपनयति निषेधापादितामस्य पुरुषं प्रत्यनर्थहेतुताम् । तेनास्तु निषेधादस्य पुरुषं प्रत्यनर्थहेतु-
विषयश्च कत्वर्थता को विरोधः । यथाहः—'यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत् । न क्रतोस्तत्र वेद्युष्यं यथा चोदितमि-
द्धितः' इति । तस्माज्जनेर्मुख्यार्थत्वाव्रीह्यादिशरीरा अनुशयिनो जायन्त इति प्राप्तेऽभिधीयते—भवेदेतदेवं यदि रमणीयचरणाः का
यचरणा इतिवव्रीह्यादिव्यवशयतां कर्मविशेषः कीर्त्येत न चैतदस्ति । न चेष्टादेः कर्मणः स्थावरशरीरोपभोग्यदुःखकलत्रप्रस-
हेतुभावः संभवति, तस्य धर्मत्वेन सुलैकहेतुत्वात् । नच तद्व्रतायाः पशुहिंसाया 'न हिंस्यात्' इति निषेधात्कत्वर्थीया अपि दुःख

आनन्दगिरिव्याख्या

भूमिः सप्तम्यर्थः । व्रीह्यादिभावमापन्नेष्वनुशयिषु, जायत इति श्रुतेः कर्मपूर्वकत्वाश्रितेश्च विचारहेतुं संशयमाह—तत्रेति । अस्मिन्नव-
धाविति । आकाशादिवर्षान्ततत्सादृश्यापच्यनन्तरदशायामित्यर्थः । अत्र च स्थावरभावस्य संसारगतेरालोचनद्वारा वैराग्यस्यैव दृष्टीकर-
णात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे व्रीह्यादिजन्मनो मुख्यत्वेऽनुशयिनां तत्परिहारायाधिकृतेनाधिकं प्रयतितव्यम् । सिद्धान्ते तदीयसंश्लेषमात्र-
निराकर्तुं प्रयत्नलाघवमिति विवक्षित्वा विमर्शपूर्वकं पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । आकाशादिष्वपि व्रीह्यादिष्वपि संश्लेषमात्रं
तदेहेतेति शङ्कते—कुत इति । विशेषं दर्शयन्परिहरति—जनेरिति । जीवस्य जन्माभावेऽपि देवो जातो मनुष्यो जात इत्यादौ तत्र
देहाभिमानद्वारा जनेर्मुख्यत्वदर्शनात्तत्रापि मुख्यत्वार्थं देहाभिमानपूर्वकं सुखदुःखभाक्त्वमाश्लेषमित्यर्थः । कथं स्थावरभावे जनेर्मुख्य-
नहि तत्र देहाभिमानपूर्वकं मनुष्यादिदेहवद्भोगोऽस्ति, तत्राह—स्थावरेति । 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' इत्याद्या श्रुतिः 'शरीरजैः
कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्याद्या च स्मृतिः । ननुदाहृताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां पापफलत्वं स्थावरभावस्य भाति तत्कथमिष्टादिका-
रिणां चन्द्रस्थलखलितानां तत्प्राप्तिः शङ्क्यते, तत्राह—पश्चिति । सोमपानावासरे परस्परमुच्छिष्टभक्षणमादिशब्देन विवक्षितम्
'अभीषोमीयं पशुमालभेत' इति विशेषपशास्त्रात् हिंसादित्यादिसामान्यशास्त्रस्य विशेषविषये बाधात्पशुहिंसनस्य नानिष्टफलत्वाशङ्क-
कत्वर्थतया पुरुषार्थतया च विधिनियेधयोर्भिन्नाश्रित्वेनाविरोधाद्वाध्यबाधकत्वासिद्धेरशक्यं पशुहिंसनस्य निषेधाधिगतमनर्थहेतुत्वमाप-
तुमित्याशयवानुपसंहरति—तस्मादिति । पशुहिंसादेरङ्गत्वात् स्वातन्त्र्येण व्रीह्यादिजन्महेतुत्वाशङ्क्य पापान्तरस्य तद्वेतुत्वे दृष्टान्त-
माह—आदीति । अवरोधाधिकारे आदिभावः श्रुतो नेत्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरमाह—यथेति । अनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनो मुख्य-
तत्परिहारायाधिकृतेन प्रयत्नगौरवं कर्तव्यमित्युपसंहृतिमिति शब्दः । पूर्वपक्षमनृष सिद्धान्तमवतार्य प्रतिष्ठां पूरयित्वा योजयन्-
एवमिति । तत्र सौत्रं दृष्टान्तमादाय व्याचष्टे—पूर्ववदिति । जनेर्मुख्यत्वाय व्रीह्यादिष्वनुशयिनस्तत्सुखदुःखभाजो भवन्तीत्युक्तम् ।

यथा वायुधूममादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम् । एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् । तद्वदेवेहाप्यभिलापात् । कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः । कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम् । यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि । तस्मात्तस्यैव सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रेति परामृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च । अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्वमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवर्षेयुः । यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र व्रीह्यादिभावाद्देतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलष्येत । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति । एतेन जनेमुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । नच वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे । भवत्वन्वेषां जन्तूनामुप-

रत्नप्रभा-व्याख्या

व्यतिरेकद्वान्तमप्याह—यत्र त्विति । अपिच 'यो यो ह्यन्नमसि यो रेतः स्त्रियां सिञ्चति तद्वय एव भवति' इति वाक्यशेषे व्रीह्यादिषु प्रविष्टस्यानुशयिसंघस्यान्तद्वारा रेतःसिक्पुरुषयोगः श्रुतस्तदन्यथानुपपत्त्यापि जन्मश्रुतिर्न मुख्येत्याह—अपिचन्येत्यादिना । व्रीह्यादिपदेनानशे देहिनामुक्तान्तेरवश्यंभावाद्देतःसिग्भोगो न स्यादित्यर्थः । एतेनेति । उक्तानुमानार्थापत्तिभ्याम् । जायत इति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वमनुशयिभोगायतनत्वं च व्रीह्यादेः प्रतिब्रूयादित्यर्थः । ननु व्रीह्यादेर्भोगा-

भामती-व्याख्या

फलत्वसंभवः । पुरुषार्थया एव न हिंस्यादिति प्रतिषेधात् । तथाहि—न हिंस्यादिति निषेधस्य निषेध्याधीननिरूपणतया यदर्थं निषेधं तदर्थं एव निषेधो विज्ञायते । न चेत् 'नान्तं वदेत्' 'न तो पशौ करोति' इतिवत्कस्यचित्प्रकरणे समाभातं येनानुवदगवदस्य निषेधस्य कत्वर्थत्वे निषेधोऽपि कत्वर्थः स्यात् । पशौ निषिद्धयोरान्यभागयोः कत्वर्थत्वेन निषेधस्यापि कत्वर्थत्वं भवेत् । एव हि सत्याज्यभागरहितैरप्यज्ञान्तेराज्यभागसाध्यः क्रतूपकारो विज्ञायते । तस्मादनाभ्याधीतेन न हिंस्यादित्यनेनाभिहितस्य विग्रहितस्य पुरुषव्यापारस्य विधिविभक्तिविरोधात्प्रकृत्यर्थैसाकर्मभाव्यत्वपरित्यागेन पुरुषार्थ एव भाव्योऽवतिष्ठते । आख्यातानभिहितस्यापि पुरुषस्य कर्तव्यापाराभिधानद्वारेणोपस्थापितत्वात् । केवलं तस्य रागतः प्राप्तत्वात्तदनुवादेन ननर्थे विधिसंस्कारमिति, तेन पुरुषार्थो निषेध इति तदधीननिरूपणे निषेधोऽपि पुरुषार्थो भवति । तथा चापमर्थः संपद्यते—यत्पुरुषार्थं हननं कुर्यादिति । कत्वर्थस्यापि च निषेधे हिंसायाः क्रतूपकारकत्वमपि कल्प्येत । नच ह्ये पुरुषोपकारकत्वे प्रत्यर्थिनि सति तत्कालत्वम् । नच स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये सति संयोगपृथक्त्वे स्वादिरतादिवदेकत्र संभवतः । तस्मात्पुरुषार्थप्रतिषेधो न कत्वर्थत्वमप्याहन्तीति शुद्धसुखफलत्वमेवेष्टादीनां न स्थावरशरीरोपभोग्यदुःखफलत्वमपीति । आकाशादिष्विव कर्मव्यापारमन्तरेणभिलापात् । अनुशयिनां व्रीह्यादिसंयोगमात्रं न तु देहत्वमिति । अयमेवार्थ उल्लगापवादकथनेनोपलक्षितः । अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनीति । व्रीह्यादिभावमापन्नाः खल्वनुशयिनः पुरुषैरुपभुक्ता रेतःसिग्भावमनुभवन्तीति श्रूयते । तदेतद्व्रीह्यादिदेहत्वेऽनुशयिनां

आनन्दगिरियव्याख्या

प्राच तेषां तेषु न संश्लेषमात्रमिति शङ्कते—कुत इति । पूर्ववदिति सूत्रभागस्यार्थद्वयविवक्षया प्रयुक्तत्वादाधान्तरं दर्शयन्परिहरति—इदिति । वानुभूत्वेत्यादौ व्रीह्यादिवाक्ये चोक्तिसाम्येऽपि स्थावरादिभावस्यानुशयिनां विरोधिनी पूर्ववाक्ये व्रीह्यादिवाक्ये वा न आधिपत्येति स्तीति शङ्कते—कोऽभिलापस्येति । कर्मपरिणामनिमित्तत्वकथनं विना तद्वानुभूतिस्तदेहत्वात्प्राप्त्यभावे निष्कृतिमिति भव-संभोगस्य तद्वद्भावमाह—कर्ममिति । अन्तरेण कर्मव्यापारं व्रीह्यादितेति नास्ति संकीर्तनमित्याशङ्क्य कर्मविशेषव्यापारस्य निमित्तत्वेनानुक्तिरिष्ट्याह—यथेति । अनुशयिनां व्रीह्यादिभावेन जन्मास्मिन्प्रकरणे कर्मव्यापारोक्तिं विनोक्तत्वादाकाशादिभाववदिति फलत्वमाह—तस्यादिति । किंच ब्राह्मणादिजन्मन्येव रमणीयचरणा इत्यादिकर्मकीर्तनं प्रागपि तज्जन्मनो व्रीह्यादिभावेन जन्मसत्त्वे व्यर्थं स्यात् । अतो नास्ति पुरस्ताज्जन्मेति श्रुतार्थापत्तिमाह—यत्रेति । किंच यो यो ह्यन्नमसि तद्वय एव भवति पुरुषादुतिसंश्लेषोऽनुशयिनां व्यर्थे स च तेषां व्रीह्यादिभावेन जन्मोपगमने तद्वदनादौ प्रवासप्रसङ्गादयुक्तः स्वादतो न पूर्व मुख्यं जन्मेति श्रुतार्थापत्त्यन्तरमाह—अपिचेति । जीवानां व्रीह्यादिष्वोऽन्यत्वात्पत्तीवनेऽपि न प्रवासोऽस्तीत्याशङ्क्याह—यो हीति । अनुशयिनां प्रवासेऽपि का क्षतिः, नयाह—तत्रेति । पूर्वोक्तहेतुफलमुपसंहरति—अत इति । यत्तु जनेमुख्यत्वसिद्धेर्भोगस्थानत्वाच्च स्थावरत्वस्य मुख्यत्वेनानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मेति, तत्राह—एतेनेति । उक्तयुक्त्या जन्मश्रुतेरुपचरितार्थत्वेनेति यावत् । अनुशयिनां वा स्थावरजीवानां वा स्थावरभावस्य भोगस्थानतेति विकल्पव्यावृत्त्युक्त्यायेन दूषयति—उपभोगेति । यदनुशयिनां स्थावरत्वस्य भोगस्थानत्वं तच्च प्रतिब्रूयादिति किंच । द्वितीयमस्तीकरोति—नचेति । केषां तर्हि तदुपभोगायतनं, तत्राह—भवत्विति । अन्येऽपि न तत्र भोक्तारो व्रीह्यादिष्विष्टत्वादनुशयिवदित्याशङ्क्य तदेहपरिणामिपारादित्यमुपाधिरित्यह—अपुन्येति । अनुशयिनामपि व्रीह्यादिभावानुभूत्युपपादिव-

ण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम् । चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

यत्पुनरुक्तं पशुर्हिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्य-
मेवानुशयिनां ब्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पनानर्थिकेति तत्परिह्रियते । न, शास्त्रहेतु-
त्वादधर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् । अतीन्द्रियत्वा-
त्तयोः अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव
देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति । तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मव्यतिथिं विज्ञानं न कस्यचि-
दस्ति । शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः स कथमशुद्ध इति श-
क्यते वक्तुम् । ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगम-
यति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति । उत्सर्गापवादयोश्च
व्यवस्थितविषयत्वम् । तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्यमानत्वाच्च । तेन
न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम् । नच श्वादजन्मवदपि ब्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति ।

रत्नप्रभाष्याख्या

यतनत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिबाध इत्यत आह—**नचेति** ॥ २४ ॥ वैदिकं कर्माशुद्धं न भवति शास्त्रविहित-
दिति सूत्रार्थं प्रपञ्चयति—**अयं धर्म इत्यादिना** । शुचौ देशे प्रातःसायंकाले जीवनादिनिमित्ते कृतममिहोत्रं ध-
भवति स एवाशुचिदेशे मध्यरात्रे मरणादिनिमित्ते कृतः सन्नधर्मो भवतीति निर्णयः शास्त्रैकसाध्य इत्यर्थः । ततः ।
तत्राह—**शास्त्राच्चेति** । ननु या हिंसा सोऽधर्म इत्युत्सर्गस्य विशेषविधिना बाधोऽत्र न युक्तः । नाभिचरेदिति निषि-
द्ध्येनस्य पुरुषार्थत्ववत् निषिद्धहिंसादेरपि कर्तृपकारकत्वाविरोधादिति, तत्राह—**उत्सर्गापवादयोरिति** । अयमर्थः-
काम्ये कर्मणि सर्वत्र करणांशे रागतः प्रवृत्तिः, अङ्गेषु विधित इति स्थितिः । तथाच द्येनाह्वये कर्मणि निषेधेऽपि रागः

भामतीव्याख्या

नोपपद्यते । ब्रीह्यादिदेहत्वे हि ब्रीह्यादिषु कृन्नेष्ववहन्तिना फलीकृतेषु च ब्रीह्यादिदेहविनाशादनुशयिनः प्रवसेयुरिति कथमनु-
शयिनां रेतःसिग्भावः । संसर्गमात्रे तु संसर्गिषु ब्रीह्यादिषु नष्टेष्वपि न संसर्गिणोऽनुशयिनः प्रवसेयुरिति रेतःसिग्भाव उपपद्यते

आनन्दगिरीयव्याख्या

शेषवत्त्वं कल्पमित्युपाधेरसंभवमाशङ्क्य निरतिशयपुण्यकारिणां प्रबलपापपरिग्रहायोगादल्पपापैश्च स्थावरत्वात्सिद्धेर्भवेमिल्याह-
चन्द्रमसस्त्विति ॥ २४ ॥ परोक्तमनूय निरस्यति—**अशुद्धमिति** । अनुवादं विभजते—**यदिति** । इष्टादिकारिणोऽनिष्टफल-
त्वं संभवे फलितमाह—**इत्यत इति** । एतेन गौणी जन्मश्रुतिरिति प्रत्युक्तमिल्याह—**तत्रेति** । ब्रीह्यादिजन्मनो मुख्यत्वे मती-
यावत् । परिहारमवतारयति—**तदिति** । न वैदिकं कर्माशुद्धमिति प्रतिज्ञायां शास्त्रहेतुत्वादित्युक्तं विवृणोति—**अयमिति** । अ-
मानमपि कस्मादसिन्नर्थे न प्रमाणमिल्याशङ्क्य दृष्टं सामान्यतोदृष्टं वा तदिति विकल्प्याचं प्रत्याह—**अतीन्द्रियत्वादिति** । द्विती-
दूषयति—**अनियतेति** । तदेव प्रपञ्चयति—**यस्मिन्निति** । शुद्धे हि देशे सायंप्रातरित्यादौ काले जीवनादौ च निमित्ते योऽपि
होत्रादिधर्मो निर्वर्त्यते स एवाशुद्धे देशे मध्यरात्रादौ काले मरणादौ च निमित्ते कुतः सन्नधर्म इति प्रसिद्धं तथाच न तत्र सामान्य-
दृष्टं सावकाशमित्यर्थः । धर्मादिज्ञानं नानुमानिकं किंतु शास्त्रमात्रकृतमित्युक्तं तन्निरगमयति—**तेनेति** । शास्त्रादेव धर्मादिज्ञानेऽ-
प्रकृते किं जातं, तदाह—**शास्त्राच्चेति** । दुष्टत्वमपि ज्योतिष्टोमस्य निषेधाधिगतमिति सांख्यः शङ्कते—**नन्वेति** । पशुर्हिंसायां नि-
षसामर्थ्यादनर्थहेतुत्वमौत्सर्गिकमित्यङ्गीकरोति—**बाढमिति** । तथापि विधिसामर्थ्यात्तस्य कर्तृपकारित्वेन श्रेयोहेतुत्वमापवादिक-
पेयमिल्याह—**अपवाद इति** । तयोः सामान्यविशेषविषयत्वेन व्यवस्थितविषयत्वाद्वाविबद्धतया न बाध्यबाधकतैस्तुक्तं, तत्राह—
उत्सर्गेति । पशुर्हिंसाया निषेधादनर्थहेतुत्वं कर्तृपकारो विधेरित्युभयार्थत्वाविरोधेऽपि परिहृत्यैवानर्थं कर्तृपकारेणार्थबाहुल्यहेतुत्वाभावे-
विधिरनर्थकः स्यात् । नच द्येनेऽपि वैशी प्रवृत्तिरिति तस्य विशिष्टार्थहेतुता । सर्वत्र कामेषु करणांशे रागात्प्रवृत्तिरितिकर्तव्यताः
वैशीत्युपगमात् । ज्योतिष्टोमस्य द्येनस्यैव काम्यत्वेऽपि नाभिचरेदितिवदनिषिद्धत्वादग्नीषोमीयहिंसायामितिकर्तव्यरूपायां प्रवृत्तेर्हि
ध्यनीतनाद्विशिष्टार्थसाधनत्वमेव । तथाच विधिनियमयोर्विरोधे सावकाशानवकाशान्यायेन व्यवस्थेति भावः । विधिनियमयोर्विरो-
फलितमाह—**तस्मादिति** । नानृतं वदेदितिवत्कस्यचिद्व्यकरणे श्रुतत्वाभावात्पुरुषार्थत्वेन प्राप्तद्वन्द्वनस्यैव न हिंसादिति निषेधाद्विहित-
कर्त्तव्यहिंसाया निषेधाधिपत्यत्वाननर्थहेतुता । किं तु सुखफलत्वमेवेत्यर्थः । शिष्टैरनुष्ठीयमानमपि देशविशेषे मांसाशनादि विवादस्य
देशान्तरे दृश्यते, तत्राह—**अनिन्यमानत्वादिति** । वैदिकस्य कर्मणः शुद्धत्वे सिद्धमर्थमाह—**नेति** । प्रतिरूपं प्रतिकूलमनिष्टमिति
यावत् । कर्मान्तरनिवन्धनस्ताहिं ब्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां भविष्यतीत्युक्तं, तत्राह—**नचेति** । इहेति ब्रीह्यादिजन्मनोत्वार्थः । हेहे

तद्वि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति । अतश्चन्द्रमण्डलस्ख-
लितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावं इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २५ ॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव-
आज्ञायते—‘यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति’ (छा० ५।१०।६) इति ।
न चात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः संभवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमि-
वानुपचरितं तद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते । तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव
रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय
जायत इत्याह शास्त्रम्—‘तद्य इह रमणीयचरणाः’ (छा० ५।१०।७) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते
नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद्व्रीह्यादिसंश्लेष-
मात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-
भगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

बलात् प्रवृत्तिः स्यात् कृत्वङ्गहिंसादौ तु विधित एव प्रवृत्तिर्वाच्या । स च विधिर्यथुत्सर्गप्राप्तमनर्हेतुत्वं न बाधेत तर्हि
प्रवर्तको न स्यात्, प्रवर्तकत्वे वा विधिरनर्थाय स्यात्, अतो निरवकाशो विधिः सावकाशमुत्सर्गमविहितहिंसादिषु स्थाप-
यतीति । इदं च निषेधशास्त्रस्य हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तिमङ्गीकृत्योक्तम् । वस्तुतस्तस्य रागप्राप्तिर्हिंसाविषयत्वाद्वैवर्हिंसाया-
मप्रवृत्तेर्न शुद्धत्वशङ्कावसर इति द्रष्टव्यम् । प्रतिरूपं दुःखरूपं तस्य फलं नेति योजना । इह व्रीह्यादिभावे कश्चिदधिकारः
कर्मपरामर्शो नास्तीत्युक्तम् ॥ २५ ॥ अथ व्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिग्भावः धृतः । तत्रान्नस्थानुशयिनो रेतःसेककर्तृत्वायो-
गायोगमात्रं वाच्यं तद्वदुपक्रमेऽपि योग एवास्थेयः, अन्यथोपक्रमोपसंहारयोर्विरोधः स्यादिति मत्वोक्तम्—**इत्यविरोध इति**
२६ ॥ योनेः शरीरश्रुतेन व्रीह्यादिशरीरत्वमनुशयिनामिति सूत्रार्थः । एवं कर्मिणां गत्यागतिसंसारो दुर्वार इत्यनुसन्धानात्
मङ्गलद्वैराग्यं तत्त्वज्ञानसाधनं सिद्धमिति पादार्थमुपसंहरति—**इति सिद्धमिति** ॥ २७ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजका-
धिपश्रीमद्गोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

भामतीष्याख्या

पुक्तम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ **रेतःसिग्योगोऽथ** । सर्वो जातो हि बालो न रेतःसिग्भवत्यपि तु चिरजातः श्रौढयौवनः, तस्मादपि
सर्गमात्रमिति गम्यते ॥ २६ ॥ तत्किमिदानीं सर्ववैवानुशयिनां संसर्गमात्रं तथाच रमणीयचरणा इत्यादिषु तथाभाव आपद्येतेति नेत्याह—
योनेः शरीरम् । सुगमम् ॥ २७ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्यविभागे भामत्यां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

आनन्दगिरीयव्याख्या

केऽधिकारोऽसाधारणो हेतुः । अनुशयिनां तद्भावोक्तिर्हि कथमिलाशङ्क्याह—**अत इति** ॥ २५ ॥ किंच वाक्यशेषे संयोगस्यैव
प्राप्तस्य धृतेरुपक्रमेऽपि तद्भावः संयोगत्राथान्तरमिलाह—**रेतःसिगिति** । सूत्रं व्याकरोति—**इतश्चेति** । प्रकृतोपयोगित्वेनान्नभ-
ङ्गं तत्त्वत्वेन विनिश्चिष्टि—**यो रेत इति** । तद्भूय एव भवतीति श्रुत्या तद्भावमेवानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यत इत्युच्यते न संयो-
गाभावमिलाशङ्क्याह—**नचेति** । अत्रेत्यद्यमानानुगतोऽनुशयी वाक्यं वा प्रकृतमुच्यते । रेतःसिगः स्वभावलोचनया मुख्यस्य तद्भाव-
शयोर्गं स्फोरयति—**चिरेति** । अनुशयिस्वभावलोचनयापि तमेवार्थं समर्थयते—**कथमिति** । मुख्यस्य तद्भावस्यायोगे फलि-
त्माह—**तत्रेति** । तथापि व्रीह्यादिभावे किं जातं तदाह—**तद्वदिति** । अन्यथोपक्रमोपसंहारयोर्विरोधः स्यात्तत्परिहारायमुप-
संहारदुपक्रमोऽपि नेतव्य इत्याह—**इत्यविरोध इति** ॥ २६ ॥ तर्हि सर्वत्रानुशयिनां संसर्गमात्रमिति ब्राह्मणयोनिमिलादिकापि
श्रुतिरूपचरितार्थेत्याशङ्क्योक्तम्—**योनेरिति** । सूत्रं व्याकरोति—**अथेत्यादिना** । शरीरवत्त्वस्य विशिष्टावसरवदंशनाद्व्रीह्यादिषु
गानुशयिनां तद्वत्त्वं नापि सुखागन्धित्वमिति फलितमाह—**तस्मादिति** । अनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मा मुख्यमुपपादाधिकरणार्थमुपसं-
हरति—**तस्मादिति** । तदेवमिष्टादिकारिणामनिष्टादिकारिणां चारोहावरुहरूपसंसारगतौ सिद्धायां ततो वैराग्यमधिकारिविशेषणतया
वाक्यार्थेऽसाधनं दृढीकृतं भवतीति पादार्थमुपसंहरति—**इति सिद्धमिति** ॥ २७ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धा-
नन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां शारीरकभाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य गत्यागतिचिन्तया वैराग्यनिरूपणाख्यः प्रथमः पादः ॥

तृतीयाध्याये द्वितीय पादः ।

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥



सत्या मिथ्याथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् ॥ जाग्रद्वेशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥ १ ॥

देशकालाद्यनौचित्याद्वाधितत्वाच्च सा मृषा ॥ अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥ २ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—‘स यत्र प्रखपिति’ (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य ‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पन्थः सृजते’ (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति । तत्र तावत्प्रतिपद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे वेदे प्रयोगदर्शनात् ‘संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्’ (बृ० ४।३।९) इति । द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम् । तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः—यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह

रत्नप्रभाव्याख्या

संध्ये सृष्टिराह हि । उक्तैर्वाराग्यसाध्यस्तत्त्वंपदार्थविवेको वाक्यार्थज्ञानसाधनमस्मिन् पादे निरूप्यत इति पा
योहेतुसाध्यभावसंगतिमाह—अतिक्रान्त इति । साधनविचारत्वादेवाय पादस्यास्मिन्नध्याये संगतिः । अस्मिन् पादे
स्थानतोऽपि इत्यतः प्रागुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञासितत्वंपदार्थोऽवस्थाद्वारा विविच्यते, तदारभ्यापादसमाप्तेर्विधेयतत्पदा
विवेकः, तत्र पूर्वं गत्यागतचिन्तया जाग्रदवस्था निरूपिता तदनन्तरभाविनीं स्वप्नावस्थां श्रुत्युक्तां विषयीकृत्य तत्र स
रथादिप्रत्यक्षेणोक्तस्तदभावोक्तेश्च संशयं वदन् पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—तत्र संशय इत्यादिना । स्वप्नरथादयो जाग्रदथा
वत् व्यावहारिकसत्ताका उत शुक्तिरजतवत् प्रातीतिका इति संशयार्थः । आरम्भणाधिकरणे प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वनिषे
दिति मन्तव्यम् । अत्र पूर्वपक्षे जाग्रद्वत् स्वप्नज्जीवस्य विवेकासिद्धिः सिद्धान्ते प्रातीतिकदृश्यसाक्षितया विवेकात् स्वयंज्योतिषिर्सा

भामतीव्याख्या

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ इदानीं तु तस्यैव जीवस्यावस्थाभेदः स्वयंज्योतिष्टिसिद्धयर्थं प्रपञ्च्यते—किं प्रबोध इ
स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति । यद्यपि ब्रह्मणोऽन्यस्यानिर्बोध्यतया जाग्रत्स्वप्नावस्थागतयोर्बभौ
सर्गयोर्मायामयत्वं तथापि यथा जाग्रत्सृष्टिर्ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारात्प्रागनुवर्तते । ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारानु
स्वप्नसृष्टिराहोस्वित् प्रतिदिनमेव निवर्तत इति विमर्शार्थः । द्वयोः इहलोकपरलोकस्थानयोः । संघो भवं संघम् । ऐरल्लोकि
न्क्षराद्यव्यापाराद्रपादिसाक्षात्कारोपजननान्नैहलौकिकं पारलौकिकेन्द्रियादिव्यापारस्य च भविष्यतोऽप्रयुक्तव्रतं न पारलौकिकम्

आनन्दगिरीयव्याख्या

[illegible]

‘अथ रथान्प्रथयोगान्पथः सृजते’ (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपिचैके शाखिनोऽसिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—‘य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः’ (क० ५।८) इति । पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति । ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन् । न । ‘शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व’ (क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते ‘कामानां त्वा कामभाजं करोमि’ (क० १।२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्’ (क० २।१४) इत्यादि । तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—‘तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन’ (क० ५।८) इति । प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया तथा स्वप्राश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिः—‘अथो खल्वहुर्जागरितदेश

रत्नप्रभाख्याख्या

रति फलम् । सुमूर्षोः सर्वेन्द्रियोपसंहारादेतल्लोकाननुभवे सति वारानामात्रेण इमं लोकं स्मरतः कर्मबलाद्बुद्धये मनसा परलो-
कस्फूर्तिरूपः स्वप्नो भवति, सोऽयं लोकद्वयसन्धौ भवतीति संध्यः स्वप्नः । तथाच श्रुतिः—‘तस्मिन् संध्ये स्थाने
उभे उभे स्थाने पश्यति इदं च परलोकस्थानं च’ इति । अयं स्वप्नः कादाचित्क इत्यरूपा नित्यस्वप्नस्य प्रबोधसं-
सादसंधिभवत्वमुक्तम् । अन्येतु मर्त्यचक्षुरायजन्यरूपादिशास्त्राकारवत्त्वं परलोकलक्षणं, दैवचक्षुरायजन्यतद्वत्त्वं मर्त्य-
लोकलक्षणं च स्वप्नेऽस्तीति लक्षणतो लोकद्वयस्पर्शित्वात् नित्यस्वप्नस्यैव लोकद्वयसंध्यत्वं ग्रामद्वयस्पर्शिमार्गस्य तत्संध्यत्ववदिति
गचक्षते । न केवलं श्रुत्या स्वप्नार्थानां व्यावहारिकसत्यत्वं किंतु सकर्तृकत्वादपीत्याह—स हि कर्तेति ॥ १ ॥ किंच स्वप्नार्थाः
त्याः, प्राज्ञनिर्मितत्वात्, आकाशादिवदिति सूत्रार्थमाह—अपिचेत्यादिना । रूढिमाशङ्क्य प्रकरणान्निरस्यति—नन्वित्या-
हना । यः सुप्तेषु निर्व्यापारेषु करणेषु जागर्ति तदेव शुक्रं स्वप्नकाशं ब्रह्मेत्यर्थः । स्वप्नस्य जाग्रदर्थः समानदेशत्वश्रुतेर्भेदश्रुतेश्च

भामतीव्याख्या

न न रूपादिशास्त्राकारोऽस्ति स्वप्नदृशः । तस्मादुभयोर्लोकयोरेस्यान्तरालत्वमिति ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारात्प्राक् तथ्यरूपैव सृष्टिर्भ-
वितुमर्हति । अयमभिप्रायः—इह हि सर्वोणैव मिथ्याज्ञानान्युदाहरणं तेषां सत्यत्व प्रतिज्ञायते । प्रकृतोपगितया तु स्वप्नज्ञानमु-
दाहृतम् । ज्ञानं यमर्थमवबोधयति स तथैवेति युक्तम् । तथाभावस्य ज्ञानोद्धारः । अतथात्वस्य त्वप्रतीयमानस्य तथाभावप्रमे-
यविरोधेन कल्पनास्पदत्वात् बाधकप्रत्ययादतथात्वमिति चेत् । न । तस्य बाधकत्वाभिज्ञेः । मानगोचरे हि विरुद्धाभ्यां उपसंहारिणी
ज्ञानं विरुध्यते । बलवदवलवत्त्वानिश्चयाच्च बाध्यबाधकभावं प्रतिपद्येत् । न चेह समानविषयत्वं, कालभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः ।
यथाहि क्षीरं दृष्टं कालान्तरे दधि भवति, एवं रजतं दृष्टं कालान्तरे शुक्तिर्भवेत् । नानारूपे वा तद्वन्तु । तथस्य तीव्रातपश्चात्तिसहितं
चक्षुः स तस्य रजतरूपतां गृह्णाति । यस्य तु केवलमालोकमात्रोपकृतं, स तस्यैव शक्तिरूपतां गृह्णाति । एवमुत्पलमपि नीललोहितं
चक्षुः स तस्य रजतरूपतां गृह्णाति । प्रदीपाभिव्यक्तं तु नक्तं लोहिततया । एवमसत्यां निद्रायां सतोऽपि रथादीच गृह्णाति
निद्राणस्तु गृह्णातीति सामग्रीभेदाद्वा कालभेदाद्वा विरोधाभावः । नापि पूर्वोत्तरयोर्वलवदवलवत्त्वनिर्णयः । द्वयोरपि न्यगोचरचारि-
तया समानत्वेन विनिगमनाहेतोर्भावत् । तस्मादप्यवश्यमविरोधो व्यवस्थापनीयः । तस्मिँल्लभेत् । विवादास्पदं प्रत्ययाः, सत्यवयवः,
प्रत्ययत्वात्, जाग्रत्स्वप्नादिप्रत्ययवदिति । इममर्थं श्रुतिरपि दर्शयति—‘अथ रथान् प्रथयोगान् पथः सृजते’ इति । नच ‘न तत्र

आनन्दगिरियव्याख्या

सृष्टेः सत्यत्वं सकर्तृकत्वादपि तस्माज्जागरितसृष्टिवदर्थक्रियासामर्थ्यं सत्यत्वमेष्टव्यमित्याह—स हीति ॥ १ ॥ किंच विमताः मत्याः,
निर्मितत्वाज्जाग्रद्विभक्त्यादिवदित्याह—निर्मातारं चेति । निर्मितान्कामान्विशिनष्टि—पुत्रादयश्चेति । निर्मातारं चेत्यादि व्याकरोति—
अपिचेति । सुप्तेषु करणेषु निर्व्यापारेष्विति यावत् । स त्वया पृष्ठ आत्मेति शेषः । कामशब्दस्य यौगिकार्थमाह—पुत्रादयश्चेति ।
रूढिवागमपरहरीतिन्यायेन शङ्कते—नन्विति । प्रकरणविरोधान्नात्र रूढिरित्याह—नेत्यादिना । तत्रेति य एष इत्यादि यत्र श्रुतं
तत्रैव प्रकरण इति यावत् । परकर्तृकत्वादपि सत्यैव स्वप्नसृष्टिः संप्रतिपन्नवदित्याह—प्राज्ञं चेति । तदिष्यं प्रकरणं प्रकटयति—
प्राज्ञस्येति । तदिष्यं वाक्यशेषमपि विशदयति—सदिति । दृष्टान्तस्य साध्यविकल्पात् प्रत्याह—प्राज्ञेति । इत्यसिद्धिमाशङ्क्य
कविजीवकर्तृकत्वश्रवणेऽपि जीवस्य प्राज्ञभेदाय ब्रह्मणस्तद्भावात्प्राज्ञकर्तृकतेति मत्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । स्वप्नजागरितयोस्तुल्य-
देशत्वश्रवणादपि स्वप्नस्य सत्यत्वेत्याह—तथाचेति । स्वप्नजाग्रद्वयोरैकार्थत्वश्रुत्यापि स्वप्नसृष्टेः सत्यत्वेत्याह—यानीति । उक्त-

यति कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिभुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चेति । देहा-
च्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्यते न तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते । येन चायं देहेन
देशान्तरमश्रुवानो मन्यते तन्मन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति । यथाभूतानि चायं दे-
शान्तराणि स्वप्ने पश्यन्ति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति । परिधावंश्चेत्यद्वैतज्जाग्रद्वस्तुभू-
तमर्थमाकलयेत् । दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—‘स यत्रैतत्स्वप्नयया चरति’
इत्युपक्रम्य ‘स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते’ (बृ० २।१।१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्ति-
विरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिगौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि
शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति
विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते

रजप्रभाव्याख्या

मर्थस्थान्प्रतीति शेषः । एतत्स्वप्नं यथा स्यात्तथा यत्र काले स्वप्नयया वृत्त्या चरति तदा स्वशरीरे यथेष्टं चरतीत्यर्थः ।
बहिरिवेति । कुलायाद्देहात् बहिरिवामृत आत्मा चरित्वा यत्र कामं यथेष्टमीयते विहरतीत्यर्थः । गुणमाह—यो हीति ।
देहाविमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठवद्देहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः । एवं सति श्रुतिगुक्तिभ्यां अन्तरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः । वि-
प्रलम्भो विभ्रमः योग्यदेशाभावमुक्त्वा कालाभावमाह—कालेति । अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादिवर्णान्तरे वासरो भवति

भामतीव्याख्या

क्षणम् । न मरीचिभिः कस्यचित्पुण्यज उद्वेगोपशमयति । नच तोयमेव द्विविधमुद्वेगोपशमनमतदुपशमनमिति युक्तम् । तदर्थ-
क्रियाकारित्वव्याप्तं तोयत्वं मात्रयापि तामकुर्वन्तोयमेव न स्यात् । अपिच तोयप्रत्ययसमीचीनत्वायास्य द्वैविध्यमप्युपेतं तस्मात्पु-
ण्येऽपि न सद्भूतमिति । तथाहि—असमर्थविधापाति तोयमेतदिति मन्वानो न तुण्यापि मरीचितोयमभिधावेत् । यथा मरीचीननु-
भवत् । अथाशक्तं शक्तमभिमन्यमानोऽभिधावति । किमपराद्ध मरीचिषु तोयविपर्ययेन सर्वेजनीनेन यत्तमल्लङ्घ्य विपर्ययात्तन्तरे
कल्प्यते । नच क्षीरदधिप्रत्ययवदाचर्यमातुलब्राह्मणप्रत्ययवद्वा तोयमरीचिविशिष्टं समुचितवागाहिनी, स्यात्तु भवात्परस्परविरुद्धयोर्बाध्य-
वधकभावावभासनात् । तत्रापि रजतज्ञानं पूर्वमुपपन्नं बाध्यमुत्तरं तु बाधकं शुक्तिज्ञानं प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य । रजतज्ञानात्प्रा-
प्तपक्षभावेन शूक्तेरप्राप्तायाः प्रतिषेधासंभवात्पुनश्चानप्राप्तं तु रजतं शुक्तिज्ञानमपवाधितुमर्हति । तदपवाधामकं च स्वात्मवादवसी-
यते । यथाहुः—‘आगामित्वादवाधिया परं पूर्वं हि जायते । पूर्वं पुनरवाधित्वा परं नोत्पद्यते कश्चित्’ । नच वर्तमानरजतावभासि-
ज्ञानं भविष्यत्तामस्यागोचरयन्न भविष्यता स्वसमदर्शित्वं शुक्तिं गोचरयता प्रत्ययेन बाधयेत्, कालभेदेन विरोधाभावादिति युक्तम् ।
नानामास्य ज्ञासीप्रत्ययश्च भविष्यतां तत्पृष्ठभावि त्वन्मानमुपकारभावहेतुमिवास्ति विनाशप्रत्ययोपनिषातं स्वमानमाकलयति ।
अस्ति विनाशप्रत्ययोपनिषातं रजतमिदं स्थिरं रजतत्वादनृत्प्रत्यभिज्ञातरन्तवत् । तथाच रजतगोचरं प्रत्यक्षं यस्तुतः स्थिरमेव
रजतं गोचरयेत् । तथाच भविष्यच्छुक्तिज्ञानकालं, रजतं व्याप्नुयादिति विरोधाच्छुक्तिज्ञानं बाधयेत् । यथाहुः—‘रजतं ग्रहमाणं
हि चिरस्थायीति गृह्यते । भविष्यच्छुक्तिज्ञानकालं व्याप्नोति तेन तत् ॥’ इति । प्रत्यक्षेण चिरस्थायीति गृह्यत इति कचिव्याचक्षते ।
तदुक्तम् । यदि चिरस्थायित्वं योग्यता न सा प्रत्यक्षगोचरः शक्तेरतीन्द्रियत्वात् । अथ कालान्तरव्यापित्वं, तदप्युक्तं, कालान्-
तरेण भविष्यतेन्द्रियस्य संयोगायोगात्तदुपहितसीमो व्यापित्वस्यातीन्द्रियत्वात् । नच प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययवद्वास्ति संस्कारः सहकारी
योगवर्तमानमप्याकलयेत् । तस्मादत्यन्ताभ्यासवशेन प्रत्यक्षानन्तरं शीघ्रतरोत्पन्नविनश्यदवस्थानमानसहितप्रत्यक्षाभिप्रायमेव चिर-
स्थायीति गृह्यत इति मन्तव्यम् । अत एवैतत्क्षमतरं कालव्यवधानमभिवचनगन्तः संगताः प्राहुः, द्विविधो हि विषयः प्रत्यक्षस्य
प्राक्ष्याः यत्संयथ । ब्राह्मणश्च एकः स्वलक्षणोऽप्यवस्येयश्च संतान इति । एतेन स्वप्रत्ययो मिथ्यात्वेन व्याख्यातः । यत्तु सत्यं स्वप्न-
दर्शनमुक्तं तथाप्यवस्थाना ब्राह्मणायनेनाख्याते संवादाभावात् । प्रियव्रतस्याख्यातसंवादस्तु काकालायोगो न स्वप्नज्ञानं प्रमाणयितुमर्ह-
ति । तादृशस्यैव बहुलं विसंवाददर्शनात् । दर्शितश्च विसंवादो भाष्यकृता कास्त्येनानभिप्रायं विवृण्वता । रजन्यां सुप्त इति ।

आनन्दगिरियव्याख्या

नम्रः प्रवृद्धः सन्पार्श्वस्थानिति शेषः । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—देहाच्चेदिति । इतश्च देहाद्बहिर्देशान्तरं गत्वा न
नम्रयोगित्वाह—येनेति । न स्वप्नो देशान्तरं गतस्त्वयैव हेत्यन्तरमाह—यथेति । तदेव व्यतिरेकेणापवादयति—परिधावन्निति ।
देहाद्देशान्तरं गच्छन्निति यावत् । न केवलं स्वप्नोऽन्तरेवेत्युपपन्नं किंतु श्रौतश्चेत्याह—दृशेयतीति । एतदिति स्वप्नार्थं किंवापि-
क्षणम् । स्वप्नयथेति श्रुतिविशेष्यते । अन्तरेव स्वप्नश्चेत्यर्थं तादृ बहिष्कुलायश्रुतिरिति, तत्राह—अतश्चेति । कथं शरीरं वसतो
बहिरित्युक्तिरित्याशङ्क्योपचारे निर्भेदमाह—यो हीति । यत् स्थितिगतप्रत्ययभेदसामञ्जस्य स्वप्नो बहिरिति, तत्राह—
स्थितितीति । एवं सतीति । श्रुतिगुक्तिभ्यामन्तरेव स्वप्ने सिद्धे सतीत्यर्थः । विप्रलम्भो विभ्रमः । योग्यदेशाद्योऽं स्वप्नसोक्तवा
गदृशालायोगं स्पष्टयति—कालेति । अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादौ वर्णान्तरे वासरो भवतीति भारत इत्युक्तम् । विधान्तरेण

यति कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिमुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चासिन्प्रतिबुद्धश्चेति । देहा-
च्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्यते न तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते । येन चायं देहेन
देशान्तरमभुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति । यथाभूतानि चायं दे-
शान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति । परिधावश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वस्तुभू-
तमर्थमाकलयेत् । दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—‘स यत्रैतत्स्वप्नया चरति’
इत्युपक्रम्य ‘स्व शरीरे यथाकामं परिवर्तते’ (बृ० २।१।२८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्ति-
विरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिगौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि
शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति
विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजण्यां सुप्तो वासरं भारते

रजनीनाभ्याख्या

पार्थस्थानप्रतीति शेषः । एतत्स्वप्नं यथा स्यात्तथा यत्र काले स्वप्नया वृत्त्या चरति तदा स्वशरीरे यथेष्टं चरतीत्यर्थः ।
बहिरिवेति । कुलायदेहात् बहिरिवामृत आत्मा चरित्वा यत्र कामं यथेष्टमीयते विहरतीत्यर्थः । गुणमाह—**यो हीति** ।
देहाभिमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठवदेहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः । एवं सति श्रुत्युक्तिभ्यां अन्तरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः । वि-
प्रलम्भो विभ्रमः योग्यदेशाभावमुक्ता कालाभावमाह—**कालेति** । अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादिवर्षान्तरे वासरो भवति

भामतीव्याख्या

ध्याम् । न मरीचिभिः कस्यचित्त्वेण उदन्त्योपशम्यति । नच तोयमेव द्विविधमुदन्त्योपशमनमतदुपशमनमिति युक्तम् । त्वर्थ-
क्रियाकारित्व्याप्तं तोयत्वं मात्रयापि तामकुर्वन्तोयमेव न स्यात् । अपिच तोयप्रत्ययसमीचीनत्वात्पश्य द्वैविध्यमभ्युपेयते तन्नाभ्युप-
गमेऽपि न सद्बुद्धमिति । तथाहि—असमर्थविधापाति तोयमेतदिति मन्वानो न तृणयापि मरीचितोयमभिधावेत् । यथा मरीचीननु-
भवत् । अथाशक्तं शक्तमभिमन्यमानोऽभिधावति । किमपराद्ध मरीचिषु तोयविपर्ययेन सर्वजनीनेन यत्तमल्लङ्घ्य विपर्ययात्तरे
कल्प्यते । नच क्षीरदिप्रत्ययवदाचर्यमातुलब्राह्मणप्रत्ययवद्वा तोयमरीचिविज्ञानं समुचिततावगाहिनी, स्वातृभवात्परस्परविरुद्धयोर्बाध्य-
बाधकभावाद्भासनात् । तत्रापि रजतज्ञानं पूर्वमुत्पन्नं वायुमुत्तरं तु बाधकं शुक्तिज्ञानं प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य । रजतज्ञानात्प्रा-
वृत्तापकाभावेन शुक्लप्रासायाः प्रतिषेधासंभवात्पूर्वज्ञानप्राप्तं तु रजतं शुक्तिज्ञानमपवाधितुमर्हति । तदपवाधात्मकं च स्वातृभवादवसी-
यत् । यथाहुः—‘आगामिरवाद्वाधित्वा परं पूर्वं हि जायते । पूर्वं पुनरवाधित्वा परं नोत्पद्यते कचित्’ । नच वर्तमानरजतावभासि
ज्ञानं भविष्यत्तामस्यागोचरस्य भविष्यता स्वसमयवर्तिनी शुक्तिं गोचरयता प्रत्ययेन बाधते, कालभेदेन विरोधाभावादिति युक्तम् ।
भा नामास्य ज्ञासीरप्रत्ययं भविष्यत्तां तत्पृष्ठभावि त्वन्मानमुपकारभावहेतुमिवास्ति विनाशप्रत्ययोपनिर्णयं स्थमानमाकलयति ।
अस्ति विनाशप्रत्ययोपनिर्णयं रजतमिदं स्थिरं रजतत्वादनुभूतप्रत्ययमिज्ञातरजतवत् । तथाच रजतगोचरं प्रत्ययं वस्तुतः स्थिरमेव
रजतगोचरयेत् । तथाच भविष्यच्छुक्तिकाज्ञानकालं, रजतं व्याप्नुयादिति विरोधाच्छुक्तिज्ञानं बाधते । यथाहुः—‘रजतं गृह्यमाणं
हि चिरस्थापीति गृह्यते । भविष्यच्छुक्तिकाज्ञानकालं व्याप्नोति तेन तत् ॥’ इति । प्रत्यक्षेण चिरस्थापीति गृह्यत इति कचिद्याचक्षते ।
तदयुक्तम् । यदि चिरस्थापित्वं योयता न सा प्रत्यक्षगोचरः शक्नोतीन्द्रियत्वात् । अथ कालान्तरस्यापित्वं, तदयुक्तं, कालान्-
तरे भविष्यतेन्द्रियस्य संयोगायोगात्तदुपहितसीधो व्यापित्वस्यातीन्द्रियत्वात् । नच प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययवद्वान्ति संस्कारः सहकारी
येनवर्तमानमप्याकलयेत् । तस्मादत्यन्ताभ्यासवशेन प्रत्यक्षानन्तरं शीघ्रतरोत्पन्नविनश्यद्वस्थानमानसहितप्रत्यक्षाभिप्रायंपव चिर-
स्थापीति गृह्यत इति मन्तव्यम् । अत एवेतत्सूक्ष्मतरं कालव्यवधानमनिवचनगन्तः संगताः प्राहुः, द्विविधो हि विषयः प्रत्यक्षस्य
प्राक्शायवसेयश्च । प्राक्शक्षण एकः स्वलक्षणोऽध्यवसेयश्च संतान इति । एतेन स्वप्रत्ययो मिथ्यात्वेन व्याख्यातः । यत्तु सत्यं स्वप्न-
दशेनमुक्तं तत्राभ्याख्याया ब्राह्मणायनेनाख्यति संवादाभावात् । प्रियव्रतस्याख्यातसंवादास्तु काकताल्यो न स्वप्नज्ञानं प्रमाणयितुमर्ह-
ति । तदशस्यैव बहुलं विसंवाददर्शनात् । दर्शितश्च विसंवादो भाष्यकृता कात्स्न्येनानभिव्यक्तिं विवृण्वता । **रजण्यां सुप्त इति ।**

आनन्दगिरिव्याख्या

नम्रप्रा प्रवृद्धः सन्पार्थस्थानिति शेषः । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा रकोरयति—**देहाच्चेदिति** । इत्थं देहाच्चेददेशान्तरं गत्वा न
स्वप्नोऽस्ति—**येनेति** । न स्वप्नो देशान्तरं गतस्येत्यत्र हेत्वन्तरमाह—**यथेति** । तदेव व्यतिरेकेणोपपादयति—**परिधावन्निति** ।
देहाच्चेददेशान्तरं गच्छन्निति यावत् । न केवलं स्वप्नोऽन्तरेवेत्युपपन्नं किंतु श्रान्तश्चेत्याह—**दर्शयतीति** । एतदिति स्वप्नवार्त्तं क्रियावि-
रोधकम् । स्वप्नयति वृत्तिर्विशेष्यते । अन्तरेव स्वप्नश्चेत्कथं तर्हि बहिष्कुलायश्रुतिरिति, तत्राह—**अतश्चेति** । कथं शरीरं वसतो
बहिरित्युक्तिरित्याशङ्क्योपचारे निर्दिष्टमाह—**यो हीति** । यत् स्थितिगतिप्रत्ययभेदसामञ्जस्यात् स्वप्नो बहिरिति, तत्राह—
स्थितेति । एवं सतीति । श्रुतियुक्तिभ्यामन्तरं स्वप्ने सिद्धे सतीत्यर्थः । विप्रलम्भो विभ्रमः । योग्यदेशायोगं स्वप्नस्यैव
तदुक्ताल्लोकोपपत्तिरिति—**कालेति** । अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादौ वर्षान्तरे वासरो भवतीति भारत इत्युक्तम् । विधान्तरेण

वर्षे मन्यते । तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बुद्धवर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्ध्यै कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते । करणोसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा । बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभभावा भवन्ति । आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति’ (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति । नेत्युच्यते । सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः । तथाहि श्रूयते—‘यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने’ (छा० ५।२।९) तथा पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति’ इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यत इति श्रावयति । आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—‘कुञ्जमारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि’ इति । मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते । तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् । यदुक्तम् ‘आह हि’ इति तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम् । यथा लाङ्गलं गवादीनुद्ब्रहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते न तु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्ब्रहतीति । एवं निमित्त-

रत्नप्रभाष्याख्या

इति भारत इत्युक्तम् । पूर्वपक्षानुमानानां जाग्रदर्थदृष्टान्ते कुप्तसामग्रीजन्यत्वमबाधयोग्यत्वं चोपाधिरिति सूत्रतात्पर्यम् ॥३॥ स्वप्नस्य भ्रान्तिमात्रत्वे तत्सूचितोऽप्यर्थः सत्यो न स्यादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रान्तरं व्याचष्टे—**मायेत्यादिनां** । मन्त्रेण देवतानुग्रहेणौषधिसेवया वा स्वप्नाः सत्यसूचकाश्चेत् सत्याः स्युरित्यत आह—**तत्रापि भवतु नामेति** । सत्यहर्षहेतोरपि श्रुतिरूपस्य सत्यत्वाददर्शनादिति भावः । यथा कृषिद्वारा लाङ्गलस्य गवादिजीवननिमित्तत्वं तथा स्वप्नभोक्तुरदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिनिमित्तत्वं न तु कुम्भं प्रति कुम्भकारस्येव साक्षात् स्वप्नकर्तृत्वं सामर्थ्यभाववापयोरुक्तत्वादित्याह—**यदुक्तमित्यादिना** । तथाच स्वप्नस्य सकर्तृकत्वं मुख्यं नास्तीति हेत्वसिद्धिरिति भावः । श्रुतितात्पर्यविरोधाच्च न स्वप्नसत्यत्वेत्याह—

भामतीव्याख्या

रजनीसमयेऽपि हि भारताद्वर्षान्तरे केतुमालादौ वासरो भवतीति भारते वर्षे इत्युक्तम् ॥ ३ ॥ **सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः** । दर्शने सूचकं तच्च स्वरूपेण सत् । असत्तु दृश्यम् । अत एव स्त्रीदर्शनस्वरूपसाध्याश्चरमधातुविसर्गादौ जाग्रद-

आनन्दगिरीव्याख्या

कालविसर्वादमाह—**तथेति** । योग्यकालयोगमुक्त्वा तादृङ्निमित्तायोगमाह—**निमित्तान्यपीति** । बुद्ध्यर्थे योग्यनिमित्तायोगो साधयति—**करणेति** । अस्वेति स्वप्नद्रष्टृरुक्तिः । कर्मार्थं योग्यनिमित्ताभावमाह—**रथादीति** । अवाधासंभवं विभजते—**बाध्यन्ते चेति** । न केवलं प्रबोधे बाध्यत्वं स्वप्नेऽपीत्याह—**स्वप्न इति** । आदावन्ते च व्यभिचारधीर्जागरेऽपि तुल्येत्याशङ्क्य विशेषमाह—**रथोऽयमिति** । न केवलमध्यक्षं स्वप्न रथादीनां बाध्यत्वं किंतु श्रुतमपीत्याह—**स्पष्टं चेति** । योग्यदेशादभावेन सिद्धमर्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ३ ॥ स्वप्नस्य मायामात्रत्वे शुभाशुभफलत्वान्वयव्यतिरेकाभ्यां शास्त्रेण च विरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—**सूचकश्चेति** । सूत्रव्याख्यामात्रमाह—**मायेति** । विरोधद्वयं प्रत्याह—**नेतीति** । तत्र प्रथमं श्रुतिविरोधं निरस्यति—**सूचकश्च हीति** । स्वप्नो भविष्यतः साधुनः सूचक इत्यत्र श्रुतिमुक्त्वा तादृशोऽसाधुनोऽपि सूचकोऽसावित्यत्र श्रुतिमाह—**तथेति** । अन्यव्यतिरेकविरोधसमाधिं स्फुटयति—**आचक्षते चेति** । इतश्चोभयविरोधवैयर्थ्यमित्याह—**मन्त्रेति** । तर्हि शुभाशुभफलत्वात्तुपपत्त्या स्वप्नस्य सत्यत्वाच्च मायामात्रत्वमित्याशङ्क्यार्थक्रियाकारित्वेऽपि परमार्थत्वाभावाग्नित्वात्त्वमित्याह—**तत्रापीति** । स्वप्नस्य सत्यार्थसूचकत्वेऽपीति यावत् । द्विविधविरोधसमाधिफलमुपसंहरति—**तस्मादिति** । परोक्तमनूष्य दूषयति—**यदित्यादिना** । तदिति सुप्तस्य सृष्ट्वादिवचनम् । एवं सतीति पूर्वोक्तन्यायेन स्वप्नस्य मायामात्रत्वे सतीत्यर्थः । स्वप्नबुद्धरथादिसृष्ट्वादिवचनो गौणलदृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथेति** । लाङ्गलस्यापि गवाद्युद्बोद्धत्वं मुख्यमेव किं न स्यादित्यत्राह—**न इति** । तथापि दार्ष्टान्तिकं मुख्यमेव

समात्रत्वात्सुतो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते । न तु प्रत्यक्षमेव सुतो रथादीन्सृजति । निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोद्भासादिदर्शनात्तन्निमित्तभूतयोः सुरुतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम् । अपिच जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादित्येतद्विचाराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष् दुर्विवेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः । तत्र यदि रथादिस्मृष्टिचनं श्रुत्या नीयेत तदा स्वयंज्योतिष् न निर्णीतं स्यात् । तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या रथादिस्मृष्टिचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम् । एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम् । यदप्युक्तम्—‘प्राज्ञमेनं निर्मातारमा-
मनन्ति’ इति । तदप्यसत् । श्रुत्यन्तरे ‘स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रख-
पिति’ (बृ० १।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात् । इहापि ‘य एष सुतेषु जागर्ति’ (क० ५।८)
इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुकं
तद्गच्छेति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते—‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति
न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते । न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते तस्य सर्वेश्वरत्वा-
त्सर्वास्ववस्थास्वधियातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं संघ्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्ये-
तावत्प्रतिपाद्यते । नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति । प्रतिपादितं हि ‘तद-
नन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः’ (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् ।
प्राक् ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । संघ्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं
बाध्यत इति । अतो वैशेषिकमिदं संघ्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा व्याख्या

अपिचेति । व्यतिकरः संकरः, श्रुत्या तत्परतयेत्यर्थः । जागरिताद्विशेषादिति भावः । फलितमाह—तस्मादिति । एतेने-
ते । भाक्त्येनेत्यर्थः । द्वितीयपूजोक्तप्राज्ञकर्तृकत्वहेतुरपि स्वप्नस्य किं श्रुतिसिद्ध उत प्राज्ञस्य सर्वेश्वरत्वात् सिद्धः, नाय
स्याह—यदप्युक्तमित्यादिना । स्वयं विहृत्य जाग्रदेहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं वारानया निर्माय, स्वेन भासा स्वीयबु-
द्धेरस्या स्वेन ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन च स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः । न केवलं बृहदारण्यके जीवस्य स्वप्नकर्तृत्वं श्रुतं किंतु
गठकेऽपीत्याह—इहापीति । जीवोचौ ब्रह्मप्रकरणविरोध इत्यत आह—तस्य त्विति । एवं हेतोः श्रुतिसिद्धत्वं निरस्य
द्वितीयमङ्गीकरोति—न चास्माभिरिति । तर्हि हेतुसिद्धेः स्वप्नस्य सत्यत्वमित्याशङ्क्य सत्यत्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं चेति
वक्तव्यं व्यवहारकाले बाधदर्शनात्, नाय इत्याह—पारमार्थिकस्त्विति । द्वितीये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमित्याह—
नचेति । कस्तर्हि स्वप्नस्य जाग्रतो विशेषोऽत्र कथ्यत इत्याशङ्क्य प्रातिभासिकत्वमित्याह—प्रागिति ॥ ४ ॥ पूर्वं कृत्वासा-

भामती व्याख्या

रथायामनुवर्तते । स्त्रीसाध्यास्तु माल्यविलेपनदन्तश्रुतादयो नातुवर्तते । न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यापार इति । प्राज्ञ-
व्यापारत्वेन पारमार्थिकत्वानुमानं प्रत्यक्षेण बाधकप्रत्ययेन विरुध्यमानं नात्मानं लभत इति भावः । नन्यमोक्षयोगात्तरालिकं तृतीयमेव-

आनन्दगिरीयव्याख्या

मृत्वं सुप्तस्य चेतनत्वेन स्रष्टृत्वयोगादित्याशङ्क्याह—न तु प्रत्यक्षमिति । जाग्रतः नष्टृत्ववच्चदि सुप्तस्यापि तदिष्टं तर्हि सृष्टस्य
रथादेनं प्रबोधमात्रेण बाध्यता स्यादित्यर्थः । धर्माधर्मयोरेव निमित्तत्वात्कुतः सुप्तस्य निमित्तत्वेत्याशङ्क्य तत्कालित्वेन तत्कर्तृत्वेत्याह—
निमित्तत्वं चेति । इतश्च श्रुत्या स्वप्नसृष्टिर्वास्तवी नामीष्ट्याह—अपिचेति । हेत्वन्तरे स्फोरयति—जागरित इति । अत्रावात्मनः
स्वप्नश्रुतिष्वविवेचनाय स्वप्नोक्तित्वापि स्वप्ने सृष्टिचनं मुख्यमेवेत्याशङ्क्याह—तत्रेति । जागरिताद्विशेषादित्यर्थः । पूर्वापरालो-
चनायां श्रुतेरन्यपरत्वादसत्ये रथादीनां सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । यत् निर्मातारं ज्ञेयादि, तत्राह—एतेनेति । रथादि-
सृष्टिचनस्य भाक्त्योपपादनेनेति यावत् । परोक्तमनुमानमनूष्य हेत्वसिद्ध्या दूषयति—यदपीति । स्वयं विहृत्य पूर्वं देहं निश्चेष्टं
कृत्वा स्वयं निर्मायापूर्वं वासनामयं देहं संपाद्य स्वेन भासा स्वकीयबुद्धिबुद्ध्या स्वेन ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन चेत्यर्थः । न केवलं
बृहदारण्यके जीवस्य स्वापकर्तृत्वं श्रुतं किंतु गठकेऽपीत्याह—इहापीति । प्रकरणवानयशेषाभ्यां परमात्मा निर्मातृयुक्तमाशङ्क्य जीव-
भावमापन्नस्य परस्य स्वाविषया स्वप्नोपादानत्वं वा विना तद्भावं स्वाविषया तदधिष्ठातृत्वं चेति विकल्पाद्यमङ्गीकरोति—नचेति ।
द्वितीयमपि स्वीकरोति—तस्येति । तर्हि प्राज्ञकर्तृत्वहेतोः सिद्धेरनुमानमदुष्टमित्याशङ्क्य व्यावहारिकं पारमार्थिकं वा सत्यत्वं साध्य-
मिति विकल्पाद्यो बाधकं प्रत्यक्षविरोधमाह—पारमार्थिकस्त्विति । व्यवहारे बाधवैशेष्यमिह पारमार्थिकत्वम् । द्वितीये दृष्टान्तस्य साध्य-
विकल्पोक्त्याह—नचेति । वियदादिसर्गस्यासिद्धं मिथ्यात्वमिति कुतो दृष्टान्तस्य साध्यविकल्पात्, तत्राह—प्रतीति । कस्तर्हि स्वप्नस्य
मते विशेषो येनैतन्मिथ्यात्वं पृथगुच्यते, तत्राह—प्राक्स्त्विति । व्यवहारेऽपि स्वप्नस्य मिथ्यात्वं वक्तुं पृथगुक्तिरिति भावः ॥ ४ ॥

अर्थतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति । अस्ति चात्रोपमा यथा-
 श्रेर्देहनप्रकाशनसंपन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहितो भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य ।
 एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनारूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्य-
 तिरोभावः । वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काद्व्यावृत्त्यर्थः । नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु तिर-
 स्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया । नेत्युच्यते । न ह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'स्यं देव-
 तैक्ष्ण' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यात्मश-
 ब्देन जीवस्य परामर्शात् । 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।१।४) इति च जीवा-
 योपदिशतीश्वरात्मत्वम् । अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन्देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति ।
 अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्धटते । यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः
 स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत् । नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते । यत्पुनरुक्तं जागरितदेशश्रुतिः
 स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिप्रविरोधात् । श्रुत्यैव
 च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात् । जागरितप्रभववासनानिमित्तत्वाच्च स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भास-
 त्वाभिप्रायं तत् । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

तद्भावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥



नाडीपुरीतद्रक्षाणि विकल्पयन्ते सुषुप्तये ॥ समुच्चिन्तानि वैकार्याद्विकल्पयन्ते यथादिक् ॥ १ ॥

समुच्चिन्तानि नाडीभिरुपसृज्य पुरीतति ॥ हृत्स्थे ब्रह्मणि यालोक्ये विकल्पे स्वप्नोपेता ॥ २ ॥

स्वप्नवस्था परीक्षिता सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते । तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति । कचि-

रत्नप्रभाख्या

मेश्वरत्वमन्त्रीकृत्वावरणकल्पनातो वरमन्यत्वकल्पनेत्याशङ्कामुद्राव्य धृत्वा निरस्यति—नन्वित्यादिना । स्वप्नेऽप्यलोकादेः
 मन्त्रे जाग्रतीवात्मनः स्वप्नकाशत्वमस्फुटं स्यात्, प्रातिभासिकत्वेत्वालोकेन्द्रियाद्यसत्त्वेऽप्यर्थापरोक्ष्यमात्मज्योतिष एवेति
 स्फुटं सिध्यति । तस्माद्देशादिसाम्यवचनं स्वप्नस्य जाग्रत्तुल्यत्वानाभिप्रायमित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं बाह्यकरणोपरमे सति मनो-
 मनोहीयताविद्याविलासात्मकं स्वप्नमात्मनः साक्षिणः स्वयंज्योतिप्रार्थं विचार्य प्रतियोग्यनुयोगिभावसङ्गत्वा स्वप्नावस्थम-
 ल्यायामिकां सुषुप्तिं विचारयति—तद्भावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । तदेतत्स्वप्नं यथा स्यात् तथा । यत्र काले

भामतीव्याख्या

गदानमस्मिन् प्रथमसूत्रे । निगदव्याख्यातं चेतयोर्भाष्यमिति ॥ ५ ॥ ६ ॥ तद्भावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।
 हि नाडीपुरीतपरमात्मनो जीवस्य सुषुप्तावस्थायां स्थानत्वेन श्रूयन्ते । तत्र किमेषां स्थानानां विकल्प आहोस्विसमुच्चयः ।
 भ्रमो येथेवम् । एतदतो भवति । यदा नाड्यो वा पुरीतद्वा सुषुप्तस्थानं तदा विपरीतग्रहणनिवृत्तावपि जीवस्य परमात्मभाव
 नि । अविद्यानिवृत्तावपि जीवस्य परमात्मभावाय कारणान्तरमपेक्षितव्यं तच्च कर्मैव न तु तत्त्वज्ञानं विपरीतज्ञाननिवृत्तिमात्रेण
 स्योपयोगार्थं, विपरीतज्ञाननिवृत्तेश्च विनापि तत्त्वज्ञानं सुषुप्तावपि संभवत् । ततश्च कर्मणोपापवर्गो न ज्ञानेन । यथाहुः—

आनन्दगिरियव्याख्या

मि—सत्यमिति । द्वितीयं दूषयति—सोऽपीति । सूत्रे देहशब्देन रश्मिं यक्ष्मं च देहं गृहीत्वा व्याचष्टे—देहेति । वेदना-
 यन्ते मुखादयो गृह्यन्ते । आदिशब्देन तदेतदुपविधा । तद्वर्त्मकस्यैवान्यसंपर्कतिरस्कारे दृष्टान्तमाह—अस्तीति । अरणिशोऽग्निरस्ती-
 त्वेव सतिर्धर्मित्याशङ्क्याह—यथा वेति । दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । सूत्रे वाशब्दस्य पश्चान्तरयोर्तिवमाशङ्क्याह—
 एवमिति । तत्रान्यत्वाशङ्कां दर्शयति—नन्विति । तत्राशुचिं विज्ञापयति—नेतीति । इतश्च न वास्तवमन्यत्वमित्याह—
 नन्विति । अनन्यत्वे फलितमाह—अत इति । जीवस्य ज्ञानादितिरोभावेऽपि किं स्यात्, तत्राह—अतश्चेति । सांकल्पिकत्वे
 तत्राह—यदि चेति । तत्र हेतुः—नहीति । परोक्तमनूय निरस्यति—यदिति । स्वप्नेऽपि जागरवदर्थेन्द्रियसत्त्वे दृष्टिबे-
 दनतया साध्यं स्वयंज्योतिर्ज्ञानं सिध्येदित्याह—स्वयमिति । इतश्च न स्वप्नस्य सत्यत्वार्थमेव तद्वान्यमित्याह—श्रुत्येति । तर्हि
 नानिप्रायेणैवं साम्यमुक्तं, तत्राह—जागरितेति । स्वप्नस्य जागरितेन तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं साम्यवचनमिति शेषः । स्वप्नस्य
 स्वत्वसाधकाभावे मिथ्यात्वसाधके च फलितमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ६ ॥ बाह्यकरणोपरमे स्वप्नमात्मनः स्वयंज्योतिर्ज्ञानं
 प्रकल्पान्तःकरणोपरमं सुषुप्तं तस्य ब्रह्मत्वाय निरूपयति—तद्भाव इति । अधिकरणसंगतिमाह—स्वप्नेति । स्वप्नाभावस्य
 नियोगिस्वप्नाधीननिरूपणत्वाद्धेतुहेतुमत्त्वार्थः । विषयवाक्यानुदाहरति—तत्रेति । सुषुप्तिचिन्ताप्रस्तावः सप्तम्यर्थः । तच्च

कस्यते—‘तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) इति । अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—‘ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इति । तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य ‘तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ (कौषी० ४।१९) इति । तथान्यत्र ‘य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिच्छेते’ (बृ० २।१।१७) इति । तथान्यत्र ‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वप्नपीतो भवति’ (छा० ६।८।१) इति । ‘प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्’ (बृ० ४।३।२१) इति च । तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति । किं तावत्प्राप्तं भिन्ना नीति । कुतः—एकार्थत्वात् । नह्येकार्थानां कचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम् । नाड्यादीनां त्वेकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—नाडीषु सृप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) ‘पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात् । ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति’ (छा० ६।८।१) इति । नैष दोषः । तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषो हि तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पतीत्याह—‘अन्यत्रायतनम्-

रत्नप्रभाष्याख्या

सुप्तः सुषुप्तः समस्तो निरस्तबाह्यकरणो मनोलायात्सम्यक्प्रसन्न इत्यर्थः । स्वापे नाडीस्थानमुक्त्वा नाडीपुरीततर्जनीपरमात्म समुच्चयश्रुती आह—अन्यत्रेति । परमात्ममात्रश्रुतीराह—तथान्यत्रेत्यादिना । नाडीपुरीतद्वद्भासु सप्तमीश्रुतेः स यश्रुतेष्व संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे स्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मेक्यानिरणयः, सिद्धान्ते नाडीभिः पुरीतत्वं गत्वान्त ब्रह्माण्येव शेते इति समुच्यत् तन्निरणय इति विवेकः । एकपुरोडाशार्थत्वं व्रीहियवयोर्दृष्टं नाड्यादीनामेकस्मिन् स्वापे निरपेक्षस्थानत्वं तु कुत इत्यत आह—नाड्यादीनां चेति । सति ब्रह्मणि तृतीयाश्रुतेन सप्तमीति शङ्कार्थः । आयतनं द्वास्तप्तमर्थ्य आधारत्वं गम्यत इत्याह—नैष दोष इति । अन्यत्रावस्थाद्वये श्रान्तो जीवो विश्रान्तिस्थानं प्राणा

भामतीव्याख्या

‘कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादयः’ इति । अथ तु परमात्मेव नाडीपुरीतसृप्तिद्वारा सुषुप्तिस्थानं ततो विपरीतज्ञानं दृष्टेरस्ति मात्रया परमात्मभाव उपयोगः । तथा हि तावदेष जीवस्तदवस्थानो भवति केवलं । तत्त्वज्ञानाभावेन समूलकापमविद्य अकाषाज्जाग्रत्सप्रलक्षणं जीवस्य व्युत्थानं भवति । तस्मात्प्रयोजनवत्येषा विचारणेति । किं तावत्प्राप्तं, नाडीपुरीतपरमात्मानेपु सुषुप्तस्य जीवस्य निलयं प्रति विकल्पः । यथा बहुषु प्राप्तादेव्येको नेन्द्रः कदाचित्काचिन्मिलीयते कदाचित्काचिदेवं जीवः कदाचिन्नाडीषु कदाचित्पुरीतति कदाचिद्ब्रह्मणीति । यथा निरपेक्षा व्रीहियवाः क्रतुसाधनीभूतपुरोडाशप्रकृतितया श्रुता एक विकल्प्यन्ते, एवं सप्तमीश्रुत्या वायतनश्रुत्या वैकनिलयनार्थाः परस्परापेक्षा नाड्यादयोऽपि विकल्पमर्हन्ति । यत्रापि नाडी प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते इति नाडीपुरीततोः समुच्चयश्रवणं ‘तथा तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति । अथापि प्राण एवैकधा भवति’ इति नाडीब्रह्मणोराधारयोः समुच्चयश्रवणम् । प्राणशब्दं च ब्रह्म ‘अथास्मिन् प्राणे ब्रह्मणि स जीव एव भवति’ इति वचनात् । तथाप्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवतीति च पुरीतति शेते इति च निरपेक्षयोर्नाडीपुरीततोरधारत्वेन निर्दे निरपेक्षयोरेवाधारत्वम् । इयांस्तु विशेषः । कदाचिन्नाड्य एवाधारः कदाचिन्नाडीभिः संचरमाणस्य पुरीतदेव । एवं ताभिरेव स माणस्य कदाचिद्ब्रह्मेवाधार इति सिद्धमाधारत्वे नाडीपुरीतत्परमात्मनामनपेक्षत्वम् । तथाच विकल्पो व्रीहियववद्दृष्टधनन्तरवदेति प्राण एवं प्राप्तेऽभिधीयते—जीवः समुच्चयनैवैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति न विकल्पेन । अयमभिप्रायः—नित्यवदात्मतानां य

आनन्दगिरीव्याख्या

तास्ववस्थासु मध्ये सुषुप्तिरुच्यते । यस्यामवस्थायामेतत्स्वप्नं यथा स्यात्तथा सुप्तः । समस्तः संवृतसर्वबाह्येन्द्रियः । संप्रसन्नः तान्तःकरणश्चेत्यर्थः । नाडीपुरीततोः समुच्चयवाक्यं पठति—अन्यत्रेति । नाडीपरमात्मनोः चसमुच्चयवाक्यं दर्शयति—तथेति । परमात्ममात्रविषयाणि वाक्यन्तराण्याह—तथेति । नाडीपुरीतद्वद्भासु सप्तमीश्रुतेः समुच्चयोक्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । स्वापनिरूपणद्वारा ब्रह्माभिन्नत्वमर्थसिद्धेर्वाविचार्यधीसंभवात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे स्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मेक्यानियमः । सिद्धा नाडीपुरीतद्वारा ब्रह्मस्थानत्वनियमाज्जीवस्य ब्रह्मात्मत्वनियतिरित्यभिप्राय विमृश्य पूर्वपक्षयति—किमिति । नाडीपुरीतद्वद् विकल्पे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—कुत इति । एकार्थत्वेऽपि समुच्चये का क्षुतिः, तत्राह—नहीति । एकार्थत्वमेव नाड्यादिषु च तत्राह—नाड्यादीनां चेति । एकार्थता निरपेक्षस्वापाधारतेति यावत् । अस्मिन्प्राण एवैकधा भवतीत्यपि वाक्ये सप्तम्या चेदा रत्वं तर्हि सतत्तृतीयोक्तेर्नाधारतेति शङ्कते—नन्वेति । सप्तम्यभावेऽपि तदर्थसिद्धेराधारत्वं सतोऽपि स्यादित्याह—नैष इति । सत्यपि नाड्यादाविवेत्यर्थः । तस्य गम्यमानत्वमेव दर्शयति—वाक्येति । तत्र सता सोम्येत्यादाविति यावत् । प्राणसाधन-

लब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते' (छा० ६।८।२) इति प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात् । आ-
तनं च सप्तम्यर्थः । सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति स-
पद्यामहे इति' (छा० ६।९।२) । सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते ।
तस्मादेकार्थत्वाभावादीनां विकल्पेन कदाचित्किञ्चित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति । एवं प्राप्ते प्रति-
पाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति । तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्रदर्शनस्याभावः
सुषुप्तमित्यर्थः । नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति न विकल्पे-
नेत्यर्थः । कुतः—तच्छ्रुतेः । तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते
तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति । विकल्पे हेषां पक्षे बाधः स्यात् । नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्या-
दीनां ग्रीह्यवादिवदित्युक्तम् । नेत्युच्यते । न ह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चा-

रत्नप्रभाव्याख्या

गद्व्योपसर्पति सुषुप्तावित्यर्थः । सप्तमीश्रुत्या निरपेक्षाधारस्वभावानाद्विकल्प आस्थेयः । कदाचित्समुच्चित्वापि नाड्यादीनां
स्थानत्वमिति न समुच्चयश्रुतिविरोध इति पूर्वपक्षार्थः । सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । सूत्रे चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः ।
यदा नाड्यः सुषुप्तिस्थानं तदा पुरीतत्स्थानं न भवतीति श्रुतस्थानत्वस्य पक्षे बाधः स्यात्, स न युक्त इत्याह—विकल्पे
ह्येषामिति । ग्रीह्यवयोस्त्वगत्या विकल्प इति भावः । यत्तु सप्तमीश्रुत्या नाड्यादीनामेकफलकत्वमिति, तत्रेत्याह—
न ह्येकेति । प्रासादस्य पर्यङ्कधारणमर्थः । पर्यङ्कस्य तु शयनमिति फलभेदेऽप्येकविभक्तिर्दृश्यते, व्यवधानाव्यवधानाभ्यां

भामतीव्याख्या

येकत्र नाम तद्व्यन्तराभावे कल्पते । यथाहः—'एवमेवोऽष्टदोषोऽपि यद्ग्रीह्यवाक्ययोः । विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न
येत' इति । प्रकृतकतुसाधनीभूतपुरोडाशद्रव्यप्रकृतितया हि परस्परानपेक्षां ग्रीह्ययौ विहितौ शकृतश्चेतौ प्रत्येकं पुरोडा-
शमभिनिर्वर्तयितुम् । तत्र यदि मिश्रण्यां पुरोडाशोऽभिनिर्वर्त्येत परस्परानपेक्षग्रीह्यवविधातृणी उभे अपि शास्त्रे बाधेयाताम् । न
तौ प्रयोगवचनः समुच्चेतुमर्हति । स हि यथाविहितान्यमिभिसमीक्ष्य प्रवर्तमानो नेतान्यन्यथयितुं शक्नोति । मिश्रणे चान्य-
त्वंमेतत्पाम् । न चाङ्गानुरोधेन प्रधानाभ्यासो 'गोसवे उभे कुर्यात्' इतिवयुक्तः । अश्रुतो ह्यत्र प्रधानाभ्यासोऽङ्गानुरोधेन च
ोऽन्याय्यः । न चाङ्गमूर्तेन्द्रवायवादिग्रहातुरोधेन यथा प्रधानस्य सोमयागस्याङ्गनिरेवमप्यपीति युक्तम् । 'सोमेन यजेत' इति हि
शास्त्र्यागविधिः । तत्र च दशमुष्टिपरिमितस्य सोमद्रव्यस्य 'सोममभिपूणोति', 'सोममभिज्ञायति' इति च वाक्यान्तरानुलोच-
या स्मरणेन यागासाधनीभूतस्येन्द्रवाय्वाद्युद्देशेन प्रादेशमात्रेणैव पात्रेण ग्रहणानि पृथक्प्रकल्पनानि संस्कारा विधीयन्ते, नतु सोम-
मोद्देशेनैन्द्रवाय्वादयो देवताश्चोद्यन्ते, येन तासां यागनित्यपतिलक्षणैकार्थत्वेन विकल्पः स्यात् । नच प्रादेशमात्रमेकमूर्त्तपात्रं
मुष्टिपरिमितसोमसमग्रहाण्य कल्पते, येन तुल्यार्थतया ग्रहणानि विकल्पेन । नच यावन्मात्रमेकमूर्त्तपात्रं व्याप्नोति तावन्मात्रं
गोवा परिशिष्टं त्यजेतति युज्यते । दशमुष्टिपरिमितोपादानस्याष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । एवं तद्वृष्टार्थं भवेद्यपि तत्सर्वं याग उपपद्येत ।
च यं संभवत्यष्टकल्पना न्याय्या । तस्मात्सकलस्य सोमरसस्य यागशेषत्वेन संस्कारार्हत्वादेकैकेन च ग्रहणेन सकलस्य संस्क-
राशक्यत्वात्तदवयवस्यैकेन संस्कारेऽवयवान्तरस्य ग्रहणान्तरेण संस्कार इति कार्यभेदाद्ग्रहणानि समुच्चीयेत् । अत एव समुच्चय-

आनन्दगिरियव्याख्या

नन्वेतपि किं सतः स्यात्, तत्राह—प्राणेति । तथापि कथं सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वं, तत्राह—आयतनं चेति । सति सप्त-
मीनिर्देशस्यामत्त्वमुपेत्योक्तं तदपि नास्तीत्याह—सप्तमीति । विशेषज्ञानोपरमलक्षणस्वापस्य नाडीपुरीततोरयोगात्तयोने सुसिम्भानन्तेत्या-
शङ्कर शास्त्रप्रामाण्यमाश्रित्याह—सर्वत्रेति । नच जीवाधारत्वं नाड्यादेरयुक्तं बुद्ध्युपाधिकजीवाधारत्वाविरोधात् । नच विकल्पेऽप्य-
संवाधयुक्तः समुच्चयस्तत्रापि प्रत्येकं सप्तमीश्रुतिसिद्धनिरपेक्षाधारत्वस्यात्यन्तबाधात् । ताभिः प्रत्यवसृज्येत्यादौ तु कदाचिन्नाड्य-
संवाधयुक्तः समुच्चयस्तत्रापि पुरीतदेव कदाचित्ताभिरेव संचरतो ब्रह्मनाधार इति युक्तमन्यथा निरपेक्षाधारत्वश्रुतिविरोधादिति मत्त्वोप-
संहति—तस्यादिति । विकल्पे जीवस्य ब्रह्मेक्यमनियतमिति फलितं वक्तुमिति शब्दः । पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तमाह—एवमिति । प्र-
तिज्ञां विभजते—तदित्यादिना । चकारेण पुरीतदुक्तिं गृहीत्वाह—समुच्चयेनेति । समुच्चये सिद्धान्तं प्रथमपूर्वकं हेतुमुक्त्वा व्याचष्ट—
इत इत्यादिना । नाड्यादीनां सुसिम्भानन्तत्वादिर्विकल्पेऽपि स्यादित्याशङ्क्याह—विकल्पे इति । तेषामन्यतमस्य सुसिम्भानन्तत्वे
नान्यतमस्य तदिति पक्षे बाधः स चायुक्तो बाधस्यागतिकगतिवादित्यर्थः । परेकं विकल्पहेतुमनुवदति—नन्विति । दृष्टान्तदार्ढ्या-
निकर्षोऽर्थमन्याह—नेतीति । प्रकृतदशोदिसाधनीभूतपुरोडाशप्रकृतितया ग्रीह्ययौ श्रुतौ, समर्थौ च निरपेक्षतया पुरोडाशं कर्तुं
शक्नोतिपक्षायामनपेक्षसाधनत्वाथंश्रुतिबाधादनन्यगतित्वेन विकल्पाश्रयणम् । नाड्यादीनां तु न प्रत्येकं स्वापसाधनं शक्तिरिति वक्ष्यते,
नापि मानमिति भावः । यस्वेकार्थत्वं तर्हि मानान्तरसिद्धं किंवा सप्तमीसिद्धम् । नापः । तदनुपलम्भात् । न द्वितीय इत्याह—
वरीति । प्रामादस्य पर्यङ्कधारणार्थत्वं पर्यङ्कस्य शयनार्थत्वेति नानार्थत्वेऽप्येकविभक्तिनिर्देशः । व्यवधानाव्यवधानाभ्यां च शयनसा-

पतति । नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्येवमादिषु । तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः । तथाच श्रुतिः—‘तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ (कौषी० ४।१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात् । प्राणस्य च ब्रह्मत्वं सप्रधिगतम्—‘प्राणस्तथानुगमात्’ (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र । यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—‘आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) इति । तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते । नचैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सुप्त एव नाडीषु भवति । यो हि गङ्गाया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति । अपिचात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृष्टिसंकीर्तनम् । ‘नाडीषु सुप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा ‘तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति’ (छा० ८।६।३) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति । ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—‘तेजसा हि तदा संपन्नो भवति’ (छा० ८।६।३) इति । तेजसा नाडीगतेन पिच्छाख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः । अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—‘ब्रह्मैव तेज एव’ (बृ० ४।४।७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् । ब्रह्मणा

रत्नप्रभाख्याख्या

शयनसाधनत्वात् समुच्चयश्च, तथेहापि नाडीपुरीततोर्जावस्य संचारद्वारा ब्रह्मण्येव सुप्तिरिति समुच्चय इत्यर्थः । नाडीनां प्राण च एकेन वाक्येनोपादानान्मिथः समुच्चय इत्याह—एकवाक्येति । आधारत्वमात्रं सप्तम्यर्थो न निरपेक्षत्वमतो न रच्यस्य सप्तम्या बाध इत्याह—न चैवमपीति । समुच्चयेऽपीत्यर्थः । अत्र नाडीश्रुतौ नाडीषु भोक्तुः सुप्तिर्न विवक्षितसंबन्धनाडीरूपमार्गलुत्यर्थत्वादित्याह—अपिचेति । पित्तेन विषयेक्षणभावे सुखदुःखयोरभावात् तद्वेतुधर्माधर्मात्

भामतीव्याख्या

दर्शनं ‘दर्शतानन्वयः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति’ इति । समुच्चये च सति क्रमोऽप्युपपद्यते । ‘आश्विनो दशमो गृह्यते वर्षं हूयते’ । तथैव ‘ऐन्द्रवायवाग्रान्ग्रहान् गृह्णाति’ इति । तेषां च समुच्चये सति यावद्यद्वेष्टेन गृहीतं तावत्संज्ञे देवतायै त्यक्तव्यमिधोवागस्यावृत्त्या भवितव्यम् । यदि पुनः पृथक्तान्यप्येकीकृत्य कांचन देवतामुद्दिश्य त्यजेत्, पृथक्करणानि च देवतोद्देशाद्यर्था भवेयुः । नच दृष्टे संभवत्यष्टकल्पना न्याय्येत्युक्तम् । तस्मात्तत्र समुच्चयस्यावश्यं भावित्वाद्गुणानुरोधेनापि प्रशान्ता आस्थीयते । इह तन्म्यासकल्पनाप्रमाणाभावात्पुरोडाशद्रव्यस्य चानियमेन प्रकृतिद्रव्ये यस्मिन्कस्मिंश्चित्प्राप्ति एकैका परस्परानुरोधादश्रुतियैवश्रुतिश्च नियामिकैर्कार्यतया विकल्पमर्हते । न तु नाडीपुरीतत्परमात्मनामन्योन्यान्पेक्षाणामिकनिलयनार्थसंभवे विकल्पो भवेत् । नह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थता भवति समुच्चितानामप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात् पर्यङ्के शेते प्रासादे शेते इति तस्मादेकविभक्तिनिर्देशस्यार्थकान्तिकत्वादयतो विनिगमना वक्तव्या । सा चोक्ता भाष्यकृता—यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीसुप्तिस्थानत्वेन श्रावयतीत्यादिना । सापेक्षश्रुत्यनुरोधेन निरपेक्षश्रुतिर्नैतव्येत्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् । ननु यदि ब्रनिलयनस्थानं तावन्मात्रमुच्यतां कृतं नाड्युपन्यासेनेत्यत आह—अपिचात्रेति । अपिचेति समुच्चये न विकल्पः । एवमपि संहिता पूर्वोपपत्तिरर्थसाधिनीति । मार्गोपदेशोपयुक्तानां नाडीनां स्तुत्यर्थमत्र नाडीसंकीर्तनमित्यर्थः । पित्तेनाभिव्याप्तक न बाह्यान्विषयान्देहेति तद्वारा सुखदुःखाभावेन तत्कारणपाप्मास्पृशेन नाडीस्तुतिः । यदा तु तेजो ब्रह्म तदा सुगमम् । अ

आनन्दगिरिव्याख्या

धनत्वसमुच्चयः । तद्वदमुप श्रुतिष्वपि नाड्यादिषु सप्तमीसमुच्चयश्चेत्याह—तथेति । अनेकश्रुतिसामर्थ्यालोचनया समुच्चयस्य तत्रैव श्रुतिमाह—तथाचेति । उक्तश्रुतेस्तात्पर्यमाह—समुच्चयमिति । तत्र हेतुः—एकेति । नाडीनां प्राणस्य चैकन वा नोपादानान्मिथः समुच्चय इत्यर्थः । प्राणस्य नाडीसमुच्चयेऽपि ब्रह्मणस्ताभिः समुच्चये किं जातं, तत्राह—प्राणस्येति । सुप्तश्रुत्यन्तरे नैरपेक्षयोरिति विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—यत्रेति । नाडीनां द्वारत्वे कथमधिकरणश्रुतिः, तत्राह—नचेति । नाड्यादौ सप्तसामीप्यमर्थमादाय ब्रह्मण्यधिकरणात्थत्वेऽपि न तद्विरोधोऽस्तीत्यर्थः । विरोधाभावं साधयति—नाडीभिरिति । तदेव दृष्टानं स्पष्टयति—यो हीति । इतश्च ब्रह्मैकं स्वापिधिकरणमित्याह—अपिचेति । तर्हि नाडीषु सुप्तिं संकीर्तनमनर्थकमित्याशङ्क्य हेतुस्त्वमेव स्फोरयति—अत्रेति । नाडीप्रकरणं सप्तम्यर्थः । मार्गोपदेशोपयुक्तानां नाडीनां स्तुत्यर्थं सुप्तिं संकीर्तनमित्यत्र गमकमाह—नाडीष्विति । तासु सुप्तस्य पाप्मास्पृशे को हेतुः, तत्राह—ब्रवीतीति । हेतुं विभजत—तेजसेति । विषयदर्शनाभावे तदुत्पद्यभावात्तद्वेतुधर्माधनानां योमात्पाप्मभिरस्पृशे इति शेषः । हेतुवाक्यं विधान्तरेण व्याकरोति—अथवेति । ब्रह्मसंपत्तावपि ।

हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः । ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पृ-
शाभावे हेतुः समधिगतः—‘सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः’ (छा०
८।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो ना-
डीनां समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव
सुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—‘य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते’ (बृ० २।१।१७) इति हृदया-
काशे सुप्तिस्थाने प्रकृत इदमुच्यते ‘पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इति । पुरीतदिति हृदय-
परिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेते इति वक्तुम् ।
प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तत इत्युच्यते । हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधि-
गतम्—‘दहर उत्तरेभ्यः’ (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र । तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि—‘ताभिः
प्रत्यवसृष्य पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते । सत्प्राज्ञयोश्च
प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम् । एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येष सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि नाड्यः पुरीतब्रह्म
चेति । तत्रापि द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतश्च ब्रह्मैव त्वेकं सुषुप्तिस्थानम् । अपिच नाड्यः पुरीतश्च
जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति । नह्युपाधिसंबन्धमन्तरेण स्वत एव
जीवस्याधारः कश्चित्संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात् । ब्रह्माधारत्वमप्यस्य
सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते कथं तर्हि तादात्म्याभिप्रायेण । यत आह—‘सता
सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति’ (छा० ६।८।१) इति । स्वशब्देनात्माभिलष्यते

रत्नप्रभाख्या

पाप्मास्पर्श इत्यर्थः । अपहतपाप्मब्रह्मसंपत्त्या वा पाप्मास्पर्श इत्याह—अथवेति । अस्मिन् व्याख्याने लाभमाह—एवं च
सतीति । ‘तासु तदा भवत्यथास्मिन् प्राण एवैकया भवति’ इति ध्रुतेः समुच्चय आश्रितो भवतीत्यर्थः । नाडीब्रह्मणोर्गु-
णप्रधानभावेन सुप्तौ समुच्चयवपुरीतब्रह्मणोरपीत्याह—तथेत्यादिना । आकाशे ब्रह्मणि शेते इत्युपक्रम्य ताभिः प्रत्य-
वसृष्य पुरीतति शेते इत्युक्तं, तथाच नाडीद्वारा पुरीततं गत्वा ब्रह्मणि शेते इति समुच्चयः सिद्ध इत्याह—तथा नाडीति ।
सता संपन्नो भवति प्राज्ञेन संपरिष्वक्त इति सत्प्राज्ञयोः ध्रुतेः पञ्च सुप्तिस्थानानीत्यत आह—सत्प्राज्ञयोरिति । किञ्च
प्रकृतदर्शादिसाधनैकपुरोडाशनिष्पत्तौ मिथोऽनपेक्षतया समर्थत्वाद्युक्तो ग्रीहियवयोर्विकल्पः, नाड्यादीनां तु ब्रह्मनिरपेक्षतया
सुषुप्तजीवाधारत्वासामर्थ्यान् विकल्प इत्याह—अपिच नाड्य इति । उपाधिलिङ्गाश्रयनाडीपुरीततोरुपहितजीवा-
श्रयत्व परम्परया वाच्यं, तदपि सुषुप्तौ न संभवति, उपाधिलयादित्यर्थः । ननु ब्रह्मापि जीवस्य न मुख्यं स्थानं अभेदादित्यत
आह—ब्रह्माधारत्वमिति । जीवस्य ब्रह्मण्यभेदेनावस्थानं नाडीपुरीततोस्तु लीनोपाधेर्जीवस्य स्थितिरेव न संभवतीत्येका-

भामतीव्याख्या

नाड्यः पुरीतश्च जीवस्योपाध्याधार एव भवतीति । अयमर्थः—अभ्युपेत्य जीवस्याधेयत्वमिदमुक्तम् । परमार्थतस्तु न
जीवस्याधेयत्वमस्ति । तथाहि—नाड्यः पुरीतश्च जीवस्योपाधीनां करणानामाश्रयो जीवस्तु ब्रह्माव्यतिरेकात्स्वमहिमप्रतिष्ठः । न चापि
ब्रह्म जीवस्याधारः, तादात्म्यात् । विकल्प्य तु व्यतिरेकं ब्रह्मण आधारत्वमुच्यते जीवं प्रति । तथाच सुषुप्तावस्थायामुपाधीनामसमुदाचारा-
जीवस्य ब्रह्मात्मत्वंमेव ब्रह्माधारत्वं न तु नाडीपुरीतदाधारत्वम् । तदुपाधिकरणमात्राधारतया तु सुषुप्तदशरम्भाय जीवस्य नाडीपुरीतदा-

आनन्दगिरियव्याख्या

पाप्मास्पर्शः, तत्राह—ब्रह्मेति । कतरव्याख्यानमादेयं द्वितीयमित्याह—एवं चेति । नाडीनां ब्रह्मप्राप्तिद्वारत्वे सतीति यावत् ।
नाडीद्वारा ब्रह्मणः स्वापस्यानत्वे कश्चित्ताभिः प्रत्यवसृष्य पुरीतति शेते इति पुरीतदुक्तिश्चेत्याशङ्क्य पुरीतब्रह्मणोरपि गुणप्रधानत्वेन
समुच्चयमाह—तथेति । उक्तमेव विवृणोति—य इति । आकाशे शेते, चेत्पुरीतति कथं शेते, तत्राह—तदिति । तदेव
इष्टानेन स्पष्टयति—प्राकारेति । पुरीतशकाशरसमुच्चयेऽपि कथं पुरीतब्रह्मणोः समुच्चयः, तत्राह—हृदयेति । नाडीब्रह्मणोरिव
पुरीतब्रह्मणोरपि समुच्चयमुक्त्वा नाडीपुरीततोः समुच्चयमाह—तथेति । सत्प्राज्ञयोरपि सुप्तिस्थानत्वेत्वेत्युपाध्यायमेव कथं समुच्चयो-
क्तिरित्याशङ्क्याह—सदिति । समुच्चयपक्षसुपसंहरति—एवमिति । तेष्ववान्तरेविभागमाह—तत्रेति । नाडीपुरीततोर्द्वारत्वे
हेतुनरमाह—अपिचेति । तयोरोपाध्याधारत्वमपि कथं, तत्राह—तत्रेति । नाडीपु पुरीतति च जीवस्योपाध्यन्तर्भूतानि करणानि
कर्मणि तिष्ठन्तीत्युपाध्याधारत्वं तयोक्तम् । जीवस्य त्वाधारो ब्रह्मैवेत्यर्थः । किमिति तयोः साक्षादेव जीवाधारत्वं नष्टं, तत्राह—
नह्येति । तर्हि ब्रह्मणोऽपि कुतो जीवाधारत्वमेक्यादित्याशङ्क्याह—ब्रह्मेति । तादात्म्याभिप्रायेण स्वापि जीवस्य ब्रह्माधारत्वोक्ति-
रित्यत्र लिङ्गमाह—यत इति । स्वशब्दस्य स्वकीयार्थत्वाच्च तस्य न्यमत्र भातीत्याशङ्क्य पदार्थोक्त्या वाक्यार्थमाह—स्वेति । जीवस्य

स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः । अपिच न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति स्वरूपस्या-
नपायित्वात् । स्वप्नजागरितयोस्तुपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्तेः
स्वरूपापत्तिर्वक्ष्यते । अतश्च सुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न संपद्यत इत्ययुक्तम् ।
अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न कचिद्विशिष्यते ।
तत्र सति संपन्नस्तावत्तदेकत्वाच्च विज्ञानातीति युक्तम् 'तत्केन कं विज्ञानीयात्' (वृ० २।४।१४)
इति श्रुतेः । नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेदविषय-
त्वात् 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (वृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः । ननु भेदविषय-
स्याप्यतिदूरादिकारणमविज्ञाने स्यात् । बाढम् । एवं स्याद्यदि जीवः स्वतःपरिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत
यथा विष्णुमित्रः प्रवासी खगृहं न पश्यति । न तु जीवस्योपाधिद्वयतिरेकेण परिच्छेदो वि-
द्यते । उपाधिगतमेवातिदूरादिकारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्स्वलेव
संपन्नो न विज्ञानातीति युक्तम् । नच वयमिह तुल्यवक्ष्णाद्व्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः । नहि

रत्नप्रभाख्याख्या

र्थसामर्थ्याभावाच्च विकल्प इत्यर्थः । सुषुप्तौ जीवस्य भेदकोपाधिलयाचौत्सर्गिकब्रह्माभेदस्य विकल्पो न युक्त इत्याह-
अपिचेति । किंच नाज्यादीनामन्यतमस्थाने कचित्सुप्तिवादिनापि सुषुप्तं न विशिष्यत इति वक्तव्यं, तच्च वक्तुं न शक्यं
इत्याह—अपिच स्थानेति । भेदाभावो हि भेदज्ञानाभावे हेतुः, नाडीपुरीततत्रतस्य तु जीवस्य भेदावस्थात्वाद्भेदाविज्ञानं
कारणं नास्तीत्यर्थः । द्वैतावस्थस्यापि द्वैताज्ञाने हेतुं शङ्कते—ननु भेदेति । द्रष्टृदृश्यदूरस्थत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा । तत्रा
सदृष्टान्तमनूय प्रत्याह—बाढमित्यादिना । द्वितीयमनूय दूषयति—उपाधिगतमेवेति । उपाधिसंभिन्नस्यैव नाज्या

भामतीव्याख्या

धारत्वमित्युत्पत्तिर्यथा न विकल्प इति । अपिच न कदाचिज्जीवस्येति । औत्सर्गिकं ब्रह्मस्वरूपत्वं जीवस्यासति जाग्रत-
प्रदशारूपेऽपवादे सुषुप्तावस्थायां नान्यथयितुं शक्यमित्यर्थः । अपिच येऽपि स्थानविकल्पमास्थिपत तैरपि विशेषविज्ञानोपशम-
क्षणा सुषुप्त्यवस्थाङ्गीकर्तव्या । न चैयमात्मतादात्म्यं विना नाज्यादिषु परमात्मव्यतिरिक्तेषु स्थानेषूपपद्यते । तत्र हि स्थितो-
जीव आत्मव्यतिरिक्ताभिमानी सन्नवश्यं विशेषज्ञानवान् भवेत् । तथाहि श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इति
आत्मस्थानत्वे त्वदोषः । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येद्विज्ञानीयात्' इति श्रुतेः । तस्मादप्युपाधेरुपशान्तत्वात् द्वारं नाज्य-
दीत्याह—अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपीति । अत्र चोदयति—ननु भेदविषयस्यापीति । भिद्यत इ-
भेदः । भिद्यमानस्यापि विषयस्येत्यर्थः । परिहरति—बाढमेवं स्यादिति । न तावज्जीवस्यास्ति स्वतःपरिच्छेदस्तस्य ब्रह्मात्मने
विमुक्त्वात् । औपाधिकं तु परिच्छेदे यत्रोपाधिरसंनिहितस्तन्मात्रं न जानीयाच्च तु सर्वम् । नह्यसंनिधानात्सुप्तेरुपपत्तिर्न देवदत्त-
संनिहितमपि न वेद । तस्मात्सर्वविशेषविज्ञानप्रत्यस्तमर्थी सुषुप्तिं प्रसाधयता तदास्य सर्वोपाधिरुपसंहारो वक्तव्यः । तथाच हि
रूपस्य तदा ब्रह्मात्मत्वमित्यर्थः । गुणप्रधानभावेन समुच्चयो न समप्रधानतयाभेदादिवदिति वदन्विकल्पमप्यपाकरोति—न
वयमिहेति । स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितपुरुषार्थत्वस्य वेदराशेरेकेनापि वर्णनं नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तम् । नच सुषुप्तावस्था

आनन्दगिर्यव्याख्या

ब्रह्मैक्यमेव नाडीपुरीततोस्तु तदुपाध्याधारतया तदाधारतैस्तुल्यार्थत्वाच्च विकल्पोऽस्तीत्युक्तम् । इदानीं विकल्पायोगे हेत्वन्तरमाह—
अपिचेति । जीवस्य चेदौत्सर्गिकं ब्रह्मत्वं तर्हि किमिति स्वापे तस्य तद्रूपत्वमुच्यते, तत्राह—स्वमेति । सुषुप्तेरपवादभावाज्जीवस्य
ब्रह्मतादात्म्ये फलितमाह—अतश्चेति । इतश्च विकल्पासिद्धिरित्याह—अपिचेति । हेत्वन्तरमेव स्फोरयन्विकल्पवदिनोऽपि संमतम्
र्थमाह—स्थानेति । कचिदिति नाडीपुरीतब्रह्मणामन्यतमोक्तिः । अन्यथा सुप्तिभङ्गो जागरादिवदिति भावः । स्वापस्यैवंरूपनेर्द-
विकल्पे कानुपपत्तिः, तत्राह—तत्रेति । एकत्वमद्वैतावस्थात्वम् । सति संपन्नस्य विशेषज्ञानाभावे मानमाह—तदिति । अत्रसि
ष्टेऽपि स्थानद्वये यथोक्तं सुषुप्तं युक्तमेवेत्याशङ्क्याह—नाडीप्विति । नाज्यादिगोचरस्य सुप्तो द्वैतावस्थत्वाद्विशेषज्ञाने नास्ति हेतु-
रित्यर्थः । द्वैतावस्थस्य विशेषज्ञाननियमे मानमाह—यत्रेति । तस्यापि विशेषज्ञाने हेतुं शङ्कते—नन्वेति । भिद्यत इति भेद-
भिद्यमानस्य विषयस्यापीत्यर्थः । जीवस्यातिदूरत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा । तत्रार्थं दूषयति—बाढमिति । स्वाभाविकमपि दूर-
त्वज्ञाने हेतुरित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । अस्तु प्रस्तुतेऽपि तादृगतिदूरत्वमज्ञानहेतुर्मेत्याह—न र्विति । द्वितीयमनुवदति—
उपाधीति । तर्हि विकल्पासिद्धिरित्याह—तथापीति । सुप्तिदशायामुपाधिपरिच्छेदाङ्गीकारे च कतिपयसंनिहितार्थज्ञानप्रसङ्गादपे-
षविशेषज्ञानशून्यतायै निरुपाधितया जीवस्य ब्रह्मरूपेणावस्थानमास्थेयमित्यर्थः । उपाधीनामुपशमेष कथं नाज्यादिसमुच्चयोक्तिः, तत्राह—
नचेति । इहेति स्वापस्थानमुक्तम् । गुणप्रधानत्वेन समुच्चयोक्तिरित्यर्थः । किंच नाज्यादीनां स्वापस्थानत्वोक्तैरफलत्वाच्च समुच्चयो-
विकल्पो वेत्याह—नहीति । कथमस्याफलत्वमित्याशङ्क्य स्वातन्त्र्येण वा फलवदङ्गत्वेन वा फलवत्त्वमिति विकल्पार्थं प्रत्याह—

नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतद्वैत्यनेन विज्ञानेन किञ्चित्प्रयोजनमस्ति । न ह्येतद्विज्ञानप्रतिषेधं किञ्चित्फलं श्रूयते । नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुपदिश्यते । ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः । तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्रजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च । तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यस्मादात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—‘कुत एतदागात्’ (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे ‘यथाग्नेः शुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः’ (बृ० २।१।२०) इत्यादिना । ‘सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे’ (छा० ६।१।०२) इति च । विकल्पमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥



यः कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा ॥ उदबिन्दुरिवाशर्कनियन्तुं कोऽपि बुध्यते ॥ १ ॥

कर्माविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः ॥ स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भावात् ॥ २ ॥

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव प्रतिबुध्यत उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते । तत्र प्राप्तं तावदनियम इति । कुतः—यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः

रत्नप्रभाख्या

क्षणे कतिपयसंनिष्ठार्थज्ञानप्रसङ्गात् सुषुप्तिव्याघातः स्यात् । उपाधिलये त्वन्यत्र जीवस्य स्थित्ययोगाद्ब्रह्मण्येव स्वाप आस्थेय इत्यर्थः । एवं विकल्पं निरस्य नाडीपुरीततोब्रह्मणा सह तुल्यवत्समुच्चयफलत्वेन दृश्यन् गुणप्रधानत्वेन समुच्चय-मुपसंहरति—नच वयमित्यादिना ॥ ७ ॥ किञ्च ब्रह्मणः सकाशाज्जीवस्योत्थानश्रुतेर्ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानमित्याह सूत्रकारः—अतः प्रबोध इति । नाडीपुरीततोः क्वाप्युत्थानापादानत्वावधारणात् सुप्तिस्थानत्वमित्यर्थः, तस्मादुपाधिलये जीवस्य ब्रह्माभेदादौपाधिक एव भेद इति विवेकाद्वाक्यार्थभेदसिद्धिरिति स्थितम् ॥ ८ ॥ स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । सुषुप्ते उपाधिनाशात् कर्मानुस्मृत्यादेर्दर्शनाच्च संशये सत्यस्माद्ब्रह्मणो जीवस्योत्थानश्रुतेर्ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानमित्युक्तमुक्तम् । मुमादन्यस्यायुत्थानसंभवेन सुषुप्तस्य नाड्यादिस्थानत्वसंभवादित्याक्षेपसंगत्या नियामकाभावादित्येवमिति पूर्वपक्षमाह—तस्याः पुनरित्यादिना । पूर्वपक्षे ज्ञानवैयर्थ्यं सुषुप्तेर्वापुनरावृत्तिरूपमुक्तिसिद्धेः, सिद्धान्ते तु अज्ञातब्रह्मात्मना स्थितस्याज्ञानवलेन

भामतीव्याख्या

जीवस्य स्वरूपेण नाड्यादिस्थानत्वप्रतिपादने किञ्चित्प्रयोजनं ब्रह्मभूयप्रतिपादने त्वस्ति । तस्मान्न समप्रधानभावेन समुच्चयो नापि विकल्प इति भावः । नीतार्थमन्यत् ॥ ७ ॥ ८ ॥ स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । यद्यपीश्वरादिभिर्भो जीव-

आनन्दगिरीयव्याख्या

नहीति । द्वितीयं दृश्यति—नापीति । विकल्पसमुच्चयोरप्रतिषाधत्वे किमत्र प्रतिपाद्यं, तदाह—ब्रह्म प्विति । तद्विज्ञानंऽपि तुल्यफलत्वमित्याशङ्क्याधिकरणत्वज्ञानस्य प्रयोजनमाह—तेनेति । ब्रह्म स्वापस्थानमिति ज्ञानस्य फलवत्त्वं फलत्वमाह—तस्मादिति ॥ ७ ॥ ब्रह्मण एव प्रबोधोपादानत्वोक्तेरपि तदेव सुप्तिस्थानमित्याह—अत इति । एवं व्यानृते—यस्मादिति । विकल्पेऽपि तदपादानत्वोक्तिर्ब्रह्मणो षट्स्थिते नेत्याह—विकल्पमानेप्विति । नच नाडीपुरीततोऽस्थानापादानत्वं कदाचिदपि स्थिते ब्रह्मण एव तु तद्वचने फलितमुपसंहरति—तस्मादपीति । एवमात्मनो ब्रह्मात्मत्वं सिद्धमित्यविकारार्थमुपसंहरति—मितीति—पुनर्यत् ॥ ८ ॥ अतः प्रबोधोऽस्मादिति स्वापानन्तरं ब्रह्मणः सकाशात्प्रबोधोक्तेस्तदात्मनैव मुक्तसिद्धीत्युक्तम् । इदानीं तस्मात्प्रबोधस्येवमिति गमयति मुमादन्यस्य प्रबोधसंभवेन तस्य नाड्यादिज्ञानत्वसंभवादित्याशङ्क्याह—स एवेति । स्वापस्थानाद्ब्रह्मणः प्रतिबुध्यमानं जीवमधिकलोपाधिनाशात्कर्मानुस्मृत्यादिदर्शनाच्च संशयमाह—तस्या इति । तस्यैवोत्थानोक्त्या स्वापानिरकामाधनं स्वमध्यस्थानात्तस्य ब्रह्मैक्ययोग्यतया वाक्यीयज्ञानोपयोगितेति पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे ज्ञानवैयर्थ्यं सिद्धान्ते तस्यैवोत्थानात्तदब्रह्मात्मना नृमस्यावस्थानात्तद्वैयर्थ्यानादेव मुक्तेस्तदर्थवत्त्वनित्यतिरिक्त्यभिप्रेत्य नियामकानुपलब्ध्या पूर्वपक्षयति—तत्रेति । नियमसंभवं नानियमोक्तमिति शङ्कते—कुत इति । नियमायोगं दृष्टान्तेन साधयति—यदेति । जलविन्दोः सावयवत्वादवयवप्रत्ययप्रणालिर्दिकैर्यत्कल्पमात्रस्य तस्यैव नोद्धरणम् । जीवस्य तु सोपाधित्वादुपाधेः द्वन्द्वभाक्तिवादुद्धारमिदिरित्याशङ्क्योपाधिन्याभावे सत्यमप्यसिद्धिर्मे-

प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम् । तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः संप्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति । तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इत्येवं प्राप्त इदमाह—स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः । कस्मात् । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि । कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति नान्यः । तथाहि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्द्दृश्यते । न चान्येन सामिक्तस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति । अतिप्रसङ्गात् । तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते । इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते । न ह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति । सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते । शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथाहि—‘पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव’ (बृ० ४।३।१६) ‘सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति’ (छा० ८।३।२) ‘त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यङ्गवन्ति तदाभवन्ति’ (छा० ६।९।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधोपाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः । कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते । अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः । अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्याद्वद् किं कालान्त-

रक्तप्रभाख्या

पुनस्तस्यैवोत्थानावश्यंभावादज्ञाननाशाय ज्ञानापेक्षेति फलम् । ईश्वरो वेत्यनियमदार्ढ्यायोक्तम् । स वान्यो वेत्येव पूर्वपक्षः ज्ञानं विना बुद्ध्याद्युपाधेरत्यन्तनाशाभावाद्यया बुद्ध्योपहितो जीवः सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्तस्यैव नानाकर्मानुभवसंस्कारवत् पठित उत्तिष्ठतीति सिद्धान्तयति—स एव त्वित्यादिना । सामिक्ततस्याद्वैकृतस्य एकस्यैव ज्योतिष्टोमादेरनेकयजमनकत्वापातोऽतिप्रसङ्गः । स्मृतिमुक्तानुशब्दसूचितां प्रत्यभिज्ञामाह—सोऽहमिति । अयनं गमनं आयः । योनिः तत्तन्निद्रियस्थानम् । प्रतिनियतं गमनं यथा भवति तथा प्रतियोन्यागच्छति जागरणायेति श्रुत्यर्थः । न विन्दतीत्यज्ञानसत्त्वात्सुप्तस्योत्थाननियम उक्तः । इह पूर्वप्रबोधे ये भवन्ति त एव तदोत्तरप्रबोधे भवन्तीत्यर्थः । विधिं व्याचष्टे—कर्मैति ।

भामतीव्याख्या

स्तथाप्युपाध्यवच्छेदेन भेदं विवक्षित्वाधिकरणान्तरारम्भः । स एवेति दुःसंपादमिति । स वान्यो वेति ईश्वरो वेति स भवमात्रेणो न्यासः । नहि तस्य शुद्धमुक्तस्वभावस्याविद्याकृतव्युत्थानसंभवः । अत एव विमर्शोत्प्रेरकस्यानुपपत्त्यासः । यद्धि अहादिर्वर्तनीयमेकस्य पुंसश्चोदितं कर्म तस्य पूर्वेद्युरनुष्ठितस्यास्ति स्मृतिरिति वक्तव्येऽन्यः प्रत्यभिज्ञानसूचनार्थः । अत एव सोऽहमस्म्येत्युक्तम् । पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवतीति । अयनं आयः नियमेन गमनं न्यायः । जीवः प्रतिन्यायं सप्तसां सुषुप्तावस्थायां बुद्धान्तायाद्रवति आगच्छति प्रतियोनि । योहि व्याघ्रयोनिः सुषुप्तो बुद्धान्तमागच्छन् स व्याघ्र एव भवति जात्यन्तरम् । तदिदमुक्तम्—त इह व्याघ्रो वा सिंहो वेति । अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेदिति । यो हि जीवः सुप्त

आनन्दगिरियव्याख्या

वमिति मत्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । नियामकायोगे फलितमाह—तस्मादिति । संभावनामात्रेणेश्वरो वेत्युक्तम् । अनियमपक्षे मोक्षः सुप्तस्थेति ज्ञानवैयर्थ्यमिति वक्तुमिति शब्दः । पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तप्रतिज्ञामाह—एवमिति । ऐक्यावस्थायामवच्छेदाभावे तस्यैवोत्थानं नियन्तुमाशक्यमिति शङ्कते—कस्मादिति । अवच्छेदकाविद्याशक्तिं सिद्धवत्कृत्य तस्यैवोत्थाने मानमाह—कर्मैति । पञ्चागानामिव समुचितानामिह न हेतुत्वं किंतु प्रत्येकमिलाह—विभज्येति । तत्र कर्मशब्दोक्तं हेतुं विशदयति—कर्मैति । शेषानुष्ठानदर्शनमेव प्रकटयति—तथाहीति । कथमेतावता तस्यैवोत्थानमित्याशङ्क्योक्तम्—नचेति । सामिक्ततस्याहं मनुष्ठितस्येति यावत् । एकस्यैव ज्योतिष्टोमादेरनेकयजमानकत्वापातादित्याह—अतिप्रसङ्गादिति । उक्तहेतुफलमुपमंहरति—तस्मादिति । अतः स एवोत्तिष्ठतीति शेषः । अनुरम्यति व्याकरोति—इत्येति । का पुनरक्तानुस्मृतेरन्योत्थानेऽनुपपत्तिः, तत्राह—नहीति । अनुस्मृतिरित्यन्तानुशब्देन प्रत्यभिज्ञापि सूचितेत्याह—सोऽहमिति । शब्दशब्दार्थमाह—शब्देभ्यश्चेति । अयनं गमनमायः प्रतिनियतं गमनं प्रतिन्यायः स यथा भवति तथा योनिं योनिं प्रत्यागच्छति स्वापानन्तरं जागरावेत्यर्थः । सुप्तानुत्थानयोग्यत्वात् मापन्नमेतं न विन्दन्तीति सूचितम् । इहेति पूर्वप्रबोधोक्तिः । तदाभवन्तीति स्वापव्यवहितं जागरितमुच्यते । विधिपदं व्याचष्टे—कर्मैति । स एवोत्तिष्ठतीत्येतदेवमेवेत्युक्तम् । तदेव व्यतिरेकमुखेन विशदयति—अन्यथेति । विद्यानर्थक्यं व्यनक्ति—अन्येति । कर्मवैयर्थ्यमाह—एवं चेदिति । सुप्तमात्रस्य मुक्त्युपगमश्चेदित्यर्थः । अनुष्ठानकाले फलाभावात्कर्मणो ध्यानस्य च कालान्तरफल-

रफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात् । अपिचान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहार-
माणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् । अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत्कल्पनानर्थक्यं
स्यात् । यो हि यस्मिंश्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नेत्तिष्ठत्यन्यस्मिंश्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति
कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् । अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत । निवृत्ताविद्यस्य च
पुनरुत्थानमनुपपन्नम् । एतेनैश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम् । नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात् । अकृताभ्यागम-
कृतविप्रणशौ च दुर्निवारान्योत्थानपक्षे स्याताम् । तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति । यत्पु-
नरुक्तं यथा जलराशौ प्रक्षितो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति संपन्नो जीवो नोत्पतितुम-
हतीति । तत्परिह्रियते । युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम् । इह तु विद्यते
विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम् । दृश्यते च दुर्विवेचयोरप्यसज्जातीयैः क्षीरोदकयोः
संस्पृशोर्हसेन विवेचनम् । अपिच न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव
जलराशेः सतो विविच्येत । सदेव तूपाधिसंज्ञाजीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम् । एवं
सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः । उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानु-
वृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः । स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः
प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥ ९ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥



किमुच्छेका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् ॥ अग्रावस्था न प्रसिद्धा तेनेका जाग्रदादिषु ॥ १ ॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावात् सुप्तता ॥ मुखादिविकृतत्वेनावस्थाऽस्या लोकसंमता ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

एवोत्तिष्ठतीति निश्चीयते इत्यर्थः । अत्रैवोत्सूत्रं युक्त्यन्तरमाह—अपिचेत्यादिना । अन्योत्थाने सुखादेन पूर्वकर्मकार्य-
त्वेन कृतमुखायागमः पूर्वसुप्तजीवकृतकर्मनाशश्चेत्यर्थः । पूर्वपक्षयुक्तं दृष्टान्तं वैषम्येण दूषयति—यत्पुनरित्यादिना ।
असदावश्यकमपि विवेचनं प्राण्यदृष्टापेक्ष ईश्वरः करोतीति मत्वा दृष्टान्तमाह—दृश्यते चेति । ब्रह्माभेदाच्च जीवस्य
जलबिन्दुवैषम्यमित्याह—अपिचेति । अभेदे स वान्यो वोत्तिष्ठति इति चिन्तानवकाश इत्याशङ्क्य बुद्धिभेदेन जीव-
भेदाविन्तेत्याह—एवं सतीति । सुप्तौ बुद्धिनाशेन प्रत्यहं बुद्ध्युपाधिभेदादेकजीवस्य व्यवहारो न स्यादित्यत आह—
स एवायमिति । स्थूलसूक्ष्मात्मना तिष्ठत्येकोपाधिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ अवस्थात्रयादात्मानं विविच्य मूर्च्छातो विवेच-
नमातीत्याख्या

भामतीव्याख्या

न शरीरान्तरे उत्तिष्ठति शरीरान्तरगतस्तु सुप्तजीवसंबन्धिनि शरीर उत्तिष्ठति, ततश्च न शरीरान्तरे व्यवहारलोप इत्यर्थः । अपिच
न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्य इति । यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः । अथ चान्य इव यावद्व्यभिचरति ।
न चार्थो दुर्विवेचस्तदुपाधेर्धस्य विविक्तत्वात् । एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदोपाधिकल्पिनो जीवो न वस्तुतः परमात्मनो
निश्चेत तदुपाधुद्भवाभिभवान्यां चोद्भूत इवाभिभूत इव प्रतीयते । ततश्च सुप्तादावपि अभिभूत इव जाग्रदवस्थादिपृथक् इव । तस्य
चाविद्यातदास्तनोपाधेरनादितया कार्यकाष्णभावेन प्रवहतः सुविवेचतया तदुपहितो जीवः सुविवेच इति ॥ ९ ॥ मुग्धेऽर्धसंपत्तिः

आनन्दगिरियव्याख्या

अन्योत्थानपक्षे वैयर्थ्यमित्यर्थः । विद्यात्र ध्यानम् । इत्थं नान्योत्थानमित्याह—अपिचेति । अन्योत्थानं मोक्षो जीवो वा स्यादीश्वरो वा ।
अर्धसंपत्तिमुक्तो वा बद्धोऽपि देहान्तरे व्यवहरमाणस्तत्र सुप्तो वेति विकल्प्याद्यमनूय प्रत्याह—अन्येति । द्वितीयमनुमाद्य दूषयति—
अथेत्यादिना । विफलं गौरवमेव स्फोरयति—यो हीति । कल्पान्तरमनूय निरसयति—अथेति । अन्तर्त्वे का क्षितिः, तत्राह—
निवृत्तेति । हेत्वभावादिति भावः । उक्तस्य नोत्थानमित्युक्तन्यायेन कल्पान्तरं निराह—एतेनेति । तदीयस्वरूपापेक्षया हेतुमाह—
नित्येति । प्रत्येकं सर्वपक्षेण दोषमुक्त्वा साधारणं दोषमाह—अकृतेति । अन्योत्थाने पाश्चात्प्रबोधकालीनसुखादेन पूर्वकर्मकार्य-
त्वेन कृतमागच्छेत्कृतं च सुप्तस्य मुक्तौ फलमदस्यैव नश्येदिति दोषद्वयमित्यर्थः । अन्योत्थानायोगे फलितमाह—तस्मादिति । पूर्वप-
क्षीयमनुवदति—यदिति । दृष्टान्तवैषम्योक्त्या प्रत्याह—तदित्यादिना । नाम्नाभिरवायैरपि दुर्विवेचनत्वं तुल्यमित्याशङ्क्याह—
दृश्यते चेति । प्रकारान्तरेण दृष्टान्तवैषम्यमाह—अपिचेति । कस्तर्हि जीवः, तत्राह—सदेवेति । सत एवोपाधिना जीवत्वे
नानाजीववादोऽपि प्रत्युक्त इत्याह—एवमिति । उक्तमेव व्यतिरेकद्वारोपपादयति—उपाध्यन्तरेति । उपाधिभेदमुपेतं तत्र तत्र
जीवभेदो गम्यतामित्याशङ्क्य बीजाङ्कुरव्यक्त्याव्यक्तारमनैकरयैवोपाधेः स्थितेर्मेवमित्याह—स एवेति । सुप्तस्येवोत्थानादशानभ्रष्टाणां
तदवस्थानं सिद्धमित्युपसंहरति—इत्यत इति ॥ ९ ॥ अवरथ न मुक्त्वा मूर्च्छाव्यवस्थान्तरं दर्शयति—मुग्ध इति । विषय.

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्छितं इति लौकिकाः कथयन्ति । स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते । तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धा जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपस्थितिः । न तु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणां मेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्छेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति न ह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत् । इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति । यथेषुकारो जाग्रदपीष्वास्तुतमस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति । न । अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्याप्तमना ब्रवीतीषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीत्यग्रे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किञ्चिन्मया चेतितमिति । जाग्रतश्चैकविषयविषक्त-चेतसोऽपि देहो विध्रियते । मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति । तस्मान्न जागर्ति नापि स्वप्नान्-श्यति निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः प्राणोष्मणोर्भवेत् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम् । यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहना-यारण्यं नयन्ति । अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय

रत्नप्रभाष्याख्या

यति—मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् । मूर्च्छा प्रसिद्धावस्थान्तर्गता वा पञ्चमावस्था वेति । अवस्थाचतुष्टयसिद्धेर्मुग्ध-तद्वैलक्षण्याच्च संशये सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञयोऽस्थितस्य सुप्ताभेदविशेषज्ञानाभावाविशेषेण लिङ्गेन सुषुप्तिरेव मूर्छेति प्र-भिज्ञानात्सुषुप्त्यन्तर्गता मूर्छेति दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—तिस्रस्तावदिति । पूर्वपक्षे प्रसिद्धावस्थातः पृथगाम-मूर्च्छातो विवेकार्थं यत्नासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते पृथग्यत्नप्रोच्यमिति भेदः । परिशेषं दर्शयन् सिद्धान्तयति—न ता-दित्यादिना । जाग्रदपि जागरावस्थोऽपीत्यर्थः । ऐन्द्रियकमर्थज्ञानं देहधारणं च तस्यास्ति न मुग्धस्येति वैषम्योक्त-दूषयति—नेत्यादिना । मूर्च्छायां जागराद्देदमुक्ता स्वप्नमृतिभ्यां भेदमाह—नापीत्यादिना । आलभन्ते, स्पृशन्ति

भामतीव्याख्या

परिशेषात् । विशेषविज्ञानाभावांमूर्च्छा जागरस्वप्नावस्थाभ्यां भिद्यते पुनरुत्थानाच्च मरणवस्थायाः । अतः सुषुप्तिरेव मु-विशेषज्ञानाभावाविशेषात् । चिरानुच्छासत्वेपथुप्रथतयस्तु सुप्तिरन्तरप्रभेदाः । तद्यथा कश्चित्सुप्तोऽस्थितः प्राह सुप्तमहमस्मा-ल्लघूनि मे गावाणि प्रसवं मे मन इति, कश्चिदनुदुःखमस्वाप्तं गुरुणि मे गावाणि अमलनवस्थितं मे मन इति । न चंताव-सुषुप्तिर्भियते । तथा निकारान्तरेऽपि मूर्च्छा न सुषुप्तिर्भियते । तस्माद्धोक्तप्रसिद्ध्यभावाच्चेयं पञ्चम्यवस्थेति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते-यद्यपि विशेषविज्ञानोपशमेन मोहसुषुप्तयोः साम्यं तथापि नैक्यम् । नहि विशेषविज्ञानसद्भावसाम्यमात्रेण स्वप्नजागरयोर्भेदः

आनन्दगिरिव्याख्या

माह—अस्तीति । प्रामाणिकस्य विषयत्वात्तस्य लोकसिद्धतामाह—यमिति । स किं जागरावस्थानामन्यतमावस्थान्तर्गतः । वावस्थान्तर्गत इत्यवस्थाचतुष्टयप्रसिद्धिनियमवैलक्षण्याभ्यां संदेहे प्रत्यभिज्ञया स एवोत्तिष्ठतीत्युक्तेर्विशेषज्ञानाभावाविशेषेणैवप्रत्य-ज्ञानान्मुग्धः सुप्तिरेवेति पूर्वपक्षयति—स त्विति । अत्र मुग्धेरवस्थान्तरत्वेन ततो विभक्ते त्वमर्थे शोधिते तस्य वाक्यार्थान्वयि-स्तद्धिहेतुत्वात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मूर्च्छातिरेकार्थं पृथङ्न प्रयतितव्यम् । सिद्धान्ते पृथग्यत्नप्रोच्यमिति मत्वा पूर्वपक्षं विवृणोति-तिस्रस्तावदिति । शरीरस्थस्येति विशेषणसिद्धमवस्थान्तरमाह—चतुर्थीति । मूर्च्छापि चित्तोच्छ्वासत्वेपथुप्रभृतिधर्मभेदादवस्थान्तर-त्याशङ्क्य सुप्तिरेवावस्थान्तर्भेदादेर्विविधत्वसिद्धेन धर्मभेदकल्पनेत्याह—न त्विति । अवस्थान्तरस्यप्रसिद्धत्वे सुषुप्त्यन्तर्भावं मूर्च्छा-मत्वा निगमयति—तस्मादिति । तथाच तत्प्रतिरेकार्थं पृथङ्न न प्रयतितव्यमिति फलितमिति शब्दार्थः । पूर्वपक्षमनूय सिद्धा-यति—एवमिति । परिशेषादित्यस्य परिशेषं दर्शयितुमारभते—न तावदिति । जाग्रदवस्थो हीन्द्रियैरर्थानुपलभते मुग्-नैवमिति वैषम्यं हेतुमाह—नहीति । जाग्रदवस्थस्यैव मुग्धस्यार्थानुपलम्भो दुःखानुभवव्यग्रतया स्यादिति दृष्टान्तेन शङ्कते-स्यादिति । इषुकारन्यायं प्रपद्यति—यथेत्यादिना । वैषम्योक्त्या प्रत्याह—नेत्यादिना । मुग्धस्य जागरितावस्थत्वाभावे वेत्-स्तरमाह—जाग्रतश्चेति । देहधारणाभावादिपयमात्रानुपलब्धेश्च मुग्धो जाग्रदवस्थो नेति निगमयति—तस्मादिति । अ-तर्हि तस्य स्वप्नावस्थत्वं, नेत्याह—मापीति । तर्हि तस्य मृतावस्थत्वं नेत्याह—नापीति । पूर्वपक्षप्राणोष्माणौ मुग्धे न सिद्धौ तदु-तोऽस्य मृतादन्त्यत्वं तत्राह—मुग्धे हीति । ऊष्मास्ति नेति संशयान्यतरनिश्चयार्थं हृदयदेशमालभन्ते स्पृशन्तीति यावत् । प्राणोऽस्ति नेति च संदिष्टान्यतरार्थं नासिकादेशमालभन्त इति संबन्धः । नास्तित्वनिश्चयफलमाह—यदीति । परस्य पराध्यवसायो-गोचरो नेत्याशङ्क्य कार्यलिङ्गकमनुमानमाह—दहनायेति । अस्तित्वनिश्चयफलमाह—अथ त्विति । तत्रापि कार्यलिङ्गकमनुमान-

संज्ञालाभाय मिषज्यन्ति । पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः । नहि यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति । अस्तु तर्हि सुषुप्तो निःसंज्ञत्वादमृतत्वाच्च । न । वैलक्षण्यात् । मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छसिति सवे-
पथुरस्य देहो भवति भयानकं च वदनं विस्फारिते नेत्रे । सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं
पुनः पुनरुच्छसिति निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः । न चास्य देहो वेपते । पाणिपेषणमात्रेण च
सुषुप्तमुत्थापयन्ति न तु मुग्धं मुद्गरघातेनापि । निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः । मुसल-
संपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य । नच लोकेऽस्ति प्रसिद्धिर्मुग्धः सुप्त
इति । परिशेषादर्थसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः । निःसंज्ञत्वात्संपन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न
इति । कथं पुनरर्थसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते यकुम् । यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—‘सता
सोम्य तदा संपन्नो भवति’ (छा० ६।८।१) इति ‘अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति’ (बृ० ४।३।२२)
‘नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्’ (छा० ८।४।१)
इत्यादि । जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति । नच सुखि-
त्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्येते मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते । तस्मादुपाधु-
-शमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति नार्थसंपत्तिरिति । अत्रोच्यते—न ब्रूमो
मुग्धेऽर्थसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्ह्यर्थेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्थेनाव-

रत्नप्रभायाख्या

दिष्ट मरणम् । सुषुप्तिमूर्च्छयोः किञ्चित्सारूप्येऽपि बहुवैलक्षण्याद्भेद इत्याह—नेति । लक्षणभेदमुक्त्वा निमित्तभेदमाह—
निमित्तेति । प्रत्यभिज्ञाप्यसिद्धेत्याह—नचेति । उक्तसारूप्यवैलक्ष्याभ्यामर्द्धसंपत्तिः सर्वैः सुषुप्तिधर्मैरसंपन्नो मुग्धः
सुषुप्तो न भवति, सर्वैर्मरणावस्थाधर्मैरसंपत्तेर्मृतोऽपि न किंतु अवस्थान्तरं गत इति सूत्रार्थः । अत्र सूत्रे जीवस्य ब्रह्मणार्ध-
संपत्तिरुक्तेति भ्रान्तः शङ्कते—कथमिति । यत्सुषुप्तं प्रति सत्संपन्नत्वं श्रुतं तदुपाध्यभावाभिप्रायं । उपाध्यभावश्च मुग्ध-
स्यापि सम इति यतस्तस्मात् कृत्स्नसंपत्तिरेवेत्यर्थः । सुषुप्तिकाले कर्मासंबन्धे पुनरुत्थानं कथमित्याशङ्क्य तत्कार्याभावात्त-
दसंबन्धोक्तिरित्याह—जीवे हीति । ब्रह्मणा कृत्स्नसंपत्तिमज्ञीकृत्य परिहरति—न ब्रूम इति । मुग्धत्वं हि सुषुप्तस्यार्थेन
निःसंज्ञत्वादिधर्मेण साम्येन संपन्नं भवति, मरणस्यार्थेन कम्पादिना संपन्नमिच्छार्थसंपत्तिरित्यर्थः । इतोऽपि सुषुप्तिवैषम्य-

भामतीव्याख्या

बाधेन्द्रियव्यापारभावाभावाभ्यां तु भेदे तयोः सुषुप्तमोहयोरपि प्रयोजनभेदात्कारणभेदाद्विशेषभेदाच्च भेदः । श्रमापनृत्यार्था हि ब्रह्मणा
संपत्तिः सुषुप्तम् । शरीरत्यागार्था तु ब्रह्मणा संपत्तिर्मोहः । यद्यपि सत्यपि मोहे न मरणं तथाप्यसति मोहे न मरणमिति मरणार्थो
मोहः । मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य श्रमादिनिमित्तत्वाच्च सुषुप्तस्य मुखन्त्रादिविकारलक्षणत्वान्मोहस्य प्रसन्नवदनत्वादिलक्ष-
णभेदाच्च सुषुप्तस्यासुषुप्तस्य त्वान्तरभेदेऽपि निमित्तप्रयोजनलक्षणभेदादिकत्वम् । तस्मात् सुषुप्तमोहावस्थयोर्ब्रह्मणा संपत्तावपि सुषुप्ते

आनन्दगिरीयव्याख्या

नमाह—संज्ञेति । मुग्धस्य मृतत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—पुनरिति । यमराज्यं प्रविष्टस्यापि पुनरुत्थानं किं न स्यात्, तत्राह—
नहीति । परिशेषसिद्धं मुग्धस्य स्वापावस्थत्वमित्याह—अस्त्विति । तत्र सालक्ष्यं हेतुमाह—निःसंज्ञत्वादिति । उक्तमाल-
क्ष्येऽपि लक्षणनिमित्तफलानां भेदाद्वैक्यमित्याह—नेत्यादिना । लक्षणं लक्षणभेदं विवृणोति—मुग्ध इति । निमित्तभेदमुदा-
हरति—निमित्तेति । आदिपदेनोभयत्रापि ज्वरादि गृह्यते श्रमापनयार्था ब्रह्मसंपत्तिः सुषुप्तिः, देहत्यागार्था तत्संपत्तिर्मोहः, सति मोहे
मरणाभावेऽपि तस्मिन्नसति तदभावादिति फलभेदं मत्वा मोहस्वापयोरैक्ये मानाभावमाह—नचेति । परिशेषायानमर्थमाह—
परीति । साम्यवैलक्ष्याभ्यामर्थसंपत्तिं साधयति—निःसंज्ञत्वादिति । अर्थसंपत्तिमाक्षिपति—कथमिति । कानुपपत्तिरि-
त्याशङ्क्य मुग्धस्यार्थसंपत्त्यभावं साधयितुं सुप्तेन साम्यं कर्मतत्फलत्वेनाभावेन कथयति—यावतेति । यत्सुप्तं प्रति सत्संपन्नत्वं श्रुतं तदु-
पाध्यपरमाभिप्रायं स चोपाध्यपरमो मुग्धस्यापीति कृत्स्नसंपत्तिरेवेति भावः । कर्मसंबन्धस्य यावद्बन्धभावित्वात्सुप्तस्य कर्मराहित्यमभिद-
मित्याशङ्क्य तत्कार्यसुखदुःखधीराहित्यात्तद्वेतुकर्मराहित्यं कल्पयित्याह—जीवे हीति । सुप्तस्य सुखानुभवात्तद्विनाभूतो दुःखानुभ-
वोऽपि कल्पयतामित्याशङ्क्य स्वप्रकाशस्वरूपसुखानुभवव्यतिरेकेण कर्मोत्थानुकूलप्रतिफलार्थधीज्यौ प्रत्ययावसंभाविनावित्याह—नचेति ।
सुप्तस्य कर्मफलत्वेऽपि मुग्धस्य किं सिद्धं, तत्राह—मुग्धेऽपीति । सुखादिधीराहित्यकल्पितकर्मराहित्येन संपूर्णा सत्संपत्ति-
मुग्धेऽपीति निगमयति—तस्मादिति । ब्रह्मसंपत्त्यविशेषेऽपि सुप्तिमूर्च्छयोर्भेदोऽस्तीत्याह—अत्रेति । यत्तु सूत्रार्थां जीवस्य ब्रह्मणा
नार्थसंपत्तिरिति दर्शितं तदङ्गीकरोति—नेत्यादिना । तर्हि किमपेक्षयार्थसंपत्तिः, तत्राह—किमिति । अर्थेनादीयमानेन निःसं-
ज्ञत्वेनेति यावत् । परित्यज्यमानेन चार्थेन प्रसन्नवदनत्वादिनेत्यर्थः । अवस्थान्तरं मरणम् । उपन्यापनयार्थाभ्यामुभयपक्षत्वं कथं मुग्धे

स्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये । द्वारं चैतन्मरणस्य । यदास्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः । यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः । तस्मादर्थसंपत्तिं ब्रह्मविद् इच्छन्ति । यत्कृतं न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्तीति । नैष दोषः । कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् । प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः । अर्थसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥



५ अधिकरणम्

ब्रह्म किं रूपि चापि भवेन्निरूप्यमेव वा ॥ द्विविधश्रुतिसङ्गाद्वा ब्रह्म स्यादुभयामकम् ॥ १ ॥

निरूप्यमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ॥ रूपं त्वनूषते आन्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥ २ ॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाभ्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः 'सर्वकर्म सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् । यदाप्यन्यतरलिङ्गं

रत्नप्रभाष्याख्या

मिलाह—द्वारं चेति । अप्रसिद्धिमङ्गीकृत्योक्तं प्रसिद्धिरप्यस्तीत्याह—प्रसिद्धा चेति । आयुर्वेदो वैवशास्त्रम् प्रसिद्धौ कथं विवाद इत्याशङ्क्य पञ्चमत्वेनाप्रसिद्धेरित्याह—अर्थेति । सुषुप्तिमृतिधर्माधिसंपत्त्या तदन्तर्भावबुद्धिलोका मिल्यर्थः ॥ १० ॥ सर्वाभिरवस्थाभिरलितस्त्वमर्थ इति विचार्योपादसमाप्तिस्तत्पदार्थं निरूपयितुकामः प्रथमं तस्य निशेषत्वमाह—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि । उद्देश्यलम्पदार्थजिज्ञासोपरमानन्तरं तत्स्वरूपब्रह्म चारस्यावसरसंगतिमाह—येनेति । निर्विशेषत्वं सविशेषत्वं चेत्युभयं लिङ्गयते ज्ञाप्यते याभिस्ता उभयलिङ्गाः श्रु

भामतीव्याख्या

यादृशी संपत्तिर्न तादृशी मोह इत्यर्थसंपत्तिरुक्ता । साम्यवैषम्याभ्यामर्थत्वम् । यदा नैतदवस्थान्तरं तदा भेदान्तप्रविलयाय यत्ना मास्थेयम् । अभेदे तु न यत्नान्तरमिति चिन्ताप्रयोजनम् ॥ १० ॥ न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र नि अवान्तरसंगतिमाह—येन ब्रह्मणा सुषुप्तादिष्विति । यद्यपि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र निष्प्रपञ्चभवं त्रपपादितं तथापि प्रपञ्चलिङ्गानां बह्वीनां श्रुतीनां दर्शनाद्भवति पुनर्विचिकित्सा अतस्तन्निवारणायारम्भः । तस्य च तत्त्वज्ञानमगोपयोगीति प्रयोजनवान् विचारः । तत्रोभयलिङ्गश्रवणादुभयरूपत्वं ब्रह्मणः प्राप्तम् । तत्रापि सविशेषत्वनिर्विशेषत्वयोर्विरोधात्

आनन्दगिरिव्याख्या

सिद्धं, तत्राह—दर्शिते चेति । तथापि कथमस्या मरणपक्षत्वं तत्राह—द्वारं चेति । मुग्धत्वं मरणस्य द्वारं चेत्तस्मिन्मति स वेलाशङ्कयाह—यदेति । कर्मणः सावशेषत्वे गमकमाह—तदेति । तर्हि कुतो द्वारत्वं मरणं प्रति मोहसूक्तं, तत्राह—यदा त्वि किं कर्मणो निःशेषत्वे प्रयोजकमाह—तदेति । साम्यवैषम्याभ्यां सिद्धमुपसंहरति—तस्मादिति । अवस्थान्तरमप्रसिद्धत्वाच्चेत्युक्तं वदति—यत्त्विति । जीवदशायां सर्वजीवसाधारण्याभावादप्रसिद्धिर्न त्वभेदादित्याह—नेत्यादिना । इदानीमप्रसिद्धिरपि नाप्याह—प्रसिद्धा चेति । आयुर्वेदो वैवशास्त्रम् । कथमन्यथा सुसलपातादिना मुग्धं बन्धुमुपलभ्य तदीयसंज्ञालाभार्थं तदीयपि प्रभृतयश्चिकित्साशास्त्रकुशलमन्विष्टानुगच्छेयुरिति भावः । कसात्तर्हि पञ्चमतया मुग्धत्वं गण्यते, तत्राह—अर्थेति । निःसंज्ञत्वप्रसन्नवदनतेत्यादिना सुसमिरणान्तर्भावविधया पञ्चमतया मूर्च्छां नोक्त्यर्थः । उक्तवैषम्यादनन्तर्भावविधया पृथगुक्तिरपि स्यादित्याशङ्क्या न्तर्भावोऽपि सर्वसाधारणत्वाभावाभावाभावमिति मत्वा त्वमर्थशोधनमुपसंहरति—इत्यनवद्यमिति ॥ १० ॥ स्वप्नाद्यवस्थोक्त्या तत्रातिरि स्वप्नकाशं ब्रह्मात्मकं सदैकरूपं त्वमर्थमुद्देश्यं परिशोध्येदानीं विधेयतदर्थशोधनमारम्भमाणस्तस्य तावन्निर्विशेषत्वमाह—नेत्यादिना संगतिमाह—येनेति । ब्रह्मस्वरूपस्यासकृदुक्तत्वात्किमनेनारम्भेणेत्याशङ्क्य श्रुतिषु दृष्टविवादिनारिसेन तत्रिण्यार्थमिलाह—श्रुतीति विषयोक्तिपूर्वकं संशयबीजमाह—सन्तीति । सविशेषत्वं निर्विशेषत्वं चोभयं लिङ्गयते प्रकाशयते याभिः श्रुतिभिस्तास्तथा । तत्र सविशेष ब्रह्मश्रुतीरुदाहरति—सर्वेति । चकारोक्तार्थाः श्रुतयोऽन्या यः सर्वज्ञः स सर्वविदित्याद्याः समुचिताः । सविशेषं ब्रह्म लिङ्गयते च भिस्ताः श्रुतयस्ताथा । निर्विशेषब्रह्मश्रुतीरुदाहरति—अस्थूलमिति । यत्तदद्वैतमदृश्येऽनाम्ये नेति नेत्याद्याः श्रुतयश्चकारोणं गृह्यन्ते निर्विशेषं ब्रह्म लिङ्गयते याभिस्ताः श्रुतयस्तथेति । पूर्ववत्सविषयं संशयबीजमुक्त्वा संशयमाह—किमिति । उभयं सविशेष निर्विशेषत्वं च लिङ्गयते यस्मिन्नब्रह्मणि तत्तथेति यावत् । उभयत्र श्रुत्यनुग्रहादेकत्रोभयोर्विरोधान्नात्रो विकल्पः । सविशेषत्वं निर्विशेषत्वमन्यतरपक्षं लिङ्गयते तद्ब्रह्म तथेवेतत् । परस्य परिणामित्वकूटस्थत्वाभ्यां द्वितीयं विकल्पयति—यदेति । अत्र निर्विशेषत्व तदर्थस्य ब्रह्मणो निरूपणे तस्य वाक्यार्थान्वयितया तद्दीहेतुत्वलाभास्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दिङ्मत्वं ब्रह्म ध्येयं सिद्धान्ते तु निर्विशेषमे

तदपि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते । तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्राहोभयलिङ्गमेव ब्रह्मे-
त्येवं प्राप्ते ब्रह्मः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते । न ह्येकं वस्तु स्वत एव
रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् । अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्या-
द्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्व-
भावः संभवति । नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वा-
दस्वच्छतामिनिवेशस्य । उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि
समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्र-
तिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१५ । मुक्तिको० २।७२) इत्ये-
वमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

संशयबीजत्वेन सन्तीत्यर्थः । यथा विरुद्धसुषुप्तिमरणोभयरूपं सुगुह्यं तथा श्रुतिप्रामाण्यादुभयरूपं ब्रह्म ध्येयमिति दृष्टान्तेन
पूर्वपक्षः । निर्विशेषमेकरूपमेव ज्ञेयमिति सिद्धान्तयति—**एवमिति** । किमुभयरूपत्वं स्वतः, उत स्वतो निर्गुणस्य सर्वगन्ध-
त्वादिविशेष उपाधितः सत्यः, आहोस्वित्स्वतः सविशेषमेव ब्रह्मेति । तत्रायं निरस्य द्वितीयमनूय दृश्यति—**अस्तु तर्हीति** ।
स्थानमुपाधिः । ब्रह्मणि विशेषः कल्पितः, औपाधिकत्वात्स्फटिकलौहित्यवदित्यर्थः । उपाधेः सत्यत्वेऽपि तत्कृतं मिथ्येति
दृष्टं ब्रह्मणि तूपाधीनां मिथ्यात्वात्तत्कृतो विशेषो मिथ्येति किमु वाच्यमित्याह—**उपाधीनामिति** । तृतीयं निरस्यति—
अतश्चेति । सर्वस्य विशेषस्य कल्पितत्वादेवेत्यर्थः । निषेधश्रुतेर्ध्वमित्याह—**सर्वत्र हीति** ॥ ११ ॥ मिथत इति भेदो

भामतीव्याख्या

गतिक्रवानुपपत्तेरेकं स्वतोऽपरं तु परतः । नच यत्परतस्तदपारमार्थिकम् । नहि चक्षुरादीनां स्वतःप्रमाणभूतानां दोषतोऽप्रामा-
य्यमपारमार्थिकम् । विपर्ययज्ञानलक्षणकार्यानुपादप्रसङ्गात् । तस्मादुभयलिङ्गकशास्त्रप्रामाण्यादुभयरूपता ब्रह्मणः पारमार्थिकीति प्राप्त
उच्यते—न स्थानत उपाधितोऽपि परस्य ब्रह्मण उभयचिद्वत्संभवः । एकं हि पारमार्थिकमन्यदप्यारोपितम् । पारमार्थिकत्वे ह्युपा-
धिनितस्य रूपस्य ब्रह्मणः परिणामो भवेत् । स च प्राक्प्रतिषिद्धः । तत्पारिशेष्यात्स्फटिकमणेरिव स्वभावस्वच्छधवलस्य लाङ्गारसा-
वशेकोपाधिरहणिमा सर्वगन्धत्वादौरोपाधिको ब्रह्मण्यध्यस्त इति पदयामो निर्विशेषताप्रतिपादनार्थत्वाच्छ्रुतीनाम् । सविशेषतायामपि
'यथायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयः' इत्यादीनां श्रुतीनां ब्रह्मेकत्वप्रतिपादनपरत्वादेकत्वनानात्वयोश्चैकस्मिन्नसंभवादेकत्वात्स्वनेन नानात्वप्र-
तिपादनपर्यवसानात्, नानात्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्यानुवाच्यत्वादेकत्वस्य चानभिगताविधेयत्वोपपत्तेर्भेददर्शनमिन्द्रया च साक्षाद्भूय-
सीभिः श्रुतिभिरभेदप्रतिपादनादाकारवद्ब्रह्मविषयाणां च कासांचिच्छ्रुतीनामुपासनापरत्वंमसति बाधकंन्यपराद्वचनाप्रतीयमानमपि
गृह्यते । यथा देवतानां विप्रहृवस्वम् । सन्ति चात्र साक्षाद्देवतापवादेनाद्वैतप्रतिपादनपराः शतशः श्रुतयः । कासांचिच्च द्वैताभिधा-
यिनीनां तत्रविलयपरत्वम् । तस्मात्निर्विशेषमेकरूपं चेतन्यैकरसं सद्ब्रह्म परमार्थतः, विशेषाश्च सर्वगन्धत्ववामनीत्वादय उपाधिवशा-

आनन्दगिरीयव्याख्या

तत्रैवमित्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षयति—**तत्रेति** । उभयविधत्वं विवृताविकृतब्रह्मापेक्षया वा स्थितिप्रलयकालभेदेन वा कार्यकारणब्रह्मभेदेन
वा कारणकारणब्रह्मभेदेन वा न व्याख्यायितुं शक्यं ब्रह्मद्वयाभावात् । तत्कथमेकस्य विरुद्धोभयरूपतेत्याशङ्क्याह—**उभयेति** ।
नच निर्विशेषब्रह्मप्रकरणस्थशब्दानां निषेधार्थार्पणेन निषेधवाक्यैकवाक्यतया सप्रपञ्चात्पर्यायं सविशेषधीरिति वाच्यम् । उपास्तिप्र-
करणस्थप्रत्ययवाक्यान्तरेः स्वशेषविधिविरोधशून्यतया स्वार्थे प्रमाणैः सप्रपञ्चात्तत्तद्वैनिषेधवाक्यविरोधेऽपि तेषां स्वशेषवाक्यावि-
रुद्धाप्रामाण्योपपत्तेरिति भावः । उभयरूपं ब्रह्म ध्येयमिति पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तपञ्चमादत्ते—**एवमिति** । उभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः
सामाविकमाहो परोपाधिकम् । आद्यं प्रत्याह—**न तावदिति** । अनुपपत्तिं स्पृष्टयति—**नहीति** । द्वितीयं शङ्कते—**अस्त्विति** ।
स्थानत इति व्याचष्टे—**पृथिव्यादीति** । स्थानमुपाधित्वयोगादिति यावत् । औपाधिकत्वेऽपि सत्यत्वमसिसंपर्कजन्यलौहित्यवदिति
भावः । उपाधिवशादाविशेषोभयलिङ्गत्वयोगेऽपि न तात्त्विकमुभयलिङ्गत्वं कूटस्थस्य ब्रह्मणो वास्तवरूपान्तरायोगादित्याह—**तद्वरीति** ।
उक्तमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**नहीति** । आलक्तकाद्युपाधिवदिति स्फटिकादावस्वच्छताधीतर्हि कथं, तत्राह—**अनेति** । स्वर-
सधवलस्य स्फटिकादेरुपाधितो दृष्टोऽहणिमा न वास्तवः संयुक्तोपाधेरिवारुणतया भानादित्यर्थः । उपाधेरभिध्यात्वेऽपि तत्कृतं मिथ्ये-
त्युक्तम् । शब्दानां तस्यापि मिथ्यात्वात्तन्मिथ्येति किं वक्तव्यमित्याह—**उपाधीनामिति** । उभयरूपत्वं तत्स्वतो ब्रह्मणो न चेताहि
सविशेषत्वमेव नानावृत्तिवशादित्यतामित्याशङ्क्याह—**अतश्चेति** । सर्वस्य विशेषस्याविद्याकृतत्वादेवेति यावत् । तत्र हेतुत्वेन
प्रसावयवं व्याचष्टे—**सर्वत्रेति** ॥ ११ ॥ न स्थानतोऽपीत्यादिनेकमाक्षिप्य समाचते—**नेत्यादिना** । निषेधमनूय निषेधं नञ-

अथापि स्याद्यदुक्तं निर्विकल्पमेकलिङ्गमेव ब्रह्म नास्य स्वतः स्थानतो बोभयलिङ्गत्वमस्तीति तन्नोपपद्यते । कस्मात् । भेदात् । भिन्ना हि प्रतिविधं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते । चतुष्पाङ्गुल षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवंजातीयकाः । तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभवतीति । अयमप्यविरोधः । उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य । अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशक्तं प्रसज्येतेति । चेत् । नेति ब्रूमः । कस्मात् । प्रत्येकमतद्वचनात् । प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मण श्रावयति शास्त्रम्—‘यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा’ (बृ० २।५।१) इत्यादि । अतश्च न भिन्ना कारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम् । भेदस्योपासनार्थत्वाद्भेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥

अपिचैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शास्त्रिनः समामनन्ति—‘मनसैवेदमाप्तव्यं ते नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’ (क० ४।११) इति तथान्येपि ‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्’ (श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥ कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति । अत उत्तरं पठति—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपाधाकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात् । तत्प्रधानत्वात् । ‘अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्’ (बृ० ३।८।८) ‘अशब्दमस्पृशंरूपमव्ययम्’ (कठ० ३।१।५) मुक्ति० २।७२) ‘आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म’ (छा० ८।१।४।१)

रक्तप्रभाष्याख्या

विशेषः, निर्विशेषत्वश्रुतावपि विशेषस्यापि श्रुतेरुभयरूपत्वं स्यादिति शङ्कां व्याचष्टे—अथापि स्यादिति । पूर्वोक्तं विस्मारयति—ननूक्तमिति । भेदश्रुतिप्रामाण्यार्थमौपाधिकरूपभेदस्वीकारादविरोध इति समाध्यर्थः । किमुपाधिगत रूपभेदो ब्रह्मण्युपचर्यते ध्यानार्थमुतोपाधियोगात्सत्यविरुद्धरूपवत्तया ब्रह्मणो भेदो भवतीति । आद्येऽसद्विद्वत्सिद्धिः, द्वितीये भेदश्रुत्या दूषयति—नेति ब्रूम इति ॥ १२ ॥ द्वैतनिन्दापूर्वकमद्वैतोक्तेश्च निर्विशेषं तत्त्वमिति सूत्रार्थमाह—अपिचैव भोक्ता जीवो भोग्यं शब्दादि तयोः प्रेरितारमीश्वरं च मत्वा विचार्य मे मम प्रोक्तं तत्सर्वं त्रिविधं ब्रह्मैवेति जानीयादित्य ॥ १३ ॥ द्विविधश्रुतिषु सतीषु निर्विशेषत्वे किं नियामकमिति शङ्कते—कथं पुनरिति । तत्परातत्परविरोधे तत्परं वदिति न्यायो नियामक इत्याह—अरूपवदेवेति । उपासनापरवाक्येषु आकारे तात्पर्याभावेऽपि देवताविग्रहादिवदाकार

आनन्दगिरीयव्याख्या

र्थमाह—अथापीति । श्रुतिभिर्ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे मितेऽपीति यावत् । श्रौतस्य नासिद्धिरिति शङ्कते—कस्मादिति । श्रुत्यन्तरि धातुसिद्धिरिति सूत्रावयवेनाह—भेदादिति । तदेव विभजते—भिन्ना हीति । तादृगाकारोपदेशस्य फलमाह—तस्मादिति निर्विशेषत्ववदित्यपर्यर्थः । उक्तोविरोधं सारयति—नन्विति । औपाधिकमाकारभेदमादाय प्रत्याह—अयमपीति । उभयरूपत्वकारेण विशेषसमाधिवदित्यपर्यर्थः । आकारभेदो नोपाधितोऽपीत्युक्तमित्याशङ्क्याह—अन्यथेति । रूपभेदवादिशङ्काप्रामाण्यार्थमेव शिक्तस्तद्भेदो वक्तव्य इत्यर्थः । किमुपाधिगत एव रूदशेदो ब्रह्मण्युपचर्यते किं बोधाभिसन्निधेस्तत्त्वत एव ब्रह्मणोऽपि भेदो जायते प्रथमे ब्रह्मणो नोभयरूपतत्त्वमित्येत्याह—नेतीति । आकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमत्तार्थं व्याकुर्वन्दितीये श्रुत्यन्तरविरोधमाह—कथं दिव्यादिना । कल्पद्वयफलमाह—अतश्चेति ॥ १२ ॥ भेददर्शननिन्दाया भेदोक्तेरपि न तात्त्विको भेदः शास्त्रीयोऽस्तीत्याह—अपिचैव । सूत्रं व्याकरोति—अपिचेत्यादिना । भोक्ता जीवो भोग्यं शब्दादि तदुभयं प्रेयं प्रेरितारं च नियन्तारमीश मत्वा विचार्य तत्सर्वं त्रिविधं मे मम प्रोक्तं ब्रह्मैवेति जानीयादित्यर्थः । उक्तवाक्यार्थमाह—समस्तस्येति ॥ १३ ॥ उत्तरसूत्रव्याप्त्यं शङ्कामाह—कथमिति । श्रुतीनां तुल्यत्वाद्ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे नियामकं नास्तीत्यर्थः । तत्परातत्परविरोधे तत्परं बलवदिति न्यायं नियामकं वदन्नन्तरसूत्रमवतारयति—अत इति । तत्र प्रतिज्ञां विभजते—रूपादीति । प्रश्नद्वारा नियामकशक्त्या भिन्नोति—कस्मादित्यादिना । एतेषामपि तत्प्रधानत्वात्तदुपास्तिविशेषत्वादसिद्धमित्याशङ्क्याह—इत्येवमिति । समन्वायिकावस्थ

रोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति । एतदुक्तं भवति—नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम् । यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (कें० १।३) 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या । बाष्कलिना च बाध्वः पृष्ठः सन्नघचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि । उपशान्तोऽयमात्मा' इति । तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (१३।१२) इत्येवमाद्यासु । तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि' ॥ १७ ॥ इति

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तमपारमार्थिकी विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशब्देषु—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेद-

रत्नप्रभाष्याख्या

परनिषेधेन ब्रह्मोपदेशान्निष्प्रपञ्चं ब्रह्मेत्याह—**दर्शयति चेति** । अथ द्वैतोक्त्यनन्तरं ज्ञानहेतुत्वान्नेति नेति उपदेशः किं इत्यर्थः । अधि अन्यत् पुनः पुनरधीहि भो इति निर्बन्धकारिणं तं द्वितीये तृतीये च प्रश्ने तूष्णीभावं त्यक्तोवाच । उपशान्तिरसद्वैतः । अतस्तस्य तूष्णीभाव एवोत्तरमिति सौत्रश्च अथोशब्दस्तथार्थकः । आदिमत्कार्यं तत्र भवतीत्यनादिमत्तत् इन्द्रियवेद्यम् । असत् परोक्षं च न स्वप्रकाशत्वादित्यर्थः । सर्वभूतगुणैर्दिव्यगन्धादिभिर्युक्तं मां मूर्तिमस्तं पश्यसीत्यस्मात्मा अत एव सदैवो भगवानिति मां ब्रुधु नार्हसि वस्तुतो द्वैतातीतत्वादित्यर्थः ॥ ४७ ॥ किंच यथा जलबुधिकल्पितः सूर्यचन्द्रादेर्भेदचलनादिर्धर्म एवमात्मन इति दृष्टान्तश्रुतेश्च निर्विशेषं तत्त्वमित्याह—**अत एव चोपमेति**

आनन्दगिरिय्याख्या

प्रकृष्टव्यैकतान्तिष्ठतीत्यर्थः । सविशेषस्यैव सैन्धवघनस्य दृष्टान्तित्वाद्वाङ्मनसिकस्यापि ब्रह्मणः सविशेषत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरेक्युपादित्याह—**एतदिति** ॥ १६ ॥ अन्यापोहमुखेन बोध्यमानत्वादपि स्वगतविशेषशून्यं ब्रह्म । विशेषवत्त्वे तदुक्त्यप्रतिपादनसिद्धावितरव्यावृत्तिवैयर्थ्यादित्याह—**दर्शयतीति** । सूत्रं व्याचष्टे—**दर्शयतीत्यादिना** । अन्यनिषेधेनैव ब्रह्मोक्तौ स्वतविशेषाभावे हेतुमाह—**निर्विशेषत्वादिति** । रूपद्रव्यव्याख्यानान्तर्यमपशब्दार्थः । तस्य ब्रह्मोपदेहेतुत्वमःशब्दार्थः । विदितं कां मविदितं कारणम् । अथो इति निपातोऽप्यर्थः । अधीत्युपरिष्ठादन्यदित्यर्थः । तमानन्दं ब्रह्मस्वभावं विद्वान् कुतश्चन विभेतीति शेषः तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—**बाष्कलिनेति** । स तु प्रश्ने कृते बाध्वस्य तूष्णीभावे भावमविद्वान्भूयो भूयः पप्रच्छ तं पुनरुक्तिनिर्बन्धकारि बाधो द्वितीये तृतीये वा प्रश्ने प्रत्युक्तवानित्याह—**तं हेति** । उक्तं चेदुत्तरं किमिति न मया ज्ञातं, तत्राह—**हं स्मिन्** । कथं तूष्णीभा एवोत्तरं, तत्राह—**उपशान्त इति** । अथो इत्यादि व्याचष्टे—**तथेति** । सूत्रगतशोशब्दस्तथेत्यर्थः । उक्तिफलमाह—**यदिति** । हेयमेव विशिनष्टि—**अनादिमदिति** । आदिरस्यास्तीत्यादिमत्कार्यं तदस्य नास्तीत्यादिमत्कार्यरहितमित्यर्थः । स च न कार्यमित्याह—**न सदिति** । न च तत्कारणमित्युक्तम्—**नासदिति** । तथा वास्तवनिर्वाणेशेषत्ववशेनेति यावत् । सर्वे भूतानां पृथिव्यादीनां गुणा गन्धादयः सर्वप्राणभृतां वा गुणा जनकत्वपालकत्वाद्यर्थैर्युक्तं मां पश्यसीति यदेतदेषा माया मया रक्षिता योजना । कक्षादेशा मायेत्युक्ते निर्विशेषश्रुतिमाश्रित्याह—**नैवमिति** ॥ १७ ॥ विशिष्टदृष्टान्तोक्तिरपि निर्विशेषत्वमस्य गमयतीत्याह—**अत इति** । सूत्राक्षराणि व्याचष्टे—**यत इति** । पूर्वोक्तसर्वरूपाण्युपादाय विशेषाणामुपाधिनिमित्तत्वे विशेषवत्तायाः सत्यत्वं शङ्कित्वोक्तमपारमार्थिकीमिति । जलसूर्यकादिवदिति कप्रत्ययो विन्वाङ्मेदेन प्रतिविम्बस्याभासत्वाध्याय प्रयुक्तः । तान्मेव मोक्षशाखाणि संक्षिप्याह—**यथेति** । अयं हि विवस्वाङ्ज्योतिःस्वभावः स्वयमेकोऽपि तत्तत्प्राङ्गता भिन्ना अपोऽनुगच्छन्नुपा क्रियते ।

रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति । 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० वि० १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥ अत्र प्रत्यवस्थीयते—

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ॥ १९ ॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते तद्वदग्रहणात् । सूर्यादिभ्यो हि मूर्तैः पृथग्भूतं विप्रकृष्ट-
देशं मूर्तं जलं गृह्यते तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः । न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता
विप्रकृष्टदेशाभ्योपाधयः सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च । तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥
अत्र प्रतिविधीयते—

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात् । नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः कचित्कंचिद्विवक्षि-
तांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिदृशयितुं शक्यते सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावो-
च्छेद एव स्यात् । नचेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम् । शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य
प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते । किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति । तदुच्यते—वृद्धिहासभाक्त्व-
मिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलहासे हसति जलचलने चलति जल-
भेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थ-
तोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिहासादीन् । एव-
मुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

रत्नप्रभायाख्या

जलस्थप्रतिबिम्बत्वाकारेण सूर्यस्याभासत्वद्योतनाय सूर्यकेति कप्रत्ययः । यथायं ज्योतिर्मयो विवस्मान्स्वत एकोऽपि घटभेदेन
भिन्नाः अपोऽनुगच्छन् बहुधा क्रियते एवमजोऽयमात्मा देवः स्वप्रकाश एकोऽप्युपाधिना मायया क्षेत्रेष्वनुगच्छन् भेद-
रूपः क्रियत इति योजना ॥ १८ ॥ इहात्मन्युक्तदृष्टान्तवैषम्यशङ्कापुत्रम्—अम्बुवदिति । आत्मनो निरूपत्वाद्दूरस्थो-
पाध्यभावाच्च मायया बुद्ध्यदिषु प्रतिबिम्बभेदे न युक्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥ उपाध्यन्तर्भावेन तत्कल्पितधर्मवत्त्वमत्र विव-
क्षितांशस्तेन साम्येन समाधानसूत्रम्—वृद्धिहासेति । दृष्टान्तसाम्येऽपि निरूपात्मनः प्रतिबिम्बं खलुद्धया कथं
कल्प्यत इत्यत आह—न चेदमिति । श्रूयते न कल्प्यत इत्यर्थः । श्रुतदृष्टान्तस्य 'सूर्यकादिवत्' इत्युपन्यासेन किं फलमित्यत
आह—शास्त्रेति । आत्मनो निर्विशेषत्वं फलमित्यर्थः । अविरोध इति न वैषम्यमित्यर्थः । आत्मा प्रतिबिम्बश्च, न
निरूपद्रव्यत्वात्, वायुवदित्यनुमाने आकाशे व्यभिचारः । अल्पजलेऽविद्राकाशप्रतिबिम्बदर्शनादुपाधिदूरस्थत्वमपि क्वचिदन-
पेक्षितमिति भावः ॥ २० ॥ प्रवेशश्रुतेश्चोक्तानुमानबाध इत्याह सूत्रकारः—दर्शनाच्चेति । द्विपदः पुरो मनुष्यादिदेहांश्चके

आनन्दगिरीयव्याख्या

एवमयमात्मा तत्क्षेत्रेष्वनुगच्छन्कूटस्थस्वप्रकाशचिद्धातुरेकोऽपि सन्नुपाधिना भेदरूपः क्रियत इति योजना । आदिशब्दोपात्तं जलच-
न्द्रकोपमानं दर्शयति—एक एवेति ॥ १८ ॥ उत्तरसूत्रमवतारयति—अत्रेति । श्रौतः स्मृतेश्च दृष्टान्तः सप्रत्ययः । न तथा-
त्वमिति व्याचष्टे—नेत्यादिना । इहेत्यात्मनोक्तिः । हेतुमवतार्यं तद्वदग्रहणं दर्शयितुं दृष्टान्तरूपमाह—सूर्यादिभ्यो इति ।
दार्ष्टान्तिके तद्वैषम्यमाह—न त्वमिति । उपाधिनामात्मनो विप्रकृष्टदेशत्वाभावे हेतुमाह—सर्वगतत्वादिति । तेषां तस्मात्प-
रम्भूतत्वाभावे हेतुमाह—सर्वेति । वैषम्यफलमाह—तस्मादिति ॥ १९ ॥ चोद्यमनूष सिद्धान्तयति—अत्रेति । दृष्टान्तदार्ष्टान-
्तिकयोर्विवक्षितांशेन वा सर्वोत्तमा वा साम्यं तत्राद्यमङ्गीकरोति—युक्त इति । द्वितीयं निराह—नहीति । उपोधिभिरक्तं भिन्न-
देशत्वं च दृष्टान्ते दृष्टमिह तदभावाद्गुणस्थत्वाच्च ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बं कल्पयित्वाशङ्क्याह—नचेति । शास्त्रोपे दृष्टान्ते किं सूत्रे-
नेत्याशङ्क्याह—शास्त्रेति । प्रयोजनमात्मनो निर्विशेषत्वज्ञानम् विवक्षितांशेन साम्येऽपि सर्वोत्तमा साम्यमतिप्रसङ्गीत्युक्त-
मिदानीमाकाङ्क्षापूर्वकं सूत्रमादाय विभजते—किमित्यादिना । वृद्धिहासेत्यादि व्याख्यायावशिष्टं व्याचष्टे—एवमिति । अविरो-
धस्तद्भावस्येति शेषः ॥ २० ॥ ब्रह्म न प्रतिबिम्बभावं गन्तुमलममूर्तत्वाद्गन्धवदित्यत्राप्रयोजकत्वमुक्तत्वा दोषान्तरमागमविरोधमाह—
यौनाच्चेति । सूत्रं विवृणोति—यौनाच्चेति । द्विपदोपलक्षितानि मनुष्यादिशरीराणि । चतुष्पदोपलक्षितानि च पश्मादिशरीराणि ।

पेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत । श्रुतत्वाददोष इति चेत् । न । एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः । अथ सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति यद्युच्येत तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत्तमोत्तमलक्षण-मित्यं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात् । सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि । अपिच ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः । तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते । यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्थं एव न पृथगर्थं इति तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते । कथम् । ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—‘युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च’ (बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः ‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमन्तरमबाह्यम्’ (बृ० २।५।१९) इत्युपसंहारात् । ये पुनरुपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा ‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः’ (छा० ३।१४।२।) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम् ‘स क्रतुं कुर्वीत’ (छा० ३।१४।१) इत्येवमादयो न तेषां प्रविधाना तेषां संबन्धात् । श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते । सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति ‘अरूपवदेव हि तत्प्र-

रत्नप्रभाख्याख्या

व्यावृत्तत्वं भिन्नत्वम् । निष्प्रपञ्चैकरूपत्वसिद्धान्तविरोधात् भिन्नोभयरूपत्वपूर्वपक्षानुत्थानमित्यर्थः । उभयश्रुतिबलादुत्थानमिति शङ्कते—श्रुतत्वादिति । मेरुविन्ध्यवत्परस्परभिन्नसत्ताबोधयोरेकब्रह्माभेदशङ्का श्रुतिशतेनापि न युक्त्याह—नेति । सद्वोधयोभेदोऽस्ति न वा । आवे श्रुतेरपि विरुद्धार्थत्वानुपपत्तेर्न पूर्वपक्षोत्थानमित्युक्तम् । संप्रति द्वितीयं शङ्कते—अथ सत्तैवेति । सद्वोधपदयोर्वाच्यभेदेऽपि लक्ष्यैक्योपपत्तिरखण्डार्थस्वीकारादित्यर्थः । अखण्डार्थस्य पूर्वपक्षत्वं न स्यात्सिद्धान्तत्वात् । किंचात्र संशयोऽप्ययुक्त इत्याह—तथापीति । एकाधिकरणपक्षे सूत्राणि कथं नेयानीत्यत आह—सूत्राणीति । स्वपक्षे सूत्रसामञ्जस्य चेत्याह—अपिचेति । अवद्यापेक्षितमल्यर्थत्वेनोत्तरसूत्राणां पूर्वैकवाक्यत्वान्नाधिकरणभेद इति भावः । आकारश्रुतीनां कल्पिताकारो गतिरिति स्वमतमुक्तं, प्रपञ्चप्रविलयवादिनस्तु ‘मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः’ इत्याद्याकारश्रुतीनां तदितराकारप्रविलयो गतिरित्याहुः । मनोमय इति कोऽर्थः, मनोऽतिरिक्तोपाधिशून्य इत्यर्थः । एवं प्राणशरीरपदेन प्राणातिरिक्तोपाधिनिषेधान्मनसोऽप्यभावसिद्धिः, एवं सर्वे शब्दा अनाकारब्रह्मपरा एवेति तन्मतमनूय दूयति—यदपीत्यादिना । किं ज्ञेयब्रह्मप्रकरणस्थानामाकारशब्दानां निषेधपरत्वं उतोपासनाप्रकरणस्थानामपि । तत्राद्यमङ्गीकरोति—ये हीति । अस्य जीवभावं प्राप्तस्येश्वरस्य दश हरयो विषया हरणाद्देशेन्द्रियाणि प्राणिभेदापेक्षया शतानि पञ्चाणि च तेषामीश्वराद्भेदमाशङ्क्याह—अयमिति । ईश्वर एव हरय इत्यर्थः । द्वितीयं दूयति—ये पुनरिति । मनोमयादिशब्दानां मुख्यवृत्त्या गुणपरत्वसंभवे निषेधलक्षणापि न युक्तेत्याह—श्रुत्या चेति । किं चाकारानाकारश्रुतिविष्ये सति ब्रह्मानाकारमेवेत्यत्र किं विनिगमकमिति शङ्कोत्थानादस्थूलादिश्रुतीनां निराकारतात्पर्यं नियामकमिति कथनार्थमिदं तून्मर्थवद्भवति । सर्वश्रुतीनां निषेधार्थत्वे तु शङ्कानुत्थानान्नियामकसूत्रं व्यर्थं स्यादित्याह—सर्वेषां चेति । ननुपासना-

आनन्दगिरियव्याख्या

यावत्तत्वं तद्विशेषितत्वम् । श्रुत्यवष्टम्भेन पूर्वपक्षसिद्धिं शङ्कते—श्रुतत्वादिति । विरुद्धमर्थं श्रुतिरपि न वदेदतो न तदवष्टम्भाम्भारमता शङ्कनीयेत्याह—नैकस्वेति । विरोधं परिहर्तुं वाक्यार्थस्याखण्डतां चोदयति—अर्थेति । वाक्यार्थस्य खण्डत्वमुपेत्य परस्य संशयानुपपत्तिमाह—तथापीति । एकाधिकरणत्वे सूत्राणामसांगत्याद्विधाधिकरणत्वमाशङ्क्याह—सूत्राणीति । इतश्च नाधिकरणभेदोऽस्तीत्याह—अपिचेति । पूर्वाधिकरणपेक्षितहेत्वन्तरवादिनेनोत्तरसूत्राणां तच्छेषत्वसिद्धेर्न भेदकल्पनेति हेत्वन्तरमेव दूयति—ब्रह्मेति । आकारब्रह्मवादिश्रुतीनां प्रकारान्तरेण गतिरिति मतमनुवदति—यदपीति । प्रपञ्चप्रविलयपक्षं दूयति—यदपीति । सर्वश्रुतीनामेकवाक्यत्वसंभवे किमिति तदसमीचीनतेति पृच्छति—कथमिति । परविद्याप्रकरणस्थानामाकारब्रह्मवादिश्रुतीनामेकवाक्यत्वं किं वोपास्तिप्रकरणस्थानामथ वा सर्वासां तत्राद्यमङ्गीकरोति—ये हीति । यथा रथे वाजिनो युज्यन्ते तथास्यात्मनः संयुक्ताः स्वविषयप्रकाशनाय हरयो हरणादिन्द्रियाणि दश प्राणिभेदापेक्षया च शताः शतानीत्युपक्रमस्यात्मनश्चेन्द्रियार्णां च भेदं शङ्कित्युक्तम्—अयमित्यादि । तेषां प्रविलयद्वारा ब्रह्मवाक्येनैकवाक्यत्वे हेतुमाह—तदेतदिति । द्वितीयं दूयति—ये पुनरिति । तेषां लयार्थत्वेन ब्रह्मवाक्यैकवाक्यत्वाभावे हेतुमाह—स क्रतुमिति । किंच मनोमयादिवाक्यान् साक्षादयो भाति किंतु लक्षयितव्यः । नच श्रुतिलागेन लक्षणा श्रुतेर्बलीयस्त्वादित्याह—श्रुत्या चेति । तृतीयं प्रत्याह—सर्वेषां चेति । यदि हि काश्चिदपि श्रुतयो

धानत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचनमवकाशः स्यात् । फलमप्येषां यथोपदेशं कच्चिद्विरुद्धः कच्चिदैश्वर्यप्राप्तिः कच्चित्कममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्ध्य-
मेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम् । कथं चैषामेकवाक्यतोत्येक्ष्यत
इति वक्तव्यम् । एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत् । न । ब्रह्मवाक्येषु
नियोगाभावात् । वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण
प्रतिष्ठापितम् 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।२।१४) इत्यत्र । किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत
इति वक्तव्यम् । पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्वति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते । ननु द्वैतप्रप-
ञ्चप्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति । अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भव-
त्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः । यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनु-
ष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः । यथा च तमसि व्यवस्थितं घटा-
दितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यत एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन
तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः । ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म
तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति । अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं

रत्नप्रभाष्याख्या

ऽर्थकवाक्यानां स्वार्थं फलाभावात् सफलनिषेधवाक्यशेषत्वमित्याशङ्क्य फलस्य ध्रुतत्वान्नान्यशेषतेत्याह—फलमपीति । ३
क्याभावाच्च नैकवाक्यतेत्याह—कथं चेति । अर्थक्यं शङ्कते—एकेति । यथा फलवत्परमापूर्वाख्यनियोगैक्याद्
धानवाक्यानामेकवाक्यता तथा तत्त्वावबोधकामस्य प्रपञ्चप्रविलयविषयक एको नियोगरूपोऽर्थोऽस्तीत्याकारानाकारवाक्य
सर्वेषामेकवाक्यतेत्यर्थः । नियोगासिद्ध्या दूषयति—नेति । विषयं शङ्कते—ननु द्वैतेति । प्रत्यनीकं प्रतिबन्धका
ननु प्रपञ्चप्रविलये ब्रह्मलयः स्यादभेदादित्यत आह—ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्च इति । कारणं हि कार्यस्य स्वरूपमतः क

भामतीश्याख्या

नोभयरूपत्वं ब्रह्मण इत्यर्थः । तदेतदनेनोपन्यस्य दूषितम् । सत्ताप्रकाशयोरेकत्वे नोभयलक्षणत्वम् । भेदे न स्थानतोऽर्थ
निराकृतमिति नाधिकरणान्तरं प्रयोजयति । परमार्थतत्त्वंभद एव प्रकर्षप्रकाशवदिति । सर्वेषां च साधारणे प्रवि-
यार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशः स्यात् । एवं
तस्यावकाशः स्याददि काश्चिदुपासनापरतया रूपमाचक्षीरन् काश्चिन्निरूपब्रह्मप्रतिपादनपरा भवेयुः । सर्वासां तु प्रविलयार्थं
निरूपब्रह्मप्रतिपादनार्थत्वे उक्तो विनिगमनहेतुर्न स्यादित्यर्थः । एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवर्णा
त्यधिकाभाभिप्रायम्, अनुबन्धभेदात् भिन्नोऽनयोरपि नियोग इति । कोऽयं प्रपञ्चप्रविलय इति । वास्तवस्य वा प्रपञ्च

आनन्दगिरिश्याख्या

नाकारवादितयोपासनापराः स्युस्तदा सर्वासां लयार्थत्वेन निरूपणाद्ब्रह्मप्रधानत्वाविशेषादेता ध्यानविधिप्रधाना निष्प्रपञ्चप्रधानास्वे
इति विनिगमनं न स्यात्तथाच घृत्रं विरुध्येत्यर्थः । निष्प्रपञ्चवाक्येष्वेव फलश्रवणात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात्
प्रपञ्चवाक्यानां तदेकवाक्यतेत्याशङ्क्याह—फलमिति । उपास्तिफलेन फलवत्त्वादुक्तन्यायाविषयत्वमाकारब्रह्मवाक्यानामिति स्थितं फलं
तमाह—इत्यत इति । एकवाक्यताहेत्वदृष्टेरपि नैकवाक्यतेत्याह—कथं चेति । हेतुत्वात्तुपलब्धिरसिद्धेति शङ्कते—एकेति
यद्यपि प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्ययोर्विषयानुबन्धभेदाद्विनियोगभेदस्तथाप्येकाधिकारनियोग इत्येकनियोगत्वम् । तथा तत्त्वावबोधकामस्यै
नियोगः सर्वत्रेकवाक्यतेत्यर्थः । तत्त्वमादिवाक्येषु नियोगाभावादिकनियोगधीरसिद्धेति दूषयति—नेति । तेष्वपि कल्पत्वां नियोगोऽप्य
ग्रामाण्यायोगादित्याशङ्क्याह—वस्त्विति । विषयमाभावाच्च न नियोगोऽत्रेत्याह—किमिति । नियोज्यावच्छिन्नो नियोगस्तस्य किं वि-
शेषेत्याशङ्क्याह—पुरुषो हीति । विषयोऽपि तर्हि नियोगावच्छेदकत्वेन कश्चित्कल्प्यतामित्याशङ्क्य द्वैतल्यो वा स स्याद्ब्रह्मज्ञानं
तदविद्यानिवृत्तिर्वा तत्कार्यनिवृत्तिर्वैति विकल्पाद्यमादत्ते—नन्विति । तत्त्वावबोधकामिनस्तत्त्वावबोधफलके विषये तदुपकारके
नियोगो युक्तस्तस्मात्कथं प्रपञ्चलये स्यादित्याशङ्क्य तदुपकारकत्वादित्याह—अप्रविलापिते हीति । काम्यमानतत्त्वावबोधोपकारकं
फलितमाह—अत इति । उक्तमर्थं वैदिकोदाहरणेन स्फुटयति—यथेति । स्वर्गं प्रति यागस्य साधनत्वात्तत्र नियोगेऽपि प्रकृते का
म्यमानोपायत्वाभावात्कुतो नियोगः स्यादित्याशङ्क्य प्रतिबन्धनिवृत्तितया प्रपञ्चलयस्यानुष्ठेयत्वं लौकिकदृष्टान्तेन दर्शयति—यथा चेत्ता
दित्याह—तत्त्वज्ञानकामो द्वैतं प्रविलापयेदिति न नियोगो ब्रह्मणोऽपि तल्लये लयापातादित्याशङ्क्याह—ब्रह्मेति । नहि लोके कर्मन
शेऽपि कारणं नश्यत्यारोपितस्याधिष्ठानान्तर्भावोऽपि तस्य तदनन्तर्भावोऽपि भावः । नैयोगिके द्वैतलये फलितमाह—तेनेति । वेदान्तप्र
द्वैतलयनियोगनिष्ठेनैकवाक्यत्वं शङ्कितं प्रत्याह—अत्रेति । प्रश्नमेव विशदयति—कोऽयमिति । किशब्दोपात्तं पञ्चमं दर्शयति

प्रपञ्चप्रविलयो नाम । किमस्मिन्प्रतापसंपर्काद्भूतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिन्धन्वे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति । तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको वाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात् । एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत् । अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात् । ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तथा चाविद्या बाध्यते ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्रपञ्चवत्प्रविलीयते । अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते । नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चप्रविलयविषयो वा नियोगः स्यात् । न । निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः । रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति । नच कृत्वमेव पुनः क्रियते । नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद्ब्रह्मपक्षस्यैव वा । प्रथमे

रत्नप्रभाख्या

नारोऽपि कारणस्य न लयः, घटनाशोऽपि सृष्टृर्शनादित्यर्थः । प्रपञ्चस्य सत्यस्य कल्पितस्य वा लये विधिरिति विकल्प्यायं दूषयति—तत्र यदि तावदिति । सत्यस्य ज्ञानादध्वस्तेः सुसलादिना च कृत्स्नद्वैतध्वंसयोगात् नभोप्रसन्नविषयवदशक्यविषयोऽयं विधिः, किंच शुकादिमुक्त्या सर्वमुक्तिः स्यादित्यर्थः । द्वितीयमनूय दूषयति—अथेत्यादिना । उपदेशन्यज्ञानादेवाविद्यातज्जप्रपञ्चलसिद्धेर्नियोगो व्यर्थेत्यर्थः । किंच ब्रह्मज्ञानादौ विधिः किं ब्रह्मण्यज्ञाते ज्ञाते वा । नायः, अशक्यत्वादित्याह—अनावेदिते त्विति । द्वितीयं शङ्कते—नन्विति । उपदेशादेव ज्ञाते ब्रह्मणि साक्षात्कारद्वैतबाधयोः सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यं सिद्धस्य विधिना कर्तुमयोगादित्याह—नेति । एवं विषयाभावाभियोगाभावमुक्त्वा नियोज्याभावात्तदभावमाह—नियोज्योऽपि चेति । प्रपञ्चान्तर्भूतो ब्रह्म वेत्यर्थः । आये जीवनाशाद्विध्ययोगः, द्वितीये नियोज्या-

भामतीव्याख्या

प्रविलयः सर्पाद्येवामिसंयोगात् । समारोपितस्य वा रज्ज्वां सर्पभावस्यैव रज्जुतत्त्वपरिज्ञानात् । न तावदास्तवः सर्वसाधारणः पृथिव्यादिप्रपञ्चः पुरुषमात्रेण शक्यः समुच्छेत्तुम् । अपिच प्रह्लादशुकादिभिः पुरुषधारेणैः समुल्लसन्मूलितः प्रपञ्च इति शून्यं जगद्वक् । नच वास्तवं तत्त्वज्ञानेन शक्यं समुच्छेत्तुम् । आरोपितरूपविरोधित्वात्तत्त्वज्ञानस्यैवमुक्तम् । समारोपितरूपरतु प्रपञ्चो ब्रह्मतत्त्वज्ञानपरंपरेव वार्क्यैर्ब्रह्मतत्त्वमवबोधयद्भिः शक्यः समुच्छेत्तुमिति कृतमत्र विधिना । नहि त्रिंशतेनापि विना तत्त्वावबोधनं प्रवृत्तस्वात्मज्ञान इति वा कुरु प्रपञ्चप्रविलयं वेति प्रवर्तितः शक्नोति प्रपञ्चप्रविलयं कर्तुम् । न चास्यात्मज्ञानविधिं विना वेदान्तार्थब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवति । मौलिकस्य स्वाध्यायाध्ययनविधेरैव विवक्षितार्थतया सकलस्य वेदराशेः फलवदर्थवबोधनपरतामापादयतो विद्यमानत्वात् । अन्यथा कर्मविधिवैयर्थ्यायपि विध्यन्तरमपेक्षेरिति । नच चिन्तासाक्षात्कारयोर्विधिरिति तत्त्वसमी-

आनन्दगिरीयव्याख्या

—किमियादिना । वास्तवस्याभावस्तदस्य वा द्वैतस्य लयो नियोगविषयत्वेनैव इति विकल्पार्थः । आद्यमनूय प्रत्याह—परीत्यादिना । वस्तुनो ज्ञानादध्वस्तेर्मुसलादिना च कृत्स्नद्वैतनिवृत्त्ययोगात्तन्मोघसन्ननियोगवदयं नियोगः स्यादित्यर्थः । किंनानाशे संसारे कश्चिदागितो मुक्तो न वा । तत्राद्येऽवतनपृथिव्याद्युपलब्धिर्विकथ्यते । द्वितीये शुकादिमुक्तिरिति विरोधः । तस्याध्यायवदत्वेऽपि द्वारायं तात्पर्यविरोधादित्यनेकजीववादमुपेक्षाह—एकेनेति । द्वितीयमुक्त्यापयति—अथेति । तर्हि द्वैतलये नियोगवैयर्थ्यात्प्रत्याह—तत इति । ब्रह्मतत्त्वज्ञानपरंपरेनैव तदविद्याकृतद्वैतलयाच्चेव वेदान्तैर्ज्ञापनीयं कृतमत्र नियोगेनेत्यर्थः । कथं तदवबोधनं नडाह—एकमिति । मा तर्हि द्वैतलये नियोगो भूद्ब्रह्मज्ञाने तु स्यादिति द्वितीयमाशङ्क्याह—तस्मिन्निति । शङ्कोके ब्रह्मणि नियोगोपेक्षां विना शब्दशक्तेरेव ज्ञानोत्पत्तेर्न तद्विषयोऽपि नियोगोऽस्तीत्यर्थः । उत्पन्नं ज्ञानं नानन्दीयकलेनाज्ञाननिवृत्तेन नियोगस्तत्रापीति लुणीयं प्रत्याह—तथेति । चतुर्थे निरस्यति—ततश्चेति । कारणविद्यानिवृत्तेरिति यावत् । किंच ब्रह्मज्ञानादौ नियोगो ब्रह्मण्यज्ञाने ज्ञाने वा । तत्रार्थं दूषयति—अनावेदिते त्विति । द्वितीयमालम्बत—नन्विति । ब्रह्मणि शब्दे तदज्ञानेन नियोगादने ब्रह्मज्ञानादिसिद्धेर्नियोगवैयर्थ्यात्प्रत्याह—नेत्यादिना । तदेव दृष्टान्तेन स्फुटयति—रज्ज्विति । ब्रह्मतत्त्वावेदनसिद्धमपि ब्रह्म ज्ञानान्नियोगेन पुनः साध्यमित्याशङ्क्याह—नचेति । कारणपर्यवसानादित्यर्थः । विषयाभावाभियोगाभावमुक्त्वा नियोज्याभावात्तदभावमाह—नियोज्योऽपीति । प्रपञ्चान्तर्भावपक्षं प्रत्याह—प्रथम इति । प्रपञ्चप्रविलयो ब्रह्मज्ञानादिरूपलक्ष्यम् ।

धिकल्पे निष्पन्नब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चविलये
नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत । द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियो-
ज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावाभियो-
गाभाव एव । द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वा-
वबोधविधिप्रधाना भवन्ति । लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधा-
नमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति । ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदा-
चिन्न जायते तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुमात्रेण । तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव
यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते । नच प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नि-
युक्तस्याप्युपपद्यते । यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथा ज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी
सा क्रिया । स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न
तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते । नच प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते । नहि तत्पुरुषतत्त्वं

रत्नप्रभाष्याख्या

सिद्धिः, तर्हि ज्ञाने विधिप्रत्ययानां का गतिरित्यत आह—**द्रष्टव्यादिशब्दा इति** । ननु श्रुतं ज्ञानं लक्ष्म्या तस्मात्
व्यापारविधिः किमिति कल्प्यत इत्याशङ्क्य ज्ञानस्य पुरुषकृत्यसाध्यत्वादित्याह—**ज्ञेयाभिमुखस्यापीति** । किंच ज्ञान
धिवादिना ज्ञेयं ब्रह्मावश्यं वेदान्तैर्ज्ञानीयं विषयानवबोधे विधिवोधायोगात् । तथाच वेदान्तैरेव ज्ञानोत्पत्तेर्विधानार्थः
मित्याह—**तस्मादिति** । तं ज्ञानार्थिनं प्रतीत्यर्थः । ननुत्पन्नं ज्ञानमन्यथाकर्तुं विधिरर्थवानिति, नेत्याह—**नचेति**
नन्वनभिर्गोविदिति प्रत्यक्षप्रमाणादुत्पन्नमपि ज्ञानं तामभि ध्यायेदिति विधानान्यथाकृतं दृश्यत इत्यत आह—**यदीति**
अन्यथाधीः कृति साध्या चेत् क्रियैव, कृति विनैव चेद्भ्रान्तिरेवातो मानं विना विधितो ज्ञानासिद्धेर्मानवस्तुतन्त्रे ज्ञाने वि

भामतीव्याख्या

क्षायामस्माभिर्हपपादितम् । विस्तरेण चायमर्थस्तत्रैव प्रपञ्चितः । तस्मात् 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्' इतिवद्विधिसरूपा एते 'आ
वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादयो न तु विषय इति । तदिदमुक्तम्—**द्रष्टव्यादिशब्दा अपि तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना
तत्त्वावबोधविधिप्रधाना इति** । अपिच ब्रह्मतत्त्वं निष्प्रपञ्चमुक्तं न तत्र नियोज्यः कश्चित्संभवति । जीवो हि नियो
भवेत्, स चेत्प्रपञ्चपक्षे वर्तते को नियोज्यस्तस्योच्छिन्नत्वात् । अथ ब्रह्मपक्षे तथाप्यनियोज्यः, ब्रह्मणोऽनियोज्यत्वात् । अथ
ह्यणोऽनन्योऽन्यविद्ययाऽन्य इवेति नियोज्यः । तदुक्तम् । ब्रह्मभावं पारमार्थिकमवगमयतागमेनाविद्याया निरस्तत्वात् । तस्मा
योऽन्यथावादिनः नियोगः । तदिदमुक्तम्—**जीवो नाम प्रपञ्चपक्षस्यैवेति** । अपिच ज्ञानविधिपरत्वे तन्मात्रानु ज्ञा
स्यानुत्पत्तेस्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयम् । तत्र वरं तत्त्वप्रतिपादनपरत्वमेवास्तु तस्यावश्याभ्युपगतत्वत्वेनोभयव्याप्तिरिति
एवं च कृतं तत्त्वज्ञानविधिनेत्याह—**ज्ञेयाभिमुखस्यापीति** । नच ज्ञानाधाने प्रमाणानपेक्षस्यास्ति कश्चिदुपयोगो विधे
एवं हि तदुपयोगो भवेद्यन्यथाकारं ज्ञानमन्यथादधीत । नच तच्छक्यं वापि युक्तमित्याह—**नच प्रमाणान्तरेणेति**
किंचान्यभियोगनिष्ठतयैव च पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतं भवद्भिः शास्त्रपर्यालोचनयाऽनियोज्यब्रह्मात्मन्य जीवस्य
तदेतच्छास्त्रविरोधादप्रमाणकम् । अथैतच्छास्त्रमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं च जीवस्य प्रतिपादयति जीवं च नियुक्तं ततो द्वयर्थं च विरुद्धार्थं

आनन्दगिरिव्याख्या

मुमुक्षोर्नियोज्यत्वमाशङ्क्योक्तम्—**कस्येति** । ब्रह्मान्तर्भावे नियोज्यत्वं दुर्वचनमित्याह—**द्वितीयेऽपीति** । ब्रह्मणोऽनन्योऽपि जी
ऽविषयाऽन्यत्वाभियोज्यः स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मण्यावेदिते भेदकाविद्यायोगाच्चैवमित्याह—**जीवत्वमिति** । ब्रह्मज्ञाने श्रयमाणा वि
यस्तर्कैर्न कथं निरस्तन्ते, तत्राह—**द्रष्टव्यादीति** । तेषामभिमुखीकरणार्थत्वं न कापि दृष्टमित्याशङ्क्याह—**लोकेऽपीति** । ज्ञानं
प्रकृत्यन्तया श्रुतं किमिति लोके वेदे वा न विषयमित्याशङ्क्यापुरुषतत्त्वत्वादित्याह—**ज्ञेयेति** । किंच नियोगादिनाऽपि येशता
वस्तुवादित्वमवश्यं वाच्यं नियोगमात्रात्तत्त्वज्ञानायोगात् । ततो वाक्यादेव तदुत्पत्तेर्नियोगानर्थक्यमित्याह—**तस्मादिति** । ज्ञानस्य
पुरुषतत्त्वतया विषयत्वायोगस्तच्छब्दार्थः । तं ज्ञेयाभिमुखं पुरुषं प्रतीति यावत् । तथापि नियोगाभावे कथं तत्र धीरित्याशङ्क्याह—
तस्मिन्निति । किंच मानानपेक्षो विधिर्न सम्यग्ज्ञानं जनयति । नच मुमुक्षोर्मिथ्याज्ञानमुपयुक्तम् । नच प्रमाणवाचिते सम्यग्
जनयितुं शक्यम् । तथाच मानेनैव तत्सिद्धेर्वैधर्ष्यं विधिरित्याह—**नचेति** । योषिदादिभ्यश्चादिधीवन्मानविरुद्धेऽपि विधेयुक्तं ज्ञा
मित्याशङ्क्याह—**यदीति** । अन्यथाज्ञानमपि न मानसी क्रिया रज्जुमुज्जगादिधीवदित्याशङ्क्याह—**स्वयमिति** । शास्त्रीयव्याख्या
पेक्षतया जातज्ञानस्याक्रियात्वेऽपि शास्त्रीयमन्यस्यान्वयज्ञानं प्रयत्नादिकृतं मानसी क्रियैवेत्यर्थः । कथंभूतं तर्हि सम्यग्ज्ञानं क
ज्ञानं त्विति । तदपि नियोगाधीनं किं न स्यात्, तत्राह—**नेति** । नक्षेत्रेत्यादिनिषेधविषयत्ववद्विधिविषयत्वमपि स्यात्
नचेति । तत्रापि संकल्पप्रयत्न एव विधीयत इति भावः । सम्यग्ज्ञानस्य विधिनियेधाविषयत्वे हेतुमाह—**दीर्घां**

रत्नप्रभाष्याख्या

भामतीव्याख्या

आनन्दगिरीयव्याख्या

आनन्दगिरिरायाख्या

तन्निमाह—**अत इति ।** मानवस्तुतत्त्वमपेरथः । नियोगवादिन प्रत्यक्षं किंचिदुच्यते दूषणमित्याह—**किञ्चेति ।** तत्रैव
धोयसिति—**नियोगेति ।** शास्त्रस्य नियोगनिष्ठत्वे पदार्थयोरेक्योगमो आतिमूलः स्यादित्यर्थः । शास्त्रसिद्धत्वादभयमपि प्राप्ताभि-
वर्जितम्—**अथेति ।** अनेकार्थतया वाक्यभेदो विरुद्धार्थत्वाप्रामाण्यं चेति दूषयति—**तत इति ।** उपक्रमोपसंहारिकरूप्यादिभिदा
श्रम्यतापि वेदान्तानां नियोगपरत्वे पीड्येत्याह—**नियोगेति ।** किञ्चित्थो विधेयत्वे कमेन्द्रपूर्वावनन्तरस्यापारात्मसिद्धिरप्या
नन्नाष्टफलत्वमनित्यत्वं सातिशयत्वं च स्वगोदिवत्तत्फलस्य स्यादित्याह—**कर्मेति ।** वेदान्तानां नियोगपरत्वाभावे कथं प्रामाण्यं,
तत्राह—**तस्यादिति ।** तेभान्नियोगनिष्ठत्वे फलितमाह—**अतश्चेति ।** वेदान्तेषु नियोगाभावदेकनियोगविधिसिद्ध इत्युक्तम् । भ्रष्टं
प्रौढादितया नियोगमङ्गीकृत्य तदेकत्वं प्रत्याह—**अभ्युपगम्यमानेऽपीति ।** तत्र हेतुमाह—**नहीति ।** भिन्नवाक्यार्थाविषयः
सदृशः शब्दान्तरम् । यथा यजतिददाति जुहोतयत्यहेहापि वेदोपासीतेति शब्दभेदः । आदिशब्देन रूपभेदः प्रकरणभेदः फलभेदश्च
नियोगभेदे सिद्धे तदेकत्वासिद्धिरित्यर्थः । अनुबन्धभेदेऽपि प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येष्वेव नियोगैवयसाङ्काधिकारोऽश्व तत्रा-
नुबन्धभेदेऽपि प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येष्वेव नियोगैवयसाङ्काधिकारोऽश्व तत्रा-
नुबन्धभेदेऽपि प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येष्वेव नियोगैवयसाङ्काधिकारोऽश्व तत्रा-
नुबन्धभेदेऽपि प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येष्वेव नियोगैवयसाङ्काधिकारोऽश्व तत्रा-

पुनः पठ्यते—‘अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति’ (वृ० २।३।६) इति । तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे । न ह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किञ्चित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते । इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते नेति नेतीतिपरत्वाच्चप्रयोगस्य । इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते ‘इति ह स्तोपाध्यायः कथयति’ इत्येवमादिषु । संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणस्तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे । तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम् । यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति रूपे परिशिनष्ट्याहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति ब्रह्म परिशिनष्टीति । तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे । द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषेधयेत्परेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः । अथवा ब्रह्मेव रूपवत्प्रतिषिध्यते तद्धि बाह्यनसातीतत्वा-

रत्नप्रभायाख्या

नहीति । एतस्मादात्मनोऽन्यत्रास्तीति नेतीत्युच्यत इत्यर्थः । शून्यतानिरासार्थं परं ब्रह्मास्तीत्युक्तमिति सिद्धान्तरीत्याश्रयार्थः । अत्र निषेध्यविशेषानुपलम्भात्संशयमाह—तत्र कोऽस्येत्यादिना । ननुप्रयोगस्य नकारस्येतिशब्दोपस्थापितवस्तुनिषेधकत्वादित्यर्थः । इतिशब्दानिषेध्यसामान्यसमर्पणे विशेषाकाङ्क्षायां प्रकरणाद्रूपद्वयस्य रूपिब्रह्मणश्च निषेधत्वभावानासंशयमुक्त्वा पूर्वोक्तं निर्विशेषं ब्रह्म नास्तीत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—तत्र प्रकृतत्वेति । पूर्वपक्षे तत्पदार्थाभावाद्वाक्यार्थाभेदाभिदिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । निरधिष्ठाननिषेधादर्शनात्सर्वनिषेधो न युक्त इत्यरुच्या प्रपञ्चे ब्रह्मनिषेध इत्याह—

भामतीयाख्या

हेतुकं स्वरूपं वक्तव्यमित्याह—अथात आदेशः कथनं सत्यसत्यस्य परमात्मनस्तमाह—नेति नेति । एतदर्थकथनार्थं भिदमधिकरणम् । ननु किमेतावदेवादेश्यमुतेतः परमन्यदप्यस्तीत्यत आह—नह्येतस्माद्ब्रह्मण इति । नेत्यादिधादन्यत्परमस्ति यथादेश्यं भवेत् । तस्मादेतावदेवादेश्यं नापरमस्तीत्यर्थः । अत्रेवमर्थेनेतिना यत्संनिहितं परामृष्टं तन्निषिध्यते नञा संनिहितं च मूर्तामूर्त सवासनं रूपद्वयम् । तदवच्छेदकत्वेन च ब्रह्म । तत्रेदं विचार्यते—किं रूपद्वय सवासनं ब्रह्म च सर्वमेव च प्रतिषिध्यते, उत ब्रह्मेवायं सवासनं रूपद्वयं ब्रह्म तु परिशिन्यत इति । यद्यपि तेषु तेषु वेदान्तप्रदेशेषु ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितं तदसद्भावज्ञानं च निन्दितम् । ‘अस्तीत्येवोपलब्ध्ययः’ इति चास्य सत्त्वमवधारितं तथापि सद्बोधरूपं तद्ब्रह्म सवासनमूर्तामूर्तरूपसाधारणतया च सामान्यं स्य चेत विशेषा मूर्तामूर्तादयः । न च तत्तद्विशेषनिषेधे सामान्यमवस्थातुमर्हति निर्विशेषस्य सामान्यस्यायोगात् । यथाहुः—निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्’ । इति । तस्मात्तद्विशेषनिषेधेऽपि तत्सामान्यस्य ब्रह्मणोऽनवस्थानात्सर्वस्येवायं निषेधः । नतएव नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति निषेधात् परं नास्तीति सर्वनिषेधमेव तत्त्वमाह श्रुतिः । ‘अस्तीत्येवोपलब्ध्ययः’ इति चोपानाविधानवत्त्वेन, न त्वस्तित्वमेवात्य तत्त्वम् । तत्प्रशंसार्थं चासद्भावज्ञाननिन्दा । यचान्यत्र ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनं तदपि मूर्तामूर्तप्रतिपादनवन्निषेधार्थम् । असंनिहितोऽपि च तत्र निषेधो योग्यत्वात्सम्बन्धते । यथाहुः—‘येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि न सः’ इति । तस्मात्सर्वस्यैवाविशेषेण निषेध इति प्रथमः पक्षः । अथवा पृथिव्यादिप्रपञ्चस्य समस्तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसि-

आनन्दगिरीयव्याख्या

स वक्तव्यत्वेनावशेषादित्यतःशब्दार्थः । अवशिष्टाश्चेरुत व्यक्तीभविष्यति । वाक्योक्तिद्वारा तदर्थनिषेधमधिकरणविषयमुक्त्वा विशेषानुपलम्भाकृतं संशयमाह—तत्रेति । जिज्ञासाहेतुमुक्तं व्यनक्ति—नहीति । सामान्येन दृष्टस्यैव विशेषतो दृष्टे व्याप्त्वादी संशयदृष्टेस्त तदभावे कथमसौ स्यादित्याशङ्क्याह—इतिशब्देनेति । अस्तु तर्हि तदर्थवत्त्वाय यत्किञ्चिदत्र निषेधमित्याशङ्क्योक्तम्—इतिशब्दश्चेति । प्रत्यक्षादिसंनिहिततद्व्यालम्बनस्तर्हि निषेधः स्यादित्याशङ्क्य सजातीयशानाभितस्य विजातीयमानमिद्वान्त-रत्वात्तदालम्बनतैव निषेधस्येत्याह—संनिहितं चेति । प्रकृतत्वं विशेषामिद्विधेति हेतुमुक्त्वा मंगयं निगमयति—तत्रेति । अन्यत्रनिषेधेनापि निषेधसिद्ध्या पक्षान्तरमाह—आहोस्विदिति । द्वितीयेऽपि ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वात्प्रपञ्चस्य चाप्यक्षादिसत्तस्य व्यावहारिकमानसिद्धत्वेऽपि कल्पितत्वात्तत्कल्पनाधिष्ठानत्वात्तन्निषेधावधित्वाच्च ब्रह्मणः परिशोर्हत्वादिति पक्षद्वयं दर्शयदापीति । अत्र निषेधार्थोक्त्या तत्पदार्थस्यैव शोधनात्तस्यैव शुद्धस्य वाक्यार्थोक्त्येन तद्धीहेतुत्वात्पारादिसंगतिरिति पूर्वपक्षयति—तत्रेति । पूर्वपक्षे निषेधस्य शून्यतान्तत्वाद्ब्रह्मणः शून्यस्य प्रत्यक्त्वेन ज्ञानानर्हता । सिद्धान्ते व्यतिरिक्तस्यैव निषेधब्रह्मणस्तत्त्वेन ज्ञानयोग्यता सति संभवे प्राप्तसर्वनिषेधकल्पनादेकदेशस्यैव तत्कल्पनं युक्तं लघवात् । नेदं रजतमित्यादीनाशङ्क्य निषेधद्वयशक्त्या प्राप्तसर्वबाधकल्पनं युक्तमन्यत्र निषेधद्वयाभावादिकदेशस्यैव बाधेत्याह—द्वौ चेति । निषेधमर्थमनियति—तयोरिति । वस्तुन्तराभावविशिष्टवस्तुन्तरज्ञानस्यैव नेदं रजतमित्यादी निषेधार्थत्वाच्च सर्वनिषेधः—अथवेति । तत्र हेतुः—तद्धीति । प्रकृतत्वाविशेषात्प्रपञ्चस्यापि निषेधो ब्रह्मवदित्याशङ्क्याप्यक्षादिविशोधान्ते-

दसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधाहम् । न तु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात्प्रतिषेधाहः । अभ्यासस्त्वादर्थ इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात् । किञ्चिद्विपरमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः । तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्प्यते । उभयप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत् । अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः । नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात् । 'असन्नेव स एव भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात् । 'अस्तीत्येवो

रज्जप्रभाष्याख्या

अथवेति । एकब्रह्मण एव निषेधे नकारद्वयस्य पौनरुक्त्यमित्यत आह—अभ्यासस्त्विति । उत्सृजमेव तावद्वान्तमुपक्रमते—एवमिति । शून्यप्रसङ्ग इष्ट इति वदन्तं प्रत्याह—किञ्चिद्धीति । तच्चेति प्रतिषेधनमित्यर्थः । उष्टानानवशेषे तत्प्रमाणरूपहेत्वभावात् निषेधवाक्यार्थः प्रमा न स्यात्, 'इदमत्र नास्ति' इति लोके निषेधस्य साधिष्ठानप्रमितिदर्शनादित्यर्थः । किञ्च यद्वाति तत्सदित्युत्सर्गस्य भानार्थाभावाधिष्ठानप्रमितिपवादादस्तथा पूर्वमानस्य भ्रमत्वायेनार्थसत्त्वापलापात् । अपवादानङ्गीकारे तत्सर्गतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तेर्निषेधानुपपत्तिरित्याह—अपरिशिष्यचेति । अधिष्ठानसत्त्वं विना भ्रान्तिनिषेधयोरयोगाच्छून्यवादो न युक्त इत्युक्ता पूर्ववादिनः पक्षान्तरं दृष्टयति—नापीदेहात्माभिमानवज्ज्ञैकिकमानप्राप्तद्वैतस्य निषेधो युक्तो न वेदान्तप्रमितब्रह्मण इति भावः । यदुक्तं बाङ्गनमातीतत्वात्

भामतीव्याख्या

द्वत्वात्, ब्रह्मणस्तु वाङ्मनसागोचरतया सकलप्रमाणविरहात्, कतरस्यास्तु निषेध इति विशये प्रपञ्चप्रतिषेधे समस्तप्रत्यक्षादिव्यपमसङ्गात्, ब्रह्मप्रतिषेधे त्वव्याक्रोपाद्ब्रह्मेव प्रतिषेधेन संवध्यते योग्यत्वात् प्रपञ्चतद्देपरीत्यात्, वीप्सा तु तदत्यन्ताभावमूचनमभ्यमः पक्षः । तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गादिति । अयसंधिः—उपाधयो ह्यमी गृथिव्यादयोऽविद्याकल्पिता न तु शोणकर्कादय इव विशेषा अश्वत्थस्य । न चोपाधिनिगमं उपहितस्य वोऽप्रतीतिर्वा । नद्युपाधीनां दर्पणमणिकृपाणादीनामपगमे मुक्तस्याभावोऽप्रतीतिर्वा । तस्मादुपाधिनिषेधेऽपि नोपहितस्य शशविपयमानताऽप्रत्ययो वा । न चेतीति संनिधानाविशेषात्सर्वस्य प्रतिषेध्यत्वमिति युक्तम् । नहि भावमुपाश्रित्य प्रतिषेध उपपत्तिरिति किञ्चिद्वि किञ्चिन्निषिध्यते । नह्यनाश्रयः प्रतिषेधः शक्यः प्रतिपत्तुम् । तदिदमुक्तम्—अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् इति प्रतिषेद्धुमारभ्यते तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः । मयमप्रतिषिपति—नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते । युक्तं यच्चैसर्गिकाविद्याप्राप्तः प्रपञ्चः प्रतिषिध्यते प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य । तु नाविवासिद्धं, नापि प्रमाणान्तरात् । तस्माच्छब्देन प्राप्तं प्रतिषेधनीयम् । तथाच यस्तस्य शब्दः प्रापकः स तत्पर इति स प्रमाणमिति कथमस्य निषेधोऽपि प्रमाणवान् । नच पर्युदासाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन विकल्पः, वस्तुनि सिद्धस्वभावे तदनुपपत्तेः चावाङ्मनसागोचरो यद्वावालेखितुं शक्यः । अशक्यश्च कथं निषिध्यते । प्रपञ्चस्त्वान्यविद्यासिद्धोऽन्युय ब्रह्मणि प्रतिषिध्यत युक्तम् । तदिमामनुपपत्तिमभिप्रेत्योक्तम्—'नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते' इति । हेत्वन्तरमाह—ब्रह्म ते ब्रवाणीति । उपक्रमविरोधादिति । उपक्रमपरामर्शोपसंहारपर्यालोचनया हि वेदान्तानां सर्वेषामेव ब्रह्मपरत्वमुपपादितं प्रथमेऽध्याये । न च त्यामाकाङ्क्षायां दूरतरस्थेन प्रतिषेधेनेषां संवन्धः संभवति । यच्च बाङ्गनमातीततया ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधस्य न प्रमाणान्तरविरोध

आनन्दगिरिव्याख्या

वमित्याह—न त्विति । ब्रह्ममात्रनिषेधे निषेधद्वयवैयर्थ्यमेकेनैव कृतत्वादित्याशङ्क्याह—अभ्यासस्त्विति । पक्षद्वयमनूय सिद्धयति—एवमिति । तत्र प्रथममुत्सृजमेव प्रथमं पक्षं प्रत्याह—नेति । प्रसङ्गस्येष्टत्वं निराचष्टे—किञ्चिद्धीति । वास्तवमभिज्ञात्वारोप्यं निरस्यमित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । अस्तु तर्हि शून्यमेव वस्तु तदधिगम्येतरक्षिपेधं नेत्याह—तच्चेति । निषेधतदर्थः । लोकसिद्धपदार्थान्वययोग्यतावशेन वाक्यार्थस्वीकाराज्ज्ञेयं च निषेधादर्शनात्प्रामयं नेदमिहेति धर्मप्रतियोगिपठितस्यैव निषेधदृष्टेर्विशेषणवशेऽप्यस्मावश्यकत्वादयुक्ता शून्यतेत्यर्थः । किञ्च लोके भ्रमस्य साधिष्ठानत्वोपलम्भात्तत्त्विकाधिष्ठानाभावे प्रत्यक्षादिति द्वैतस्यैव तात्त्विकत्वापातादिति निरवकाशः स्यादित्याह—अपीति । दृष्टसर्वनिषेधे तदेकदेशवस्तुभीरुपापवादाभावादुत्सर्गस्येति न्यायात्पूर्वदृष्टस्य वस्तुत्वप्रसङ्गादनवधिकनिषेधायोगादवस्तुतया च शून्यमानात्तद्वृष्ट्या पूर्वदृष्टनिषेधासंभवात् तत्पथन्तो निषेधभावः । पूर्वपक्षान्तरं प्रत्याह—नापीति । प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य ब्रह्मणश्चाविद्यया प्रत्यक्षादिभिर्वा द्वैतवदप्राप्तेः शब्देन प्राप्तस्य ते निषेधे पक्षप्रक्षालनन्यायात् तत्रिषेध इति भावः । ब्रह्मणो निषेधत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—ब्रह्मेति । आदिपदेन ब्रह्मविद्यामोक्षीकदिरूपक्रमो गृह्यते । ब्रह्मणः सत्त्वात्तत्त्वियोगुणदोषोक्तेरपि न तन्निषेध्यमित्याह—असत्त्विति । ब्रह्मणः सम्मात्रत्वसिद्धेरपि न तन्निषेध्यमित्याह—अस्तीति । किञ्च सर्वेषु वेदान्तेषु साक्षाद्वा परंपरया वा ब्रह्मैव प्रतिपाद्यते तेन तद्विरोधादपि न तन्निषेध्यमित्याह—

पलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इत्यवधारणविरोधात् । सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च । वाङ्मन-
सातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते । नहि महता परिकरवन्धने 'ब्रह्मविदामिति
परम्' (तै० २।१।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रति-
पाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलष्येत । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शानं वरम्' इति हि न्यायः ।
प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इति ।
एतदुक्तं भवति-वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति ।
तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिष्टे ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते प्रकृतैतावत्त्वं
प्रतिषेधति । तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्नन्धेऽधिदैवतमध्यात्मं च । तज्जनितमेव च
वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्युपामाभिर्दृशि-
तम् । अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोषित्वानुपपत्तेः । तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनि-
हितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन
पृथ्वा निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्नन्धे न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजि-
ज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति । तत्र कल्पितरूप-

रत्नप्रभाख्या

पार्हं ब्रह्म इति तत्राह—वाङ्मनसेति । ब्रह्मणो वागायतीतत्वं निषेधार्थं न चेत् किमर्थं तदुक्तिरित्यत आह—
प्रतिपादनेति । उक्तार्थे सूत्रं योजयति—तदेतदित्यादिना । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन
प्रकृतत्वावेतीति निषेध इत्यर्थः । ननु 'आदित्यमण्डले पुरुष' इति ब्रह्माग्र्यत्र प्राधान्येनोक्तमिलाशङ्क्य पुरुषो लिङ्गात्मा
अमूर्तरसत्वश्रुत्या भूतजनितत्वभानात् स्वरूपत्वश्रुतेष्वेत्याह—तज्जनितमेवेति । रूपरूपिणोरभेद उक्तः । ननु वास-
नामय रूपमेव किमित्युपमीयते प्रसिद्धरूपमेव किं न स्यादित्यत आह—अमूर्तरसस्येति । रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन
प्रकृतत्वं फलितमाह—तदिति । प्रतियोगित्वेन समर्थत इत्यर्थः । न चार्थतः प्राधान्याद्ब्रह्मणो निषेधः राशो भूयो नास्ती-
त्यत्र राजनिषेधप्रसङ्गादिति भावः । किञ्चात्र ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् न निषेध इत्याह—प्रपञ्चिते चेति । ननु ब्रह्मणि

भामतीव्याख्या

तत्राह—वाङ्मनसातीतत्वमपीति । प्रतिपादयन्ति वेदान्ता महता प्रयत्नेन ब्रह्म । नच निषेधाय तत्प्रतिपादनम्, अनुप-
पत्तिरित्युक्तमस्मात् । इदानीं तु निष्प्रयोजनमित्युक्तं 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य' इति न्यायात् । तस्माद्वेदान्तवाचा मनसि संनिधाना-
द्ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वं नाजसमपि तु प्रतिपादनप्रक्रियोपक्रम एषः । यथा गवादयो विषयाः साक्षाच्छ्रवणहिकया प्रतिपाद्यन्ते
प्रतीयन्ते च नैवं ब्रह्म । यथाहुः—'भेदप्रपञ्चविलयव्यतिरेकं च निरूपणमिति ।' ननु प्रकृतप्रतिषेधे ब्रह्मणोऽपि कस्माच्च प्रतिषेध
इत्यत आह—तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं चेति । प्रधानं प्रकृतं प्रपञ्च्य प्रधानं न ब्रह्म तस्य पृथग्वन्ततया प्रपञ्चाच्छब्दकत्वे-
नाप्रधानत्वादित्यर्थः । ततोऽन्यद्वितीतीति नेति नेतीति प्रतिषेधादन्यद्वयो ब्रवीतीति तर्हिचनम् । नन्वेतस्मादित्यस्य यदा
नयेतस्मादिनि निति नेत्यादिष्टाद्ब्रह्मणोऽन्यत्परमस्तीति व्याख्यानं तदा प्रपञ्चप्रतिषेधादन्यद्वयं ब्रवीतीति व्याख्येयम् । यदा तु
नयेतस्मादिति सर्वनाम्ना प्रतिषेधो ब्रह्मण आदेशः परामुच्यते तदापि प्रपञ्चप्रतिषेधमात्रं न प्रतिपन्नव्यमपि तु तेन प्रतिषेधेन भाव्यस्य

आनन्दगिरियव्याख्या

सर्वेति । यत्तु वाङ्मनसातीतत्वादसंभावितसद्भावं निषेधार्हं ब्रह्मेति, तत्राह—वागिति । तत्र हेतुः—नहीति । केनाभिप्रायेण
नहि वाङ्मनसातीतत्वमुक्तं, तत्राह—प्रतिपादनेति । वागायतीतत्वेनासत्त्वं ब्रह्मणोऽन्यगम्यमानं किमर्थं प्रतिपादनप्रक्रियेत्याशङ्क्य तद-
एतदिति । पञ्चदशयोगे फलितं निषेधार्थं निगमयति—तस्मादिति । उक्तोऽर्थे सूत्रमवतार्य योजयति । तदेतदित्यादिना ।
ब्रह्मणो रूपद्वयं निषेधमित्यत्र हेतुमाह—तद्वीति । प्रकृतत्वमात्रेण निषेधे ब्रह्मणोऽपि निषेधः स्यादविशेषादित्याशङ्क्य तद-
चेति । ब्रह्मणः पृथग्वन्तपदवाच्यतया प्रपञ्चाच्छब्देनाप्रधानत्वात्प्रपञ्च एव प्रधानतया निषेधेन संबन्धन इत्यर्थः । पुरुषशब्दव्यवहारात्तस्य
च ब्रह्मविषयत्वाद्ब्रह्मापि प्रपञ्चितमिलाशङ्क्य पुरुषशब्दस्यात्र लिङ्गात्मविषयत्वान्मेवमित्याह—तदिति ।
श्रुतमभिरुच्यते प्रसिद्धरूपत्वमेव पुरुषस्य कुतो नेष्टमिलाशङ्क्याह—अमूर्तेति । रूपद्वयस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वे फलमाह—तदिति ।
अन्यतो ब्रह्मणोऽपि प्राधान्येन प्रकृतत्वाविशेषाभिप्रेक्ष्यत्वमिलाशङ्क्याह—ब्रह्म त्विति । अर्थतस्तस्य प्राधान्येऽपि राजपुरुषाश्रयि-
शब्दतः प्रधानतया प्रकृतं रूपद्वयमेव प्रकृतपरामर्शनेतिशब्देनानूय निषेधमित्यर्थः । ब्रह्मणस्तद्धि प्राधान्येनाप्रकृतत्वादुत्तराणि न
प्रतिपाद्यन्तेत्याशङ्क्याह—प्रपञ्चिते चेति । एवमुपक्रमेऽपि कथं वाक्यार्थो निर्णायितमिलाशङ्क्याश्रयोपापवादादयं सूत्रमिति—
तत्रेति । निर्दिष्टं भूतलमित्युक्ते घटस्यान्यत्र सत्त्ववद्ब्रह्मणि रूपद्वयनिषेधेऽपि ततोऽन्यत्र तद्वेदित्याशङ्क्याह—तदास्पदमिति ।

प्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते । तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेती प्रतिषिद्धम् । युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनः ननु ब्रह्मणः सर्वकल्पनामूलत्वात् । न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या । कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्म रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—‘प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पृशेनं वरम्’ इति यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मा कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम् । द्वौ च प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतरां प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् । अथवा ‘नेति नेति’ (बृ० २।३।६) इति वीप्सायाम्नीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः । परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद् किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात् । वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रति धादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रति धति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः । इतश्चैष एव निर्णयः । यतस्ततः प्रतिषेधाद्भूयो ब्रवी ‘अन्यत्परमस्ति’ (बृ० २।३।६) इति । अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परः स्तीति ब्रूयात् । तत्रैवाक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः । न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते न पु

रक्तप्रभाष्याख्या

निषिद्धस्याप्यन्यत्र स्थितिसंभवात् कथं कल्पितत्वमित्यत आह—तदास्पदमिति । उपादाने निषिद्धस्यान्यत्र न रित्यर्थः । यत्तु द्वैतनिषेधे प्रत्यक्षादिविरोध इति, तत्राह—युक्तं चेति । स्थापितं हि आरम्भणाधिकरणे प्रत्यक्षदे हारिकं प्रामाण्यं न तत्त्वावेदकमिति, अतस्तत्त्वतो निषेधान् विरोध इति भावः । ननु वस्तुत्वाद्वैतवद्ब्रह्मणोऽपि निषेधे नेत्याह—नस्त्विति । द्वैतभावाभावसाक्षित्वादशक्यो निषेध इत्यर्थः । न चेत्यादि स्पष्टार्थम् । यच्चोक्तं निषेधाभ्यां रूप ब्रह्म च निषिध्यत, इति तत्राह—द्वौ चैताविति । उद्देश्यविषेयार्थानां संख्यासाम्ये यथाक्रमं संबन्ध इति न्य ‘यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्’ इति पाणिनिसूत्रसिद्धस्तेनात्र रूपद्वयोद्देशेन निषेधद्वयविधिरित्यर्थः । वीप्सापक्षे इयनिषेधाजिज्ञासाशान्तिरिति विशेषमाह—परिगणितेति । मूर्ते नामूर्ते नेत्येवं विशिष्यनिषेधे जिज्ञासा न शक्यर्थः । सूत्रशेषं व्याचष्टे—इतश्चेति । प्रतिषेधानुपपत्त्या ब्रह्मास्तीत्यवगतं भूयः पुनः परमस्तीति धृतिः साध

भास्तीत्याख्या

ब्रह्मोपलक्ष्यते । कस्मादित्यत आह—ततो ब्रवीति च भूय इति । यस्मात्प्रतिषेधस्य परस्तादपि ब्रवीति । अथ नामधेयं नाम सत्यस्य सत्यमिति तद्व्याचष्टे धृतिः—‘प्राणा वै सत्यम्’ इति । माहारजनाद्युपमितं लिङ्गमुपलक्ष्यति । तत् सत्यमितरापेक्षया तस्यापि परं सत्यं ब्रह्म । तदेवं यतः प्रतिषेधस्य परस्ताद्ब्रवीति तस्मान्न प्रपञ्चप्रतिषेधमात्रं ब्रह्मापि तु भा

आनन्दगिरिय्याख्या

उपादानादन्यत्र कार्यायोगात्तत्र निषिद्धस्य न कापि सत्तेति भावः यत्तु प्रत्यक्षादिसिद्धस्य द्वैतस्य न निषेधस्तद्विरोधादिति, तत्रा युक्तं चेति । तत्त्वावेदनमानासिद्धत्वाद्वाचारम्भणादिशब्दाच्च द्वैतस्य वस्तुसत्त्ववैयुक्त्या निषेध्यतेति भावः । सत्त्वेन सिद्धं निषिध्यते चेद्ब्रह्मणोऽपि तथा सिद्ध्यतिशेषान्निषेधताद्वस्त्वमित्याशङ्क्याह—न स्त्विति । आरोपाधिष्ठानत्वेन निषेधावधिषेन च पात्रं ब्रह्मणो निषेध्यतेत्यर्थः । द्वे वावेत्सादिनोक्तं रूपद्वयं निषिध्यते चेत्पङ्कप्रक्षालनन्यायात्प्रसज्यप्रतिषेधे गौरवं स्यादित्याशङ्क्या नचेति । अत्रेति रूपद्वयनिषेधपक्षोक्तिः । शङ्का न कार्यत्वत्र हेतुमाह—यत इति । अप्रतिपाद्यं चेदनुवाच्यत्वं न च प्रा विनाऽनुवादः, तत्राह—लोकेति । तथापि कथं पङ्कप्रक्षालनन्यायो न स्यादित्याशङ्क्य निषेधस्य फलवत्त्वादित्याह—शुद्धे उक्तरीत्या निषेधस्य निर्दोषत्वमुक्तं निगमयति—इति निरवद्यमिति । द्वौ निषेधौ तयोरेवैयर्थ्यां सर्वं निषेध्यमित्युक्तं प्रत्या द्वौ चेति । संभावितं पक्षान्तरमाह—यद्वेति । भावाभावविषयत्वेन वा निषेधद्वयं विवक्षितम् । पक्षान्तरमाह—अथ वीप्सापक्षे वाक्यार्थमाह—इतीति । यावदिति पक्षान्तरेभ्यो विशेषार्थम् । तेपु निराकाङ्क्षो वाक्यार्थो न सिध्यतीत्याह—परी वीप्सापक्षे निराकाङ्क्षा वाक्यार्थधीरिति विशेषमाह—वीप्सायां त्विति । सूत्रावयवव्याख्यामुपसंहरति—तस्मादिति । वान्तरमादाय व्याकरोति—इतश्चेति । कथं तावता निषेधस्य नाभावावसानत्वं, तत्राह—अभावेति । नेति नेतीति निषे रमस्तीति प्रतिपादकं किमितिपक्षायामादेशनिषेचनवाक्यमेवेत्यक्षरयोजनया दर्शयति—तत्रेति । निर्वचनप्रकारमेवाकाङ्क्ष कमाह—नेत्यादिना । हि यस्मान्नेति नेत्यादिष्टादेतरमाद्ब्रह्मणोऽन्यत्त्वतिरिक्तं नास्ति ब्रह्मैव परमस्ति तस्मान्नेति नेत्युच्यते

स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयत्यन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति । यदा पुनरेवमक्षराणि यो-
ज्यन्ते न ह्येतस्मादिति नेति नेति । नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणो-
ऽस्तीति । तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—
'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० २।१।२०) इति हि ब्रवीतीति । तच्च
ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति । अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत ।
तस्माद्ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—तदव्यक्तम-
निन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्येर्दे-
वैस्तपसा कर्मणा वा' (मुण्ड० ३।१।८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ०
३।१।२६) 'यत्तदद्रेष्टव्यमग्राह्यम्' (मुण्ड० १।१।६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरु-
क्तेऽनिलयने' (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते'
(भ० गी० २।२५) इत्याद्या ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपिचैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संराधनं च भक्ति-
ध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां
श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुतिः—'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूतस्मात्पराङ्पश्यति
नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमुत्तमविच्छन्' (क० ३।१) इति ।

रत्नप्रभाव्याख्या

वीतीत्यर्थः । तच्चेति । अवशिष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥ नन्वग्राह्यत्वाद्ब्रह्म नास्तीति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्या-
प्ते—यत्प्रतिषिद्धादिति । रूपाद्यभावादव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यं न त्वसत्त्वादित्यर्थः । अन्यैर्देवेरिन्द्रियान्तरैर्न गृह्यत-
त्यन्वयः ॥ २३ ॥ तर्हि कदा ग्राह्यमिति शङ्कोत्तरं सूत्रं व्याख्याति—अपि चैनमिति । चत्त्वर्थः । इन्द्रियैर्न गृह्यते अपि
[संराधनेन शास्त्रसंस्कृतमनसेत्यर्थः । भक्तिध्यानाभ्यां प्रत्यगात्मानश्चित्ते प्रकर्षेण निधानं स्थापनं प्रणिधानं जपनमस्कारा
देगदिशब्दार्थः । स्वयंभूरीश्वरः । खानीन्द्रियाणि । पराङ्मनात्मग्राहकाणि कृत्वा व्यतृणत् नाशितवान् । स हि तेषां नाशो
यदवर्थाग्रहितया सर्जनं तस्मात्तेषां तथा सृष्टत्वात्, सर्वो लोकः परागर्थमेव पश्यति नान्तरात्मानम् । कश्चित् भूरी धीमा-
नपुत्तचक्षुर्निरुद्धेन्द्रियः शुद्धे चेतसि प्रत्यगात्मानं शास्त्रेण पश्यति मोक्षार्थीत्यर्थः । ततः कर्मणा विशुद्धचित्तो ज्ञानाद्यवगत्वो-

भामतीव्याख्या

मिति । तदेवं पूर्वस्मिन् व्याख्याने निर्वचनं ब्रवीतीति व्याख्यातम् । अस्मिन्सु सत्यस्य सत्यमिति ब्रवीतीति व्याख्येयम् । शेषम-

आनन्दगिरीयव्याख्या

सर्वाभावविधेति निर्वचनस्यार्थः । एवंप्रकारमेतन्निर्वचनमभिषिद्धं ब्रह्म वदतीत्याह—तच्चेति । निर्वचनमेवानभिषिद्धं ब्रह्माहंति श्रुतियो-
क्तम् । श्दानां नामधेयमेव निषेधावशिष्टं ब्रह्माहंति विधान्तरेण श्रुतियोजनया दर्शयति—यदेति । किं तन्नामधेयं तदाह—
ते । प्रकृतनिषेधस्याभावान्तत्वं निषेधाथोऽप्यशब्दः । ननु नामधेयं निषेधस्याभावान्तत्वेऽपि तद्विषयं पटिभ्यते । नेत्याह—तच्चेति ।
यथावयवव्याख्यामुपसंहरति—तस्मादिति ॥ २२ ॥ अनिषेधत्वेन वस्तुमूलं ब्रह्मोक्तत्वा तस्याग्राह्यत्वेनासत्त्वमाशङ्क्य प्र-
—तदव्यक्तमिति । सूत्रव्याख्येयमाह—यत्तदिति । आत्मनि गृह्यमाणे तदभिन्नब्रह्मापि ग्राह्यमिति वापाद्यते भावत्वे पट-
—तदिति । कथमिन्द्रियाग्राह्यत्वं ब्रह्मणः सिद्धं, तत्राह—आह हीति । अन्यैर्देवेरिन्द्रियान्तरैरिति यावत् । श्रुत्युक्ति-
न मुक्तावयवं व्याख्याय विधान्तरेण व्याचष्टे—स्मृतिरिति ॥ २३ ॥ आत्मैव ब्रह्माविद्यावृत्तं चैत्र कदाचिदपि गृह्येतस्याथ-
ह—अपीति । सूत्रं व्याकरोति—अपिचेति । नास्य सदा ग्राह्यत्वमग्राह्यत्वं वा समाध्यवश्यायां प्रत्यक्त्वेन भानादित्यर्थः ।
अप्यानाभ्यां प्रकर्षेण स्वीये मनसि प्रतीचो निधानं भक्तिध्यानप्रणिधानम् । आदिपदेन तत्पूर्वकजपनमस्कारादिप्रवृत्तम् । तत्र
वैकं प्रमाणमाह—कथमिति । स्वयंभूः लघु परमात्मा खानि छिद्रोपलक्षितानीन्द्रियाणि पराङ्मनात्मविषयाणि व्यतृण-
मेवमाह हि तेषां हिंसा यदसदर्थविषयतया समर्पणमित्याह—पराङ्गीति । तेषां तथासृष्टत्वे गमकमाह—तस्मादिति ।
पराङ्मेवार्थमिन्द्रियैः पश्यति नान्तरात्मानं कथं तर्हि लोकस्य तत्र ज्ञानमित्याशङ्क्य साधनचतुष्टयवतः सामाधिकाले शुद्धं मनसि
कलेन तद्विधिरित्याह—कश्चिदिति । ततो निलाद्यनुष्ठानात् । शुद्धबुद्धिर्ज्ञानस्य करणव्युत्पत्त्याऽन्तःकरणस्य प्रमादो नैर्मम्यं तेन

‘ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ (मु० ३।१।८) इति चेत् माद्या । स्मृतिरपि—‘यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्ज नास्तस्यै योगात्मने नमः ॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्’ इति चैवमाद्या ॥ २४ ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति । नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवचावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा प्रकाशाकाशसवितुप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसुपाधिभूतेषु सविशेषा इव वभासन्ते न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति । एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वस्त्वैकात्म्यमेव । तथाहि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतश्च स्वाभाविकत्वाद्भेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्ते प्राप्तेनात्मनैकतां गच्छति । तथाहि लिङ्गम्—‘स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० ३।२।९) ‘ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति’ (बृ० ४।३।६) इत्यादि ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये । कचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदं व्यपदिश्यते ‘ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ (मुण्ड० ३।१।८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वे द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च । ‘परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्’ (मु० ३।२।८) इति गन्तुगन्तव्यत्वेन ‘यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति’ इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन । कचिच्च तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) ‘अहं ब्रह्मास्मि’ (बृ० १।३।१०) ‘एष त आत्मा सर्वान्तरः’ (बृ० ३।३।१) ‘एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ (बृ० ३।७।३) इति । तत्रैवमुभयव्यपदेशो सति

रत्नप्रभाष्याख्या

त्कर्षेण संध्यायंस्तं निष्कलं पश्यतीत्यर्थः । विनिद्राः वितमस्काः, तत्र हेतुजितश्वासत्वं प्राणायामनिष्ठत्वं, युञ्जाना ध्यानि योगलभ्यः आत्मा योगात्मा ॥ २४ ॥ यथा प्रकाशादय उपाधिषु भिद्यन्ते न स्वतः, एवं प्रकाशाधिदात्मनि ध्यानां मेणुपाधौ भिद्यते स्वतस्तस्यावैशेष्यमेकरसत्वमेव तत्त्वमसीत्यभ्यासादिति सूत्रयोजना ॥ २५ ॥ जीवस्य ब्रह्मात्मत्वफलरूपलिङ्गादपि भेद औपाधिक एवेत्याह सूत्रकारः—अतोऽनन्तेनेति ॥ २६ ॥ भेदाभेदपूर्वपक्षसूत्रद्वयस्य संगतिमाह तस्मिन्नेवेति । यथाहित्वेनाभेदः । कुण्डलाख्यस्य सर्पावस्थाविशेषस्य कुण्डलत्वेन भेदः । तथा जीवस्य ब्रह्मत्वेनाभेदोऽत्वेन भेदः । यद्वा सूर्यप्रकाशयोरेकतेजस्त्वधर्मीवच्छेदेन भेदाभेदजीवपरयोरपि एकैकैवात्मत्वधर्मेण भेदाभेदो धृतित्वाकार्याविति सूत्रद्वयार्थः । कुण्डलत्वं वलयाकारत्वं आभोगत्वं वकाकारत्वं, प्रांशुत्वं दीर्घदण्डाकारत्वं उन्नतमुखत्वमा

भामतीव्याख्या

तिरोहितार्थम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ **उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।** अनेनाहिरूपेणभेदः कुण्डलादितु भेद इत्युक्तं तेन विषयभेदाद्वेदाभेदयोरविरोध इत्येकविषयत्वेन वा सर्वदोषलब्धेर्विरोधः । विरुद्धमिति हि नः क संप्रत्ययप्रमाणेनोपलभ्यते । आगतमत्र प्रमाणादेकगोचरावपि भेदाभेदो प्रतीयमानो न विरोधमावहतः सवितृप्रकाशयोरिव प्रत्यक्ष

आनन्दगिरीयव्याख्या

निरवयवं निष्प्रपञ्चं प्रत्यक्षं ध्यायन्नविषयत्वेन तत्साक्षात्करोतीत्याह—**ज्ञानेति ।** विगता निद्रा येभ्यस्ते तथेति स्वापादिवेकः । जितः ५ यैरिति प्राणायामनिष्ठतोक्तिः । संतुष्टा इति मनोव्याकुलताव्यावृत्त्या स्वप्नादिवेकः । संयतानीन्द्रियाणि येषामिति जागरिताद्वेदः । एव विशेषणानि यमनियमादिसर्वोपसंग्रहार्थानि । योगात्मत्वं तज्जधीगम्यत्वम् ॥ २४ ॥ सूत्रान्तरव्यावर्त्यमाह—**नन्विति ।** व्याससूत्रमवतारयति—**नेतीति ।** प्रकाशादिवचेति भागं विभजते—**यथेति ।** यद्यपि दृष्टान्तादात्मा प्रकाशश्चिदतोऽज्ञानतत्त्वकर्मण्युपाधौ सविशेषस्तथापि वस्तुतस्तस्यावैशेष्यमेकरस्यमेवेति दार्ष्टान्तिकमाह—**एवमिति ।** अभ्यासादिति व्याचष्टे—**तद्दीति ॥ २५ ॥** जीवस्य ब्रह्मात्मत्वासिद्धतिवशादपि वास्तवमैक्यमौपाधिकं नानात्वमित्याह—**अत इति ।** अतोऽनन्तेन व्याचष्टे—**अतश्चेति ।** अमेदस्य स्वाभाविकत्वे सूत्रावयवं व्याकुर्वाणो हेतुमाह—**तथाहीति ।** आदिपदेन ब्रह्मविदाप्नोति एत्यादि ग्राह्यम् ॥ २६ ॥ जीवब्रह्मणोरात्यन्तिकमैक्यमुक्त्वा भेदाभेदवादमुत्थापयति—**उभयेति ।** सूत्रद्वयस्य संगतिमाह—**तस्मिन्नेति ।** तदुपन्यासफलमाह—**स्वमतेति ।** अस्तु तर्हि भेदव्यपदेशात्तयोर्भिन्नत्वमेव, तत्राह—**कचिदिति ।** अन्यतरोरेकमिति तदन्यस्य त्याज्यतामाशङ्क्याह—**तत्रेति ।** भेदो नियतो गृह्यते चेदभेदोक्तिरनालम्बना स्यादिति द्रष्टव्यम् । अन्यतरोरेकमिति निर

यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात् । अत उभयव्यपदेशदर्शनाद-
हिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति । यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद
एवमिहापीति ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

अथ वा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्त-
भिन्नाबुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवेतद्भवितुमर्हति । तथा ह्यविद्याकृतत्वा-
द्वन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते । यदि पुनः परमार्थ एव बद्धः कश्चिदात्माहिकुण्डलन्या-
येन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य
बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वात्मान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्य-
वद्व्यपदिशति । अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेधानुवदत्यर्थान्तरवि-
वक्षया । तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः । यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—‘नान्यो-
ऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (बृ० ३।७।२३) इत्येवमादि । ‘अथात आदेशो नेति नेति’ (बृ० २।३।६)
‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्’ (बृ० २।५।१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणा-
ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

आशयः ॥ २७ ॥ २८ ॥ सिद्धान्तसूत्रम्—पूर्ववद्वेति । धर्मभेदेनकधर्मण वा भेदाभेदस्वीकारे भेदस्य सत्य-
त्वाभेदवदनिवृत्तिः स्यात् । एकत्रैव भेदाभेदस्वीकारे लोके विरोधकथोच्छेद इत्यपि द्रष्टव्यं, तस्मान् निष्प्रपञ्चं
विदेकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमस्तीति सिद्धम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ यदुक्तं नेति नेतीत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मातिरिक्त

भामतीव्याख्या

माणज्ज्ञेदाभेदाविति ॥ २७ ॥ प्रकाशान्तरेण भेदाभेदयोरविरोधमाह—प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ तदेवं परमतमुपन्यस्य
स्वमतमाह—पूर्ववद्वा । अयमभिप्रेतः—यस्य मतं वस्तुनोऽहित्वेनाभेदः कुण्डलत्वेन भेद इति, स एवं ब्रह्माणः प्रष्टव्यो
नायेत, किमहित्वकुण्डलत्वे वस्तुनो भिन्ने उताभिन्ने इति । यदि भिन्नं, अहित्वकुण्डलत्वे भिन्नं इति वक्तव्यं न तु वस्तुनस्ताभ्यां
भेदाभेदौ । नन्यभेदाभेदाभ्यामन्यद्विभक्तमभिन्नं वा भवितुमर्हति । अतिप्रसङ्गात् । अथ वस्तुनो न भिन्नं अहित्वकुण्डलत्वे तथा सति
को भेदाभेदयोर्विषयभेदस्तयोर्वस्तुनोऽनन्यत्वेनाभेदात् । न चैकविषयत्वेऽपि सदानुभूयमानत्वाद्भेदाभेदयोरविरोधः स्वरूपविरुद्धयो-
रप्यविरोधे क्वा नाम विरोधो व्यवतिष्ठेत् । नच सदानुभूयमानं विचारासहं भाविकं भवितुमर्हति । देहात्मभास्यापि सर्वदानुभूयमानस्य
भाविकत्वप्रसङ्गात् । प्रपञ्चितं चेतद्वत्, भिः प्रथमसूत्र इति नेह प्रपञ्चितम् । तस्मादन्यविद्याविक्रीडितमेवैकस्यात्मनो जीवभावेभेदो
न भाविकः । तथाच तत्त्वज्ञानादविद्यानिवृत्तावपवर्गसिद्धिः । तात्त्विकत्वे त्वस्य न ज्ञानाविवृत्तिर्भवः । नच तत्त्वज्ञानादप्यदपव-
र्गसाधनमस्ति । यथाह श्रुतिः—‘तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽन्यनाय’ इति । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

आनन्दगिरीयव्याख्या

स्वतत्वायोगे फलितमाह—अत इति । अत्रेति ब्रह्मात्मोक्तिः । अहिकुण्डलवदित्युक्तं विवृणोति—यथेति ॥ २७ ॥ अहिकुण्डल-
न्यायेन परस्य जीवः संस्थानभूतो दर्शितः । संप्रति तदेकदेशभूत इति विधान्तरमाह—प्रकाशेति । तत्पात्रोक्ति—अथयेति ।
ब्रह्मात्मनस्त्वमेतदित्युक्तम् । वृक्षान्तं व्याचष्टे—यथेति । अभेद एव तर्हि तथोक्त्याह—अथ चेति । इहापीति पूर्ववद्ब्रह्मात्मोक्तिः
परमतमुपसंहर्तुमिति शब्दः ॥ २८ ॥ स्वसिद्धान्तमाह—पूर्ववद्वेति । तत्प्रपञ्चयति—यथेति । तर्हि भेदस्त्वेव प्रतिपाद्यता । भवेत् ।
प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धस्य तद्भावादित्याह—अभेदमिति । परमतायोगे स्वमतमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ २९ ॥ स्वमतसंभवे
हेत्यन्तरमाह—प्रतिषेधाच्चेति । चकारार्थमाह—इतश्चेति । इतःशब्दार्थं विवृण्वन्नादौ चेतनभेदान्निषेधमुदाहरति—यदिति ।
अचेतनभेदनिषेधं दर्शयति—अथेति । उक्तनिषेधप्रकारमकशास्त्रतात्पर्यं संशुक्लति—ब्रह्मेति । तदेवं निषेधवाक्याधालोचनया निष्प्र-
पञ्चं ब्रह्म वाक्याधालन्ययोग्यं तत्पदलक्ष्यमिति ॥ ३० ॥ नेति नेनेति ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं निषेधमित्युक्तं तदयुक्तं सेत्वादिश्रव्यपदेशेभ्यो

परमतः सेतुन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥



अस्त्यन्वद्ब्रह्मणो नो वा विषते ब्रह्मणोऽधिकम् ॥ सेतुस्वोन्मानवस्वाच्च संबन्धाद्भेदव्यपदेशः ॥ १ ॥

धारणास्सेतुतोन्मानमुपास्यै भेदसंगती ॥ उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥ २ ॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितमस्मात्परमन्यत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपदं संशयः । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्त्वं प्रतिपादयन्तीव । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः—सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात्संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति । सेतुव्यपदेशस्तावत्—‘अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः’ (छा० ८।४।१) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मण सेतुत्वं संकीर्तयति । सेतुशब्दश्च हि लोके जलसंतानविच्छेदकरो मृदार्वादिप्रचये प्रसिद्धः इह तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति । ‘सेतुं तीर्त्वा’ (छा० ८।४।२) इति च तरतिशब्दप्रयोगात् । यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते । उन्मानव्यपदेशश्च भवति तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशकं षोडशकलमिति । यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्पापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम् । तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्ये

रत्नप्रभाष्याख्या

वस्तु निषिध्यत इति तदयुक्तम् । सेत्वादिश्रुतिभिर्वस्त्वन्तरास्तित्वमानादित्याक्षिपति—परमत इति । बुभ्वाद्यधिकरणे सेतुशब्दो विधारकत्वेन गौणो व्याख्यातस्तथाप्युन्मानादिश्रुतीनां गतिमजानतोऽयं पूर्वपक्षः, उन्मानादिश्रुतीनां मुख्यत्वात्, सद्रथं ब्रह्मेति फलं सिद्धान्ते तूक्ताद्वितीयतत्पदलक्ष्यसिद्धिरिति विवेकः । ब्रह्म सद्रथं, सेतुं लौकिकसेतुवत् । तीर्णत्वध्रुतेष्वेत्याह—सेतुं तीर्त्वेति । जाङ्गलं वातभूयिष्ठमिति वैद्योक्तेः वातप्रचुरो देशो जाङ्गलः, देशमात्रं प्राह्यम् । दिशश्चतस्रः कलाः प्रकाशवान्नाम पादः, पृथिव्यन्तरिक्षं यौः समुद्र इत्यनन्तवान्नाम पादः, अग्निः श्वन्द्रो विद्युदिति ज्योतिष्मान्नाम पादः चक्षुः श्रोत्रं वाङ्मन इत्यायतनवान्नाम पाद इति चतुष्पाद्ब्रह्मेति पादानामर्थानि शक्ता अस्त्येत्यष्टाशकं, पादेषु चतुर्षु प्रत्येकं चतस्रः कला इति षोडशकलमित्यर्थः । षोडशपणपरिमितं ताम्रं कार्पाप

भामतीव्याख्या

परमतः सेतुन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । यद्यपि श्रुतिप्राचुर्याद्ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं नास्तीत्यवधारितं तथापि दिश्रुतीनामापाततस्तद्विरोधदर्शनात्प्रतिसमाधानार्थमयमारम्भः । जाङ्गलं स्थलम् । प्रकाशवदनन्तवज्ज्योतिष्मादयतनवदिनि ब्रह्मणश्चत्वारस्तेषां पादानामर्थान्यष्टौ शक्ताः । तेऽष्टावस्य ब्रह्मण इत्यष्टकं ब्रह्म । षोडश कला अस्त्येति षोडशकलम् । तत्रायाः प्रतीची दक्षिणोदीचीति चतस्रः कला अवयवा इव कलाः स प्रकाशवान्नाम प्रथमः पादः । एतदुपासनायां प्रकाशवान् भवतीति प्रकाशवान् पादः । अथापराः पृथिव्यन्तरिक्षं यौः समुद्र इति चतस्रः कला एव द्वितीयः पादोऽनन्तवान्नाम । सो नन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्यमानोऽनन्तत्वमुपासकस्यावहतीति अनन्तवान् पादः । अथाग्निः सूर्यश्चन्द्रमा विद्युदिति चतस्रः कला

आनन्दगिरियव्याख्या

वस्त्वन्तरसत्त्वावगमात् । बुभ्वाद्यधिकरणे सेतुव्यपदेशस्य प्रतिनीतत्वेऽपि भेदादिव्यपदेशानां गतिमजानन्नाशङ्कते—परमिति विषयोक्तिपूर्वकं सवीजं संशयमाह—यदिति । सर्वश्रुतिविप्रतिपत्तिनिरासेनादर्थं ब्रह्मैव वस्तु नान्यदिति स्थिते कथमयमारम्भः स त्याशङ्काह—कानिचिदिति । मन्दाशङ्कानिरासाय तत्पदलक्ष्यस्याद्वयत्वप्रपञ्चाधोऽयमारम्भस्ततोऽस्य पादादिसंगतिर्सील्य पूर्वपक्षे सद्वितीयत्वाद्ब्रह्मणो द्वितीयनिषेधासिद्धिः । सिद्धान्ते तस्याद्वयत्वाद्द्वैतनिषेधोपपत्तिः । अन्यस्य निषेधाद्ब्रह्मणश्च श्रुतत्वात् चेद्ब्रह्मातिरिक्तस्यापि श्रुत्योक्तत्वादस्तितेति मत्वा पूर्वपक्षस्यैव योजयति—परमित्यादिना । इतिशब्दोऽक्षरयोजनासमाश्रयः । विद्युतोति—सेत्त्विति । ब्रह्मणः सेतुत्वेऽपि कथं सद्वितीयत्वमित्याशङ्क्य व्याप्तिमाह—सेतुशब्दश्चेति । ब्रह्म सद्वितीयं सेतुं लौकिकसेतुवदिति मत्वाह—इह चेति । इतश्च ब्रह्मसेतोः सद्वितीयत्वमित्याह—सेतुमिति । कथमेतावता वस्त्वन्तराणि तत्राह—यथेति । जाङ्गलं वातभूयिष्ठमित्युक्तत्वाद्वातबहुलो देशो जाङ्गलम् । इह तु न्यायसाम्येन स्थलमात्रमुक्तम् । द्वितीयं व्याकरोति—उन्मानेति । प्राची प्रतीची दक्षिणोदीचीति चतस्रः कलाः प्रकाशवान्नाम पादः, पृथिव्यन्तरिक्षं यौः समुद्र इत्यनन्तवान्नाम पादः, अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा विद्युदिति ज्योतिष्मान्नाम पादः चक्षुः श्रोत्रं वाङ्मन इत्यायतनवान्नाम पादः । एते पादाश्चत्वारोऽस्त्येति चतुष्पादुन्मानात्ततोऽन्ये पादानामर्थान्यष्टौ शक्तान्यस्वेत्यष्टाशकं चतस्रश्चतस्रः कला एकैकस्य पादस्येति षोडशकलं षोडशवयवमित्यर्थः । एवमुन्मानेऽपि वस्त्वन्तरास्तित्वं, तत्राह—यथेति । कार्पापणशब्देन षोडशपणानां संज्ञोक्ता । ब्रह्म सद्वितीयमुन्मितत्वात्समन्तवदित्याह—तथेति

वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते । तथा संबन्धव्यपदेशोऽपि भवति—‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति’ (छा० ६।८।१) इति ‘शारीर आत्मा’ (तै० २।३।१) ‘प्राज्ञेनात्मना संपरिष्कृतः’ (बृ० ४।३।२१) इति च । मितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण । जीवानां च ब्रह्मणा संबन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ । अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते । भेदव्यपदेशश्चेतमेवार्थं गमयति । तथाहि—‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते’ (छा० १।६।६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—‘अथ य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ (छा० १।७।५) इति । अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—‘तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम’ (छा० १।७।५) इति । सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—‘ये चामुष्मात्पराश्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च’ (छा० १।६।८) इत्येकस्य । ‘ये चैतस्मादर्वाश्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च’ (छा० १।७।६) इत्येकस्य । यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति ॥ ३१ ॥ एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

सामान्यात् ॥ ३२ ॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि । न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति प्रमाणाभावात् । न ह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित्प्रमाणमुपलभामहे । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम् । अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य । नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किंचिदजं संभवति ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छा० ६।३।१) इत्यवधारणात् । एकविज्ञानेन च स-

रत्नप्रभाव्याख्या

भवति तद्वत्सद्वयं ब्रह्म, परिमितत्वादित्यर्थः । संबन्धित्वाच्च नगरवदित्याह—तथा संबन्धेति । अन्यदमितमिति असाद्व्युपातमित्यर्थः । अन्यस्पर्शे अल्पत्वेन मितत्वनियमादिति मन्तव्यम् । भेदेनोक्तत्वाच्च घटवदित्याह—भेदव्यपदेशश्चेति । असाक्षिस्थस्यामुनादित्यस्थेन सहेति यावत् । आधारतोऽतिदेशतश्च भेदमुक्तावधितोऽपि तमाह—सावधिकं चेति । ॥ ३१ ॥ सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेत्यादिना । यदन्यत्किंच साधनादि वा, नाद्यः मानाभावात्, कार्यस्य ब्रह्मानन्यत्वनिर्णयाच्चेत्युक्ता न द्वितीयः प्रागुत्पत्तेरद्वयत्वावधारणादित्याह—नच ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति । उक्ता-

भामतीव्याख्या

ज्योतिर्मान्नाम पादस्तृतीयस्तदुपासनाज्ज्योतिष्मान् भवतीति ज्योतिष्मान् पादः । अथ प्राणधश्च श्रोत्र वागिति चतयः कलाध्रतुर्थः ॥ ६ आयतनवानाम् । एते प्राणादयो हि गन्धादिविषया मन आयतनमाश्रित्य भोगसाधनं भवन्तीत्यायतनवानाम् पादः । तदेवं चतुःपादब्रह्माष्टशकं षोडशकलमुन्मिश्रितं श्रुत्या । अतस्ततो ब्रह्मणः परमन्यदस्ति । स्यादतत् । अस्ति चेत् परमन्ययोच्यतामेतावदेति । अत आह—अमितमस्तीति प्रमाणसिद्धम् । न त्वेतावदित्यर्थः । भेदव्यपदेशश्च त्रिप्रकारः—आधारतश्चातिदेशतश्चावधेतश्च ॥ ३१ ॥ सामान्यात् । जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं च सेतुसामान्यम् । यथा हि तत्तवः पट विधारयति द्वापदानन्त्यादय ब्रह्मापि जगद्विधारयति तदुपपादकत्वात् । तन्मर्यादानां च विधारकं ब्रह्म । इतरातिचपलस्थूलबलवत्कण्डोऽभ्याकण्डिलो जलनिधिरिलापरिमण्डलमवगिलेत् । वडवानलो वा विस्फूर्जितज्वालाजटिलो जगद्ब्रह्मयाद्वावयेत् । पवनः प्रचण्डो

आनन्दगिरियव्याख्या

ज्योतिर्हेतुं व्याचष्टे—तथेति । तथापि कथं सद्वितीयत्वमित्याशङ्क्य व्याप्तिमाह—मितानां चेति । व्याप्तस्य हेतोः पक्षप्रमेता- ॥ ॥—जीवानां चेति । विमतं सद्वितीयं, संबन्धवत्त्वात्, नगरवदित्याह—अत इति । चतुर्दं हेतुं विवृणोति—भेदेति । तत्राधारनो- दित्यपदेशमुदाहरति—तथाहीति । अतिदेशतस्तं दर्शयति—अतिदेशं चेति । असेलक्षितस्य पुरुषस्येत्यर्थः । अनुनन्यादित्य- ण्डलत्वेन पुरुषेण सहेति यावत् । अवधितोऽपि भेदोक्तिं साधयति—सावधिकं चेति । एकग्रन्थेलाघिदैविकस्य पुरुषस्येति यावत् । नैकस्येलाध्यात्मिकस्य पुरुषस्येत्यर्थः । ऐश्वर्यस्य सावधिकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । विमतं सद्वितीयं, भेदव्यपदेशमाकवान्, घटव- त्यर्थः ॥ ३१ ॥ पूर्वपक्षमुपसंहरति—एवमिति । ब्रह्मणः सद्वितीयत्वे ततोऽन्यस्य निषेध्यलोक्तिरयुक्तेन वक्तुमितीत्युक्तम् । पूर्वपक्षमन्य सिद्धान्तयति—एवमिति । सूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति । निरोधप्रकारमभिनयति—नेति । तत्किं मादि किंवानादि । यमं प्रत्याह—प्रमाणेति । तदेव स्फुटयति—नहीति । अभेदेऽपि मानादृष्टिरन्येलाशङ्क्य जन्मादिमृत्प्रसारभ्य तत्र तत्र सिद्ध- र्थं सारयति—सर्वस्येति । आरम्भणाधिकरणसिद्धमर्थं कथयति—अनन्यत्वं चेति । द्वितीयं निराह—नचेति । अत्रातिरिक्त- त्वभावे श्रुतिवत्तदार्थपतिमाह—एकेति । ब्रह्मणः सद्वितीयत्वे मानान्युक्तानीति शङ्कते—नन्वेति । तत्र सेतुव्यपदेशस्य

वैविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तिस्त्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिष्वप्यपदेशा ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वं सूचयन्तीत्युक्तम् । नेत्युच्यते । सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयिष्यते । सेतुरात्मेति ह्याह न ततः परमस्तीति । तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इ परं किमपि कल्पयेत् । न चैतद्व्याप्यं हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना । अपिच सेतुव्यपदेशादात्मनो हं किंसेतुनिदर्शनेन सेतुवाहवस्तुतां प्रसज्यता मृदारुमयतापि प्राप्तङ्गयेत् । न चैतद्व्याप्यम् अजत्वादिश्रुतिविरोधात् । सेतुसामान्यात् सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते । जगतस्त्वन्योदानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः । अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्रयते । सेतुं तीर्व्वेत्यपि तरेतरतिक्रमासंभवात्प्राप्त्यर्थ एव वर्तते । यथा व्याकरणं तीर्णं इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

यदप्युक्तमुन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति—तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तिस्त्वमवकल्पते । किमर्थस्तर्हि बुद्ध्यर्थ उपासनार्थ इति यावत् । चतुष्पादप्राशङ्गिकशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः । कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते । न ह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुं मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसमिति । पादवत् । यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोरास्मात्तयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्पन्ते चत्वारश्चाद्यादय आका

रत्नप्रभाष्याख्या

नुमानानामागमबाध इति भावः । उक्तं स्मारयित्वा हेतूनामसिद्धिमाह—ननु सेत्वित्यादिना । किं सेतुश्रुत्या परमार्थाद्वा, नाय इत्युक्ता द्वितीयं शङ्कते—तत्र परस्मिन्निति । सेतुत्वलिङ्गेनाद्वितीयत्वश्रुतिबाधनमन्याप्यमित्याह नचेति । लिङ्गं चासिद्धमित्याह—अपिचेति । विधारकत्वं तु कल्पितद्वितीयापेक्षयापि युज्यत इति भावः । तीर्णत्वहेतुसिद्ध इत्याह—सेतुं तीर्व्वेति ॥ ३२ ॥ परिमितत्वमप्यसिद्धमित्याह—बुद्ध्यर्थ इति । वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्राणि मपादा अग्निवाय्वादित्यदिश आकाशस्य पादा ध्यानार्थं कल्पितास्तद्ब्रह्मण उन्मानमित्यर्थः । लौकिकं दृष्टान्तमाह

आमतीव्याख्या

वाकाण्डमेव ब्रह्माण्डं विषयेदिति । तथाच श्रुतिः—‘भीषास्माद्वातः पवते’ इत्यादिका ॥ ३२ ॥ बुद्ध्यर्थः पादवत् । मनसो ब्रह्मप्रतीसमारोपितब्रह्मभावस्य वाग्राणश्चक्षुः श्रोत्रमिति चत्वारः पादाः । मनो हि वक्तव्यप्रातव्यद्रव्यश्रोतव्यान् गोचरान वागादिभिः सतीति संचरणसाधारणतया मनसः पादास्तदिदमध्यात्मम् । आकाशस्य ब्रह्मप्रतीकस्याभिर्वायुरादित्यो दिश इति चत्वारः पादाः । व्यापिनो नभस उदर इव गोः पादा विलया उपलभ्यन्त इति पादास्तदिदमधिदैवतम् । तदनेन पादवदिति वैदिक नि

आनन्दगिरियव्याख्या

द्वितीयवस्तुसाधकत्वं नास्तीत्याह—नेतीति । स हि श्रुतितोऽर्थतो वा वस्तुवन्तरं साधयति, तत्राद्यं दूषयति—सेत्विति । इति शङ्कते—तत्रेति । श्रौतार्थविरोधादधिकार्यो न युक्तो लिङ्गस्य श्रुतितो दुर्बलत्वादित्याह—नचेति । इतश्च तस्य न वस्तुसाधकत्वमित्याह—अपिचेति । विवक्षितं सेतुसाम्यमुपेक्ष्य तद्व्यासमर्थान्तरं कल्पयतोऽतिप्रसक्तिः स्यादिति हेत्वन्तरमेव रमुच्यति सेत्विति । यावति स्वीकृते श्रुतिर्न विरुध्यते तावदेव स्वीकर्तव्यं तस्या निर्दोषत्वेन बलवत्तरत्वादित्याह—नचेति । सेतुशब्दो तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य सूत्रयोजनया दर्शयति—सेतुसामान्यादिति । किं तत्प्रसिद्धेन सेतुना सामान्यमात्मनि सेतुशब्दप्रयोगे निमित्तं तदाह—जगत इति । तस्य जगतो मर्यादास्तत्तन्निमित्तार्थक्रियासु व्यवस्थितत्वलक्षणास्तासां तदाश्रयस्य जगत्तन्निमित्तता यदात्मनो विधारकत्वं तत्तस्य सेतुसामान्यमित्यर्थः । तेनात्मनि सेतुशब्दप्रयोगे सति किं सिध्यति तदाह—अत इति । तस्मिन् शब्दादात्मसेतोः सद्वितीयत्वं, तत्राह—सेतुमिति । स्वस्यैव स्वातिक्रमायोगात्प्राप्त्यर्थस्तरतिरित्युक्तं प्राप्तेतरपि स्वात्मन्ययोगाद्ब्रह्मविदामोतीतिवदुपपत्तावपि नात्र तरतिस्तदर्थो वृद्धप्रयोगानुपलब्धेरित्याशङ्क्याह—यथेति ॥ ३२ ॥ सेतुव्यपदेशवद्वितीयं निरस्यति—बुद्ध्यर्थ इति । व्यावर्त्यमनूष व्यावर्तकं सूत्रमादाय विमज्जते—यदपीति । उन्मानव्यपदेशोऽपीत्यपिना सेतुव्यपदेशो दृष्टान्त्यते । उपासनार्थवमुन्मानव्यपदेशस्य विशदयति—चतुष्पादिति । शुद्धं ब्रह्म हिवा सोपाधिकं किमिति तत्र बुद्धिः स्थिरीयते, तत्राह—नहीति । उत्तमबुद्धीनां श्रुतित्वनौपाधिकं ब्रह्मणि बुद्धिप्रवेशोऽपीतरेषां तदभावात्तेषामपि संप्रहार्थं सोपाधिकं ब्रह्म स्थिरीक्रियते बुद्धिरिति फलितं वक्तुमितीत्युक्तम् । सूत्रभागमादाय वैदिकोदाहरणत्वेन व्याकरोति—पादवदित्यादिना । वागादित्यदिशब्देन प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमिति गृहीतम् । अग्न्यादय इत्यादिशब्देन वायुरादित्यो दिश इति त्रयमुक्तम् । श्रुतीनां तमेव सूत्रात्

शसंबन्धिन आध्यानाय तद्वत् । अथवा पादवदिति यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्रा-
चुर्याय कल्प्यते । नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते क्रयविक्रये
परिमाणानियमात्तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

इह सूत्रे द्वयोरपि संबन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते । यदप्युक्तं संबन्धव्यपदेशान्नेद-
व्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति तदप्यसत् । यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुप-
पद्यते । संबन्धव्यपदेशो तावदयमर्थः । बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य विशेषविज्ञान-
स्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना संबन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते न परिमितत्वापे-
क्षया । तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते न स्वरूपभेदापेक्षया । प्रकाशा-
दिवदित्युपमोपादानम् । यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातवि-
शेषस्योपाध्युपशमात्संबन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः । यथा वा सूचीपाशाका-
शादिपूपाध्यपेक्षयैवैतौ संबन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चात्रेदं एव संबन्धो नान्यादृशः 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूप-
संबन्धमेवमामनन्ति स्वरूपस्य चानुपायित्वात् । न नरनगरन्यायेन संबन्धो घटते । उपाधिकृत-
स्वरूपतिरोभावाच्च—'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते । तथा भेदोऽपि नान्या-
दृशः संभवति । बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात् । तथाच श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थान-
कृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति—'योऽयं वहिर्धां पुरुषादाकाशः' (छा० ३।१।२७) 'योऽय-

रत्नप्रभाख्या

अथवेति । पादकल्पनां विनापि व्यवहारः किं न स्यादित्यत आह—नहीति । कार्षापणस्य व्यवहाराय पादकल्पनावत् मन्द-
धियां ध्यानव्यवहाराय ब्रह्मण उन्मानकल्पनेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ संबन्धभेदौ कल्पितौ न सत्यद्वितीयसाधकावित्याह—स्थानेति ।
स्थानमुपाधिवुद्ध्यादिः । एकस्यैवोपाधिना भिन्नस्योपाधिशान्तौ सत्यां संबन्ध उपचर्यते । यथा सौगलोकादेरङ्गुल्याद्युपाधिना
भिन्नस्योपाधिवियोगे महालोकाद्यात्मना संबन्धोपचारस्तद्वत् तथादित्यचक्षुषोः स्थानयोर्भेदादिरूपमयपुरुषभेदकल्पनेत्यर्थः
॥ ३४ ॥ मुख्यैव संबन्धभेदो किं न स्यातामित्यात्र सूत्रम्—उपपत्तेश्चेति ॥ ३५ ॥ स्वरूपेण ब्रह्मणा जीवस्य संबन्धो

भामतीव्याख्या

यान्याय लौकिकं चेदं निदर्शनमित्याह—अथवा पादवदिति । तद्वदिति । अहापि मन्दबुद्धीनामा ध्यानव्यवहारायेत्यर्थः
॥ ३३ ॥ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् । बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य ज्ञानप्रत्ययविशेषविज्ञानस्योपाध्याय-
सम्भवं सुप्रसावस्थानमिति । तथा भेदव्यपदेशोऽपि त्रिविधो ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयैति । यथा सांख्यज्ञानमार्गनिवेशिन्यः सवि-
भागो ज्ञानमार्गोपाधिभेदाद्विज्ञा भासन्ते तद्विज्ञे तु गभस्तिमण्डलेनकीभवन्यतस्तन् संबन्धयत एवमिहापीति ॥ ३४ ॥
यदेतत् । एक्रीभावः कस्मादिह संबन्धः कथंचिद्व्याख्यायते न मुख्य एतैत्येतन्मतेन परिहरति—उपपत्तेश्च । स्वमपीत
ने हि स्वरूपसंबन्धं ब्रूते । स्वभावश्चेदनेन संबन्धत्वेन स्वरूपस्ततः स्वाभाविकत्वादात्म्याच्चातिरिच्यते इति तर्कवाद उपपादित-

आनन्दगिरियव्याख्या

क्रिकत्वेन योजयति—अथवेति । पादविभागं विनापि व्यवहारबाहुल्यं स्यादित्याशङ्क्याह—नहीति । उक्तदृष्टान्तेन मन्दमध्य-
धियां ध्यानव्यवहाराय ब्रह्मण्युन्मानकल्पनेति दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति ॥ ३३ ॥ अवशिष्टं हेतुद्वयं निराचष्टे—स्थानेति ।
ज्ञात्यर्थमाह—इहेति । तमेव परिहारमुक्त्वाऽनुवादद्वारा स्फोरयति—यदपीति । तत्र यत्रावयवं हेतुत्वेन योजयति—
यत इति । स्थानविशेषो बुद्धिः । आदित्यश्चक्षुरित्यादिः । द्वयोरपि परिहारं संक्षिप्य विभज्य दर्शयन्नादौ संबन्धव्यपदेशं प्रत्याह—
संबन्धेति । भेदव्यपदेशोऽपि स्थानविशेषादिति पदं योजयति—तथेति । व्यपदेशयोर्वापाधिकत्वं प्रकाशदृष्टान्तं व्याचष्टे—
प्रकाशेत्यादिना । आदिशब्देनोक्तमुदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । एवमकस्मिन्नपि ब्रह्मण्युपाध्यपेक्षयैवो व्यपदेशवित्याह—
तद्वदिति ॥ ३४ ॥ मुख्ये व्यपदेशद्वये संभवति कुतस्तदौपचारिकमुच्यते, तत्राह—उपपत्तेश्चेति । तत्र संबन्धव्यपदेशं सूत्रं योज-
यति—उपपद्यते चेति । अत्रेति ब्रह्मात्मनोऽस्फुटः । औपचारिकस्यैव संबन्धस्योपपत्तिमुपपादयति—स्वमिति । मुख्यसंबन्धामंभवं
साधयति—स्वरूपस्येति । संबन्धस्य दिनिष्ठत्वादेकस्मिन्नयोगमाशङ्क्याह—उपाधीति । इदानीमौपचारिकं भेदमाशय सूत्रं योज-
यति—तथेति । श्रौतव्यपदेशस्य मुख्यत्वेमेव न त्वौपचारिकत्वमन्यत्रादृष्टेरित्याशङ्क्याह—तथाचेति ॥ ३५ ॥ स्वपक्षं हेतुन्तर-

मन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३।१२।८) 'योयमन्तर्हृदय आकाशः,' (छा० ३।१२।९) इति ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतुनुमथ्य संप्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति । तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते । तथाहि—'स एवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१) 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१) 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२) 'सर्वं तं परादाद्यऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्', (छा० ७।२५।२) 'नेह नानास्ति किंचन', (बृ० ४।४।१९), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्', (श्वे० ३।९) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यर्थत्वेन परिणेतुमशक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति । सर्वान्तरश्रुतेश्च परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्मास्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अन्यथा हि तन्न सिध्येत् । सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात् । तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत । सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्योऽविज्ञायते । आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ८।१।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१४।३) 'ज्यायानाकाशात्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ. गी. २।२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

भेदनिवृत्तिरूपो युज्यते न मुख्यः संयोगादिः वस्तुद्वयासत्त्वात् तथा भेदोऽपि न स्वत एकत्वश्रुतेरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ द्वितीयाभावे सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इत्यत आह—अनेन सर्वगतत्वमिति । द्वितीयं सत्त्वं चेत्सेत्वादिवद्ब्रह्मणोऽस्यात् 'यत्रान्यत्पश्यति तदल्पम्' इति श्रुतेः । किंच निरवयवासंगब्रह्मणः सत्यप्रपञ्चसंबन्धायोगात्तवैव सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इति भावः । अधिष्ठानेनाध्यस्तं जगद्व्याप्तमध्यस्तत्वात् रज्ज्वा व्याप्तसर्पवत्, इति न्यायः ॥ ३७ ॥ एवं तत्पदलक्ष्यं संसं

भामतीव्याख्या

मित्यर्थः । तथा भेदोऽपि त्रिविधो वान्यादृशः स्वाभाविक इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तथान्यप्रतिषेधात् । सूत्रमेव भाष्येण व्याख्य ॥ ३६ ॥ अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः । ब्रह्माद्वैतसिद्धावपि न सर्वगतत्वं सर्वव्यापिता सर्वस्य ब्रह्मणोऽप्येव रूपवत्त्वं मिथ्यतीत्यत आह—अनेन सेत्वादिनिराकरणेन परहेतुनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च समाश्रयण्यसेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अद्वैते सिद्धे सर्वोऽयमनिर्वचनीयः प्रपञ्चावभासो ब्रह्माधिष्ठान इति सर्वस्य ब्रह्म

आनन्दगिरिव्याख्या

माह—तथेति । सूत्रतात्पर्यमाह—एवमिति । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वपक्षः । हेत्वन्तरमेव सूत्रयोजनया विशदयति—तथेति यथा सेत्वादिव्यपदेशनिरासेभ्यो न वस्त्वन्तरधीस्तथेति यावत् । अन्यप्रतिषेधमुदाहरति—तथाहीति । तस्य तादृश्यं व्यथति—अहमेवेति । अहंकारस्य सर्वात्मत्वप्राप्तिं प्रत्याह—आत्मैवेति । निन्दानुपपत्त्या भेदनिषेधं दर्शयति—सर्वमिति । बाधसामानाधिकरण्यादपि तत्सिद्धिरित्याह—ब्रह्मैवेति । आर्थिकीं निषेधधियमुक्त्वा साक्षादेव तत्प्रतीतिमाह—नेहेति । यत्परमित्यत्र तेनेदं पूर्णं पुरुषेणेत्युच्यते संबन्धः । सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो दर्शितवाक्यानां विशेषमाह—स्वप्रकरणेति । ब्रह्मणोऽन्तर्हृदयमाह—सर्वान्तरेति ॥ ३६ ॥ ब्रह्मणोऽद्वयत्वेऽपि सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वं च कथं, तत्राह—अनेनेति । सूत्रं व्याकरोति—अनेनेत्यादिना । सेत्वादिव्यपदेशानामनिरासे परप्रतिषेधानाश्रयणे च सर्वगतत्वमाकाशस्येव ब्रह्मणः स्यादित्याशङ्क्याह—अन्यथेति तत्र सेत्वादिव्यपदेशनिरासे सर्वगतत्वासिद्धिं स्फुटयति—सेत्वादीति । परनिषेधानाश्रयणेपि तत्सिद्धिं साधयति—तथेति परिच्छेदप्रसक्तिरित्येवत्याशङ्क्यावशिष्टं व्याचष्टे—सर्वेति । आदिशब्दः सूत्रे स्मृतिन्यायापेक्षया प्रयुक्तः । तत्र श्रुत्या सह स्मृतिरुक्ता । न्यायस्तु परिच्छिन्नत्वे सत्यनित्यत्वादिलक्षणो यावद्विकारः सूत्रोक्तः । नच सर्वमूर्तसंयोगित्वं सर्वगतत्वं सत्त्वे द्वैतस्य स्वादिश्रुतम् । तत्करूपनाधिष्ठानतया ब्रह्मणः सर्वगतत्वोपगमादतोऽद्वितीयमनवच्छिन्नं ब्रह्मेति ॥ ३७ ॥ ब्रह्मातिरिक्तैर्निषिद्धे ब्रह्मणो निषि

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥



कर्मैव फलदं यद्वा कर्मादाधित ईश्वरः ॥ अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदात्ता ॥ १ ॥
अचेतनात्फलसूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात् ॥ कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥ २ ॥

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते । यदेत-
दिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्या-
होस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति । कुतः—
उपपत्तेः । सहि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां
कर्मानुरूपं फलं संपादयतीत्युपपद्यते । कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भव-
तीयनुपपन्नम् । अभावाद्भावानुत्पत्तेः । स्यादेतत्कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जन-
यित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति । तदपि न परिशुध्यति प्राग्भोक्कु-

रत्नप्रभाव्याख्या

वच्यार्थमाह—फलमत उपपत्तेः । निर्विशेषत्वादयः स्वभावः फलहेतुत्वाख्यः इष्टं सुखं देवादीनां, अनिष्टं दुःखं
नारकिणां, व्यामिश्रं मनुष्याणां, संसारो जन्ममृतिप्रवाहः गोचरः आधयो यस्य तत्संसारगोचरम् । अत्र कर्मेश्वरयोः
फलहेतुत्वश्रुतेः संशयमाह—किमिति । अत्र पूर्वपक्षे फलदातुरीश्वरस्य तत्पदवाच्यस्यासिद्धेर्लक्ष्यासिद्धिः सिद्धान्ते तस्ति-
द्विरिति फलभेदः । पूर्वोक्तनिर्विशेषत्वमुपजीव्य फलदातृत्वमपीश्वरस्य नास्तीति पूर्वपक्षोत्थानात्संगतिः । यद्यपि सर्वगतत्वव-
त्फलदातृत्वं व्यवहारदशायां सिध्यति तथापि कर्मण एव फलदातृत्वमिति शङ्कानिरासेनोक्तलक्ष्यार्थनिर्वाहकवाच्यार्थनिर्ण-
यार्थमस्याधिकरणस्यारम्भ इति मत्वा सिद्धान्तं तावदाह—तत्र तावदिति । स्वर्गादिकं विशिष्टदेशकालकर्माभिग्नदातृकं,
कर्मफलत्वात्, सेवाफलवदित्युपपत्तिः । यागादिक्रियाख्यं कर्म तावत् क्षणिकं तर्हि स्वनाशात् फलं जनयत्युत फलमुत्पाद्य
नश्यति, आहोस्विदपूर्वात्फलसिद्धिः, नाद्य इत्याह—अभावादिति । द्वितीयं शङ्कते—स्यादिति । कर्मनाशक्षणमारभ्या-

भामतीव्याख्या

व्याह्रास सर्वगतमिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥ फलमत उपपत्तेः । सिद्धान्तोपक्रममिदमधिकरणम् । स्यादेतत् । नित्यशब्दवृद्ध-
मुक्त्यभावाय ब्रह्मणः कुत ईश्वरत्वं कुतश्च फलहेतुत्वमपीत्यत आह—तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामिति । नास्य
पारमार्थिकं रूपमाश्रित्यैतच्चिन्त्यते किंतु सांख्यव्यवहारिकम् । एतच्च 'तपसा चीयते ब्रह्म' इति व्याचक्षार्णस्माभिरुपपादितम् । इष्टं फलं
सर्वगः । यथाहुः—यच्च दुःखेन संभिन्नं न च प्रसन्नमनस्तरम् । अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम्' इति । अनिष्टमपीत्या-
दिस्थानभोग्यं, व्यामिश्रं मनुष्यभोग्यम् । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते—फलमत ईश्वरात्कर्मभिरागतिताद्वितुमर्हति ।
अथ कर्मण एव फलं कस्माच्च भवतीत्यत आह—कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः प्रत्यक्षविनाशिन इति । नोदयति—स्या-
देतत्कर्म विनश्यदिति । उपात्तमपि फलं भोक्तुमयोग्यत्वाद्वा कर्मान्तरप्रतिबन्धाद्वा न भुज्यत इत्यर्थः । परिहरति—तदपि
न परिशुध्यतीति । नहि स्वर्ग आत्मानं लभतामित्यधिकारिणः कामयन्ते किंतु भोग्योऽस्माकं भवत्विति । तेन यादृशंभिः काम्यते

आनन्दगिरीयव्याख्या

शेषत्वाच्च फलदातृत्वमित्याशङ्क्य व्यवहारतस्तदुपपादयितुमुपक्रमते—फलमिति । पूर्वाधिकरणयोस्तत्पदलक्ष्यं प्रभोक्तुमिदानीं तत्प-
दवाच्यमीश्वरं दर्शयतीत्यधिकरणस्य तात्पर्यमाह—तस्यैवेति । कुतो निर्विशेषत्वेनोक्तस्य फलहेतुत्वस्याशङ्काह—व्यावहारिक्या-
मिति । निर्विशेषसत्याद्वितीयपूर्णस्वभावादित्यत्वं फलहेतुत्वाख्यं स्वभावः । तात्पर्यमुक्त्वा विचारविषयमाह—यदिति । इष्टं देव-
त्वादिति । अनिष्टं तिर्यक्त्वादिति । व्यामिश्रं मनुष्यत्वम् । कर्मफलत्वं साधयितुं संसारावस्थागतत्वमाह—संसारेति । त्रिविधकर्मफले
लोकानुभवं प्रमाणयति—प्रसिद्धमिति । उभयोरपि फलहेतुत्वश्रुतेरुक्ते विषये संशयमाह—किमिति । सर्वगतत्वेन फलदातृत्वस्य
सत्यपि समानन्यायत्वे कर्मपक्षं निराकरिष्यन्नादौ सिद्धान्तमुपक्रमते—तत्रेति । वाच्यार्थोक्तलक्ष्यार्थोक्तिविशेषत्वात्सत्यं च वाच्यार्थ-
धीहेतुत्वादिषु पादादिसंगतयः । पूर्वपक्षे कर्मण एव फलदानसामर्थ्यादीश्वरस्याकिञ्चिद्व्यवृत्तम् । सिद्धान्ते स्वतन्त्रस्य कामगोडाम-
ध्यात्तद्वारा परस्वैव तद्भावात्तत्स्यार्थवत्त्वम् । कर्तव्येष्टनसंस्कारादिवत्पुण्यादिसंस्कारात्फलोत्पत्तिं न प्रदायपक्षेति शङ्कते—कुत इति ।
तत्र सौत्रं हेतुमतायं व्याकरोति—उपपत्तेरिति । देशकालविशेषाभिज्ञत्वे योग्यत्वमाह—सर्वेति । कर्मानुरूपफलदातृत्वं हेतु-
माह—सृष्टीति । विमतं विशिष्टज्ञानवदातृकं, कर्मफलत्वात्, सेवादिकर्मफलवदित्यर्थः । कर्मपक्षे क्रियातो वा तज्जन्यापूर्वादा फल-
मायं दूषयति—कर्मणस्त्विति । क्रियारूपं कर्म क्षणिकं तच्च नष्टं वा फलमुत्पादयत्यदुत्पाद्य वा फलं नश्यत् । नाद्य इत्याह—
अभावादिति । द्वितीयं शङ्कते—स्यादिति । तदेव तर्हि भोगः स्यादित्याशङ्क्य कर्मान्तरप्रतिबन्धात्तदा भोक्तुमयोग्यत्वाद्वा
नैवमित्याह—तदिति । स्वर्गादिभोगस्यैवार्थमानत्वेन फलत्वादभुज्यमानमपि फलं स्वरूपेणास्तीत्युक्तमित्याह—तदपीति । किञ्च

यमर्थः—‘स्वर्गकामो यजेत’ इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं पक्षः । नैष दोषः । श्रुतिप्राप्तायात् । श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथायं कर्मफलसंबन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः । न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोत्यतः कर्मणो वा सूक्ष्मा

रत्नप्रभाख्याख्या

मिति गम्यते । यागस्येष्टसाधनत्वाभावे प्रेरणानुपपत्तेरित्यर्थः । अपूर्वेद्वारा कर्मणः फलमुपपद्यत इत्युक्ता सिद्धान्तं दूष-

भामतीव्याख्या

प्राप्तसमीहितत्वात्, समीहितस्य च स्वर्गादेरसाध्यत्वाच्च यागादयः पुरुषस्योपकुर्वन्त्यनुपकारिणां चेपां न पुरुष इष्टे अनीशानश्च न भूत् संभवत्यधिकारीत्यधिकाराभावप्रतिपादितानर्थक्यपरिहाराय कृत्स्नस्यैवाग्रायस्य निर्मुष्टनिमित्तदुःखानुपपन्नसुखमयमहाज्ञानपरत्वं वेदप्रपञ्चविलयनद्वारेण । तथाहि—सर्वत्रैवाग्राये कचित्कस्यचिद्देवस्य प्रविलयो गम्यते—यथा ‘स्वर्गकामो यजेत’ इति शरीरात्मभा-
[प्रविलयः । इह स्वत्वापाततो देहातिरिक्त आमुष्मिकफलोपभोगसमर्थोऽधिकारी गम्यते । तत्राधिकारस्योक्तेन कर्मण निराकरणा-
[मनोऽपि प्रतीयमानस्य विचारासहस्योपायतामात्रेणावस्थानादनेन वाक्येन देहात्मभावप्रविलयस्तत्परेण क्रियते । ‘गोदोहनेन
शुक्रामस्य प्रणयेत्’ इत्यत्राप्यापाततोऽधिकृताधिकारावगमादधिकारिभेदप्रविलयः । निषेधवाक्यानि च साक्षादेव प्रवृत्तिनिषेधेन
विधिवानि चान्यानि ‘सांग्रहण्या यजेत ग्रामकामः’ इत्यादीनि न सांग्रहण्यादिप्रवृत्तिपराण्यपि नृपायातरोपदेशेन सेवादिदृष्टो-
पपत्तिविधौ भवति । यथा विषं भुङ्क्ष्व मास्य गृहे भुङ्क्ष्वेति । तथाच रागाद्याश्रितप्रवृत्तिप्रतिषेधेन शास्त्रस्य शास्त्रत्वमप्यु-
च्यते । रागनिवन्धनां तूपायोपदेशद्वारेण प्रवृत्तिमनुजानतो रागसंवर्धनादशास्त्रत्वप्रसङ्गः । तन्निषेधेन तु ब्रह्मणि प्रणिधानमादधच्छास्त्रं
शास्त्रं भवेत् । तस्मात्कर्मफलसंबन्धस्याप्राप्तमणिकत्वादानादिविचित्राविद्यासहकारिण ईश्वरादेव कर्मानपेक्षाद्विचित्रफलोत्तिरिति ।
कथं तर्हि विधिः किमत्र कथं प्रवर्तनामात्रवादिष्वेति स्यात् चाधिकारमन्तरेणाप्युपपत्तेः । नहि यो यः प्रवर्तयति स सर्वोऽधिकृतमपश्यते ।
पुनर्नादेः प्रवर्तकस्य तदनपेक्षत्वादिति शङ्कामपाचिकीर्तुराह—तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक
इति गम्यते । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत । अयमभिपत्तिः—उपदेशो हि विधिः । यथोक्तम्—‘तस्य
ज्ञानमुपदेशः’ इति । उपदेशश्च नियोज्यप्रयोजने कर्मणि लोकशास्त्रयोः प्रसिद्धः । तद्यथायोग्यकामो जीर्णं भुञ्जीत । एष मुपस्था
गच्छतु भवाननेनेति । न त्वाज्ञादिरिव नियोक्तप्रयोजनस्तत्राभिप्रायस्य प्रवर्तकत्वात्, तस्य चार्थान्पेयेऽसंभवात् । अस्य चोपदेशस्य
नियोज्यप्रयोजनव्यापारविषयत्वमनुष्ठात्रपेक्षितानुकूलव्यापारगोचरत्वमस्माभिरुपपादितं न्यायकणिकायाम् । तथाच ‘स्वर्गकामो यजेत’
इत्यादिषु स्वर्गकामादेः समीहितोपाया गम्यन्ते यागादयः । इतरथा तु न साधयितारमनुगच्छेयुः । तदुक्तमृषिणा—‘असाधकं तु
नादर्थार्त्त’ इति । अनुष्ठात्रपेक्षितोपायातरहितप्रवर्तनामात्रार्थत्वे यजेतेत्यादीनामसाधकं कर्म यागादि स्यात् । साधयितारं नाधिगच्छे-
दित्यर्थः । न चैते साक्षाद्भावनाभाव्या अपि कर्त्रपेक्षितसाधनताविधुपहितमर्यादा भावनोद्देश्या भवितुमर्हन्ति, येन पुंसामनुपकारकाः
सन्तो नाधिकारभाजो भवेयुः । दुःस्वत्वेन कर्मणां चेतनसमीहानासपदत्वात् । स्वर्गादीनां तु भावनापूर्वरूपकामनोपधानाच्च । प्रीत्या-
त्मकत्वाच्च । नामपदाभिधेयानामपि पुरुषविशेषणानामपि भावनोद्देश्यतालक्षणभाव्यत्वप्रतीतेः । फलार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणेन
च यागादिसाध्यत्वेन फलार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वरूपस्य फलसाध्यत्वस्य समप्रधानत्वाभावेनैकवाक्यसमवायसंभवात्, भावनाभाव्य-
त्वमात्रस्य च यागादिसाध्यत्वस्य करणेऽप्यविरोधात् । अन्यथा सर्वत्र तदुच्छेदात् । परश्चादेरपि छिदादिषु तथाभावात् । फलस्य
साक्षाद्भावनाव्याप्यत्वविहरिणोऽपि तदुद्देश्यतया सर्वत्र व्यापितया व्यवस्थानात्स्वर्गसाधने यागादीं स्वर्गकामादेरधिकार इति सिद्धम् ।
न चाप्राप्तार्थविषयाः सांग्रहण्यादियागविषयः परिसंख्यायका नियामका वा भवितुमर्हन्ति । न चाधिकाराभावे देहात्मप्रविलयो वाधि-
कारिभेदप्रविलयो वा शक्य उपपादयितुम् । आपाततः प्रतिभावे चास्य तत्परत्वेनैव नार्थोपातपरत्वम् । स्वरसतः प्रतीयमानेऽर्थे
वाक्यस्य तादर्थ्यं संभवति न संपातायातपरत्वमुचितम् । न चैतावता शास्त्रत्वव्यापातः । तस्य स्वर्गोद्योगशासनेऽपि शास्त्रत्वोपपत्तेः ।

आनन्दगिरियव्याख्या

श्रूयत इति । कथमेतावता फलहेतुत्वं कर्मणः सिद्धं, तत्राह—तत्र चेति । विधिश्रुतिर्विषयस्तस्य छिदादिष्वस्य प्रेरणामनो
यागो विषयस्तद्भावगमाद्यागः स्वर्गस्य साधनमिति गम्यते । पुरुषाभिलषितस्वर्गसाधनत्वाभावे यागस्य तत्र प्रेरणायोगादित्यर्थः ।
पुरुषप्रवृत्तेरर्थभावनाया भाव्याकाङ्क्षत्वादेकदोषात्ततया यागस्य संनिहितत्वाद्भाव्यत्वेन संबन्धो न विषयत्वेनेत्याशङ्क्याह—
अन्यथेति । योग्यतायाः संनिधेः सकाशादन्तरङ्गत्वाद्यागस्य च क्लेशात्मकत्वेन फलार्थं प्रवृत्तभावनाभाव्यत्वाद्योगात्पुरुषविशेषणत्वेन
शुक्लमार्गदेवे भावनोद्देश्यरूपभाव्यत्वसिद्धेरपुरुषार्थं पुरुषस्याप्रवृत्तेः स्वर्गादेरेव भाव्यत्वं यागस्य तु करणतया साध्यतयर्थः । कर्म न
कालान्तरीयफलदं क्षणिकत्वादित्युक्तं सारयति—नन्वेति । शुल्ववष्टम्भेन निराचष्ट—नेति । तदेव व्यनक्ति—श्रुतिश्चेदिति ।
उपपत्तिमेव व्यतिरेकद्वारा दर्शयति—नचेति । कर्मावन्तर्गव्यापारत्वमुपेत्य कर्मणो वेत्युक्तम् । फलोत्पत्त्यन्यथापुनरपरा कल्प-

काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थापूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उपपद्यते चायम् उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम् । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्याणुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्वर्मादेव फलमिति ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्तत्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः । कुतः—हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्य फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधामः हम् ॥ स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हिताः

रत्नप्रभाष्याख्या

यति—ईश्वरस्त्विति । ईश्वरः किं कर्मानपेक्षः फलं ददाति तत्सापेक्षो वा, आद्य आह—अविचित्रस्येत्यादि द्वितीये संवेष्टनसंस्कारमात्रात्कदाचिदौ वेष्टनवत्कर्मापूर्वादेव फलसिद्धेः किमीश्वरेणेति भावः । अत्र वयं वदामः—चन्दनकादिदृष्टसंपत्त्यैव सुखादिसंभवे कृतं धर्माधर्माभ्यामिति श्रुतिस्मृतिवलात्तदपेक्षायामीश्वरेण किमपराद्धम् । अतः ईश्वरान्तरेकेवलात्कर्मणः फलमित्ययुक्तमिति ॥ ४० ॥ सिद्धान्तयति—पूर्वं त्विति । अचेतनस्य कर्मणः स्वतःप्रवृत्त्ययोगाः

भामतीव्याख्या

पुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वं हि शास्त्रत्वम् । सरागनीतरागपुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वेन सर्वपारिषदतया न तत्त्वव्यापातः । तस्माद्विषयभानोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति सिद्धम् । **कर्मणो वा काचिदवस्थेति** । कर्मणोऽन्तर्गताव्यापारः । एतदुच्यते—कर्मणो हि फलं प्रति यत्साधनत्वं श्रुतं, तन्निर्वाहयितुं तस्यैवावाप्तरव्यापारो भवति । नच व्यापारवति सत्येव व्यापासतीति युक्तम् । असत्त्वप्राप्तेयादिपु तदुत्पत्त्यपूर्वाणां परमापूर्वं जनयितव्ये तदवान्तरव्यापारत्वात् । असत्यपि च तैलपानस्य तेन पुष्टौ कर्तव्यायामन्तरा तैलपरिणामभेदानां तदवान्तरव्यापारत्वात् । तस्मात्कर्मकार्यपूर्वं कर्मणा फले कर्तव्ये तदवान्तरस्य इति युक्तम् । यदा पुनः फलोपजननान्यथातनुपपत्त्या किंचित्कल्प्यते तदा **फलस्य वा पूर्वावस्था । अविचित्रस्य कारणस्यो** यदिश्वरादेव केवलादिति शेषः । कर्मभिर्वा शुभाशुभैः कार्यद्वयोत्पादे रागादिमत्त्वप्रसङ्ग इत्याशयः ॥ ४० ॥ **पूर्वं तु बादराय हेतुव्यपदेशात्** । दृष्टानुसारिणी हि कल्पना युक्ता नान्यथा । नहि जातु मृषिण्डण्डादयः कुम्भकाराद्यनधिष्ठिताः कुयारम्भाय विभववन्तो दृष्टाः । नच विद्युत्पवनादिभिरप्रयत्नपूर्वैर्व्यभिचारः, तेषामपि कल्पनास्पदतया व्यभिचारनिर्दर्शनत्वात्पुनस्तस्मादचेतनं कर्म वापूर्वं वा न चेतनानधिष्ठितं स्वतंत्रं स्वकार्ये प्रवर्तितुमुत्सहते नच चेतन्यमात्रं कर्मस्वरूपसामान्ययोगादिविशेषविज्ञानशून्यमुपपुज्यते, येन तद्वहितश्रेयज्ञमात्राधिष्ठानेन सिद्धसाध्यत्वमुद्भास्येत । तस्मात्तत्तत्प्रासादाद्वालगोपुरतोरणाजननिर्दर्शनसहस्रैः सुपरिनिश्चितं यथा चेतनाधिष्ठानादचेतनानां कार्यारम्भकत्वमिति तथा चैतन्यं देवताया असति बाधकैः स्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धं न शक्यं प्रतिषेद्धमित्यपि स्पष्टं निरटङ्कि देवताधिकरणे । लौकिकेश्वरेशो दानपरिचरणप्रणामाजलिकरणतिमयीभिरतिश्रद्धागर्भाभिर्भक्तिभिराराधितः प्रसन्नः स्वारूपमाराधकाय फलं प्रयच्छति विरोधवशात्प्रक्रियाभिर्विरोधकप्राप्तिर्नाम सुप्रसिद्धम् । तदिह केवलं कर्म वापूर्वं वा चेतनानधिष्ठितमचेतनं फलं प्रसूत इति दृष्टविरुद्धम् । यथा विनष्टं कर्म न फलं ।

आनन्दगिर्यव्याख्या

मानवं गृहीत्वा फलस्य वेत्युक्तम् । उपपत्तेश्चेति द्वितीयहेतुं विवृणोति—**उपपद्यते चेति** । तत्र विधिश्रुतेरित्यादिरुक्तः प्रकारः श्रुत्युपपत्तिभ्यां स्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तं प्रत्याह—**ईश्वरस्त्विति** । एकरूपात्कारणान्नानेकरूपं कार्यं कार्यान्तराणामात्मिकात्वापातित्वर्थः । शुभाशुभफलदातृत्वे रागद्वेषादिमत्त्वापत्तेश्च नेश्वरात्फलमित्याह—**वैषम्येति** । ईश्वरस्य फलदातृत्वे कर्मानुष्ठानवैदोषान्तरमाह—**तदिति** । उक्तदोषनिवृत्त्यर्थमपूर्वादेव फलं नेश्वरादित्युक्तमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ४० ॥ **ईश्वरात्फलमिति** सिद्धान्तयति—**पूर्वं त्विति** । उत्तरपक्षप्रतिज्ञां विभजते—**बादरायणस्त्विति** । परपक्षनिषेधप्रतिज्ञां प्रकटयति—**केवलादिति** ईश्वरानपेक्षादिति यावत् । कथमीश्वरस्यापि केवलस्य फलहेतुत्वं, तत्राह—**कर्मैति** । यथा परपक्षे कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा कर्मणो फलमित्युपगतं तथा तदन्त्यतरापेक्षादीश्वरादेव फलमस्तु । तथाच न वैषम्यादीत्यर्थः । तत्र प्रश्नपूर्वकं प्रमाणमाह—**कुत इति** अपूर्वस्याचेतनस्य केवलस्याप्रवृत्तेस्तैस्यैव फलदातृत्वकल्पनायां दृष्टविरोधादेवतापूजात्मकत्वाच्च यागस्य पूज्यमानदेवताप्रसङ्गात् फलवत्त्वादुक्तशुभापत्तेरीश्वरेणोपेक्षायादपूर्वमप्रमाणमिति मत्वा हेतुं व्याचष्टे—**धर्मैति** । श्रौतं हेतुव्यपदेशमुक्त्वा स्मर्यते कथयति—**स्मर्यते चेति** । तस्य तत्तदेवतास्वभावस्य ममेति यावत् । ततस्तस्मादाराधितादनुष्ठितादित्यर्थः । हेतुव्यपदेशादित्यस्यान्तरमाह—

(७१२१) इति । सर्ववेदान्तेषु चेत्थरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेत्थरस्य फल-
हेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति । विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्ष-
त्वादीत्थरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पा-
दकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाध्याख्या

देहशान्तानुसारिधुवेर्बलीयस्त्वात्सर्ववेदान्तेष्वीरक्षस्य जगद्धेतुत्वश्रुतेष्वेत्थराधिष्ठितात्मणो जगदन्तःपातिफलसिद्धिरिति समु-
दायार्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्न-
प्रभायां तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

भामतीव्याख्या

ऋति कल्पते दृष्टविरोधादेवमिहापीति । तथा देवपूजात्मको यागो देवतां नमसादयन् फलं प्रमूत इत्यपि दृष्टविरुद्धम् । नहि राज-
पूजात्मकमाराधनं राजानमप्रसाद्य फलाय कल्पते । तस्माद्दृष्टानुष्ठानाय यागादिभिरपि देवताप्रमत्तिरुत्पाद्यते । तथाच देवताप्रसा-
दादेव स्थायिनः फलोत्पत्तेरुपपत्तेः कृतमपूर्वेण । एवमशुभेनापि कर्मणा देवताविरोधनं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । ततः स्थायिनोऽनि-
श्चयप्रसङ्गः । नच शुभाशुभकारिणां तदनुरूपं फलं प्रसूयता देवता द्वेषपक्षपातवतीति युज्यते । नहि राजा साधुकारिणमनमृह-
सिगृह्ण वा पापकारिणं भवति द्विष्टो रक्तो वा तददलैकिकोऽपीश्वरः । यथा च परमापूर्वं कर्तव्ये उत्पत्त्यपूर्वणांमहापूर्वाणां चो-
पयोगः । एवं प्रधानाराधनेऽङ्गाराधनानामुत्पत्त्याराधनानां चोपयोगः । साम्याराधन इव तदमालतःप्रणमिनाराधनानामिति
सर्वसमानमन्ययामिनिवेद्यात् । तस्माद्दृष्टानुष्ठानेन देवताराधनात् फलं न त्वपूर्वाकर्मणो वा केवलादिरोपतो हेतुव्यपदेशश्च श्रुतः
स्मार्तश्च व्याख्यातः । ये पुनरन्तर्यामिव्यापाराया फलोत्पादनाया नित्यत्वं सर्वसाधारणत्वमिति मन्यमाना भाग्यकारीयमधिकरणं दृष्ट-
वांश्चक्षुस्तेभ्यो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यनिभागावस्थापामिति भाग्यं व्याचक्षीत ॥ ४१ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भाष्य-
विभागे भामत्यां तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

आनन्दगिरीयव्याख्या

सर्वेति । ईश्वरस्य सृष्ट्यादिहेतुत्वेऽपि कथं फलहेतुत्वं, तत्राह—तदेवेति । यच्च विचित्रस्य कारणस्थेत्यादि, तत्राह—विचित्रेति ।
॥ ४१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दजानकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यविभागे तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य तत्त्वम्पदार्थपरिशोधनारम्भो द्वितीयः पादः ॥

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥



सर्ववेदेऽप्यनेकत्वमुपास्तेरपवैकता ॥ अनेकत्वं कौधुमादिनामधर्मविभेदतः ॥ १ ॥

विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् ॥ शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्वाद्य वेदने ॥ २ ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम् । इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचर्यते—ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरदिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवद्वधारितं तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः । नहि कर्मबहुत्ववद्ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं कुम् । ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च । न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि संभवन्ति । ह्यन्यथार्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति । यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषामेकमभ्रान्तं भ्रान्तानीतराणीत्यनाश्वसप्रसङ्गो वेदान्तेषु तस्मात्तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते । नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्यते ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात् । अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानजन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र । तत्कथमिमां भेदाभेद

रत्नप्रभाभ्याख्या

मार्तण्डं ध्वान्तनाशाय तिलकस्वामिनं मुदे । विघ्नेशं विघ्नविध्वस्त्यै प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

ब्रह्मस्वरूपं निर्धार्य तज्ज्ञानसाधनोपासनास्वरूपमाह—सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादिति । पादतिमाह—व्याख्यातमिति । पूर्वपादे तत्त्वम्पदार्थविवेकः कृतः । इह तत्फलं वाक्यार्थज्ञानमानन्दादयः प्रधानस्येति णापुनरुक्तापेक्षिततरपदतद्वाच्यार्थोपसंहारेण निर्धार्यत इति फलफलिभावः संगतिः । सगुणवाक्यार्थविद्याचिन्ता तु तद्विचित्तैकाग्र्यद्वारा निर्गुणज्ञानसाधनत्वात्क्रियत इति मन्तव्यम् । संप्रति निर्गुणज्ञानं भेदाभेदविचारविषयत्वेनोक्तमिति म आक्षिपति—नन्विति । वेद्यभेदे विद्याभेदचिन्ता स्यात्, ब्रह्मणस्तु वेद्यस्यैक्यात् चिन्तावसर इत्यर्थः । ब्रह्मैक्येऽपि भेदाच्चिन्तेत्यत आह—एकरूपत्वाच्चेति । निर्धर्मत्वादित्यर्थः । एकरूपेऽपि ब्रह्मण्यनेकप्रकारसंभवाद्भेदशङ्का इत्यत आह नचेत्यादिना । पूर्वपक्षे ज्ञानभेदशङ्कानुपपत्तिमुक्त्वा चोदनाद्यभेदाज्ज्ञानाभेद इति सिद्धान्तोऽप्युक्त इत्याह—नाप्यस्ये

भामतीव्याख्या

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् । पूर्वेण संगतिमाह—व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मण इति । निधिरत्नतत्त्वगोचरं विज्ञानं मन्वान आक्षिपति—ननु विज्ञेयं ब्रह्मेति । सावयवस्य ह्यवयवानां भेदात्तदवयवविशिष्टगोचराणि विज्ञानानि गोचरभेदाद्विधेरशिलयवया ब्रह्मणो निराकृताः पूर्वापरादीत्यनेन । नच नानास्वभावं ब्रह्म यतः स्वभावाद्विज्ञानि ज्ञानानीत्युक्तम्—एकरसमिति । घनं कठिनम् । नन्वेकमप्यनेकरूपं लोके दृष्टं, यथा सोमशर्मेकोऽयाचार्यो मापिता पुनो आता भर्ता जामाता द्विजोत्तम इत्यनेकरूप इत्यत उक्तम्—एकरूपत्वाच्च । एकरसिन् गोचरे संभवति न

आनन्दगिरीव्याख्या

तात्त्विकमतात्त्विकं च ब्रह्मणो रूपमुक्त्वा तद्व्याप्तं प्रतिवेदान्तं प्रतीतानां नामाद्यभेदादभेदमाह—सर्ववेदान्तेति । पूर्वोत्तराणां संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—व्याख्यातमिति । ज्ञेये ब्रह्मण्युक्ते तज्ज्ञानं किंरूपमित्यपेक्षायां तद्विचाराद्योत्तरपादप्रवृत्तिरित्याह इदानीमिति । पदार्थयोः शोधनानन्तरमपुनरुक्तापेक्षितपदपदार्थोपसंहारेण सगुणनिर्गुणवाक्यानामर्थो निर्धार्यते । तत्र सगुणविषयसत्त्वशुद्धिद्वारा निर्गुणविद्योपयोगात्पदार्थोपसंहारेण वाक्यार्थज्ञानार्थत्वाच्च सगुणवाक्यार्थचिन्तार्थवती निर्गुणचिन्ता तु तद्बीजद्वारा सुहेतुरित्यर्थः । निरुपाधिकं ब्रह्मज्ञानं विचार्यत्वेनोक्तमिति मत्वा पादादभ्रममाक्षिपति—नन्विति । अवयवभेदाभावात्तन्निमित्तो ज्ञानसंभवतीत्याह—पूर्वेति । स्वभावभेदाभावात्तत्कृतोऽपि ज्ञानभेदो नास्तीत्याह—एकरसमिति । ज्ञेयस्य ब्रह्मणः सर्वप्रकादाभावे फलितमाह—तत्रेति । वेदान्तानां शक्तितात्पर्यालोचनायामपि नेयं चिन्तेत्याह—नहीति । एकस्यापि पिता पुत्रो ब्रह्मादावनेकविज्ञानविषयत्वविहाय स्यादित्याशङ्क्याह—एकेति । एकसिद्धेकरूपे स्मृत्याद्यनेकज्ञानवदनेकज्ञानसिद्धिरित्याशङ्क्याह—नचेति । दृष्टान्ते तु पूर्वकालविशिष्टादेतत्कालविशिष्टमन्यदिति ज्ञानभेदो युक्तो ब्रह्मणि तु निरुपाधिके नैवमित्यर्थः । अर्थस्यैकरूपत्वे ज्ञानमनेकरूपं तयोर्भेदादित्याशङ्क्याह—नहीति । तदेव प्रपथयति—यदीति । पूर्वपक्षे ज्ञानभेदशङ्कायोगं निगमयति—तच्च दिति । सिद्धान्तेऽपि चोदनाद्यभेदाज्ज्ञानाभेदो न सिद्ध्यतीत्याह—नापीति । तर्हि सूत्रविरोधः स्यादित्याशङ्क्य पूर्वापरविरोधाच्च येन तदित्यभिप्रेत्याह—अविधीति । आक्षेपमुपसंहरति—तदिति । तत्तदनेकोपाध्यवच्छिन्नब्रह्मविषयाणि प्राणादिविषयाणि चो

चिन्तामारभत इति । तदुच्यते—सगुणब्रह्मविषया प्राणादिविषया चेत्यं विज्ञानभेदाभेदचिन्ते-
त्यदोषः । अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ संभवतः कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्ट-
फलानि चोच्यन्ते । क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण । तेष्वेवा चिन्ता
संभवति । किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्निति । तत्र पूर्वपक्षहेतुवस्तावदुपन्यस्यन्ते । नास्म-

रत्नप्रभाभामता

एवं पादारम्भमाश्लिष्य समाधत्ते—तदुच्यत इति । सगुणविद्यास्वेव भेदाभेदचिन्ता क्रियते निर्गुणविद्यायां त्वैक्यं सिद्धमिति
वाच्यार्थगुणोपसंहारमात्रं क्रियते वाक्यार्थनिर्णयायेति भावः । पश्चात्प्राणदहरशाण्डिल्यवैश्वानरादिविद्या मिथोभिन्ना

भामतीव्याख्या

विज्ञानानि न त्वेकाकाराणीत्युक्तम्—अनेकरूपाणि । रूपाकारः । समाधत्ते—उच्यते । सगुणेति । तत्तद्वर्णोपाधान-
ब्रह्मविषया उपासनानां प्राणादिविषयाश्च दृष्टादृष्टक्रममुक्तिफला विषयभेदाद्विद्यन्त इत्यर्थः । तत उपपन्नो निषर्श इत्याह—तेष्वेवा
चिन्ता । पूर्वपक्षं गृह्णाति—तत्रेति । नाम्नास्तावदिति । अस्ति 'अथैव ज्योतिः—एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इति ।
तत्र संशयः—किं यजेतेति संनिहितज्योतिष्टोमानुवादेन सहस्रदक्षिणालक्ष्णगुणविधानम्, उतैतद्विषयविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति । किं
तावत् प्राप्तं, ज्योतिष्टोमस्य प्रकान्तत्वाद्यजेतेति तदनुवादाज्योतिरिति प्रातिपदिकमात्रं पठित्वा एतेनेत्यनुकृत्य कर्मसामानाधिकरण्येन
कर्मनामव्यवस्थानात्, कर्मणश्चातुवाद्यत्वेन तत्तन्त्रस्य नामोऽपि तथैव व्यवस्थापनात्, ज्योतिःशब्दस्य 'यसन्ते यसन्ते ज्योतिषा'
इति च ज्योतिष्टोमे योगदर्शनात् नामैकदेशेन च नामोपलक्ष्णस्य लोकसिद्धत्वाद्धीमंसोपलक्ष्णभीमपदवत्, अथशब्दस्य चान्त-
र्गर्थस्यासवन्निष्ठेऽनुपपत्तेः, गुणविशिष्टकर्मान्तरविषयश्च गुणमात्रविधानस्य लक्षणात्, द्वादशशतदक्षिणयाधोत्पद्यशिशिष्ठतया समशि-
ष्टतया सहस्रदक्षिणया सह विकल्पोपपत्तेः, प्रकृतस्यैव ज्योतिष्टोमस्य सहस्रदक्षिणालक्ष्णगुणविधानार्थमपमनुवादेन न तु कर्मा-
न्तरमिति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—भवेत्पूर्वस्मिन् गुणविधिर्यदि तदेव प्रकरणं स्यात् । विच्छिन्नं तु तत् । तथाहि संनिधावपि
पूर्वसंबद्धार्थं संज्ञान्तरं प्रतीयमानम् 'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' इति न्यायादुत्सर्गतोऽर्थान्तरार्थत्वात्पूर्ववृद्धिं व्यवच्छिन्नस्यपूर्ववृद्धिं च प्रभूत
इति लोकसिद्धम् । न जातु देहि देवदत्ताय गामथ देवाय वाजिनमिति देवशब्दादेवदत्तं वाजिभाजमवस्यन्ति लौकिकाः । तथा
चोपरिष्ठात् 'यजेत' इति श्रयमाणमसंबद्धार्थपदव्यव्यायात्तत्कर्मवृद्धिर्मुनादधत् तत्र गुणविधानमात्रासमर्थं कर्मान्तरमेव विधत्ते । न
चैकानुपपत्त्या लक्ष्णया ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमे प्रवृत्त इत्यस्यामनुपपत्तौ लक्ष्णिको युक्तः । नहि गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गा-
पद लक्ष्णिकमिति मीनो गङ्गयामित्यत्रापि लक्ष्णिकं भवति । भेदेऽपि च प्रथमं संज्ञान्तरेणोद्दिष्टे यजिशब्दासामानाधिकरण्यं
कर्मनामपथ्यतामात्रमावहति नतु संज्ञान्तरोपजनितां भेदधियमपनेतुमुत्सहते । तथा चाथशब्दोऽधिकारार्थः प्रकरणान्तरतामवश्यो-
त्पत्ति । एषशब्दश्चाधिक्रियमाणपरामर्शक इति सोऽयं संज्ञान्तराद्भेदः इति भवतु संज्ञान्तरात्कर्मभेदः प्रस्तुतं तु किमायातमित्यत

आमन्दगिरीयव्याख्या

पुनानि विचारयोग्यानीत्याह—तदुच्यत इति । निरूपिष्यब्रह्मज्ञाने श्रैयैक्यादेक्यं सिद्धमिति न भेदाभेदचिन्ता । तत्र पुनर्गुणोप-
संहारो लक्ष्याखण्डवार्थसिद्धयर्थं वाच्यार्थतद्वाचकपदोपसंहाररूपो वर्तित्यते तन्नोक्तविचारारम्भमिदिरित्याह—इत्यदोष इति ।
गुणमपि विचार्यमाणद्वयं ब्रह्मैवेति कथं तस्मिन्नुपास्तिभेदाभेदचिन्तेत्याशङ्क्याह—अत्रेति । सोपाधिकं ब्रह्म सप्तम्यर्थः । न केवलं
वेषयभेदाद्भेदः किंतु फलभेदादपीत्याह—कर्मवदिति । विरक्तस्य मुमुक्षोरलमनेन विचारणेत्याशङ्क्याह—क्रमेति । तस्यापि
योक्तो विचारो हेतोपादेयविवेकोपकारीत्यर्थः । निर्गुणविद्यायां कच्चिद्भेदभ्रमापोहेनाभेदो निरूप्यतऽनुपपन्नकशब्दानां मल्यारिभोगां
॥ साधारणस्वरूपलक्षणार्थमुपसंहारो वर्ण्यते । सगुणविद्यासु पुनरभेदः कच्चिद्विच्छेदः कच्चिद्वैद्यानामुपसंहारः कच्चिदनुपसंहार-
श्चपुंसहरति—तेष्विति । एवं पादारम्भमुक्त्वा प्रतिशाखं प्रतीतज्ञानानि विषयीकृत्य नामादिभेदाद्योदात्तार्थविशेषाद्याध्याधिकरण्यावयवं
संशयमाह—किमिति । अत्र चोत्सर्गतः सर्वशखासु विषैक्ये सिद्धे पूर्वोक्तन्यायेन विद्यतो मुक्तिसंगवात्पाशादिसंगतिरिति मत्वा
पूर्वपक्षयति—तत्रेति । पूर्वपक्षे प्रतिवेदान्तं विद्याभेदाद्वैद्यानामुपसंहारः । सिद्धान्ते सर्वत्र विषैक्यशक्त्यनुपमहार इति फलमुत्तराधिकरणे
वक्ष्यति । शास्त्रान्तराधिकरणे 'नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यायदर्शनशब्दान्तरस्यप्रक्रियातोऽपि कर्म-
भेदः स्यात्' इति पूर्वपक्षसंग्रहेण पूर्वपक्षे कर्मभेदे ये हेतवो नामादयो वर्तितास्ते विद्याभेदलक्षणपूर्वपक्षोपयोगिवैनाशानूयन-
इत्यर्थः । तत्र नामो भेदकत्वमुदाहरति—नाम्ना इति । आदिपदादेकप्रकरणरथासिद्धोत्रदर्शपूर्णमासादिग्रहणम् । 'अथैव ज्यो-
तिर्यथ सर्वज्योतिरितेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यत्र ज्योतिष्टोमानुवादेन सहस्रदक्षिणगुणविधौ तद्वृणककर्मान्तरविधिरिति मंदेह,
प्रकृतज्योतिष्टोमस्य तदैकदेशवाचिना ज्योतिःशब्देन भीमादिशब्दवद्विधानात्कर्मान्तरविषयश्च गुणमात्रविधानस्य लभ्यत्वाद्वादशशतद-
क्षिणायाश्च सहस्रदक्षिणया विकल्पात्कृत्यानुवादेन गुणान्तरविधिरिति प्राप्ते सत्यां गतावेकस्य संज्ञिनोऽनेकसंज्ञायोगादेकानामनुपपत्त्या
लक्ष्णिकः शब्द इत्येतावता ज्योतिःशब्दस्यास्यामनुपपत्तौ ज्योतिष्टोमलक्ष्णत्वासिद्धेयशब्दाच्च प्रकरणविच्छेदात्प्रकृते गुणविषयो-
गुणविशिष्टकर्मान्तरविधिरिति द्वितीये स्थितम् । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिपु संज्ञाभेदेन संज्ञिभेदेन विप्रतिपत्तिरिति भावः । संज्ञान-

स्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु । अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु वि-
नेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं शांखायनकमित्येवमादि । तथा रु-
भेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येवमादि-
अस्ति चात्र रूपभेदः । तद्यथा—केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमाननस्य
पुनः पञ्चैव पठन्ति । तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामानन्ति केचिदधिकान् । त

रत्नप्रभाष्याख्या

इति 'नानाशब्दादिभेदात्' इत्यत्र वक्ष्यते । अत्र तु मिथोभिन्नास्ताः किं प्रतिशाखं भिद्यन्ते न वेति नामादिभेदाच्चोद-
शेषाच्च संशयः । पूर्वपक्षे विद्याभेदाद्गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते त्वभेदादुपसंहार इति फलभेदः । पूर्वतन्त्रे शाखान्तरा-
णपूर्वपक्षसूत्रं नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदः स्या
तत्रोक्ता हेतवो नामादयो विद्याभेदार्थमिहोच्यन्ते 'अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन
इत्यत्र प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादेन सहस्रदक्षिणाख्यगुणविधिमाशङ्क्य ज्योतिरितिपदस्य कर्मान्तरनामत्वसंभवे ज्योतिष्टो-
क्त्वायोगादथेति प्रकरणविच्छेदाच्च ज्योतिष्टोमात्कर्मन्तरं विशिष्टदक्षिणाकं विधीयत इति नाम्नः कर्मभेदकत्वमु-
ज्योतिरादिध्विलादिपदेनावध्वयं हौत्रमिति संज्ञाभेदात्कर्मभेदो प्राह्यः । तप्तं क्षीरं दध्ना कठिनमामिक्षा, तत्र द्वं :
वाजिनमित्ये भेदः, 'तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेव्यामि-
वाजिनाख्यगुणविधिः वाजिभ्य इति विश्वेदेवानुवादित्याशङ्क्यामिक्षां प्रत्युपसर्जनत्वेनोक्तविश्वेदेवानां वा
इत्यनुवादायोगादुत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे कर्मणि वाजिनद्रव्यस्यानाकाङ्क्षितस्य विध्ययोगाद्वाजिदेवताको वाजि-
कर्मन्तरमिति द्रव्यदेवताख्यरूपभेदात्कर्मभेदः सिद्धान्तितः । आदिपदात् 'एन्द्रं दध्यन्द्रं पयः' इति द्रव्यभेद-
भेदो प्राह्यः । एवमिहापि पञ्चाग्निषडभिर्रूपभेदाद्विद्याभेदो वाजिच्छन्दोगयोः । तथा रेतेन्यूनं वागाद-

भामतीव्याख्या

आह—अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेष्विति । यथैव काठकादिसमाख्या ग्रन्थे प्रयुज्यन्त एवं ज्ञानेऽपि लो-
न चास्ति विशेषो यतो ग्रन्थे मुख्या विज्ञाने गौणी भवेत् । प्रणयनं च ग्रन्थज्ञानयोरभिन्नं प्रवृत्तिनिमित्तम् । तस्मान्ज्ञान-
वाचिका समाख्या । तथाच यदा ज्योतिष्टोमसंनिधौ श्रूयमाणं समाख्यान्तरं तत्प्रतीकमपि कर्मणो भेदकं तदा केन कया शा-
रीये विप्रकृष्टतमेऽतत्प्रतीकभूतसमाख्यान्तराभिधेये ज्ञात इति । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो यथा 'वैश्व-
मिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्येवमादिषु । इदमाम्नायते—'तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इति । अत्र हि
देवतासंबन्धानुमितो यागो विधीयते । तदनन्तरं चेदमाम्नायते—'वाजिभ्यो वाजिनम्' इति । अत्रेदं संदिश्यते—किं पूर्वं
कर्मणि वाजिनं गुणो विधीयते उत कर्मन्तरं द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टमपूर्वं विधीयत इति । किं तावत् प्राप्तं, द्रव्यदेवतान्तर-
ष्टकर्मन्तरविधौ विधियौवप्रसङ्गात् कर्मन्तरापूर्वीन्तरकल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च न कर्मन्तरविधानमपि तु पूर्वस्मिन्नेव कर्मणि व
द्रव्यविधिः । न चोत्पत्तिशिष्टामिक्षागुणावरोधात्तत्र वाजिनमलब्धावकाशं कर्मन्तरं गोचरयतीति युक्तम् । उभयोरपि वा
समसमयप्रवृत्तेरामिक्षावाजिनयोरुत्पत्तौ समं शिष्यमाणत्वेन नामिक्षायाः शिष्टत्वम् । तत्कथमनयावरुद्धं कर्म न वाजिनं निवि-
न च वैश्वदेवीत्यत्र श्रौतं आमिक्षासंबन्धो विश्वेषां देवानां येन वाजिनसंबन्धाद्वाक्यगम्याद्ब्रह्मवान्भवेदुभयोरपि पदान्तरयो-
रिति वाक्यगम्यत्वाविशेषात् । नो खलु वैश्वदेवीत्युक्ते आमिक्षापदानपेक्षामामिक्षामप्यवस्थाम् । अस्तु वा श्रौतत्वं तया

आनन्दगिरियव्याख्या

रात्कर्मभेदेऽपि प्रकृते किं जातमित्याशङ्क्याह—अस्ति चेति । तैत्तिरीयकादिशब्दानां शाखानामात्मे विज्ञाननामात्वं प्रयोगवि-
त्प्रवृत्तिनिमित्तस्य च प्रवचनस्य ग्रन्थज्ञानयोरविशिष्टत्वाच्च कश्चिन्मुख्यमन्यत्र गौणं नामाप्रसिद्धविभागायोगादिति भावः । विद्याभेद-
भेदादुक्त्वा रूपभेदादपि तमुदाहरति—तथेति । आदिपदेनाग्नेयाग्नीषोमीयादिसंग्रहः । 'तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्या
वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र पूर्वस्मिन्नेव वैश्वदेवे कर्मणि वाजिनवाक्येन वाजिनगुणविधेयां द्रव्यदेवतान्तरयुक्तकर्मान्तरविधेयं
विश्वेषामेव देवानां वाजेनाग्नेनामिक्षाया युक्तानां वाजिपदेनोक्तेर्वाजिभ्य इति ताननूय वाजिनगुणविधेरामिक्षावद्वाजिनगुणस्या-
न कर्मान्तरविधिरिति प्राप्ते विश्वेषां देवानामामिक्षां प्रत्युपसर्जनतया प्राधान्येनाप्रकृतत्वाद्वाजिपदेन परामर्शयोगाद्वाजिनगुणस्या-
देवताभिधानेन संबन्धात्कर्मन्तरदृष्टेस्तद्धितश्रुत्या चाभिक्षावरुद्धतया वाजिनस्य तत्रानवकाशात्पूर्वैसात्कर्मणः स्वसंबन्धिकर्मणो
कत्वात्तद्धितश्रुतिविरोधे वाक्यस्य दौर्बल्याद्वाजिनवाक्येन द्रव्यदेवतान्तरयुक्तकर्मान्तरविधिरिति तत्रैव स्थितम् । आग्नेयादिषु पुना
भेदाद्भेदेन विगानमिति भावः । अस्तु रूपभेदात्कर्मभेदः प्रस्तुते किं जातं तदाह—अस्ति चेति । अत्रेति विवोक्तिः ।
भिन्नं रूपमुदाहरति—तथेति । यथा यागस्य द्रव्यदेवते रूपमेवं वेद्यमेव विद्याया रूपम् । तथाच वेद्यभेदे विद्याभेदः स्यादित्य-
धमेभेदाद्विद्याभेदं वक्तुं तस्य कर्मभेदकत्वमाह—तथेति । कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भुजते न तथान्ये । अग्नि

धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः ।

रत्नप्रभाख्या

नदोगे तत्सहिता वाजिनामिति प्राणविद्याभेदः, कारीरिवाक्याध्ययने तैत्तिरीयकाणां भूमौ भोजनं धर्मविशेषो नान्येषां, अग्न्याध्ययने केषांचिदुपाध्यायार्थमुदकाहरणं धर्मो नान्येषां, अश्वमेधाध्ययनेऽश्वघासानयनं केषांचिवैव नान्येषां, नच तान्येव कारीर्यादीनि कर्माणि धर्मविशेषमपेक्षन्ते नापेक्षन्ते चेति युक्तं, अतो धर्मविशेषाच्छाखान्तरे कर्मभेदः शङ्कितस्तथात्रापि मुण्डकाध्ययने केषांचिदेव शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपं व्रतं नान्येषामिति विद्याभेदः स्यात्, पुनरुक्तिरभ्यासः । यथा 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' इति यजल्यभ्यासात्प्रयाजानां भेद उक्तस्तथा शाखान्तरेऽभ्यासाद्विद्याभेदः, आदिपदान्निन्दादिग्रहः, 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाञ्जुहुति येऽग्निहोत्रम्' इत्यनुदितहोमस्य 'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद्यथातिथये प्रदुनाय शन्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादगेव तत्' इत्युदितहोमस्य च निन्दाश्रुतभेदः, एकस्यैवोदितेऽनुदिते चानुष्ठानायोगात्, तथादितानुदितहोमातिक्रमकृतप्रायश्चित्तादप्यग्निहोत्रभेदः शङ्कितः । एते निन्दाप्रायश्चित्ते वेदान्तविद्यासु न विद्येते इति नोदाहियेते । यथा सर्वशाखाविहितस्य कर्मणो ज्ञातुं कुतः चाऽशक्तेर्भेदस्तथा सर्ववेदान्ताध्ययनज्ञानायशक्तेस्तद्वेदान्तविद्याभेदः स्यात्, तथा शाखानां सर्वासामेकरूपा समाप्तिर्नोच्यते किंतु कस्याश्चित्कचित्कर्मणि समाप्तिरतः समाप्तिवचनभेदात्प्रतिशाखं कर्मभेदः शङ्कितः, तथा कस्यचिद्वेदान्तस्योङ्कारसर्वात्म्ये समाप्तिः कस्यचिदन्यत्रेति विद्याभेदः, अन्यार्थदर्शनमर्थवादस्तद्वेदात्कर्मभेदवद्विद्याभेद इति पूर्वपक्षसूत्रोक्ता हेतवो दर्शितास्ते केचित्सिद्धान्ते पूर्वपक्षे चात्रोपयुक्तत इति । तथा शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि कर्मभेदकानि, तत्र नामधेयं गुणो रूपमभ्यासश्चेति त्रयं व्याख्यातं, यजे-त्याञ्जुह्यादिति प्रकृतिशब्दभेदेन धात्वर्थभेदात्तदवच्छिन्नभावनाख्यकर्मभेद उक्तस्तथात्र वेदोपास्त इत्यादिशब्दभेदाद्विद्याभेदः, 'तिष्ठ आहुतीर्जुहोति' इति संख्यया कर्मभेदवत् 'वायुप्राणौ द्वौ संवर्गौ' इति द्वित्वसंख्यया संवर्गविद्याभेदः स्यात् । नित्याग्निहोत्रप्रकरणात्प्रकरणान्तरे कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहति' इति धृतमग्निहोत्रं प्रकरणान्तरस्थत्वात्कर्मन्तरमिति

भामतीव्याख्या

जिभ इति पदं वाजमन्त्रमामिश्रा तदेवामस्तीति व्युत्पत्त्या तत्संबन्धिनो विश्वान्देवावुपलक्षयति । यद्यपि विश्वदेवशब्दाद्वानिपदं भिन्नं, येन च शब्देन चोदना तेनैवोद्देशे देवतात्वं न शब्दान्तरेणान्यथाऽर्थकत्वेन सूर्योदित्यपदयोः सूर्योदित्यचचारिकदेवत्यप्रसङ्गात्, तथापि वाजिनितीनेः सर्वनामायं स्मरणात् संहितितस्य च सर्वनामार्थत्वात्, विश्वेषां देवानां च विश्वदेवपदेन संनिधापनात्तत्पद-पुरस्ता एवमेतं वाजिपदेनोपस्थाप्या न तु सूर्योदित्यपदवत्स्वतन्त्राः । तथाच तदुपलक्षणायां वाजिपदं विश्वदेवोपहितामेव देवतामुप-लक्षयतीति न शब्दान्तरादेवताभेदः । तत्रामिश्रासंबन्धोपजीवनेन विश्वेभ्यो वाजिनं विधीयमानं नामिश्रया बाध्यते किंतु तथा सह मुच्येत इति न कर्मान्तरमपि तु वाक्याभ्यां द्रव्ययुक्तमेकं कर्म विधीयत इति प्राप्त उच्यते—स्यादेतदेवं यदि वैश्वदेवीति तद्वि-धुत्यामिश्रा नोच्येत । तद्वित्तस्य त्वस्येति सर्वनामायं स्मरणात् संहितितस्य च विशेष्यस्य सर्वनामार्थत्वात्तत्रैव तद्वित्तस्यापि वृत्ति-तु विश्वेऽप्युपलक्ष्यते । न तत्संबन्धे, नापि तत्संबन्धमात्रे । नन्वेवं सति कस्माद्वैश्वदेवीशब्दमात्रादेव नामिश्रां प्रतीमः किमिति चाभि-प्रादमपेक्षामहे । तद्वित्तान्तस्य पदस्याभिधानार्थवत्सताना प्रतीमस्तत्पर्यवसानाय चापेक्षामहे । अवसिताभिधानं हि पद समर्थ-र्थप्रियमाधानम् । इदं तु संहितितविशेषाभिधापि तत्संनिधिमपेक्षमाणं संनिधापकमामिश्रापदमपेक्षत इति कृत आमिश्रापदानपेक्ष आ-ध्याप्यप्रसङ्गः । कुतो वा तन्नामपेक्षा । अतश्च सत्यामपि पदान्तरापेक्षायां यत्पदं पदान्तरापेक्षमभिधेते तत्प्रमाणभूतप्रथमभाविपदा-गम्यत्वाच्छ्रुतं बलीयश्च । यत्तु पर्यवसिताभिधानपदमिहितपदार्थावगमगम्यं तत्तच्चरमप्रतीतिवाक्यगम्यं दुर्बलं चेति तद्वित्त-वगतमिश्रालक्षणागुणावरोधात्पूर्वकर्मसंयोगि वाजिनद्रव्यं संबन्धि पूर्वस्माद्विनति । एवंच सति नित्यवदवगतानपेक्षसामभाव-मिश्रा न वाजिनद्रव्येण सह विकल्पसमुच्चयो प्राप्स्यति । न चाश्रिते निरुद्धत्वादनपेक्षश्रुति वाजिपदं कथंचिद्योगिकं सापेक्षश्रुति विश्वदेवशब्दां देवानां वैश्वदेवोपादामिश्राद्रव्यं प्रत्युपसर्जनीभूतामवगतामुपलक्षयिष्यति । प्रकृतं हि सर्वनामपदगोचरः । प्रधानं च प्रकृतमुच्यते नोपसर्जनम् । प्रामाणिकं च विधिकल्पनागोरवे अभ्युपेतव्ये एव प्रमाणस्य तत्त्वविपर्ययान् । तस्माद्यथेह पूर्वकर्मो-संबन्धिनो गुणात्कर्मभेद एवमिहापि पञ्चाग्निविद्यायाः षडग्निविद्या भिन्ना, एवं प्राणसंवादेदूनाधिकभावेन विद्याभेद इति । तथा धर्मवि-शेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक इति । तथाहि—कारीरिवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति नाचरन्त्यन्ये । तथा-ग्निमीयानाः केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति नाहरन्त्यन्ये । तथाश्वमेधमीयानाः केचिदश्वस्य घासमानयन्ति नानयन्त्यन्ये । केचित्वाचरन्त्यन्यमेव धर्मम् । नच तान्येव कर्माणि भूमिभोजनादिजनितमुपकारमाकाङ्क्षन्ति नाकाङ्क्षन्ति चेति युज्यते । अतोऽव-गम्यते भिन्नानि तासु तासु शाखासु कर्माणीति । अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—अस्ति चात्रेति । अन्येषां शास्त्रिणां

आनन्दगिरियव्याख्या

यानाश्च केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति न त्वन्ये । नच तान्येव कर्माणि भूमिभोजनादिधर्मजन्योपकारवन्ति नद्रहितानि चेति युक्तमतस्तत्र धर्मभेदाद्देधीरित्यर्थः । एवमपि प्रकृते किं स्यात्तद्वत्—अस्ति चेति । अत्रेति पूर्ववद्विद्योक्तिः । अन्येषां तु शास्त्रिणां

यथार्थवर्णिकानां शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्याद्योऽपि भेदहेतवो यथासंभवं वेदान्तान्ते

रत्नप्रभाष्याख्या

सिद्धान्तितम् । तथात्र वेदान्तभेदे प्रकरणभेदादुपास्तिभेद इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तयति—एवमिति । सर्ववेदान्तैः प्र

भाष्यतीत्याख्या

नास्तीति शेषः । एवं पुनरुक्त्याद्योऽपीति । 'समिधो यजति' इत्यादिषु पञ्चकृत्योऽभ्यस्तो यजतिशब्दः । तत्र कर्मभावना किंवा पञ्चैवेति । किं तावत्प्राप्तं, धात्वर्थानुबन्धभेदेन शब्दान्तराधिकरणे भावनाभेदाभिधानाद्भावार्थस्य च दमन्तरेण भेदानुपपत्तेः 'समिधो यजति' इति प्रथमभाविना वाक्येन विहिता कर्मभावना विपरिवर्तमानोपरितेनैवोक्त्यनु न च प्रयोजनाभावादननुवादः प्रमाणसिद्धस्याप्रयोजनस्याननुयोज्यत्वात् । कर्मभावनाभेदे चानेकापूर्वकल्पनाप्रसङ्गादेकापूर्वावाप्तरमेकं कर्मेति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—परस्परानपेक्षाणि हि समिदादिवाक्यानीति । सर्वाण्येव प्राथम्याहोण्यपि युगप नानुपपत्तेः क्रमेणाधीतानीति । न त्वयमेवां प्रयोजकः क्रमः । परस्परानपेक्षाणामेकवाक्यत्वे हि प्रयोजकः स्यात् । तेन प्राथम्या प्राप्तमित्येव नास्तीति कस्य कोऽनुवादः । कथंचिद्विपरितुत्तिमात्रस्योत्सर्गिकाप्रयुक्तप्रवर्तनालक्षणविधिः पापवादसामर्थ्याभा गुणश्रवणे हि गुणविशिष्टकर्मविधाने विधिगौरवमिया गुणमात्रविधानलक्षणवाय कर्मानुवादापेक्षायां विपरिवर्तितरूपकारः । यथा जुहोति' इति दधिविधिपरे वाक्ये विपरिवृत्त्यपेक्षायाम् 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति विहितस्य होमस्य विपरिवर्तमानस्यानुवादात् गुणाद्भेदः, समिदादिपदानां कर्मनामधेयानां गुणवचनत्वाभावात् । अष्टमागणविशेषतया च किंचनविहितकिंवादेन कस्य गुणविधिवमिति न विनिगम्यते । न चापूर्वं नाम ज्योतिरादिब्रह्मविधानासंबन्धं प्रथममवगतं, यतः पूर्वबुद्धिर्विधीयमानं कर्म पूर्वस्मात्संज्ञातो व्यपच्छिन्नात् । किंतु प्रथमत एव कर्मसामानाधिकरण्येनावगताः समिदादयस्तद्विशालाः धेयतां प्रतिपद्यमाना आख्यातस्यानुवादत्वेऽनुवादा विधित्वे विधयो न तु स्वातन्त्र्येण कस्याचिदीशते । तस्मात् स्वरसंसिद्धाप्राम-धिपरत्वात्कर्मण्यमभ्यासो भावनानुबन्धभूतानि भिन्दानो भावनां भिनति यथा तथा शाखान्तरविहिता अपि विद्याः शाखाः हिताभ्यो विद्याभ्योऽभ्यासो भेत्स्यतीति । अशक्तैश्च । नक्षेत्रैः पुरुषैः सर्ववेदान्तप्रत्ययभिमिकापुसासनामुपसंहृतं शक्नोति सर्ववेदान्तनाममर्थोदनधीतार्थोपसंहारेऽन्ययनविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । प्रतिशाखं भेदे तूपासनानां नायं दोषः । समाप्तिभेदाच्च । के

आनन्दगिरिय्याख्या

नैवं शिरस्यभिधारणं व्रतमस्तीति धर्मभेदादिद्याभेद इत्यर्थः । भेदकान्तराण्यतिदिशति—एवमिति । आदिग्रहणाद्विन्दाऽऽस्तिसमां नप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनानि शब्दान्तरं संख्या प्रक्रियेत्येतानि च संगृह्यन्ते । तत्र 'समिधो यजति' इत्यादौ पञ्चकृत्योऽभ्यस्तो यजति किमेकं कर्मापूर्वं किंवा पञ्चैवेति संशये धात्वर्थानुबन्धभेदमन्तरेणापूर्वभेदाधोगात्प्रकृते तदयोगादेकं कर्मापूर्वमिति प्राप्ते ममि वाक्यानां स्वरसंसिद्धाप्रामादिकर्मविधिपरत्वादसति विशेषे पुनः श्रुतेरानर्थक्यात्प्रत्ययभ्यासमपूर्वभेद इति पुनरुक्तेर्भेदकत्वं स्थितम् । शाखान्तरोक्ता विद्याः शाखान्तरोक्तविद्याभ्यो भिन्नाः पुनरुक्तेरिति पुनरुक्तितो विद्याभेदः । निन्देत्युदितानुदितहोमनिन्दोक्ता 'प्रातरनुतं ते वदन्ति पुरोदयाजुहुति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सृशो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्' इत्यनु होमनिन्दा 'यथाऽतियथे प्रदुतायात्रं हरेयुस्तादृक्त्यदुदिते जुहोति' इत्युदितहोमनिन्दा । ततश्चैकस्यैवोदितेऽनुदिते च क्रमेणातुं योगाद्भेदः । उदितानुदितहोमातिक्रमकृतप्रायश्चित्तादपि तद्भेदधीः । न च निन्दाप्रायश्चित्ते वेदान्तविद्यासु विद्येते इति नोशास्ति यस्वथ योऽन्यामित्यादि तद्भेदधीविषयत्वाच्च विद्यां भिनत्ति । ततो भूय इवेत्यादि तु केवलदेवताज्ञाननिन्दया तस्य कर्मणा म यपरम् । अशक्तिश्च कर्मवद्विद्याभेदिका । नहि सर्वशाखाविहितं कर्म शक्यमेकेनानुष्ठानं तथोपासनान्यपि नानाशास्त्रोक्तानि नो नुष्ठीयेरन्निति भेदः । समाप्तिरपि शाखिनां केषांचित्कचिदिति कर्मणो भेदिका । तथा वेदान्तेष्वपि कचिदोक्तारसर्वत्ववत् समप्तिरन्यत्र कचिदित्युपास्तिभेदः । अन्यार्थदर्शनं 'वायुर्वं क्षेपिष्ठा देवता' 'सोऽरोदीचदरोदीच' इत्याष्वर्थवादरूपं कर्मभेदकं न निन्दयोरैकत्रासमवायात् । एवं वेदान्तेष्वपि नानाविधार्थवादस्य तत्र तत्र दृष्टेर्विद्याभेदः । शब्दान्तरादपि कर्मभेदः । ज्योतिर्ग्रेमे 'सोमेन यजेत', 'दाक्षिणानि जुहोति' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इत्यत्र यजतिददातिजुहोतयः संहत्य वा कार्यं कुर्वन्त्यम वेति संदेहे संहतानामेकापूर्वसाधकत्वं लाघवादिति पूर्वपक्षे 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' इत्यत्र शब्दभेदे भाव नुबन्धभेदाद्भावनाभेद इति स्थितम् । तथेहापि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'तरति शोकमात्मविव' इति शब्दान्तराज्ज्ञानभे संख्यापि कर्मणो भेदिका 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशुतालभेत' इत्यत्र सप्तदशभिः पशुभिरैको वा यागो निर्वर्त्यः सप्त वेति संशये यो हि बहून्कल्पयति कल्पयत्यसावेकमिति लाघवादेको यागः सप्तदशपशुभिर्नैर्वर्त्य इति पूर्वपक्षे पशूनां पश्वत्वे स शस्त्रंखायाः संभवात्तत्पृथक्त्वस्य च यागभेदाधीनत्वाभागाः सप्तदशेति राद्धान्तितम् । तथात्रापि तौ वा एतौ द्वौ संवर्गाविति संख्य विद्याभेदः । प्रक्रियापि कर्मभेदिका कुण्डपाथिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' 'मासं दशपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यत्र निन्देऽ होत्रादौ मासगुणविधिर्वा कर्मान्तरविधिवेति संदेहे सत्यग्निहोत्रादिशब्दस्य प्रसिद्धाग्निहोत्राचनुवादित्वान्मासमित्यप्रसिद्धत्वात्प्रसिद्धादु देनाप्रसिद्धगुणविधिसंभवात्प्रकरणस्य वाक्यादौर्बल्याद्गुणविधिरिति प्राप्ते यस्य प्रकरणे यद्वाक्यं श्रुतं न तत्तस्य बाधकमित्युक्तगोडुप द्विश्रित्वेऽयुक्त्वा मासमग्निहोत्रमित्यादिश्रुतेनैवमिकाग्निहोत्रादौ नोपसदामभावात्तदनुवादेन गुणविध्यसिद्धेरुपसदामपि तत्रैव वि

योजयितव्याः । तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिन्स्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति । कुतः—चोदनाद्यविशेषात् । आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते । संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः । यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति । एवम् 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६।१।१ छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना । प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६।१।१) इति । रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्त्वम् । यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेवं विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य तेन हि तद्रूप्यते । समाख्याऽपि सैव प्राणवियेति । तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे विज्ञानानाम् । एवं पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्या शाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम् । ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव

रत्नप्रभाख्याख्या

सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः । उक्तनामादिभिरग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धिसूत्रं 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति । तत्र चोदना विधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा । तस्या अवशिष्टमाह—यथैकस्मिन्निति । एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यादुपास्तित्यलैक्यमित्यर्थः । यथा ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणविद्या सर्वशाखास्वेकाया पञ्चाग्निविद्यापेका फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथान्यापि विद्याऽभिज्ञेत्याह—एवं पञ्चाग्नीति । पूर्वपक्षहेतुत्रिराच्ये—ये वेति । काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः अचोदनाभिधानत्वात्काठादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावात्ततो मित्रनामकशाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्परूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनात् न कर्माह-

भामतीव्याख्या

तानिनामोद्धारसार्वभौम्यकथने समाप्तिः । केपाचिदन्यत्र । तस्मादुपासनाभेदः । अन्यायदर्शनादपि भेदः । तथाहि—'नतदची-
व्रतोऽधीत' इति अचीर्णव्रतस्याभ्ययनाभावदर्शनादुपासनाभावः । क्वचिदचीर्णव्रतस्याभ्ययनदर्शनादुपासनावगम्यते । तस्मादुपास-
नाभेद इति । अत्र सिद्धान्तमाह—सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् । तत्राचोद—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि
सर्ववेदान्तप्रमाणानि विज्ञानानि तस्मिन्स्मिन् वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति । तान्येकैकं वेदान्ते
तान्येव वेदान्तान्तरेऽपीत्यर्थः । चोदनाद्यविशेषात् । आदिशब्देन संयोगरूपाख्याः संगृह्यन्ते । अत्र च चोद्यत इति चोदना
ग्रन्थप्रयत्नः । स हि पुरुषस्य व्यापारः । तत्र स्वल्पं होमादिधातुव्यापिष्ठे प्रवर्तते । अत्र च चोद्यत इति चोदना
कथावच्छेदः पुरुषप्रयत्नः स एव शाखान्तरे यथेतिहासि प्राणज्येष्ठत्वादिधीविषयप्रयत्नविषयः पुरुषप्रयत्नः स एव शाखान्तरेऽपीति । एव

आनन्दगिरीयव्याख्या

सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः । उक्तनामादिभिरग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धिसूत्रं 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति । तत्र चोदना विधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा । तस्या अवशिष्टमाह—यथैकस्मिन्निति । एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यादुपास्तित्यलैक्यमित्यर्थः । यथा ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणविद्या सर्वशाखास्वेकाया पञ्चाग्निविद्यापेका फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथान्यापि विद्याऽभिज्ञेत्याह—एवं पञ्चाग्नीति । पूर्वपक्षहेतुत्रिराच्ये—ये वेति । काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः अचोदनाभिधानत्वात्काठादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावात्ततो मित्रनामकशाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्परूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनात् न कर्माह-

आनन्दगिरीयव्याख्या

सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः । उक्तनामादिभिरग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धिसूत्रं 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति । तत्र चोदना विधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा । तस्या अवशिष्टमाह—यथैकस्मिन्निति । एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यादुपास्तित्यलैक्यमित्यर्थः । यथा ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणविद्या सर्वशाखास्वेकाया पञ्चाग्निविद्यापेका फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथान्यापि विद्याऽभिज्ञेत्याह—एवं पञ्चाग्नीति । पूर्वपक्षहेतुत्रिराच्ये—ये वेति । काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः अचोदनाभिधानत्वात्काठादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावात्ततो मित्रनामकशाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्परूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनात् न कर्माह-

आनन्दगिरीयव्याख्या

सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः । उक्तनामादिभिरग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धिसूत्रं 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति । तत्र चोदना विधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा । तस्या अवशिष्टमाह—यथैकस्मिन्निति । एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यादुपास्तित्यलैक्यमित्यर्थः । यथा ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणविद्या सर्वशाखास्वेकाया पञ्चाग्निविद्यापेका फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथान्यापि विद्याऽभिज्ञेत्याह—एवं पञ्चाग्नीति । पूर्वपक्षहेतुत्रिराच्ये—ये वेति । काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः अचोदनाभिधानत्वात्काठादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावात्ततो मित्रनामकशाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्परूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनात् न कर्माह-

काण्डे 'न नास्मा स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः ॥ १ ॥ इहापि कंचिद्विशेषमशङ्क्य परिहरति—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्यादेतत् । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदाभोपपद्यते । तथाहि—वाजसनेयिनः पञ्चमिविधां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१५) इत्यादिन छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति 'अथ ह य एतानेवं पञ्चामीन्वे' (छा० ५।१०।१०) इति । येषां च स गुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं पञ्चसंख्याविरोधात् । तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुः प्राणान्वाक्शुश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति । वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रे वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६) इति । आवापोद्वापभेदा वेद्यभेदो भवति वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत् । नैष दोषः । य

रक्षप्रभाष्याख्या

मतो न कर्मभेदकः, शाखाभेदे पुनरुक्तिरिति, निन्दान्यार्थदर्शनयोरपि न भेदकत्वं तत्तद्विहितुतिमात्रत्वाद्बहुशाखाध्ययनादपि स्वशाखातुक्तविशेषस्यापेक्षितस्यान्यतो ग्रहसंभवादशक्तिरभेदिका, एकस्मिन्नपि कर्मण्यङ्गलोपादिना प्रायश्चित्तं संभ एव समाप्तिवचनभेदोऽप्यप्रयोजक इत्येवं कर्मभेदप्रमाणप्राबल्ये भेदहेतवः परिहृता इत्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि शाखान्तरन्यायेनैक्यवद्विधैक्यसिद्धेः पुनरुक्तिरित्यत आह—इहापीति । रूपस्योपपत्तिशिवत्वं विशेषः । पञ्चामीन्वेदेत्याद्युपासनात्पत्तिस्थपञ्चाभ्यादिरूपभेदादुपासनाभेदः स्यादामिक्षावाजिनरूपभेदात्कर्मभेदवदित्यधिकाशङ्कानिरासार्थत्वात् पौनरुक्त्यमस्याधिकस्येति मत्वाशङ्कां व्याचष्टे—स्यादित्यादिना । अस्य पृथक्शास्त्रत्वात्कर्मन्यायानां मानसविद्यासु विना सूत्रं दुर्योजत्वाच्च पुनरन्धोऽपि नास्तीति मन्तव्यम् । ननु तस्य मृतस्य दाहार्थमग्निरन्येष्टिगतः षष्ठो यः प्रसिद्धवद्वाजिभिरुक्तः स छान्दोग्ये उप इति न रूपभेदः, तत्राह—न चात्रेति । अस्तु प्रजननगुणवतो रेतसो वाजिनामावापश्छन्दोगानां च तस्योद्वापस्ततः । त्यत आह—आवापेति । छान्दोग्ये षष्ठाभ्यामावमङ्गीकृत्यात्परूपभेदो न विधैक्यविरोधीति परिहरति—नैष ।

आमतीत्याख्या

फलसंयोगोऽपि ज्येष्ठश्रेष्ठभवनलक्षणः स एव । रूपमपि तदेव । यथा यागस्य यदेकस्यां शाखायां द्रव्यदेवतारूपं तदेव शास्त्रं स्वपीति । एवं वेदनस्यापि यदेकत्र प्राणज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वरूपं विषयस्तच्छास्त्रान्तरेऽप्यपीति ॥ १ ॥ कंचिद्विशेषमिति । युक्तं यदमीयस्योत्पन्नस्य पञ्चादेकादशकपालत्वादिसंख्येऽप्यभेद इति । यथोत्पन्नस्य तस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिह त्विष्टपूय एव गुणभेद इति कथं वैश्वदेवीवन्न भेदक इति विशेषः । तमिमं विशेषमभिप्रेत्याशङ्कते सूत्रकारः—भेदान्नेति

आनन्दगिरियस्याख्या

पालत्वरूपभेदो वाचनिकः । तथाभ्यादिपु रूपभेदेऽपि विधैक्यविरोधात् । नच धर्मविशेषो भेदकः । तस्य विद्याग्रहणा कर्मानुपकारिणस्तद्भेदकत्वाभावात् । उक्तं हि—'विद्यायां कर्मशास्त्रम्, इति । तथात्रापि धर्मविशेषो न विद्यार्थ इति वक्ष्यते । पुनरुक्तिर्भेदिका । नखेतद्विवचनं यदेकोऽर्थो बहुभिः शास्त्रिभिरुच्यते । एकस्मिन्नपि वेदे बहुभिरुच्यमाने पुनरुक्तिप्रसक्तसादध्येतृभेदेन पुनरुक्त्यभावात्कर्मवयम् । तदुक्तम्—'अद्विवचनं श्रुतिसंयोगाविशेषात्' इति । एवमत्रापि विधैक्यं प्रति प्रत्येतव्यम् । अशक्तिरपि न भेदहेतुः । असमर्थानामेकस्मिन्नपि वेदे सर्वाङ्गोपसंहारान्नेहत्वात् । समर्थानां तु शास्त्रतदध्ययनाभावेऽपि तदध्येतृभ्यो विश्वस्य तत्तद्रूपमुपसंहर्तुं शक्यत्वात् । नच समाप्तिवचनं भेदकमेकत्वेऽपि कस्यचिदन्यसमाप्तौ समाप्तिवचनसंभवात् । न चान्यार्थदर्शनमन्यपरत्वात्कर्मैक्यं विधैक्यं वा प्रमितं निषेद्धमिति । शाब्दान्तरसंस्थाप्रक्रियायां प्रबलेनाभेदकेन भेदकत्वमाप्यमतो न विद्याभेदाशङ्केति ॥ १ ॥ तर्हि पूर्वतन्त्रोक्तन्यायेनैव प्रतिशास्त्रं विधैक्यसिद्धौ किमनेनधिकरत्याशङ्क्याह—इहापीति । शाखान्तराविकरणे खल्वेकस्यां शाखायामशीपोमीयस्यैकादशकपालत्वमपरस्यां द्वादशकपालत्वमिति भेदात्कर्मभेदं शङ्कित्वा संख्ययोर्वैकल्यं शक्तुम् । तद्युक्तं कपालसंख्ययोरुत्पन्नशिशयोर्हृत्पातवैकल्येण ज्ञातकर्मप्रत्यभिज्ञानावापक कर्मभेदकत्वादभ्यादिगतपञ्चसंख्योदेरुत्पत्तिविशिष्टत्वाद्वाजिनवद्भेदकत्वमिति शङ्कामुत्थाप्य परिहारादस्यार्थवत्तैल्यर्थः । शङ्कां । जते—स्यादिति । गुणभेदं साधयति—तथाहीति । छन्दोगाः षष्ठमग्निं नामनन्तीति कथं सिद्धमित्याशङ्क्योपसंहारवशादित्युक्त्याह—पञ्चेति । गुणभेदमुक्त्वा तत्फलं विद्याभेदमाह—येषां चेति । वाजसनेयकगतो योऽग्निः षष्ठोऽन्येष्टिनिविष्टः प्रसिद्धोक्तस्तस्य च्छान्दोग्येऽप्युपसंहारात् गुणभेदोऽस्तीत्याशङ्क्याह—नचेति । पञ्चाभिप्रेत्यायां गुणभेदाद्भेदमुक्त्वा प्राणविद्यायामपि दाद्भेदमाह—तथेति । अस्तु प्रजननगुणवतो रेतसो वाजसनेयिनामावापश्छन्दोगानां चोद्धारस्तथापि कथं विद्याभेदः, तत्राह—आवापेति । सूत्रावयवं परिहारत्वेन व्याचष्टे—नेत्यादिना । ननु गुणभेदे वेद्यभेदादिद्याभेदो न च षष्ठ्याभेरुपसंहारः १५

एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते । यद्यपि षष्ठ्याग्रेरुपसंहारो न संभवति तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति । नहि षोडशग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते । पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निद्वन्द्वोऽग्नौ—‘तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति’ (छा० ५।१।२) इति । वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वप्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धमादिकल्पनाया निवृत्तये ‘तस्याग्निरैवाग्निर्भवति समित्समिद्’ (वृ० ६।२।१४) इत्यादि समासनन्ति स नित्यानुवादः । अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम् । न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः । सांपादिकाश्चभिप्राया ह्येषा पञ्च-तरत्रोपसंहारो न विरुध्यते । न चावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः । कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात् । तस्मादैकविद्यमेव ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सवचच तन्नियमः ॥ ३ ॥

यदप्युक्तमाथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद इति तत्प्रयुच्यते । स्वाध्यायस्यैव धर्मो न विद्यायाः । कथमिदमवगम्यते । यतस्तथात्वेन स्वाध्याय-

रत्नप्रभाख्याख्या

दिना । अङ्गीकारं लयजति—पठ्यतेऽपीति । इतोऽस्माल्लोकादिष्टं लोकान्तरं प्रेतं गतं ज्ञातयोऽग्नये हरन्तीत्यर्थः । ननु छन्दोग्येऽग्निमात्रं श्रुतं वाजिभिस्तु रामिदादिविशेषः पठ्यते इति रूपभेदस्तदवस्थाः, तत्राह—वाजसनेयिनस्त्विति । षष्ठाग्रेस्तद्विशेषस्य चानुवादमात्रत्वेनानुपास्यत्वात्पञ्चाग्नय एवोपास्या उभयत्रेति न रूपभेद इत्यर्थः । सविशेषस्य षष्ठाग्रे-स्यास्यत्वेऽपि न रूपभेद इत्याह—अथापीति । शुलोकादीनां पञ्चानामग्नीनामग्निवत्संपत्तिविधौ नैवार्थात्पद्यत्वं संपत्तिकल्पि-ताग्नीनां सिद्धमनूद्यते न ध्येयत्वेन विधीयत इत्यर्थः । छन्दोगैर्वाजिशास्त्रात्वं रेत उपसंहर्तव्यमित्युक्ताऽनुपसंहारेऽपि न वेद्याभेद इत्याह—न चावापेति ॥ २ ॥ एवं रूपभेदो न विद्याभेदक इत्युक्ता धर्मविशेषोऽपि न भेदक इत्याह—स्वाध्यायस्येति । गोदानवदध्ययनाङ्गत्वेन शिरोव्रतमाथर्वणिकानां सूत्रे विहितं न विद्याङ्गमित्यर्थः । अधिकाराच्चेति

भामतीव्याख्या

देति । परिहारः सूत्रावयवः—न एकस्यामपीति । पञ्चैव सांपादिका अग्नयो वाजसनेयिनामपि छन्दोग्यानामिव विधी-यन्ते । षष्ठस्त्वसिः संपद्यतिरेकायानूयते न तु विधीयते । वैश्वदेव्यां तूपत्तौ गुणो विधीयत इति भवतु भेदः । अथवा छन्दोग्यानामपि षष्ठोऽग्निः पठ्यत एव । अथवा भवतु वाजसनेयिनां षष्ठाग्निविधानं मा च भूच्छन्दोग्यानां तथापि पञ्चत्वसंख्याया अविधानाच्चो-त्पत्तिशिष्टत्वं संख्यायाः किंतूपन्नेचमिषु प्रचयशिष्टा संख्यानूयते सांपादिकानग्नीनवच्छेत्तुं, तेन येषामुत्पत्तिस्तेषां प्रत्यभिज्ञानात् । अप्रत्यभिज्ञायमानायाश्च संख्याया अनुवाद्यत्वेनानुत्पत्तेर्विधीयमानस्य चाधिकस्य षोडशग्रहणवद्विकल्पसंभवाच्च शास्त्रान्तरे ज्ञान-भेदः । उत्पत्तिशिष्टत्वंऽसिद्धे प्राणसंवादादयोऽपि भवन्ति प्रत्यभिज्ञानादभिज्ञास्तासु तामु शास्त्रास्त्विति ॥ २ ॥ स्वाध्यायस्य

तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सवचच तन्नियमः । यैराथर्वणिकग्रन्थोपाया विद्या वेदितव्या तेषामेव शिरोव्र-

आनन्दगिरीयव्याख्या

स्याविरोधान्, तत्राह—यद्यपीति । एकैव विद्या षष्ठाग्नियुक्ता तद्रहिता चेति विरुद्धमित्याशङ्क्याह—नहीति । किंच वाजसनेयके षष्ठस्यापि ध्येयत्वमग्रेरुपेक्ष्योक्तं न तु तस्य ध्येयत्वं पञ्चैवाग्नयस्तथोच्यन्ते । अनुपास्यत्वेन षष्ठोक्तिरछान्दोग्येऽपि तुल्ये-त्याह—पठ्यतेऽपीति । इतोऽस्माल्लोकाकां दिष्टं परलोकं प्रेतं गतं पुत्रा ज्ञातयो वाग्नये नैषधनिधि विधातुं हरन्तीत्यर्थः । अनुपा-स्यत्वे किमिति पूर्वान्निवत्पठ्यते षष्ठोऽग्निः, तत्राह—वाजसनेयिनस्त्विति । तस्योपासकस्य मृतस्य दाहायाग्निरैवाग्निरिति प्रमिद्वानु-वादो न तूपासितविधिरुपास्यास्तूभयत्रापि पञ्चैवाग्नयः । प्रसिद्धानुवादश्च कल्पनानिदृश्यत्वेत्वादर्थवानित्यर्थः । उत्पत्तौ गुणान्तरविध्यभावाच्च विद्याभेदो वैश्वदेव्यास्तूपत्तौ विशिष्टगुणोक्तेर्भेद इत्युक्तम् । इदानीं वाजिनां षष्ठाग्निविधानेऽपि न विद्याभेद इत्याह—अथापीति । षष्ठाग्नीन्वेदिति श्रुतसंख्याविरोधान्न षष्ठ्याग्रेरुपसंहारसिद्धिरित्याशङ्क्य पञ्चसंख्याया विधेयत्वाभावात्सांपादिकाश्चयच्छेदकत्वेनैवानुवा-दादप्यस्यशिष्टत्वात्तुपन्नानां च प्रत्यभिज्ञानान्न विद्याभेद इत्याह—नचेति । पञ्चाग्निविद्यामुक्त्यायं प्राणविद्यादिभ्योनिर्दिशति—एवमिति । यत्त्वावापोद्वापाभ्यां वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति, तत्राह—नचेति । बहुतरांशाभेदप्रत्यभिज्ञानादल्पतरांशभेदेऽपि प्रत्यभि-ज्ञाविरोधान्न विद्याभेद इत्यर्थः । रूपभेदाद्विद्याभेदं शङ्कितं निरस्योपसंहारति—तस्मादिति ॥ २ ॥ रूपभेदस्य भेदकत्वं निराकृत्य रमभेदस्य भेदकत्वं प्रत्याह—स्वाध्यायस्येति । व्यावर्त्यं चोद्यमनुव्रति—यदपीति । शिरोव्रतं शिरस्त्रिधारणम् । आदिग्रह-णादनुपास्यस्थानादि गृह्यते । चोषोत्तरत्वेन सूत्रमवतारं व्याचष्टे—तदिति । स्वाध्यायाङ्गत्वेन शुद्धादिभिरविभिनियोगे न तद्रूपेति शङ्के—कथमिति । तथात्वेनेत्यादिनोत्तरमाह—यत इति । गोदानादीनि वेदाध्ययनाङ्गत्वेनानुप्रेषयन्ति व्रतानि । शिरोव्रतमपि

धर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थ आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति । 'नैतद्वीर्णव्रतोऽधीते' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते । ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरो व्रतं विधिवच्चैस्तु वीर्णम्' (मुण्ड० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्म विद्येति संकीर्णतैष धर्मः । न । तत्राप्येतामिति प्रकृतप्रत्ययमर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्यायाः ग्रन्थ विशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोगेवैष धर्मः । सववच्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः यथाच सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताश्चनभिसंबन्धाद्वाथर्वणोदितैः काश्यभिसंबन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसंबन्धाच्च त्रैव नियम्यते । तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति (क० ३।१५) इति । तथा 'एतं होव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एवं महाव्रं छन्दोगाः' इति च । तथा 'महद्भ्यं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठक उक्तस्येश्वरगुणसंभवे हेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यते । 'यदा होवैष एतस्मिन्नुदरमन्त

रत्नप्रभाष्याख्या

व्याचष्टे—**नैतदिति** । एतत्प्रकृतं मुण्डकमननुष्ठितशिरोव्रतो नरो नाधीत इति श्रुतेर्मुण्डकाध्ययनाङ्गमेव शिरोव्रतमित्यननु विद्याङ्गत्वेनापि इदं व्रतं श्रुतमिति शङ्कते—**नन्विति** । सर्वशाखासु ब्रह्मविद्यैकैव चेद्विद्यासंयुक्तं व्रतमपि संबध्यते । नच संबध्यत इति विद्याभेद इत्यर्थः । प्रकृतग्रन्थवाच्येतच्छब्दवलाद्ब्रह्मप्रकाशकग्रन्थपरो ब्रह्मविद्याशब्द परिहरति—**नेति** । तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र सववदिति निदर्शननिर्देशः । सवाः होमाः । आध्वसूत्रे उदित एकोऽग्निरेकपिसंज्ञया प्रसिद्धस्तस्मिन्मैत्रो कार्या इति यथा नियम्यन्ते तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥ किंच वयं निर्गुणब्रह्मविद्यैक्यं तावच्छ्रुतिर्दर्शयति, तत्संनिधिपाठात्सगुणविद्यानामपि सर्वशाखास्त्वैक्यसिद्धिरित्याह सूत्रकारः—**यति चेति** । सगुणमप्येकं वेदत्रये वेद्यं दर्शयतीत्याह—**तथेति** । किंच शाखान्तरोक्तपदार्थस्य शाखान्तरे सिद्धवमर्शो विद्यैक्यं दर्शयतीत्याह—**तथा महद्भ्यमित्यादिना** । एष नर एतस्मिन्नुदरेऽल्पमप्यन्तरं भेदं

भामतीव्याख्या

तपूर्वाध्ययनप्राप्तग्रन्थबोधिता फलं प्रयच्छति नान्यथा । अन्येषां तु छान्दोग्यादीनां सर्वं विद्याचीर्णशिरोव्रतानां फलदेल्लग्नग्रन्थाध्ययनसंबन्धादवगम्यते । तत्संबन्धश्च वेदव्रतेनेति 'नैतद्वीर्णव्रतोऽधीते' इति समाम्नानादवगम्यते । 'तेषामेवैतां ब्रह्म वदेत' इति विद्यासंयोगेऽप्येतामिति प्रकृतपरामर्शना सर्वनाम्नाऽध्ययनसंबन्धाविरोधापादनैविहितैव विद्योच्यत इति । सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनान्ता आथर्वणिकानां त एकस्मिन्नेवाथर्वणिकेऽग्नौ क्रियन्ते न वेतायाम् ॥ ३ ॥ विद्यैकत्वं दर्शयति

आनन्दमिरीयव्याख्या

वेदव्रतेष्वन्तर्गतत्वेनोक्तं तेन यथा गोदानाद्यध्ययनार्जं तथेदमपीत्यर्थः । अधिकाराच्चेति व्याचष्टे—**नैतदिति** । एतद्ग्रन्थात्तन्मन्त्रतोऽननुष्ठितशिरोव्रतः पुरुषो नाधीत इति प्रकृतमुण्डकपरामर्शकादेतच्छब्दाद्मुण्डकाध्ययनधर्म एवायं न विद्याधर्म इति प्रतीत्यर्थः । अधिकाराद्विकृतविषयादेतच्छब्दाच्चकारादधीत इत्यध्ययनशब्दाच्चेति व्याख्यातम् । इदानीं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुं यति—**नन्विति** । सर्वत्र ब्रह्मविद्यैकैव चेत्तथा शिरोव्रतस्य संयोगाद्वर्त्मकरः स्यात्, नच सोऽस्तीति विद्याभेद इत्यर्थः । ब्रह्मविद्यामिति तत्प्रकाशकमिमं ग्रन्थमिति योज्यम् । अन्यथा प्रकृतविषयतच्छब्दविरोधादित्याह—**नेति** । ब्रह्मविद्यैव प्रसव परावृत्त्यतामिषाङ्ग्य तस्याः सर्वत्रैक्यादथर्वणिकेतिवात्र परावृत्त्येत्याह—**प्रकृतत्वं चेति** । सूत्रावयवान्तरमवतरयति **सववच्चेति** । तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र सववदिति निदर्शनमिति योजना । ततश्च शिरोव्रतस्य संकरो चकारार्थः । तदेव विवृणोति—**यथेति** । सवा होमाः । आथर्वण्येऽदित एकोऽग्निरेकपिसंज्ञया प्रसिद्धस्तस्मादेव नियम्यन्ते तत्रैवाग्नौ क्रियन्ते । स्वाध्यायविशेषसंबन्धादेतच्छब्दादधीतशब्दाच्च मुण्डकाध्ययनसंबन्धाधिगतेरिति यावत् । धर्मभेदस्य धर्मभेद फलितमाह—**तस्मादिति** । नामादिबद्धमभेदस्यापि भेदकत्वायोगादित्यर्थः ॥ ३ ॥ किंच वेद्यैकत्वोक्त्या ब्रह्मविद्यायास्तावदेक्यं स वेदो दर्शयति । तथान्यत्रापि वेद्याभेदेऽपि विद्यैक्यमित्याह—**दर्शयति चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**दर्शयतीत्यादिना** । वेदस्य विद्यैक्यविषयमुपदेशान्तरमाह—**तथेति** । किंच शाखान्तरोक्तपदार्थस्य शाखान्तरे सिद्धवत्परामर्शादपि विद्यैक्यपीरित्याह—**तथेत्यादिना** । एष पुरुषो यदा यस्यामविद्यावस्थायामेतस्मिन्नात्मन्यद्वयत्वेन सर्ववेदान्तप्रतिज्ञे स्वाविद्यावशादेवान्तरं भेददर्शयति

कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २।७।१) इति । तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धबहुपादानम् 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति । तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनान्यत्र विहितानामुक्त्यादीनामन्यत्रोपासनविधानाद्योपादानात्प्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥



एकोपास्त्रायाहाया आहार्या वा गुणाः श्रुतौ ॥ अनुक्तत्वादाहाया उपकारः श्रुतेर्गुणैः ॥ १ ॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत् ॥ विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखाक्तगुणैः समः ॥ २ ॥

इदं प्रयोजनसूत्रम् । स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति । अर्थाभेदात् । य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो

रत्नप्रभाख्याख्या

पर्यत्य तदा तस्य संसारभयं भवत्येव, यस्माद्विदुषो नरस्य भेददर्शनस्तदेव ब्रह्म भयंकरं भवति, ब्रह्मैवाहमित्यमन्वानन्मेल्यते । प्रादेशमात्रमुपास्त इति सिद्धबहुपादानं वैश्वानरवियैक्यं दर्शयतीत्याह—तथेति । किंच सर्वेषु वेदान्तेषु कथादीनां प्रतीयमानत्वेन हेतुनैतदवगम्यते—अन्यत्रोक्तानां तेषामन्यत्रोपास्त्यर्थमुपादानमिति । ततस्तदुपास्तीनामपि सर्ववेदान्तप्रमाणकत्वेनैक्यं बाहुल्येन सिध्यतीत्याह—तथेति । ब्रह्मवियैक्यवदुक्त्यादिवियैक्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्वशाखासु वियैक्यचिन्तायाः फलमाह—उपसंहार इति । शाखाभेदे समानविधायां धृता गुणा यथाधृति व्यवस्थिता उत एकत्राधृता इतरशाखात उपसंहर्तव्या इति संदेहे वियैक्येऽपि तत्र तत्रोक्तैरेव गुणविद्योपकारसिद्धेः शाखाभेदेन गुणा व्यवस्थिता इति पूर्वपक्षः, तत्र प्रकृतवियैक्यचिन्तानैकफल्यमिति फलम् । सिद्धान्तत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—स्थिते चेत्यादिना । गुणानां गुण्य-

भामतीव्याख्या

स्योभयो वियैक्यत्वस्य वेददर्शनाद्यत्रापि सगुणब्रह्मविद्यानां न साक्षाद्वेद एकत्वमाह तासामपि तत्प्रायपठितानां तद्विधानां प्रायदर्शनादिकत्वमेव । तथाह्यम्यप्राये लिखितं दृष्ट्वा भवेदयमप्य इति वृद्धिरिति । यच्च काठकादिप्रमाणयोपासनाभेद इति तदयुक्तम् । एता हि निष्पेयः समाख्याः काठकादिप्रवचनयोगोक्त्यासां शास्त्रानां न त्पासनानाम् । नयेताः कठादिभिः प्रोक्ता नच 'काठानुश्रानमासाभितरानुश्रानेभ्यो विशेष्यते । नच कठप्रोक्तानिनिमित्तावेण ग्रन्थे प्रवृत्तौ तथोगाच्च कथंचिद्विशेषयोपासनासु प्रवृत्तौ । सकल्यामुपासनाभिधानमभ्यासां शक्यं कल्पयितुम् । नच तद्वेदाभेदां ज्ञानभेदाभेदप्रयोजको, मा भूयशास्त्रमासामभेदाज्ञानानामेकतामानानामिक्यम् । कठादिपुरुषप्रवचननिमित्ताश्रिताः समाख्याः कठादिभ्यः प्राक् नास्त्येति तद्विषयनो ज्ञानभेदो नास्तिदिदानीं ज्ञानी दुर्भेदमापद्येत । तस्माच्च समाख्यातो भेदः । अभ्यासोऽपि नात्र भेदकः । युक्तं यदेकशास्त्रगतो यजल्यभ्यासः समिदादीनां भेदक इति । तत्र हि विधिवर्मात्सर्गिकमज्ञातज्ञापनप्रवृत्तप्रवर्तनं च कृष्येयाताम् । शास्त्रान्तरे व्ययेत्प्रकरणभेदादेकत्वेऽपि नांतर्गमिकविशिष्टव्याक्रोप इति । अशक्तिरपि न भेदेहेतुः स्वाध्यायोऽप्येत्य इति स्वशाखायामभ्यसनियमः । ततश्च शास्त्रान्तरियानर्थानन्येभ्यस्तद्विशेषोऽधिगम्योपसंहारिष्यति । समासिधैकस्मिन्नपि तत्संबन्धिनि समासे तस्य व्यपदिश्यते । यथावर्थं कर्मणि ज्योतिष्टोमस्य समासि व्यपदिशन्ति—'ज्योतिष्टोमः समासः' इति । तस्मात्समासिभेदोऽपि न साधनमुपासनाभेदस्य । तदेवमसति बाधके चोदगायविशेषात्सर्ववेदान्तप्रत्ययानि कर्माणि तानि ताभ्येवेति सिद्धम् ॥ ४ ॥ कंचिद्विशेषमाशङ्क्य पूर्वतन्त्रप्रसाधितम् । वध्यमाणार्थसिद्धयर्थमर्थाह स्म सूत्रकृत् ॥ चिन्ताप्रयोजनप्रदर्शनार्थं सूत्रम्—उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विशेषवत्समाने च । अयेदमा-

आनन्दगिरियव्याख्या

दरमत्यमपि कोल्यथ तदा तस्यामवस्थायां तस्य भेददर्शनवतो भयमावश्यकं 'द्वितीयाद्वे भयं भवति' इति श्रुत्यन्तरादित्यर्थः । भेददर्शनवतो भयकारणमाह—तथेवेति । भेददर्शनवतो विदुस्तत्त्वममन्वानस्य तदेव ब्रह्म भयंकरमित्यर्थः । निर्गुणविधायां वैक्यत्वादेकत्वेऽपि कथं सगुणविद्यायामेकत्वं, तत्राह—तथेति । एवं ब्रह्मवियैक्येऽपि कथमुक्त्याधृतास्तीनामेक्यं, तत्राह—तथेति । यथा निर्गुणं सगुणं च ब्रह्म सर्वत्रैकमिति तद्विद्या न भिद्येत तथोक्त्यादीनां सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वादितद्व्यते । यदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपास्त्यर्थं तेषामादानमिति । ततस्तदुपास्तीनामपि सर्ववेदान्तप्रमाणकत्वेनैक्यं प्रायदर्शनन्यायेन बाहुल्येन सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्वशाखासु वियैक्ये गुण्याकृत्युपादानां तत्र तत्रोपसंहारमन्तरविचारफलमाह—उपसंहार इति । संक्षेपनोपकरणताययमाह—इदमिति । पूर्वविचारफलमेनेन सूत्रेणोच्यते तेन तद्वेदास्य पादादिंसंगतिः । पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणस्य विवक्षितफलानसिद्धिः । सिद्धान्ते तस्य तत्सिद्धिः । तुल्यधीबद्धा गुणा विपयास्ते किं यथाधृति व्यवतिष्ठेत्तत्र प्रत्यभिज्ञया ज्ञानोपायाद्युपसंहारिष्यति । सिद्धान्तस्य सिद्ध्याभेदादतिग्राये षोडशिश्रद्बहुपसंहारस्यानावश्यकत्वाद्यथाधृति व्यवतिष्ठेति प्राप्ते सिद्धान्तस्य तत्रोपसंहारः । समाने चेति विभामासायमिच्छाभेदादतिग्राये षोडशिश्रद्बहुपसंहारस्यानावश्यकत्वाद्यथाधृति व्यवतिष्ठेति प्राप्ते सिद्धान्तस्य तत्रोपसंहारः । समाने चेति विभायं विवक्षते—स्थिते चेति । तत्र हेतुमुक्त्वा व्याकरोति—अर्थेति । कथं व्यवस्थया धृतानां गुणानामुपकारार्थं, तत्राह—

विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि । उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं तस्मादुपसंहारविधिः शेषवत् । यथा हि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वमेत्यर्थो दादुपसंहरणमेवमिहापि । यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिषेधत्वाद्गुणानां प्रतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः । विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति । अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रप्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥ ५ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥



एका भिन्नाधोद्रीधविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः ॥ एका स्यान्नामसामान्यात्संप्रामादिसमस्ततः ॥ १ ॥
उद्रीधावयवोकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा ॥ वेधभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ॥ २ ॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यश्च उद्रीधेनात्ययामेति' (बृ० १।३।१) 'ते ह वाचः चुस्त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य षागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्वत्त्वेन निन्दित

रत्नप्रभाष्यारूपा

विनाभावादेतच्छाखास्था विद्या शाखान्तरोक्ततद्विद्यागुणवती, तदभिन्नत्वात्, तद्विद्यावदित्यनुमानाद्वैक्ये गुणोपसंहार इत्यर्थः । प्रधानैक्ये तत्तदुपकारकाणामज्ञानामुपसंहारे दृष्टान्तमाह—विधिशेषवदिति । उक्तमेव व्यतिरेकमुखेन यदीहीति । नन्वाग्नेययागावरुद्धानां गुणानां ततोऽभिन्ने सौम्ये प्राप्तिवद्विद्यान्तरस्थगुणानां विद्यान्तरे प्राप्तिः किं न स्यत आह—प्रकृतीति । प्रकृतिगुणानां विकारे प्राप्तिर्युक्ता विद्यानां तु प्रकृतिविकृतिभावासिद्धेर्न तत्प्राप्तिरित्यर्थः । नै गुणानुपसंहारो नेत्यर्थः । उत्तरसूत्राणामनेन सूत्रेण पौनरुक्त्यं वारयति—अस्यैवेति ॥ ५ ॥ पूर्वं चोदनायविशेष गतो विधैक्यमुक्तं तस्यापवादं वक्तुमाह—अन्यथात्वमिति । अत्र वाजिनामुद्रीधब्राह्मणं छन्दोगानामुद्रीधविद्या विषयमाह—वाजेत्यादिना । 'ते ह देवाः सात्त्विकवृत्तयः प्राणा अन्योन्यमुचूर्हन्ते दानीमस्मिन्यज्ञे उद्रीधेनो

भामतीव्याख्या

शङ्कते—भवतु सर्वशाखाप्रत्ययमेकं विज्ञानं तथापि शाखान्तरोक्तानां तदङ्गान्तराणां न शाखान्तरोक्ते तस्मिन्नुपसंहारो भवितु तस्यैकस्य कर्मणो यावन्मात्रमज्ञातमेकस्यां शाखायां विहितं तावन्मात्रेणैवोपकारसिद्धेरधिकानपेक्षणात् । अपेक्षणे चाधिकम विधीयते । नच विहितम् । तस्माद्यथा नैमित्तिकं कर्म सकलाङ्गवद्विहितमपि अशक्तं यावच्छक्यमङ्गमनुष्ठानं तावन्मात्रजन्ये रेणोपकृतं भवत्येवमिहाप्यङ्गान्तराविधानादेव भविष्यतीति । एवं प्राप्त उच्यते—सर्ववैक्ये कर्मणः स्थिते गृहमेधीयन्यायेन न रावच्छेदो युज्यते । नहि तदेव कर्म सत्तदङ्गमपेक्षते नापेक्षते चेति युज्यते । नैमित्तिके तु निमित्तानुरोधादवश्यकर्तव्ये सर्वाङ्गोपसं सदातन्त्रासंभवादुपकारावच्छेदः कल्प्यते । प्राकृतोपकारपिण्डे चोदकप्राप्ते आभ्यभागविधानाद्गृहमेधीयेऽप्युपकारावच्छेदः इह तु शाखान्तरे कतिपयाङ्गविधानं तानि विधत्ते नेतराणि परिसंचये । नच तदुपकारपिण्डे चोदकप्राप्ते आभ्य तन्मात्रविधानम् । तस्मात्तत्त्वेन कर्मणां सर्वाङ्गमङ्गम औत्सर्गिकोऽसति बलवति बाधके नापवादितुं युक्त इति ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् । द्रव्या द्विप्रकाराः प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव ज्यायसा असुराः । शास्त्रजन्यया सात्त्विक्या बुद्ध्या संपन्नाः देवाः । ते हि दीव्यन्त इति देवाः । शास्त्रयुक्त्यपरिकल्पितमतय

आनन्दगिरिव्याख्या

उभयत्रेति । गुणिद्वारा गुणानामपि प्रत्यभिज्ञाने फलितमाह—तस्मादिति । अर्थाभेदादुपसंहारे दृष्टान्तमाह—विधी प्रधानप्रत्यभिज्ञायां सर्वतद्वर्गप्रत्यभिज्ञानात्फलाविशेषाच्च व्यवस्थया श्रुतानामपि गुणानामेकज्ञानोपाधुपसंहार इति दार्ष्टान्तिकमा एवमिति । उक्तमेव व्यतिरेकतः स्फोरयति—यदीति । आग्नेयसौम्ययोर्भेदेऽप्याग्नेयगतस्येतिकर्तव्यताजातस्य सौम्ये प्राप्तिरजन्तरस्थानामपि गुणानां ज्ञानान्तरे प्राप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—प्रकृतीति । ज्ञानैक्येऽपि शाखान्तरोक्तगुणानां शाखान्तरोक्तोपसंहारः । तत्रोक्तगुणमात्रेण तज्ज्ञानोपकारसिद्धेरधिकानपेक्षणात् । अन्यथा तत्रैव तद्विधिप्रसङ्गात् । तस्मादक्षयद्विस्थानोक्तयोर्हरहरमिति गुणयोर्व्यवस्थानवदुपास्याभेदेऽपि शाखाभेदेनोक्तानां व्यवस्थैवेत्याशङ्क्य शाखाभेदस्योक्तस्यानवदुपास्यविशेषणतया व्यवस्थापकत्वाभावाद्द्वयुपाधावुक्तगुणानां सर्वत्रापि श्रुतेन धर्मिणा नियमादनुमानतः सार्वत्रिकत्वसिद्धेर्वैक्ये गुणोपसंहारो द्वाधकाभावे वारयितुं न शक्यते । शाखान्तरे कतिपयगुणवादस्य तद्विध्यर्थतया गुणान्तरावारकत्वादित्याह—विज्ञानेति । ए त्पुपसंहाराभावोक्तिः । इतिशब्दः सिद्धान्तसमाप्त्यर्थः । उत्तरसंदर्भस्य पौनरुक्त्यं प्रत्याह—अस्यैवेति ॥ ५ ॥ संज्ञाभेदाज्ज्ञा तद्गुणानां चाभ्यग्नोपसंहार इत्युक्त उद्रीधविषयोरपि छान्दोग्यबृहदारण्यकोक्तयोः संज्ञाभेदमाशङ्क्य प्रत्याह—अन्यथात्वमिति चोदनायविशेषादित्यस्यापवादार्थमिदमधिकरणम् । तस्य बृहदारण्यकस्थमुद्रीधब्राह्मणं छान्दोग्यस्थमुद्रीधविद्यायां च विषयमाह वाजसनेयक इति । ते प्रकृता वागादयः प्राणा देवाः सात्त्विकवृत्तिप्रधानाः संभूयान्योन्यमुक्तवन्तो हन्त यदि संगतम

मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—‘अथ हेममासस्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य षष प्राण उद्गायत्’ (बृ० १।३।७) इति । तथा छान्दोग्येऽपि—‘तद्ध देवा उद्गीथमाजग्मुर्नैनानभि- भविष्यामः’ (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्यत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्य- प्राणपरिग्रहः पठ्यते—‘अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ (छा० १।२।७) इति । उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिर्दध्यवसीयते । तत्र संशयः—किमत्र विद्या- भेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति । किं तावत्प्राप्तं पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति । ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात् । अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः ‘त्वं न उद्गाय’ (बृ० १।३।२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति । छन्दोगास्तुद्गी- थत्वेन ‘तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ (छा० १।२।७) इति । तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत् ।

रत्नप्रभाष्याख्या

कर्मणा रजस्तमोऽतिरूपानसुरानतीत्य देवत्वं गच्छामः' इति ते चैवं निर्दोषमुद्गीथकर्तारमुपास्य निर्धारयितुं कृतसंवादाः प्रथमं वाचं परीक्षितवन्तस्त्वमौद्गात्रं नोऽस्माकं कुर्विति तथा त्वत्कृतं कृतं तथा प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांश्चपि कामेनासुरापामना प्रक्षानीति निन्दित्वा आसन्न्यमास्ये भवं मुखमध्यस्थं प्राणमुपास्यं निर्धारितवन्त इत्यर्थः । तत्तत्रान्योन्याभिभवात्मकयुद्धे प्रवृत्ते देवाः पूर्ववदुद्गीथमाहृतवन्तः अनेनोद्गीथेनैनानसुराजयेसेत्यर्थः । भेदाभेदमानाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति ।** अत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनोद्गीथविधेयि संज्ञैक्येन विवैक्यमिति पूर्वपक्षे मिथो गुणोपसंहारः फलं, सिद्धान्ते संज्ञैक्येऽपि विवैक्यपावादादनुपसंहार इति । एवं यत्र पूर्वन्यायेन पूर्वपक्षः तत्रापावादिकी संगतिरिति मन्तव्यम् । सूत्रस्थ-सिद्धान्तिशङ्काभागं व्याचष्टे—**ननु न युक्तमिति ।** संपूर्णाद्गीथकर्मकर्ता प्राणो वाजिनामुपास्यः, उद्गायेति कर्तृशब्दा-च्छन्दोगानां तूद्गीथावयव उँकारः प्राणहृद्योपास्यः, उँमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्युपक्रम्य प्राणमुद्गीथमिति कर्मरूपत्वशब्दात्, तथाच कर्तृकर्मणोरुपास्ययोर्भेदाद्विद्ययोरन्यथात्वं भेद इति शङ्कायः । उद्गीथत्वेनेति उँकारस्त्वेनेत्यर्थः । अल्परूपभेदो न

भामतीव्याख्या

सन्निप्रधाना असुरा अशुभिः प्रापैरनिन्द्रियैरगृहीतैस्तु तेषु विषयेषु रमन्त इत्यसुरा अतएव ते ज्यायांसः । यतोऽभी तत्त्वज्ञानवन्तः कानीयसास्तु देवाः । अज्ञानपूर्वकत्वात्तत्त्वज्ञानस्य । प्राणस्य प्रजापतेः सात्त्विकवृत्त्युद्भवस्तामसवृत्त्यभिभवः कदाचित् । कदाचित् तामसवृत्त्युद्भवोऽभिभवश्च सात्त्विक्या वृत्तेः । सेयं स्पर्धा । ते ह देवा ऊचुः, इत्त असुरान् यज्ञ उद्गीयेनात्ययाम असुरान् नयामास्मिन्नाभिचारिके यज्ञ उद्गीयलक्षणसामभक्त्युपश्रितिनौद्वाज्रेण कर्मणेति । ते ह वाचमूत्रित्यादिना संदर्भेण वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनसासुरापापविद्धतया निन्दित्वा अथ हेममासन्यमास्ये भवमासन्यं सुखान्तर्विलस्यं सूर्यं प्राणं प्राणाभिमानवतीं देवतामृष्यस्वन्न उद्गायेति । तथेत्यश्रुपगम्य तेभ्य एव प्राण उदगायन् तेषुरा विदुरनेन प्राणेनोद्गावा नोऽस्मान् देवा अलेष्यन्तीति । तमभिद्रव्य पापमनाऽविष्यसुरा यथास्मानमुत्वा प्राय मृद्वा लोघे वा विष्यंसत एवं विष्यसप्ताना विष्यन्नोऽसुरा विनेशुः । तदन्तं सक्षिप्याह—**वाजसनेयक इति** । तथा छान्दोग्येऽप्येतदुक्तमित्याह—**तथा छान्दोग्येऽपीति** । विषयं दर्शयित्वा निगूशति—**तत्र संशय इति** । पूर्वपक्षं गृह्णाति—**विद्यैकत्वमिति** । पूर्वपक्षमाधिपति—**ननु न युक्तमिति** । एकत्रो-

आनन्दगिरीयव्याख्या

तदास्मिन्नाभिचारिके यथे वयमुद्गीशाख्यमक्षिणक्षितेनोद्गात्रेण कमेणा तमोऽत्रिप्रधानानमुरानतीत्य स्वमश्यादिभावमयमेति । ते यैव
ह्रनन्वादा वाचमोद्गात्रे कर्मणि प्रधानां त्वमस्मदमोद्गात्रं निर्वर्तयति नियुक्तवत्तथोपकल्प्य वागादीनां क्रापण चक्षुःश्रोत्रमनसि
पाप्मना हेषा विद्वेष्टादिना पाप्मविद्वेष्टेन निन्दित्वा तेषामध्येयत्वं निर्धार्य मुख्यप्राणस्योपास्यत्वं च निश्चय्य तत्परिग्रहः श्रयत
इत्यर्थः । वागादीनामनुपास्यत्वनिश्चयानन्तरमित्यशङ्क्याहः । आसन्यामासे भवं मुखानिर्वर्त्यत्वं प्राणं मुख्यप्राणाभिमानिर्नां देवता-
मिति यावत् । उद्गीथब्राह्मणमुक्तोद्गीथाध्यायं कथयति—**तथेति** । तत्तत्रा-योग्याभिमतार्थकं संग्रामे देवाः पूर्ववद्गुणधत्तत्वं
कर्माचरुहादवतन्तः । अनेन कमेणैवानमुरान्त्वाभाविकेन्द्रियवृत्तिलक्षणानभिप्रविश्याम इत्यभिप्रेत्य कर्मारब्धवन्त इत्यर्थः । तथैवंत्यु-
द्गीथब्राह्मणवेदेत्यर्थः । आख्ययिकैव श्रुता न विचाविधिरित्याशङ्क्य नाह्मणाध्यायोविवक्षितमर्थमाह—**उभयप्रेति** । शास्त्रादयस्यो-
द्गीथविद्यां विषयमुक्त्वा विचारबीजं संशयमाह—**तत्रेति** । भेदाभेदमाध्यायान् तमेव विशदयति—**किमिति** । विपश्य पूर्वपश-
यति—**किं तावदिति** । पूर्वब्राह्म्याविशेषाद्वैक्यमुक्तं तदब्राह्म्योद्गीथविशेषाख्याविशेषोपादेयमित्यर्थः । अत्र चोपासितभेदोक्त्या वाक्या
र्थोपेक्षितोर्व निरूपणात्पादादिसंमतयः । पूर्वपक्षे गुणोपसंहारः सिद्धान्ते तदसत्तेति फलभेदः । अन्यथात्वमित्यादिभेदान्तिर्की शङ्का
व्याकुर्वन्पूर्वपक्षमाक्षिपति—**नन्वेति** । प्रक्रमभेदादित्युक्तं व्यनक्ति—**अन्यथा हीति** । कथमुभयत्र प्रक्रमस्यान्यथात्वं, तत्राह—
वसिति । उद्गीथस्येति । सर्वस्या भेत्तरिति यावत् । उद्गीथस्त्वेनेति । तदवयवो योऽयमोकारस्ताख्यात्वेनेत्यर्थः । उद्गानकर्ता प्राणो
गानमेनेत्यर्थः ध्येयस्त्वेनोच्यते छान्दोग्ये स्वीकारः प्राणदृष्टोपास्यः । तथाच कर्तृकमेणोभेदात्र विवेकयमिति फलितमाह—**तदिति** ।

नैष दोषः । न होतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति । अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमात्वात् । तथाहि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुराख्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनमिन्द्रया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्गीर्थाञ्चासुरविध्वंसनमश्मलोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयप्राण्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते । वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—‘एष वा उद्गीथः’ (बृ० १।१।२३) इति । तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम् । तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यं विद्याभेद एवात्र न्याय्यः । कस्मात् । प्रकरणभेदादिति । प्रक्रमभेद इत्यर्थः । तथाहि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते । छान्दोग्ये तावत्—‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासी (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयववर्गोकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं कृत्वा ‘अथ खल्वेतस्वैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति’ (छा० १।१।२०) इति पुनरपि तमेवोद्गीथावयवमोकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण तम् ‘प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ (छा० १।२।२ इत्याह । तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयते तस्याश्च कर्तोद्गातृत्विकतत् उपक्रमश्च

रत्नप्रभाख्याख्या

विवैक्यविरोधीत्युक्तन्यायेन पूर्वपक्षी परिहरति—नैष इति । असुराख्ययाभिप्रायः असुरजयार्थं संवादः, यथा प्राण्य लोष्टे विध्वंसते तथा प्राणं हन्तुमागता असुरास्तस्य वीर्येण खयमेव ध्वस्ता इति श्रुतमुभयत्रेत्यर्थः । अत्र भेदमङ्गीकृत्यापि विवैक्यमुक्तं सोऽपि नास्तीत्याह—वाजेति । उद्गीथकर्तृरूपत्वेन प्राणस्योभयत्र श्रुतत्वादेकत्र धृतं कं प्युभयत्र द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ बहुविरुद्धरूपभेदात् न विवैक्यमिति सिद्धान्तयति—न वेति । अक्षरं विशिन उद्गीथमिति । तदवयवमित्यर्थः । पृथिव्यादिरसानां रसात्म उकारः, आप्तिः समुद्भिरिति गुणानुक्ता गुणवत्त्वाद्वा रे दृष्टिविधानायाख्यायिका प्रस्तुतेत्याह—रसतमेति । ननु वाजिवाक्यैकवाक्यत्वार्थं छान्दोग्योपक्रमस्थमुद्गीथपदं संप्रमभक्तिपरमस्तु, प्राणमुद्गीथमित्यत्राद्युद्गीथकर्ता प्राण उपास्य इति व्याख्यायतामित्यत आह—तत्र यद्युद्गीथेति । <

भामतीच्याख्या

द्रातृत्वेनोच्यते प्राण एकत्र चोद्गानत्वेन क्रियाकर्त्रोश्च स्फुटो भेद इत्यर्थः । समाधत्तं—नैष दोष इति । बहुतररूपप्रत्य नादप्रत्यभिज्ञायमानं किंचिद्विश्रणया नेतव्यम् । न केवलं शास्त्रान्तरे, एकस्यामपि शाखायां दृष्टमेतन्न च तत्र विद्याभेद इत्य वाजसनेयकेऽपि चेति । बहुतररूपप्रत्यभिज्ञानानुग्रहाय चोमित्यनेनापि उद्गीथावयवेन उद्गीथ एव लक्षणीय इति पूर्वपक्षः न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् । बहुतरप्रत्यभिज्ञानेऽपि उपक्रमभेदात्तद्विशेषेण चोपसंहारवर्णनादिकमि तस्यैव चोद्गीथस्य पुनःपुनः संकीर्तनाद्विश्रणयायां च छान्दोग्ये वाजसनेयके प्रमाणाभावाद्विद्याभेद इति राद्धान्तः । उकार

आनन्दगिरिव्याख्या

बहुतररूपप्रत्यभिज्ञानादप्रत्यभिज्ञानं किंचिद्विश्रणया नेयमिति मत्वा समाधत्ते—नेत्यादिना । अविशेषादित्येतद्व्याप्ति नहीति । एतावता कचिकर्मरूपत्वेनोपास्यत्वं कर्तृत्वेनान्यत्रेत्येतावन्मात्रेणेत्यर्थः । बहुतराविशेषप्रतीतिमेव प्रकटयति—हीति । यथाश्मानं पापाणां प्राण्य सृत्वालोष्टे विध्वंसत एवं विध्वंसमाना विध्वञ्चो विनेशुरिति श्रूयत इत्याह—तद्वि अविशेषधियं निगमयति—इत्येवमिति । न केवलं शास्त्रान्तरे रूपभेदो दृष्टः किं त्वेकस्यामपि । तथापि न तत्र विद्याभेद भयोरपि स्यादित्याह—वाजेति । प्राणस्योद्गीथत्वमत्रापि श्रुतं चैकधमुपासितः, तत्राह—तस्मादिति । उद्गीथत्वेन श्रुतमेव वा षाब्देकत्र कर्तृत्वं तदितरत्रापि लक्ष्यं, तथाच प्राणस्य कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च ध्वानं शाखादित्यर्थः । उभयत्रापि वेधरूपा फलितमाह—तस्माच्चेति ॥ ६ ॥ विवैक्ये पूर्वपक्षे तद्भेदं सिद्धान्तमाह—न वेति । वाशब्दस्यावधारणार्थत्वमुपेय प्रतिज्ञां जते—नेति । अत्रेति प्रकृतशाखाद्वयोक्तिः । उभयत्रापि प्राणस्योद्गीथत्वतत्कर्तृत्वाविशेषस्योक्तत्वादिधाभेदेन विद्याभेदे संभवति उद्भेदोक्तिरिति शङ्कते—कस्मादिति । तत्र हेतुः—प्रकरणेति । शाखाभेदादेव प्रकरणभेदसिद्धेर्न तस्य धीभेदे प्रयोजकतेः कृपाभीष्टमर्थमाह—प्रक्रमेति । शाखाद्वये तद्भेदं विवृणोति—तथाहीति । छान्दोग्यगतमुपक्रमप्रकारं दर्शयति—छान्द इति । उपक्रमवाक्यस्यार्थमाह—उद्गीथेति । प्रकरणविच्छेदाभावं वक्तुं तदनुसंधत्ते—रसेति । भूतपृथिव्यौषधिपुरुषवत्मानां पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरमुत्तरं सारतयोक्त्वा तेषामोकारं रसतमत्वेन निर्दिश्य तमेव पुनरासिसृष्ट्यादिगुणकत्वेनोप ध्येयमाख्यायिकया निर्णयोद्गीथोपास्तिरवतारितेत्यर्थः । ननु वाजसनेयके यथोद्गीथेनात्ययामेत्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरुक्ता । उद्गायित्वेनापि प्राणत्वेनोद्गातोच्यत एवमोमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्युपक्रमवाक्यवशोद्गीथशब्देन सकला भक्तिस्तस्या कर्तो प्राणत्वेनोच्यतां तथाच प्रक्रमाभेदादिवैक्यं, तत्राह—तत्रेति । ऋत्विक्प्राणत्वेन निरुच्येतेति शेषः । तस्मिन्पक्षे यद्युद्गीथावयव

पह्येत लक्षणा च प्रसज्येत । उपक्रमानुरोधेन चैकस्मिन्वाक्य उपसंहारेण भवितव्यम् । तस्मादत्र तावदुद्गीथावयव औकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते । 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इत्यपि तस्याः कर्ताद्वात-
त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम् । यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदृशीयित्तस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति । सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैपम्यम् । नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हे-
तुना परित्यज्यत उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनाथत्वेनोपदिश्यमानत्वात् । प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं करोतीति नास्त्यसंभवः । तथाच तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १।३।२४) इति । नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायायुकारमा-

रत्नप्रभाख्याख्या

रोपास्युपक्रमभङ्ग उद्गीथपदे कर्तृलक्षणा चेति दोषद्वयं स्यादित्यर्थः । ननु सिद्धान्तेऽपि तत्पदेऽवयवलक्षणा स्वीकार्या ततो वरं कर्तृलक्षणा ध्रुवन्तरानुग्रहात्ताया चोपसंहारे कर्तृप्राणोपास्तिनिश्चयादुपक्रमेऽपि तन्निश्चय इत्यत आह—**उपक्रमेति** । संदिग्धो-
पक्रमो हि वाक्यशेषान्निश्चीयते । यथा 'अक्ताः शर्कराः' इत्यत्राञ्जनद्रव्यसंदेहे 'तेजो घृतम्' इति शेषान्निश्चयः । इह त्वपक्रमे-
ऽभरस्योपास्यत्वं निश्चितं, तत्सामानाधिकरणोद्गीथपदस्यावयवलक्षणा च विनिश्चितेति प्राणमुद्गीथमित्युपसंहारस्तदेकार्थतया नेय
इत्यर्थः । एवं छान्दोग्ये ओंकार उपास्य उक्त इतरत्र तु प्राण इत्युपास्यभेदाद्विधामेद इत्याह—**वाजेति** । यदुक्तं वाजिधुता-
वपि प्राणस्योद्गीथरूपत्वधुतेरुपास्यैक्यमिति तद्वृत्त्यति—**यदपीत्यादिना** । तत्रोद्गीथ उपास्यतया नोक्तः किंतु प्राणस्योपास्यस्य
गुणतयैत्यर्थः । किंचोद्गीथ ओंकारश्छान्दोग्येऽत्र तु भक्तिरित्युपास्यभेद इत्याह—**सकलेति** । प्राणस्य जडत्वाच्चोद्गातृत्वं
किंतूद्गीथत्वमेव वाजिभिरपि ग्राह्यमित्येक्यमाशङ्क्याह—**नचेति** । स उद्गाता वाग्विशिष्टप्राणेनोद्गात्र कृतवानिति ध्रुतेरसंभवे

भामतीव्याख्या

पास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानमोङ्कारस्य । तथाहि—भूतपृथिव्योपनिषुपुष्यवृक्षाभां पूर्वस्योत्तरमुत्तरं रस-
तया सारतथोक्तम् । तेषां सर्वेषां रसतम ओंकार उक्तश्छान्दोग्ये । **नच विवक्षितार्थभेद इति** । एकतोद्गीथोद्गातारावुपास्यत्वेन
विश्रितोपास्येन तदवयव ओंकार इति । तथा छान्दोग्यवाक्ये इति । एवं हि श्रूयते—'विवा एतं प्रजया पशुभिरप्येति वर्षयस्य
अपुत्र्यं यस्य हविर्निरुक्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति स वेधा तण्डुलात्विभज्यं मय्यभाः स्मृतानगये दाणे पुरोडासमष्टाकपाठं
निर्वपेये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदावे दधंश्च ये क्षोदिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय श्येते चरुम्' इति । तत्र संदेहः—किं कालपराधे
यागान्तरमिदं चोद्यत उत तेभ्येव कर्मसु प्रकृतेषु कालापराधे निमित्ते देवतापनय इति । एष तावदत्र विषयः—अमावास्यायामेव
दर्शकर्मार्थं वेदिक्रियाभिप्रणयनक्रिया व्रतादिश्च यजमानसंस्कारः । दध्यर्थश्च दोहः । प्रतिपदि च दर्शकर्मप्रवृत्तिरित्यनुष्ठानकमस्ता-
त्त्विकः । यस्य तु यजमानस्य कुतश्चिद्धमनिबन्धनाच्चतुर्दश्यामेवामावास्यायुद्धौ प्रवृत्तप्रयोगस्य चन्द्रमा अभ्युदीयते, तत्रेदं श्रूयते—
'यस्य हविर्निरुक्तम्' इति । तेन यजमानेनाभ्युदितेनामावास्यायामेव निमित्ताधिकारं परिसमाप्य पुनस्तुदहरेव वेगुद्धरादिदिक् कृत्या
प्रतिपदि दर्शः प्रवर्तयितव्यः । तत्राभ्युदये किं निमित्तिकमिदं कर्मान्तरं दर्शाच्चोद्यत उत तस्मिन्नेव दर्शकर्मणि पूर्वदेवतापनयनेन
देवतान्तरं विधीयत इति । तत्र हविर्भागमात्रश्रवणाच्चरुविधानसामर्थ्याच्च कर्मान्तरम् । यदि हि पूर्वदेवताभ्यो हवींषि विभजेदिति
श्रूयत तत्साम्येव हवींषि देवतान्तरेण युज्यमानानि न कर्मान्तरं गमयितुमर्हति किंतु प्रकृतमेव कर्म तद्विष्कम्भमपनोतपूर्वदेवताकं
देवतान्तरयुक्तं स्यात् । अत्र पुनश्चेत्ता तण्डुलान् विभजेदिति हविष एव मय्यमादिदिक्मेव विभागश्रवणादनपनीता हविषि
पूर्वदेवता इति पूर्वदेवतावरुद्धे हविषि देवतान्तरमलव्यावकाशं श्रूयमाणं कर्मान्तरमेव गोचरयेत् । अपिच प्रागे पूर्वमिदं कर्मणि

आनन्दगिरीयव्याख्या

मोकाराख्यमक्षरं तत्र प्राणदृष्टिरनुष्ठेयित्युपक्रमो बाध्यतेत्यर्थः । चकारो वक्ष्यमाणदोषसमुच्चये । यदुद्गीथावयवभूतमोकाराख्यमक्षरं
तदप्योद्गीथशब्दस्योद्गातृत्वाचित्वाभावात्तेनोद्गातृत्वैक्यत्वमपि ते स्यादित्याह—**लक्षणेति** । अक्ताः शर्करा उपदधानीत्यत्र तेजो वे-
धमिति शेषान्निर्णयवत्प्राणमुद्गीथस्य मासांचक्रिर इति सकलभक्तिविषयोपसंहारादुपक्रमो नीयतामित्याशङ्क्याह—**उपक्रमेति** । तस्य
संदिग्धार्थत्वात्स्यादुपसंहारापेक्षा । प्रकृते त्वपक्रमस्यातिस्पष्टत्वाज्ज्ञेयमित्यर्थः । ओमित्येनदक्षरमित्यादौ तर्हि कोऽर्थः स्यादित्याशङ्क्याह—
तस्मादिति । उद्गीथेनालयायामेवत्रापि तदवयवस्योद्गीथशब्दादुद्गातृत्वाश्रित्येन प्रक्रमभेदेऽस्तीत्याशङ्क्याह—**वाजेति** । ओमित्ये-
नदक्षरमित्युपक्रमस्यावयवार्थत्वात्तदुद्गीथमित्युद्गीथशब्देनावयवो गृहीतः । उद्गीथेनालयायामेव तु तथा हेत्वदृष्टेः सकलभक्तिविषयत्वमेव
तस्येत्यर्थः । यदुक्तमिहापि नोद्गातुरस्ति धीरिति, तत्राह—**त्वमिति** । कथं प्राणस्योद्गीथकर्तृत्वमुद्गीथेन सामानाधिकरण्यश्रवणात्ततो वधे-
क्यादिविषयं, तत्राह—**यदपीति** । तत्रेति वाजसनेयकोक्तिः । इतश्च नन्दं सामानाधिकरण्यं विधेयवक्ष्यमित्याह—**सकलेति** ।
तत्रेति सामानाधिकरण्यवाक्योक्तिः । अपिरुद्गीथेनालयायामेति वाक्यदृष्टान्तार्थः । वैपम्यमुपयत्न विद्यानानात्वम् । प्राणस्याचननत्वाज्ज्ञो-
द्गातृत्वमित्याशङ्क्याह—**नचेति** । असंभवंभ्युपेक्ष वाचनि नोद्गातृत्वमित्युक्तं संभल्यसंभवेऽपि नास्तीत्याह—**प्राणेति** । ओद्गात्र-

त्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम् । तथाहभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—त्रेधा तण्डुल
न्विभजेथे मध्यमाः स्युस्तान्त्रये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात् इत्यादिनिर्देशस्यास्येऽपि

रत्नप्रभाष्याख्या

ऽपि नेत्यर्थः । यदुक्तं बहुतरार्थाविशेषाद्धि विधैक्यमिति, तत्राह—नचेति । एकत्रोद्गाता प्राण उपास्योऽन्यत्रोद्धार इ
ज्जोपास्यरूपभेदे स्पष्टे सति बहिरङ्गार्थवादसाम्यमात्रेण नोपासनैक्यं युक्तमित्यर्थः । वाक्यसाम्यमात्रेणार्थैक्यं नास्
दृष्टान्तमाह—तथाहीति । ‘वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्धयति वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ता
अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान्विभजेथे मध्यमाः स्युस्तान्त्रये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात् स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे ।
येऽणिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्’ इत्यभ्युदयवाक्यम् । अस्यार्थः—यस्य यजमानस्य चतुर्दश्यामेवाभावात्स्याः
दर्शकर्मार्थं प्रवृत्तस्य पुरस्तात्पूर्वं हविस्तण्डुलदधिपयोरूपं निरुप्तं दर्शदेवताभ्योऽभ्यादिभ्यः सङ्कल्पितं चन्द्रमाश्च पश्च
देति तमेतं यजमानं कालव्यवस्थापराधात्तदेव निरुप्तं हविः प्रजादिनार्धयति वियोजयति शत्रुं चास्य वर्धयति यस्मा
भ्रान्तिमाम्यजमानः, ये मध्यमादिभावेन त्रेधा भूतास्तण्डुला बन्धादिसहिता निरुप्तास्तान्विभजेदभ्यादिभ्यो वियो
योज्य च दातृत्वादिगुणकाभ्यादिभ्यो दर्शदेवभिन्नेभ्यो निर्वपेदिति दधन् दधनि स्थविष्ठतण्डुलचरुं शृते दुग्धेऽणिष्ठ
स्यर्थः । अत्र कालापराधे देवान्तरयुक्तं प्रायश्चित्तरूपं दर्शोद्भिन्नं कर्म विधीयत इति प्राप्ते तण्डुलत्रेधात्वाद्यनुवादेन ।
दिति हविषः प्रकृतदेववियोगेन तस्मिन्नेव दर्शकर्मणि देवतान्तरसंबन्धमात्रविधानं न कर्मान्तरमिति सिद्धान्तितम् ।

भामतीव्याख्या

दक्षस्तण्डुलानां पयस्तण्डुलानां चेन्द्रादिदेवतासंबन्धश्च विधातव्यः । चरुवं चात्र विहितं नास्तीति तदपि विधातव्यम् । तत्र
कर्मण्यनेकगुणविधानाद्वाक्यं भिद्यते । कर्मान्तरं त्वपूर्वं शक्यमेकेनैव प्रयत्नेनानेकगुणविशिष्टं विधातुमिति निमित्ते कर्मा
विधीयते । दर्शस्तु लुप्यते कालापराधादिति प्राप्त उच्यते—न कर्मान्तरम् । पूर्वदेवतातो हविषो विभागपूर्वं निमित्ते देव
विधानात् । चर्वथैरस्य चार्धप्राप्तेः । भवेदेतदेवं यदा त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति तण्डुलानां त्रेधा विभागविधानपरमे
स्यादपि तु वाक्यान्तरप्राप्तं तण्डुलानां त्रेधात्वमनूद्य विभजेदित्येतावद्विधेते तत्र वाक्यान्तरालोचनया पूर्वदेवताभ्य इति ग
तण्डुलानिति त्वविवक्षितं हविरुभयत्ववत् । तथा च ये मध्यमा इत्यादीनि वाक्यान्पनीते पूर्ववत् देवतासंबन्धे हविष
जेव कर्मण्यग्रयूहं देवतान्तरसंबन्धं विधातुं शक्नुवन्ति । तथाच द्रव्यमुखेन प्रकृतमुखप्रत्यभिज्ञानात् देवतान्तरसंबन्धेऽपि न
न्तरकल्पना भवितुमर्हति । ततश्च समाप्तेऽपि नैमित्तिकाधिकारे नित्याधिकारसिद्धयर्थं तान्येव पुनः कर्मण्यनुष्ठेयानि । नच दधनि च
चरुसप्तम्यर्थयोर्विधानं तयोरेष्येष्टप्राप्तत्वात् । प्रकृते हि कर्मणि तण्डुलपेषणप्रथनं पुरोडाशपाकादि दधिपयसी च प्राप्तानि त
दयनिमित्ते दधियुक्तानां पययुक्तानां च तण्डुलानां विभजेदिति वाक्येन पूर्वदेवतापनयं कृत्वा ये मध्यमा इत्यादिभिर्वाक्यै
न्तरसंबन्धः कृतः । नच प्रभूतदधिपयःसंसर्गैरप्येतण्डुलैः पुरोडाशक्रिया संभवति । इति पुरोडाशनिवृत्तौ तदर्थस्य प्रपन्न

आमन्दगिरीयव्याख्या

मुद्राता प्राणवीर्येण करोतीत्येतदेव कथं, तत्राह—तथाचेति । तत्रैवेत्युद्गीथप्रकरणोक्तिः । उद्गाता प्राणप्रधानया वाचा कृतवान्
मिति श्रुत्यर्थः । यत्तु बहुतरार्थाविशेषाद्धि विधैक्यमिति, तत्राह—नचेति । वाजसनेयके तावदुद्गीथोद्गातारौ ध्येयत्वेनोच्येते छा
त्स्वोक्तारस्तदवयवः प्राणवृष्ट्योपास्य उक्तः । एवं विवक्षितार्थस्यान्तरज्जोपास्यस्वरूपय भेदे गम्यमाने बहिरङ्गार्थवादविशेषात्त्रेधा
विधैक्यमित्यर्थः । वाक्यसादृश्यमात्रेणार्थैक्यं नास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—तथाहीति । चतुर्दश्यामेवाभावात्स्याः प्राग्ल्या दर्शार्थं प्र
यजमानस्य चन्द्रमाः पश्चादभ्युदेति तद्विषयं वाक्यमभ्युदयवाक्यम् । तस्मिन्वाक्ये पशुकामस्येष्टविधायाके च वाक्ये यद्यपि
तण्डुलान्विभजेदित्यादिनिर्देशस्तुल्यस्तथापि ‘वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्धयति वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ता
अभ्युदेति’ इति कालातिक्रमापराधनोपक्रमादभ्युदयवाक्ये नित्ये दर्शकर्मण्येव पूर्वदेवताभ्यो हविषामपनयनेन दातृत्वादिगुणवि
देवतान्तराङ्गीकारः । पशुकामवाक्ये च ‘यः पशुकामः स्यात्सोऽभावात्स्यामिन्द्रा वत्सानपाकुर्यात्’ इति नित्यं दर्शकर्म परित
पुनर्दोहार्थं वत्सापाकरणविध्युपक्रमात्पशुकामस्येष्टयन्तरविधानमुपगतम् । न तु वाक्यद्वये निर्देशस्य सादृश्यमात्रेणार्थैक्यं प्रक्रमे
थेभेदनिश्चयात् । तथा प्रकृते शाखाद्वये बहुतरार्थावादिकसादृश्येऽपि पूर्वोक्तप्रक्रमभेदादिषामेव ह्यस्वरार्थः । एतदुक्तं भवति—
एतं प्रजया पशुभिरर्धयति वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान्विभजेथे मध्यमास्तान्त्रये
पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात् स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधन् दधनि येऽणिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्’ इत्यत्र यस्य यजमा
पुरस्तात्पूर्वं हविर्निरुप्तं देवतार्थं संकल्पितं चन्द्रमाश्च पश्चादाभिमुख्येनोदेति तमेतं यजमानं निरुप्तं हविः प्रजादिना विनाशयति
चास्य वर्धयति । तथाचासौ चतुर्दश्याममावारयाभ्रान्तिभागी मध्यमादिभावेन त्रेधाभूता ये तण्डुलस्तान्भ्यादिभ्यो दर्शदेवताभ्यो ।
जेद्विभज्य च दातृत्वादिगुणकाभ्यादिभ्यो देवताभ्यो निर्वपेदित्येवमर्थोपां श्रुतौ किमभ्युदये नैमित्तिकं कर्मान्तरं दर्शोपपत्तेः ।
दर्शकर्मण्येव पूर्वदेवतात्वागेन देवतान्तरं विधीयत इति संवेदे त्रेधा तण्डुलान्विभजेदिति हविषामेव मध्यमादिक्रमेण विभागश्रवणात्

पक्रमभेदाद्भ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः । तथेहाप्युप-
क्रमभेदाद्विधाभेदः । परोवरीयस्त्वादिवत् । यथा परमात्मदृष्टयध्याससाम्येऽपि 'आकाशो
होवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।१।१) 'स एष परोवरीयानुद्रीथः स एषोऽनन्तः'
(छा० १।१।२) इति परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टमुद्रीथोपासनमभ्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वा-
दिगुणविशिष्टोद्रीथोपासनाङ्गिभम् । न चेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छा-
खान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपपासनेष्विति ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

अथोच्येत संज्ञैकत्वाद्विधैकत्वमत्र न्याय्यमुद्रीथविधेति ह्युभयत्राप्येका संज्ञेति । तदपि नोप-

रत्नप्रभावाख्या

भ्युदयवाक्ये कालापराधेनोपक्रमादर्शकर्मण्येव हविषः पूर्वदेवताभ्योऽपनयो वियोगोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यद्यपि
ये स्थविष्टास्तान्मये सन्निमतेऽष्टाकपालं निर्वपेये मध्यमास्तान् विष्णवे शिषिविष्टाय ऋते चर्हं ये श्लोदिष्टास्तानिन्द्राय प्रदात्रे
दधश्चरमिति निर्देशोऽभ्युदयवाक्येन समोऽस्ति, तथापि यः पशुकामः स्यात्तोऽमावास्यामिष्टा वत्सानपाकुर्व्यादिति नित्यं दर्शकर्म
समाप्य पुनर्दोहार्थं वत्सापाकरणविश्वोपक्रमात्पशुकामस्य यागान्तरविधिरेव नाभ्युदयवाक्येनार्थैक्यमिति तथा प्रकृतेऽपि निर्दे-
शसाम्यं न विधैक्यप्रयोजकमित्यर्थः । वत्सानपाकुर्व्यान्मातृदेशादेशान्तरं नयेदित्यर्थः । सूत्रोक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे—**परो-
वरीयस्त्वादिवदिति** । पर इति सकारान्तं परस्तात् परश्चासौ वराच वरतर इति परोवरीयानित्येकं पदम् । अन-
न्त्र आकाशाख्यः परमात्मा तद्दृष्ट्यालम्बनत्वादुद्रीथस्तथोक्त इत्यर्थः । आकाशात्मना हिरण्यश्मश्रुत्वात्मना चोद्रीथो-
पास्तिसाम्येऽपि विधाभेदवद्विहापि भेद इत्यर्थः ॥ ७ ॥ संज्ञैक्यं पूर्वपक्षबीजमुद्राव्य दूषयति—**संज्ञात इति** । उपा-
सरूपभेदाद्विधानानात्वं यदुक्तं तच्छ्रुत्यक्षरानुगतं बलवत्, संज्ञा तु गौरुपेयी दुर्बलेत्यर्थः । संज्ञैक्यं कर्मैक्यव्यभिचारि

भामतीव्याख्या

निवृत्तिरनिवृत्तस्तु पाकोऽपवादाभावात्तथा चार्थप्राप्तश्चोच्यते । भवतु वा अनेकवाक्यकल्पनम् । प्रकृताधिकारावगमबलद्वयापि
न्याय्यत्वादिति । तस्मात्तदेवेदं कर्म न तु कर्मान्तरमिति सिद्धम् । पशुकामवाक्ये त्वपूर्वकर्मविधिरभ्युदयवाक्यसारूप्येऽपि । 'यः पशु-
कामः स्यात्तोऽमावास्यामिष्टा वत्सानपाकुर्व्याये स्थविष्टास्तान्मये सन्निमतेऽष्टाकपालं निर्वपेये मध्यमास्तान् विष्णवे शिषिविष्टाय
ऋते चर्हं ये श्लोदिष्टास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधश्चरम्' इति । अत्र हि अमावास्यामिष्टेति समाप्ते यागे पशुकामेष्टिविधानं नात्र पूर्वस्य
कर्मणोऽननुवृत्तेर्यागान्तरविधिरिति युक्तम् । **परोवरीयस्त्वादिवत्** । यथोद्रीथोपासनासाम्येऽपि आदित्यगतहिरण्यश्मश्रुत्वादियुग-
विशिष्टोद्रीथोपासनातः परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टोद्रीथोपासना भिन्ना तद्वदिदमपीति । परस्मात् परो वराच वरीयानिति परोवरीयानु-
द्रीथः परमात्मरूपः संपन्नः । अत एव अनन्तः । परमात्मदृष्टिमुद्रीथे भावयितुम् 'आकाशो होवैभ्यो भूतैभ्यो ज्यायान्' इत्याकाशशब्देन
परमात्मानं निर्दिशति ॥ ७ ॥ **संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि** । स्फुटतरे भेदावगमे रसैकत्वं नाभेदसाधनमित्यसङ्गा-

आनन्दगिरियव्याख्या

देवताभ्यो हवीपि विभजेदिति चाश्रुतेरपनीता हविःपु पूर्वदेवता इति तदवरोद्धेपु तेषु देवतान्तरमात्रव्यावकाशं श्रुतं कर्मान्तरमेव गोचर-
यति । देवतान्तरयुक्तकर्मान्तरे विधिरिति प्राप्ते त्रेधा तण्डुलान्विभजेदित्यत्र ये मध्यमाः स्युरित्यादिवाक्यान्तरप्राप्तं त्रेधात्वमनूय विभ-
जेदित्यत्रैव विधानात्सादित्यपेक्षायां मध्यमादिवाक्येदेवतान्तरेपूक्तेषु तत्प्रतियोगिनीना देवतानामेव बुद्धिस्थानां विभागप्रतियोगिब-
न्दिः । तण्डुलशब्दस्य च हविर्मात्रविषयत्वाद्विषयसोरपि पूर्वदेवतातो विभागलाभादपनीते पूर्वदेवताके हविषि देवतान्तरस्य साव-
काशत्वात्पूर्वदेवस्येव प्रकृतकर्मप्रत्यभिज्ञानादेवतान्तरसंबन्धेऽपि कर्मान्तरकल्पनानाकाशात्तैमित्तिकाधिकारे समाप्ते नित्याधिकारार्थे
नाभ्येव कर्माण्यनुष्ठेयानीति नास्ति कर्मभेद इति स्थितम् । 'यः पशुकामः स्यात्तोऽमावास्यामिष्टा वत्सानपाकुर्व्यात्' । ये स्थविष्टास्तान्
मये सन्निमतेऽष्टाकपालं निर्वपेये मध्यमास्तान् विष्णवे शिषिविष्टाय ऋते चर्हं ये श्लोदिष्टास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधश्चरम्' इत्यत्र तुल्यश्र-
त्या दर्शममाप्यनन्तरं वत्सापाकरणेन गोदोहनं कृत्वा पूर्वदेवताभ्यो हविर्विभज्य देवतान्तरविशिष्टपशुकामेष्टिविधानात्पूर्वस्य कर्म-
णोऽननुवृत्तेरभ्युदयवाक्यसारूप्येऽपि यागान्तरविधिस्तद्विहापि स्यादिति पूर्वतश्चसिद्धं दृष्टान्तं बहिरेवोक्त्वा मीत्रं दृष्टान्तमादाय व्या-
चष्टे—**परोवरीयस्त्वेति** । परसाद्वरप्राणादः परोवराच तसादिव वरीयान्वरतरोऽप्युद्रीथः स च परमात्मदृष्टिसंपत्तेरनन्तर इति
दृष्टव्यम् । आकाशो चादित्यादौ च परमात्मदृष्टेरापवादुद्रीथोपास्तिसाम्येऽपि परोवरीयस्त्वादियुगकोद्रीथोपास्तिरन्याया च हिरण्यश्म-
श्रुत्वादियुगकोद्रीथोपास्तिस्तद्विहापीत्यर्थः । दृष्टान्तपथिकगुणानामन्योन्यत्रोपसंहाराद्वैक्यमित्याशङ्क्याह—**नचेति** । पुनरुक्त्या विधा-
भेदस्यातिस्पष्टत्वं हेतुं मत्वोक्तम्—**एकस्यामिति** । शाखाभेदाद्भेदेनापीनस्त्वस्येति तात्पर्यप्रमेयगुणभेदविशिष्टोपासनेन नाना-
त्वमित्याह—**तद्वदिति** ॥ ७ ॥ पूर्वपक्षबीजमुद्राव्य दूषयति—**संज्ञातश्चेदिति** । अनुवादं व्याकरोति—**अथेति** । अत्रति शाखा-
द्वयमुक्तम् । संज्ञैकत्वं विवृणोति—**उद्रीथेति** । पूर्ववत्प्रगतं न शब्दं तच्छब्देन संयोज्य परिहरति—**तदपीति** । पूर्वसूत्रोक्तपरि-

द्यते । उक्तं ह्येतत्—‘न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्’ (ब्र० सू० ३।३।७) इति । तत्र चात्र न्याय्यतरं श्रुत्यक्षरानुगतं हि तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाद् किंैव्यवहर्तुमिहपचर्यते । अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेवपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेपूद्गी विद्येति । तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां काठ संज्ञैकत्वं दृश्यते तथेहापि भविष्यति । यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदेहेतुस्तत्र भेद संज्ञैकत्वाद्विचैकत्वं यथा संवर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

व्यासेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥



४ अधिकरणम्

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाथ विशेष्यता ॥ अक्षरस्यात्र नास्त्वैक्यं नियतं हेत्वभावात् ॥ १ ॥
वेदेषु व्यास ओंकार उद्गीथेन विधिष्यते ॥ अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिष्कृष्टांशलक्षणा ॥ २ ॥

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकर श्रयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः । तत्राध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्त्यतरबुद्धिरध्यस्यते स्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तदुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि । यथा नास्ति ब्रह्मबुद्धाध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते । यथावा प्रतिमादिषु विष्णुद्विबुद्धयध्यासः । एवमिहाप्यक्षर उद्गीथबुद्धिरध्यस्यत उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति । अपवादो ना यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धि

रत्नप्रभाष्याख्या

चेत्याह—अस्ति चेति । किं संज्ञैक्यं सर्वत्राप्रमाणमेव नेत्याह—यत्र त्विति । असति बाधके संज्ञैक्यमपि यथा संवर्गविद्येति संज्ञैक्यात्सर्वशाखासु तद्विचैक्यं, तथा पञ्चाङ्गादिविचैक्यमित्याद्यसूत्रे दर्शितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ व्य समञ्जसम् । सामानाधिकरण्यं विषयीकृत्य संशयमाह—ओमित्येतदिति । अध्यासादिपदार्थान्व्याचष्टे—तत्राध्यास त्यादिना । बुद्धिपूर्वकाभेदारोपोऽध्यासः, बाधोऽपवादः, एकत्वं वास्तवाभेदः, विशेषणं व्यावर्तकमिति विवेकः । पूर्वमुद्गतं त्मकोद्गीथावयवत्वमोद्धारस्य ध्येयस्य विशेषणं सिद्धवत्कृत्य ध्येयभेदाद्विधाभेदः सिद्धान्तितः स न युक्त इत्याक्षेपसंगला

भामतीव्याख्या

पातात् । अपिच श्रुत्यक्षरालोचनया भेदप्रत्ययोऽन्तरङ्गश्चानपेक्षश्च । संज्ञैकत्वं तु श्रुतिबाधतया बहिरङ्गं च पौरुषेयतया सापेक्षं तस्मादुर्बलं नाभेदसाधनयालमिति ॥ ८ ॥ व्यासेश्च समञ्जसम् । अध्यासो नामेति । गौणी बुद्धिरध्यासः । माणवकेऽनिवृत्तायामेव माणवकबुद्धिर्यपदेशवृत्तौ सिंहबुद्धिर्यपदेशवृत्तिः सिंहो माणवक इति, एवं प्रतिमायां वासुदेवबुद्धि

आनन्दगिरिव्याख्या

धारस्य बाधकत्वाच्चोपाभासोऽयमित्याह—उक्तं हीति । समाख्याविशेषादभेदो गम्यते रूपभेदाच्च भेदस्तथा सति किमत्र तत्राह—तदेवेति । रूपभेदस्यान्तरङ्गतया बलवत्तरत्वासंज्ञायाश्च श्रुतिबाधतया बहिरङ्गत्वात्पौरुषेयतया च सापेक्षत्वेन दुर्बलं द्रूपभेदादुक्तं विधानान्तरमेव युक्तमित्यर्थः । कथं संज्ञैक्यं श्रुत्यक्षरबाधं, तत्राह—उद्गीथेति । संज्ञैक्याद्विधेयं स्यादतिप्र रिल्यस्तीत्यादि व्याकरोति—अस्ति चेति । अपिशब्दोपात्तमुदाहरणान्तरमाह—तथेति । संज्ञैक्येऽपि न चेत्तत्रैक्यं तर्हि संज्ञैक्यं त्रिभुजानेऽप्यप्रयोजकमित्याह—तथेहेति । कथं तर्हि संज्ञैक्यस्य व्यभिचारित्वे प्रथमगृहे तस्यैक्ये हेतुत्वमुक्तमित्याशङ्क्य तुश चितमर्थमाह—यत्रेति । एवंजातीयकः प्रक्रमभेदो वा तत्तुल्यो वेल्यर्थः । असति बलवति बाधके संज्ञैक्यमपि साधकमित्यत्र दृ माह—यथेति । आदिपदेन पञ्चस्रिविधा वैश्वानरविद्येत्यादि गृह्यते ॥ ८ ॥ ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतित्यत्रोद्गीथविशेषितं कारस्यापि सिद्धवत्कृत्य प्रक्रमभेदाद्विधाभेदमुक्त्वा तमेव विशेषणविशेष्यभावं निरूपयति—व्यासेश्चेति । ओमुद्गीथशब्दयोः साधकिकरणमधिकरणस्य विषयं दर्शयति—ओमित्येतदिति । विशेषणवधारणकृतं संदेहमाह—अध्यासेति । अत्र च विशेषण शेष्यभावनिरूपणेन विचारस्य वाक्यार्थधीसाधनसंक्रान्ततया पादादिसंगतयः । पूर्वपक्षे सामानाधिकरणवाक्यस्यानध्यवसिताधेत्वा माण्यं सिद्धान्ते तस्यार्थनिश्चयात्प्रामाण्यम् । कथमेतेषां पक्षाणां प्रतिभानं भेदो वेति तत्राध्यासं व्युत्पादयति—तत्रेति । तेषां योऽध्यासो नाम प्रसिद्धः स व्युत्पाद्यते । गौणी बुद्धिरसावित्युपेत्य व्युत्पादनमभिनयति—द्वयोरिति । कथमन्यतरबुद्धावनिवर्तितं मन्यतरबुद्धेरध्यासः स्यात्, तत्राह—यसिञ्जति । अध्यस्तबुद्धयेतरबुद्धेर्निबल्यत्वमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह—यथेति । वैदिकदृष्टान्तमु लौकिकमाह—यथा वेति । विशेषमनवधारयन्दाष्टान्तिकमाह—एवमिति । अध्यासपक्षसमाप्तावितिशब्दः । अपवादव्युत्पा प्रतिज्ञाय व्युत्पादयति—अपवाद इति । यत्रेति । यसिन्कस्मिंश्चिद्वस्तुनीत्यर्थः । तत्रापि लौकिकं वैदिकं चोदाहरणमाह

पूर्वनविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति । यथा देहेन्द्रियसंघात आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्म-
बुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्त्यते । यथा वा
दिग्नान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते । एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्त्यत उद्गीथ-
बुद्ध्या वाक्षरबुद्धिरिति । एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम् । यथा द्विजोत्तमो
ब्राह्मणो भूमिदेव इति । विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्ग औद्गा-
त्रविशेषस्य समर्पणम् । यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति । एवमिहाप्युद्गीथो य उँकारस्तमुपा-
सीतेति । एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमान एते पक्षाः प्रतिभान्ति तत्रान्यतम-
निर्धारणकारणाभावादनियर्धारणप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति । चशब्दोऽयं तुश-
ब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते ।
विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते । तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छ-
ब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै का-
मानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत् । न । तस्यान्यफलत्वात् । आध्यादिदृष्टिफलं
हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम् । अपवादेऽपि समानः फलाभावः । मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति
चेत् । न । पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । नच कदाचिदप्योँकारादोँकारबुद्धिर्निवर्तत उद्गीथाद्यो-

रत्नप्रभाव्याख्या

धयति—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे पूर्वोक्तसिद्धान्तसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तमूत्रं व्याचष्टे—चशब्द
इत्यादिना । पक्षत्रयस्य दुष्टत्वं प्रतिज्ञायाध्यासपक्षे दोषमाह—तत्राध्यास इति । यस्योद्गीथस्य बुद्धिरोद्गारेऽध्यस्यते तद्वाच-
कोद्गीथशब्दस्योद्गारे लक्षणा स्यात्तद्वद्विषयत्वगुणपरत्वात्तथा संबन्धोऽप्यसिद्धः कल्पनीयः, प्रतीकोपास्तेः फलं च कल्पयमिति
गोचरं स्यादित्यर्थः । फलं न कल्पयमिति शङ्कते—श्रूयत इति । आध्यादीति । 'ओङ्कार आभिः समुद्भिरिति' 'य उपास्ते
प कामानाप्नोति' इति श्रुतं फलं नाध्यासस्येत्यर्थः । उद्गीथोद्गारयोरन्यतरबुद्धान्यतरबुद्ध्यापवादमन्वीकृत्यान्यतरमिथ्याबुद्धिनिवृ-
त्तेर्नैकत्वमुक्तं संप्रत्यन्यतरबुद्धेरभ्रान्तिवत्त्वात्तत्रापवाद इत्याह—नच कदाचिदपीति । भ्रान्तिश्चेत् निवर्तत न तु निवर्तत

भामतीव्याख्या

व तद्वद्विस्तयोद्गार उद्गीथबुद्धिव्यपदेशाविति । अपवादकत्वविशेषणानि चोक्तानि । एकार्येऽपि च शब्दद्वयप्रयोगो दृश्यते ।
इथा वरदेव्यामिश्रा विज्ञानमानन्दम् । व्याख्यायां च पर्यायाणामपि सहप्रयोगो यथा मिथुरः करी पिकः कोकिल इति । निमृश्या-
प्यवमायुलक्षणं पक्षं गृह्णाति—तत्रान्यतम इति । सिद्धान्तमाह—इदमुच्यते—व्याप्तेश्च । प्रत्यनुवाकं प्रत्युपपन्नमे
समासां चोँकारः सदेवद्वयापीति किंमतोऽयमोँकारस्तत्तास्यादिगुणविशिष्टस्तत्त्वं तस्मै कामावापादिफलायोगास्यनेनाधिक्रियत

आनन्दगिरीयव्याख्या

येत्यादिना । पूर्ववदाष्टान्तिकमाह—एवमिति । इतिशब्दोऽपि पूर्ववत् । एकत्वपक्षं सदृष्टान्नं गपथयति—एकत्वं इति ।
विशेषणपक्षं प्रकटयति—विशेषणमिति । ग्रहणप्रसङ्गे ध्येयत्वेन स्वीकारप्रमत्ताविनि यावत् । उक्तमेव दृष्टान्तेन गपथयति—
यथेति । पक्षचतुष्टयं व्युत्पादितम्पसंहरति—एवमिति । अध्यासादिषु दृष्टेधनध्वसावपक्षं पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तमाह—
तत्रेत्यादिना । सूत्रस्यचशब्दस्य समुच्चयावर्थाभावादानर्थक्यमाशङ्क्य व्याचष्टे—चशब्द इति । पक्षव्यावृत्तिमेव प्रकटयति—
नदिति । तत्तत्र सामानाधिकरण्यवाक्ये चतुष्टयपक्षेषु दृष्टेति यावत् । व्याचष्टे पक्षत्रये त्रिप्रमाणपक्षस्य प्रवेष्टे निपक्षबोधे
पक्षमाह—विशेषणेति । कथं त्रयाणां पक्षाणां सावधत्वं तत्राध्यासस्य सावधत्वं साधयति—तत्रेति । उद्गीथबुद्धेरक्षरोऽध्यामे-
क्षरशब्दस्योद्गीथे तस्मिन्वाक्षरबुद्धेरध्यासे सत्युद्गीथशब्दस्याक्षरे लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशेषे च श्रुतिर्न्याया तेन नाध्यास
इत्यर्थः । तत्रैव दोषान्तरमाह—फलं चेति । तत्कल्पनामशुभत्वाह—श्रूयत इति । तस्याध्यासफलत्वाभावात्तत्रैवमित्याह—
तत्रेति । श्रुतस्य फलस्यान्यफलत्वमेव व्यनक्ति—आध्यादीति । नच तस्योभयफलत्वमाध्यादिदृष्टे विधातुमोमित्येतदक्षरमिति
वाक्येन विशिष्टप्रणवार्थेन पृथगुपास्तिविध्यनुपगमादिति भावः । अपवादपक्षं प्रत्याह—अपवादेऽपीति । अध्यासं दृष्टान्तयितुम-
शक्यः । वाक्यशेषस्य तु फलं नाध्यासस्य नापवादस्यापि स्याद्विशिष्टोपास्तिर्नैकव्यादित्यर्थः । फलाभावासिद्धिं शङ्कते—मिथ्येति ।
तत्रैवत्तावामनि कर्तृत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरानन्दाभिर्व्यक्तिश्च दृष्टा नैवमोँकारबुद्धयोद्गीथबुद्धेस्तासां वेतरस्या ध्वसे कश्चित्पुरुषार्थो दृष्टः ।
तस्मादेवं फलमित्याह—नेति । अपवादमुपेत्य वैकल्यं दोषमुक्त्वाङ्गीकारं त्यजति—नचेति । उद्गीथबुद्धिरोँकारबुद्धेरपवादिका
चोँकारबुद्धिः स्वविषयादोँकाराश्रितवैत । ओँकारबुद्धेर्बोध्यया मिथ्याधीत्वेन स्वाध्व्यभिचारात् । यदोँकारधीक्रीथबुद्धेरपवादिका
तदापि मिथ्याधीत्वाद्गीथधीः स्वार्थश्रितवैत । नचैवं दृष्टे नापवाद इत्यर्थः । किंचापवादोनास वाक्यस्य तात्पर्यमुपास्तिपर-

द्वीथबुद्धिः । न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम् । उपासनाविधिपरत्वात् । नाप्येकत्वपा संगच्छते निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात् । एकैनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । न हौत्रविषय आध्वर्यवविषये वाऽक्षर ओंकारशब्दवाच्य उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति । नापि स लायां साक्षो द्वितीयायां भक्ताबुद्ध्युद्गीथशब्दवाच्ययोर्मोकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थ स्यात् । परिशेषाद्विशेषणपक्षः परिगृह्यते । व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यात् । सर्वव्याप्यक्षरमि मा प्रसंजीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते । कथं नामोद्गीथावयवभूत ओंकारो गृह्येतेति नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा । उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात् । सत्यमेवमेतत् । ला णायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव । अध्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्य इति विप्रकृष्टा लक्षणा विशेषणपक्षे त्ववयवविचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्ट समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिविषु । अतश्च व्याप्ते

रजप्रभाष्याख्या

इत्यभ्रान्तिरित्यर्थः । किंच तत्त्वबोधकाद्वाक्याङ्गान्यपवादो भवति नेदं वाक्यं तत्त्वपरमित्याह—**नचेति** । घटकुम्भश रिबोद्धोद्गीथशब्दयोः पर्यायत्वपक्षं दूषयति—**नापीति** । पर्यायत्वमपि नास्तीत्याह—**नचेति** । परिशिष्टविशेषणपदं योजयति—**व्याप्तेरिति** । ‘ओमित्यक्षरमुपासीत’ इत्युक्ते सर्ववेदव्याप्योद्धार इहोपासौ प्रसज्येत तन्निरासार्थमुद्गीथाव

भामतीव्याख्या

इत्यपेक्षायामुद्गीथपदेनेति विशिष्यते । उद्गीथपदेनोकारावयववर्षटितसामभक्तिभेदाभिधायिना समुदायस्यावयवभावानुपपत्तेस्तत्त्व वयव ओंकारो लक्ष्यते, न पुनरोंकारेणावयविन उद्गीथस्य लक्षणा । उँकारस्यैवोपरिष्ठातु तत्तद्गुणविशिष्टस्य तत्तत्फलवि चोपव्याख्यास्यामतवात् । दृष्टश्च समुदायशब्दोऽवयवे लक्षणया यथा ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति तदेकदेशदाहे । अयसि तु फलकल्पना च । तथा हि आस्यादिगुणकप्रणवोपासनादिदमुद्गीथतोपासनं प्रणवस्यान्यत् । नचात्रास्यादि उपासनेष्विव फलं ५ तस्मात् कल्पनीयम् । उद्गीथसंबन्धिप्रणवोपासनाधिकारपरे वाक्ये नायं दोषः । अपिच गौण्या वृत्तलक्षणावृत्तिरैव लाषवात् । लक्षणाया हि लक्षणीयपरत्वं पदस्य तस्यैव वाक्यार्थान्तरभावात् । यथा गङ्गायां घोष इति लक्ष्यमाणस्य तीरस्य ६ र्थेऽन्तर्भावोऽधिकरणतया । गौर्वहीक इत्यत्र तु गोसंबन्धितिष्ठन्मूत्रपुरीषादिलक्षणया न तत्परत्वं गोशब्दस्य । अपितु तत्तत्क्ष सिततद्गुणयुक्तवाहीकपरत्वमिति गौण्या वृत्तेर्दुर्बलत्वं तदिदमुक्तं—**लक्षणायामपि त्विति** । गौण्यपि वृत्तिलक्षणावयवत्वाद्धृष्य यद्यपि वैश्वदेवीपदमामिक्षायां प्रवर्तते तथाप्यर्थभेदः स्फुटतरः । आमिक्षापदं हि रूपेणामिक्षायां प्रवर्तते । वैश्वदेवीपदं तु तत्

आनन्दगिर्याख्या

त्वादित्याह—**नचेति** । एकत्वपक्षं निराह—**नापीति** । पिकशब्दस्य कोकिलशब्देन व्युत्पादनवदन्यतरशब्दस्यान्यतरः व्युत्पादनं फलवदेवेत्याशङ्क्य संदिग्धार्थतदेरसत्त्वान्नैवमित्याह—**एकेनेति** । ओंकारोद्गीथशब्दो रुद्गीथार्थत्वादित्यन्तरं तत्ति शब्दान्तरमर्थवदित्यर्थः । किंचैकत्वपक्षे किमुद्गीथस्याक्षरेऽन्तर्भावोऽक्षरस्य वेतरस्मिन्निति विकल्प्यायं निराह—**नचेति** । प्रत्याह—**नापीति** । उद्गीथशब्दस्याक्षरे तच्छब्दस्य चोद्गीथे प्रसिद्धभावे तयोरेकात्वंराहित्यं फलतीत्याह—**येनेति** । ५ सावयवत्वेनापोष निरवर्धं पक्षं गृह्णाति—**परिशेषादिति** । तत्र सौत्रं पदमादाय विभजते—**व्याप्तेरिति** । तथापि कथं विरे पक्षसिद्धिः, तत्राह—**सर्वेति** । इहेत्युपासनोक्तिः । तत्प्रसङ्गे वाक्यशेषविरोधः स्यादिति मत्वा ब्रूते—**अत इति** । संभवे व्याप्ति च विशेषणमर्थवदित्युपगमादोकारस्य विशेष्यस्य सर्ववेदव्यापित्वादुद्गीथेन विशेषणेन व्यभिचारवारणेऽपि सर्वस्या द्वितीयस्या ५ उद्गीथशब्दितयास्तदवयवे संभवाभावादयुक्तमोकारविशेषणत्वमुद्गीथस्येत्याशङ्क्यावयवलक्षणार्थत्वमुद्गीथशब्दस्योपेत्याह—**कथमिति** इतिशब्दो वृत्तक्रियापदेन संबध्यते । न चोद्गीथस्यैवावयविनो लक्षणा स्यादोकारेणावयवेनेति युक्तमोकारस्योपरिष्ठादित्यन्तरे व्याख्या मानतया प्रधानत्वात्तेन भक्तिलक्षणायामुद्गीथपदेन भक्तिविशेषस्यैवार्पणे व्यभिचाराभावाद्विशेषणवैयर्थ्यमिति भावः । लक्षणाप्र नाध्यासस्य निरस्तत्वादयमपि पक्षो दोषसाम्यान्नोपादेयः स्यादिति शङ्कते—**नन्विति** । उद्गीथशब्दस्यावयवे लक्षणाग्रहोकारो **सत्यमिति** । अध्यासपक्षवदयमपि तर्हि पक्षो नोपादेयः स्यादित्याशङ्क्याह—**लक्षणायामिति** । पक्षद्वये तुल्यायामपि लक्षणा ध्यासपक्षमुपेक्ष्य विशेषणपक्षमादिग्रामहे तत्र लक्षणार्थस्य वाक्यार्थान्वयित्वेन लक्षणायाः संनिकृष्टविषयतया बलीयस्त्वात् । अध्यासं गौणी धीरसावित्युक्तत्वात् । लक्ष्यमाणगुणवत्येकस्मिन्नितरशब्दसावसानालक्षणाया विप्रकृष्टविषयत्वेन दौर्बल्यादित्यर्थः । ५ सपक्षे लक्षणाया विप्रकृष्टविषयत्वं स्पष्टयति—**अध्यासेति** । सिद्धान्ते लक्षणायाः संनिकृष्टविषयत्वेन प्रबलत्वं प्रकटयति **विशेषणेति** । अवयवविचनेन शब्देनावयवलक्षणाया लौकिकत्वाभावं प्रत्याह—**समुदायेष्विति** । पटो दग्धो ग्रामो दग्ध तदेकदेशदाहेऽपि समुदायशब्दो लक्षणयावयववे प्रयुज्यते तथोद्गीथशब्दोऽपि द्वितीयभक्त्यवयववेऽक्षरे लक्षणया वर्तित्यते, नचाक्षर उद्गीथावयवत्वं तदुपासनं च विधेयमिति वाक्यभेदः । विशिष्टाक्षरानुवादेनोपास्तेरेव तत्तद्गुणवत्यास्तत्तत्फलविशिष्टायाः समुत्पत्तेन वाक् विधानादिति भावः । उक्तहेत्वनुवादेनावशिष्टं सूत्रपदं व्याकुर्वन्विशेषणपक्षस्य निरवयवत्वमुपसंहरति—**अतश्चेति** ॥ ९ ॥ ओं

तोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतन्निरवयवमित्यर्थः ॥ ९ ॥
सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥



वसिष्ठत्वापनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः ॥ उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥ ९ ॥

प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि नेतरन् ॥ एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ॥ २ ॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम् । वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः । ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ० ६।१।१४) इत्यादिना । अन्येषामपि तु शाखिनां कौपीत-किप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः । तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः कचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्ये-रन्निति । तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति । कुतः—एवंशब्दसंयोगात् । 'अथो य एवं विद्वान्प्राणे

रत्नप्रभाख्या

श्रेयसं समञ्जसमित्यर्थः । अध्यासपक्षे तद्वद्विषयत्वगुणयोगरूपः संबन्धः कल्प्य इति विप्रकृष्टा लक्षणा, अवयवलक्षणा [संनिष्ठा अवयवावयवसंबन्धस्य कृत्स्नत्वात्, पटावयवे दग्धे पटो दग्ध इति लोके प्रयोगाच्च । नामादौ ब्रह्मशब्दस्य गत्या ब्रह्मबुद्धिमाहृत्यगुणलक्षणाश्रिता तत्र प्रतीकोपास्तैर्विवक्षितत्वात् । इह तु प्रतीकोपास्तैर्विवक्षितत्वेन आह्यादिगुणको-रे प्राणदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः स्यादतः सर्ववेदव्याप्योङ्कारनिरासेनोङ्कारे प्राणदृष्टिविधानार्थं विशेषणमेव समञ्जसं त्वनालाघवादिति सिद्धम् ॥ ९ ॥ सर्वाभेदादन्यत्रेमे । विषयं वक्तुं संमतमर्थमाह—वाजिनमिति । वाचो सिष्टत्वं गुणो वागिमनः सुखवासदर्शनात् । चक्षुषः प्रतिष्ठा गुणः चक्षुष्मतः पादप्रतिष्ठादर्शनात् । श्रोत्रं संपद्गुणं ध्रुवणात्सर्वो-संपत्तेः । मन आयतनत्वगुणं तस्य वृत्तिद्वारा सर्वभोग्याश्रयत्वात् । ते च गुणाः प्राणस्य श्रैष्ठ्यं निश्चित्य वागादिभिस्तस्मिन्नपि- । इति शाखाद्वयसंमतोऽर्थः । विषयमाह—अन्येषामित्यादिना । निःश्रेयसस्य श्रैष्ठ्यसादानं निर्धारणं प्रस्तूयत इत्यर्थः । स्वता वागादयोऽहंश्रेयसे स्वश्रैष्ठ्यायेत्यर्थः । एवंशब्दाच्छ्रैष्ठ्यगुणकप्राणप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयमाह—तत्रेति । गुणानामनुपसंहा-रोपसंहारावेव पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । उद्गीथत्वविशेषणादोङ्कारस्य सर्ववेदव्याप्त्यावृत्तिवत्प्रकृतगुणमात्रमाहर्कवशाद्वाच्छाखा-तरगुणव्यावृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्र प्राप्तमिति । यथा वागादिभ्यः प्राणश्रैष्ठ्यं सिद्धमथो तथा य एवं श्रैष्ठ्यगुणं

भामतीव्याख्या

नेवदेवविशिष्टायाम् । एवं हि विज्ञानानन्दयोरपि स्फुटतरः प्रवृत्तिनिमित्तभेदः सत्यपि ब्रह्मण्यैकार्थं । नच व्याख्यानमुभयोरपि प्रसिद्धार्थत्वाद्विज्ञानार्थत्वाच्च । शेषमतोरोहितार्थम् ॥ ९ ॥ सर्वाभेदादन्यत्रेमे । एवंशब्दस्य सन्निहितप्रकारभेदपरामर्शाथ-त्वात्संश्लेषच्छन्दोपस्थापितस्य च संनिधानाच्छाखान्तरगतस्य चातुकमतया(?) संनिधानाभावाच्च कौपीतकिप्राणसंवादवाक्यं प्राणस्य वसिष्ठत्वादिभिर्गुणैरुपास्यत्वमपि तु ज्येष्ठश्रेष्ठत्वमात्रेणेति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु—सत्यं संनिहितं परामृशति एवंकारो न तु शब्दो-पातमात्रं संनिहितम् । किंतु यच्छब्दाभिहितार्थानन्तरपरकतया प्राप्तं तदपि हि बुद्धौ संनिहितं संनिहितमेव । यथा 'यस्य पर्णमयी

आनन्दगिरीयव्याख्या

सोऽग्रेयगुणकस्यैवोपास्यतेत्युक्ते प्राणस्यापि तत्तदुक्तगुणमात्रस्यैव तत्र तत्रोपास्यतेत्याशङ्क्याह—सर्वेति । विषयं वक्तुमविगीतम-र्थमाह—वाजिनमिति । शाखाद्वयेऽपि संमतमर्थान्तरमाह—वागिति । सा हि वसिष्ठत्वगुणा वाक् । वागिमनो हि लोके मुखिनो वसति । चक्षुष्य प्रतिष्ठागुणं चक्षुष्मतः पादप्रतिष्ठादर्शनात् । संपद्गुणं श्रोत्रम् । तद्वत् एव श्रवणार्थावधारणकर्मसंपत्तिदर्शनात् । भावतनगुणं मनः । भोग्यानां तत्र वृत्तिद्वारा निधानादित्युभयत्रापि श्रुतमित्यर्थः । तत्र तर्हि बहूनामुपास्यतेत्याशङ्क्याह—ते वेति । अन्ययन्यतिरेकाभ्यां प्राणाधीनत्वसिद्धेर्देवार्थादिस्थितेः प्राणे स्वगुणा वागादिभिरर्पिता इत्यर्थः । शाखान्तरंऽपि संमतमर्थ-माह—अन्येषामिति । निःश्रेयसं श्रेष्ठ्यं तस्यादानं निर्धारणं तदन्तरेणोपास्तेरयोगात्तत्प्रस्तुतमधिकृतमित्याह—अथेति । एता ह वै देवता वागाद्यभिमानिन्योऽहंश्रेयसे स्वकीयश्रेष्ठत्वायेति यावत् । अविगीतमर्थमुक्त्वा विगीतमर्थमाह—न विवति । एवंश-ब्दाज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणप्रत्यभिज्ञानाच्च वसिष्ठत्वादिगुणेषु संशयमाह—तत्रेति । कचिदिति वाजसनेयकच्छान्दोग्योक्तिः । अन्यत्रेति कौपीतकिप्रभृतिशालोच्यते । अत्र च वसिष्ठत्वादिगुणोपसंहारादत्र वाक्यार्थधीतेरेव निरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे यथाश्रुति गुणव्यवस्था । सिद्धान्ते गुण्यनुरोधात्तदव्यवस्थेति मत्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । विषयैक्यादनुमानादुपसंहारे कथमनुपसंहारः स्यादिति शङ्कते—कुत इति । उङ्कारस्य सर्वत्र प्राप्तादुद्गीथविशेषणादन्यथावृत्तिवदेवं विद्वानिति संनिहितालम्बनादेवंशब्दादसंनिहितस्य वैकल्याद्वाराऽनुमितस्य वसिष्ठत्वादिर्वावृत्तिर्मुक्त्याह—एवंशब्देति । यथा प्राणो वागादिभ्यः श्रेष्ठः सिद्धस्तथा प्राणं श्रेष्ठ्यगुणं

स्वाद्योऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्यन् । तथाहि—तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्र
म्यान्नायते—‘तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आतः
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ (तै० २।५) इति । अत उत्तरं पठति—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आह्वातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः । यत्कारणं प्रियं मोदः प्र
आनन्द इत्येते परस्परपेक्षया भोक्तृन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते । उपचयापच
च सति भेदे संभवतः । निर्भेदं तु ब्रह्म ‘एकमेवाद्वितीयम्’ (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः
चैते प्रियशिरस्त्वाद्यो ब्रह्मधर्माः कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः ‘आनन्दमयोऽभ्यास
(ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र । अपिच परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्य
न द्रष्टव्यत्वेन । एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम् । ब्रह्मधर्मास्त्वेतान्क
न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति । स च न्यायोऽन्येषु निश्चि
ब्रह्मधर्मेषुपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च । तेषु हि सत्यप्यु
स्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः । यथा
द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो ऽ
व्यवस्था च भवत्येवमिहापीति । उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्म
पपद्यते न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि । अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सा
प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

द्वयमविकल्पं ब्रह्माहमिति विशेषदर्शने सर्वभ्रमनिरासात् । तच्च विशेषदर्शनं यावद्भिः पदैर्भवति तावन्ति पदान्यु
व्याप्तीति भावः ॥ ११ ॥ ब्रह्मैक्याच्चेदानन्दत्वादिधर्माणां सर्वत्र प्राप्तिर्वाहि सगुणब्रह्मविद्यागतधर्मप्राप्तिरपि स्यादिति
निरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—प्रियेति । पुत्रदर्शनसुखं प्रियं तद्वार्तादिना मोदस्तस्य विद्याद्यतिशये प्रमोद इत्येवं तारतम्य
धर्मास्त्वद्वये ज्ञेये न प्राप्तवन्ति तेषामब्रह्मस्वरूपाणां ब्रह्मज्ञानानुपयोगादिति भावः । तेषां ब्रह्मधर्मत्वं चासिद्धमित्या
चैत इति । ब्रह्मणि चित्तावतारोपायत्वेऽपि तेषां प्राप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—एवमपीति । अज्ञेयत्वादेषां न ज्ञेये
प्राप्तिरित्यर्थः । किमर्थं तर्हि सूत्रमित्यत आह—ब्रह्मधर्मानिति । कृत्वाचिन्ताफलमाह—स चेति । ज्ञेये वा
णामनुपयोगादप्राप्तिरिति न्यायात्संयद्वामत्वादीनामप्राप्तिरिति सूत्रं व्याख्येयमित्यर्थः । ज्ञानानुपयोगेऽपि ध्याने तेषां धर्मो
योगादुपास्यब्रह्मैक्यात्प्राप्तिरन्योन्यविद्यासु स्यादित्याशङ्क्याह—तेषु हीति । ध्यानविधिपरतन्त्राणां धर्मोणां यथ

आनन्दगिरीयव्याख्या

ब्रह्मधर्माणां सर्वत्र संकरो सतीति यावत् । ब्रह्मधर्मैव तेषामसिद्धेत्याशङ्क्याह—तथाहीति । सूत्रेणोत्तरमाह—अत
तत्र प्रतिष्ठां विभजते—प्रियेति । हेतुं व्याकरोति—यदिति । इष्टवस्तुसामान्यासिद्धतं प्रीतिमात्रं प्रियम् । पुत्रा
बलाभकृतो हर्षविशेषो मोदः । स एव प्रकटः सन्प्रमोदः । सुखसामान्यमानन्द इत्येवमेते परस्परपेक्षयोपचयापच
भोक्तृभेदाच्च तथात्वभाजो जीवेषु सुखादिवैचित्र्यदृष्टेरित्यर्थः । तेषामेवैक्यरूपत्वोपलभ्येऽपि किमायातमित्याशङ्क्याह—उपचये
तर्हि ब्रह्मण्यपि भेदोऽस्तु नेत्याह—निर्भेदं स्थिति । अतो यत्र यत्र ब्रह्म प्रतिपाद्यं तव तत्र प्रियशिरस्त्वादीनां न प्राप्तिरिति
ब्रह्मधर्मत्वमेवामुपेत्योक्तं तदेव नास्तीत्याह—नचेति । आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे कथं तद्वर्माणामेवामब्रह्मधर्मत्वेत्याशङ्क्यानन्दमया
वृत्तं स्मारयति—कोशेति । इतश्च प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मत्वान्ये न प्राप्तिरित्याह—अपिचेति । अस्तु तर्हि चित्तावतारोपाय
सर्वत्र ब्रह्मत्वान्ये तत्प्राप्तिः, तत्राह—एवमपीति । तेषां ब्रह्मणि चित्तावतारोपायत्वेऽपि न ब्रह्मत्वान्ये सर्वत्र प्राप्तिर्द्रष्टव्यत्वे
देशात् । अब्रह्मधर्मत्वाच्च । चित्तावतारस्तु तत्र तत्रोक्तैरेव धर्मैः संभवान्नेषामुपसंहारं काङ्क्षतीत्यर्थः । अब्रह्मधर्मत्वेनेषामुपा
शङ्काभावादनर्थकमिदं सूत्रमित्याशङ्क्याह—ब्रह्मेति । कृत्वाचिन्ताफलमाह—स चेति । तत्रापि ब्रह्मैक्यात्मिकमित्यन्योन्यभ्रम
न स्यादित्याशङ्क्याह—तेष्विति । तेषां ध्यानार्थमुक्तानां विधिपारतन्त्र्याच्च यावद्गुणविशिष्टतयोपास्तित्विधीयते तत्र तावतामेव ऽ
नान्येषामित्यन्योन्यत्रानुपसंहार इत्यर्थः । उपास्यैक्ये कथमुपास्तिभेदो धर्मभेदो वेत्याशङ्क्याह—यथाचेति । विध्यपीनेऽ
विधिमतिक्रम्य संकरो नास्तीत्युपसंहारं नृपतिशब्दः । सगुणवर्तिगुणेऽपि ब्रह्मत्वविशेषादुपसंहारानुपसंहारमव्यवस्था, किं न
तत्राह—उपचितेति । सगुणनिर्गुणयोर्वैषम्यमुक्त्वा सूत्रे विधिवत् वदन्नपसंहारति—अतो मेति ॥ १२ ॥ विधिपरतन्त्रेणः सत्यकाम

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यं प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥



७ अधिकरणम्

सर्वा परम्पराशास्त्रेर्ज्ञेया पुरुष एव वा ॥ ज्ञेया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्तुर्बहूनि हि ॥ १ ॥

पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यन्नः श्रुतो महात् ॥ तद्वोपाय श्रुतोऽस्मादिवैच एकः पुमांस्ततः ॥ २ ॥

काठके हि पठ्यते—‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिः’ (क० ३।१०) इत्यारभ्य ‘पुरुषात् परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ (क० ३।११) इति । तत्र संशयः—किमिमे सर्वे एवार्थादियस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्त उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति । तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः । तथाहि श्रूयते—‘इदमस्मात्परमिदस्मात्परम्’ इति । ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपादादयिषितेषु वाक्य-भेदः स्यात् । नैष दोषः । वाक्यबहुत्वोपपत्तेः । बहून्येव हेतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहुविधया-परत्वेनोपेतान्प्रतिपादयितुम् । तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनमिति । एवं प्राप्ते भूमः—पुरुष

रत्नप्रभाध्याख्या

व्यवस्थेयर्थः ॥ १२ ॥ संयद्गमत्वादिधर्मैभ्य आनन्दादीनां वैषम्यं ज्ञानोपयोगित्वादित्याह—इतरे त्विति । सत्यज्ञानानन्दा-त्मब्रह्मशब्दाः पञ्च सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥ १३ ॥ आध्यानाय वाक्यभेदाभिदानवधारणात्संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे वाक्यभेदाद्विधाभेदः, सिद्धान्ते वाक्यैक्याद्विधैक्यमिति फलम् । पूर्वत्र ब्रह्मस्वभावानामानन्दादीनामुपसंहार्योणां ब्रह्म-ज्ञानफलोपायत्वमुक्तमत्रत्वब्रह्मस्वभावस्यार्थादिपरत्वस्यानुपसंहार्यस्य तदुपायत्वमुच्यत इत्येकफलकत्वं संगतिः । तत्तत्परत्व-विशिष्टत्वेनार्थादीनामपूर्वतया प्रतिपाद्यानां भेदाद्वाक्यभेदो न दोष इति पूर्वपक्षः । उत्सृज्यसिद्धान्तं प्रतिज्ञाय सौत्रं हेतुं व्याचष्टे—पुरुष एवेति । फलवत्त्वे सत्यपूर्वत्वात्पुरुषस्यैव प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वमफलादीनां परत्वं तु तच्छे-

भामतीव्याख्या

प्रकृष्टे मोदस्ताविमौ परस्परपेक्षावृत्तयपचयपचयौ ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति । किमत्र सर्वेषामेवार्थादीनां परत्वं प्रतिपादादयिषितम्, आहो पुरुषस्यैव तत्प्रतिपादनार्थं चेतरेषां परत्वप्रतिपादनम् । तत्र प्रत्येकमर्थादिपरत्वप्रतिपादनश्रुतेः श्रूयमाणतत्परत्वे च संभवति न तत्तदतिक्रमे सर्वेषामेकपरत्वाप्यवसानं न्याय्यम् । न च प्रयोजनाभावादसंभवः । सर्वेषामेव प्रत्येकं परत्वाभिधानस्याध्यानप्रयोजनत्वात् । तत्तदाध्यानानां च प्रयोजनवत्त्वमृतेः । तथाहि स्मृतिः—‘दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥ पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।’ इति । प्रामाणिकस्य वाक्यभेदस्याभ्युपेयत्वात् प्रत्येकं तेषामर्थादीनां परत्वपराण्येतानि वाक्यानीति प्राप्त उच्यते—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्येव तावत्संदर्भोऽस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरः प्रतीयते नाध्यानविधिपरः । तदश्रुतेः । तदत्र यत्प्रत्ययस्य साक्षात्प्रयोजनवत्त्वं दृश्यते तत्प्रत्ययपरत्वं सर्वे-षाम् । दृष्टं च विष्णोः परमपदज्ञानस्य निविलानर्थसंसारकारणाविद्योपशमः । तत्त्वज्ञानोदयरस्य विपर्ययोपशमलक्षणत्वेन तत्र तत्र

आनन्दगिरीयव्याख्या

देव्यो वस्तुधर्माणामानन्दादीनां ब्रह्मत्वत्वमित्युपयोगितया यत्र यत्र ज्ञेयं ब्रह्मोच्यते तत्र तत्र प्राप्तिरिति विशेषमाह—इतरेरेति । यः श्रेतं विशेषं विशदयति—इतरेरेति । ब्रह्मस्वरूपसिद्धयर्थमुच्यमानत्वमेवानन्दादीनां वैषम्यार्थं कथयति—प्रतिपत्तीति । उत्पलज्ञानानन्दत्वात्मत्वपूर्णत्वलक्षणाः पञ्च पदार्था ज्ञानाधिकारे सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति वक्तुमिति शब्दः ॥ १३ ॥ ब्रह्मस्वभावभू-तेषां ह्यर्थधर्मोक्त्यन्तरमस्वभावस्यानुपसंहार्यस्यार्थादिपरत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मप्रमित्युपायत्वं वदति—आध्यानायेति । विषयवाक्यं ऽति—काठक इति । वाक्यभेदाभिदानिर्धारणेनार्थादीनविकृत्य संशयमाह—तत्रेति । विधाभेदाभेदप्रसङ्गेन वाक्यभेदाभेदोक्त-वेक्यनविधाभेदाभेदयोर्वा चिन्तया वाक्यार्थधीहेतोरेव चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे वाक्यभेदाद्विधाभेदः । सिद्धान्ते तदभे-दाभेद इत्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । तत्र हेतुमाह—तथाहीति । पूर्वपक्षमाश्लिषति—नन्वेति । संभवत्येकवाक्यस्यैकत्वभेदो दोषोऽत्र तु वाक्यभेद एवेति समापत्ते—नेति । उपपत्तिमेवाह—बहूनीति । सर्वेषां प्रत्येकं परत्वोक्तिरफलेत्याहृष दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः’ इत्यादिस्तुतेर्ध्यानाद्वारा प्रत्येकं परत्वोक्तः सकलत्वसिद्धेरपूर्वार्थतया च प्रामाणिकस्यैकत्वभेदस्यैकत्वत्वलेकमर्थादीनां परत्वं प्रतिपाद्यमित्युपसंहर्ति—तथाहिति । पूर्वपक्षमनूय मृत्नाद्विधेव सिद्धान्तं प्रतिजा-ति—पुनरिति । पुरुषपरत्वस्य शक्तिविषयस्य तात्पर्यमस्त्ववर्थादिपरत्वानामपि शक्तिविषयत्वादपूर्वत्वाच्च तात्पर्यमेवार्थं किं न

एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति युक्तं न प्रत्येकमेवां परत्वप्रतिपादनम् । कस्मात् प्रयोजनाभावात् । नहीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा । पुरुषेतिन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थवातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः । तथा श्रुतिः—‘निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते’ (क० ३।१५) इति । अपिच परप्रतिषेधेन काष्ठशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति । आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः । सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः । यत्कारणम् ‘एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः’ (कठ० ३।१२) इति प्रकृतं पुरुषमात्रमेत्याह । अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते । तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति । तद्विज्ञानायैव ‘यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः’ (कठ० ३।१३) इत्याध्यानाविदधाति । तद्व्याख्यातम् ‘आनुमानिकमप्येकेषाम्’ (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र । एवमनेकप्रका

रहस्यप्रमाण्याख्या

षत्वेनोच्यत इत्यर्थः । किञ्च ‘पुरषात्र परं किञ्चित्सा काष्ठा’ इति वेदः परनिषेधलिङ्गेन सर्वबाधावधित्वलिङ्गेन च तात्पर्यं दर्शयन्पूर्वस्मात्पूर्वस्मादपरस्यापरस्य परत्वोक्तिसदर्थेति दर्शयतीत्याह—अपिचेति । अर्थादीनामत्रोक्तिराध्यतत्परत्वाध्यानपूर्वकं पुरुषदर्शनायैव स्वतः प्रयोजनाभावादिति सूत्रं योजयति—आध्यानायेति ॥ १४ ॥ आत्मदिलिङ्गे च पुरुष एव प्रतिपाद्य इत्याह—आत्मशब्दाच्चेति । किञ्च ‘तद्विष्णोः परमं पदं, पुरुषात्र परं किञ्चित्’ इकमोपसंहारयोरैककल्पान्कृतफलवदेकपुरुषपरत्वेनैकवाक्यत्वनिश्चये सति वाक्यभेदफलभेदकल्पना न युक्ता गौर

भासतीत्याख्या

दर्शनात् । अर्थादिपरत्वप्रत्ययस्य तु न दृष्टमस्ति प्रयोजनम् । नच दृष्टे संभवति अदृष्टकल्पना न्याय्या । नच परमपुरुषार्थहेतु संभवति अवान्तरपुरुषार्थतोचिता । तस्माद्दृष्टप्रयोजनवत्त्वात् पुरुषपरत्वप्रतिपादनार्थोऽयं संदर्भ इति गम्यते । किंचाद्रादमेवास्त्यर्थ इत्याह—अपिच परप्रतिषेधेनेति । नन्वत्राध्यानविधिर्नास्ति तत्कथमुच्यते आध्यानायेत्यत आह—आध्यानायेति ॥ १४ ॥ आत्मशब्दाच्च । अनधिगतार्थप्रतिपादनस्वभावत्वात्प्रमाणानां विशेषतश्चागमस्य, पुरुषशब्दाच्च आत्मनः स्वयं श्रुत्येव दुरधिगमत्वावधारणाद्वस्तुतश्च दुरधिगमत्वादार्थादीनां च सुगमत्वात्तत्परत्वमेवाध्यानादिपरत्वाभिधानस्थैत्यर्थं श्रुतेराशयातिशय इवाशयातिशयः । तत्तात्पर्येति यावत् । किञ्च श्रुत्यन्तरापेक्षिताभिधानादप्येवमेव । अर्थादिपरत्वे तु र

आत्मन्दिगिरीयव्याख्या

स्यादिति शङ्कते—कस्मादिति । तात्पर्यमयवनिमित्तफलभावाच्चाध्यानादिपरत्वानां तन्मेयतमि मत्वाह—प्रयोजनेति । कथं ? जनाभावोक्तिरित्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकसिद्धं शास्त्रसिद्धं वा फलमिति विकल्पार्थं निराह—नहीति । द्वितीयं प्रत्याह—श्रुचेति । प्रकरणस्यास्य वस्तुपरत्वदृष्टेरुपास्तिविधिपरत्वायोगात्परमपुरुषार्थहेतुतत्त्वधीपरत्वे च संभवतीन्द्रियाद्युपास्यधीनस्मृतिसिद्धावरुपमर्थपरत्वायोगात् प्रत्येकमार्थादिपरत्वसिद्धिरित्यर्थः । पुरुषस्य परत्वधीरपि न फलवती परत्वधीत्वादार्थादिपरत्वधीवदित्यनुमानात् त्वन्मतेऽपि पुरुषार्थहेतुफलवमित्याशङ्क्यानर्थशून्यतोपलक्षितानवच्छिन्नचिद्धातुविषयत्वात्पुरुषपरत्वदृष्टेरनर्थध्वंसफलत्वमनुभवसिद्धमित्यर्थः—पुरुषे त्विति । अज्ञानमिध्याधीशान्तेर्दृष्टफलत्वादुष्टे सत्यदृष्टकल्पना न युक्तेति मत्वाह—दृश्यते इति । विद्वदनुविप्रतिपन्नं प्रति पुरुषपरत्वदृष्टेर्दृष्टफलत्वे श्रुतिमाह—तथाचेति । इतश्चास्य संदर्भस्य सर्वस्मात्परत्वेन पुरुषप्रतिपत्तिपरत्वे—अपिचेति । पुरुषात्र परमिति निषेधलिङ्गेन सा काष्ठेति काष्ठाशब्देन बाधावधित्वेन परत्वोक्तिलिङ्गेन च पुरुषविषयमा तात्पर्यं दर्शयन्वेद इति यावत् । पूर्वापरप्रवाहोक्तिः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादपरस्यापरस्य परत्वोक्तिः । ध्यानविधेरिहाभावात्परपुरुषमिध्यानाथेता कथं स्मृतेत्याशङ्क्य सूत्रावयवं व्याचष्टे—आध्यानेति । निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तिरपि ध्यानार्था ब्रह्ममितित्वात्सगुणब्रह्ममिवदित्याशङ्क्य ततस्तु तमित्यादिश्रुतिविरोधमाह—सम्यगिति ॥ १४ ॥ सर्वस्मात्परत्वेन पुरुषस्यैवात्र प्रतिपाद्यत्वे हेत्वन्तरमाह—आत्मेति । सूत्रार्थं चशब्दं व्याकरोति—इतश्चेति । तदेव स्फुटयन्नात्मशब्दं विभजते—यदिति । आत्मनोऽप्रकाशमानस्वाभाविकमिति शङ्कां वारयति—दृश्यते त्विति । तस्यां श्रुतावेव आत्मत्वस्यार्थमाह—प्रकृतमिति । सूत्रगतपञ्चम्या विवक्षितार्थमाह—अतश्चेति । अवशिष्टपूर्वार्थस्यार्थमाह—तस्येति । उत्तरार्थतात्पर्यमाह—संस्कृतेति । चशब्दसूचितं हेत्वन्तरमाह—तदिति । वागादिनियमनमात्रं मन्त्रे प्रतीतं न तु ध्यानविधिरित्याशङ्क्याह—तत्राख्यातमिति । अज्ञातार्थज्ञापनस्वाभावाद्यगमस्यात्मनश्च श्रुत्यैव दुर्ज्ञानत्वोक्तैर्वस्तुतश्च तथात्वादार्थादीनां च सुगमत्वात्तेषां परत्वोक्तिरपि तत्पर्येवैत्यभिप्रेत्योपसंहरति—एवमिति

आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते नेतरेषु । अपिच 'सोऽध्वनः पारमामोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३।९) इत्युक्ते किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥ १५ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥



आत्मा वा इदमित्यत विराट् स्यादध्वनेश्वरः ॥ भूतासृष्टेश्वरः स्याद्वाष्पानयनाद्विराट् ॥ १ ॥
भूतोपसंहृतेरीशः स्यादद्वैतावधारणात् ॥ अर्थवादो गवाधुकिर्मन्नात्मत्वं विवक्षितम् ॥ २ ॥
द्वयोर्वैस्त्यन्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यपद्योः ॥ उभयत्र पृथग्वस्तु सद्भासभ्यामुपक्रमात् ॥ ३ ॥
साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः ॥ वाक्यशेषोपादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ॥ ४ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यार्थकिंचन मिषत्स ईक्षत लोकांस्तु सृजा इति' (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १।२) इत्यादि । तत्र संशयः—किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति । किं तावत्प्राप्तं न परमात्मे-
हात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति । कस्मात् । वाक्यान्वयदर्शनात् । ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात् । ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च । नेत्यु-
च्यते । लोकसृष्टिवचनात् । परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या

रत्नप्रभाख्या

त्याह—अपिचेति ॥ १५ ॥ आत्मगृहीतिः । मिषत् चलत् । लोकानाह—अम्भ इति । अम्भः खगः, मरीच-
यांस्तरिक्षलोकः, मरो मर्त्यलोकः, आपः पाताललोक इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य ब्रह्मणि सूत्रात्मनि च प्रयोगात्संशय-
माह—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे वाक्यस्य सूत्रोपास्तिपरत्वात्परब्रह्मधर्माणामानन्दादीनामैतरेयकेऽनुपसंहारः, सिद्धान्ते
ब्रह्मपरत्वादुपसंहार इति फलम् । पुरुषवाक्याद्देदप्रसङ्गादर्थादिवाक्यानां नार्थादिप्रतिपादकत्वमित्युक्तं तद्वदिहापि प्रजापते रेतो
देवा इति पूर्वस्मात्प्रजापतिवाक्याद्देदप्रसङ्गादात्मा वा इत्यादिवाक्यस्य न ब्रह्मपरत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—न पर-
मात्मेत्यादिना । वाक्यस्य प्रजापतौ तात्पर्यदर्शनादित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य लोकस्रष्टृत्वलिङ्गान् प्रजापतौ वाक्यान्वय

भामतीव्याख्या

ण निवक्षिते नापेक्षितं श्रुतिराचष्टे इत्याह—अपिच सोऽध्वनःपारमामोतीति ॥ १५ ॥ आत्मगृहीतिरितरवदु-
त्तरात् । श्रुतिस्मृत्योर्हि लोकसृष्टिः परमेश्वराधिष्ठिता परमेश्वरहिरण्यगर्भकर्तृकोपलब्धा सेयमिह महाभूतसर्गमनभिधाय प्रापमिकी
रोक्षस्रष्टृरुपभ्यामानावान्तरेश्वरकार्या प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणं चावान्तरेश्वरसंबन्धितया गमयति । पारमेश्वरसर्गस्य महाभूताका-
शादिवादस्य च तद्विपर्ययात् । अस्ति हि तद्वैकैकस्य विकारान्तरापेक्षयाग्रत्वमस्ति चक्षुषम् । अपि चैतस्मिन्नेतरेयके पूर्वपरिग्र-
हणं प्रजापतिकर्तृकैव लोकसृष्टिरुक्ता । तदनुसारादप्येतदेव विज्ञायते । अपिच ताभ्यो गामान्पदित्यादयश्च व्यवहाराः श्रुत्योक्ता
वेशेषवत्त्वरमात्मसुप्रसिद्धाः (?) । ततोऽप्यवान्तरेश्वर एव विज्ञायते । आत्मशब्दप्रयोगश्चात्रापि दृष्टस्तस्मादपरमात्मिलोपोऽयमिति
मात उच्यते—परमात्मनो गृहीतिरिह यथा इतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिषु । तस्मादुत्तरात् एव-

आनन्दगिरियव्याख्या

'एकमोपसंहारयोरैककृत्यादपि पुरुषपरत्वे तात्पर्यं संदर्भस्य सिद्धमित्याह—अपिचेति । 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'पुरुषाग्र परं
तत्त्वं' इत्युपक्रमोपसंहारयोरैककृत्यात्कलवति सर्वस्मात्परत्वे पुरुषस्य प्रतिपाद्ये सत्यवान्तरवाक्यानां तदेकवाक्यतायोगे वाक्यभेदादिक-
पने गौरवात्पुरुषपरत्वमेव संदर्भस्येति हेतुवन्तरमेव स्फोरयति—स इति । प्रमितिसितत्वाच्च पुरुषपरत्वे प्रमेयत्वाद्—किमिति ।
'योनामिन्द्रियाकर्षकत्वेन परत्ववत्परस्मिन्नात्मनि सर्वनियम्याकर्षकत्वेन परत्वं निश्चितमिति मत्वाह—इन्द्रियादीति ॥ १५ ॥
व्यभेदमयादर्थादीनां पृथक्प्रतिपाद्यत्वे प्रत्युक्ते देवादिकर्तृत्वेन प्रकृतापरब्रह्मणोऽन्यो लोकस्रष्टा यो नोपयो वाक्यभेदप्रमत्तादिग्याश-
वाह—आमेति । विषयवाक्यमुदाहरति—ऐतरेयक इति । आत्मशब्दस्य परत्र सूत्रे च प्रयोगात्तं विपर्यीकृत्य संशयमाह—
मेति । आत्मशब्दस्य वाक्यार्थज्ञानोपयुक्तस्य परमात्मविषयत्वोक्त्या सत्यत्वादीनां तत्प्रमित्युपयोगिनामुपसंहारसिद्धेरिति पादादि-
गतिः । आत्मशब्दस्यापरविषयत्वे तदर्थप्रमित्यर्थं पूर्वपक्षे सत्याद्यनुपसंहारः । सिद्धान्ते तस्य परविषयत्वे तत्प्रमित्यर्थं तदुपसंहार-
सम्प्रेत्य विवृण्व्य पूर्वपक्षयति—किमिति । परशब्दवाच्यत्ववदात्मशब्दवाच्यत्वमपि तस्यैव किं न स्यादित्याह—कस्यादिति ।
'मविषयवाक्यस्य सूत्रे तात्पर्यात्तदिहाऽत्राभीष्टा तत्र गुणोपसंहारोऽस्तीत्याह—वाक्येति । पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्वेति ।
प्रापमित्युक्तमेव हेतुद्वयोक्त्या प्रकटयति—प्रागिति । लोकस्रष्टृत्वलिङ्गाद्वाक्यान्वयः सूत्रविषयो न परमात्माभीत्याह—नेतीति ।
स्यापि लोकस्रष्टृत्वं सर्वकारणत्वादिति लिङ्गस्यान्यथासिद्धिमागङ्गवाह—परमात्मनीति । तत्कर्तृकसर्गस्याकाशादिमहाभूतादित्यादय

लोकसृष्टिस्त्रिधावाबुध्यते । लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः । तथाचाम्भःप्रभृतील्लोक-
नैव निर्गच्छीति—‘अदोऽम्भः परेण विषम्’ (ऐ० १।२) इत्यादिना । लोकसृष्टिश्च परमे-
ष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते । तथाहि श्रुतिर्भवति
‘आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः’ (बृ० १।४।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि ‘स वै शरीरी प्रथ-
म स वै पुरुष उच्यते । आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत’ इति । ऐतरेयिणोऽपि
‘थातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः’ इत्यत्र पूर्वस्मिन्प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विधि-
सृष्टिमामनन्ति । आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते—‘आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषवि-
(बृ० १।४।१) इत्यत्र । एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते । ईक्षणम
तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम् । अपिच ताभ्यो गामानयन्ताभ्योऽश्वमानयन्ताभ्यः पुरुषा-
नयन्ता अश्ववन्निष्येवंजातीयको भूयान्वयापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्धः ।
नृगम्यते । तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्म

रत्नप्रभाष्याख्या

इत्याह—नन्वित्यादिना । लोका एव महाभूतानीत्यत आह—लोकाश्चेति । लोकशब्दस्य महाभूतेष्वरूढत्वाद्
एव लोकाः । निर्ध्वचनाच्चेत्याह—तथाचेति । अम्भो मरीचीर्मरमाप इति सूत्रयित्वा स्वयमेव श्रुतिव्याचष्टे-
दिवं दिवः परस्तादिवि प्रतिष्ठितश्चन्द्राऽम्भसा व्याप्तो यो लोकः तदम्भः, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, या अथ
आप इति । ननु लोकसृष्टिरपीश्वरादेवास्तु नेत्याह—लोकेति । पुरुषविधो नराकारः । आत्मा हिरण्यगर्भः, आपिपीलि
सर्वमसृजतेत्यर्थः । भूतानां लोकानामित्यर्थः । प्रकरणादपि लोकसृष्टा प्रजापतिरित्याह—ऐतरेयिणोऽपीति ।
कार्यमिति यावत् । ब्रह्मलिङ्गानि प्रजापतौ योजयति—आत्मशब्दोऽपीत्यादिना । किंच प्रजाः सृष्ट्वा ताः प्रतिः
गामानयन्लोकसृष्टा तथाऽश्वमानयत् । तास्तु गवाश्वप्राप्त्या न तृप्तास्ततः पुरुषशरीरे आनीते ता अबुवंस्तृप्ताः स
अयं च व्यवहारो लोकसृष्टुः प्रजापतिवे लिङ्गमित्याह—अपिचेति । आत्मशब्दस्य चिदात्मनि मुख्यत्वान्मुख्यप्रां-
धकाभावादुत्तरस्येक्षणादेरनुकूलत्वात्परमात्मग्रहणमिति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । महाभूतसृष्टिपूर्वकं लोकानसृ-

भामतीव्याख्या

तेतीक्ष्णपूर्वकसृष्टवश्रवणादात्मैवधारणाच्च । एतदभिहितम्—मुख्यं तावत् सर्गात्प्राक्बलत्वमात्मपदत्वं सृष्टृत्वं च परमे-
श्वरतः । तदसत्यामनुपपत्तौ नान्यत्र व्याख्यातुमुचितम् । नच महाभूतसृष्ट्यनभिधानेन लोकसृष्ट्यभिधानमनुपपत्तिर्बीजम् ।
शापूर्विकायां वस्तुतो ब्रह्मणः सृष्टौ यथा कचित्तेजःपूर्वकसृष्ट्यभिधानं न विरुध्यते ‘एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’ इति दर्श-

आनन्दगिरियस्याख्या

चातथात्वदृष्टेः सूत्रस्य च लोककर्तृकतायाः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वान्नात्र परगृहीतिरित्यर्थः । लोकशब्देनात्र महाभूतानामेवोक्तेः सृष्टे-
महाभूतादिवमिष्टमित्याशङ्क्याह—लोकाश्चेति । महाभूतसंनिवेशविशेषे लोकशब्दस्य रूढत्वेऽपि प्रकरणादिह महाभूतान-
गृह्येरभित्याशङ्क्याह—तथाचेति । अम्भो मरीचीर्मरमाप इति सूत्रयित्वा स्वयमेव श्रुतिर्विबुधोति । अदस्तदम्भः परेण दिवं
परस्ताद्वैर्धुप्रतिष्ठो लोको दिवमारभ्योपरितनलोकाश्चान्द्रमसैरम्भोभिर्व्याप्तेरम्भःशब्दिता इत्यर्थः । अन्तरिक्षलोकः सवितुर्मरीचि-
र्मरीचयः । स्थानभेदाद्ब्रह्मूक्तिः । म्रियन्तेऽसिन्भूतानीति पृथिवील्लोको मरम् । याः पृथिव्या अधस्तात्ता आपः पातालानि तेषाम-
स्याद्विधेयापेक्षया स्त्रीलिङ्गत्वम् । एवमादिपदेन यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आप इति गृहीतम् ।
परमात्मैव सृष्टा किं न स्यात्, तत्राह—लोकेति । आत्मा हिरण्यगर्भः पुरुषविषत्प्रकारः शिरःपाण्यादिमान्भूतानां रश्मि-
कार्याणां चराचराणामिति यावत् । प्रजापतिकर्तृकैव लोकसृष्टिरित्येतत्प्रकरणादपि भातीत्याह—ऐतरेयिणोऽपीति । निय-
ध्यानन्तर्यमेवेत्युक्तम् । नियन्तृसृष्ट्यतिरेकेण तत्सृष्टेरकिञ्चित्करत्वमतःशब्दार्थः । किं तद्वेतो यस्य सृष्टिरित्येताशङ्क्याह—अग्रे
रेतो वीर्यं तत्कार्यत्वाद्देवास्तच्छब्दाः । वाक्यस्य तात्पर्यमाह—इत्यत्रेति । उपक्रमोपसंहारस्थाभ्यामात्मब्रह्मश्रुतिभ्यां परस्मिन्
कुतो लोकसृष्टृत्वलिङ्गेनापरब्रह्मसिद्धिः । श्रुतिभ्यां लिङ्गस्य दुर्बलत्वादित्याशङ्क्य लिङ्गस्यैव प्राधान्यमिति वक्तुं तयोरन्यथासिद्धिमा-
आत्मेति । ब्रह्मलोक इत्यादौ ब्रह्मशब्दस्यापि तस्मिन्प्रयोगोऽस्तीति वक्तुमपीत्युक्तम् । एक एवेत्येकत्वावधारणस्य प्रजापतावयोर-
रमात्रैवात्रात्मशब्दः स्यादित्याशङ्क्याह—एकत्वेति । अवधारणस्यैवं संभवेऽपि तस्मिन्निष्ठित्वायोगात्परस्यैवात्रोक्तिरित्याशङ्क्याह-
ईक्षणमिति । परस्मिन्नसंभावितविशेषदृष्टेरपि सूत्रस्यैवायमशब्देत्याह—अपिचेति । ईश्वरो हि करणाधिष्ठात्रीरद्वयादिदेवता वागपि
स्ततस्ता देवताः सोऽमवीचथायतनं यथाचक्षुरादिस्थानमसिन्देहं प्रविशतेति, तदाह—ताभ्य इति । उक्तश्रुत्यर्थं संगृह्णाति
एवमिति । इति सत्परात्मनो निर्देशः । लिङ्गप्रकरणसिद्धमुपसंहारति—तस्मादिति । सिद्धान्तसूत्रमतार्थं प्रतिष्ठां च

ब्देन गृह्यत इतरवत् । यथेतेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम् । यथा चेतारसिद्धौ किकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भविष्यतीति । यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।३।१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।३।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते भवेत्तत्र विशेषवत् आत्मनो ग्रहणम् । अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते 'स ईक्षत लोकान् सृजा इति' (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि । तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

वाक्यान्वयदर्शनात् परमात्मग्रहणमिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति । अत्रोच्यते—स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम् । कस्मात् । अवधारणात् । परमात्मग्रहणे हि प्रागुक्तचेरामैकत्वावधारणमाजसमवकल्पते । अन्यथा ह्यनाजसं तत्परिकल्पेत । लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि । यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययुजमेवमिहापि । श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति । योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः । न ह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुं तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात् । ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम् । तथा ह्यम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाद्र्यादीनां सृष्टिं शिष्टा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्वप्ना 'कथं न्विदं मदते स्यात्' (ऐ० ३।१।१)

रत्नप्रभाख्याख्या

तिर्याक्येयेति भावः ॥ १६ ॥ पूर्वपक्षबीजमनूय दूषयति—अन्वयादिति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति 'प्रज्ञानं' इति चोपक्रमोपसंहारस्यात्मब्रह्मश्रुतिभ्यामेकत्वावधारणात्प्रवेशादिलिङ्गैश्च लोकसृष्टत्वादिलिङ्गवाधेन प्रत्यग्रब्रह्म प्राप्तामिति वा । स परमेश्वरः । एतमेव सीमानं मूर्धः केशविभागावसानं विदार्य छिद्रं कृत्वा एतया ब्रह्मरन्ध्राख्यया द्वारा लिङ्गविशिष्टः प्रवि-

भामतीव्याख्या

काशं वायुं सृष्टेति हि तत्र पूरयितव्यमेवमिहापि महाभूतानि सृष्टेति कल्पनीयम् । सर्वशाखाप्रत्ययत्वेन ज्ञानस्य श्रुतिसिद्धयर्थं मधुतोपलब्धौ यत्नवता भवितव्यं न पुनः श्रुते महाभूतादित्वे सर्गस्य शैथिल्यमादरणीयम् । अपिच स्वाध्यायविष्यधीनग्रहणो वेदाराशि-रूपयन्विधायापादितप्रयोजनवदर्थमभिधानो यथा यथा प्रयोजनाधिक्यमाप्नोति तथा तथातुमन्यतेतरम् । यथा चास्य ब्रह्मगोचरत्वे परमपुरुषार्थोपयिक्तत्वं नैवमन्यगोचरत्वे तदिदमुक्तम्—योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगम इति । नच लोकसर्गोऽपि हिरण्यगर्भे व्यापारोऽपि तु तदनुप्रविष्टस्य परमात्मन इत्येवोक्तम् । तस्मादात्मैवाग्र इत्युपक्रमात्तद्व्यापारेण चेक्षणेन मध्ये परामर्शोदुपरिधास्य भेदजातं महाभूतैः सहातुक्त्य ब्रह्मप्रतिष्ठत्वेन ब्रह्मण उपसंहाराद्ब्रह्माभिलाषत्वमेवात्येति निश्चीयते । यत्र तु पुरुषविधादिश्रवणं आनन्दगिरीयव्याख्या

रोति—एवमिति । इहेतुदाहरणोक्तिः । दृष्टान्तमादाय व्याचष्टे—इतरवदिति । तस्य व्याख्यानंतरमाह—यथाचेति । परस्यैव विश्वसृष्टत्वं प्रागेकत्वमात्मत्वं च मुख्यं तदसत्यामनुपपत्तौ नान्यत्रानुमेयम् । लोकसृष्टिवचनेऽपि महाभूतसर्गस्य पूर्वसिद्धतया वक्तुं शक्यत्वादिति मत्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । आत्मब्रह्मशब्दयोरेक्ययासिद्धिं प्रत्याह—यथेति । सति बाधकेऽन्यार्थत्वेऽपि प्रकृते तदभावात्प्रत्युत साधकस्यैव सत्त्वात्परविषयत्वमेवेत्याह—अत्रेति । ईक्षणपूर्वकसर्गस्य परसिन्धुप्रसिद्धत्वे फलितमाह—तस्यादिति ॥ १६ ॥ पूर्वपक्षबीजमनूय दूषयति—अन्वयादिति । अनुवादं विभजते—वाक्येति । परिहारमवतारयति—अत्रेति । स्यादिति पदं पूरयित्वा व्याकरोति—भवेदिति । तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—कस्मादिति । अवधारणं विश्रुतेति—परमात्मेति । सृष्टग्रहेऽपि स्वविकारापेक्षया तदुक्तमित्याशङ्क्याह—आजसमिति । तदेव व्यतिरेकतः स्फोरयति—अन्यथेति । यच्च लोकसृष्टत्वलिङ्गादपरग्रहणं, तत्राह—लोकेति । श्रुत्यन्तरं तैत्तिरीयादिश्रुतिः । तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । हापीलेतरेत्योक्तिः । श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा महाभूतसृष्टिश्रोपसंहर्तुमशक्या वाक्यभेदादित्याशङ्क्याह—श्रुत्यन्तरेति । नहि तैत्तिरीयादिवाक्यमेतरेयवाक्यं च भिन्नं सृष्ट्यनुवादेनाविकृतब्रह्मविषयत्वाविशेषादित्यर्थः । यतु व्यापारवत्सत्वासु प्रसिद्धव्यापारविशेषस्यानुगमाम्भेदशेषवानेवावमात्मेति, तत्राह—योऽपीति । किंचाफले भेदे वेदस्याप्रामाण्याद्ब्रह्मपरत्वे च फलसंभवात्तदेव विवक्षितमित्याह—इतीति । गैर्वाच्यलोचनयानि ब्रह्मपरत्वमेवाव्यसंदर्भेऽस्येत्याह—तथाहीति । स परमेश्वर एतमेव सीमानं मूर्धः केशविभागा-

छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः । ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदकं तादात्म्योपदेश इत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उपक्रमतश्चादुपसंहारस्य तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते । तथा प्राप्तोऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत् । यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव । कस्मात् । उत्तरात्तादात्म्योपदेशात् । अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् । यदुक्तमुपक्रमान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावात्मात्मगृहीतिरिति तस्य कः परिहार इति चेत्सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः । अवधारणात् । तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादायिषया 'सदेव' इत्याह । तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते । अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत । तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः स्वाभावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते न तादात्म्यसंपादनायाम् । न चात्रोपक्रमतश्चोपन्यासो न्याय्यः । न ह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वास्ति । सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते

रत्नप्रभाख्याख्या

योपदेशः संपत्तिपरतया नेय इति पूर्वपक्षानिर्घर्षः । पूर्वत्र वाक्यैक्यादर्थोदितपरत्वं त्यक्त्वा विधैक्यमुक्तमिह तु सदात्मशब्दायां जाल्यात्मवाचिभ्यामुपक्रमभेदाद्वाक्यभेदे सति वियाभेद इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । न चात्मशब्दो जातिवाचकः, आत्मशब्दयैक्याजाल्याभावात्किंतु सर्वान्तरवस्तुवाचकः । कल्पितजातिवाचित्वेऽप्युपक्रमभेदः स्फुट एव सत्तात्मत्वयोर्भेदादिति मन्तव्यम् । सिद्धान्तयति—तथेत्यादिना । उपक्रमान्वयादिति । उपक्रममाधीनत्वादुपसंहारस्येत्यर्थः । तच्चावधारणं सत्येदमगृहीतौ सत्यां युज्यत इत्याह—तच्चेति । सदेकमेवेत्यवधारणं, अनेन जीवेनात्मनेति सदेवताकर्तृको जीवस्यात्मशब्देन परामर्शः, सुप्तौ जीवः सता संपन्नो भवतीति कथनं, भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति परिचोदना । पठितपदेन सत्ताश्रय उच्यते न जातिमात्रं, कर्तृवाचिशतप्रत्ययान्तत्वात् । तथा चोपक्रमे सत्ताश्रयसामान्योक्तौ क आत्म इत्याकाङ्क्षायां वाक्यशेषादात्मेति निश्चीयत इत्याह—नचेति । सच्छब्दस्यात्मानात्मसाधारण्यमुपेत्योक्तं तदपि नास्ति

भामतीव्याख्या

शरण्याते । नीतार्थोपक्रमानुरोधेन ह्युपसंहारवर्णना न पुनः संदिग्धार्थेनोपक्रमेणोपसंहारो वर्णनीयः । अपिच संपत्तौ कलं कल्पनीयम् । नच सामान्यमात्रे ज्ञाते विशेषज्ञानसंभवः । न सत्त्वाकारादृष्टे ज्ञाते शिंशपादुत्सद्विशेषो ज्ञाता भवति । तदेवमवधारणादि सर्वमात्मार्थत्वे स्यादनुपपन्नमिति छान्दोग्यस्यात्मावर्थत्वमेवेति सिद्धम् । अत्र च पूर्वमिदं पूर्वपक्षे हिरण्यगर्भोपासना सि-

आनन्दगिरियव्याख्या

त्वमिति शङ्कते—नन्विति । 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति तादात्म्योपदेशमङ्गीकरोति—सत्यमिति । तर्हि तदनुसारेणोपक्रमोऽपि नीयतामित्याशङ्क्याह—उपक्रमेति । स हि संदिग्धार्थो निश्चितार्थोपसंहारेण नीयते । प्रकृते तु तस्यासंदिग्धार्थत्वात्तदनुसारिण्युपसंहारे प्रतिमायां विष्णुदृष्टिवदात्मनि ब्रह्मदृष्टेरेष्टेत्येत्यर्थः । वाजसनेयिवाक्यं ब्रह्मात्मविषयं छान्दोग्यवाक्यं त्वात्मनि ब्रह्मदृष्टमिति विषाभेनोपसंहरति—इति मन्यत इति । अनुव्यावर्तया विषाभेदमनूय सिद्धान्तमाह—तथेति । तादात्म्योपदेशस्य गत्यन्तरमनूय दूषयति—अन्वयादिति । तत्रानुवादं विभजते—यदिति । उपक्रमान्वयात्तत्तत्रत्वादुपसंहारस्येति यावत् । उपक्रमोऽपि तर्हि सदेवेत्यवधारणादात्मानमेव गोचरयतीत्याशङ्क्याह—उपक्रम इति । तस्यादुपसंहारेऽपि न परमात्मातादात्म्यमात्मनो गृह्यते । नहि सच्छब्देनोपक्रमस्येनात्मोच्यते तस्य तस्मिन्नप्रसिद्धत्वात् । तथाच सतोऽनात्मनस्तादात्म्यसंपत्तिरात्मनि तत्त्वमसीति विवक्षितेत्याह—नामेति । परिहारमादत्ते—स इति । तत्र प्रतिज्ञां व्याचष्टे—भवेदिति । अवधारणादिति हेतुं विवृणोति—तथाहीति । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सच्छब्देनात्मानमग्रेऽपि सतः सर्वात्मत्वादविरुद्धमित्याशङ्क्याह—तच्चेति । उक्तमेव व्यतिरेकेण साधयति—अन्यथेति । प्रकारान्तरेण हेतुं व्याचष्टे—तथेति । एकमेवाद्वितीयमित्येकत्वावधारणम्, अनेन जीवेनात्मनेति जीवस्यात्मशब्देन परामर्शः, सति संपत्तेर्यादितत्त्वभावावपत्तिवचनं, भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति परिचोदना । हेतुजातस्योक्त्यः फलमाह—इति च सर्वमिति । यत्तुपक्रमतश्चेणोपसंहारेण भाव्यमिति, तत्राह—नचेति । अत्र च्छान्दोग्ये स आत्मेत्यादेरुपसंहारस्येति यावत् । तत्र हेतुः—नहीति । उपसंहारानुसारेणापि तर्हि नोपक्रमो नेयस्तयोर्भिन्नविषयत्वात्, तत्राह—सामान्येति । सच्छब्दस्य सत्तासामान्यवाचित्वेनात्मानात्मसाधारण्यविशेषाकाङ्क्षायामुपसंहारानुसारेणात्मैव तदर्थो निर्णीयते । संदिग्धार्थेनोपक्रमेणोपसंहारस्यानिर्णयादुपक्रमानुरोधेन्याससंदिग्धोपक्रमविषयत्वादित्यर्थः । उपक्रमोऽप्युपेत्य श्रुतिद्वयेऽपि वैधैक्येन विधैक्यमुक्तम् । संप्रत्युपक्रमभेदोऽपि

विशेषाकारक्षित्वात्सामान्यस्य । सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽसंभवत्यतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः । आन्नान्नवैषम्यमपि न इयमर्थवैषम्यमावहति । आहुर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्वर्शनात् । तस्मात्संजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥



अनन्नदुष्टाचमने विधेयं बुद्धिरेव वा ॥ उभे अपि विधीयते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥ १ ॥

स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्कार्थमनूय तत् ॥ अनन्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥ २ ॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमास्त्राय तस्यैवापो वास आनन्ति । अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—‘तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चापरिदधति’ (छा० ५।२।२) इति । वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—‘तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्य आचामन्त्यशित्वाचामन्येतमेव तदनमनन्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते’ (बृ० ६।१।१४) ‘तस्मादेविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनन्नं कुरुते’ इति । तत्र त्वाचमनमनन्नताच्चिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानन्नताच्चिन्तनमेवेति विचार्यते

रत्नप्रभाख्याख्या

आत्मपदवत्सत्पदस्य व्यक्तिवाचित्वाद्यतिशय बाधायोग्या चिदात्मैवेति न वाजिछन्दोगयोहपक्रमवैषम्यमिलाह—रद्भेदेति । वैषम्यमुपेक्ष्याह—आम्नानेति । वाजिवाक्ये त्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्तस्य लक्ष्यस्य प्रतिपादनं छान्दोग्यवा तदर्थस्य त्वमर्थपर्यन्तस्य प्रतिपादनमिति प्रकारभेदेऽपि वाक्यार्थैक्याद्वैक्यमिति फलितमाह—तस्मादिति ॥ **कार्याख्यानादपूर्वम् ।** ‘मे किमन्नं किं वासः’ इति प्राणेन पृष्टा वागादय ऊचुः, ‘यदिदं किं चाश्वभ्य आकृमिभ्यस्तमापो वासः’ इति सर्वप्राणिभिर्भुज्यमानं यदिदं प्रसिद्धं श्वादिपर्यन्तमन्नं तत्प्राणस्य तवान्नमाप आच्छादनमित्युपचिन्तनीयमित्यर्थः । शाखाद्वयेऽप्यविशेषश्रुतिमुक्ता विशेषश्रुतिभेदमाह—अनन्तरं चेति । तस्मादपां प्राणवक शिष्यन्तोऽन्नं कुर्वन्तः श्रोत्रिया एतत्कुर्वन्ति । किं तत्, भोजनात्पूर्वमूर्ध्वं चाचामन्तीति यत्तदङ्गिः प्राणं परिदधत् दयन्तीत्यर्थः । पूर्वोत्तराचमनसंबन्धिनीष्वप्सु प्राणवासस्त्वचिन्तनरूपमनन्नताध्यानं कार्यमिति भावः । तत् तस्मात्कार्यं यतः पूर्वं विद्वांसोऽन्ननात्प्रागूर्ध्वं चाचामन्त एतमेवानं प्राणं तत्तेनाचमनेनानन्नमाच्छादितं कुर्वन्तो मन्यन्ते यन्ति, तस्मादेवविदिदानीं तनोऽप्युपासक एवं कुर्यादिति वाजिश्रुत्यर्थः । अत्रोभयोरप्यपूर्वत्वात्संशयमाह—तत्किमि

भासतीत्याख्या

द्वान्ते तु ब्रह्मभावेनेति ॥ १६ ॥ १७ ॥ **कार्याख्यानादपूर्वम् ।** विषयमाह—छन्दोगा वाजसनेयिनश्च अननं प्राणनं अनः प्राणः तं प्राणमनन्नं कुर्वन्तः । अनन्नताच्चिन्तनमिति । मन्यन्त इति मननं ज्ञानं तद्व्यापनपर्यन्तं चिन्तनमुक्तम् । संशयमाह—तत्किमिति । खुरवमात्रेणापातत उभयविधानपक्षं गृहीत्वा मध्यमं पक्षमालम्बते पूर्वप

आनन्दगिरियव्याख्या

नास्तीत्याह—सच्छब्देति । आत्मारितिकस्य सर्वस्यानिर्वाच्यत्वादानात्मनः सच्छब्दार्थोऽसिद्धेरात्मन एव तदर्थत्वात्प्रोपक्रमभेदेत्यर्थः । यस्वान्नान्नवैषम्ये सत्यर्थसाम्यमयुक्तमिति, तत्राह—आम्नानेति । तद्वैषम्यस्यार्थभेदेनान्नवश्रमाव फलितमाह—रदिति । पर्वजातीयकेषु योऽयं विज्ञानमयः सदेव सोम्येदमित्यादिषु प्रतिपादनप्रकारभेदः समास्त्रानविशेषो वाजसनेयके वा न्वयित्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्तस्य च्छान्दोग्ये तदर्थस्य त्वमर्थपर्यन्तस्य लक्ष्यतया वाक्यार्थभेदाभावादकैवोभयत्रापि विधेया प्रतिपाद्येति ॥ १७ ॥ संदिग्धस्य सदुपक्रमस्य शेषान्निर्णयवदाचामन्तीति वतमानापदेशस्य विधित्वसंदेहे शेषादशिष्यन्नाचामेति विधिपरत्वं निर्णयमित्याशङ्क्याह—कार्येति । विषयं वक्तुमविगीतमास्त्रानं दर्शयति—छान्दोगा इति । यदिदं किं चाश्वभ्य आकृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमित्युक्त्वा तस्यैव प्राणस्यापो वासो वदन्तीति यावत् । छन्दोगानामविशेषास्त्रानमुक्त्वा विशेषमाह—अनन्तरं चेति । तस्मादपां प्राणं प्रति वासोरूपत्वादिति यावत् । अशिष्यन्तः श्रोत्रियाः सन्तोऽन्नं कुर्वन्तस्त्वावदेतत्कुर्वन्ति तद्भोजनात्पूर्वमूर्ध्वं चाङ्गिः प्राणं परिदधति परिधापयन्त्याच्छादयन्तीत्यर्थः । शाखान्तरेऽपि विशेषास्त्रानं कथयति—वाजसनेयिनस्त्विति । यस्मात्प्राणस्यापो वासस्तस्यादित्यस्मिन्नर्थे तच्छब्दः । विद्वांसः प्राणविधाबन्तस्तेषां यथेष्टचेष्टानिषेधार्थं श्रोत्रियपदं यतमेवानं प्राणं तत्तेनाचमनेनानन्नं वाससा परिहितं कुर्वन्तो मन्यन्ते चिन्तयन्तीत्यर्थः । काष्ठावानामास्त्रानविशेषमुक्त्वा मार्वादि यतमेवानं प्राणं तत्तेनाचमनेनानन्नं वाससा परिहितं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादिवदानीतं नामाह—तस्मादिति । यस्मात्पूर्वं प्राणविदः स्वयमाचामन्तः प्राणमनन्नं वाससा परिहितं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादिवदानीतं प्राणविदेवं कुर्यादित्यर्थः । पाठत्रयेऽप्यापातिकमर्थमाह—तत्र चेति । उभयोरपूर्वत्वमुपेक्षाह—सदिति । किंच वाक्यभेदप्रसङ्गं दृष्ट्वा तदेव विधेयमिति कल्पान्नं दृष्टव्यम् । दिनीयमपि विशेषान्नभक्षणप्राज्ञेया विकल्पयति—इतेति । तत्रापि प्रथमश्रुतत्वत्वात्

किं तावत्प्राप्तमुभयमपि विधीयत इति । कुतः—उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात् । उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्बिध्यहम् । अथवाचमनमेव विधीयते विरुपष्टा हि तस्मिन्विधिविभक्तिस्तस्मादेवं विद्विष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति । तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्रतासंकीर्तनमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते कार्याख्यानात् । प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्राय-
त्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते । नन्विद्यं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात् । नेत्युच्यते । विष-
यनानात्वात् । सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं प्रापयति । श्रुतिस्तु
प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात् । नच भिन्नविषययोः श्रुति-
स्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते । नचेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति
शक्यमाश्रयितुम् । पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अत एव

रत्नप्रभाख्या

दिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषाभिर्णयवदाचामन्तीति पदस्य विधित्वसंदेहे आचामेदिति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णय इति
श्रान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । ज्ञानसाधनोपासनाङ्गविधिविचारात्पादसङ्गतितर्क्या । पूर्वपक्षे प्राणवि-
ज्ञानत्वेनापूर्वाचमनं विहितमन्यत्रोपसंहर्तव्यमिति फलं सिद्धान्ते तस्याविधेयत्वाद्वाङ्मतेनोपसंहार इति विवेकः । उभयविधाने
अयमेदः स्यादित्युक्त्या पक्षान्तरमाह—अथवेति । प्रशस्तं हीदमाचमनं यस्मादनेन प्राणमननं मन्यन्त इति स्तुतिः ।
प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं विधेयमिति न्यायेन सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रयत्नस्य प्रयत्नवतो भावः प्रायत्नं शुद्धिस्तदर्थ-
मित्यर्थः । स्मृत्या शुद्ध्यर्थं कार्यत्वेन विहितसकलकर्माङ्गतयाप्राप्ताचमनानुवादेनापूर्वमनग्रताध्यानमेव विधीयत इति सूत्रार्थः ।
स्मार्तमाचमनं श्रुत्या नानूयते किं त्वनया श्रुत्या विहितं स्मृत्या नूयत इति शङ्कते—नन्वेति । श्रुतिस्मृत्योरनयोर्न मूलमूलि-
भावो भिन्नविषयत्वादिति परिहरति—नेति । ‘द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्’ इत्याद्या स्मृतिः । आचमनान्तरविधिमुपेत्य मूलमू-
लिखं निरस्तं संप्रति विधिरसिद्ध इत्याह—नचेयं श्रुतिरिति । अत एवेति आचमनविध्यभावादेवेत्यर्थः । अन्यु

भामतीव्याख्या

अथ वाचमनमेवेति । यद्येवमनग्रतासंकीर्तनस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—तस्यैव तु स्तुत्यर्थमिति । अयमभिसन्धिः—
यद्यपि स्मार्तं प्रायत्यार्थमाचमनमस्ति तथापि प्राणोपासनप्रकरणेऽविधानात्तदङ्गत्वेनाप्राप्तमिति विधानमर्थवद्भवति, अनृतवदनप्र-
विषे इव स्मार्तं ज्योतिषोपप्रकरणे समाग्रातो नातृत्वं वदेदिति प्रतिषेधो ज्योतिषोमाङ्गतयार्थवानिति । राक्षान्तमाह—एवं प्राप्त
ति । चोदयति—नन्विद्यं श्रुतिरिति । परिहरति—नेति । तुल्यार्थयोर्मूलमूलिभावो नानुत्यार्थेयोरित्यर्थः । अभिप्रायस्थं
तत्पञ्चनीयं निराकरोति—न चेयं श्रुतिरिति । कत्वर्थेपुरुषार्थेयोरनृतवदनप्रतिषेधोयुक्तमपानरुच्यम् । इह तु स्मार्तमाच-
न सकलकर्माङ्गतया विहितं प्राणोपासनाङ्गमपीति व्यापकेन स्मार्तमाचमनविधिना पुनरुक्तत्वादनर्थकम् । नच स्मार्तस्यानेन
निरुक्त्यं तस्य च व्यापकत्वादितस्य च प्रतिनियतविषयत्वादिति । मध्यमं पञ्चमपाकृत्य प्रथमपञ्चमपाकरोति—अत एव च नोभय-

आनन्दगिरीयव्याख्या

यमो विकल्पो दृष्टिविषयसंपादनेनाचमनस्यानग्रताचिन्तनशेषत्वं मत्वा द्वितीय इति भेदः । अत्र पाठत्रयेऽपि प्राणविद्याङ्गमनग्रता-
रन्तनमेकमेव विधेयमिति चिन्ताया वाक्यार्थज्ञानसाधनगामित्वात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे द्वयोर्विधेयत्वाद्वाक्यभेदोऽन्यतरविधावप्या-
मनस्यैव विधेयत्वाद्विशेषविषयस्य नस्यान्यत्रोपसंहारः । सिद्धान्ते त्वनग्रताचिन्तनस्यैव विधेयत्वाद्वाक्यभेदोऽन्यतरविधावप्या-
नोपसंहारितिरित्यस्तीकृत्य विमृश्य पूर्वपक्षमाह—किमिति । गौरवादुभयविधानमयुक्तमिति शङ्कते—कुत इति । कर्तव्यत्वेन द्वयोरपि
तात्पर्यगम्यत्वाच्च गौरवमित्याह—उभयस्येति । गम्यमानत्वमात्रेण तात्पर्यगम्यतया विधेयत्वमितिप्रसक्तमित्याशङ्क्याह—उभय-
मेति । नच स्मृत्याचारसिद्धत्वात्पूर्वत्वं तयोरेतद्वाक्यमूलत्वात् । नच सामान्यविशेषतया श्रुतिस्मृत्याचार्याणां न मूलमूलिता
गामन्यसिद्धान्तवदननिषेधस्य क्रतुगामितया विधिवदाचमनस्यापि प्रसिद्धस्यैव प्राणविद्यायोगित्वेन विधानाद्वाक्यभेदप्रसङ्गस्य चोपरिधा-
नविधिवदोपत्तादिति भावः । न युक्तो वाक्यभेदः सत्यां गतावित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह—अथवेति । तत्र हेतुः—विरुपष्टेति ।
तर्हि किमर्थमनग्रतासंकीर्तनं, तत्राह—तस्येति । महाई हीदमाचमनं यदनेन प्राणोऽनग्रतः स्यादिति स्तुतिस्तस्याद्विधेयं विशेषविषय-
माचमनमन्यत्र चोपसंहर्तव्यमित्यर्थः । सिद्धान्तयति—एवमिति । तत्र हेतुमादाय व्याचष्टे—कार्येति । प्रयत्नस्य प्रयत्नवतो भावः
प्रायत्नं शुद्ध्यर्थं तदर्थं स्मार्तमाचमनमनूयत इत्युक्तमाक्षिपति—नन्वेति । स्मृत्योः श्रुतिमूलत्वेन प्रामाण्यादुक्तश्रुतिमूलैव सा । नच
स्मृतिसिद्धोऽर्थः श्रुत्या नूयते वैपरीत्यापचैरित्यर्थः । भिन्नविषयत्वान्मूलमूलिभावो नानयोरित्याह—नेति । विषयभेदं विशदयति—
सामान्येति । भिन्नविषयत्वे फलितमाह—नचेति । अर्थकत्वाभावेऽपि तद्विधेतिप्रसङ्गादित्यर्थः । आचमनान्तरविधानमुपेत्य
मूलमूलिभावो निरस्तः संप्रति तदपि नास्तीत्याह—नचेति । नच स्मार्ताचमनस्य श्रुत्यानुवादे वैपरीत्यं त्रिराचामेदित्यादिश्रुति-
सिद्धस्यैव सामान्याचमनस्यानुवादादिति मत्वा हेतुमाह—एवमेति । अनृतवादननिषेधस्य पुरुषार्थतया विहितस्यापि कत्वर्थेना-

च नोभयविधानम् । उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत । तस्मात्प्राप्तमेवाशिषितामशितवचोभयत आचमनमनूय 'एतमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) इति प्राणस्याश्रुताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनापूर्वं उपदिश्यते । चायमनग्रतावाद् आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम् । आचमनस्याविधेयत्वात् । स्वयं चानग्रसंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः । न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताऽभ्युपगता भवति प्रायस्यार्थपरिधानार्थता चेति । क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात् । क्रियान्तरमेव ह्याचमनं नाम प्रायस्यार्थपुष्याभ्युपगम्यते तदीयासु त्वप्सु वासःसंकल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम् । अपिच 'यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्न' (बृ० ६।१।१४) इत्यत्र तावन्न सर्वांश्चाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम् । अशब्दत्वादशक्तत्वाच्च । सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते तत्साहचर्याच्चापो वास इत्यत्रापि नापाचमनं चोद्यते प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम् । न ह्यर्धवैश

रत्नप्रभाष्याख्या

प्राणवासस्त्वध्यानाख्यः संकल्पः प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयत इत्याह—तस्मादिति । स्वयं चेति अपूर्वत्वादित्यर्थः । विनियुक्तस्याचमनस्य प्राणाच्छादनार्थत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—न चैवं सतीति । आचमनस्याच्छादनार्थत्वमसिद्धमि किंच यथा पूर्ववाक्ये प्राणस्यान्नध्यानमङ्गं विहितं तथात्राप्यु वासोऽध्यानं विधीयते, अन्यथाचमनविधौ पूर्वत्र ध्यानविधिरिति विधिरित्यर्धवैशसं स्यादित्याह—अपिचेति । भक्षयेदिति शब्दाभावाच्छाद्यन्नस्य सर्वस्य मनुष्येणोपासकेन ।

भामतीव्याख्या

विधानम् । युक्त्यन्तरमाह—उभयविधाने चेति । उपसंहरति—तस्मात् प्राप्तमेवेति । न चायमनग्रत इति । स्तोत्रव्याभावे स्तुतिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । अपिच मानान्तरप्राप्तेनाप्राप्तं विधेयं स्तुयेत । न चानग्रतासंकल्पोऽन्यतः यतः स्तावको भवेत् । न चाचमनमन्यतोऽप्राप्तं येन विधेयं सस्तुयेतेत्याह—स्वयं चानग्रतासंकल्पस्येति । अपि कर्मण एकार्थत्वेत्युचितं तस्य बलवत्प्रमाणवशादनन्यगतिरिति सत्यनेकार्थता कल्प्यते । संकल्पे तु कर्मान्तरे विधीयमाने न इत्याह—न चैवं सत्येकस्याचमनस्येति । अपिच दृष्टिचोदनासाहचर्यादृष्टिचोदनैव न्याय्या न चाचमनस्याह—अपिच यदिदं किंचेति । यथा हि श्वादिमर्यादस्यान्नस्यानुपसक्यत्वादन्नदृष्टिश्चोद्यते एवमिहाप्यप्रां परिधानारदृष्टिरेव चोद्यत इत्यन्नदृष्टिर्विधासाहचर्याद्रूप्यते । अशब्दत्वं च यद्यपि दृष्टव्यवहारयोस्तुत्यं तथापि दृष्टिः शान्ददृश्यनान्तरीसाक्षाच्छब्देन क्रियमाणोपलभ्यते । अम्यवहारस्त्वध्याहरणीयः कथंविधेयतामात्रेणेति विशेषः । किंच छान्दोग्यानां वाजस

आनन्दगिरीयव्याख्या

प्राप्तस्य विधानमविरुद्धमाचमनस्य तु सर्वकर्माङ्गतया विहितस्य प्राणोपास्यङ्गत्वमपि सिद्धमिति पुनर्विधानानर्थक्यमिति । आचमनस्य प्रकृते विधानाथोगं हेतुकृत्यायं पूर्वपक्षं प्रत्याह—अत एवेति । युक्त्यन्तरमाह—उभयेति । न चोपरिधारणानानात्वमदोषः संभवत्येकवाक्यत्वे तद्भेदस्यानिष्टत्वादिति भावः । तर्हि किमिह विधेयं तदाह—तस्मादिति । अनुवादं हेतुः प्राप्तमिति । अनग्रताकृतिसंकल्पे विधित्सिते कृतमनुवादेनेत्याङ्क्याह—आचमनीयास्विति । प्राणविद्याधिकारे चेदनग्रता विधीयते कथं वाक्यभेदेन न स्यादित्याशङ्क्याह—प्राणेति । तस्य विधियोग्यत्वं सूचयति—अपूर्वं इति । एतेनापूर्वमि व्याख्यातम् । यत्वनग्रतासंकीर्तनमाचमनस्तुत्यर्थमिति, तत्राह—नचेति । स्तोत्रविधेयाभावे स्तुतिर्युक्त्यर्थः । किंच विधेप्राप्तेन स्तुयते न चानग्रतासंकल्पोऽन्येन प्राप्ते येन स्तावकः स्यान्न चान्यतोऽप्राप्तमाचमनं येन विधेयतया स्तोत्रव्यमित् स्वयं चेति । शुद्धयर्थं विनियुक्तस्यैवाचमनस्य प्राणपरिधानार्थत्वं विनियुक्तविनियोगविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—नचेति । कर्मणः स्यादेकार्थत्वेत्युत्तरादिसति बाधके तदनेकार्थत्वासिद्धेः संकल्पविधिपरत्वमेव वाक्यस्येत्याह—क्रियेति । हेतुमेव साधनक्रियान्तरमिति । वासःसंकल्पक्रियातो भेदादाचमनस्य क्रियान्तरत्वं संकल्पस्यापि परिधानार्थस्याचमनादन्यत्वात्तथात्वमेवं वि सत्युत्सर्गस्य भङ्गो नास्तीत्याह—इत्यनवद्यमिति । किंच दृष्टिचोदनासाहचर्यादिहापि सैव युक्ता नाचमनचोदनेत्याह—अपि सर्वांश्च भक्षणमेवात्रापि चोद्यते न दृष्टिरित्याशङ्क्याह—अत्रेति । दृष्टिवाचकाभावं हेतुमाह—अशब्दत्वादिति । अन्नशब्दवः वहरणं भातीत्याशङ्क्याह—अशक्यत्वाच्चेति । नहि श्वादिमर्यादं सर्वमन्नमेकानातुं शक्यं भक्ष्याभक्ष्यविधिविरोधात् । प्राणविद्यादसामर्थ्यविरोधसमाधानं तु सर्वांश्चानुमत्यधिकरणे निरस्यमिति भावः । अशब्दत्वस्य दृष्टेरिति तुल्यत्वादभ्यवहारणवदविधेयत्वा नान्तरीयकतया दृष्टेः शब्देन क्रियमाणत्वादभ्यवहारणस्य तज्जन्यत्वज्ञाप्यत्वयोरभावादनुपपत्तिकक्षानस्य दृष्टिविधेरेव तच्छान्तानन्दतद्विधानमेवैतदित्याह—सर्वं त्विति । तथापि प्रकृते संकल्पविधौ किमायातं तदाह—तदिति । प्रकरणविरोधाद्वाक्यस्य विधिपरत्वाभावे किपरत्वं तदाह—प्रसिद्धास्विति । अस्त सर्वांश्च वाक्ये दृष्टिविधिराचमनवाक्ये तु क्रियैव चोद्यते, त

संभवति । अपिचाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वाभावात् शब्दो विधिक्षमः । ननु मन्यन्त इत्यपि समानं वर्तमानापदेशित्वम् । सत्यमेवमेतत् । अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासः संकल्पनमेवापूर्वं विधीयते नाचमनं पूर्ववद्धि तदित्युपपादितम् । यदप्युक्तं विरूपष्टा चाचमने विधिविभक्तिरिति तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम् । अत एवाचमनस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति नामनन्ति तस्मादेवं विदित्यादि । तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठ आचमनानुवादेनैव विवृत्तमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयत इति प्रतिपत्तव्यम् । योऽप्ययमभ्युपगमः कच्चिदाचमनं विधीयते कच्चिद्वासोविज्ञानमिति सोऽपि न साधुः । आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात् । तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते नाचमनमिति न्याय्यम् ॥ १८ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥



शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा ॥ द्विरुक्तेरेकशाखायां द्विविधमिति गम्यते ॥ १ ॥
एका मनोमयत्वादिसत्यमिज्ञानतो भवेत् ॥ विद्याया विधिरैकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः ॥ २ ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—
'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः । तस्मामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा ग्रीहिर्वा यद्यो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किंच' (बृ० ५।६।१) इति ।

रत्नप्रभाख्या

तत्रैकत्वाच्च न पूर्ववाक्ये क्रियाविधिरित्यर्थः । इतश्चाचमनमत्र न विधेयमित्याह—**अपिचेति** । अनग्रं मन्यन्त इत्यत्र वासः स्वध्यानमपि न विधेयं दोषसाम्यादिति शङ्कते—**नन्विति** । उभयोरप्यनुवादत्वे वैकल्यादवश्यमेकानुवादेनैकं विधेयं तच्च विधेयं वासोध्यानमेव वासः कार्यस्यानग्रत्वाख्यानादपूर्वत्वाच्चेति समाधानार्थः । पूर्ववदिति स्मृत्या प्राप्तमित्यर्थः । आचामेदिति विधिः किंतु विष्णुरुपांशु यष्टव्य इतिवदनुवाद इत्यत्र लिङ्गमाह—**अत एवेति** । तस्मादेवं विदशिष्यप्राचाभेदशित्वा चाचामेदिति वाक्यस्याविधित्वे काण्वैरपठनं लिङ्गमित्यर्थः । तर्हि पाठवलान्माध्यंदिने आचमनविधिः काण्वे ध्यानविधिरिति कस्यचिन्मतं नेराकरोति—**योऽपीति** ॥ १८ ॥ **समान एवंचाभेदात्** । शाण्डिल्येन दृष्टा तन्नाम्नाऽङ्किता, अन्तर्हृदये श्रोत्रादिवत्सूक्ष्म-
लक्षणीत्यर्थः । अभ्यासप्रत्यभिज्ञाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति** । गुणानुपसंहारोपसंहारां पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । पूर्वत्र प्राप्ताच-

भामतीव्याख्या

आचमने प्रायेणाचामन्तीति वर्तमानापदेशः एवं यत्रापि विधिविभक्तिस्तत्रापि जर्तिलयवाभावाद् बहुयादितिनविधिवमविवक्षितम् ।
न्यत इति त्वत्प्राप्तार्थत्वात्समिधो यजतीत्यादिनद्विधिरिवेत्याह—**अपिचाचामन्तीति** । शेषमनिरोहिनार्थम् ॥ १८ ॥ **समान एवं चाभेदात्** । इहाम्यासाधिकरणन्यायेन पूर्वः पक्षः । द्वयोर्विद्याविधोरैकशालागतयोस्तुष्टमाणाविशेषतया कस्त्र कोऽनु-
द इति विनिश्चयाभावाद्ज्ञातज्ञानाप्रवृत्तप्रवर्तनारूपस्य च विधित्वस्य स्वरससिद्धेरभयत्रोपासनाभेदः । नच गुणान्तरविधानाधिक-
नुवाद उभयत्रापि गुणान्तरविधानोपलब्ध्यर्थे विनिगमनाहेत्वभावात्समानगुणानभिधानप्रसङ्गाच्च । तस्मात्समिधो यजतीत्यादिवदभ्यासा-

आनन्दगिरियव्याख्या

हीति । इतश्चाचमने विधिरत्र नास्तीत्याह—**अपिचेति** । तर्हि चिन्तनमपि न विधेयं दोषसाम्यादित्याह—**नन्विति** । आचमन-
यन्तनयोर्वर्तमानापदेशमङ्गीकरोति—**सत्यमिति** । तर्हि द्वयोरविधेयत्वमित्याशङ्कशानुवादमात्रस्याकिंनित्करत्वादन्यतरविधेरावश्यकत्वे
कल्पनमेव विधेयमिति विधान्तेरेषां सृजं योजयति—**अवश्येति** । तत्र हेतुत्वेनाचमनस्यान्यतः प्राप्तिमुक्तं सारयति—**पूर्ववदिति** ।
रूपक्षयीजमनुभाष्य दूषयति—**यदपीति** । पूर्ववत्त्वेनापूर्ववत्त्वाभावेनेति यावत् । तत्र श्रुता विधिविभक्तिनग्रतासंकल्पेन नया, जर्ति-
यवाभा जुहुयादिति वदविवक्षितं वा विधित्वमिति भावः । आचमनस्याविधेयत्वे लिङ्गान्तरमाह—**अत इति** । तर्हि पाठावयवार्थं
ध्यादिनानामाचमने विधिरिष्यतामित्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरानुसारेण तत्रापि चिन्तनमेव विधेयमित्याह—**तस्मादिति** । एवंविदमेवे-
कं व्यनक्ति—**प्रकृतेति** । यदाचाभेदित्यनुष तदेवंविदिति वेदनमेव विधीयत इत्यर्थः । शाखाभेदेनोदितानुदितशोमवदुभयमपि
धेयमित्येकदेशिमतमाशङ्क्याह—**योऽप्ययमिति** । एकीयव्यवसायोगे कलितमाह—**तस्मादिति** ॥ १८ ॥ पूर्वत्र प्राप्ताचमनानु-
देनानग्रताचिन्तनं विधेयमित्युक्तम् । इह तु वाक्ययोः कस्य विधित्वं कस्य वानुवादत्वमित्यनिश्चयाद्द्वयोरपि विधाविधित्वमाश-
याह—**समान इति** । शाण्डिल्यविद्यामुदाहरति—**वाः सत्यमिति** । शाण्डिल्येन दृष्टेति तन्नाम्नाऽङ्किता चिद्धिता विशेषिता

तत्र संशयः—किमियमेका विद्याभिरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्चोत द्वे इमे वि
गुणानुपसंहारश्चेति । किं तावत्प्राप्तम् । विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति । कुतः—पौनरुक्त्यप्र
ज्ञात् । भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विधैकत्वमध्यवसा
कत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंहियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम् । एकस्यां पुनः शाखायाम्
तृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्यैका विद्या भवितुमर्हति । न चा
कमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति । तदा ह्यतिरि
एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्न समानाः । समाना अपि तृभयत्रास्मान्यन्ते मनोमयत्वाद्य
तस्मान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति । एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विधैकत्वं गु
पसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति । उपास्याभेदात् । तदेव हि ब्रह्म म
मयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमः । उपास्यं च रूपं विद्यायाः । नच वि
माने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः । नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम् । ननु पौनरु
प्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः । नेत्युच्यते । अर्थविभागोपपत्तेः । एकं ह्याम्नानं विद्याविधाना
मपरं गुणविधानार्थमिति न किञ्चिन्नोपपद्यते । नन्वेवं सति यदपठितमभिरहस्ये तदेव बृहद्
ण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि । यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि तत्र पठितव्या

रत्नप्रभाष्याख्या

मनानुवादेनानमताध्यानविधिरुक्तः । इह त्वेकशाखायां विप्रकृष्टदेशस्थवाक्ययोरेकस्य विधित्वमन्यस्यानुवादत्वमित्यभि
शोरपि विद्याविधित्वमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । यत्पुनरुक्तं, तद्विद्यान्तरमिति न व्याप्तिः
श्चाभ्यादिविद्यासु व्यभिचारादित्याशङ्क्य शाखाभेदे पुनरुक्तिसिद्धेत्युक्तमित्याह—भिन्नास्विति । यथाऽभिहो
कर्मविधिः, 'दध्ना जुहोति' इति वाक्ये गुणविधित्वात्प्राप्त्यस्तु न विद्याभेदे इत्याशङ्क्याह—नचात्रैकमिति ।
णानां पुनरुक्तिवृत्त्या स्यादतोऽभ्यासाद्विद्याभेदः प्रयाजभेदवदिति भावः । उक्तगुणोक्तिर्न वृथा कतिपयगुणविशिष्टोपासा
त्यभिज्ञानार्थत्वात्तद उपास्यरूपाभेदाद्विभक्तशाखास्विव समानशाखायामपि विधैक्यमिति सिद्धान्तसूत्रं योजयति—य
सौत्रश्वकारोऽप्यर्थो व्याख्यातः । यत्र बहवो गुणाः श्रुतास्तत्र प्रधानविधिरन्यत्र तदनुवादेन गुणविधिरिति निश्चय

भामतीव्याख्या

दुपासनभेद इति प्राप्त उच्यते—ऐककर्म्यमेकत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् । न चागुह्यमाणविशेषता यत्र भूयांसो गुणा यस्य कर्मणो वि
तत्र तस्य प्रधानस्य विधिरितरत्र तु तदनुवादेन कतिपयगुणविधिः । यथा यत्र छत्रचारणपताकाहास्तिकाश्वीयशास्त्रीकयादी
ष्ककापीणिकप्रसक्तिकपदातिप्रचयस्तत्रास्ति राजेति गम्यते न तु कतिपयगजवाजिपदातिभाजि तदमात्रे, तथेहापि । न चैकत्र
तानां गुणानामितरत्रोक्तिरनर्थिका प्रत्यभिज्ञानादावर्थात्त्वात् । अस्तु वास्मिन्नित्यानुवादो नह्यनुवादानामवश्यं सर्वत्र प्रयोजनव

आनन्दगिरीयव्याख्या

विधिति यावत् । एतरस्यां शाखायां देशभेदेन कृतां विधां विषयीकृत्याभ्यासात्प्रत्यभिज्ञानाच्च संशयमाह—तत्रेति । अत्र च वि
दादिनिरूपणद्वारा वाक्यार्थधीप्ताधनस्यैव निरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे पौनरुक्त्यपरिहाराय विद्याभेदाद्गुणानुपसंहारः । वि
विधैक्येऽप्यपौनरुक्त्याद्गुणोपसंहार इति मत्वा विमृश्य पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । गौरवदुष्टं विधानानात्ममुक्तमित्य
कुत इति । प्रामाणिकं गौरवमदूषणमिति मत्वाह—पौनरुक्त्येति । विद्याभेदे पौनरुक्त्यमभ्यासं भिन्नशाखासु विधै
पौनरुक्त्यदृष्टेरित्याशङ्क्याह—भिन्नास्विति । अध्येतृभेदेन शब्दपौनरुक्त्यं वेदितृभेदेन चार्थपौनरुक्त्यं परिहितं । शाखाऽ
देशभेदोक्तविधाफलार्थिनां प्रतिपत्तत्वात्तत्तद्वाक्याध्येतृत्वाच्चापौनरुक्त्यमित्याशङ्क्यैकशाखाध्ययनस्य नित्यविधित्वेनैव प्राप्तत्वं
त्याह—एकस्यामिति । अग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र सिद्धं जुहोत्यर्थमनूष दध्ना जुहोतीतिगुणविधिविहापि स्यादित्यपौनरुक्त्य
ज्ञ्याह—नचेति । द्वयोर्दृष्टविशेषतया विधित्वानुवादात्त्वानिश्चयात्तुल्यगुणोक्तिवैयर्थ्याच्च नेवं व्यवस्थेत्याह—तदेति । अपौनरु
विद्याभेदाद्गुणानुपसंहार इत्युपसंहरति—तस्माच्चेति । उक्तमनूष सिद्धान्तयति—एवमिति । क्रियापदेनेतिशब्दस्य संबन्ध
हेतुमादाय व्याकरोति—उपास्येति । तदैक्ये गम्यमानेऽपि न विधैक्यं तदैक्ये हेत्वभावादित्याशङ्क्य रूपाभेदो हेतुरित्याशङ्क्या
उपास्यं चेति । तस्य हेतुत्वमेव स्फुटयति—नचेति । प्रत्यभिज्ञाविरोधादित्यर्थः । विधैक्ये फलितमाह—नापीति । गु
वस्थानमध्यवसातुं शक्नुम इति संबन्धः । अध्येतृवेदितृभेदाभावात्पौनरुक्त्यमुक्तं सारयति—नन्वेति । अभेदसंभवात् पौन
मित्याह—नेतीति । अदृश्यमानविशेषतया कस्य कोऽनुवाद इत्यनिश्चयान्नार्थविभागसिद्धिरित्याशङ्क्य यत्र भूयांसो गुणा विं
तत्र प्रधानविधिरन्यत्र तदनुवादेन गुणविधिरिति विभागमभिप्रेत्याह—एकं हीति । तुल्यगुणोक्तिवैयर्थ्यमुक्तं सारयति—नन्वेति
बृहदारण्यके प्रधानविधिरभिरहस्ये गुणविधिरित्येवं विभागे सतीति यावत् । प्रत्यभिज्ञादार्थार्थं तुल्यगुणोक्तिरन्वतीत्याह—ने

त्रैष दोषः । तद्वलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात् । समानगुणान्नेनेन हि वि-
प्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते । अन्यथा हि कथं तस्या-
मयं गुणविधिरभिधीयते । अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य
नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्वलेन प्रत्यभिज्ञोपोदितुं शक्यते । तस्मादत्र समानाया-
मपि शाखायां विधैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥



संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाज्ञोऽहरहं त्विति ॥ विधैकत्वेन संहारः स्याद्व्यवस्थाविधैक्योः ॥ १ ॥
तस्योपनिषदित्वेन भिन्नस्थानत्वदर्शनात् ॥ स्थितासीनगुरुपात्स्योरिव नाज्ञोऽर्थव्यवस्थितिः ॥ २ ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।५।१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष
एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षगुरुषः' (बृ० ५।५।२) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणो-
ऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदाहुपदिश्येते ।
तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् । तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम् । तत्र संशयः—किमविभागेनै-
वोभे अप्युपनिषदाहुभयत्रानुसंधातव्ये उत विभागेनैकाधिदैवमेकाध्यात्ममिति । तत्र सूत्रेणैवो-

रत्नप्रभाख्याख्या

रहस्ये प्रधानविधिवदुत्तरत्र गुणविधिरिति भावः ॥ १९ ॥ संबन्धादेवमन्यत्रापि । सद्भूतत्रयं त्यद्वाद्याकाशात्मकं,
सत्त्वं परोक्षभूतात्मकं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपक्रम्य, तदुक्तं यत्तत्त्वं तत् स योऽसावादित्यः किं मण्डलं न तत्र स्थाने पुरुषः
करणात्मकः स एवाध्यात्ममक्षिस्थानस्थ इत्युपदिश्य 'तस्य भूरिति शिरो भुव इति बाहुः स्वरिति पादः' इति व्याहृतिरूपं
शरीरमुक्त्वा द्वे उपनिषदौ रहस्यदेवतानामनी उपदिश्येते तस्यादित्यमण्डलस्थस्याहरिति नाम प्रकाशकत्वात्तस्याक्षि-
म्यस्याहमिति नाम प्रत्यक्त्वादिति । इदं नामद्वयं विषयस्तत्र नामिनः सत्याख्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्स्थानभेदोक्तेश्च संशयमाह—
तत्रेति । पूर्वपक्षे प्रतिस्थानं नामद्वयानुष्ठानं सिद्धान्ते यथाश्रुत्यैकैकनामानुष्ठानमिति फलम् । दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षसूत्रं

भामतीख्याख्या

अनुवादमात्रस्यापि तत्र तत्रोपलब्धेः । तस्मात्तदेव बृहदारण्यकेऽप्युपपन्नं तद्गुणोपसंहारादिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ संबन्धादे-
वमन्यत्रापि । यथेकस्यामपि शाखायां तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानादुपासनस्य तत्र विहितानां धर्माणां संकरः । तथा सति सत्यस्यै-
कस्याभेदान्मण्डलद्वयवर्तिन उपनिषदोरपि संकरप्रसङ्गात् । तस्येति च प्रकृतपरामर्शित्वाद्भेदः । सत्यस्य च प्रधानस्य । प्रकृतत्वादिधैव-

आनन्दगिरायव्याख्या

तदेव स्फुटयति—समानेति । प्रत्यभिज्ञानस्याकिंचित्कारत्वमाशङ्क्याह—अन्यथेति । तस्यां बृहदारण्यके गुणविधानमभिरहस्यो-
क्त्यामिति यावत् । अयं गुणविधिरिशानत्वादिगुणकथनमित्यर्थः । अग्निरहस्योत्पन्नं विद्यामनूष विशिष्टगुणत्वेन बृहदारण्यके तस्यां
गुणविधानमित्युक्तम् । इतश्च तुल्यगुणोक्तिप्राप्ता प्रत्यभिज्ञा नोपेक्षितव्येत्याह—अपिचेति । तदेव कैमुतिकन्यायेन स्फोरयति—
अप्रसृति । नान्तरिक्षे न दिवीत्यादिषु निष्कलानुवादस्यापि निर्दोषत्वात्प्रकृते तुल्यगुणानुवादस्य प्रत्यभिज्ञानार्थत्वेनार्थवत्त्वात्तुल्यगु-
णोक्तिकृता प्रत्यभिज्ञा नोपेक्षितुं शक्या तेनेशान्तादिगुणवद्विद्योक्त्या बृहदारण्यकवाक्ये समानार्थे मनोमयत्वादितुल्यगुणानुवादस्य
यथाकथंनिधोगेऽपि प्रधानप्रत्यभिज्ञापकत्वेन सफलत्वात्तदधीनप्रत्यभिज्ञायाश्च विशिष्टविधिशेषत्वाद्बृहदारण्यके गुणविधिरन्यत्र प्रधानविधि-
रित्यर्थः । सिद्धे पुनरुक्तिपरिहारे फलितमाह—तस्मादिति ॥ १९ ॥ विधैक्ये गुणोपसंहारमुक्त्वा तदेक्येऽपि तदनुसंहारस्यैव बन्धपूर्व-
पक्षयति—संबन्धादिति । विषयमाह—बृहदिति । आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्तेत्यत्र सत्यशब्दो हिरण्यगर्भावाची
तच्च सत्त्वं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म महदित्युपक्रम्येति यावत् । तत्तत्रैवं सति यत्तत्सत्त्वं ब्रह्म सोऽसावादित्यो विधेयादित्यापेक्षया पुलिङ्गप्रयोगः ।
किं मण्डलमेवादित्यो नेत्याह—य इति । तस्य स्थानभेदेनादित्यचाक्षुषपुरुषात्मनावस्थानमुक्त्वा तावेतावन्त्योऽस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मि-
भेरोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्प्रतिष्ठित इत्यन्योन्यव्यतिषङ्गमुक्त्वादित्यपुरुषस्य य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति
शिरो भुव इति बाहुः स्वरिति प्रतिष्ठेति व्याहृतिदेहत्वं संपाद्य तस्योपनिषदहरित्यादित्यपुरुषस्याहर्नामत्वमुक्तम् । अनन्तरं च योऽयं
दक्षिणेऽक्षगुरुषस्तस्य भूरिति शिर इत्यादिना व्याहृतिदेहत्वं संपाद्य तस्योपनिषदहमित्यहर्नामत्वमुक्तम् । उपनिषदिति देवतामुपगम-
नीति तत्प्रकाशकं रहस्यं नामोच्यते । अहःशब्दः प्रकाशवचनोऽहंशब्दः प्रलयात्मवाची तदाह—तस्येत्यादिना । उपनिषद्वयं
वैषयीकृत्य सत्यब्रह्मैक्यस्थानभेदाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । अत्र च सत्यविधायामुपनिषद्वयवशोक्त्या वाक्यार्थधीहेतुचिन्तनात्प्रादादि-
गतिः । पूर्वपक्षे विधैक्यादुपसंहारनियमे सत्युपनिषदोः सांकर्यादितिशासिदिः । सिद्धान्ते विधैक्येऽपि स्थानभेदोपलब्धानां
मात्रानुपसंहारादुपनिषदोरसंकरादितिदेशः स्यादिति मत् ॥ पूर्वपक्षसूत्रमादत्ते—तत्रेति । सूत्राक्षराणि योजयति—यथेति ।

पक्रमते । यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्ये जातीयके विषये भवितुमर्हति । एकविद्याभिसंबन्धात् । एका हीयं सत्यविद्याधिदैवमध्या चाधीता । उपक्रमाभेदाद्विषयकपाठाच्च । कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात् । १ ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति । तस्मात् भयोऽरण्यापनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥ एवं प्राप्ते प्रतिविद्यते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

न बोभयोरुभयत्र प्राप्तिः । कस्मात् । विशेषात् । उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः । क स्थानविशेषोपनिबन्ध इत्युच्यते—‘य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः’ (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति । ‘योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः’ (बृ० ५।५।४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति । तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वना तस्मादायतनविशेषव्यप्राप्त्येणैवैते उपनिषदाबुपदिश्येते । कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः । नन्वे एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुष एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात् । सत् मेवमेतत् । एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपादेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति । अस्ति चायं दृष्टान्तः सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये यदाचार्यस्यासीनस्यानुवर्तनमुक्तं तत्तिष्ठतो भवति । यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति । ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्

रत्नप्रभाष्याख्या

व्याचष्टे—यथेति । यथा विद्यैक्यादुपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येकविद्यायामुपसंहारो भवितुमर्हतीत्यर्थः । सत्यं ब्रह्मे कमाभेदस्तावेतावक्ष्यादित्युपस्थाप्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ, आदित्यरश्मीनां चक्षुषि चक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठानादिति व्यतिषत् मिथः संश्लेषपाठस्ताभ्यां विद्यैक्यसिद्धिः । विद्यैक्येऽपि किं स्यात्तत्राह—**कथमिति** । विद्यैक्येऽपि स्थानभेदादुपनिषदोर स्यादित्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—**यो हीति** ॥ २० ॥ नाम्यैक्यात् नामसंकरो युक्तः, तथा चाक्षिस्थोऽहरिति नाम सत्यब्रह्मत्वादादित्यस्थवदिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—**नवेति** । नाम्नोरुपासनस्थानविशिष्टसंबन्धित्वादित्य तस्योपनिषदहरहमिति च वाक्यद्वयेन तच्छब्दपरामृष्टयोः संनिहितस्थानविशिष्टयोः पुरुषयोर्नामसंबन्धपरिणोप रानुमानं बाध्यमिति भावः । विशेष्यैक्यान्नामसंकर इत्याशङ्क्य स्थानभेदेन विशिष्टपुरुषभेदान्नामव्यवस्थामाह—**नन्वि दिना** । विशिष्टसंबन्धे दृष्टान्तमाह—**अस्तीति** । प्रतिदृष्टान्तस्य स्वरूपसंबन्धित्वाद्विशिष्टे ध्येये प्रकृते दृष्टान्तत्वं ना

मामसीव्याख्या

मित्यस्य विशेषणतयोपसर्जनत्वेनाप्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतस्य च सत्यस्याभेदात्पूर्ववद्गुणसंकरः ॥ २० ॥ इति प्राप्त उच्यते—**न वा वि षात्** । सत्यं यत्र स्वरूपमात्रसंबन्धो धर्मीणां श्रूयते तत्रैवं स्वरूपस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तन्मात्रसंबन्धित्वाच्च धर्माणाम् । तु सविशेषणं प्रधानमवगम्यते तत्र सविशेषणस्यैव तस्य धर्माभिसंबन्धो न निर्विशेषणस्य नाप्यन्यविशेषणसहितस्य । नहि दा

आनन्दगिरीयव्याख्या

उपनिषदोर्विषयैः संकरः शङ्क्येत तदैक्यं कथमित्याशङ्क्याह—**एकेति** । विषयैः हेतुमाह—**उपक्रमेति** । सत्यं ब्रह्मेत्युपक्र मस्तावेतावन्योन्यस्मिन्नित्यादिव्यतिषिक्तपाठस्ताभ्यां विषयैः सिद्धमित्यर्थः । तदैक्येऽपि किं स्यात्तदाह—**कथमिति** । विषयं स्थानभेदादुपनिषदोरसंकरः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरति—**यो हीति** । तस्योपनिषदिति प्रकृतसत्यपरामर्शोऽतस्य प्रा स्याभेदाद्विशेषणतया स्थानस्योपसर्जनत्वाद्गुणप्रधानयोश्च प्रधाने संप्रत्ययत्तदविनाभावात्तदुपसंहारो गुणानामित्यर्थः । विषयैः २ पसंहारोऽप्ये फलितमाह—**तस्मादिति** ॥ २० ॥ सिद्धान्तयति—**एवमिति** । वाशब्दस्यावधारणार्थत्वमुपेक्ष्य प्रतिज्ञां वि —**न वेति** । ध्येयाभेदे ध्यानभेदात्किमिति न प्राप्तिरित्याह—**कस्मादिति** । हेतुं गृहीत्वा व्याचष्टे—**विशेषादिति** । ध्येयोपसर्जनभूतो स्थानविशेषौ ताभ्यामुपनिषदोर्योगाव्यवस्था तयोर्बुक्तेत्यर्थः । तस्येति परामृष्टब्रह्मणो नामद्वयविधाने तस्य स विशेषसंगतिरसिद्धेति शङ्कते—**कथमिति** । उपनिषदोः स्थानविशेषयोगं साधयति—**उच्यत इति** । निष्कृष्टं ब्रह्मैव प्रधानं त व्यमुपनिषद्भ्यां संबद्धमित्याशङ्क्याह—**तस्येति** । तस्योपनिषदित्युभयत्र तच्छब्देनाधिदेवादिविशिष्टस्यैव परामर्शोऽयोगित्वादुपनिष स्वरूपमात्रासंबन्धात्तद्व्यवस्थयानुसंधेयम् । नहि सर्वनाम संनिहितं हिंसा व्यवहितं स्पृशतीत्यर्थः । तच्छब्दस्य विशिष्टा फलितमाह—**तस्मादिति** । विशेषणभेदेऽपि विशेष्याभेदादुपसंहारः स्यादिति शङ्कते—**नन्वि** । विशेष्याभेदमस्तीकरोति- **सत्यमिति** । तर्हि कथमुपनिषद्व्यवस्थेलाशङ्क्य विशिष्टभेदात्तन्निष्ठत्वाच्च तयोरित्याह—**एकस्येति** । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह- **अस्तीति** । प्रतिदृष्टान्तोऽपि दर्शित इत्याशङ्क्याह—**ग्रामेति** । तत्र स्वरूपोपाधात्तत्त्वावृत्तं तुल्यत्वमिह तु विशिष्टोपाधावृत्ते

स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यद्वयान्तः सः ।
तस्माद्वयवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—‘तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम’ (छा० १।७।५) इति । कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते । अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मान्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पदयन्निहातिदेशेनावित्यपुरुषगतानुरूपदीनक्षिपुरुष उपसंहरति—‘तस्यैतस्य तदेव रूपम्’ (छा० १।७।५) इत्यादिना । तस्माद्वयवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

संभृतिगुव्यास्यपि चातः ॥ २३ ॥



आहार्या वा न वान्यत्र संभृत्याविभूतयः ॥ आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिन्यादाववारणान् ॥ १ ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यनः ॥ अनाहार्या ब्रह्मात्रसंबन्धोऽतिप्रसजकः ॥ २ ॥

‘ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान’ इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्य-
संभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते । तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृ-
तयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते । तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंहियेरन्न वेति विचारणायाम्

रत्नप्रभाख्या

लाह—ग्रामेति ॥ २१ ॥ उक्तनामव्यवस्थायामतिदेशो लिङ्गमित्याह—**दर्शयति चेति** । विद्यैक्यादेवोपसंहारसिद्धाव-
तिदेशो यथा स्यात्तस्मादेकविद्यायामपि स्थानभेदेनोक्तगुणानां विनातिदेशमनुपसंहार इति सिद्धम् ॥ २२ ॥ **संभृतिगु-
व्यास्यपि चातः** । ब्रह्मैव ज्येष्ठं कारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि, निलोपद्वान्दसः, वीर्याणि पराक्रमविशेषा आकाशोत्पा-
दनादयः, तानि च वीर्याणि संभृतानि निर्विघ्नं समृद्धानि, सर्वेनियन्तुः कार्ये विप्रकर्तुरसत्त्वात् । तच्च ज्येष्ठ ब्रह्माग्रे देवा-
द्युत्पत्तेः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्तवत्सदा सर्वव्यापकमित्यर्थः । सर्वप्राथम्यं रपर्यानर्हत्वमिति वाक्यशेषस्था गुणाः
प्रभृतिपदग्राह्याः । खिलेष्विति विधिनिषेधशून्यवाक्येऽप्यित्यर्थः । ब्रह्मसंबन्धाद्विद्याभेदानाच्च संशयमाह—**तास्त्विति** ।

भामतीव्याख्या

पुष्पमानयेत्युक्ते दण्डरहितः कमण्डलुमानानीयते । तस्मादधिदेवं सत्यस्योपनिषदुक्ता न तस्यैवाध्यात्मं भवितुमर्हति । यथा चाचार्यस्य
गच्छतोऽनुगमनं विहितं न तिष्ठतो भवति तस्मादुपनिषदोः संकरः किंतु व्यवस्थितिः । तदिदमुक्तं—**स्वरूपानपायादिति**
॥ २१ ॥ **दर्शयति च** । अतिदेशादप्येवमेव तस्य हि नातिदेशः स्यादिति ॥ २२ ॥ **संभृतिगुव्यास्यपि चातः** ।
‘ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान । ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाहति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः’ । ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि
ब्रह्मज्येष्ठा जज्ञे आस । यद्यपि तासु तासु शाण्डिल्यादिविद्यास्वायतनभेदपरिग्रहेणाध्यात्मिकायतनत्वं संभृत्यादीनां गुणानामधिदेवि-
कत्वमित्यायतनभेदः प्रतिभाति । तथापि व्यापान् दिव इत्यादिना संदर्भेणाधिदेविकविभूतिप्रत्यभिज्ञानात्पोऽशकलाद्यासु च विद्या-

आनन्दगिरियव्याख्या

वक्ष्येति । विशिष्टोपाधुक्तिफलमाह—**तस्मादिति** ॥ २१ ॥ उपनिषदोर्व्यवस्थितत्वे हेतुन्तरमाह—**दर्शयति चेति** । तदेव
व्याकरोति—**अपिचेति** । यथोक्तं वाक्यं धर्माणां संकरमेव दर्शयतीति शङ्कते—**कथमिति** । अत्यन्तसंकरं सत्यं भद एवेति नाति-
देशत्वेन तदशाद्विषयैक्येऽपि स्वतो नात्यन्तसंकरो धर्माणामित्याह—**तदिति** । उपनिषदोस्त्वनदेशाभावाच्चर्येलेपुपसंहारनि—
तस्मादिति ॥ २२ ॥ आयतनभेदाद्गुणानुपसंहारमुक्त्वा तेनैव हेतुना संभृतिप्रभृत्यानां गुणानां विधान्तरेऽनुपसंहारमाह—
संभृतीति । पूर्वव्यायेनैव वाक्यान्तरं व्याख्यातुमुदाहरति—**ब्रह्मेति** । वीर्या वीर्याणि पराक्रममेताः । अन्ये हि पुरुषाः सहाया-
नपेक्ष्य विक्रमाविव्रजति तेन तत्पराक्रमाणां तत् एव नियतपूर्वत्वरूपकारणत्वे न ज्येष्ठा भवन्ति किंतु तत्सहकारिणोऽपि । ब्रह्मवीर्याणां तु
ब्रह्मैव ज्येष्ठं ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि तथा । ब्रह्म स्वस्वतन्त्रापेक्षं जगज्जन्मादि करोति । किञ्चान्येषां पराक्रममाणानां बलवद्भिर्गन्धे भङ्गः
संभवति तेन ते स्ववीर्याणि न विभ्रजति । ब्रह्मवीर्याणि तु ब्रह्मणा संभृतान्यविव्रजन् संभृतानीत्यर्थः । तज्ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे देवादिजन्मतः
प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्तवन्नित्यमेव विश्वव्यापकमित्यर्थः । ‘ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाहति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः’ इत्युक्तो
भागः । खिलेषु विधिनिषेधहीनेषु परिशिष्टोपदेशेषु ग्रन्थेष्विति यावत् । विषयमुक्त्वा संशयं वर्ज्यं भूमिकां करोति—**तेषामिति** ।
ब्रह्मसंबन्धाद्विद्याभेददृष्ट्या च संशयमाह—**तास्त्विति** । अत्र च विद्याभेदेन गुणानुपसंहारेणैव वाक्यार्थधीकृतोऽत्र चिन्तनास्थादा-
दिसंभृतिः । पूर्वपक्षे विद्याभेदस्य गुणव्यवस्थापकत्वासिद्धिः । तद्वदन्ते तदतिद्विद्वदिति मत्वा पूर्वपक्षयनि—**ब्रह्मेति** । न चाधिदेवि-

[illegible]

इति स्थितिः । परोवरीयस्त्वादिवचनेदर्शनात् । तस्माद्वीर्यसंभृत्यादीनां शाण्डिल्यविद्याविष्णु-
पसंहार इति ॥ २३ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥



पुंवियैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताभिन्नोः ॥ मरणावश्वत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥ १ ॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात् ॥ न विषैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥ २ ॥

अस्ति ताण्डिनां पैकिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः । तदीयमा-
युल्लेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम् । अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि । अन्ये
च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगादयः । तैत्तिरीयका अपि किंचित्पुरुषयज्ञं कल्प-
यन्ति—‘तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः भद्रा पत्नी’ (नारा० ८०) इत्येतेनानु-
वाकेन । तत्र संशयः—किं य इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः
किंवा नोपसंहर्तव्या इति । पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचकमहमे—नोपसंहर्तव्या इति

रत्नप्रभाख्याख्या

भेदात्संभृत्यादीनां नोपसंहार इत्युक्त्यायातिदेशत्वादस्य न संगत्याद्यपेक्षा यथैकस्मिन्मुद्ग्रीये परोवरीयस्त्वाद्विगुणोपास्तेर्हिरण्य-
संभृत्याद्युपास्तिर्भित्तये तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि विद्याभेदोपपत्तेः ब्रह्मप्रत्यभिज्ञा न गुणप्रापिकेत्याह—परोवरीयस्त्वादिव-
द्विती । तस्मात्संभृत्यादिगुणविशिष्टविद्यान्तरविधिरिति सिद्धम् ॥ २३ ॥ पुरुषविद्यायां छान्दोग्यरथां विद्यामाह—अस्तीति ।
‘पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ
यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम्’ इति प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थं सवनत्रयं कल्पितं, ‘स यदशिषिषति यत्पिपासति यन्न
रमते ता दीक्षा अथ यदश्राति यत्पिबति यद्रमते ता उपसदः अथ यद्वसति यज्जक्षति यन्मैधुनं चरति तानि स्तुतशस्त्राणि अथ
यत्तपोदानादि सा दक्षिणा मरणमेवावश्वत्सः वस्त्रादिरूपा मे प्राणा इदं सवनत्रयं यावदायुरनुसंतनुते’ इत्याशीः ‘अक्षितमस्य
च्युतमसि प्राणं संशितमसि’ इति मन्त्रत्रयप्रयोगः । षोडशाधिकशतवर्षजीवित्वं फलमिति दर्शितम् । संशयार्थं शाखान्तरी-
यपुरुषविद्यामाह—तैत्तिरीयका इति । अत्र विदुषो यज्ञस्येति षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानिश्चयात्संशयमाह—
तत्रेति । उपसंहारानुपसंहारावेव फलम् । पूर्वत्रासाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावात्संभृत्यादौ विद्याभेद उक्तः । इह त्वसाधार-
णमरणावश्वत्सगुणविशिष्टपुरुषयज्ञरूपैक्यप्रत्यभिधानाद्वैयैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तयति—नोपसंहर्तव्या इति ।

भामतीव्याख्या

बराभ्येति । तस्मात्संभृतिश्च शुच्यसिद्धिं तदिदं संभृतिव्यवस्थाप्य चातः प्रत्यभिज्ञानाभावाच्च शाण्डिल्यादिविद्यात्पसंहित
इति सिद्धम् ॥ २३ ॥ पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् । पुरुषयज्ञत्वमुभयत्राप्यविशिष्टम् । नच विदुषो यज्ञ-
स्येति न सामानाधिकरण्यसंभवः । यज्ञस्यामेत्यात्मशब्दस्य स्वरूपवचनत्वात् । यज्ञस्य स्वरूपं यजमानस्तस्य च चेतनत्वाद्विदुष
इति सामानाधिकरण्यसंभवः । तस्मात्पुरुषयज्ञत्वाविशेषामरणावश्वत्वादिसामान्याच्चेकविद्याप्यवसाने उभयत्र उभयधर्मोपसंहार इति

आनन्दगिरियव्याख्या

गह—परेति । यथोद्गीथस्यैकस्यैव परोवरीयस्त्वाद्विगुणवत्त्वेन हिरण्यसंभृत्यादिगुणवत्त्वेन च बहुधोपासनं दृष्टं तथा ब्रह्मणोऽपि
तत्तदुपासकत्वेनानेकधोपासनाद्ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रत्यभिज्ञाने स्वादितिप्रसक्तिरित्यर्थः । संभृत्यादीनां मनोमत्त्वादीनां च विद्याप्रत्यभि-
ज्ञापकत्वाद्येते फलितमाह—तस्मादिति ॥ २३ ॥ तद्विशेषभेदसंभित्तविद्यासु गुणानुपसंहारोक्तिप्रसङ्गात्कालभेदवद्विद्यायां गुणा-
नुपसंहारमाह—पुरुषेति । विषयमाह—अस्तीति । पुरुषो वाव यज्ञ इति सामानाधिकरण्यव्युत्तरंमाह—तत्रेति । छान्दो-
ग्यशाखाभेदः सप्तम्यर्थः । तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ
यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनमिति प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थं सवनत्रयं कल्पितमित्याह—तदीयमिति । स यदशिषिषति यत्पिपासति
यन्न रमते ता अस्य दीक्षा अथ यद्वसति यज्जक्षति तत्स्तुतशस्त्रे शब्दवत्त्वसाम्यादित्याह—अशिषिषेति । तं चेदेतस्मिन्वर्षसि
किंचिद्वाध्यायपतपेत्स त्रयात्प्राणा वा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेत्यादिशाशीः । सोऽन्तर्वेलायामतत्रयं
प्रतिपयेताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि मन्त्रप्रयोगस्तदाह—अन्ये चेति । संशयार्थं शाखान्तरीयपुरुषविद्यामुदाहरति—
तैत्तिरीयका इति । तद्वत्तयोर्विदुषो यज्ञस्येति षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानिश्चयात्पुरुषविद्यामविकृत्य संशयमाह—
तत्रेति । इतरत्रोक्तां च्छान्दोग्यभेदोक्तिः । अत्र च भेदानुपसंहारोक्त्या वाक्यार्थधीहेतुचिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्या-
भेदानुपसंहारः सिद्धान्ते तद्वेदानुपसंहार इत्यभिप्रेत्योभयत्रापि मरणावश्वत्सविशिष्टसांपादिकपुरुषयज्ञत्वलक्षणरूपवैयधिक्येन गुणो-
पसंहारभेदे पूर्वपक्षयति—पुरुषेति । निषादस्यपत्तिन्यायेन विदुषो यज्ञस्येति सामानाधिकरण्यत्वरूपवत्त्वोभयत्राविशेषादभेदोपसं-

कस्मात् । तदुपप्रत्यभिज्ञानाभावात् । तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिबेति । यथैकेषां शा-
खिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाज्ञानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाज्ञान-
मस्ति । तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते पत्नीयजमानवेदवेदिबर्हिर्धूपान्यपशुत्वि-
गाद्यनुक्रमणात् । यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव 'यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च
तानि' (नारा० ८०) इति । यदपि किञ्चिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद्भूयसा
वैलक्षण्यानाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम् । नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते । वि-
दुषो यज्ञस्येति हि न चैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति । नहि पुरुषस्य
मुख्यं यज्ञत्वमस्ति । व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति । भवति हि पुरुषस्य
मुख्यो यज्ञसंबन्धः । सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः । आत्मा यजमान इति
च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्वुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसंबन्धं दर्शयति । अपिच तस्यैवविदुष

रत्नप्रभाख्याख्या

स्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्मसुरो वेदिल्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज
न्युः पशुस्तपोऽग्निदेमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राण उद्राता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा' इति बहुतरधर्मवैलक्षण्यात् रूपैक्य-
मलभिज्ञेत्यर्थः । वेदः कुशमुष्टिः शमयिता दमो दक्षिणेल्यन्वयः । किंच छान्दोग्ये त्रिधाविभक्त्यायुषि सवनत्वकल्पना, अत्र तु
ज्ञायकालादाविति वैरूप्यमाह—यदपीति । यन्मरणं तदवभृथो यद्रमते तदुपसद इति तित्तिरिथ्रुतौ सारूप्यमपि भाती-
यत आह—यदपि किञ्चिदिति । गजोष्ट्रयोश्चतुष्पात्त्वसारूप्यवदिदं सारूप्यं नैक्यप्रयोजकमित्यर्थः । किंच छान्दोग्ये
पुरुषयज्ञयोरेक्यं श्रुतमत्र तु भेद इति वैरूप्यान्तरमाह—नचेति । यद्यपि निषादस्थपतित्यायेन सामानाधिकरण्यं षष्ठ्योर्मुक्तं
तथाप्यप्रसिद्धैक्यकल्पनागौरवाद्यज्ञस्यात्मेति भेदोक्तैरेकस्यैव यज्ञत्वयजमानत्वविरोधादात्मविदो यो यज्ञः प्रसिद्धस्तस्येति वैयधि-
करण्यमेव युक्तम् । किंच विद्वत्संबन्धियज्ञरूपविशेष्यानुवादेन विद्वदङ्गैरज्ञसंप्रद्विधावेकवाक्यता प्रतीयते तस्यां सत्यां विशेषः

आमतीयाख्या

प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—यादृशं ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषयज्ञसंपादनं तदायुषश्च त्रेधा व्यवस्थितस्य सवनत्रयसंपादनम् ।
अग्निशिषादीनां च दीक्षादिभावसंपादनं नैवं तैत्तिरीयाणाम् । तेषां न तावत् पुरुषं यज्ञसंपत्तिः । नह्यात्मा यजमान इत्ययमाभि-
शब्दः स्वरूपवचनो नहि यज्ञस्वरूपं यजमानो भवति । कर्तृकर्मणोरभेदाभावात् । चेतनाचेतनयोश्चैक्यानुपपत्तेः यज्ञकर्मणोश्चै-
तनत्वात् । यजमानस्य चेतनत्वात् । आत्मनस्तु चेतनस्य यजमानत्वं च विद्वत्त्वं चोपपद्यते । तथा चायमर्थः—एवं विदुः
पुरुषस्य यः संबन्धी यज्ञः तस्य संबन्धितया यजमान आत्मा तथा चात्मनो यजमानत्वं च विद्वत्संबन्धिता च यज्ञस्य मुख्यं
स्यातामितरथात्मशब्दस्य स्वरूपवाचित्वे विदुषो यज्ञस्येति च यजमानो यज्ञस्वरूपमिति च गौणे स्याताम् । नच सत्यां गतौ तदु-
क्तम् । तस्मात्पुरुषयज्ञता तैत्तिरीये नास्तीति तथा तावन्न साम्यम् । नच पत्नीयजमानवेदविद्यादिसंपादनं तैत्तिरीयाणामिव ताण्डिनां

आनन्दगिरियव्याख्या

हारावित्यर्थः । सिद्धान्तयति—आचक्ष्मह इति । पूर्वोक्तायतनविशेषयोगाभावादुपसंहारसिद्धिरिति शङ्कते—कस्मादिति ।
वैथैक्यसाधकवैथैक्याभावात्तद्वेदे नोपसंहार इत्याह—तदिति । उक्तेऽर्थे सूत्रं पातयति—तदाहेति । तदक्षराणि व्याचष्टे—
यथेति । अतो विद्याभेदानुपसंहार इति शेषः । यत्तु रूपैक्याद्वैथैक्यं गुणोपसंहारश्चेति, तत्राह—तेषां हीति । तत्र
हेतुमाह—पत्नीति । 'आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्मसुरो वेदिल्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मनुः'
पशुस्तपोऽग्निदेमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राण उद्राता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमस्त्रीद' इत्यादिबहुतरवैलक्षण्यात् तद्वैक्य-
मित्यर्थः । वैलक्षण्यान्तरमाह—यदपीति । छान्दोग्ये हि पुरुषस्यायुक्तेषा विभज्य सवनत्रयमुक्तम् । तैत्तिरीये तु सायं प्रातर्मध्यं-
दिनमिति सवनसंपादनमितरविलक्षणं लक्ष्यते, तेन विद्याभेद इत्यर्थः । 'मरणमेवावभृथः' इति छान्दोग्ये । 'यन्मरणं तदवभृथः'
इति तैत्तिरीये । 'यद्रमते तदुपसदः' इति चोभयत्रापि तुल्यम् । अतो रूपैक्याद्वैथैक्यमिति चोचमनुवदति—यदपीति । बहुतर-
वैलक्षण्या सति किञ्चिन्मात्रसालक्षण्यात् विथैक्यमतिप्रसङ्गादित्याह—तदपीति । यत्तु पुरुषयज्ञत्वाविशेषादिति, तत्राह—नचेति ।
निषादस्थपतित्यायेन षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यात्पुरुषस्य यज्ञत्वमुक्तमित्याह—विदुष इति । सामानाधिकरण्याभावे हेतुमाह—
नहीति । अर्थानुपपत्त्यभावे न्यायोऽन्यतरति । प्रकृते च पुरुषस्य कर्तृत्वाद्यज्ञस्य क्रियात्वादचेतन्याच्च पुरुषैक्यायोगात्प्राप्त्याप्रकृति-
रित्यर्थः । कथं तर्हि षष्ठ्योन्वयः, तत्राह—व्यधिकरणे रिविति । अर्थानुपपत्तिस्तत्रापि तुल्येत्याह—भवतीति । अन्य-
तथाभावेऽपि प्रकृते पुरुषस्य यज्ञत्वमेवेत्याह—सत्यां चेति । यज्ञस्य ज्ञानवशोगित्वं मानान्तरसिद्धमपूर्वैक्यकल्पनया न
त्याज्यं, तदनुवादेन विद्याप्रशंसनार्थं पत्न्यादिसंपादनसंभवादित्यर्थः । यजमानतया पुरुषस्य यज्ञसंबन्धितावचनादपि, न यज्ञात्मे-
त्याह—आरमेति । इतोऽपि तैत्तिरीयकेषु पुरुषयज्ञत्वं नेष्टमित्याह—अपिचेति । यथा प्रमितेऽर्थे प्रवृत्तं प्रमाणमनुवाचकं तथा

इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात् । अपिच ससंन्यासमात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः । तथाचैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (नारा० ८०) इति । इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः । आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ 'स ह—षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३।१६।७) इति समभिव्याहारात् । तस्माच्छास्त्रान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणा-मादीर्घमादीनामप्राप्तिसैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥



वेद्यमग्नप्रवर्यादि विद्याङ्गमथवा ननु ॥ विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणो ॥ १ ॥

लिङ्गेनाम्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि य कर्मणाम् ॥ विनियोगात्संनिधिसु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥ २ ॥

अस्त्यार्थवर्णिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाप्तायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः । ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः ।

रत्नप्रभाख्या

यज्ञानां च पृथग्विधादिनस्तव वाक्यभेददोषः स्यादित्यर्थः । किंच सत्यादिभ्यो न्यास एवापरे च यदिति संन्यासमुक्तायैः सर्वमिदं जगदित्येवं तमात्मानं ज्ञात्वा भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वानिति संन्याससाध्यात्मविद्यां पुरस्तादप्राज्ञापत्यनुवाके उपदिश्यानन्तरानुवाके तस्यैवं विदुष इत्युक्तामविद्यानुवादेन प्रशंसार्थत्वेन तच्छेषतया यज्ञसंपत्तिः क्रियते फलैक्यश्रुतेः, छन्दोगानां तु स्वतन्त्रविद्याविधिरित्याह—अपिच ससंन्यासामिति । चिन्ताफलमाह—तस्मादिति ॥ २४ ॥ वेधाद्यर्थभेदात् । देवतामभिचारकर्ता प्रार्थयते—सर्वमिति । हे देवते, मदिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय विशेषतश्च हृदय भिन्धि धमनीः शिराः प्रवृज्य त्रोटय शिरश्चाभितो नाशय, एवं त्रिधा विपृक्तो विशिष्टो भवतु मे शत्रुरित्यर्थः ।

भामतीव्याख्या

पैङ्गिनां वा विद्यते सवनसंपत्तिरप्येषां विलक्षणैव । तस्माद्भूयो वेलक्षण्ये सति न किंचिन्मात्रसालक्षण्यादियैकत्वमुचितमिति प्रसङ्गात् । अपिच तस्यैवं विदुष इत्यनुवादश्रुतौ सत्यामनेकार्थविधाने वाक्यभेददोषप्रसक्तिरित्यर्थः । अपि चेयं पैङ्गिनां ताण्डिनां च पुरुषयज्ञ-विद्याफलतरपुक्ता स्वतन्त्रा प्रतीयते । तैत्तिरीयाणां तु एवंविदुष इति श्रवणात्पूर्वोक्तपरामर्शात्फलत्वयुतेश्च पारतन्त्र्यम् । नच तत्त्वपरन्वयोरेक्यमुचितमित्याह—अपिच ससंन्यासमात्मविद्यामिति । उपसंहरति—तस्मादिति ॥ २४ ॥ वेधाद्यर्थभेदात् । विचारविषयं दर्शयति—आथर्वणिकानामिति । आथर्वणिकाद्युपनिषदारम्भे ते ते मन्त्रास्तानि तानि

आनन्दगिरियव्याख्या

इस्य प्रमाणान्तरसिद्धविद्वद्योगितानुवादेन विशेषणविधिश्चतौ प्रमितविशेषणानामनुदितविशेष्यगामित्वेनैकवाक्यत्वमङ्गवे विशेष्यस्य विशेषणानां च पृथक्प्रतिपादनेन वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः । इतश्चोभयत्र भिन्ना पुरुषविद्येत्याह—अपिचेति । संन्यासेनाङ्गेन सङ्गि-
णमङ्गितया रिथतामात्मविद्यां पुरस्तादप्राज्ञापत्यो हारुणिरित्यादावनुवाके न्यास इति ब्रह्मेत्यादिनोक्त्वा तस्यैवंविदुष इति पूर्वोक्तपरा-
माणान्तरैकत्वमस्य भातीत्याह—ससंन्यासामिति । इतश्च पूर्वशेषोऽयमाप्तायो न स्वतन्त्र इत्याह—तथाचेति । तैत्तिरीयाणां
अप्यविद्याम्नायस्य पारतन्त्र्यमुक्त्वा पैङ्गिनां ताण्डिनां च तदाप्तायस्य स्वातन्त्र्यमाह—इतरेषां त्विति । तत्र हेतुमाह—
अपुनरिति । षोडशाधिकं वर्षशतं प्रकर्षेण व्याध्याद्यनुपदृतो जीवत्युक्तप्रकारेणात्मानं यज्ञाद्यात्मकं विद्वानिति विषया सहायुरभि-
देकत्वस्य संकीर्तनात्तत्फलत्वेन स्वातन्त्र्यं पुरुषविद्यायाः सिद्धमित्यर्थः । स्वतन्त्रपरतन्त्रयोरैक्यायोगं फलितमाह—तस्मादिति
२४ ॥ पूर्वत्रात्मविद्यासंनिधौ श्रवणात्तैत्तिरीयगतपुरुषयज्ञो ज्ञानाङ्गमित्यङ्गीकृत्यायुरभिवृद्धिफलविद्यतो भेदोऽस्य दर्शितः ।
मि प्रवर्यादीनामपि विद्यासंनिध्यविशेषात्तदङ्गत्वमित्याशङ्क्यान्यत्रानुपसंहारार्थं तेषामङ्गत्वं निरस्तम्—वेधादीतीति । तत्तदुपनिष-
दभेदे ते ते मन्त्रास्तानि तानि च कर्माणि श्रुतानि विषय इति वक्तुमारभते—अस्तीति । अभिचारदेवतामभिचारकता प्रार्थ-
—सर्वमिति । हे देवते, मदिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय । विशेषतश्च हृदयं प्रविध्य भिन्धि । धमनीः शिराः प्रवृज्य
त्रोटय । तदीयं शिरश्चाभितो विदारय । एवं मदिपुबहुधा विपृक्तो विशिष्टो भवत्वित्यर्थः । विश्वप्रकाशकत्वात्तत्प्रमवेदेनुवाच
सवितरित्यादिकः संबोध्यते । स च यज्ञस्य यज्ञपतेश्च यजमानस्य निर्वर्तने नियुज्यते प्रसूचि । उच्चैःश्रवाः श्वेनोऽश्वो यस्य
स त्वं श्वेनाऽऽसि हरति इन्द्रनीलस्तद्वज्रीलोऽसीतीन्द्रः संबोध्यते । मित्रो नामादित्यो नोऽस्माकं सुखकरो भूयादिति विचार्या
यते । एवं शं वरुण इत्यादि योज्यम् । इन्द्रादयो देवाः ॥ ५ ॥ कस्मिंश्चित्पूर्वसिन्धुना सत्रं निर्वर्तयितुं निविष्टवन्तः इत्युपक्रम्य

शाठ्यायनिनाम्—‘श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि’ इत्यादिः । कठानां तैत्तिरीयाणां च—‘शं नो मित्रः शं वरुणः’ (तै० १।१।१) इत्यादिः । षाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—‘देवा ह वै सत्रं निषेदुः’ इत्यादि । कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—‘ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहर्हृषयन्ति’ इति । किमिमे सर्वे प्रविध्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंहियेरर्त्तिकवा नोपसंहियेरन्निति मीमांसामहे । किं तावन्न प्रतिभाति । उपसंहार एवैषां विद्यास्विति । कुतः—विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात् । नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे । बाढम् । अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यात् । नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मादसाधनाधयितुं युक्तः ।

रत्नप्रभाष्याख्या

हे देव सवितः, यज्ञं तत्पतिं च प्रसुव निर्वर्तयेत्यर्थः । उच्चैःश्रवाः श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरितमणिवन्नीलोऽसीत्यर्थः । नोऽस्माकं शं सुखकरो भवत्वित्यर्थः । अग्निष्टोमो ब्रह्मैव स यस्मिन्नहनि क्रियते तदपि ब्रह्म तस्माद्य एतदहःसाध्यं कर्मोपयन्त्यनुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मणैव साधनेन ब्रह्मोपयन्ति ते च क्रमेणामृतत्वमाप्नुवन्तीति योजना । मन्त्रादिषु तत्तदुपनिषद्द्विशाशेषत्वे प्रमाणभावाभावाभ्यां संशयमाह—किमिति । फलं पूर्ववत् । ननु तेषां शेषत्वे मानाभावोपसंहार इति शङ्कते—नन्वेषामिति । मन्त्रादयस्तत्तद्विशाशेषाः फलवद्विद्यासंनिहितत्वात्तैत्तिरीयकगततुषुषयज्ञवदिति समाधत्ते—बाढमिति । तथाच दृष्टान्तसंगतिः । सिद्धान्तपक्षे संनिधिवैयर्थ्यं बाधकमाह—नहीति । अफलमन्त्रादीनां फलवच्छेषत्वबोधनं संनिधेरर्थवत्त्वं तत्संभवे संत्यक्त्वादर्शस्यत्वेनासौ संनिधिराश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः । नञ्पाठेकस्मादेतुं विनाऽसावर्थो नाश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः । ननु मन्त्राणां विद्यासमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्याभावात् विद्याशेषवन्ति

भामतीव्याख्या

च प्रवर्ग्यादीनि कर्माणि समाम्नातानि । संशयमाह—किमिम इति । पूर्वपक्षं गृह्णाति—उपसंहार एवैषां विद्यास्विति । सफला हि सर्वा विद्या आम्नातास्तःसन्निधौ मन्त्राः कर्माणि च समाम्नातानि ‘फलवत्सन्निधौफलं तदङ्गम्’ इति न्यायादिशाङ्ख्येन विज्ञायन्ते । चोदयति—नन्वेषामिति । नद्यत्र श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां सन्ति विनियोजकानि प्रमाणानि, नहि यथा दर्शपूर्णमासावारम्य समिदादयः समाम्नातास्तथा कांचिद्विद्यामारम्य मन्त्रा वा कर्माणि वा समाम्नातानि । न चास्ति सामान्यसंबन्धे संनिधिसंनिधानमात्रात्तदर्थसंभवः । नच श्रुतस्वाङ्गपरिपूर्णा विद्या एतानाकाङ्क्षितुमर्हति येन प्रकरणापादितसामान्यसंबन्धानां संनिधिविशेषसंबन्धाय भवेदित्यर्थः । समाधत्ते—बाढमनुपलभमाना अपीति । ना माम भूत्फलवतीनां विद्यानां परिपूर्णज्ञानमाकाङ्क्षा । मन्त्राणां तु स्वाध्यायविद्यापादितपुरुषार्थभावानां कर्मणां च प्रवर्ग्यादीनां स्वविद्यापादितपुरुषार्थभावानां पुरुषाभिलषितमाकाङ्क्षां संनिधानादन्यतराकाङ्क्षानिबन्धनो रक्तपटन्यायेन संबन्धः । तत्रापि च विद्यानां फलवत्त्वात्तदर्थमफलानां मन्त्राणां कर्मणां च । नच प्रवर्ग्यादीनां पिण्डपितृयज्ञवत्स्वर्गः कल्पनास्पदं, फलवत्संनिधानेन तदवरोहात् । अनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यादिति । इदं खलु निवृत्ताकाङ्क्षया विद्यायाः संनिधाने श्रुतमनाकाङ्क्षया साकाङ्क्षस्यापि संबन्धमसामर्थ्यात्तस्या अप्याकाङ्क्षामुत्थापयति । उक्त्याय चैकवाक्यतामुपैति । असमर्थस्य चोपकारकत्वात्तुपपत्तेः प्रकरणेन ग्री उपकारसामर्थ्यमात्मनः कल्पयति । नच सत्यपि सामर्थ्ये तत्र श्रुत्या अविनियुक्तं सदङ्गतामुपगन्तुमर्हतीत्यनया परम्परया संनिधिः

आनन्दगिरियव्याख्या

प्रवर्ग्याख्यं कर्म श्रुतमित्याह—देवा इति । अग्निष्टोमब्राह्मणमुपनिषदारम्भे पठ्यत इति संबन्धः । अग्निष्टोमो ब्रह्मैव स यस्मिन्नहनि क्रियते तदपि ब्रह्मातश्चैतदहर्हर्निर्वर्त्यं कर्म ये केचिदुपयन्त्यनुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मणैव साधनेन ब्रह्मापरतुपगच्छन्ति ते चामृतत्वं वा ब्रह्म क्रमेण प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । विषयमुक्तोपकारभावाभावमानाभ्यां संशयमाह—किमित्यादिना । अत्र च विद्यासंनिधिसाम्ना नामपि मन्त्रादीनां तदुपकारकत्वाभावेनातच्छेषतया नान्यत्रोपसंहार्यतेत्युक्तिद्वारा विचारस्य ज्ञानहेतुयोगात्पादादिसंगतिः । पूर्वोक्तमन्त्रादीनां विद्योपाधातुपसंहारः । सिद्धान्ते त्वनुपसंहार इत्यभिप्रेत्य विमृश्य पूर्वपक्षयति—किमिति । विनियोजकमानाभावे संनिधिविशेषतेति शङ्कते—कुत इति । ‘फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्’ इतिन्यायात्फलवद्विद्यासंनिध्याम्नातानां तदङ्गत्वेत्याह—विद्योति । श्रुत्यादीनां विनियोजकानामन्यतमस्याप्यनुपलम्भादारम्य कांचन विद्यामनाम्नानादाध्यातारैरेव पूर्णया नैराकाङ्क्षयाविषां विद्याशेषवत्तेति शङ्कते—नन्वेति । विद्याया नैराकाङ्क्ष्येऽपि मन्त्रादीनां फलवत्त्वाद्य फलवन्नियोगसाकाङ्क्षत्वात्फलवद्विद्यासंनिधितानां तत्त्वतया फलवत्त्वं फलान्तरकल्पनायोगादेकतराकाङ्क्षया विद्याकाङ्क्षामापाद्य प्रकरणाधारेण तच्छेषत्वेत्याह—बाढमिति । संनिधेरर्थसामर्थ्येऽपि संभवान्न विद्याशेषतयाशङ्क्याह—नहीति । अकस्मात्फलं विनेति यावत् । अनुष्ठेयप्रकाशित्वान्मन्त्राणां विद्याशेष

ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किञ्चित्सामर्थ्यं पश्यामः । कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थ-
त्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति । नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां
विद्याविषयमपि किञ्चिच्छब्दं कल्पयितुं हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासने-
ष्वयतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपास-
नाङ्गत्वम् । दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः 'भूः प्रपद्येमुनामुनामुना' (छा० ३।१।५।३) इत्येव-
मादिः । तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो

रत्नप्रभाव्याख्या

शङ्कते—नन्विति । पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्तीति वाक्येन प्रवर्ग्यस्य क्रतुशेषत्वं श्रुतं, अमिष्टोमादेशं तत्तद्वाक्येन
स्वार्थत्वमतो न विद्यार्थत्वमित्याह—कथं चेति । मन्त्राणां विद्यासमवेतहृदयनाड्यादिप्रकाशकत्वमस्तीत्याह—
नैष इति । उपास्तिषु मन्त्रप्रयोगः कापि न दृष्ट इत्यत आह—दृष्टश्चेति । पुत्रस्य दीर्घायुष्यार्थं छान्दोग्ये त्रैलोक्यस्य
कोशत्वेनोपास्तिरुक्ता तत्र पितुरयं प्रार्थनामन्त्रः । तत्रामुनेति पुत्रस्य त्रिणामं गृह्णाति अमुना पुत्रेण सह भूरितीमं लोकममुं च
प्रपद्ये न मे पुत्रविनियोगः स्यादित्यर्थः । तत्तद्वाक्येनान्यत्र विनियुक्तानामपि कर्मणां संनिधिना विद्यासु विनियोगो न विरुध्यत

भामतीव्याख्या

श्रुतिमार्थापत्त्या कल्पयति । आक्षिपति—ननु नैषां मन्त्राणामिति । प्रयोगसमवेतार्थप्रकाशनेन हि मन्त्राणामुपयोगो वर्णि-
तः 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इत्यत्र । नच विद्यासंबन्धं कंचनार्थं मन्त्रेषु प्रतीमः । यद्यपि च प्रवर्ग्यो न किञ्चिदारभ्य श्रूयते तथापि
वाक्यसंयोगेन क्रतुसंबन्धं प्रतिपद्यते । 'पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति' इति । उपसदां बृहद्वद्व्यभिचरितक्रतुसंबन्धत्वात् ।
यद्यपि ज्योतिष्टोमविकृतावपि सन्त्युपसदस्तथापि तत्रानुमानिक्यो ज्योतिष्टोमे तु प्रत्यक्षविहितास्तेन शीघ्रप्रवृत्तितया ज्योतिष्टोमा-
ज्ञेयं वाक्येनावगम्यते । अपिच प्रकृतौ विहितस्य प्रवर्ग्यस्य चोदकेनोपसदत्तद्विकृतावपि प्राप्तिः । प्रकृतौ वा अद्विकृतत्वादिति
न्यायज्योतिष्टोमे एव विधानमुपसदा सह युक्तं, तदेतदाह—कथं च प्रवर्ग्यादीनीति । संनिधानादर्थनिप्रकर्षेण वाक्यं
बलीय इति भावः । समाधत्ते—नैष दोषः सामर्थ्यं तावदिति । यथा 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रे अग्नये नि-
र्वपामीति पदे कर्मसमवेतार्थप्रकाशके । शिष्टानां तु पदानां तदेकवाक्यतया यथाकथंचिद्व्याख्यानमेवमिहापि हृदयपदस्योपासनायां
समवेतार्थत्वात्तदनुसारेण तदेकवाक्यतापन्नानि पदान्तराणि गोण्या लक्षणया च वृत्त्या कथंचिन्नेयानीति नासमवेतार्थता मन्त्राणाम् । नच
मन्त्रविनियोगो नोपासनेषु दृष्टो येनात्यन्तादृष्टं कल्प्यत इत्याह—दृष्टश्चोपासनेष्विति । यद्यपि वाक्येन बलीयसा संनिधि-
र्बुद्धेर्बाध्यते तथापि विरोधे सति । न चेहास्ति विरोधः । वाक्येन विनियुक्तस्यापि ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यस्य संनिधिना विद्यायामपि
विनियोगसंभवात् । यथा 'ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतितसेन यजेत' इति ब्रह्मवर्चसफलोऽपि बृहस्पतितसो वाजपेयाङ्गत्वेन चोद्यते ।
वाजपेयेनैव बृहस्पतितसेन यजेतेति । अत्र हि क्वः समानकर्तृकत्वमवगम्यते धातुसंबन्धं प्रत्ययविधानात् । धात्वर्थोत्तरसंबन्धश्च कथं
च समानः कर्ता स्यात् । युधेकः प्रयोगो भवेत् । प्रयोगाविष्टं हि कर्तृत्वम् । तच्च प्रयोगभेदे कथमेकम् । तस्मात्समानकर्तृकत्वा-
देकप्रयोगस्य वाजपेयबृहस्पतितसवोर्धात्वर्थोत्तरसंबन्धाच्च । नच गुणप्रधानभावमन्तरेणैकप्रयोगता सवन्धश्च तत्रापि वाजपेयस्य प्रकरणे
समाधानाद्वाजपेयः प्रधानम् । अङ्गं बृहस्पतितसवः । नच 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टा सोमेन यजेत' इत्यत्राङ्गप्रधानभावप्रसङ्गः । नखो-
त्तद्वचनं करयच्चिदर्शपूर्णमासस्य सोमस्य वा प्रकरणे समाधानम् । तथाच द्वयोः साधिकारतया अगृह्यमाणविशेषतया गुणप्रधानभावं
यति विनिगमनाभावेनाधिधानमात्रविवक्षया लक्षणिकं समानकर्तृकत्वमित्यदोषः । यदि तु करयांचिच्छात्रायामारभ्याधीतं दर्शपूर्ण-
मासाभ्यामिष्टेति । तथाप्यनारभ्याधीतस्यैवारभ्याधीते प्रत्यभिज्ञानमिति युक्तम् । तथा सति द्वयोरपि पृथगधिकारतया प्रतीतं समप्रधा-
नमत्यक्तं भवेदितरथा तु गुणप्रधानभावेन तस्यागो भवेत् । तस्मात्कालार्थोऽयं सयोग इति सिद्धम् । सिद्धांतमुपक्रमते—

आनन्दगिरियव्याख्या

धर्मप्रकाशयतां न तच्छेषतेति शङ्कते—नन्विति । कर्मणां विद्याशेषत्वं संनिधेरुक्तं प्रत्याह—कथं चेति । पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण
प्रचरन्तीतिवाक्येन प्रवर्ग्यस्य क्रतुशेषत्वसिद्धेर्न संनिधेर्विद्याशेषत्वं तस्य वाक्यादौर्बल्यादमिष्टोमादेशं ज्योतिष्टोमादिवाक्येन वर्ग्या-
दिकत्वज्ञानान्न विद्याशेषतैत्यर्थः । मन्त्राणां कर्मणां च विद्याशेषत्वाभावं दूषयति—नेति । तत्र मन्त्राणां विद्यासमवेतार्थप्रकाशनेन
तच्छेषत्वं साधयति—सामर्थ्यमिति । हृदयादीत्यादिपदेन नाडीनामादित्यादेशं संग्रहः । तथापि कथं मन्त्राणां विद्यादिविषयं
सामर्थ्यं, तत्राह—हृदयेति । तदसंबद्धान्यपि सन्ति कामिचिदुपासनानीति प्रायेणेत्युक्तम् । हृदयादिपदस्य विद्यासमवेतार्थत्वेऽपि
कथयितरेषां मन्त्रपदानां विद्याशेषतैत्याशङ्क्य हृदयादिपदानुसारेण तदेकवाक्यतया पदान्तराणामपि यथाकथंचिदुपास्यत्वेत्याह—
तदिति । उपास्तिषु मन्त्रविनियोगस्यादृष्टेऽपि कल्पनेत्याशङ्क्याह—दृष्टश्चेति । पुत्रस्य दीर्घायुष्यार्थं छान्दोग्ये त्रैलोक्यं कोशत्वेन
परिकल्प्योपास्तिरुक्ता । तत्र पितुरयं प्रार्थनामन्त्रो भूरियादि । अमुनेति पुत्रस्य त्रिणामं गृह्णात्यमुना देवदत्तनाम्ना सह भूरितीमं लोकं
प्रपद्ये इत्यर्थः । ननु प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियोगात् विद्याशेषतेति, तत्राह—तथेति । यद्यपि पुरस्तादुपसदां विद्यादिविषयं प्रवर्ग्या-
दीनामन्यत्रोक्तविद्याशेषत्वसाधकसंनिधेर्बलीयस्तथाप्यविरोधः वाक्येन बाध्यः संनिधेर्वाक्येनान्यत्र विनियुक्तस्यापि प्रवर्ग्योदे-

संनिधना विद्यास्वपि विनियोगादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—**वाजपेय इति** । ‘ब्रह्मचर्चसकामो बृहस्पतिसत्वेन यजेत’ इति मन्त्र-
चैसफलोऽपि बृहस्पतिसत्त्वो ‘वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसत्वेन यजेत’ इति वाजपेयाङ्गत्वेन विधीयते क्त्वाप्रत्ययादेककर्तृकासिद्धेरकप्रयो-
गतामन्तरेण तदयोगादेकप्रयोगताया गुणप्रधानभावापेक्षत्वाद्वाजपेयप्रकरणान्नानात्तस्याङ्गत्वं बृहस्पतिसवस्याङ्गत्वम् । नन्वेवं मीमां-
सकानां मुद्राभेदः कृतो यदि बृहस्पतिसववाक्यं प्रकरणान्तरस्यबृहस्पतिसवविपरिवृत्त्यर्थं कर्त्ताहि वाजपेयाङ्गविधिः । अथैव विधिः
कथं तर्हि प्रकरणान्तरस्यबृहस्पतिसवस्यैह संनिधिः । न चैकमेव वाक्यं दूरस्थं कर्म संनिधापचयत्यङ्गत्वेन च विद्यधाति । तस्मात्प्र-
करणान्तरे कौण्ड्यायिनवक्तृमीनतरं बृहस्पतिसवस्तन्नाम तु प्रसिद्धबृहस्पतिसवधर्मोतिदेशार्थम् । तथाच कर्मोन्तरेव वाजपेयाङ्गत्वेन
विधीयत इति मतद्वयेऽपि स्थिते कथं विनियुक्तविनियोगाशङ्केति सत्यमभ्युपेय वादोऽयं खादिरत्वादि चात्र व्यवस्थितमुदाहरणम् ।
नच साधिकायोरपि कर्मणोरङ्गाङ्गत्वे दर्शपूर्णमासाविद्वा सोमेन यजेतेत्यत्रापि स्याददर्शपूर्णमासयोः सोमस्य वा प्रकरणे तदचक्षणा-
न्नानात्तयोरगुह्यमाणविशेषतया गुणप्रधानत्वासिद्धेर्भिन्नप्रयोगत्वेऽपि क्रिययोः कर्तृत्वाधिष्ठानपुरुषस्यैक्यात्प्रत्ययसिद्धेरङ्गाङ्गत्वमाप्यभावा-
च्चाधिष्ठानलक्षणविरोधादर्शपूर्णमासोत्तरकालता सोमानुष्ठानस्येति कालार्थोऽयं संयोगः । प्रकृते तु प्रकरणाध्ययनसिद्धये प्रत्ययप्रति-
तमङ्गाङ्गत्वमतो बृहस्पतिसवस्यान्यत्र विनियुक्तस्यैव वाजपेये क्त्वाप्रत्ययेन विनियोगवत्प्रत्ययार्दीनामपि विनियुक्तानामेवाव्यय संनि-
धना विद्यास्वपि विनियोग इति भावः । पूर्वपक्षमनूय सूत्राद्विरेवानुपसंहारं प्रतिजानीते—**एवमिति** । मन्त्राणां कर्मणां च
संनिधेरुपसंहारो विद्यासूक्तः स कस्यान्निधिष्यत इत्याह—**कस्यादिति** । तत्र हेतुत्वेन सूत्रमवतारयति—**वेधादीति** । वायव्येभि-
कानां मन्त्रान्नायस्य विद्याशेषत्वाभावापरत्वेनाक्षराणि योजयति—**हृदयमिति** । भिन्नशब्दस्याभीष्टमर्थमाह—**अनभिसेवदा**
इति । अनभिसेन्दधमेवाभिध्यनन्ति—**नेति** । हृदयपदस्योपास्तिसंबन्धात्त्वात्तद्वारा मन्त्रस्य तच्छेषेत्युक्तं सारयति—**नवेति** ।
मन्त्रस्योपास्तिशेषत्वं प्रत्याह—**नेतीति** । पदान्तरसमभिव्याहृतस्य तस्यापि नोपास्त्युपयोगो वस्तुतोऽस्तीति मत्वा नैवैवचिदित्युक्तम् ।
हृदयस्य विषेययोगे मन्त्रार्थस्य तद्वाङ्मन्त्रस्य विद्याशेषत्वेत्याशङ्क्याह—**नचेति** । अत्रेत्याधर्बण्ड्युक्तिः । हृदयान्तरिकत्वापि
मन्त्रार्थस्य विद्यायोगः स्यादित्याशङ्क्य साक्षात्परंभया वेति विकल्प्यायं दूषयति—**हृदयमिति** । तद्वाराऽन्येषामपि विद्यायोगः

वंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसंबध्यते । आभिचारिकविषयो होषोऽर्थस्तस्मा-
दाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसंबन्धः । तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्'
इत्यस्य यज्ञप्रसवल्लिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणा संबन्धः । तद्विशेषसंबन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः ।
एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिद्वचनेन केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु
विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न संनिधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः । दुर्बलो हि

रत्नप्रभाख्या

साभिचारादावेव मन्त्राणां विनियोग इत्यर्थः । 'देव सवितः प्रसुव' इति प्रदक्षिणतोऽग्निं पर्युक्षेदिति वाक्यादभिप्रेत्युक्षणे
'सावित्रं जुहोति कर्मणः पुरस्तात्सवने सवने जुहोति' इति वाक्याद्वाजपेय्ये कर्मविशेषे संबन्धोऽस्य मन्त्रस्येत्याह—तद्विशेषेति ।
उक्त्यायं श्वेताश्व इत्यादिष्वतिदिशति—एवमन्येषामिति । प्रमाणान्तरं प्रकरणादिकम् । ननु लिङ्गादिभिरन्यत्र
विनियुक्तानामपि संनिधिना विद्यास्वपि विनियोगोऽस्त्वविरोधादित्युक्तं, तत्राह—दुर्बलो हीति । समवाये समानविषयत्वेन
द्वयोर्विरोधे, परस्य दीर्बल्यं, कुतः अर्थविप्रकर्षात्, स्वार्थबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेरित्यर्थः । अयमाशयः—एकत्र
विनियुक्तस्य निराकाङ्क्षत्वादित्यत्र विनियोगो विरुद्ध एव परंतु विनियोजकप्रमाणयोः समबलत्वेऽन्यतरविनियोगत्यागायोगाद्-
त्याकाङ्क्षोत्पादनेन विनियुक्तविनियोगः स्वीक्रियते 'यथा खादिरो यूषो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूषं कुर्यात्' इति वाक्याभ्यां
कृतौ विनियुक्तस्य खादिरत्वस्य वीर्यफले विनियोगः । यत्र तु प्रमाणयोरनुल्यत्वं तत्र न स्वीक्रियते प्रबलप्रमाणेन दुर्बलविनियोगबा-
धात् । यथा 'कदाचन स्तरीरसि' इत्यस्या ऋच एन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति तृतीयाविभक्तिश्रुत्यान्यनिरपेक्षतया
गार्हपत्योपस्थानशेषत्वबोधिकयेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्गप्राप्तमिन्द्रशेषत्वं बाध्यते । लिङ्गं हि न साक्षाच्छेपत्वं बोधयति
किञ्चिद्विप्रकाशनमात्रं करोति तेन च लिङ्गेनानेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थापयितव्य इति श्रुतिः कल्पनीया, तथा शेषत्वबोध

भामतीव्याख्या

वस्थापयतीति युक्तम् । हृदयपदस्याभिचारेऽपि समवेतार्थस्येतरपदेकवाक्यतापक्षस्य वाक्यप्रमाणसहितस्याभिचारिकात्कर्मणः संनिधिना
चालयितुमशक्यत्वादेवं 'देवसवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादेरपि यज्ञप्रसवल्लिङ्गस्य यज्ञाहत्वे सिद्धे जघन्यो विद्यासंनिधिः किं करिष्यति ।
एवमन्येषामपि श्वेताश्व इत्येवमादीनां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिच्छ्रुत्या केषांचित्प्रमाणान्तरेण प्रकरणेनेति । कस्मात्पुनः संनिधि-
लिङ्गादिभिर्बाध्यते इत्यत आह—दुर्बलो हि संनिधिरिति । प्रथमतः तत्रोऽर्थः स्मर्यते । तत्र तु श्रुतिलिङ्गयोः समवाये
समानविषयत्वलक्षणे विरोधे किं बलीय इति चिन्ता । अत्रोदाहरणम्—अस्त्येन्द्री कच्छ 'कदाचन स्तरीरसि' नेन्द्र' इत्यादिका श्रुति-
भित्तियौ 'एन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति । अत्र हि सामर्थ्यलक्षणाद्विद्वेदविनियोगः प्रतिभाति । श्रुतेश्च गार्हपत्यमिति
द्वितीयातो गार्हपत्यस्य शेषित्वं एन्द्रवेति च तृतीयाश्रुतेरेन्द्रा ऋचः शेषत्वमवगम्यते । यद्यपि गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुतेराग्नौमृचं
प्रति गार्हपत्यस्य शेषित्वेनोपपत्तेः । यद्यपि चैत्र्येति च तृतीयाश्रुतेरेन्द्रा इन्द्रं प्रति शेषत्वेनोपपत्तेरविरोधः । पदान्तरसंबन्धे तु
वाक्यस्यैव लिङ्गेन विरोधो न तु श्रुतेः । तत्र च विपरीतं बलाबलम् । तथापि श्रुतिवाक्ययो रूपतो व्यापारभेदादयोः । द्वितीया-
तीयाश्रुती हि कारकविभक्तितया क्रियां प्रति प्रकृत्यर्थस्य कर्मकरणभावमवगमयत इति विनियोजिके । क्रियां प्रति हि कर्मणः शेषित्वं
करणस्य च शेषत्वमिति हि विनियोगः । पदान्तरानपेक्षे च क्रियां प्रति शेषशेषित्वे श्रुतिमात्रात्प्रतीयेते इति श्रुतेः । सोऽयं श्रुतितः
सामान्यावगतो विनियोगः पदान्तरवशाद्विशेषेऽवस्थाप्यते । सोऽयं विशेषणविशेष्यभावलक्षणः संबन्धो वाक्यगोचरः शेषशेषिभावस्तु
श्रुतः, तस्माद्वाक्यलक्ष्यं विशेषमपेक्ष्य श्रुतः शेषशेषिभावो लिङ्गेन विरुध्यत इति श्रुतिलिङ्गविरोधे किं लिङ्गानुगुणेन गार्हपत्यमिति
द्वितीयाश्रुतिः ससम्पर्धे व्याख्यायतां गार्हपत्यसमीपे एन्द्रवेन्द्र उपस्थेय इति । आहो श्रुत्यनुगुणतया लिङ्गं व्याख्यायताम् । प्रभवति
हि स्मृतितायां क्रियायां गार्हपत्य इतीन्द्र इन्द्रतेरेत्यर्थवचनत्वादिति । किं तावत्प्राप्तं श्रुतेर्लिङ्गं बलीय इति । नो सन् यथासम्पर्धं
तच्छ्रुतिसहस्रेणापि तत्र विनियोक्तुं शक्यते । यथा अग्निना सिन्धेत् पाथसा दहेदिति । तस्मात्सामर्थ्यं पुरोधाया श्रुत्या विनियो-

आनन्दगिरियव्याख्या

स्यादिति द्वितीयमाशङ्क्याह—अभिचारेति । सर्वेरेव पदैरयं मन्त्रः स्वतोऽभिचारगतार्थप्रकाशको दृश्यते । तथाच सामर्थ्यलक्षणं
लिङ्गं संनिधिं बाधित्वा कर्मशेषत्वमस्यापादयति । नच सर्वपदानामभिचारे समवेतार्थत्वे सत्येकपदसमवेतार्थत्वमात्रेण विद्याशेषत्वं
हृदयपदस्याभिचारेऽपि समवेतार्थत्वादित्यर्थः । आद्यवर्णिकानामुपनिषदुपक्रमस्य लिङ्गवशात्कर्मसंबन्धवताङ्गिडानामपि तदुपक्रमस्य
लिङ्गादेव कर्मसंगतिरित्याह—तथेति । कर्ममात्रप्रयोगेऽपि केन कर्मणास्य संगतिरिति लिङ्गात् गम्यते तेन प्रमाणान्तरमन्येषामित्या-
शङ्क्याह—तदिति । 'सावित्रं जुहोति कर्मणः कर्मणः पुरस्तात्सवने सवने जुहोति' इति वाक्याद्वाजपेय्यसंबन्धोऽस्य मिथ्येत्यर्थः ।
उक्त्यायं मन्त्रांतरेष्वतिदिशति—एवमिति । अन्येषां तु श्वेताश्वो हरितनीलोऽसीत्यादिना वचनं श्रुतिवचनं वा प्रमाणान्तरं
प्रकरणं तेन कर्मसंबन्धोऽत्र सर्वत्रानुसर्तव्य इति संबन्धः । लिङ्गादिभिरन्यत्र विनियोगे मन्त्राणां सिद्धे फलितमाह—इत्येवमिति ।
किमिति लिङ्गादिभिः संनिधिर्बोध्यते, तत्राह—दुर्बलो हीति । कथं दीर्बल्यं प्रमाणत्वाविशेषे, तत्राह—इत्युक्तमिति । स्वार्थ

संनिधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पार-

रत्नप्रभाष्याख्या

इति श्रुतिव्यवधानेन शेषत्वबोधकं लिङ्गं झटिति स्वार्थबोधकश्रुत्या बाध्यम् । तथा लिङ्गेन वाक्यं बाध्यं यथा 'स्योऽनं ते सदन करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि,' 'तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ ब्रीहीणां मेघ सुमनस्यमानः' इति मन्त्रभागयोः प्रत्येकं सदनकरणे पुरोडाशासादने च तत्प्रकाशनसामर्थ्यलिङ्गेन श्रुतिद्वारा विनियोगे सति प्रतीतमेकवाक्यत्वं बाध्यते, तस्य कृत्वोऽपि मन्त्रे सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यं पुरोडाशासादनप्रकाशनसामर्थ्यं च लिङ्गं कल्पयित्वा श्रुतिकल्पनयोर्भयत्र कृत्स्न-मन्त्रविनियोगबोधने द्वाभ्यां लिङ्गश्रुतिभ्यां व्यवधानेन श्रुत्येकव्यवहितकृतलिङ्गादुर्बलत्वात् । नच सामर्थ्यं न कल्पयमिति वाच्यं, असमर्थस्य विनियोगायोगात्, अत एव गङ्गापदस्य तीरबोधविनियोगे लक्षणारूपं सामर्थ्यं कल्प्यते । तथा वाक्येन प्रकरणं बाध्यं यथा साहप्रकरणाप्रातद्वादशोपसदां द्वादशाहीनस्येति वाक्येनाहीनाङ्गत्वबोधकेन प्रकरणप्राप्तसाहाङ्गत्ववाक्य-

भामतीव्याख्या

कल्प्यम् । तच्चास्या ऋचः प्रमाणान्तरतः शब्दतश्च इन्द्रे प्रतीयते । तथाहि—विदितपदतदर्थः कदाचनेत्युच्यते स्पष्टमिन्द्रमवगच्छति, शब्दाच्चैन्द्रशैत्यतः । तस्मादारुदहनस्येव दहनस्य सलिलदहने विनियोगो गार्हपत्ये विनियोग एन्द्राः । नच श्रुत्यन्तरोधाजघन्यामा-स्थाय वृत्तिं सामर्थ्यकल्पनेति साम्प्रतम् । सामर्थ्यस्य पूर्वभावितया तदनुरोधेनैव श्रुतिव्यवस्थापनात् । तस्मादैन्द्रेण एव गार्हप-त्यसमीप उपस्थातव्य इति प्राप्तिसंभवीयते—'लिङ्गज्ञानं पुरोधाय न श्रुतेर्विनियोज्यता । श्रुतिज्ञानं पुरोधाय लिङ्गं तु विनियो-जकम्' । यदि हि सामर्थ्यमवगम्य श्रुतेर्विनियोगमवधारयेत्प्रमाता ततः श्रुतेर्विनियोगं प्रति लिङ्गज्ञानपेक्षत्वादुर्बलत्वं भवेत् । न त्वेतदस्ति । श्रुतिर्विनियोगाय सामर्थ्यमपेक्षते नापेक्षते सामर्थ्यविज्ञानम् । अवगते तु ततो विनियोगे नासमर्थस्य स इति तन्निर्वाहस्य सामर्थ्यं कल्प्यते । तच्छ्रुतिविनियोगात्पूर्वमस्ति सामर्थ्यम् । न तु पूर्वमवगम्यते । विनियोगे तु सिद्धे तदन्यथातुपपत्त्या पश्चात्प्रतीत्य इति श्रुतिविनियोगात्पराचीना सामर्थ्यप्रतीतिस्तदनुरोधेनावस्थापनीया । लिङ्गं तु न स्वतो विनियोजकमपि तु विनियोजकौ कल्पयित्वा श्रुतिम् । तथाहि—न स्वरसतो लिङ्गादनेन्द्रेण उपस्थातव्य इति प्रतीयते, किञ्चिद्विगन्ध इति तस्य तु प्रकरणज्ञानसामर्थ्यात् साम-न्यतः प्रकरणपादितैदमर्थस्य तदन्यथातुपपत्त्या विनियोगकल्पनायामपि श्रौताद्विविनियोगात्कल्पनीयस्य विनियोगस्यार्थविप्रकर्षाच्छ्रु-तिरेव कल्पयितुमुचिता न तु तदर्थो विनियोगः । नहि श्रुतमनुपपन्नं शक्यमर्थेनोपपादयितुम् । नहि त्रयोऽत्र ब्राह्मणाः कटकोपि-न्याविति वाक्यं प्रमाणान्तरोपस्थापितेन माठरेणोपपादयन्ति, उपपादयतो वा नोपहसन्ति शब्दाः । माठरश्चेति तु ध्रावयन्तमु-च्यन्ते । तस्माच्छ्रुतार्थसमुत्थानातुपपत्तिः श्रुतेनैवार्थान्तरेणोपपादनीया, नार्थान्तरमात्रेण प्रमाणान्तरोपपत्तीनेति लोकसिद्धम् । लोकसिद्धस्य नियोगानुयोगो युज्यते शब्दार्थज्ञानोपायभूतलोकविरोधात् । तस्माद्विविनियोजिका श्रुतिः कल्पनीया । तथाच यावद्वि-द्विविनियोजिकां श्रुतिं कल्पयितुं प्रकान्तव्यापारस्तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्ये विनियोगः सिद्ध इति निवृत्ताकाङ्क्षं प्रकरणमिति क-तुपपत्त्या लिङ्गं विनियोजकौ श्रुतिमुपकल्पयेत् । मन्त्रसमाम्प्रानस्य प्रत्यक्षयैव विनियोगश्रुत्योपपादितत्वात् । यथाहुः—'यावदज्ञातं दिव्यं ज्ञेयं तावत्प्रमित्यते । प्रमिते तु प्रमातृणां प्रमौत्सुक्यं विहन्यते' इति । तस्मात्प्रतीतश्रौतविनियोगोपपत्त्यै मन्त्रस्य सामर्थ्यं न तुगुणत्वेन नीयमानं प्रथमां वृत्तिमजहज्जघन्ययापि नेयमिति सिद्धम् । लिङ्गवाक्ययोरीह विरोधो यथा—'स्योऽनं ते सदनं कृणो-धृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ ब्रीहीणां मेघसुमनस्यमानः' इति । किमयं कृत्स्न एव मन्त्रः सदनक-पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्य उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे तस्मिन्सीदेत्येवमादिस्तु पुरोडाशासादन इति । यदि वाक्यं नो-कृत्वो मन्त्र उभयत्र, सुशेवं कल्पयामीत्येतदपेक्षो हि तस्मिन्सीदेत्यादिः पूर्वैकैकवाक्यतामुपैति यत्कल्पयामि तस्मिन्सीदेति अथ लिङ्गं बलीयस्ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे तत्प्रकाशने हि तत्समर्थम् । तस्मिन्सीदेति पुरोडाशासादने तत्र हि तत्समर्थमिति किं तावत्प्राप्तम् । लिङ्गाद्वाक्यं बलीय इत्युभयत्र कृत्स्नस्य विनियोग इति । इह हि यत्तत्पदसमभिव्याहारेण विभज्यमानसाङ्-हृत्वदेकवाक्यतायां सिद्धायां तदनुरोधेन पश्चात्तदभिधानसामर्थ्यं कल्पनीयम् । यथा देवस्यत्वेतिमन्त्रेऽग्रे निर्वेवामीति पदं समवेताथैत्वेन तदेकवाक्यतया पदान्तराणां तत्परत्वेन तत्र सामर्थ्यकल्पना । तदेवं प्रतीतैकवाक्यतानिर्वाहाय तदनुगुणतया साम-कुप्तं सन्न तद्वापादयितुमर्हति, अपि तु विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयत्तदनुगुणमेव कल्पयेत् । तथाच वाक्यस्य लिङ्गतो बलीयस्त-त्सदनकरणे च पुरोडाशासादने च कृत्स्न एव मन्त्रः प्रयोक्तव्य इति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—भवेदेतदेवं यदेकवाक्यताव-मपूर्वं सामर्थ्याधारणमपि अवधृतसामर्थ्यानां पदानां प्रश्लिष्टपठितानां सामर्थ्यवशेन प्रयोजनैकत्वेनेकवाक्यत्वावधारणम् । यद्यपि पदानि प्रधानमेकमर्थमवगमयितुं समर्थानि विभागे साकाङ्क्षाणि तान्येकं वाक्यम् । अनुष्ठेयश्चार्थो मन्त्रेषु प्रकाश्यमानः प्रधानम् । सदनक-रणपुरोडाशासादने चानुष्ठेयतया प्रधाने । तयोश्च सदनकरणं कल्पयाम्यन्तो मन्त्रः समर्थः प्रकाशयितुं पुरोडाशासादनं च तस्मिन्सी-

आनन्दगिरीव्याख्या

वक्तुं प्रदान्तरानपेक्षं पदं श्रुतिः । श्रुतभावगता शक्तिलिङ्गम् । संख्यायै ब्रह्मपदद्वन्द्वं वाक्यम् । प्रधानवाक्यमन्त्रोक्तैकाङ्गं प्र-रणम् । समानदेशत्वं स्थानम् । यौगिकः शब्दः समाख्येय्युक्तलक्षणानामेषां समवाये समानविषयत्वविरोधे परस्परतरस्य दोषत्वं ।

भामतीव्याख्या

त्यादिः । ततश्च यावदेकवाक्यतावशेन सामर्थ्यमनुमीयते तावत्प्रतीतं सामर्थ्यमेकैकस्य भागस्यैकैकस्मिन्नर्थे विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयति । तथाच श्रुत्यैवैकैकस्य भागस्यैकत्र विनियोगे सति प्रकरणपाठोपपत्तौ न वाक्यकल्पितं लिङ्गं विनियोजिकां श्रुतिमपरां कल्पयितुमर्हतीत्येकवाक्यतायुद्धिरूपस्याभासीभवति लिङ्गेन बाधनात् । यत्र तु विरोधकं लिङ्गं नास्ति तत्र सम्भवेतार्थैकद्विवि-
पदेकवाक्यता पदान्तराणामपि सामर्थ्यं कल्पयतीति भवति वाक्यस्य विनियोजकत्वम् । यथात्रैव स्थानं त इत्यादीनाम् । तस्माद्वा-
क्यालिङ्गं बलीय इति सिद्धम् ॥ वाक्यप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणम् । अत्र च पदानां परस्परापेक्षावशात्कस्मिन्निश्चिते एतस्मिन्नर्थे
पर्यवसितानां वाक्यत्वं, लब्धवाक्यभावनानां च पुनः कार्यान्तरापेक्षावशेन वाक्यान्तरेण संबन्धः प्रकरणम् । कर्तव्यायाः खलु
फलभावनया लब्धधात्वर्थकरणया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षया वचनं प्रकरणमाचक्षते वृद्धाः । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो
यजेत' इति । एतद्धि वचनं प्रकरणम् । तदेतस्मिन् स्वपदगणेन कियत्स्वार्थे पर्यवसिते करणोपकारलक्षणकार्यान्तरापेक्षायां 'समिधो
यजति' इत्यादिवाक्यान्तरसंबन्धः । समिदादिभावना हि स्वविद्युपहिताः पुरुषे हितं भाग्यमपेक्षमाणा विश्वजिज्ञ्यायेन वातुषङ्गतो वार्धवा-
दतो वा फलान्तराप्रतिलम्भेन दर्शपूर्णमासभावनां निर्वायितुमिच्छते । तस्मात्तदाकाङ्क्षायामुपनिपतितान्येतानि वाक्यानि स्वकार्योपेक्षाणि
तदपेक्षितकरणोपकारलक्षणं कार्यमासाद्य निर्तुष्वन्ति च निर्वाययन्ति च प्रधानम् । सोऽयमनयोर्नैवाश्वद्वयप्रथमसंयोगः । तदेवं लब्ध-
णयोर्वाक्यप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणं सूक्तवाक्यनिगदः । तत्र हि पूर्णमासीदेवताः अमावास्यादेवताः समाध्नाताः । ताश्च न मिथ
एकवाक्यतां गन्तुमर्हतीति लिङ्गेन पूर्णमासीयागादिन्द्राक्षीशब्द उक्तव्यः अमावास्यायां च समवेतार्थत्वात्प्रयोक्तव्यः । अथेदानीं
संदिश्यते—किं यदिन्द्राग्निपदैकवाक्यतया प्रतीयते 'अनीवृथेयां महो ज्ञायोऽकाताम्' इति तन्नोक्तव्यमतेन्द्राग्निशब्दाभ्यां सहोक्तव्य-
मिति । तत्र यदि प्रकरणं बलीयस्ततोऽपनीतदेवताकोऽपि शेषः प्रयोक्तव्योऽथ वाक्यं ततो यत्र देवताशब्दस्तत्रैव प्रयोक्तव्यः । किं
तावत्प्राप्तमपनीतदेवताकोऽपि शेषः प्रयोक्तव्यः प्रकरणस्यैवाङ्गसंबन्धप्रतिपादकत्वात् । फलवती हि भावना प्रधानेतिकर्तव्यतात्वात्-
मापदयति । तदुपजीवनेन श्रुत्यादीनां विशेषसंबन्धापादकत्वात् । अतः प्रधानभावनावचनलक्षणप्रकरणविरोधे तदुपजीविवार्थ-
वाच्य इति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—भवेदेतदेवं यदि विनियोज्यस्वरूपसामर्थ्यमनपेक्ष्य प्रकरणं विनियोजयेत् । अपि तु
विनियोगाय तदपेक्षितं ज्ञान्या पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रस्य द्वादशोपसत्तायाश्च नोत्कर्षः स्यात् । तद्रूपालोचनायां च यद्यदेतं शीघ्रं प्रतीयते
तत्तद्वलवद्विकृष्टं तु दुर्बलम् । तत्र यदि तद्रूपं श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन वाक्यं विनियुक्तं ततः प्रकरणं भट्टकृतोक्तव्यते, परिशिष्टेस्तु
प्रकरणस्येतिकर्तव्यतापेक्षा पूर्णते । अथ स्वस्य शीघ्रप्रवृत्तं श्रुत्यादि नास्ति ततः प्रकरणं विनियोजकम् । यथा समिदादेः । तदिह
प्रकरणाङ्गवाक्यस्य शीघ्रप्रवृत्तत्वमुच्यते । प्रकरणे हि स्वार्थपूर्णीनां वाक्यानामुपकारोपकारकाकाङ्क्षामात्रं दृश्यते । वाक्ये तु पदानां
प्रत्यक्षसंबन्धः । ततश्च सह प्रस्थितयोर्वाक्यप्रकरणयोर्वाच्यप्रकरणेनैकवाक्यता कल्प्यते तावद्वाक्येनाभिधानसामर्थ्यं, यावदितरत्र
वाक्येन सामर्थ्यं तावदितरत्र सामर्थ्येन श्रुतिर्यावदितरत्र सामर्थ्येन श्रुतिस्तावदिह श्रुत्या विनियोगस्तावता च विच्छिन्नायामाका-
ङ्क्षायां श्रुत्यनुमाने विहिते प्रकरणेनान्तरा कल्पिते विलीयन्त इति वाक्यबलीयस्त्वात्तदेवताशेषाणामपकर्षं एवेति सिद्धम् ॥ क्रमप्रक-
रणविरोधोदाहरणम् । राजसूयप्रकरणे प्रधानस्यैवाभिषेचनीयस्य संनिधौ शौनःशेषोपाख्यानाद्याभ्यां, तर्हि समस्तस्य राजसूयस्या-
ङ्गमाभिषेचनीयस्य । यदि प्रकरणं बलीयस्ततः समस्तस्य राजसूयस्य, अथ क्रमस्ततोऽभिषेचनीयस्यैवेति, किं तावत्प्राप्तम् ।
नाकाङ्क्षामात्रं हि संबन्धहेतुः । गामानय प्राप्तं पश्येति गामित्यस्य क्रियामात्रापेक्षिणः पश्येत्यनेनापि संबन्धसंभवाद्विनिगमना-
भावप्रसङ्गात् । तस्मात्संनिधानं संबन्धकारणम् । तथा चानयेत्यनेनैव गामित्यस्य संबन्धो विनिगम्यते । नच संनिधानमपि संब-
न्धकारणम् । अयमेति पुनो राज्ञः पुरुषोऽपसार्थतामित्यत्र राज्ञ इत्यस्य पुत्रपुरुषपदसंनिधानाविशेषानामा भूद्विनिगमना । तस्मादा-
काङ्क्षा निश्चयहेतुर्नैवैकवाक्यता । अत्र पुत्रशब्दस्य संबन्धिवचनतया समुत्थिताकाङ्क्षस्यान्तिके यदुपनिपतितं संबन्धनतगाङ्क्षं पदं तस्य
तेनैवाकाङ्क्षापरिपूर्तः पुरुषपदेन पुरुषरूपमात्राभिधायिना स्वतन्त्रेणैव न संबन्धः किंतु परेणापसार्थतामित्यनेनापसरणीयापेक्षेनेति ।
सत्यपि संनिधाने आकाङ्क्षाभावादसंबन्धः । तथा चाभाणकः—'तसं तसेन संबन्धते' इति । तथा चाकाङ्क्षितमपि न यावत्संनिधायते
तावत् संबन्धते । तथा संनिहितमपि यावच्चाकाङ्क्षयते न तावत्संबन्धते इति द्वयोः संबन्ध प्रति समानबलत्वात्क्रमप्रकरणयोः
समुच्चयासंभवाच्च विकल्पेन राजसूयाभिषेचनीययोर्विनिगमः शौनःशेषोपाख्यानादीनामिति प्राप्तम् । एव प्राप्त उच्यते—
राजसूयके कर्षभावापेक्षा हि पवित्रादारम्य क्षत्रस्य धृतिं यावदनुवर्तते । तथाच—'अविच्छिन्ने कर्षभावे यज्यमानस्य पठ्यते ।
अनिर्वातकलं कर्म तस्य प्रकरणाङ्गता' इति न्यायाद्वाजसूयाङ्गता शौनःशेषोपाख्यानादीनाम् । अभिषेचनीयस्य तु स्ववाक्योपात्त-
पदार्थनिराकाङ्क्षस्य संनिधिपाठेनाकाङ्क्षोत्थापनीया यावत्तावत्सिद्धाकाङ्क्षेण राजसूयैकवाक्यता कल्प्यते । यावच्चाभिषेचनीयाकाङ्क्षया
तदेकवाक्यता कल्प्यते तावत्कुसया राजसूयैकवाक्यतया तद्रूपकारकतया सामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं यावच्चाभिषेचनीयैकवाक्यतया
लिङ्गं कल्प्यते । तावत्कुसलिङ्गं विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयति यावद्वाक्यकल्पितेन लिङ्गेन श्रुतिरितरत्र कल्प्यते तावत्कुसया श्रुत्या
विनियोगे सह प्रकरणपाठोपपत्तौ संनिधानपरिकल्पितमन्तरा विलीयते । प्रमाणभावेऽप्रतिभवात् । प्रकरणिनश्च राजसूयस्य
सर्वदा उद्दिष्टानिधेयं तत्संनिधेरकल्पनीयत्वात् । तस्मात्प्रकरणविरोधे क्रमस्य बाध एव नच विकल्पो दुर्बलत्वादिति सिद्धम् ॥

दौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र । तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र

रत्नप्रभाध्याख्या

दुत्कर्षः । प्रधानस्याङ्गाकाङ्क्षारूपं प्रकरणं तस्याङ्गप्रधानवाक्यैकवाक्यतासामर्थ्यश्रुतिभिः कल्प्यमानाभिः स्वाधीनविनियोगप्रमितौ व्यवधानेनाङ्गसामर्थ्यश्रुत्योद्देश्यैः कल्पकवाक्यादुर्बलत्वात् । तथा प्रकरणेन संनिधिर्बाध्यः । यथा राजसूयप्रकरणेन तदन्तर्गतभिषेचनीयाख्यसोमयागविशेषसंनिधिपाठप्राप्तं शुनःशेषोपाख्यानादेरभिषेचनीयशेषत्वं बाधित्वा कृत्स्नराजसूयशेषत्वमापादितं संनिधेः प्रकरणादिकल्पकत्वेन क्लृप्तप्रकरणादुर्बलत्वात् । तथा संनिधिना समाख्या बाध्यते । तथाहि—पौरोडाशिकसमाख्याके काण्डे आग्नेयपुरोडाशादिकर्मणां क्रमेण मन्त्रा आप्नातास्तत्र दधिपयोरूपसाम्नाय्यसन्निधौ 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इति मन्त्र आप्नातस्तत्र समाख्याबलेनास्य मन्त्रस्य पुरोडाशपात्रशुन्धनशेषत्वं प्राप्तं संनिधिना बाधित्वा साम्नाय्यपात्रशुन्धनशेषत्वमापाद्यते । पुरोडाशसंबन्धिकाण्डं पौरोडाशिकमिति पौरुषसमाख्यायाः काण्डान्तर्गतमन्त्रस्य पुरोडाशसंबन्धसामान्यबोधकत्वेऽपि शेषशेषिभावरूपविनियोगबोधकत्वे संनिध्याद्यपेक्षत्वेन दुर्बलत्वादिति । एवं विरोधे सति श्रुतिर्बाधित्वं समाख्या बाध्यैव मध्यस्थानां तु चतुर्णां पूर्वबाध्यत्वं परबाधकत्वं चेति श्रुतिलिङ्गसूत्रार्थः । तस्माल्लिङ्गादिनान्यत्र विनियुक्तानां मन्त्राणां दुर्बलसंनिधिना न विद्यासु विनियोग इति सिद्धम् । **तथा कर्मणामिति ।** कर्मणां विधोपकारत्वे

आनन्दगिरीयव्याख्या

श्रुतिविरोधे लिङ्गस्य तद्विरोधे वाक्यस्य तद्विरोधे प्रकरणस्य तद्विरोधे स्थानस्य तद्विरोधे समाख्याया इत्यत्र हेतुमाह—**अर्थविप्रकर्षादिति ।** स्वायेंतेः पूर्वपूर्वापेक्षताया लिङ्गादीनां विलम्बेनार्थधीहेतुत्वमित्यर्थः । तत्र श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधोदाहरणमैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाऽतो गार्हपत्यस्य कर्मतया क्रियां प्रति शेषित्वं सिद्धमेत्येति तृतीयाश्रुतेरैन्द्र्याख्यचं 'कदाचन स्तरासि' इत्याद्यायाः करणत्वेन शेषता । तदयं श्रौतः शेषशेषिभावः कदाचनेत्यस्या ऋचश्चेन्द्रदेवतोक्तिसामर्थ्यलिङ्गेन विरुध्यते । तत्र लिङ्गानुगुणेन गार्हपत्यमिति श्रुतिः सप्तम्यर्थे तत्समीप इन्द्र उपस्थेय इति व्याख्येया । श्रुत्यनुगुणतया वा लिङ्गमिन्द्र ईश्वरः स्वीचिन्विनाश गार्हपत्य इति व्याख्येयमिति संदेहे श्रुतेर्विनियोगाय सामर्थ्यापेक्षत्वेऽपि तज्ज्ञानानपेक्षत्वादवगतश्रौतविनियोगनिर्वाहाय सामर्थ्यस्य तदन्यथानुपपत्त्या गम्यमानत्वात्पूर्वावगतश्रौतविनियोगानुरोधेनैव लिङ्गस्थितेस्तदेव श्रुत्यनुसारेण नेयमिति स्थितम् । लिङ्गवाक्ययोर्विरोधोदाहरणं 'स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन्सीदाश्रुते प्रतिष्ठि मीहीणां मेघ समनस्यमानः' इति किमुपस्तरणे पुरोडाशासादने च कृत्स्नो मन्त्रः प्रयोक्तव्यः किंवा कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे शेषस्तु पुरोडाशासादन इति संदेहे मामर्थस्यैकवाक्यताधीपूर्वभावात्सदनकरणपुरोडाशासादनयोरनुष्ठेययोर्विभागनैव प्रकाशने मन्त्रयोः सामर्थ्यादेकवाक्यतावशेन मामर्थ्यनुमानात्प्रागेव प्रतीतं सामर्थ्यमेकैकस्य भाग्यैकैकसिन्धेर्विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयतीति वाक्यालिङ्गमेव बलवदिति सिद्धम् । वाक्यप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणं सूक्तवाकः । तत्र हि पौर्णमासीदेवताः अमावास्यादेवताश्चाप्नातास्ताश्च मिथो नैकवाक्यतां गच्छन्तीति लिङ्गममर्थ्यात्पौर्णमासीप्रयोगादिन्द्राग्निशब्दोत्कर्षे समवेतार्थत्वादमावास्यायां च तत्प्रयोगे तदेकवाक्यताप्रतीतम् 'अवीवृषेतां महो जयायोऽङ्गानाम्' इत्येतदुत्कर्ष्य न प्रयोक्तव्यमुत यन्नेन्द्राग्निशब्द उत्कृष्य नीतस्तत्रैवैतदपि पौर्णमासीत उत्कृष्य प्रयोक्तव्यमिति संशये प्रकरणमविनियोज्यस्वरूपसामर्थ्यमनपेक्ष्याविनियोजकत्वात्तद्रूपालोचनायां च प्रथमभाविनो विनियोजकत्वात्प्रकरणाद्वाक्यस्य शीघ्रप्रवृत्तत्वात् विनियोजकत्वसंभवात्प्रकृतस्य साकाङ्क्षत्वं ज्ञात्वा तेनेदमेकं वाक्यमित्यनुमानात्प्रागेवोक्तिसामर्थ्यात्पदानामेकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षशब्दविरोधेऽनुमानानुत्थानादेवतापनये तच्छेषाणां वाक्यादपकर्ष एवेति । क्रमप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणं राजसूयसंनिधावभिषेचनीयसमवेतशौनःशेषोपाख्यानाप्राप्तात् । नानेष्टिपशुनोमसमुदायो हि राजसूयस्तत्राभिषेचनीयः सोमयागस्तस्य संनिधौ शुनःशेषो नाम काशेऽष्टिपुत्रो हरिश्चन्द्रपुत्रेण पुरुषमेधार्थं पशुत्वेन क्रीतो वरुणाय स्वालम्भे कर्तुमारब्धे वरुणं तुष्टाव स च तुष्टः सन्नेन ररक्षेत्वाख्यां नमक्षघृतादि च श्रुतं तर्हि समस्तराजसूयमुताभिषेचनीयस्यैवेति संशये प्रकरणस्य साकाङ्क्षतायाः प्रत्यक्ष्यासंनिधिपाठेनाभिषेचनीयस्य स्ववाक्योपात्तपदार्थनिराकाङ्क्षस्याप्याकाङ्क्षोत्थापनादुत्थिताकाङ्क्षं प्रकरणमेकवाक्यतादिकल्पनापरंपरया प्रागेव विनियोगकल्पयतीति प्रकरणविरोधे संनिधिर्बाध्यते । क्रमसमाख्ययोर्विरोधोदाहरणं पुरोडाशिकाख्याने काण्डे कर्मणामाग्नेयादीनां क्रमेण मन्त्राः श्रुतास्तत्रामावाक्यकसानां क्रमेण शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे इति शुन्धनार्थो मन्त्रः साम्नातस्तत्र पुरोडाशपात्राणां वा शुन्धने मन्त्रोऽप्युक्तः सांनार्यपात्राणां वेति संदेहे समाख्या संबन्धनिबन्धना सती तदर्थं यावत्संनिधिं कल्पयति तावदैविकेन प्रत्यक्षेण संनिधिनाकाङ्क्षाद्वारा परंपरया श्रुतिं परिकल्प्य विनियोगस्य कृतत्वात्पुरोडाशवादिमन्त्राबाहुल्याच्च तत्समाख्यासिद्धेः स्थानविरोधे न सा विनियोजीति स्थितम् । तदेवं लिङ्गस्यैकया श्रुत्या श्रुत्यर्थविनियोगं प्रति व्यवधानं वाक्यस्य द्वाभ्यां लिङ्गश्रुतिभ्यां प्रकरणस्य सिद्धिर्भाविष्यति श्रुतिभिः स्थानस्य चतसृभिः प्रकरणवाक्यलिङ्गश्रुतिभिः समाख्यायाः स्थानप्रकरणवाक्यलिङ्गश्रुतिभिः पञ्चभिरित्यन्तरेण दान्मिथो विरोधे श्रुतेर्बाधकत्वेन । लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानानां पूर्वापेक्षया बाध्यत्वमुत्तरोत्तरापेक्षया बाधकत्वेत्युच्यते । समाख्याया बाध्यतैवेति विवेकः । मन्त्राणां विद्याशेषत्वं निरस्य प्रवर्ग्यादिकर्मणां तच्छेषत्वं निरस्यति—**तथेति ।** तत्र हेतुः—

विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः । न ह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किञ्चिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—‘वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेत’ इति । अपिचैकोऽयं प्रवर्यः सङ्कटुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि

भामतीव्याख्या

क्रमसमाख्ययोर्विरोधोदाहरणम्—पौरोडाशिक इति समाख्याते काण्डे साक्षात्कर्म च शुन्धत्वं दैव्याय कर्मण इति शुन्धनार्थो मन्त्रः समाहृतः, तत्र संदिश्यते किं समाख्यानस्य बलीयस्त्वात्पुरोडाशपात्राणां शुन्धने विनियोक्तव्यः, आहो साक्षात्पात्राणां शुन्धने क्रमो बलीयानिति । किंतावत्प्राप्तम् । समाख्यानं बलीय इति । पौरोडाशिकशब्देन हि पुरोडाशसंबन्धीनीत्युच्यते तावदधिकृत्य प्रवृत्तं काण्डं पौरोडाशिकम् । ततश्च यावत्क्रमेण प्रकरणाद्यनुमानपरम्परया संबन्धः प्रतिपादनीयः तावत्समाख्यायां शुल्वेव साक्षादेव स प्रतिपादित इति अर्थविप्रकर्षेण क्रमात्समाख्येयं बलीयसीति पुरोडाशपात्रशुन्धने मन्त्रः प्रयोक्तव्यः न साक्षात्पात्रशुन्धन इति प्राप्तम् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समाख्यानात्क्रमो बलवानर्थविप्रकर्षादिति । तथाहि—समाख्या न तावत्संबन्धस्य वाचिका किंतु पौरोडाशविशिष्टं काण्डमाह । तद्विशिष्टत्वात्पात्रानुपपत्त्या तु संबन्धः काण्डस्यानुमीयते न तु साक्षात्मन्त्रभेदस्य । न्यारेण च तन्मध्यपातिनो मन्त्रभेदस्यापि तदनुमानम् । न चासौ संबन्धोऽपि शुल्वेव शेषशेषिभावः प्रतीयते । अपि तु संबन्धमात्रम् । तस्माच्छ्रुतिसादृश्यमस्य दूरोपेतमिति क्रमेण नास्य स्पर्धोचिता । तत्रापि च सामान्यतो दर्शपूर्णमासप्रकरणपादादितैदमर्थस्य शौन-शेषोपाख्यानादिविचारानुपकारकतया प्रकृतमात्रसंबन्धानुपपत्तिः । मन्त्रस्य प्रयोगसमवेतार्थस्मारणेन सामवायिकाङ्गत्वात् । तथाच यं किञ्चित्प्रकृतप्रयोगगतमर्थं प्रकाशयतोऽस्य प्रकरणाङ्गत्वमविरुद्धमिति विशेषापेक्षायां साक्षात्कर्मः साक्षात्वं प्रति प्रकरणाद्यनुमानद्वारेण विनियोगं कल्पयितुमुपसहते न तु समाख्यानम् । तस्य दुर्बलत्वात् । तथाहि—समाख्या संबन्धनिबन्धना सती तसिद्वयार्थे संनिधिमुपकल्पयति यावत्तावद्वैदिकेन प्रत्यक्षदृष्टेन संनिधानेनाकाङ्क्षा कल्प्यते । यावच्च कुप्तेन संनिधानेनाकाङ्क्षा कल्प्यते तावदितरत्र कृतसयाकाङ्क्षैकवाक्यता । यावच्च कृतसयाकाङ्क्षैकवाक्यता तावदितरत्रैकवाक्यता कृतस्योपकारसामर्थ्यम् । यावच्चैकवाक्यतयोपकारसामर्थ्यं तावदितरत्र लिङ्गेन विनियोजिका श्रुतिः । यावदन लिङ्गेन विनियोजिका श्रुतिस्तावदितरत्र कृतसया श्रुत्या विनियोग इति तावत्तैव प्रकरणपाटोपपत्तेः सर्वं समाख्यानकल्पितं विच्छिन्नमूलत्वाद्भूयमानशस्यमिव निर्बाजं भवति । पुरोडाशभिधायकमन्त्रबाहुल्यात्काण्डस्य पौरोडाशिकसमाख्येति मन्तव्यम् । ‘एकद्विविचतुष्षवस्वत्तरत्यकारितम् । शुल्वर्थे प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते ॥’ इत्यर्थविप्रकर्ष उक्तः । तत्रापि च ‘बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा । मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया’ ॥ इति विशेष उक्तो वृद्धेः । तद्वयं विस्तराद्विभ्यतोऽपि प्रथमतन्त्रानभिज्ञातकल्पया निम्ना विस्तरे पतिताः स्म श्युपरस्पन्दे । तस्माद्यथातुज्ञापनातुज्ञयोः प्रज्ञातकर्मयोरुपहृत उपहृयस्वेत्येवं मन्त्रावाप्तातो देशसामान्यात्तथैवाङ्गतया प्राप्तुतः । उपहृत इति लिङ्गतोऽनुज्ञानमन्यो नातुज्ञापने उपहृयस्वेति च लिङ्गतोऽनुज्ञापने च मन्यो नातुज्ञायाम् । तदिह लिङ्गेन क्रमं बाधित्वा विपरीतं शेषत्वमापाद्यते । यावद्धि स्थानेन प्रकरणमुत्पाद्यैकवाक्यत्वं कल्प्यते तावद्विज्ञेन श्रुतिं कल्पयित्वा साधितो विनियोग इति अकल्पितलिङ्गश्रुतेः क्रमस्य बाधः । तद्वदिहापि विनियोगे प्रत्येकान्तरितेन लिङ्गेन चतुस्ततरितस्य वियोकमस्य बाध इति । यद्यपि प्रथमतः एवायमर्थ उपपादितस्तथापि विरोधे तदुपपादनमिह त्वविरोधः । नहि लिङ्गेनाभिचारिककर्मसंबन्धः विद्यासंबन्धेन क्रमकृतेन विरुध्यते । नच विनियुक्तविनियोगलक्षणोऽत्र विरोधो बृहस्पतिसवेऽपि तत्प्रसङ्गात् । अर्थेन प्रतीतिविरोधो नच वस्तुविरोधः स विद्यायां विनियोगेऽपि तुल्यः । तस्मादविरोधाद्रेधादिमन्त्रस्योपासनाङ्गत्वमित्यस्यभ्यधिका शङ्का । तत्रोच्यते—‘नहि लिङ्गविरोधेन क्रमबाधोऽभिधीयते । किंतु लिङ्गपारोच्छिन्ने न क्रमः कल्पनाक्षमः’ । प्रकरणपाटोपपत्त्या हि श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणैरविनियुक्तः क्रमेण प्रकरणवाक्यलिङ्गश्रुतिक्लपनाप्रणालिकया विनियुज्यते । तदविनियुक्तस्य प्रकरणपाठानर्थक्यप्रसङ्गात् । उपपादितं तु श्रुत्यादिभिः प्रकरणपाठे श्रीणत्वादार्थापत्तेः क्रमो न स्वोचितां प्रमाप्तरादयितुमर्हति प्रमिताभावादिति । बृहस्पतिसवस्य तु क्त्वाश्रुतिरेव धातु-सवपाधिकारात्समानकर्तृकतायां विहिता संयोगपृथक्त्वेन विनियुक्तमपि विनियोजयन्ती न शक्या श्रुत्यन्तरेण निरोद्धं स्वप्रपामिति वैषम्यम् । तदिदमुक्तम्—वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरमिति । अपि चैकोऽयं प्रवर्य इति । तुल्यबलतया बृहस्पतिसवस्य तुल्यताशङ्कापाकरणद्वारेण समुच्चयो न तु पृथगुक्तितया परस्परापेक्षत्वादिति । संनिधि-

आनन्दगिरीयव्याख्या

नहीति । अनुपकारकस्य शेषत्वाभावादुपकारकस्य च प्रवर्यादिकृतस्य विद्यायामनिरूपणात् तेषां तच्छेषतैल्यर्थः । यतु विनियुक्त-विनियोगो न विरोधायेत्यत्रोपेक्षवादेनोदाहरणं, तत्राह—वाजपेये स्विति । इद्विति क्त्वाश्रुतिः समानकर्तृकत्वे विहिता संयोगपृथक्त्वेन विनियुक्तमपि विनियोजयत्यतो न तत्र श्रुत्योस्तुल्यबलयोर्मिथो बाध इत्युभयथात्वं बृहस्पतिसवस्यप्रमित्यर्थः । प्रकृते तुल्य-बलत्वं विनियोजकयोर्नास्तीत्याह—अपिचेति । तुल्यबलत्वशङ्कानिरासद्वारा विनियुक्तविनियोगयोगे हेत्वन्तरसमुच्चयार्थमपिचेत्युक्तम् । पुस्तानुपसदामित्यादिवाच्यं बलीयः प्रमाणम् । अन्यत्रेति उक्तोऽष्टोमाद्युक्तम् । दुर्बलं प्रमाणं संनिधिः । अन्यत्रापि विद्योक्ता ।

विनियोगमर्हति । अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्न तु बलवद्बलवतोः प्रमाणयोर्गृह्यमाणविशेषता संभवति बलवद्बलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न संनिधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम् । अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यास्तु संनिधिपाठ इति संतोष्यम् ॥ २५ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुतुपगानवत्सदुक्तम् ॥ २६ ॥



उपायनमनाहार्यं हानायाह्रियतेऽथवा ॥ अश्रुतत्वादान्धेपाद्विद्याभेदाच्च नाहतिः ॥ १ ॥
विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः ॥ हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशतिविधाविवक्षितः ॥ २ ॥
विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् ॥ दोषयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनवर्त्तनात् ॥ ३ ॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् ॥ कर्त्रां न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकृतुमर्हति ॥ ४ ॥

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि’ (छा० ८।१३।१) इति । तथायवर्णिकानाम् ‘तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्’ (मुण्ड० ३।२।८) इति । तथा शाठ्यायनिनः पठन्ति ‘तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्’ इति । तथैव कौपीतकिनः ‘तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्’ (कौ० १।४) इति । तदिह कचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं क्वचित्भयमपि हानमुपायनं च तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किञ्चिद्वक्तव्य-

रत्नप्रभाष्याख्या

ताभिः सहैकफलत्वे च मानं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः । अपिनेत्युक्तार्थम् । ननु तर्हि वेधादिवाक्यानामुपनिषद्भिः सह पाठस्य का गतिस्तामाह—अरण्येति । तस्माद्वेधादिमन्त्रकर्मणां विद्यास्वरूपसंहार इति सिद्धम् ॥ २५ ॥ हानौ तूक्तम् । यथाऽथो रजोयुक्तानि जीर्णरोमाणि त्यक्त्वा निर्मलो भवति तथाहमपि पापं विधूय कृतात्मा निर्मलीकृतचित्तः सन् यथा वा राहुप्रस्तश्चो राहुमुखात्प्रमुच्य स्पष्टो भवति तथा शरीरं धृत्वा त्यक्त्वा देहाभिमानान्मुक्तः सन्नकृतं कूटस्थं ब्रह्मात्मकं लोकं अभि प्रत्यक्त्वेन संभवामीत्यर्थः । यथा नद्यः समुद्रे प्राप्य नामरूपे लयजन्ति तथा विद्वान्निर्लयः । तस्य मृतस्य विदुषः, दाय धनं, तत्तेन विद्याबलेन सुकृतदुष्कृते लयतीत्यर्थः । उपायनं ग्रहणं तस्य त्यागपूर्वकत्वात्, अत्यक्तयोर्ग्रहणायोगात्—गोऽर्थादायाति । यत्र तु त्याग एव श्रुतः तत्र हानोपायनयोः सहभावस्यावश्यकत्वानावश्यकत्वाभ्यां संशयमाह—

भामतीव्याख्या

पाठमुपपादयति—अरण्यादिवचनवादीति ॥ २५ ॥ हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुतुपगानवत्सदुक्तम् । यत्र हानोपायने श्रूयते तत्राविवादः संनिपाते यत्रापायनमात्रश्रवणं तत्रापि नान्तरीयकतया हानमर्थः समित्यस्ति संनिपातः । यत्र तु हानमात्रं सुकृतदुष्कृतयोः श्रुतं न श्रूयते उपायनं, तत्र किमुपायनमुपादानं संनिपतेन वेति

आनन्दगिरिव्याख्या

विरोधाभावादसति विरोधे बाधाभावादुभयत्रापि प्रमाणभ्यां विनियोगः स्यादित्याशङ्क्याह—अगृह्यमाणेति । एतदुभयत्र विनि-
युक्तत्वमेव द्वाभ्यां मानाभ्यामिति यावत् । वाक्यादेः संनिधेश्च विशेषो निश्चितो नास्तीत्याशङ्क्याह—न त्विति । मानयोर्नि-
शेषग्रहे फलितमाह—तस्मादिति । प्रकरणपाठसिद्धये विनियोगो मन्त्रादीनां कल्प्यते । तथाच बलवत्प्रमाणेनान्यत्र विनियोगे प्रकरण-
पाठसिद्धौ न क्रमो विनियोजको दैर्घ्यादित्यर्थः । तर्हि संनिधिपाठस्य का गतिस्तामाह—अरण्येति ॥ २५ ॥ विद्यासंनिधौ
श्रुतस्यापि मन्त्रादेर्विधायामसामर्थ्यादनुपसंहारवत्कचिदेव हानसंनिधौ श्रुतस्योपायनस्य तदन्तरेणापि हानसंभवेन तदुपपादनासामर्थ्य-
दनुपसंहार इत्याशङ्क्याह—हानौ त्विति । विषयं वक्तुं तत्तच्छास्त्रास्यवाक्यानुदाहरति—अस्तीत्यादिना । यथाऽथो जीर्णानि
रोमाणि रजोभिः सह शातयित्वा स्वच्छो भवति तथाहमपि पापं सर्वं विधूय निर्मलः सन्नब्रह्मलोकमभिसंभवामीति संबन्धः । यथा
च चन्द्रो राहुस्तो राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवत्येवं शरीरमकृतमशुद्धं प्रवाहरूपेणानादिसिद्धं वा धृत्वा त्यक्त्वा स्वच्छो भूत्वा
कृतः सिद्धो न पुनरपूर्वपुण्योपचयेन साध्यो यस्य आत्मा सोऽहं कृतकृत्यः सन्नब्रह्मलक्षणं रूपमभिसंभवामि प्रत्यक्त्वेन प्राप्नोमीत्यर्थः ।
तथा ताण्डिनामिवाथर्वणिकानामस्ति श्रुतिरिति संबन्धः । ‘यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय’ इति
दृष्टान्तं पराशरति—तथेति । ताण्डिनश्चाथर्वणिकाश्च तथेत्युच्यन्ते—तथेति । विदुषो मृतस्येत्यर्थः । तथैवेति शाठ्यायनिनो
दृष्टान्तिताः । तत्तेन विद्याबलेन सुकृतं च दुष्कृतं च ते विधूनुते निरस्यति विद्वानित्यर्थः । त्यक्तयोस्तयोर्धनियोगं दर्शयति—
तथेति । विषयपरिशेषार्थमापाततो वाक्यार्थमाह—तदिति । तत्तत्र श्रुताविरोधाद्वेतेषु वाक्येष्विति यावत् । क्वचित्ताण्डिना-
माथर्वणिकानां च श्रुतावित्यर्थः । क्वचित्तयोरेवेत्यत्र क्वचिदिति शाठ्यायनिनश्चुतिरुक्ता क्वचित्भयमित्यत्र क्वचिदिति कौपीतकिनश्चुतिरुक्ता ।

मस्ति । यत्राप्युपायनमेव भ्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं संनिपतति । अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरवश्यकत्वात्सद्धानस्य । यत्र तु हानमेव भ्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः । विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शास्त्रान्तरीयस्य श्रवणस्य । अपिचात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानं परकर्तृकं तूपायनं तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत । तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति । अस्यां प्राप्ता पठति हानौ त्विति । हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि भ्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति । तच्छेषत्वात् । हानशब्दशेषोऽुपायनशब्दः समधिगतः कौपीतकिरहस्ये । तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः । यदुक्तमश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादानवश्यकत्वाच्चासंनिपात इति तदुच्यते । भवेद्देशा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत । न त्विह हानमुपायनं वाऽनु-

रत्नप्रभाभामती

मत्र त्विति । अत्र पूर्वपक्षे स्तुतिप्रकर्षासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । यद्यपि ताण्ड्याधर्वणश्रुत्योर्निगुणविद्यार्थयोः कर्महानमेव श्रुतं नोपायनं तथापि कौपीतकिश्रुतौ पर्यङ्कस्थसगुणब्रह्मविद्यायामुपायनं श्रुतमत्रोपसंहर्तव्यमित्याशङ्क्य विद्याभेदान्नोपसंहार इत्याह—विद्यान्तरेति । किंच यथा मन्त्रकर्मणामनावश्यकत्वाद्विद्यात्वनुपसंहार उक्तः तथा पररूपादानं विनापि हानसंभवेनोपादानस्यानावश्यकत्वाच्च प्राप्तिसिद्धिः दृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते सिद्धान्तयति—हानौ त्वित्यादिना । उपायनशब्दस्य शेषत्वाद्धानशब्देनापेक्षितत्वादिति सूत्रार्थः । अश्वरोमदृष्टान्तेन विधृतयोः पुण्यपापयोः परत्रावस्थानसापेक्षत्वात्पररूपादानं वाच्यमिति भावः । विद्याभेदे गुणानुपसंहार इति व्यवस्थाऽनुष्ठानविषया न स्तुतिविषयेत्याह—तदुच्यते इति । मन्यते सूत्रकार इत्यर्थः । ननु श्रुतहानार्थवादेनापि स्तुतिसिद्धौ किमर्थमुपायनार्थवाद

भामतीव्याख्या

शयः । अत्र पूर्वपक्षं गृह्णाति—असंनिपात इति । स्यादेतत् । यथा श्रूयमाणमेकत्र शास्त्रायामुपासनाङ्गं तस्मिन्नेवोपासने त्वान्तरेऽश्रूयमाणमुपसंक्षिप्यते । एवं शास्त्रान्तरश्रुतमुपायनमुपसंहरित्यत इत्यत आह—विद्यान्तरगोचरत्वाच्चेति । क्वेव श्रुतासकर्मणामन्यत्र श्रुतानामप्यन्यत्र समवायो षट्ते । न त्विहोपासनानामेकत्वं, सगुणनिर्गुणत्वेन भेदादित्यर्थः । ननु योपायनं श्रुतं हानमुपस्थापयत्येवं हानमपि उपायनमित्यत आह—अपि चात्मकर्तृकमिति । ग्रहणं हि न स्वाभिन्नोत्पन्नमन्तरेण भवतीति ग्रहणादपगमसिद्धिरवश्यं भवित्तीति । अपगमस्त्वसत्यप्यन्येन ग्रहणे दृष्टो यथा प्रायश्चित्तेनापगतितरेनस इति । भेदकथनं त्वेतदुपोद्बलनार्थं न पुनरवश्यं भावस्य प्रयोजकमुपायनेनानैकान्त्यादिति । सिद्धान्तमुपक्रमते—अस्यां प्राप्ताविति । एतस्यार्थः—कर्मान्तरे विहितं हि न कर्मान्तर उपसंहियते प्रमाणाभावात् । यत्पुनर्न विधीयते किंतु स्तुत्यर्थं सिद्धतया संकीर्तिते तदस्ति बाधके देवताधिकरणन्यायेन शब्दतः प्रतीयमानं परित्यक्तुमशक्यम् । तथाच विधृतयोः सुकृतदुष्कृतयोर्निर्गुणयां विद्यामश्वरोमादिवर्तिकं भवत्वित्याकाङ्क्षायां न तावत्प्रायश्चित्तेनेव तद्विलयसंभवस्तथा सत्यश्वरोमराहृदृष्टान्तात्तनुपपत्तेः । न जावत्तरोमराहुमुक्तयोर्विलयनमस्ति । अपि त्वश्वचन्द्राभ्यां विभागः । नच नष्टे विधूतनप्रमोचनार्थसंभवः । तस्मादर्थवादादस्यपेक्षायां त्वसंनिधिरुक्तोऽपि विशेष उपायनं बुद्धौ संनिधापयितुं शक्नोत्यपेक्षां पूरयितुमिति । निर्गुणापि विद्या हानोपायनान्यां स्तोतव्या ।

आनन्दगिरियव्याख्या

ए कौपीतकिश्रुतिर्न विचारपेक्षेत्याह—तदिति । शास्त्रान्यनिश्रुतिरपि नापेक्षते विचारमित्याह—यथेति । आर्थको हानसंनिपातं गणयति—अन्यैरिति । परिशिष्टं विषयमाह—यत्र त्विति । हानोपायनयोः सहभावस्यावश्यकत्वानावश्यकत्वाभ्यां संशयमाह—येति । अत्र च विद्यारस्तुतिप्रकर्षप्रयोजनस्योपायनोपसंहारस्योक्त्या वागवार्थधीहेतुवर्णनात्प्रादादिमगतिः । पूर्वपक्षं स्तुतिप्रकर्षादिति सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा पूर्वपक्षं गृह्णाति—अश्रवणादिति । किंचिदश्रवणोऽन्यत्र श्रवणादिहोपसंहारमाशङ्क्याह—येति । विषये सत्युपसंहारः स्यान्न चेह तदस्ति कौपीतकिगतपर्यङ्कविद्यायाः सगुणत्वात्ताण्ड्याधर्वणिकश्रुत्योश्च पुण्यपापविधूतन-स्तुतिं श्रुतविद्याया निर्गुणत्वादिति यत्र हानमेव श्रुतं तत्र नोपायनं संनिपेतदित्यर्थः । न केवलमश्रवणादननुवृत्त्युक्तिविरोधाद-त्याह—अपिचेति । यथा शास्त्रान्यनिश्रुतावुपायने श्रुते हानानुवृत्तिस्तथा ताण्ड्यादिश्रुतावपि हाने श्रुते स्यादुपायनानुवृत्तिरित्याह—अपिचेति । यथा शास्त्रान्यनिश्रुतावुपायने श्रुते हानानुवृत्तिस्तथा ताण्ड्यादिफलमुपसंहारतः—तस्मादिति । अनुपसंहारं स्तुति-इव तत्रानुपपत्त्या संबन्धेऽपि प्रकृते नैवमित्याह—तयोरिति । अश्वरोमादिदृष्टान्तादिप्रतयोः सुकृतदुष्कृतयोः परत्रावस्थानां-कर्षासिद्धिरिति वक्तुमितीत्युक्तम् । सिद्धान्तयति—अस्यामिति । अश्वरोमादिदृष्टान्तादिप्रतयोः सुकृतदुष्कृतयोः परत्रावस्थानां-त्वाच्च हानसंनिधौ श्रुतमुपायनं केवलहानश्रवणेऽप्यपेक्षितत्वादायातीति व्याचष्टे—हानौ त्विति । तुशब्दाभेदाह—तद्व्यापयति । तच्छेषत्वादित्युक्तं विधृतोति—हानेति । हेतुफलमाह—तस्मादिति । अन्यत्र ताण्ड्यादिश्रुतावित्यर्थः । पूर्व-पक्षमनुभाषते—यदिति । यत्रानुष्ठेयत्वेन श्रवणं तत्रोपसंहारे विवैक्यमपेक्षितम् । इह त्वनुष्ठेयशोक्तस्य नोपसंहारः किंतु तदस्य स्तुत्यर्थतयोक्तस्य तेनासति बाधके तस्योपसंहारः रूपाप्रकर्षेत्याह—तदिति । व्यवस्थोक्तिर्विद्याभेदे गुणं प्रति नियम-

ष्टेयत्वेन संकीर्त्यते विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम् । इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्या-
वस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते ते चास्य सुहृद्विषत्सु निविशेते इति ।
स्तुत्यर्थं चास्मिन्संकीर्तने हानानन्तरभाविष्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वाद्व्यत्रापि हानश्रुता-
वुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय । प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तर-
वृत्तिः—‘एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः’ (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु । कथं हीहैकविं-
शतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे द्वादश मासाः पञ्चतैवस्वयं इमे लोका असा-
वादित्य एकविंशः’ इत्येतस्मिन् । तथा ‘त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय’ इत्येवमादिवादेषु ‘इन्द्रियं
वै त्रिष्टुप्’ इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते । विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथम-
न्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । उपायनशब्दशेषत्वादिति
तु शब्दशब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति । गुणोपसंहारविवक्षायां

रत्नप्रभाष्याख्या

आनीयते, तत्राह—स्तुतिप्रकर्षलाभायेति । नन्वर्थवादस्य विधिना संबन्धः प्रसिद्धो नार्थवादान्तरेणेत्यत आह—
प्रसिद्धा चेति । इतो भूलोकादित्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोरैक्यात्पञ्चतैव । यज्ञस्य पुरुषरूपकल्पनायां सेन्द्रियत्वाय त्रि-
ष्टुभौ भवत इत्युक्तं बह्वचब्राह्मणे, तत्र त्रिष्टुभश्छन्दोमात्रत्वात्कथमिन्द्रियत्वकल्पनेत्याकाङ्क्षायां यजुर्वेक्यं संवायत इत्यर्थः ।
नन्वमूर्तयोः पुण्यपापयोः उपादानस्यासंभवादनुपसंहार इत्यत आह—विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चेति । विद्वन्निष्ठयोरेव तयोः
फलं परे प्राप्नुवन्ति विद्यासामर्थ्यादित्युपयन्तिपदेनोच्यत इत्यर्थः । नन्वन्यनिष्ठकर्मणोरन्यत्र फलसंचारः कथम् । ननु
वचनबलादिति चेत् । न । फलमुपयन्तीत्यश्रुतेः । नच यथा पुत्रकृतश्राद्धस्य पितृषु फलं तथात्रेति वाच्यं, यस्य फलमु-
द्दिश्य यत्कर्म विहितं तस्य तत्फलमिति न्यायेन पितृणां तृप्त्युद्देशेन कृतकर्मणो व्यधिकरणफलत्वेऽपि विदुषः कर्मकालेऽनु-
द्दिष्टव्यधिकरणफलायोगात् । किंच विदुषो देहपाते कर्मणोऽसत्त्वाद्यावज्जीवं विद्वत्सेवकस्य तद्विषिणो वा फलं स्यादित्यत
आह—नातीवाभिनिवेष्टव्यमिति । विद्वत्सेवाद्वैभाष्यां विद्वन्निष्ठपुण्यपापतुल्ये पुण्यपापे सेवकद्वेषिणोर्जायते जातयोः
फलतः स्वीकार उपायनमिति परिहारस्य सुलभत्वादानाग्रह इत्यर्थः । उपायनादेः स्तुतिर्त्वे लिङ्गमाह—उपायनेति ।
उपायनविवक्षायामुपायनस्यैवोपसंहारं सूत्रकारो ब्रूयादतः शब्दस्य तं ब्रुवन्स्तुतिं सूचयतीत्यर्थः । विद्याविचारार्त्तमेव पादे लुप्ति-

सामन्तीव्याख्या

स्तुतिप्रकर्षस्तु प्रयोजनं न प्रमाणम् । अप्रकर्षेऽपि स्तुत्युपपत्तेः । न चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तराणां न दृष्टा । नच तेषां पूर्ण-
मित्याह—प्रसिद्धा चेति । विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्येति । यद्यप्यन्यदीये अपि सुकृतदुष्कृते अन्यस्य फलं
प्रयच्छतः, यथा पुत्रस्य श्राद्धकर्म पितृस्तुतिं यथा च पितुर्वैश्वानरीयेष्टिः पुत्रस्य । नार्थाश्च सुरापानं भर्तृनरकम् । तथा-
प्यन्यदीये अपि सुकृतदुष्कृते साक्षादन्यस्मिन् संभवत इत्याशयेन शङ्का । फलतः प्राप्त्या स्तुतिरिति परिहारः । गुणोपसंहारवि-
वक्षायामित्यपि न स्वरूपतः सुकृतदुष्कृतसंचाराभिप्रायम् । ननु विद्यागुणोपसंहाराधिकारे कोऽयमकाण्डे स्तुत्यर्थविचार इति

आनन्दगिरियव्याख्या

स्तदभेदे तदुपसंहार इति निर्देश इत्यर्थः । तर्हि किमर्थमनयोः संकीर्तनं तदाह—विद्येति । संकीर्तनस्य स्तुत्यर्थत्वमभिनयति—
इत्यमिति । अस्तु स्तुत्यर्थं संकीर्तनं तथापि किमर्थं हानावुपायनानुवृत्तिः, तत्राह—स्तुत्यर्थं चेति । हानावुपायनानुवृत्तिं सूत्रकारो
मन्यते चेत्तर्हि कथं स्तुतिप्रकर्षस्योपायनोपसंहारकल्पकत्वं, तत्राह—स्तुतीति । स्तुतिर्हि विद्यायाः कार्या सा च केवलश्रुतहाने-
नापि लभ्या तदैव प्रकर्षोऽपेक्षेत यद्यप्रकर्षे न स्तुतिर्न चैवं तस्मात्प्रमाणसिद्धोपायनोपसंहारस्य फलं स्तुतिप्रकर्षसिद्धिरित्यर्थः ।
ननूपायनवादस्यार्थवादत्वे विधिशेषत्वं तस्य तच्छेषत्वात् न तु हानवादाधैवादशेषत्वं, तत्राह—प्रसिद्धा चेति । इतोऽसावुपेक्षी-
रूपाहोकारिति यावत् । तत्रापि कथमर्थवादान्तरापेक्षा, तत्राह—कथं हीति । इहेति पूर्वोक्तार्थवादोक्तिः । हेमन्तशिशिरयोरेक-
मत्वा पञ्चतैव इत्युक्तम् । अश्रुतमपि श्रुत्यन्तरानुसाराद्ब्राह्ममित्यत्र दृष्टान्तमाह—तथेति । यज्ञस्य पुरुषाकारकल्पनायां सेन्द्रियत्वात्
त्रिष्टुभौ भवत इत्युक्तं बह्वचब्राह्मणे । तत्र त्रिष्टुभश्छन्दोमात्राभिधानात्कथं सेन्द्रियत्वमित्युक्ते वाजसनेयके तथात्वेन त्रिष्टुभ-
स्तत्त्वं गृहीतमित्यर्थः । ननु श्रुत्यन्तरश्रुतमप्युपायनं न हानावुपसंहारार्थं परकीयसुकृतदुष्कृतोपादानस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात्,
तत्राह—विद्येति । विद्यासामर्थ्यादन्यत्र सुकृतदुष्कृतफलसंचारोक्त्या विद्यास्तुतेरिष्टत्वात्तानिनिवेशवकाश इत्यर्थः । उपायनशब्द-
स्तुत्यर्थत्वं कथमित्याशङ्क्य सूत्रकारोक्तिसामर्थ्यादित्याह—उपायनेति । तदेवोपादयति—गुणेति । उपायनार्थशब्दे सुकृतादिवरू-
पोपायनमिष्टं फलत उपायनस्येष्टत्वात् । फलोपसंहारं विनाऽर्थोपसंहारोऽभीष्टश्चेवोपायनशेषत्वादिति स्यात्तच्छब्दशेषत्वादिति चाह तथाच
वदन्नर्थस्योपसंहारं नेच्छतीत्यर्थः । विद्यागुणोपसंहारप्रस्तावे स्तुत्यर्थविचारो न युक्त इत्याशङ्क्य प्राप्तिक्रियावदयमवोपसंहार-

ह्युपायनार्थस्यैव हानावबुधसि ब्रूयात् । तस्माद्गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्श-
नार्थमिदं सूत्रम् । कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम् । तद्यथा भाल्लविनाम्—‘कुशा
वानस्पत्याः स्थ ता मा पात’ इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोगित्वेन श्रवणे शा-
ब्दायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते । यथाच कचिद्देवासु-
रच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे ‘देवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति पैङ्ग्यास्नानात्प्रतीयन्ते ।
यथाच षोडशस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ ‘समयाध्युषिते सूर्ये’ इत्याच्युतेः काल-
विशेषप्रतिपत्तिः । यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः । यथैतेषु
कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय एवं हानावप्युपायान्वय इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं

रत्नप्रभाभ्याख्या

विचारस्य का संगतिरित्यत आह—तस्मादिति । शास्त्रान्तरस्यो विशेषः शास्त्रान्तरेऽपि प्राप्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशेति ।
कुशा उद्गातृणां स्तोत्रगणनाथोः शलाका दारुमयः, भौ कुशा यूयं वानस्पत्याः वनस्थमहावृक्षो वनस्पतिः तत्प्रभवाः
स्थ ता इत्थंभूता यूयं मा पात मां रक्षतेति यजमानप्रार्थना । अत्र ता इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादौदुम्बर्य इति भाष्याच्च
शलाकासु कुशाशब्दस्य स्त्रीत्वं मन्तव्यं दर्भविषयस्य न स्त्रीत्वं, अस्त्री कुशमित्यनुशासनात् । छन्दोदृष्टान्तं व्याचष्टे—
यथाचेति । नवाक्षराणि छन्दांसि आसुराप्यन्यानि दैवानि तेषां कचिच्छन्दोभिः सुवत इत्यादिविशेषप्राप्तौ पैङ्गिवाक्या-
द्विशेषप्रह इत्यर्थः । स्तुतिं विवृणोति—यथेति । अतिरात्रे षोडशिनो ग्रहस्याङ्गभूतं स्तोत्रं कदेति छन्दोगोदीनामाकाङ्क्षया-
पुदयसमयाविष्टे सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमित्यार्च्यभूतेः कालविशेषप्रह इत्यर्थः । ऋचोऽधीयत इत्यार्चोः । उपगानं विभजते—
यथेति । ‘ऋत्विज उपगायन्ति’ इत्यविशेषभूतेः ‘नाध्वर्युरुपगायति’ इति श्रुत्यन्तरादध्वर्युभिर्ना ऋत्विज उपगायन्तीति
विशेषप्रह इत्यर्थः । ननु कुशादिवाक्यानामपि किमिति विशेषश्रुत्यन्तरैकवाक्यताऽन्युपगम्यते, तत्राह—श्रुत्यन्तरकृतं हीति ।
तामान्यविशेषयोरैकवाक्यतारूपायां गतौ सत्यां वाक्यभेदं कृत्वा नाध्वर्युरिति निषेधादविशेषभूतेर्नाध्वर्युरुपगायति नोपगायति
येत्येवं सर्वत्र विकल्पो न युक्तः, त्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प आश्रित इत्यर्थः । विकल्पस्यान्याप्यत्वमष्टदोषदुष्टत्वात् । तथाहि—
दि त्रीहिवक्त्रमाश्रीयते तदा यववाक्यस्येष्टप्रामाण्यत्यागः, अनिष्टप्रामाण्यस्वीकारः, कदाचिद्यववाक्याश्रयणे त्यक्तप्रामा-
यस्वीकारः, स्वीकृताप्रामाण्यत्यागश्चेत्येकस्मिन्ववाक्ये चत्वारो दोषा भवन्ति । एवं त्रीहिवक्त्रेऽपि चत्वारो दोषा इत्येवं

भामतीभ्याख्या

शब्दादुपसंहारपाकरोति—तस्माद्गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेनेति । विद्यागुणोपसंहारप्रसङ्गतः स्तुतिगुणोपसंहारो विचारितः ।
प्रयोजनं चोपासके सौहार्दमाचरितव्यं न त्वसौहार्दमिति । छन्द एवाच्छन्द आच्छादनादाच्छन्दो भवति । यथैव चाविशे-
षेणोपगानमिति । ऋत्विज उपगायन्तीत्यविशेषेणोपगानमृत्विजाम् । भाल्लविनस्तु विशेषेण नाध्वर्युरुपगायतीति । तद-
तस्माद्भाष्यविनां वाक्यमृत्विज उपगायन्तीत्येतच्छेषं विज्ञायते । एतदुक्तं भवति—अध्वर्युवर्जिता ऋत्विज उपगायन्तीति । कस्मा-
स्तुनरैवं व्याख्यायते । ननु स्वतन्त्राप्येव सन्तु वाक्यानीत्यत आह—श्रुत्यन्तरकृतमिति । अष्टदोषदृष्टविकल्पप्रसङ्गभयेन

आनन्दगिरियव्याख्या

तस्मादिति । स्तुत्युपसंहारः स्तुत्युपयोगिनो गुणस्य सुकृतदुष्कृतयोरन्यत्र फलसंचारस्योपसंहारस्तत्प्रकारस्यानुपास्यस्यापि प्रदर्शनार्थं
सूत्रमित्यर्थः । शास्त्रान्तरस्यो विशेषः शास्त्रान्तरेऽप्याश्रयणीय इत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशेति । तदिदमुपमानं यथा तथा व्याख्येय-
मिति प्रतिज्ञाय कुशादृष्टान्तं व्याचष्टे—भाल्लविनामिति । भोः कुशाः शङ्खो यूयं वानस्पत्या वनस्पतिप्रभवाः स्थ भवथ ता मा
मां पात रक्षतेति यजमानस्य वचनम् । औदुम्बरा इति श्रुतेर्दर्भविषयकुशाशब्दस्यास्त्रीत्वम् । अत एवास्त्री कुशमित्यनुशान्तानु-
शेष्टम् । औदुम्बर्य इति भाष्यात्कुशाशब्दस्य शङ्खविषयस्य स्त्रीत्वमपीति विवेकव्यम् । छन्दोदृष्टान्तं व्याचष्टे—यथाचेति ।
नवाक्षरादीनि देवच्छन्दांसि नवाक्षराण्यासुराणि तेषां कचिच्छन्दोभिः सुवत इत्यादाविशेषेण पूर्वोपरारवप्रसङ्गे पैङ्गिभूतिवशादिशे-
षिदिरित्यर्थः । स्तुतिदृष्टान्तं विवृणोति—यथाचेति । अतिरात्रे षोडशिनः पात्रविशेषस्य ग्रहणे यदङ्गभूतं स्तोत्रं तत्काल-
विषयमिति केषांचिच्छन्दोगोदीनां कालविशेषाश्रयणात्कालाविशेषप्राप्तौ सूर्ये समयाध्युषिते समीपाध्युषिते सूर्यस्योदयसंनिधा षोडशि-
नोवमुपाकर्तव्यमिति विशेषधीराचोदित्युतेर्भवत्युचोऽधीयत इत्याचोस्तदीयश्रुतेर्विशेषधीः । यदा ‘समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्र-
पाकरोति’ इति तैत्तिरीयश्रुतेः षोडशस्तोत्रेऽर्थास्तमितकालविशेषसिदिरित्यर्थः । उपगानं विभजते—यथेति । ऋत्विज उपगाय-
न्तीत्यविशेषेणोपगानान्नानाध्वर्युरुपगायतीत्यध्वर्युवर्जिता ऋत्विज उपगायन्तीति विशेषेणोपगानमिति शेषः । दृष्टान्तेऽपि भाष्टमंशमनूष-
ष्टान्तिकमाह—यथेति । दृष्टान्तेऽपि श्रुत्यन्तरस्य श्रुत्यन्तरान्वयो मा भूद्रवन्नेतानि स्वतन्त्राप्येव वाक्यानीत्याशङ्क्याह—
त्यन्तरेति । विकल्पोऽपि त्रीहियववदस्तु नेत्याह—स चेति । अगतिका हीयं गतिविदिकल्पश्रवणे तस्याष्टदोषदुष्टत्वात् । तथाहि—
हिभिर्धैवैर्वा यजेतेति वाक्यद्वयमपि मानं तत्र त्रीहिवक्त्राश्रितं, यववाक्यमनाश्रयणीयं श्रुतेरपेक्ष्यविरोधाच्चगवदुभयादुपगानायोगात् ।

श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात् । स चान्याय्यः सत्यां गतौ । तदुक्तं द्वादश लक्षणायाम्—‘अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्’ इति ।

रक्तप्रभाष्याख्या

दुष्टविकल्पपरिहाराय भिन्नशाखाश्रयोरप्येकवाक्यता जैमिनिसंमतेत्याह—**तदुक्तमिति ।** ज्योतिष्टोमप्रकरणे ‘दीक्षितो न जुहोति, इति श्रुतं ‘यावज्जीवमभिहोत्रं जुहुयात्’ इति चान्यत्र श्रुतं, तत्र यदि नदीक्षितवाक्यं होमप्रतिषेधकं स्यात्तदा क्रत्वर्थत्वान्निषेधोऽनुष्ठेयः, यावज्जीवविधिना होमो वातुष्ठेय इति विकल्पः स्यात्, स चान्याय्यः । अपि तु यावज्जीववाक्यं प्रति नदीक्षितवाक्यस्य शेषत्वात्प्रकार इतरपर्युदासार्थकः स्यादीक्षितान्यलक्षकः स्यात्, न होमप्रतिषेधकः, तस्माददीक्षितो यावज्जीवं जुहुयादित्येकवाक्यतेति नदीक्षिताधिकरणसिद्धान्तसूत्रार्थः । अत्र भगवत्पादैः सूत्रमेव पठितं, मिश्रैस्तु पर्युदासाधिकरणसिद्धान्तसूत्रं ‘अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वादिकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्’ इति स्थितमत्रार्थतः पठित-मित्युक्तं तच्चिन्त्यम् । सूत्रार्थस्तु यज्ञमात्रे येयजामहे इति प्रयोक्तव्यमिति श्रुतं, नानुयाजेषु येयजामहं करोतीत्यपि श्रुतं,

आमतीत्याख्या

वाक्यान्तरस्य वाक्यान्तरशेषत्वमत्रभवतो जैमिनेरपि संमतमित्याह—**तदुक्तं द्वादशलक्षणायाम् ।** ‘अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वादिकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्’ इत्येतदेव सूत्रमर्थदारेण पठति—**अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्** चान्याय्य इति शेषः । एवं किल श्रूयते—‘एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्ग्रेहे यज्ञेऽन्वायत्’ इति ततो नानुयाजेषु येयजामहं करोतीति । तदत्रानारभ्य कंचिद्यज्ञं यज्ञेषु येयजामहकरणमुपदिष्टम् । तदुपदिश्य चाज्ञातं नानुयाजं विविति । तत्र संशयः—किं विधिप्रतिषेधयोर्विकल्प उत पर्युदासोऽनुयाजवर्जितेषु येयजामहः कर्तव्य इति । मा भूदर्थप्राप्त-शास्त्रीयेण निषेधेन विकल्पः । दृष्टं हि तादात्विकीमस्य सुन्दरतां गमयति नायतौ दोषवत्तां निषेधति । तस्य तत्रौदासीन्याद् निषेधशास्त्रं तु तादात्विकं सौन्दर्यमबाधमानमेव प्रवृत्त्युत्प्लुतं नरं निवारयदायत्यामस्य दुःखकलत्वमवगमयति । यथा ‘अकर्तव्यो दुःखफलः’ इति । ततो रागतः प्रवृत्तमप्यायत्यां दुःखतो विन्यतं पुरुषं शक्नोति निवारयितुमिति बलीय-शास्त्रीयः प्रतिषेधो रागतः प्रवृत्तेरिति न तथा विकल्पमर्हति । शास्त्रीयौ तु विधिनिषेधां तुल्यबलतया षोडशिमहणवद्विकल्पेन तत्र हि विधिदर्शनप्रधानस्योपकारभूयस्त्वं कल्प्यते । निषेधदर्शनाच्च वैशुण्येऽपि फलसिद्धिरवगम्यते । यथा—‘अर्धप्राप्तवदिति चेन्न तुल्यत्वाद्भयं शब्दलक्षणम्’ इति । नच वाच्यं यावद्यजतिषु येयजामहकरणं यावद्यजतिसामान्यद्वारेणानुयाजं यजतिविशेषमुपसर्पति तावदनुयाजगतेन निषेधेन तन्निषिद्धमिति शीघ्रप्रवृत्तेः सामान्यशास्त्राद्विशेषनिषेधो बलवानिति । यतो भवत्वेवंविधेषु ब्राह्मणेश्वरो दधि दीयतां तर्कं कौण्डिन्यायेति । तत्र तर्कविधिर्न दधिविधिमपेक्षते प्रवर्तितुमिह तु प्राप्ति-पूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य येयजामहस्य चान्यतोऽप्राप्तेस्तन्निषेधेन निषेधप्राप्त्यै तद्विधिरपेक्षणीयः । नच सापेक्षतया निषेधाद्विधेरि बलीयानित्यतुल्यशुद्धतया न विकल्पः किंतु निषेधस्यैव बाधनमिति सांप्रतं, तथा सति निषेधशास्त्रं प्रमत्तगीतं स्यात् । नच तद्युक्तं तुल्यं हि सांप्रदायिकम् । नच न तौ पशौ करोतीतिवदर्थवादता । असमवेतार्थत्वात् । पशौ हि नाज्यभागो स इदं पृथक्ते । न चात्र तथा येयजामहाभावः, यजतिषु येयजामहविधानात् । अनुयाजानां च तद्भावात् । नच पर्युदासस्तदानुयाजे-विति, कात्यायनमतेन नियमप्रसक्तेः । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धतया विकल्प इति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—उक्तं षोड-शिमहणप्रहणयोर्विकल्प इति । नहि तत्रान्या गतिरस्ति । तेनाष्टदोषदुष्टोऽपि विकल्प आस्थीयते पक्षेऽपि प्रामाण्यात्मा भूत्प्रमत्तगीततेति । इह तु पर्युदासेनाप्युपपत्तौ संभवत्यामन्याय्यं विकल्पाश्रयणमयुक्तम् । एवं हि तदा नञः संबन्धेऽनु-

आनन्दगिरीयव्याख्या

अतो यववाक्यस्य मानत्वं हेतुश्रुते त्याज्यं तस्य त्यक्तमानत्वस्यामानत्वमेष्टव्यम् । केनापि हेतुना प्रयोगाङ्गत्वेन यवाङ्गीकारे त्यक्तमान-त्वस्य पुनराश्रयणं तन्निरासेन स्वीकृतामानत्वस्य पुनस्त्यागश्चेत्येकस्मिन्वाक्ये चत्वारो दोषाः । द्वितीयेऽपि वाक्ये प्राप्तत्वात्प्राप्त-यणत्यक्तस्वीकारोपात्तत्वागा इति त एव दोषाः । तथापि तुल्यबलत्वाद्वास्तव्यन्तराभावाच्च त्रीहियववाक्ययोर्विकल्पोऽस्वीकृतः । यथाहुः—‘एवमेवोऽष्टदोषोऽपि यद्वीहियववाक्ययोः । विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते’ इति । इह तु सत्यां गतौ न तदाश्रय-मित्यर्थः । अष्टदोषविकल्पपरिहाराय वाक्यान्तरशेषत्वं वाक्यान्तरस्य जैमिनेरपि संमतमित्याह—**तदुक्तमिति ।** द्वादशलक्षणायाम् मीमांसायां दाशमिकमुदाहरति—**अपि स्विचि ।** दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचतीति ज्योतिष्टोमाधिकारे श्रुतं तत्र किं सर्वदानक्षोमपाकानां निषेधः किंवा तेषामक्रतुप्रयुक्तानामथ वा तत्प्रयुक्तानामपि चोदकप्राप्तानामाहो पर्युदास इति संशये स्मृतौ मादिनिषेधे प्रत्यक्षविधिविरोधादक्रतुप्रयुक्तानां वा तत्प्रयुक्तानामपि चोदकप्राप्तानामानुमानिकतया निषेधस्य प्रत्यक्षाविकृद्भावेन निषेध-शक्यत्वाभिषेध इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रमपि त्वित्यादि । तुल्यदोषवधारणार्थो नायं निषेधः किंतु न दीक्षितोऽदीक्षितः । श्रुतकानामि-तरेषामविशेषेण होमादीनां ज्योतिष्टोमे कस्य पर्युदासः स्यादित्यत्र हेतुमाह—**वाक्येति ।** अहरद्वेद्यादिति विशेषः । तस्यादिति नास्ति । पर्युदासमनाश्रित्य निषेधेऽमीहे ज्योतिष्टोमे दानादीनां विकल्पः स्यात्स चान्याय्य इत्याह—**प्रतिषेधे इति ।** अपि तु

अथवैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम् । किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृत-
योर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति । तत्र चैवं प्रापयितव्यम् । न हानं विधूननमभिधीयते
'धूय कम्पने' इति स्मरणात् । दोषयुक्ते ध्वजाप्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाप्रेषु प्रयो-
गदर्शनात् । तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते । चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फल-
प्रतिबन्धनादित्येवं प्राप्य प्रतिषक्तव्यम् । हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति । उपायन-
शब्दशेषत्वात् । नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति ।

रत्नप्रभाभ्याख्या

त्र नकारस्य निषेधकत्वेऽन्यतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिवानुयाजेषु यज्ञत्वाविशेषाप्रयोजक्यं निषेधात् प्रयोजक्यमिति
कपः स्यात्, तस्यान्याध्यत्वात् येयजामहविधेरेव नानुयाजवाक्यमेकदेशः स्यात्, पर्युदासवृत्त्या विधिवान्वयः
स्यादिति यावत् । तथा चानुयाजभिन्नेषु यागेषु येयजामह इति प्रयोजक्यमित्येकवाक्यतेति । वर्णकान्तरमाह—
अथवेति । पूर्वत्र विधूननं कर्महानिरिति सिद्धवत्कृत्य उपायनोपसंहार उक्तः, अत्र सैव साध्यत इति भेदः । उभयत्र
लक्षणासाम्यात्संशयमाह—किमिति । विधूननस्य हि फलद्वयमश्वरोमादिषु दृष्टं पूर्वस्वभावात् च्युतिरन्यत्र संक्रान्तिश्चेति ।
तत्र संक्रान्तिरूपहानिर्लक्षणीया किंवा च्युतिरिति संशयार्थः । तत्र विधूननशब्दस्य कम्पनं मुख्यार्थ इति तावत्सर्वसंमतम् ।
तच्चामूर्त्योः पुण्यपापयोर्न संभवति । अतस्तथोक्तं स्वभावः फलदातृत्वशक्तिस्तत्वालनं विधया प्रतिबन्धाच्च्युतिः सा लक्ष-
णीया न हानिरमूर्तयोरन्यत्र संक्रान्त्ययोगादन्यसापेक्षत्वाच्चेति पूर्वपक्षार्थः । सिद्धान्तयति—हानावेवेति । यदि च्युतिमात्रं
लक्ष्यं तदोपयन्तीत्यनन्वितं स्यात् । नच यत्र धुनोतेरुपायनशब्दसंनिध्यं तत्र हानिर्लक्ष्यते न केवलधुनोतेर्हानिश्चाप्यत्र

भामतीभ्याख्या

याजेषु यजतिष्वनुयाजवर्जितेषु येयजामहः कर्तव्य इति । किमतो यथेवम् । एतदतो भवति—नानुयाजेष्वित्येतद्वाक्यमपरिपूर्णं सा-
काङ्क्षं पूर्ववाक्यैकदेशेन संभन्स्यते यदेतयेयजामहं करोतीत्येतन्नानुयाजेषु यावदुक्तं स्यादनुयाजवर्जितेष्विति तावदुक्तं भवति
नानुयाजेष्विति । तथाच यजतिविशेषणार्थत्वादननुयाजविधेरवायमिति प्रतिषेधाभावाच्च विकल्पः । न चाभियुक्ततराणि निविरोधे
कालायनस्यासद्वादित्वं नित्यसमासवादिनः संभवति । स हि विभाषाधिकारे समाम शास्ति । तस्मादननुयाजवर्जितेषु येयजामह-
मिथानमिति सिद्धम् । वर्णकान्तरमाह—अथवैतास्त्विति । यथा हि सुकृतदुष्कृतयोरमूर्तयोः कल्पनं नाजसं मूल्यनृविधा-
यित्वात्कम्पस्य । तथान्यदीययोरन्यत्र संचारोऽप्यनुपपन्नोऽमूर्तत्वादेव । तस्माद्यत्र विधूननमात्रं श्रुतं तत्र कम्पनेन वरं स्वकार्यो-
रभ्याच्चालनमात्रमेव लक्ष्यतां न तु ततोऽपगत्यान्यत्र संचारः कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । तस्मात्स्वकार्योर्भ्याच्चालनं विधूननमिति
प्राप्तेऽभिधीयते—यत्र तावदुपायनश्रुतिस्तत्रावश्यं त्यागो विधूननं वक्तव्यम् । कचिदपि चेद्विधूननं त्यागे वर्तते तथा सत्यन्यत्रापि
तैव वर्तितुमर्हति । एवं हि न वर्तते यदि विधूननमिह मुख्यं लभ्येत । न चेत्तदस्ति । तत्रापि स्वकार्याच्चालनस्य लक्ष्य-

भानन्दगिरियव्याख्या

वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वादिकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात् इत्येतद्वाक्यमिति वा भूयमर्थद्वारा पठति—अपि खिति । एष वै
सप्तदशः प्रजापतिर्ब्रह्मन्वायत्त इत्युपक्रम्याश्चावयेति चतुरक्षरमस्तु औपडिति चतुरक्षरं यजेति ब्रह्मरं ये यजामह इति
पञ्चाक्षरं ब्रह्मरो वषट्कार इति सप्तदशाक्षरं मन्त्रगणं सप्तदशकलिङ्गद्वयसमष्टिरूपप्रजापतित्वेन स्तुत्वा यज्ञे यज्ञेऽन्वाय-
तोऽनुगत इत्यनारभ्यवादेन सर्वयज्ञेषु मन्त्रगणो विनियुक्तः । तत्र च यज्ञेषु येयजामहकरणमुक्त्वा नानुयाजेष्विति श्रुतम् । तत्र
नानुयाजेष्विति निषेधाद्विधिनियमसंनिपाताद्विकल्पो वा स्यात्पर्युदासेनानुयाजं वर्जयित्वेतरेषु यजतिषु येयजामहः कर्तव्य इति वाक्य-
शेषः सन्विधेरेव वेति संदेहे विधिनियमयोः शास्त्रीयतया तुल्यबलवत्त्वेन षोडशिग्रहणाग्रहणवदिकल्पे प्राप्ते सिद्धान्तितमपि
वेति । नानुयाजेष्वित्यर्थं न निषेधोऽपि तु येयजामहकरणविधेरान्वयशेषः सन्पर्युदासः स्यात्निषेधे तु विकल्पे भवेत्तस्यान्यायत्वात्वा-
येयजामहकरणविधीनां नानुयाजेष्विति पर्युदासः सत्रकदेशः स्यादतः षोडशिग्रहणाग्रहणयोरगत्या विकल्पेऽपि प्रकृते पर्युदासेनोपपत्ता
सप्तदशाक्षरानुयाजवर्जितेषु यजतिषु येयजामहः कर्तव्य इति विधेरान्वयमित्यर्थः । वर्णकान्तरमाह—अथवेति । सुकृतदुष्कृते विधूनुत
इत्यादौ विधूननशब्दं विषयीकृत्य धात्वर्थमुच्यतोपायनशब्दसंनिधिभ्यां संशयमाह—किमिति । अर्थान्तरं चालनम् । मन्त्रादीनां
विधानसिन्धेरैकचित्करत्वं यत्रापि विधूननशब्दस्योपायनशब्दसंनिधिरप्रयोजक इत्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे विधा-
नशब्दं सुकृतादिनिवृत्तिः । सिद्धान्ते ततस्तत्सिद्धिः । पाणिनिस्मरणं पूर्वपक्षे दत्तकरोति—धूमिति । लोकप्रयोगमाम्ब्याच्च विधू-
नस्य चालनेत्याह—दोषयुक्त इति । स्मृत्या लोकतश्च सिद्धं निगमयति—तस्मादिति । कम्पनस्य मूल्यनुविधानादमूर्तयोः
सुकृतदुष्कृतयोर्न तत्पक्षमित्याशङ्क्य विशिष्टार्थक्रियाकारित्वाभावात्सद्वर्णोऽत्र लक्षणीय इत्याह—चालने खिति । चालनस्य विधू-
ननत्वे विषया न सुकृतादिष्वस्तिरिति फलं वक्तुमितीत्युक्तम् । पूर्वपक्षमनुमाप्य सूत्राक्षरेः सिद्धान्तयति—एवमिति । उपायन-
शब्दशेषत्वादित्युपायनशब्दसंनिधौ विधूननशब्दस्य श्रुतत्वादिति । तदेव प्रपचयति—नहीति । पूर्वपक्षेऽपि लक्षणाभ्याम्ब्याच्च-

यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्-
वत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते । कचिदपि चेदं विधूननसंनिधा-
पायनं श्रूयमाणं कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्रापेक्षमाणं सार्वत्रिकं निर्णयका-
रणं संपद्यते । नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति । अद्रव्यत्वात् । अश्वश्च
रोमाणि विधून्वानस्त्यजग्रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि
विधूय पापम्' (छा० ८।१३। १) इति च ब्राह्मणम् । अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न सरण-
विरोधः । तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

सांपराये तर्तव्याभावास्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥



कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा सरणात्पुरा ॥ उत्तीर्णं विरजां त्यागस्तथा कौपीतिक्रियुते ॥ १ ॥

कर्मप्राप्यफलाभावाग्न्ये साधनवर्जनात् ॥ ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो वाच्यः कौपीतिक्रमः ॥ २ ॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौपीतिक्रिः पर्य-

रत्नप्रभाव्याख्या

विदुषः सेवकादौ तुल्यकर्मसंकान्तिरिति नासंभव इति वाच्यं, केवलधुनोतेरपि मुख्यार्थासंभवेनान्यत्र लक्ष्यतया बुद्धि-
स्थहानिलक्षणाया एव युक्तत्वादिति भावः । उपायनस्यामुख्यत्वात् कापि हानिलक्षणानीजत्वमिति शङ्कित्वा पुण्यपापयो-
फलतः स्वीकारात्मकमुपायनं हानिं विनानुपपन्नं सल्लक्षणाणिर्णायकमिति परिहरति—यद्यपीत्यादिना । यथान्यत्रभुत-
मौदुम्बरत्वादिकं कुशादिनिर्णायकं तथेदमुपायनं विधूननस्य हानत्वे निश्चायकमित्याह—कचिदपीति । विधूननं मुख्य-
किमिति नोच्यते, तत्राह—नचेति । तथापि हानं कथं लक्ष्यत इत्याशङ्क्य मुख्यसंबन्धादित्याह—अश्वश्चेति ।
अनुपपत्तिसंबन्धौ लक्षणाबीजरूपावुक्त्वा लक्षकं पदं निर्दिशति—अश्व इवेति । विधूयेति पदं दृष्टान्ते हानपर्यन्तं स-
हाष्टान्तिकेऽपि हानलक्षकमित्यर्थः । यद्वा हानवाचकमेवास्तु नच धूञ्कम्पन इति धातुपाठविरोधस्तस्योपलक्षणार्थत्वा-
दित्याह—अनेकेति । शाखान्तरस्थमुपायनं विधूननस्य हानत्वनिश्चायकमित्यत्र जैमिनिसूत्रं तदुक्तमिति गृहीतपूर्वं व्याख्या-
तमित्यर्थः । एवं विधूननस्य हानित्वसिद्धेः केवलहानावुपायनोपसंहार इति सिद्धम् ॥ २६ ॥ सांपराये अन्ये । व्यर्थं न
अर्धमार्गे । पूर्वोक्तं विधूननस्य हानत्वमुपजीव्य हानस्य नदीतरणानन्तर्यश्रुतेरश्व इव रोमाणि इत्यादौ देहत्यागात्प्राज्ञात्मक-

भामतीव्याख्या

माणत्वात् । नच प्रामाणिकं कल्पनागौरवं लोहगन्धितामाचरति । अपिचानेकार्थत्वाद्भातूनां त्यागेपि विधूयेति मुख्यमेव शि-
ष्यति । प्राचुर्येण त्यागेपि लोके प्रयोगदर्शनात् । विनिगमनाहेतोरभावात् । गणकारस्य चोपलक्षणत्वेनाप्यर्थनिर्देशस्य तत्र
दर्शनात् । तस्माद्धानार्थ एवात्रेति युक्तम् ॥ २६ ॥ सांपराये तर्तव्याभावास्तथा ह्यन्ये । ननु पाठक्रमादर्थपथे सुकृत-
दुष्कृततरणे प्रतीयेते । विद्यासामर्थ्याच्च प्रागेवावगम्यते । तथा शास्त्रायनिनां ताण्डिनां च श्रुतेः । श्रुत्यर्थं च पाठक्रमादलोपाय-
'अग्निहोत्रं ब्रह्मोति यवागूं पचति' इत्यत्र यथा । तस्मात्पूर्वपक्षभावादनात्म्यमेतत् । अत्रोच्यते । नेतृपाठक्रममात्रमपि तु श्रुतिस्त-
कृतदुष्कृते विधूनुत इति । तदिति हि सर्वनाम तस्मादर्थे सन्निहितपरामर्शकं तस्य हेतुभावमाह । सन्निहितं च यदनन्तं
श्रुतम् । तच्चार्थपथवर्ति विरजानदीमनोऽभिगमनमित्यर्थपथ एव सुकृतदुष्कृतत्यागः । नच श्रुत्यन्तरविरोधः । अर्थपथेऽपि
पापविधूनने ब्रह्मलोकसंभवात्प्राक्कालतोपपत्तेः । एवं शास्त्रायनिनामप्यविरोधः । नहि तत्र जीवमिति वा जीवत इति वा

आनन्दगिरिव्याख्या

धूननशब्दसंनिहितोपायनशब्दानुसारेण हानमेव लक्ष्यमित्यर्थः । उपायनस्यापि मुख्यस्यायोगात्तच्छेषतया कथं हानमित्याशङ्क्या—
यद्यपीति । उपायनशब्दस्य विधूननशब्दसंनिधौ कचिदेव भावात्कथं तद्वशास्त्रिण्यः, तत्राह—कचिदपीति । यथा कुशादि-
कचिदुक्तेषु संदिग्धेषु श्रुत्यन्तराश्रितयोऽस्मीकृतस्तथेदमुपायनं विधूननसंनिधौ कचिदेव श्रुतमपि यत्र यत्र विधूननं श्रूयते तत्र तत्र
सर्वत्र तत्संदिग्धार्थनिर्णायकत्वेनापेक्षितं निर्णायकमित्यर्थः । यत्तु लौकिकप्रयोगाद्विधूननं कम्पनमेवेति, तत्राह—नचेति । दृष्टान्ते
कम्पनस्यैव दृष्टेर्दृष्टान्तिकेऽपि तदेव ग्राह्यमित्याशङ्क्याह—अश्वश्चेति । हानमपि तत्र भातीयर्थः । तथापि दार्ष्टान्तिके विधूननं
चालनमेवेत्याशङ्क्य तयोस्तुत्यत्वान्मैवमित्याह—अश्व इवेति । यत्तु पाणिनिसरणाद्विधूननं कम्पनमेवेति, तत्राह—अनेकेति ।
श्रुत्यन्तरस्थो विशेषः श्रुत्यन्तरेऽनाश्रितशब्दिकल्पः सर्वत्र स्यात् । स चायुक्तः सत्यां गताविति पशुदासाधिकरणे
तदुक्तमिति ॥ २६ ॥ कर्मक्षयहेतुत्वं विधायाः सिद्धं कृत्वा हानसंनिधावुपायनोपसंहारो दर्शितः संप्रति तदेवासिद्धं मार्गमेषं
श्रुतकर्मक्षयस्य विधाहेतुत्वाभावादित्याशङ्क्याह—सांपराय इति । यद्वा द्वितीयवर्णकोक्तविधूननशब्दस्य हानत्व-
निरूप्यते । विधूननं हानमित्युक्त्वा तदेव कचिद्व्यवन्धनेपथे श्रुतं विचारयितुं विचारविषयमाह—देवयानेनेति । उक्तं विषय-

द्विविधायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याभिलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्यु-
पक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४)
इति । तर्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति सांपराय इति । सांपराये
गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते । हेतुं
चाचष्टे तर्तव्याभावादिति । नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्ततोऽन्तराले सुकृत-
दुष्कृताभ्यां किञ्चित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्पेयाताम् । विद्याविरुद्ध-
फलत्वानु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति ।
तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते । तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाठ्या-
यनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति 'अथ इव रोमाणि विधूय पापम्'
(छा० ८।१३।१) इति, तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुक्रुत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्
इति च ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

युत्थे संशयमाह—तस्मिन्मिति । ब्रह्मलोकमार्गमध्ये विरजाख्यां नदीमत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते, इत्यत्र तदिति-
र्ष्वनामश्रुत्यात्तेनेत्यर्थतया संनिहितनदीतरणस्य कर्महानिहेतुत्वोक्तैरर्धपथे कर्मक्षय इति पूर्वपक्षः । तत्र विद्यायाः
कर्मक्षयहेतुत्वासिद्धिः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तयति—सांपराय इति । मरणात्प्रागित्यर्थः ।
संपरेतस्य मृतस्य कंचित्कालं कर्मसत्त्वे फलाभावादेवयानमार्गप्रवेशायोगाच्चादावेव क्षय इत्यर्थः । क्षयहेतोर्विद्याया मध्ये-
मार्गमसत्त्वाच्चेत्याह—विद्याविरुद्धेति । नदीतरणानन्तरपाठस्तु बाध्यः, अर्थविरोधादित्याह—तस्मादिति । तदिति
सर्वनाम्नापि प्रकृतविधौबोध्यत इति भावः ॥ २७ ॥ किंच मृतस्य छन्दतो यथाकामं विद्यानुष्ठानानुपपत्तेरुभयोर्विद्याकर्म-

भामतीव्याख्या

श्रुतम् । तथा चार्धपथ एव सुकृतदुष्कृतविमोक्तः । एवं च न पर्यङ्कविद्यातत्त्वप्रक्षय इति पूर्वः पक्षः । राक्षान्तस्तु विद्यासा-
मर्थ्यविधूतकल्मषस्य ज्ञानवत उत्तरेण पथा गच्छतो ब्रह्मप्राप्तिर्न चाप्रक्षीणकल्मषस्योत्तरमार्गगमनं संभवति । यथा यवागृश-
कात्प्राप्ताग्निहोत्रम् । यमनियमाद्यनुष्ठानसहिताया विद्याया उत्तरेण मार्गेण पर्यङ्कस्यब्रह्मप्राप्त्युपायत्वश्रवणात् । अप्रक्षीणपापमन्त्र
तदनुपपत्तेः । विधौ तादृशी कल्मषं क्षययति क्षपितकल्मषं चोत्तरमार्गं प्रापयतीति कथमर्धपथे कल्मषक्षयः । तस्मात्प्रा-
ठकमबाधेनार्थक्रमोऽनुसृत्यः । ननु न पाठक्रममात्रमत्र, तदिति सर्वनामश्रुत्या संनिहितपरामर्शदित्युक्तम् । तदयुक्तं बृद्धिसं-
नियानमात्रमत्रोपयुज्यते नान्यत्, तच्चानन्तरस्येव विद्याप्रकरणाद्विद्याया अपीति समाना श्रुतिरुभयापितीति । अर्थपाठो परिशि-
ष्यते तत्र चार्थो बलीयानिति । न च ताण्ड्यादिश्रुत्यविरोधः पूर्वपक्षे । अथ इव रोमाणि विधूयेति हि स्वतन्त्रस्य पुरुषस्य

आनन्दगिरियव्याख्या

वचनमधिकृत्य श्रुतिविप्रतिपत्त्या संशयमाह—तदिति । अथ इव रोमाणि विधूय पापमित्यादिभ्य भूत्वा शरीरमित्युक्त्वा ब्रह्मलोक-
मभिसंभवामीति श्रुत्या देहत्यागात्प्रागेव सुकृतादिहानोक्तैर्विद्यासामर्थ्याच्च जीवत एव तद्वानसिद्धेः सति पुष्कले हेतौ कार्यक्षेपायोगा-
द्विषायाश्च कर्मक्षये पुष्कलहेतुत्वात्सुकृतदुष्कृते विधूनुत इत्यत्र च पाठक्रमाधर्धपथे सुकृतादित्यागानुगमात्पाठक्रमान्तराधिक्यस्य
अवत्त्वात्पूर्वपक्षमात्रमाशङ्क्य तत्प्राप्तिमाह—श्रुतीति । तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुत इत्येतन्न पाठमार्थं किंतु तच्छब्देन सर्वनाम्ना
तस्मादिति हेतुर्थेन विरजानव्यतिक्रमस्य विधूनुतं प्रति हेतुतां वदन्ती श्रुतिरियम् । न च श्रुत्यन्तरविरोधोऽर्धपथेऽपि कर्मक्षयस्य
ब्रह्मलोकसंभवनत्वात्कालवसिद्धिरिति भावः । विधूनुतशब्दवत्सुकृतादिहानस्य कालोक्तिद्वारा वाक्यार्थार्थाहेतुकथनात्प्रादासंगतिः ।
पूर्वपक्षे विद्यासामर्थ्यानादरः । सिद्धान्ते तदादरणमित्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षप्राप्तिमुक्त्वा सिद्धान्तमुत्रमवतार्य योजयति—पठती-
पादिना । किं फलवशादधर्धपथे दुष्कृतादिहानं कल्प्यं किंवा तत्रैव हानहेतोः सत्त्वात् । तत्रार्थं प्रत्याह—नहीति । संपरेतस्य
परलोकं प्रति प्रस्थितस्येत्यर्थः । द्वितीयं निराह—विद्येति । अनपाकृतपापस्य देवयानेन पथा गमनायोगाज्जीवत एव विदुषो
विद्यासामर्थ्यात्प्राप्तानमित्यर्थः । का तर्हि कौपीतकिश्रुतेर्गतिः, तत्राह—तस्मादिति । तदितिसर्वनामश्रुत्या प्रकरणपठितवि-
द्यायाः प्राधान्यात्परामर्शद्विरजानव्यतिक्रमस्यानन्तरप्रकृतसाध्याप्राधान्यादपरामर्शात्पाठक्रमबाधेनार्थक्रमः स्वीकर्तव्य इत्यर्थः । किंच
सति पुष्कलहेतौ कार्यं भवत्येवेतिन्यायानुगृहीतं श्रुत्यन्तरमेव बलवदिति मत्वा श्रुत्यन्तरमुदाहरत—तथाहीति । नहि तस्यावि-
रोधेन नयनं पूर्वपक्षे युक्तं विधूय पापमिति विधूनुते पुंसः स्वातन्त्र्यवृद्धेरित्याशयेनाह—अथ इवेति । किंच प्रागवस्थायामेव
सुकृताद्यादानस्य श्रुत्वाद्दृते च तत्त्यागात्तदादानयोगाच्चाधर्धपथे कर्मनिवृत्तिरित्याह—तस्येति ॥ २७ ॥ विद्याफलत्वाद्ब्रह्मलोका-

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्वेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात् । तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात् । तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानिमिति द्रष्टव्यम् । एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाख्यायनिश्च्युत्योश्च संगतिरिति ॥ २८ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥



उपास्तिबोधोर्मागः समो यद्वा व्यवस्थितः ॥ सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानवत् ॥ १ ॥

देवान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु ॥ आरोग्यबद्धोपफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

कचित्पुण्यपापापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते कचिन्न । तत्र संशयः—किं हानावशिष्टे वैणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन कचित्संनिपतेत्कचिन्नेति । यथा तावद्धानावशि-

रत्नप्रभाष्याख्या

क्षययोः श्रुतो हेतुफलभावो विरुध्यते । किंच सति पुष्कलहेतौ न कार्यविलम्ब इति न्यायोपेतताण्ड्यादिश्रुतिविरोधस्तत्र स्यादस्तपक्षे त्वविरोध इत्याह—छन्दत इति । तस्मात्कर्महानस्य विद्याफलत्वात्केवलहानावुपायनोपसंहारो विद्यासुतम इति सिद्धम् ॥ २८ ॥ गतेरर्थवत्त्वं । कचित्सगुणविद्यायां मार्गः श्रूयते निर्गुणविद्यायां न श्रूयते । तत्र हानसंनिधौ मार्गस्य श्रुतत्वादनपेक्षितत्वाच्च संशये दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—यथा तावदिति । उपायनवन्मार्गस्यापि कचिच्छ्रु-

भासतीत्याख्या

व्यापारं ब्रूते नच परेतस्यास्ति स्वातन्त्र्यम्, तस्मात्तद्विरोधः ॥ २७ ॥ छन्दत उभयाविरोधात् । केम्यश्चित्यदेव इह सूत्रम् । ननु यथा परेतस्योत्तरेण पथा ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति विद्याफलमेवं तस्यैवार्धपथे सुकृतदुष्कृतहानिरपि भविष्यतीति शङ्कापदानि तेभ्य उत्तरमिदं सूत्रम् । तद्व्याचष्टे—यदि च देहादपसृप्तस्येति । विद्याफलमपि ब्रह्मप्राप्तिनोपरेतस्य भवितुमर्हति शङ्कापदेभ्यः । यथाहुः—नाजनित्वा तत्र गच्छन्तीति । सुकृतदुष्कृतप्रक्षयस्तु सत्यपि नरशरीरे संभवतीति समर्थस्य हेतोर्गमनियमादिसहिताया विद्यायाः कार्यक्षयायोगाद्युक्तो जीवत एव सुकृतदुष्कृतक्षय इति सिद्धम् । छन्दतः स्वच्छन्दतः स्वेच्छयेति यावत् । स्वेच्छयानुष्ठानं यमनियमादिसहिताया विद्यायाः । तस्य जीवतः पुरुषस्य स्यान्न मृतस्य । तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानं स्याज्जीवत एव । समर्थस्य क्षेपायोगात् । एवं कारणानन्तरं कार्योत्पादे सति निमित्तनैमित्तिकयोस्तद्भावस्योपपत्तिस्ताण्डिशाख्यायनिश्च्युत्योश्च संगतिरितरथा स्वातन्त्र्याभावेनासंगतिरुक्ता स्यात् । तदनेनोभयाविरोधो व्याख्यातः । ये तु परस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते कथं परत्र संक्रामत इति शङ्कोत्तरतया सूत्रं व्याचरन्त्युः । छन्दतः संकल्पत इति श्रुतिस्मृत्योरविरोधादेव । न तत्रागमगन्त्यर्थे स्वातन्त्र्यं युक्तिर्निवेशनीयेति । तेषामधिकरणशरीरानुप्रवेशे संभवत्यर्थान्तरोपवर्णनमसङ्गतमेवेति ॥ २८ ॥ गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः । यथा हानिसंनिधानुपायनमन्यत्र श्रुतमिति यत्रापि केवला हानिः श्रूयते तत्रापि उपायनमुपस्थापयत्वेन तत्सन्निधावेव देवयानः पन्थाः श्रुत इति यत्रापि सुकृतदुष्कृतहानिः केवला श्रुता तत्रापि देवयानं पन्थानमुपस्थापयितुमर्हति । नच निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीत्यनेन विरोधः । देवयानेन पथा ब्रह्मलोकप्राप्तौ निरञ्जनस्य परमास्योपपत्तेः । तस्मादा- निमात्रे देवयानः पन्थाः संबध्यत इति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति हि विदुषो विधूतपुण्यपापस्य विद्याया क्षेमप्राप्तिमाह । अग्रनिबन्धनोऽक्षेमो याथात्म्यज्ञानलक्षणया विद्याया निमि-

आनन्दगिरियव्याख्या

सितकर्मक्षयोऽपि देहत्यागादूर्ध्वं स्यादित्याशङ्क्याह—छन्दत इति । सूत्रं व्याचष्टे—यदि चेति । जीवतो ब्रह्मलोकात्तरेयोर्गोर्दे- पातापेक्षा कर्महानेस्तु देहवत एव सिद्धेर्नैवमित्यर्थः । छन्दतः स्वच्छन्दतः स्वेच्छयेति व्याकरोति—इच्छात इति । अपरपथे हेत्वनुष्ठानासिद्ध्या साध्यासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति । उभयाविरोधादिति भागं व्याकरोति—एवमिति । समर्थस्य क्षेपायोगात्पूर्णे हेतावनन्तरमेव कार्योत्पत्तिरन्यथा निमित्तनैमित्तिकत्वमेव तयोर्न स्यादित्यर्थः । सूत्रपदस्यान्तरमाह—ताण्डीति । इत्थं विद्यासामर्थ्यात्प्रागेव सुकृतादिनिश्चितिरित्युपसंहर्तुमितीत्युक्तम् ॥ २८ ॥ सुकृतादिहानसंनिधानोक्तदेवयानगतेरुपायनवदेव सां- ब्रिकत्वप्राप्तावुक्तम्—गतेरिति । विचारविषयमाह—कचिदिति । संशयार्थं कोट्यन्तरमाह—कचिन्नेति । हानसंनिधौ मार्ग- श्रुतेर्विशेषाज्ञानाच्च मार्गविषये संशयमाह—तत्रेति । हानसंनिधौ कचिदेव श्रुतोपायनस्य सांब्रिकत्ववत्कचिदेव कर्मक्षयसं- निश्च्युक्तस्य पथो देवयानस्य केवलक्षयश्रवणेऽपि युक्ताऽनुश्रुतिरिति संगतिर्गर्भं पूर्वपक्षमाह—यथेति । निर्गुणब्रह्माविद्या गतिमती नक्षत्राणां त्वात्सगुणब्रह्मविद्यावदिति भावः । प्राप्तं किंच विधूतनसमयोक्त्या प्रस्तुतगुणोपसंहारोत्तरपदादोक्तिद्वारा विचारस्य वाक्यार्थ-

शेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति कचिदर्थवती गतिः कचिन्नेति नाविशेषेण । अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावक्कीक्रियमाणायाम् विरोधः स्यात् । पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्यते । कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत् । गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः कचिदर्थवती गतिः कचिन्नेति । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपसनेषूपलभ्यते । तत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिसिद्ध्येवमादि बहु देशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं भूयते तत्रार्थवती गतिः । नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति । न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामासकामानामिहैव दग्धाशेषेऽशेषीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणोपक्षितव्यं किंचिदस्ति तत्रानर्थिका गतिः । लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यो यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तयेवमिहापीति । भूयश्चैनं विभागं चतुर्थोऽध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाख्याया

तत्वात्सर्वत्रोपसंहार इत्यर्थः । अत्र निर्गुणविदोऽपि मुख्यार्थं मार्गापेक्षा पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते त्वनपेक्षेति फलम् । देशादिव्यवहितवस्तुप्राप्तौ मार्गस्यापेक्षेतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधान्नोपसंहार इति सिद्धान्तः । निरञ्जनोऽसङ्गः, साम्यं ब्रह्म ॥ २९ ॥ ननु तर्हि सगुणविद्यायामपि मार्गो व्यर्थ इत्यत आह—उपपन्न इति । सा गतिर्लक्षणं कारणं यम्यार्थस्य स

भामतीव्याख्या

वर्तनीयः । नास्तौ देशविशेषमपेक्षते । नहि जातु रज्जौ सर्पभ्रमनिवृत्तये समुत्पन्नं रज्जुतत्त्वज्ञानं देशविशेषमपेक्षते । विद्योत्पादस्यैव स्वविरोध्यविद्यानिवृत्तिरूपत्वात् । नच विद्योत्पादाय ब्रह्मलोकप्राप्तिरपेक्षणीया । यमनियमादिविशुद्धस्त्वस्यैवैव श्रवणादिभिर्विद्योत्पादात् । यदि परमारब्धकार्यकर्मश्रवणाय शरीरपाताव्यपेक्षेति न देवयानेनास्तीति इति श्रुतिदृष्टविरोधान्नोपक्षितव्य इति । अस्ति तु पर्यङ्कविद्यायां तस्यार्थ इत्युक्तं द्वितीयेन सूत्रेणेति । ये तु यदि पुण्यमपि निवर्तते किमर्था तर्हि गतिरित्याशङ्क्य सूत्रमवतारयन्ति । गतेरर्थवत्त्वमुभयथा दृष्टकृतनिवृत्त्या सुकृतनिवृत्त्या च । यदि पुनः पुण्यमन्वर्तते ब्रह्मलोकगतस्यापि पुण्यकलोपभोगायावृत्तिः स्यात् । तथा चेतनं प्रतिपाद्यमानागत्यावृत्तिश्रुतिविरोधः । तस्माद्दृष्टकृतस्यैव सुकृतस्यापि प्रथय इति तैः पुनरनाशङ्कनीयमेवाशङ्कितम् । विद्याशिक्षायां हि गतो केयमाशङ्क्य यदि श्रीणसुकृतः किमर्थमयं यातीति । नतोषा

आनन्दगिरीयव्याख्या

ज्ञानोपायगामित्वात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे निर्गुणविदोऽपि गत्यपेक्षाया नियतिः । सिद्धान्ते सगुणविद्याय एव तदपेक्षेति विवक्षित्वा सिद्धान्तयति—अस्यामिति । प्रतिज्ञां व्याख्याय हेतुं व्याख्याति—अन्यथेति । विरोधमेव साधयति—कथं हीति । सर्वगतस्यासङ्गस्यात्मनो नोपाध्यतिरेकेण गत्युपपत्तिरित्यर्थः । गन्तुरूपालोचनया गन्तव्ययोगमुक्त्वा गन्तव्यरूपालोचनयापि तदयो-गमाह—गन्तव्यं चेति । स्वतो भिन्नयोरैक्यायोगादाविच्छेदे विषयेव तन्निवृत्तेर्विद्यायाश्च स्वोत्पत्तां स्तुलं वा देशभेदापेक्षाभा-वादनर्थिका गतिरित्युपसंहरति—इतीति । निर्गुणब्रह्मधीः सप्तमर्थः ॥ २९ ॥ निर्गुणविद्यायां गतिर्बन्धेति प्राधान्येनोक्त्वा पथ-इविद्यादौ प्राधान्येन तदर्थवत्त्वमाह—उपपन्न इति । तत्र प्रतिज्ञां व्याकरोति—उपपन्नश्चेति । कचिदर्थवती गतिरित्यत्र हेतु-सवत्तल्लक्षणशब्दस्य लक्षणया कारणार्थत्वं गृहीत्वा व्याचष्टे—तदिति । उपलब्धिमेवाभिनयति—तत्रेति । देशदेशान्तर-प्राप्त्यायत्ते फले श्रुते फलितमाह—तत्रेति । पर्यङ्कविद्यासगुणोपासितः सप्तमर्थः । निर्गुणविद्यायामपि हेतुरस्तीत्याशङ्क्याह—न विवति । तदेवोपपादयति—नहीति । तेषां प्राप्तपरानन्दत्वमाह—आहेति । इहेति जीवदवस्थोक्तिः । निरस्तममस्तान-धत्वमाह—दग्धेति । तर्हि सद्यो देहपातः स्यात्तेत्याह—आरब्धेति । हेतोर्व्यभिचारं निरस्य कचिन्नेत्युक्तं निगमयति—तत्रेति । सप्तमर्थीः सप्तमर्थः । निर्गुणब्रह्मविद्याविद्यादिगतिमान्मुक्तिफलभाक्त्वात्सुच्यमानहिरण्यगर्भवदिति भावः । कचिदर्थवती गतिः कचिन्नेत्युक्तं सौत्रेण दृष्टान्तेन स्पष्टयति—लोकवत्तेति । इहेति सगुणनिर्गुणविभोक्तिः । इतिशब्दः सूत्रव्याख्यासमाप्तौ । तयोर्धेमायसमृत्तत्वमेति' इति श्रुतेर्देवयानेनाध्वना गतस्य मुक्तिरित्याशङ्क्याह—भूयश्चेति ॥ ३० ॥ सगुणनिर्गुणविद्यासु

मानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुतिः—‘तद्य इत्थं विदुः’ (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती ‘ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते’ (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्विः समानमार्गतां गमयति । कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति । ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्-न्मात्रश्रवणात् । नैष दोषः । नहि केवलभाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेधा गतिर्लभ्यते ‘विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः’ इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम् । वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्नि-विद्याधिकारेऽधीयते—‘य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते’ (बृ० ६।१।१५) इति । तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम् । सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्-त्वात् । पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्यवित्तयैवोपासत्त्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम् । ‘अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्’ (बृ० ६।१।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टमधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति । तत्रापि विद्याविशेषादेष्टां देवयानप्रतिपत्तिः । स्मृतिरपि—‘शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

रत्नप्रभाष्याख्या

चामी अरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते श्रद्धातपउपलक्षितं ब्रह्म ध्यायन्ति तेऽविषमभिसंभवन्तीत्यन्वयः । ननु श्रद्धातपो-मात्रश्रुतेस्ताभ्यामेव अचिरादिगमनं स्यात् वैश्वानरादिविद्याशीलिनामिति शङ्कते—कथं पुनरिति । अविदुषां गतिनि-षेधाच्छ्रद्धातपःशब्दाभ्यां तस्माद्यब्रह्मविद्यालक्षणेति परिहरति—नैष दोष इति । तत् ब्रह्मलोकस्थानं, परागताः परावृत्ताः, कामक्रोधदोषा न सन्तीति यावत् । दक्षिणाः केवलकर्मिणस्तपस्विनोऽप्यविद्वांसो न गच्छन्तीत्यर्थः । लक्ष-णादोषहीनं वाक्यमाह—वाजसनेयिनस्त्विति । किंच विद्याकर्मलक्षणमार्गद्वयभ्रष्टानामधोगतिश्रुतेः वैश्वानराद्युपास-कानामचिरादिमार्गप्राप्तिरित्याह—अथ य एताविति । दन्दशूकः सर्पः । किंच ‘अभिज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः’ इत्यविशेषेणोपासकानामचिरादिगतिमुक्त्वोपसंहारस्मृतेश्च तेषां तत्प्राप्तिरित्याह—स्मृतिरिति । शुक्ला गतिरचिरादिका, कृष्णा धूमादिका, जगतो विद्याकर्मोपलक्षितस्य, शाश्वते

भासतीत्याख्या

विद्यान्तरे च श्रूयते । तस्मान्न सर्वोपासनासु पथिप्राप्तिरिति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते उच्यते—‘ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते’ इति न श्रद्धातपोमात्रस्य पथिप्राप्तिमाहापि तु विद्यया तदारोहन्तीत्यत्र नाविद्वांसस्तपस्विन इति केवलस्य तपसः श्रद्धायाश्च तत्प्राप्तिप्रतिषेधाद्विद्यासहिते श्रद्धातपसो तत्प्राप्तिप्राप्तयया वदन् विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्विः समानमार्गतां दर्शयति । तथान्यत्रापि पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽभिधीयते—‘य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते’ इति । सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्येवानुपेक्ष-प्रयुक्तत्वात् । तदेव हि सत्यमन्यस्य मिथ्यात्वेन कथंचिदापेक्षिकसत्यत्वात् । पञ्चाग्निविदां चेत्यवित्तयैवोपासत्त्वात् । विद्यासा-हचर्याच्च विद्यान्तरपरायणानामेवेदमुपादानं न्याय्यम् । मार्गद्वयभ्रष्टानां चाधोगतिश्रवणात् । तत्रापि च योग्यतया देवयानस्यैवेहा-

आनन्दगिरियव्याख्या

पितृताना मध्ये ये केचिद्दुःशोकादीनश्चित्त्वेन विदुस्तोऽविषमभिसंभवन्तीति संबन्धः । ये चेत्यत्रापि तथैवान्वयः । अविशेषेण विद्यान्तरशीलिनां देवयानप्रापकवाक्येन प्रकरणं बाध्यमित्युक्तम् । इदानीं वाक्यं न विद्यान्तरशीलिनामपि देवयानप्रापकमिति शङ्कते—कथमिति । वाक्यस्य तर्हि कोऽर्थः स्यादित्याशङ्क्याक्षेपेवाह—नन्वेति । श्रद्धातपोनुष्ठानमात्रस्य श्रुतत्वात्तत्रिष्टानामेव गतिवाक्येनोक्ता स्यादित्यर्थः । वाक्यान्यथासिद्धिं दूषयति—नेति । अविदुषामेधा गतिमन्त्रं श्रुतिं हेतुमाह—विद्येति । तद्विरुद्धं ब्रह्मलोकस्थानं विशिनष्टि—यत्रेति । यस्मिन्प्राप्ते कामाः क्षुद्रविषयाः परागता व्यावृत्ताः कामक्रोधोपादस्योर्वाजितं प्राप्य ब्रह्मलो-कस्थानमित्यर्थः । दक्षिणा दक्षिणभार्गागमिनः केवलकर्मिणस्तपस्विनोऽप्यविद्वांसो न तत्र गच्छन्तीत्यपिशब्दो ज्ञेयः । ये चेत्यादिवाक्यस्य तर्हि वा गतिः, तत्राह—तस्मादिति । उक्तच्छन्दोगवाक्यमिहेत्युक्तम् । उपलक्षणमन्तरेणापि विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरवगते-त्याह—वाज्रेति । तत्रापि सत्यशब्देन सत्याधोक्तेरेव संग्रहात्कुतो विद्यान्तरयुक्तानां गतिधरित्याशङ्क्याह—तत्रेति । तेऽविषम-भिसंभवन्तीति संबन्धः । सत्यशब्देन ब्रह्मोक्तौ हेतुमाह—सत्येति । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’, ‘तत्सत्यं स आत्मा’, ‘सत्यस्य सत्यम्’ इत्येवमादावित्यर्थः । सत्यार्थवचनग्रहात्सत्यार्थग्रहो लघीयानित्युक्तम् । इदानीं पञ्चाग्निविद एव सत्यमुपासत इति कस्याश्च गृह्यत इत्याशङ्क्य तेषां पृथग्गृहीतत्वादित्याह—पञ्चेति । इतश्च विद्यान्तरशीलिनां गतिरिति त्रिदशदेशं समुचिनोति—अथेति । एनानिति विद्यान्तरपरा गृह्यन्ते तथापि कथं देवयानयोगस्तेषामित्याशङ्क्य योग्यतयेत्याह—तत्रापीति । श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रकरणवि-रोधसमाधिं प्रतिपाद्य श्रुतिरुक्ता । संप्रति स्मृतिमाह—स्मृतिरिति । जगतो ज्ञानकर्मोपलक्षितस्येत्यर्थः । परोक्तं त्रिदशमनूयान्यासि-

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः' (भ. गी. ८।२६) इति । यत्पुनर्देवयानस्य पथो विराज्ञा-
नमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तदुभयप्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥ ३१ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥



ब्रह्मतरवविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा ॥ पाक्षिक्यपान्तरतमः प्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥ १ ॥

नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिकफलं दुषाः ॥ शुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुख्यन्ते नियता ततः ॥ २ ॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते—ननु विद्यायाः साधन-
भूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिवृत्तिः स्यान्न वेति । नेयं चिन्तोपपद्यते । नहि पाकसाधनसंपत्तावो-
दनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति नापि भुञ्जानस्तृष्येन्न वेति चिन्त्यते । उपपन्ना त्वयं
चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । तथा ह्यपान्तरतमा
नाम वेदाचार्यः पुराणार्थैर्विष्णुनियोगात्कलिद्वयापात्योः संघौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति ।
वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशपादादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां
संबभूवेति । भृगवादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यक्षे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते । सन-
त्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव । एवमेव
दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ । श्रुतावपि

रत्नप्रमाख्याख्या

ध्रुवे संमते । तत्रैकया शुक्लया पुनरावृत्तिवर्जं कार्यं ब्रह्म गच्छति; अन्यया स्वर्गे गत्वा पुनरायातीत्यर्थः । पुनरुक्तिदोष-
दूषयति—यत्पुनरिति । तत्र तत्र मार्गश्रुतिरन्वहं मार्गचिन्तनार्थं, प्रकरणेन मार्गध्यानस्य विद्याङ्गत्वावगमात् ।
तथाच वक्ष्यति सूत्रकारः—'तच्छेषगल्यनुस्मृतियोगाच्च' इति । येषां न श्रुतो मार्गस्ते मार्गध्यानं विनापि विद्यासाम-
न्मार्गे लभन्त इति ज्ञापनार्थो पुनरुक्तिरित्यर्थः । तस्मात्सर्वोपासनासु प्रतीकभिरास्वचिराद्विप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥
यावदधिकारम् । निर्गुणविद्यायां गतिर्व्यर्था मुक्तिफलत्वात्, सगुणविद्यासु सर्वत्रार्थवती ब्रह्मलोकफलत्वादिति व्यव-
कृता, सा न युक्ता, तत्त्वज्ञानिनामपीतिहासादौ पुनर्जन्मदर्शनेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावादित्याक्षेपात्संगतिः । ज्ञानि-
पुनर्जन्मदर्शनं संशयबीजं भाष्ये दर्शितम् । पूर्वपक्षे ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां ज्ञानस्तुतिमात्रत्वेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभा-
सति ब्रह्मलोकफलत्वाविशेषाद्विरादिमार्गोपसंहारः फलं, सिद्धान्ते तूक्तव्यवस्थसिद्धिरिति विवेकः । श्रुतावपीति । मेघ

सामसीव्याख्या

ध्वनोऽभिसंबन्धः । एतदुक्तं भवति—भवेत्प्रकरणं नियामकं यद्यनियमप्रतिपादकं वाक्यं श्रौतं स्मार्तं वा न स्यादस्ति तु तत्त-
च्च प्रकरणाद्विलीयस्त्वम् । तस्मादनियमो विद्यान्तरेष्वपि सगुणेषु देवयानः पन्था असकृन्मार्गोपदेशस्य च प्रयोजनं वर्णितं भाष्यकृतौ
॥ ३१ ॥ **यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।** सगुणायां विद्यायां चिन्ता कृत्वा निर्गुणायां चिन्तयति । निर्गुण-
विद्यायां नापवर्गः फलं भवितुमर्हति । श्रुतिस्मृतिरितिहासपुराणेषु विदुषामप्यपान्तरतमः प्रभृतीनां तत्तद्देहपरिग्रहपरित्यागौ श्रूयते
तदपवर्गफलत्वे नोपपद्यते । अपवृत्तस्य तदनुपपत्तेः । उपपत्तौ वा तद्विश्रुणायोगात् । अपुनरावृत्तिर्हि तद्विश्रुणम् । तेन सत्यामर्-
विद्यायां तदनुपपत्तेर्न मोक्षः फलं विद्यायां विभूतयस्तु तास्तास्तस्याः फलम् । अपुनरावृत्तिश्रुतिः पुनस्तत्प्रशंसार्थेति मन्यते
नच 'तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति श्रुतेर्विदुषो देहपातावधिप्रतीक्षावद्वसिष्ठादीनामपि प्रारब्धकर्मफलोपभो-
गप्रतीक्षेति सांप्रतम् । येन हि कर्मणा वसिष्ठादीनामारब्धं शरीरं तत्प्रतीक्षा स्यात् । तथाच न शरीरान्तरं ते गृहीतुः
नच तावदेव चिरमित्येतदप्याजर्जने षट्ते । समर्थहेतुसंनिधौ क्षेपायोगात् । तस्मादेतदपि विद्यास्तुत्यैव गमयितव्यम् । तस्मा-
ज्ञापवर्गो विद्याफलम् । तथा चापवर्गक्षेपेण पूर्वः पक्षः । अत्र च पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमित्यापाततः, अहेतुत्वं वेति तु पूर्वपक्ष-

आनन्दगिरियव्याख्या

दिमाह—यदिति । लिङ्गवाक्याभ्यां प्रकरणं भङ्गत्वा सगुणविद्यासु गतेः सार्वत्रिकत्वमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३१ ॥
सगुणविद्यासु व्यवहितफलासु सर्वास्वपि गतिरर्थवतीत्युक्तम् । इदानीं निर्गुणाधामपि विद्यायां सधोमुक्तिफलत्वात्तत्त्वगतान्तरभा-
विकलत्वाविशेषाद्विशिष्टा गतेरर्थवत्त्वेत्याशङ्क्याह—यावदिति । विषयसंशयौ दर्शयति—विदुष इति । अकारणकसंशयोऽयं
मन्वानो विचारमाक्षिपति—नन्विति । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नहीति । सत्यां सामग्र्यामसति प्रतिबन्धे कार्यनिश्चयेऽपि
कुतो विषया सधोमुक्तिरित्याशङ्क्याह—नापीति । संशयाभावादधिकरणानारम्भं परिहरति—उपपन्नेति । विदुषामपि केषांचि-
दमुक्तेः संशयसिद्धिरित्युपपत्तिमेव दर्शयति—ब्रह्मेति । दर्शनमेव विशदयति—तथाहीति । सर्वेषामेव तेषां निमित्तत्वाभा-
वाद्भीकम्—सनत्कुमारोऽपीति । उक्तन्यायमतिदिशति—एवमिति । स्मृतेर्मूलाभावादप्रामाण्यमाशङ्क्याह—श्रुतावपि । उपपन्ने

मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते । ते च केचित्पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते केचित्तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन । सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मरन्ते । तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति । अत उत्तरमुच्यते । न । तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वास्थितेः । यथासौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसानं उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्यात्' (छा० ३।१।१) इति श्रुतेः । यथा च वर्तमाना ब्रह्मविद् आरब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१।२) इति श्रुतेः । एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते । तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् । सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः

रत्नप्रभाव्याख्या

येमेतिमन्त्रे इन्द्रस्य मेषजन्मोपलभ्यते । वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जात इत्येवमर्थो बहुचार्थवाद इत्यर्थः । पाक्षिकमिलापाततः । अहेतुत्वमेवेति पूर्वपक्षः । ज्ञानस्य मुख्यहेतुत्वं नेति सिद्धान्तयति—ते चेति । लोकव्यवस्थासु स्वामित्वमधिकारः, तत्प्रापकं प्रारब्धं यावदस्ति तावत्कालं जीवनमुक्तत्वेनाधिकारिकाणामवस्थितिः, प्रारब्धक्षये प्रतिबन्धकाभावाद्देहेकै-
श्वर्यमित्यत्र मानमाह—अथेति । अथ प्रारब्धक्षयानन्तरम् । ततः पश्चादूर्ध्वो विलक्षणः केवलः ब्रह्मस्वरूपः सन् उदे-
शोद्भूय देहं त्यक्त्वेति यावत् । एकल एव अद्वितीयः, मध्ये उदासीनात्मकरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । ननु ज्ञानिनामपि
जन्मान्तरं चेत्कथं मुक्तिरित्यत आह—सकृत्प्रवृत्तमिति । यदि ज्ञानिनां प्रारब्धातिरिक्तकर्माधीनं जन्मान्तरं स्यात्तदा

भामतीव्याख्या

तत्त्वम् । राहान्तस्तु—विद्याकर्मस्वतुष्टान्तोषितेश्वरचोदितम् । अधिकारं समाप्येते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ निर्गुणायां विद्यायामप-
वर्गलक्षणं श्रूयमाणं न स्तुतिमात्रतया व्याख्यातुमुचितम् । पौर्वीपर्यपर्यलोचने भूयसीनां श्रुतीनामप्यैव तात्पर्यवधारणात् ।
नच यत्र तात्पर्यं तदन्यथयितुं युक्तम् । उक्तं हि 'न विधो परः शब्दार्थः' इति । नच विदुषामपान्तरतमःप्रभृतीनां तत्तद्देह-
संचारासत्यामपि ब्रह्मविद्यायामनिर्मोक्षान्न ब्रह्मविद्या मोक्षस्य हेतुरिति साम्प्रतम् । हेतोरपि सति प्रतिबन्धे कार्यानुपजनो न हेतु-
भावमपाकरोति । नहि वृत्तफलसंयोगप्रतिबन्धं गुरुत्वं न पतनमजीजनदिति प्रतिबन्धापगमे तत्कुर्वन्न तद्वृत्तः । नच न सेतुप्रति-
बन्धानामपि निम्नदेशानभिसर्पणमिति सेतुभेदे न निम्नमभिसर्पति । तद्वदिहापि विद्याकर्माशयनावर्जितेश्वरविहितापि कारपदप्रतिबन्धा
ब्रह्मविद्या यद्यपि न मुक्तिं दत्तवती तथापि तत्परिमतासौ प्रतिबन्धविगमे दास्यति । यथा हि प्रारब्धाधिकारकस्य कर्मणः प्रथमं प्रती-
क्षमाणश्रमदेहसमुत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि ध्रियेतोऽथ तत्प्रक्षयान्मोक्षं प्राप्नोति । एवं प्रारब्धाधिकारलक्षणफलविद्याकर्मा-
वशिष्टादिविद्वानपि तत्क्षयं प्रतीक्षमाणो युगपत्कर्मण वा तत्तद्देहपरिग्रहपरित्यागो कुर्वन्मत्तोऽप्यनाभोगात्मिकया प्रसूयया सांसारिक-
स्य विहरति । तदिदमुक्तम्—सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते कर्माशयमधिकारफलदानायेति । प्रारब्धाधिकारानि तु

आनन्दगिरीयव्याख्या

पूर्वोक्ता कथेति शेषः । सनत्कुमारादीनां पूर्वदेहत्यागात्तद्देहान्तरोत्पत्तिरित्याशङ्क्याह—ते चेति । एकस्यैव मायाविनो युगपद-
नेकदेहादानदृष्टान्तोऽनेकदेहादानन्य-यः । तर्हि ते न ब्रह्मविदः, तत्राह—सर्वे चेति । अनुपलब्धिहेतुकं संशयमुपसहरन्विचारो-
पपत्तिं निगमयति—तदेतेषामिति । निर्गुणविद्यायां गतिं प्रतिपिष्य सगुणविद्यायां तत्पयोर्जकथंविशेषोद्देशनादर्थवता सर्वत्र
तिरित्युक्ते निर्गुणविद्यायामपि मोक्षासिद्धेरैश्वर्यफलत्वे वाच्ये गतिरुपसंहृत्येति पूर्वपक्षमाह—अहेतुत्वमिति । आशङ्कोऽवधारणे ।
ब्रह्मविद्या न संसारविरोधिनी ब्रह्मविद्यात्वादसिद्धादिनिष्ठब्रह्मविद्यावत् । नच तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतिविरोधः प्रशमार्थ-
तया तदुपपत्तेरिति भावः । निचाप्य तमित्यादिश्रुतेर्ब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुत्वोक्तौ तात्पर्यसिद्धेः स्तुतिमात्रत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मिष्टादीनां
ब्रह्मविद्यामधिकारप्रतिबन्धान्मुख्यभावस्यान्यथासिद्धेरप्रतिबन्धाया विद्याया न मोक्षं प्रत्यहेतुतेति कुतो गत्युपसंहार इत्युक्त्या वाच्यार्थ-
हेतुनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विधो मोक्षाहेतुत्वात्त्रत्युपसंहारः । सिद्धान्ते तस्यासत्तुल्यव्यावृत्तदनुपसंहार इत्यामयेत्य-
उदात्तयति—अत इति । ब्रह्मविद्याया मोक्षं प्रत्यहेतुत्वं निषेधति—नेति । ब्रह्मवित्स्वेव केपुञ्चिन्मोक्षादृष्टरेतुत्वं कथं निषिध्यत
शाश्वद्व्य प्रतिबन्धाभावमपेक्ष्य विद्या मोक्षहेतुरिति मत्वाह—तेषामिति । यावदधिकारं तावदवस्थितिरित्यत्र दृष्टान्तमाह—
येति । तत्र मानमाह—अथेति । आधिकारिकैश्वर्यहेतुकर्मक्षयानन्तरं ततः पश्चादूर्ध्वो विलक्षणः सद्भूतेत्योद्भूत पुनरादित्यो-
भेदेता नास्तमेता किं त्वेकल एवाद्वितीयो मध्ये स्वामिनि स्याता स्यादित्यर्थः । तत्रोदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । तत्रापि
नमाह—तथेति । दृष्टान्तयोरर्थं दाष्टान्तिके योजयति—एवमिति । ब्रह्मविदोऽपि देहान्तरप्राप्तिः प्रारब्धकर्मानिर्निर्गतकर्मकृता
पान्तरप्राप्तिस्वादविद्वद्देहान्तप्राप्तिवदित्याह—सकृदिति । शान्तरं कर्मान्तरावत्तमिति न व्याप्तिरकस्मादपि ब्रह्मवशादः श्रुतः

स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरिमुषितस्मृत्य एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वाभिर्माय देहान्युगपत्क्रमेण बाधितिष्ठन्ति । न चैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः । यथा हि सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विषदितुकामाऽव्युदस्य स्वं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात्स्वमेव देहमाविवेशेति स्मर्यते । यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्य-
दग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वाशङ्क्येत न त्वयमाशङ्का युक्ता ज्ञानात्कर्मेबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् । तथाहि श्रुतिः—
'भिद्यते हृदयग्रन्थिदिल्लघन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) इति । 'स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२।६।२) इति चैव-
माद्या । स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्मससात्कुर्वतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुर्वते तथा' (भ. गी. ४।३७) 'बीजान्यश्नुपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः । ज्ञानदग्धे-
स्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः' इति चैवमाद्या । न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते । न ह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः । 'तस्य तावदेव चिरम्'

रत्नप्रभाष्याख्या

ज्ञानान्मुख्यभावः स्यात् । नैतदस्ति । किंतु बहुजन्मफलाय सकृदुद्धूतं प्रारब्धं ते क्षपयन्ति, जन्मग्रहणेऽपि ज्ञानयोग-
लाभ शोचन्ति प्रारब्धसमाप्तौ मुख्यन्त इत्यर्थः । ज्ञानिनां जन्मान्तरस्य पूर्वजन्महेतुप्रारब्धाधीनतायामलुप्तस्मृतित्वं हेतुः । यो
ह्यजातिस्मरत्वे सति कर्मान्तराधीनजन्मान्तरवान्, स लुप्तस्मृतिरिति व्याप्तेः । ज्ञानिषु व्यापकाभावाद्विशिष्टव्याप्याभावसिद्धिः ।
ननु तेषां जातिस्मरत्वादलुप्तस्मृतिवमन्यथासिद्धमित्यत आह—न चैत इति । तथाच तेषामजातिस्मरत्वरूपविशेष-
सति विशेष्याभावादिव विशिष्टाभावसिद्धिरित्यर्थः । पूर्वदेहनामप्रत्यभिज्ञानहीनाः परतन्त्राः साभिमाना जातिस्मराः, अपि-
कारिकास्तु पूर्वनामानः स्वतन्त्रा निरभिमाना इति वैषम्यं । तेन जनकेन सह व्युद्य विवादं कृत्वेत्यर्थः । विदुषः प्रार-
ब्धातिरिक्तकर्माभावात् बन्धः । निमित्ताभावे नैमित्तिकाभाव इति न्यायानुगृहीतानां ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां न श्रुतिमात्र-
त्वमिति ममर्थमुपपादयति—यदि ह्युपयुक्त इत्यादिना । श्रुतिस्मृत्युक्तार्थे युक्तिमप्याह—न चाविद्येति ।
विद्यया क्लेशदाहात्कार्यकर्मक्षयश्चेत्तर्हि प्रारब्धस्य कथं स्थितिः, तत्राह—प्रवृत्तफलस्येति । विदुषो
देहपातावधिभूतेरनुभवाच्च ज्ञानस्यावरकाज्ञानांशनिवर्तकस्य प्रारब्धविक्षेपस्थित्यनुकूलज्ञानांशनिवर्तनसामर्थ्याभावेन

भामतीव्याख्या

कर्माणि वर्जयित्वा व्यपगतानि ज्ञानेनैवातिवाहितानि । न चैते जातिस्मरा इति । यो हि परवशो देहं परित्यज्यते देहान्तं
च नीतः पूर्वजन्मानुभूतस्य स्मरति स जन्मवाञ्छातिस्मरश्च । गृहादिव गृहान्तरे स्वेच्छया कायान्तरं संचरमाणो न जातिस्म-
आख्यायते । व्युद्य विवादं कृत्वा । व्यतिरेकमाह—यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते प्रारब्धविपाके कर्मणि
कर्मान्तरमप्रारब्धविपाकमिति । स्यादेतत् । विद्ययाऽविद्यादिक्लेशनिवृत्तौ नावश्यं निःशेषस्य कर्माशयस्य निवृत्तिरना-
दिभवपरम्पराहितस्यानियतविपाककालस्यासङ्ख्येयत्वात्कर्माशयस्येत्यत आह—न चाविद्यादिक्लेशदाहे सतीति । नहि
समानं विनाशहेतौ कस्यचिद्विनाशो नापरस्येति शक्यं वदितुम् । तत्किमिदानीं प्रवृत्तफलमपि कर्म विनश्येत् । तथाच न
विदुषो वसिष्ठादेर्देहधारणेत्यत आह—प्रवृत्तफलस्य तु कर्मण इति । तस्य तावदेव चिरमिति श्रुतिप्रामाण्यादनागतफलमेव

आनन्दगिरिव्याख्या

राघनेकदेहस्मरणदित्यर्थः । किं तर्हि तेषामसदादिभ्यो वैषम्यं, तत्राह—स्वातन्त्र्येणेति । स्वतन्त्राश्चेत्किमिति देहान्तरं गृह-
त्याशङ्क्यारब्धाधिकारफलकमक्षयायेत्याह—स्वाधिकारेति । देहान्तरग्रहे स्मृतिप्रशंसः स्यादित्याशङ्क्याह—अपरिमुषितेति
तथापि देहादिपारतन्त्र्यमाशङ्क्याह—देहेति । तथापि कथमनेकेषु देहेष्वभिष्टातुत्वं, तत्राह—निर्मायेति । उत्पद्यमानामपि
मुषितस्मृतिवेषु जातिस्मरत्वमेव न वसिष्ठादिनामत्वमित्याशङ्क्याह—नचेति । ब्रह्मविदां स्वातन्त्र्येण देहान्तरसंचारे दृष्ट-
माह—यथेति । व्युद्य विवादं कृत्वा । कथमेतावता ज्ञानस्य नियतफलत्वमित्याशङ्क्य व्यतिरेकेणेतदुपपादयति—यदीति । क-
न्तरमारब्धकर्मातिरिक्तं कर्मैति यावत् । देहान्तरं वर्तमानदेहातिरिक्तो भाविदेहः । ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वं व्यतिरेकतः श्रुतिस्मृत्य-
मुक्त्वा क्रमेण श्रुतिस्मृती दर्शयति—तथाहीत्यादिना । अनादिभवपरंपरासंचितस्यानियतकालविपाकस्य कर्मणोऽसंख्यत्वात्
निःशेषकर्मक्षयः, तत्राह—नचेति । नाशपृथक्कलहेतुयोगे नाद्यैकदेशस्वाश्रयक्रियाभावे दृष्टान्तमाह—नहीति । तर्हि प्रारब्ध-
कर्म नाशहेतुसंनिध्यावश्येदिति कुतो वसिष्ठादेर्देहधारणेत्याशङ्क्याह—प्रवृत्तेति । यथा मुक्तस्योर्बलवत्प्रतिबन्धकभावे मध्ये
क्षयस्तथा प्रवृत्तफलस्यापि कर्मणो मध्ये नास्ति क्षयः । जातेऽपि ज्ञाने मोक्षस्य देहपातावधिकारणादारब्धकर्मोपादानाशान्निकर्तव्यं

(छा० ६।१४२) इति शरीरपातावधि क्षेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता । तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति । ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः । ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते । 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मरणात् । प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का भवेद्वा न वेति । अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च सिद्धवदुपदेशात् । नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः । 'तद्वैतत्पद्मयन्मृषिर्वाग्देवः प्रतिपेदेऽहं मनुर्भवं सुर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति । तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः ॥ ३२ ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥



२० अधिकरणम्

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहतिः ॥ आनन्दादिवद्वात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥ १ ॥

श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः ॥ आत्मलक्षणता तस्मादाख्यायास्तुपसंहतिः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्याया

देभ्यो नैव प्रारब्धक्षय इति भावः । ज्ञानिनामाधिकारिकत्वं कथमित्याशङ्क्य ज्ञानात्प्राकृतोपासनादिवशादित्याह—**ज्ञानान्तरेषु चेति** । प्रतिसंचरो महाप्रलयः, परस्य हिरण्यगर्भस्य, अधिकारान्ते साक्षात्कृतात्मानो मुच्यन्ते इत्यर्थः । ब्रह्मभावफलस्यापि भावित्वाशङ्क्य तत्त्वमसीति श्रुतिबाधमाह—**नहीति** । तस्मान्निर्गुणधियायां मार्गानुपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भामतीख्याया

कर्म क्षीयते न प्रवृत्तफलमित्यवगम्यते । अपिच नाधिकारवतां सर्वेषामृषीणामात्मतत्त्वज्ञानं तेनाव्यापकोऽयं पूर्वपक्ष इत्याह—**ज्ञानान्तरेषु चेति** । तर्हि तेषामनिर्मात्र एव, वेत्याह—**ते पश्चादैश्वर्यक्षय इति** । **निर्विण्णा विरक्ताः । प्रतिसंचरः प्रलयः** । अपिच स्वर्गादावनुभवपथमतो हति शब्देकमप्रधिगम्ये विचिकित्सा स्यादपि मन्दधियामामुष्मिकफलत्वं प्रति । यथा चार्थवादः—'को हि तदेदं यदमुष्मिन्लोकेऽसि वा न वेति' । अद्वैतज्ञानफलत्वे मोक्षस्यानुभवसिद्धे विचिकित्सागन्धोऽपि नास्तीत्याह—**प्रत्यक्षफलत्वाच्चेति** । अद्वैततत्त्वसाक्षात्कारो हि अविद्यासमरोपित प्रपञ्च समूलघातं निवृत्त्योः संसार-द्वारपरितापमुपशमयति पुरुषस्थेयत्वनुभवादपि स्फुटमुपपत्तिर्ब्रह्मश्च श्रुतिर्दर्शिता । तच्चानुभवाद्ब्रह्मदेवादीनां सिद्धम् । ननु तत्त्वमसि वर्तमान इति वाक्यं कथमनुभवमेव द्योतयतीत्यत आह—**नहि तत्त्वमसीत्यस्येति** । वर्तमानापदेशस्य भविष्यदर्थता मृतशब्दाप्याहारश्चाशक्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ **अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्** । अक्षर-

आनन्दगिरियव्याख्या

तस्यासामर्थ्यात् । अतः श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यादनारब्धमेव कर्म नश्यति न त्वारब्धमित्यर्थः । अप्रवृत्तफलकर्मनिवृत्तापि प्रवृत्तफलस्य कर्मणो न भोगादृते निवृत्तिरिति स्थिते ज्ञानिनोऽपि देहान्तरं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वं चाविस्मृदमित्युक्तमुपसंहरति—**तस्मादिति** । कर्मज्ञानाधिकृतानां मनुष्याणामेव तर्हि मोक्षो नान्येषां तदभावादित्याशङ्क्याह—**तथाचेति** । किं चाधिकारिकेषु केयुषिर्बभूवुः सा ज्ञानस्यानैकान्तिकफलत्वं किंवा सर्वेषु तेष्विनि विकल्प्याद्ये पूर्वोक्तसमाधि सिद्धवत्कृत्य द्वितीयं प्रत्याह—**ज्ञानान्तरं विवति** । तेषां ज्ञानाभावादेवामुक्तिरित्यर्थः । ऐश्वर्यभेदस्त्वादित्यस्यार्थः । तर्हि तेषामैश्वर्यासक्तानां न कदाचिन्मुक्तिः, तत्राह—**ते पश्चादिति** । निर्विण्णा विरक्ताः । तेषां क्रममुक्तो मानमाह—**ब्रह्मणेति** । प्रतिसंचरो महाप्रलयः कृतात्मानः मरुकृतानः करुणा ज्ञानिनः । ज्ञानस्य नियतफलत्वे हेतुन्तरमाह—**प्रत्यक्षेति** । मुजिवद्विद्योऽन्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वाच्च फलभावशङ्क्यर्थः । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्मरेयति—**कर्ममिति** । ज्ञानफले तुल्यमनुभवानारूढत्वमित्याशङ्क्याह—**अनुभवेति** । तत्कथमित्यपेक्षायां प्रत्यक्षवर्तुविषयत्वा-देत्याह—**यदिति** । परिनिष्पन्नवस्तुविषयत्वाच्च ज्ञानस्य प्रत्यक्षफलतेत्याह—**तत्त्वमिति** । उपासिताध्यत्वाद्ब्रह्मभावस्यासिद्धं ज्ञानस्य परिनिष्पन्नविषयत्वमित्याशङ्क्याह—**नहीति** । वर्तमानापदेशस्य भविष्यदर्थता मृतशब्दाप्याहारश्चायुक्त इत्यर्थः । इत्यर्थे ज्ञानस्यैकान्तिकफलतेत्याह—**तद्वेति** । अव्यवहिते क्रियाहेतौ शत्रुविधानात्पुण्यहेतुत्वं सर्वोपपत्त्यर्थं प्रति सम्यग्निधयः सिद्धमित्यर्थः । अतिस्मृतिन्यायसिद्धमर्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ३२ ॥ आधिकारिकाणामारब्धकर्मवशाद्देहान्नारात्मसिद्धेन कर्मान्तरनिमित्तत-युक्तम् । तथेहापि तत्त्वप्रकरणाधीतनिषेधेर्बोपलक्षणतया तद्वैतनिषेधसिद्धेन शास्त्रान्तरीयनिषेधानां तत्र ब्रह्मप्रतिनिधित्वेनोपलक्ष-

वाजसनेयके श्रूयते—‘एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलो
तमस्त्रेहम्’ (वृ० ३।८।८) इत्यादि । तथाथर्वणे श्रूयते—‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम
यत्तद्वेदस्यमप्राह्यमगोत्रमवर्णम्’ (मु० १।१।५) इत्यादि । तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकर
द्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते । तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते । ता
विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्वयः
प्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्ध्यः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः सामान्यतः
वाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः । तदेव च स
प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते । तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्ध्योऽन्यत्र न स्युः । तथा
‘आनन्दादयः प्रधानस्य’ (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम् । तत्र विधिरूपाणि विं
षणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसद्वर्ति
निर्दर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीपूपस्तु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणा

रत्नप्रभाष्याख्या

अक्षरधियाम् । अत्राक्षरब्रह्मप्रमापका निषेधशब्दा विषयाः, तेषु यत्र यावन्तः श्रुतास्तत्र तावतामशेषद्वैतनिषेध
संभवासंभवाभ्यां संशयमाह—तासामिति । यथा निर्गुणविद्यायां मार्गस्यानपेक्षितत्वादनुपसंहारस्तथा श्रुतनिषेधाना
लक्षणतया सर्वद्वैतनिषेधसंभवाच्छाखान्तरीयनिषेधशब्दानामनपेक्षितत्वादनुपसंहार इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षस्तत्र ल
फलम् । सिद्धान्ते तु दोषद्वयाभावः फलम् । तथाहि—यदि श्रुतशब्देऽश्रुतनिषेधा लक्ष्यन्ते तदा लक्षणादोषः, य
लक्ष्यन्ते तदा सर्वद्वैतनिषेधासिद्धेर्निर्विशेषप्रमित्यभावदोष इति विवेकः । अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियोऽक्षरधियस्तद्वै
शब्दा इति यावत्, तासामवरोध उपसंहार इति सूत्रयोजना । शेषिब्रह्मणः सर्वशाखासु भावात्तत्प्रमितेः समानत्वा
षाणामुपसंहार इति चेत्तर्हि न्यायसाम्यात्पुनरुक्तीतादवस्थमित्यत आह—प्रपञ्चार्थ इति । आनन्दाद
स्वरूपत्वादस्तूपसंहारः निषेधानामनात्मत्वादानन्यात्त्वाच्चानुपसंहार इत्यधिकाशङ्कायां तेषामनात्मत्वेऽपि निर्विशेषब्रह्मप्र

भामतीव्याख्या

विषयाणां प्रतिषेधधियां सर्ववेदवर्तिनीनामवरोध उपसंहारः प्रतिषेधसामान्यादक्षरस्य तद्वाच्यप्रत्यभिज्ञानात् । आनन्दादयः प्राग
न्यत्रायमर्थो यद्यपि भावरूपेषु विशेषणेषु सिद्धस्तत्प्राप्ततया च निषेधरूपेष्वपि सिद्ध एव । तथापि तस्यैवैव प्रपञ्चोऽवगम्यः
निर्दर्शनम् । जामदग्न्येऽहीने इति । यद्यपि शाबरे दत्तोत्तरमन्त्रोदाहरणान्तरं तथापि तुल्यन्यायतयैतदपि शक्यमुदाहरि
त्युदाहरणान्तरं दर्शितम् । तत्र शाबरेमुदाहरणमस्याधानं यज्ञवेदविहितम्—‘य एवं विद्वानभिमाधत्त’ इति । तदङ्गत्वेन यज्ञे
एव ‘य एवं विद्वान्वावर्त्तनीयं गायति य एवं विद्वान्यज्ञायज्ञीयं गायति य एवं विद्वान्यामदेव्यं गायति’ इति विहितम् । एतानि
सामानि सामवेदेऽनुत्पन्नानि । तवेदं संदिद्यते—किमेतानि यत्रोत्पद्यन्ते तत्रलेनैवौचैर्द्वेन स्वरेणाधाने प्रयोक्तव्यान्वय यत्र विनियुज्य

आनन्दगिरियस्याख्या

कृत्वाह—अक्षरेति । विषयं वक्तुं वाक्यमुदाहरति—वाजसनेयक इति । अन्यत्रापीत्यदृश्येनान्तस्य श्रुत्यादिति यावत् । नि
धमुखेन ब्रह्मवादितत्तद्वाक्यस्यापुनरुक्तशब्दाद्विषयत्वेन परिशिष्टेति—तत्रेति । तानधिकृत्य न्यायसंभवोपकारासंभवाभ्यां संश
माह—तासामिति । बुद्धिग्रहणं तत्पूर्वकशब्दोपलक्षणार्थम् । विधेक्येऽपि शरीरानुपसंहारबदनुपसंहारो निषेधशब्दानामिति पू
पक्षयति—श्रुतीति । तत्र श्रुतानामेव निषेधशब्दानामुपलक्षणत्वेनाशेषद्वैतनिषेधद्वारा निर्विशेषब्रह्मोक्तिसामर्थ्यादित्यर्थः । अपुनरुक्त
निषेधशब्दोपसंहारोक्तद्वारा वाक्यार्थधीहेतुवादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रुतेरेव निषेधेरुपलक्षणतया सर्वनिषेधे निर्विशेषब्रह्मप्रमित
लाभवम् । सिद्धान्ते लक्षणैकदेशपरिशेषौ परिहृत्य निर्विशेषब्रह्मप्रमितिनैराकाराद्वक्ष्यमिति मत्वा सिद्धान्तयति—उच्यते इति । अ
धर्मिणि द्वैतनिषेधधियोऽक्षरस्य पिय इत्यर्थकं सूत्रपदं व्याचष्टे—अक्षरेति । तत्र हेतुमवतार्य विभजते—सामान्येति । अप
पितविशेषनिरासेन ब्रह्मोक्तेस्तत्र तत्तुल्यत्वाद्ब्रह्मणश्च प्रतिपाद्यस्य सर्वत्रैक्येन प्रत्यभिज्ञानात्तद्विशिष्टां शब्दप्रत्ययानामुपसंहार इत्यर्थः
श्रुतकतिपयनिषेधैरेव सर्वनिषेधोपलक्षणात्किमुपसंहारेणेत्याशङ्क्याह—तत्रेति । अन्यत्रेति शाखाभेदोक्तिः । अनुपसंहारश्चेदश्रुत
तनिषेधाय तत्र तत्र कतिपयनिषेधशब्दानां लक्षणा द्वैतैकदेशशेषो वा स्यात्ततो वरं द्वैतनिषेधात्कृत्वाशब्दोपसंहारेणैकवाक्यत्वमित्यर्थः । त
तत्रानुग्राहकन्यायं दर्शयति—तथाचेति । तर्हि पुनरुक्तिरित्याशङ्क्य भावाभावधर्मविषयतया परिहरति—तत्रेति । तस्मि
न्यायसाम्यात्तदवस्थं पौनरुक्त्यं, तत्राह—प्रपञ्चेति । ब्रह्मस्वरूपत्वादानन्दानुपसंहारेऽपि निषेधानामनात्मत्वाभिप्रेत्यानन्तेना
न्यायैकत्रोपसंहारायोगात्किञ्चिन्निषेधनान्यलक्षणार्थां च श्रुतेनैव सिद्धेरुपसंहारानर्थक्यात्र निषेधोपसंहारसिद्धिरित्याशङ्क्य निषेध
मनात्मत्वेऽप्यात्मलक्षणतया तत्प्रमित्यर्थं सार्वत्रिकत्वाभिप्रेत्यद्वैतस्य भूतभौतिकत्वादिरूपस्य मितत्वेन तत्रापि मितिसिद्धेरुपसंहार
स्यादित्यभिप्रेत्योक्तम्—प्रपञ्चार्थश्चेति । शाखान्तरोक्तानामपि प्रधानयोगिनामुपसंहार इत्यत्र दृष्टान्तमाह—औपसद्वर्ति

‘अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्’ इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसंबन्धो भवति । अध्वर्यु-
कर्तृकत्वापुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यध्वरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां
यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—‘गुणमुख्यव्य-
तिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः’ (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाख्या

विवादितात्त्विकनिषेधत्वेन संप्रहसिद्धेश्च निरपेक्षास्थलानुवाक्यस्थतया कृत्तनिषेधशब्दानामन्यत्रधृतनिषेधवाक्यकवाक्य-
पसंहार इति चिन्ता युक्तैत्यर्थः । अन्यत्रधृतशेषाणामन्यत्रशेषसंबन्धे दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति । ‘जमदग्निः
कामश्चतुरात्रेणायजत’ इत्युपक्रम्य विहितो जमदग्निना कृतो जामदग्न्यः, अहीनश्चतुरात्रः कतुस्मिन्पुरोडाशिन्य
उदो भवन्तीति पुरोडाशसाध्या इष्टयस्तेतिरीयके विहिताः, तासामध्वर्युकर्तृकत्वात्तासामवेदोत्पन्नमन्त्राणां तासु विनियो-
ध्वर्युणैव प्रयोगो नोद्गात्रेत्यर्थः । वेदैवगणस्य होत्रं अध्वरं च कर्मास्त्वत्त एवेत्यध्यात्ममन्त्रमन्त्रार्थः । उत्पत्तिवि-
णः फलापेक्षात्वादुत्पन्नस्य फले विनियोगविधिमुख्यः सफलत्वात् । तथाच मन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नत्वादुद्गात्रा प्रयोगः,
योगविधिनाध्वर्युणा प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे विरोधे सति मुख्येन वलीयसा मन्त्रात्मकवेदस्याध्वर्युणा
योग उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिस्त्वार्थः । यद्यपि शावरभाष्ये वारवन्तीयादिसाम्राज्यैःस्वरकसामवेदोत्पन्न-
दाधानाङ्गत्वेनोच्चैःस्वरप्रयोगः ‘य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति यज्ञायज्ञीयं गायति वामदेव्यं गायति इत्याधाने तेषां
नेयोगविधिना याजुषेण याजुष्योपाङ्गस्वरस्य प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्विरोधे सत्युत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वान्मुख्यविनियो-
लेन साम्रां यजुर्वेदस्वरसंयोग इति सूत्रं व्याख्यातं, तथापि न्यायसाम्यादौपसदमन्त्राः सूत्रविषयत्वेनोदाहृता इत्य-

भामतीव्याख्या

लेनोपाङ्गत्वेन स्वरेण ‘उच्चैः सामोपाङ्ग यजुषा’ इति श्रुतेः । किं तावत्प्राप्तम् । उत्पत्तिविधिर्नैवापेक्षितोपायत्वात्मना विहितत्वादङ्गानां
न प्राथम्यात्तन्निबन्धन एवोच्चैःस्वरे प्राप्त उच्यते—गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः । अयमर्थः—
त्तिविधिर्गुणो विनियोगविधिस्तु प्रधानं, तदनयोर्व्यतिक्रमे विरोधे उत्पत्तिविध्यालोचनेनोच्चैः प्रविनियोगविध्यालोचनेन चोपाङ्गत्व
यं विरोधो व्यतिक्रमस्तस्मिन्व्यतिक्रमे मुख्येन प्रधानेन नियुज्यमानत्वरूपेण तस्य वारवन्तीयादेर्वेदसंयोगो ब्राह्मो नोत्पद्यमा-
न गुणः । कुतः, विनियुज्यमानत्वस्य मुख्यत्वेनोत्पद्यमानत्वस्य गुणत्वेन तदर्थत्वादितिनियुज्यमानार्थत्वादुत्पद्यमानत्वस्य ।
एतं भवति—यद्युत्पत्तिविधावपि चातुरूप्यमस्ति विधित्वस्याविशेषात् । तन्मात्रानन्तरीयकत्वाच्च चातुरूप्यस्य । तथापि वाक्या-
दपर्यं भिद्यते । एकस्यैव विधेरुत्पत्तिविनियोगाधिकारप्रयोगरूपेण चतुर्षु माथे किंचिदेव रूपं केनचिदाक्येनोद्दिश्यते
यतोऽप्राप्तम् । तत्र यद्यपि सामवेदे सामानि विहितानि तथापि तदाक्यानां तदुत्पत्तिमात्रपरता विनियोगस्य याजुर्वेदिकेरेव
यः प्राप्तत्वात् । तथाचोत्पत्तिवाक्येभ्यः समीहितार्थाप्रतिलम्भाद्विनियोगवाक्येभ्यश्च तद्वगतेतदर्थान्येवोत्पत्तिवाक्यानि भव-
न्ते तत्र येन वाक्येन विनियुज्यन्ते तस्यैव स्वरस्य साधनत्वसंस्पर्शिनो ग्रहणं न तु रूपमात्रस्पर्शिन इति । भाष्यका-
नप्रादाहरणमेवमेव योजयितव्यम् । उद्गातृवेदोत्पन्नानां मन्त्राणामुद्गात्रा प्रयोगे प्राप्ते अध्वर्युप्रदानकंठे पुरोडाश विनियुक्तत्वा-
नानुरोधेनाध्वर्युणैव तेषां प्रयोगो नोद्गात्रेति दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिहापीति ॥ ३३ ॥ इयदामननात् । ‘गृहां

आनन्दगिरियव्याख्या

अनं धिवृणोति—यथेति । जमदग्निः पुष्टिकामश्चतुरात्रेणायजतेत्युत्पन्ने जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिन्य उपपदो भवन्तीति
र्यं पुरोडाशयुक्तामपस्तस्मिन्विष्टिपुष्टिदाश पुरोडाशप्रदानमन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नानामुद्गात्रा प्रयोगं प्राप्तेऽध्वर्युप्रदानके पुरोडाश
प्रयोगात्तस्य चोत्पत्त्यपेक्षया प्राधान्यात्तदनुरोधेनाध्वर्युणैव तेषां प्रयोगो नोद्गात्रेत्यर्थः । उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिकं योजयति—
मिति । अत्रैवोदाहरणान्तरविवक्षया तार्तीयं सूत्रमुदाहरति—तदुक्तमिति । याजुर्वेदिकेऽद्विधाधानं य एवं विद्वान्प्रियायत्त
ति श्रुतेस्तदङ्गत्वेन य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति य एवं विद्वान्वाक्ययज्ञीयं गायति य एवं विद्वान्मामदेव्यं गायतीति तत्रैव साम-
नं धृतं तत्र किमेतानि वारवन्तीयादीनि सामवेदोत्पन्नत्वात्तत्रोत्पन्नोच्चैःस्वरेणाने प्रयोक्तव्यानि किंवा यत्र विनियुज्यन्ते तत्रो-
चोपाङ्गत्वेनेति संदेहे सत्युत्पत्तिविधिनैवापेक्षितोपायत्वात्मना विहितत्वादङ्गानां तस्यैव प्राथम्यात्तन्निबन्धनोच्चैःस्वरे प्राप्तं प्रत्याह—
येति । उत्पत्तिविधिर्गुणो विनियोगविधिर्मुख्यस्तदर्थत्वोर्व्यतिक्रमो विरोध उत्पत्तिविध्यालोचनयोच्चैःस्वरे विनियोगविध्यालोचनयोपाङ्ग-
मिति तस्मिन्व्यतिक्रमे सति मुख्येन प्रधानेन विनियुज्यमानेन रूपेण वारवन्तीयादेर्वेदस्य संयोगो ब्राह्मो नोत्पद्यमानत्वेन गुणेनेति
तिशायं हेतुमाह—तदर्थत्वादिति । उत्पद्यमानस्य विनियुज्यमानार्थत्वावपि सामवेदे सामानि विहितानि तथापि तदाक्यानां
उत्पत्तिमात्रपरत्वं विनियोगस्य याजुर्वेदिकवाक्यैरेव प्राप्तेस्तत् एव समीहितार्थाप्रतिलम्भात्तदर्थान्येवोत्पत्तिवाक्यानि तस्यैव स्वरस्याधे-
र्शर्शिनो ग्रहणमित्यर्थः । उदाहरणान्तरं तु समानन्यायतया शितमिति न शावरविरोधः ॥ ३३ ॥ प्रतिपाद्यमक्षप्रविशानाङ्गा-

इयदामननात् ॥ ३४ ॥



पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विधे अथबैकता ॥ भोक्तारौ भोक्तृभोक्तारविति विधे उभे इमे ॥ १ ॥
पिबन्तौ भोक्तृभोक्तारवित्युक्तं हि समन्वये ॥ इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्वैकता मन्त्रयोर्द्वयोः ॥ २ ॥

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति’ (मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कंठाः ‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः’ (क० ३।१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तं विद्यानानात्वमिति । कुतः—विशेषदर्शनात् । द्वा सुपर्णेत्यत्र होकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते एकस्य चाभोक्तृत्वं दृश्यते । ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते तद्वेद्यरूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्नादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति । कुतः—यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरित्युत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति । ननु दर्शितो रूपभेदः । नेत्युच्यते । उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो नार्थान्तरम् । ‘द्वा सुपर्णा’ इत्यत्र तावत् ‘अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति’ इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते । वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते । ‘जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्’ (श्वे० ४।७) इति । ‘ऋतं पिबन्तौ’ इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि साहचर्याच्छन्नित्यायेन पिबतीत्युपचर्यते । परमात्मप्रकरणं ह्येतत् ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्’ (क० २।१४) इत्युपक्रमात् । तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति ‘यः सेतुरीजानानाम-

रत्नप्रभाष्याख्या

विरोधः ॥ ३३ ॥ इयदामननात् । मन्त्रद्वयेऽपि प्रतिपादनप्रकारभेदात् ज्ञेयैक्यमानाच्च संशयमाह—किमत्रेति । ऋतपानवाक्ये ‘अक्षरं ब्रह्म यत्परम्’ इति गुणाः धृताः, सुपर्णवाक्येऽनश्नत्वादयस्तेषां मिथोऽनुपसंहार इति पूर्वपक्षफल, सिद्धान्ते तूपसंहारे ब्रह्मस्वरूपवाक्यार्थैक्यादुपसंहार इति विवेकः । अस्तु वैधैक्यादक्षरधियामुपसंहारः । इह तु

भामतीश्याख्या

प्रविष्टावात्मानौ’ इत्यत्र सिद्धोऽर्थः प्रपक्ष्यते । एकत्र भोक्तृभोक्तोर्वैयता, अत्यत्र भोक्तोरेवेति वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति । ननु सूरीरुपदधातीतिवृत्तिपदपिबन्नक्षणापरं पिबन्ताविति नेतुमुचितम् । सति मुख्यार्थसंभवे तदाश्रयणायोगात् । नच वाक्यशेषानु रोधात्तदाश्रयणम् । संदेहे हि वाक्यषेष्वाभिर्गणौ नच मुख्यलाक्षणिकग्रहणविषयो विशयः संभवति, तुल्यबलत्वाभावात् । प्रकरणं च ततो बलीयसा वाक्येन बाधनात् । तस्माद्विद्यभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्त उच्यते—द्वासुपर्णेत्यत्र ऋतं पिबन्तावित्यत्र च द्विव

आनन्दगिरीयव्याख्या

नैक्येऽक्षरधियामुपसंहारवत्प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेदः स्यादित्याशङ्क्याह—इयदिति । गुहां प्रविष्टावित्यत्र सिद्धार्थमपि वाक्यमुपसंहारादुपसंहारप्रसङ्गात्पुनरुदाहरति—द्वा सुपर्णेति । तथाविधमेव काठकावयमपि पठति—तथेति । मन्त्रद्वयं विषयीकृत्य प्रतिपादनप्रकारभेदाद्विद्याभेदमानात्प्रतिपाद्यासंसार्यात्मदृष्टेस्तदैक्यदृष्टेश्च संशयमाह—किमिति । मन्त्रद्वयेऽपि विधैक्योक्त्या वाक्यार्थधीहेतोरेवोक्तत्वात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते तदुपसंहार इत्यङ्गीकृत्य विद्युद्ध्य पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति अर्थैक्यदृष्टेर्न विद्यानानात्वमिति शङ्कते—कुत इति । रूपभेददृष्टेरर्थैक्यधीरसिद्धेत्याह—विशेषेति । तदेव विवृणोति—द्वा सुपर्णेति । भोक्तृभोक्तोर्द्वा सुपर्णेत्यत्र वेद्यता भोक्तोरेवान्यत्रेति वेद्यभेदाद्विद्याभेदः । नच छत्रिन्यायेन पिबन्ताविति लक्षणसंभवे तदयोगात् । नच वाक्यशेषालक्षणेनोपक्रमस्य मुख्यलाक्षणिकग्रहणविषये तुल्यबलत्वाभावादेव संशयानुपपत्तेः । नन्वप्रकरणं लक्षणाधीनं वाक्येन बाधादिति मत्तोपसंहरति—तदिति । मन्त्रयोर्विद्यानानात्वमनुपसंहारक्षेति पक्षमनूय बहिरेव सिद्धा न्तमाह—एवमिति । तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुत्वेन सूत्रं योजयति—कुत इति । इयत्तापरिच्छिन्नमित्येतदेव व्याचष्टे—द्विवेति । रूपभेदाद्विद्याभेदं सारयति—नन्विति । रूपभेदासिद्ध्या प्रत्याह—नेति । अर्थान्तरशब्देन जीवो गृह्यते । जीवानुवादेन तत्पार्थक्यं दर्शयति । परमात्मतत्त्वं प्रतिपाद्यमित्येतदाथर्वादिमन्त्रे साधयति—द्वा सुपर्णेति । तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—वाक्येति । तमेव दर्शयति । तथापि काठके भोक्तोरेवोक्तैर्नैश्वर्यार्थेत्याशङ्क्याह—ऋतमिति । मन्त्रद्वयेऽपि द्वित्वसंख्यादृष्टेरुभयोरनुकूल्यतां विना च द्वित्वसंख्यायोगाच्चेतनस्य जीवस्य परमात्मैव चेतनत्वात्तुल्य इति पिबन्तावित्यस्य लक्षणा बलादायातीत्यर्थः । किंच प्रकरणादपि परमात्मैवाख्यातीत्याह—परमात्मेति । उपक्रमबहुपसंहारोऽपि तद्विषय एवेत्याह—तदिति । अत्रापि लपिषद्वादाथर्वणिकादिवाक्यं दृष्टव्यम् ।

क्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम् । तस्माद्वास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम् । अपिच त्रिविधेतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं नार्थान्तर-विवक्षया । नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः । तस्माद्वाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥



विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुपलक्ष्योल्लोच्योः ॥ समानस्य द्विराज्ञानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥ १ ॥

सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः ॥ शङ्काविशेषमुक्तं द्विः पाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥ २ ॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१-३।५।१) इत्येवं द्विरुपलक्ष्योल्लोच्य-योर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समात्मनन्ति । तेन संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति । विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम् । अभ्याससामर्थ्यात् । अन्यथा ह्यन्यूनानन्तरिकार्थं द्विराज्ञानम-

रत्नप्रभाव्याख्या

वेद्यभेदान्नोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः । नन्वयं गुहाधिकरणे निरस्त इति चेत्, सत्यं, किंतु पिबन्पदस्य मुखार्ध-त्वाय स्वतः कल्पनया च पानकस्याश्रयौ बुद्धिजीवी पिबन्तौ प्राहौ, सुपर्णौ तु जीवेश्वरावित्यधिकाशङ्कायां मन्त्रद्वयेऽपि द्विवचनशब्दसामान्यादैतत्पक्षिकद्वित्वविशिष्टतया तुल्यवस्तुतुल्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकाभावात्प्रकरणायनुग्रहाच्च जीवानुवादिना-संसारिब्रह्मणि मन्त्रद्वयतात्पर्यमिति प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रमिति भावः ॥ ३४ ॥ अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनः । घटादिकं चिद्विषयत्वेनापरोक्षं, ब्रह्म तु साक्षादविषयत्वेनापरोक्षमिति । प्रथमार्थे पञ्चमी । अत्र धृतावात्मधर्मोऽपरोक्षत्वं ब्रह्मण्युक्तं, ब्रह्मधर्मः सर्वान्तरत्वमात्मन्युक्तं, तेन तयोरैक्यं दृढीकृतं मन्तव्यं, तन्मे व्याचक्ष्वेत्युपलक्ष्यप्रश्ने याज्ञवल्क्येन प्राणादिप्रेरको द-श्यादिसाक्षी प्रतिपादितः । तथैव 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्त्वमेव व्याचक्ष्व' इति कठोहप्रश्नेऽज्ञानाया

भामतीव्याख्या

संस्थोत्पत्तौ प्रतीयते तेन समानतैत्सर्गिकी । पिबन्ताविति द्वयोः पिबन्ता या सा बाधनीया, सा चोपक्रमोपसंहारानुरोधेन न द्वयोरपि तु छविन्यायेन लाक्षणिकी व्याख्येया । येन ह्युपक्रम्यते येन चोपसंस्थियते तदनुरोधेन मध्यं ज्ञेयम् । यथा जामित्युप-क्रमोक्तोपक्रमे तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे च संदर्भे मध्यपातिनो विष्णुर्गुणाशु यष्ट्योऽज्ञानात्मन्यादयः पृथग्विहितमलममाना भिन्नमविवक्षित्वाथैवादतया नीतास्तत्कस्य हेतोरैकवाक्यता हि साधोयसी वाक्यभेदादिति । तथैहापि तदनुरोधेन पिबदपिबत्स-हस्य लक्षणीयं पिबन्तावित्यनेन । तथाच वेद्याभेदाद्विद्याभेद इति । अपिच त्रिविधेतेषु वेदान्तेषु प्रकरणत्रयेऽपि पौर्वा-पर्यालोचनया परमात्मविद्यैवावगम्यते । यथेयं कथं तर्हि जीवोपादानमस्तिवचन आह—तादात्म्यविवक्षयेति । तस्यां जीनः प्रतिपाद्यते किंतु परमात्मनोऽभेद जीवस्य दर्शयितुमसावनुवृत्तं । परमात्मविद्याप्राप्ताभेदविषयत्वाच्च भेदाभेदवि-पागवतारः । तस्मादेकविधमत्र सिद्धम् ॥ ३४ ॥ अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः । कौपीनैक्यकठोपकायायोपान्त-ओपक्रमयोर्विद्ययोर्नैरन्तर्येणाज्ञातयोः किमस्ति भेदो न वेति विशये भेद एवेति श्रुतः । कुतः—यद्यप्युभयत्र प्रश्नोत्तरयोर्भेदः प्रतीयते । तथापि तस्यैवैकस्य पुनः श्रुतेरविशेषादानर्थक्यप्रसङ्गाद्यजलम्यासवद्भेदः प्राप्तः । न चैकस्यैव ताण्डितान्नवकृत्य

आनन्दगिरीयव्याख्या

पक्रमोपसंहारैककल्याणमध्यमपि तथा नेयमिति भावः । सिद्धाधेत्याच्च मन्त्रद्वयस्य परिवर्त्यत्वाच्च—गुहामिति । मन्त्रद्वयस्य परमात्मैक्यत्वाद्गुहाभेदाद्विद्याभेदो नेति निगमयति—तस्मादिति । न केवलं मन्त्रद्वयमेव परिवर्त्य किंतु तत्त्वोपेक्षाप्राप्तं सर्वमपि विज्ञानमित्याह—अपिचेति । आधर्वणिकशेताश्वतरकाठकविषयस्या त्रिविध्यमुक्तम् । किमिति तर्हि जीवोपादानं नराह—तादात्म्येति । ऐक्यं वक्तुं जीवोऽनुवृत्त इत्यर्थः । तदनुवादेन परप्रतिपादनंऽपि कुतो विवेक्यं, तत्राह—नचेति । प्राग्व-पदस्यस्य सिद्धार्थत्वे किमेनेनाधिकरणेनेत्याशङ्क्याह—तस्मादिति । गुणोपसंहारप्रस्तावे मन्त्रद्वयविवरणं कुत्रोपयुक्तं, तत्राह—तस्माच्चिति ॥ ३४ ॥ मन्त्रयोर्थभेदोक्तिप्रसङ्गेन ब्राह्मणयोरपि तुल्यार्थतामाह—अन्तरेति । बृहदारण्यके पार्थमिकं ब्राह्मणद्वयमु-पलक्षयति—यदिति । घटादि संवित्कर्मत्वेनापरोक्षं ब्रह्म तु साक्षादपरोक्षं तदेव प्रत्यगात्मेत्याह—य इति । स च सर्वान्तरां ब्रह्मणि सैव स्य सर्वान्तरत्वस्यात्मनि स्थितस्य चापरोक्षत्वस्य ब्रह्मणि संकीर्तनादुभयोरैक्यमित्यर्थः । तन्मे व्याचक्ष्वेति शेषः । ब्राह्मणद्वयं वेदयोर्गुह्याभ्यासात्सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयमाह—तत्रेति । पिबन्तावित्यस्य लाक्षणिकत्वं गुह्यत्वा मन्त्रयोर्भेदोक्तोपसंहार-नाभेदक्याद्विद्यैक्यमुक्तम् । इह स्वर्थेऽपि न विद्यैक्यमभ्यासादिति पूर्वपक्षमाह—विद्योते । हेतुं व्यतिरेकतः स्फोरयति—अन्यथेति । एकस्यैव पुनः श्रुतेरविशेषादानर्थकं हि स इति न्यायाद्यजलम्यासंऽप्युपक्रमभेदवद्विद्याभेद श्रुत्युपसंहारति—तस्मादिति ।

नर्थकमेव स्यात् । तस्माद्यथाभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद इत्येवं प्राप्ते प्रत्याह—
अन्तराज्ञानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति । सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छयते
च प्रत्युच्यते च । नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरो संभवतः । तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वा-
न्तरत्वमवकल्प्येत । एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात् । यथा च पञ्चभूतसमूहे
देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वा-
न्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः । अथ वा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति । यथा—
'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इत्यस्मिन्नेव सम-
स्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्मान्नायते । एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः । तस्मादे-
कैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आज्ञानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रो-
च्यते—नायं दोषः । उपदेशान्तरवदुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशो न विद्याभेदो भवत्ये-
वमिहापि भविष्यति । कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशो विद्याभेदो न भवति । उपक्रमोपसंहाराभ्या-
मेकार्थतावगमात् । 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य
पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् । आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः ।
एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२-३।५।१) इति च परिसमाप्त्यविशे-

रत्नप्रभाष्याख्या

यतीतः प्रतिपादितः । तत्र ब्राह्मणद्वयेऽपि प्रश्नादभ्यासात्सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च संशये मन्त्रयोर्वैद्यक्यादस्तु विद्यैक्यं, इह
तु ब्राह्मणयोर्वैद्यक्येऽपि अभ्यासाद्विद्याभेदः, यजुष्यभ्यासात्प्रयाजभेदवदिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः, तत्र मिथो धर्मा-
नुपसंहारः फले, सिद्धान्ते तूपसंहार इति विवेकः । द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्त्या तावद्ब्राह्मणयोरैकवस्तुपरत्वं सिद्धम् ।
तथाच वैद्यक्याभिर्गुणविद्यैक्ये न विवादः ॥ ३५ ॥ ननु अन्यथा विद्यैक्याङ्गीकारे अभ्यासानुपपत्तिरिति चेदु-
च्यते—स एवाभ्यासः कर्मभेदको यो निरर्थकः, इह तूपस्तब्राह्मणोक्तात्मन एवाशनायाद्यत्ययरूपविशेषकथनार्थत्वादभ्या-

भामतीच्यारूपा

उपदेशेऽपि यथा भेदो न भवति स 'आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यत्र तथेहाप्यभेद इति युक्तम् । 'भूय एव मा भगवान् विज्ञाप-
यतु' इति हि तत्र श्रूयते तेनाभेदो युज्यते । न चेह तथास्ति । तेन यद्यपीह विद्याभेदोऽवगम्यते तथाप्येकत्र तस्यैवाशना-
यादिमात्रात्ययोपाधेरुपासनादेकत्र च कार्यकरणविरहोपाधेरुपासनाद्विद्याभेद एवैति प्राप्ते प्रत्युच्यते । नैतदुपासनाविधानपरमपि
वस्तुस्वरूपप्रतिपादनपरं प्रश्नप्रतिवचनालोचनेनोपलभ्यते । किमतो यथेवम् । एतदतो भवति—विधेरप्राप्तप्राप्तार्थत्वात्प्राप्तानुपपत्तिः
वस्तुस्वरूपं तु पुनः पुनरुच्यमानमपि न दोषमावहति शतकृत्वोऽपि हि पथं वदन्त्यासाः । विशेषतस्तु वेदः पितृभ्यामप्य-
र्हितः । नच सर्वथा पौनरुक्त्यम् । एकआशनायाद्यत्ययादन्यत्र च कार्यकारणप्रविलयात् । तस्मादेका विद्या प्रत्यभिज्ञानात्
उभाभ्यामपि विद्याभ्यां भिन्न आत्मा प्रतिपाद्यते इति यो मन्यते पूर्ववक्षेकदेशी तं प्रति सर्वान्तरत्वविरोधो दर्शितः ॥ ३५ ॥
अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवदिति । अस्य तु पूर्वपक्षतत्त्वामिप्रायो दर्शितः । सुगममन्यत् ॥ ३३ ॥

आनन्दगिरिशय्यारूपा

ब्राह्मणयोरैकार्थत्वेन विद्यैक्योक्त्या वाक्यार्थधीहेतोरैवात्र चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्याभेदाद्गुणानुपसंहारः । सिद्धान्ते तद-
व्याप्तदुपसंहारसिद्धिरिति सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तयति—एवमिति । पूर्वपक्षस्यचमामननादितिपदमिहानुपपत्तमित्यङ्गीकृत्य स्वात्मनोऽङ्क-
राज्ञानाविशेषादित्युक्तं तदेव स्फुटयति—सर्वेति । तथापि कथं ब्राह्मणयोरैकार्थ्यं, तत्राह—नहीति । द्वयोः सर्वान्तरत्वायुक्ते स्तौ-
व्यसिद्धेर्वैद्यैक्यमित्यर्थः । कथं पुनर्द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्तिर्मनोमयत्वादिवदुपपत्तेः, तत्राह—तदाहीति । भूतग्रामदृष्टान्तं व्याकृष्टे-
यथेति । तमेवानूय विधान्तरेण व्याकरोति—अथवेति । द्वयोः सर्वान्तरत्वयोगलभ्यमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३५ ॥
पूर्वपक्षबीजमनूय दूषयति—अन्यथेति । तत्रानुवादं व्याकरोति—अथेति । परिहारमवतारयति—अत्रेति । नञोऽर्थमुक्त्वा दृष्टा-
न्तेनाज्ञानभेदोपपत्तिं सूत्रावयवार्थमाह—नेत्यादिना । तदेव विवृणोति—यथेति । दृष्टान्तोऽपि संमतो नेति शङ्कते—कथमेति ।
दृष्टान्ते विद्यैक्यं साधयति—उपक्रमेति । ऐकार्थ्यसिद्धौ हेत्वन्तरमाह—भूय इति । एकस्यैव भूयःशब्दात्प्रतिपाद्यत्वेन पौनरुक्त्याभि-
त्याशङ्क्याह—आशङ्कान्तरेति । दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । इहेति ब्राह्मणद्वयोक्तिः । एवकारसामर्थ्यादपि विद्यैक्यमित्याह—

षादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते । 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (वृ० ३।५।१) इति द्वितीये प्रश्न एवकारं प्रयुज्जनः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रातुङ्ग्यमाणं दर्शयति । पूर्वसिद्ध ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते । उत्तरसिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारमार्मातीतत्वं कथ्यते । इत्येकार्थतोपपत्तिः । तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥



व्यतिहारे स्वात्मरश्म्योरेकधा धीरुत द्विधा ॥ वस्तुवैक्यादेकैक्यस्य दाह्याय व्यतिहारमीः ॥ १ ॥
एकैक्येऽपि व्यतिहारोक्त्या पीडितेष्वस्य जीवता ॥ युक्तोपास्यै वाचनिकी मूर्तिवहात्म्याधिकम् ॥ २ ॥

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्येतरैर्यिणः समामनन्ति तथा जाबालाः 'त्वं वा अहमसि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारे-णोभयरूपा मतिः कर्तव्योक्तैकरूपैवेति । एकरूपैवेति तावदाह । न ह्यत्रात्मन ईश्वरेणेकत्वं मुक्त्वा-न्यत्किञ्चिन्तयितव्यमस्ति । यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत संसारिणश्चेश्वरा-त्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति । तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्व उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात् । तस्मादैकरूप्यमेव मतेः । व्यतिहारास्त्रास्वेकत्ववद्दी-कारार्थ इति । एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायान्नायते । इतरवत् । यथेतेरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृत्य आध्यानायान्नायन्ते तद्वत् । तथाहि विशिषन्ति समास्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति । तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति । अन्यथा

रत्नप्रभाव्याख्या

मोऽन्यथासिद्धो न विद्याभेदक इति समुदायार्थः ॥ ३६ ॥ व्यतिहारः । जीवेशयोर्मिथो विशेषणविशेष्यभावो व्यति-हारः, तस्य ध्रुतत्वात्, उत्कृष्टदृष्टिर्निर्कृष्टे कृता फलवतीति न्यायाच्च संशये जीवे ईश्वरत्वमतिरेव कार्या उक्तन्यायान्, व्यतिहारध्रुतिस्तु तस्या एव दृढीकरणार्थत्वेनाभ्यासवदन्यथासिद्धेति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः । तत्र लापवं फले सिद्धान्ते तु ध्रुवार्थवत्त्वमिति विवेकः । एकैकैव त्वमहमस्मीत्युच्चारणेनैकत्वमतेः कृतत्वादहं त्वमसि इति वृथा स्यादित्यर्थः । उक्तदोषं

भामतीव्याख्या

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् । उत्कृष्टस्य निःकृष्टरूपापत्तेर्गोभयत्रोभयरूपानुचिन्तनम् । अपि तु निःकृष्टे जीव उत्कृष्ट-रूपाभेदचिन्तनमेवं हि निःकृष्ट उत्कृष्टो भवतीति प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—इतरेतराद्यादेनतरेतररूपविभागादुभयत्रोभय-चिन्तनं विधीयते । इतरथा तु योऽहं सोऽसौमित्येतावदेवोच्येत । जीवात्मानमनुश्वरत्वमस्य विशेषतः । न त्वेश्वरस्य जीवात्मत्वं योऽसौ सोऽहमिति । यथा तत्त्वमसीत्यत्र । तस्मादुभयरूपमुभयत्रायाणां गोपदिश्यते । तन्वेवमुत्कृष्टस्य निःकृष्टत्वप्रसङ्ग-शुक्लं तत्किमिदानीं सगुणे ब्रह्मण्युपास्यमानेऽस्य वस्तुतो निर्गुणस्य निःकृष्टता भवति । कर्मचिन्तकत्वाय तथा ध्यानभावं विधीयते

आनन्दगिरियव्याख्या

यदेवेति । यस्मात्साक्षादपरोक्षादेव न कदाचिदपि परोक्षमित्येवमेवकारो योज्यतामित्याशङ्क्य व्यवहितान्वयाभेदमिति सत्त्वाह—पूर्वेति । कथं तर्हि धीनरुत्तरादानर्थक्यापत्तिसमाधिः, तत्राह—पूर्वसिद्धिः । उपस्तप्रश्ने कार्यकरणविरहः साध्यः यः प्राणिनः प्राणिनीत्या-दिभिर्दिशात्कहोलप्रश्ने त्वशनायादिविरहो योऽशनायापिपासे शोकं मोहमित्यादिदर्शनात्ताया चैकैक्यैवाकाशमेवेतोक्तो धीनरुत्तरं कुतस्त्व-मित्याह—इत्येकार्थतेति । ऐकार्थ्यं फलितमाह—तस्मादिति ॥ ३६ ॥ तत्त्वमसीत्येकावोपदेशेऽप्योपदेशात्तरेवदिशेन गृह्यत्व-वेनोदाहृतत्वात्तत्त्वमसिनेकत्ववादिवाक्यान्तराणां तात्पर्यमाह—व्यतिहार इति । ऐनरेवकारवत् त्रैवाचारार्थं योदाहरणं—तदिति । वाक्यद्वयमधिकृत्य व्यतिहारस्यान्योन्यं विशेषणविशेष्यत्वस्य दृष्टेरुत्कृष्टदृष्टिर्निर्कृष्टे फलवतीति न्यायाच्च संशयमाह—तत्रेति । उपस्तकहोलयोर्विषयैरेवपि यथादाराशोऽभ्यासस्तथायमपीति सत्त्वा पूर्वपक्षवति—एकेति । पदान्तराणामर्थान्तरपरत्वकारणस्यानर्थं मने-रेकरूपमित्याशङ्क्याह—नहीति । अन्योन्यात्मत्वमर्थान्तरमित्याशङ्क्याह—यदीति । अन्योन्यात्मत्वमनुचिन्तनस्यायुक्तं फलि-तमाह—तस्मादिति । तर्हि किमर्थं व्यतिहारान्नानं तदाह—व्यतिहारेति । व्यतिहारपाठे द्विरूपाया मनेरनुपपत्त्येवमित्या-विषयकोक्तार्थव्युत्पत्तिहेतोरिव चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मतेरेकरूपत्वे लापवम् । सिद्धान्ते तस्मा द्भेदये दृढत्वमेवमस्य विधायताति-प्रशानः सिद्धान्तयति—एवमिति । व्यतिहारो मिथो विशेषणविशेष्यत्वमाध्यानमुभयरूपमनिकरणम् । प्रविज्ञानमर्थं दृष्टानेन-एवमिति—इतरवदिति । दृष्टान्तदार्ष्टिकमगो व्याख्याय हेतुं व्याख्याति—तथा हीति । उभयरूपोच्चारणेऽपि कथं प्रविज्ञा-एवमिति, तत्राह—तच्छेति । तदेव व्यतिरेकमुखेनाह—न-कथेति । जीवे मन्त्राधीनैव चेतसा त्वमहमित्येतावतैव विद्वद्भयोच्चार-

हीदं विशेषेणोभयान्नमनर्थकं स्यात् । एकैनेव कृतत्वात् । ननुभयान्नमनस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः । ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः किं तर्हि व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्वेतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथाध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्वृण ईश्वरः प्रसिध्यति तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसर्तव्यो भवतीति ॥ ३७ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥



२४अधिकरणम्

त्रे सत्यविषये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः ॥ फलभेदादुभे लोकजयात्पापहतेः पृथक् ॥ १ ॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् ॥ अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतिकल्पकः ॥ २ ॥

‘स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म’ (बृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्य-

रत्नप्रभाष्याख्या

स्मारयति—नन्विति । संदिग्धेऽर्थे न्यायः सावकाशः, इह तु ध्रुतत्वादन्वोन्यात्मत्वं ध्येयं, ब्रह्मणि मनोमयत्वादिवजो-
वात्मत्वस्य ध्यानार्थमारोपेऽपि निकर्षप्रसक्त्यभावादिति परिहरति—नैष दोष इति । ब्रह्मणि निकर्षं हित्वा जीवता-
दात्म्यध्याने मदुक्तमेवागतमिति शङ्कते—नन्वेवमिति । मतेर्द्विरूपत्वं लदनुक्तमस्माभिरुच्यते ध्यानपरं वाक्यमिदमेकत्वं तु
मानान्तराविरोधात्सिद्ध्यतीति समाधत्ते—न वयमिति । अहंप्रहोपास्तित्वं व्यतिहार उपसर्तव्य इत्याह—तस्मादिति
॥ ३७ ॥ सैव हि सत्यादयः । स यः कश्चिदधिकारी महद्वापकं यक्षं पूज्यं भौतिकेषु प्रथमजमेतत्सच ल्यचेति
सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं वेदोपास्ते तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । सत्यमिति नाम व्यक्षरं सतियमिति, तत्र प्रथमे-
त्तमे अक्षरे सत्यं, मध्यस्थमक्षरमनृतमुभयतः सत्येन संपुटितत्वात्सत्यप्रायमेव भवतीति नामाक्षरोपासना सत्यविद्याज्ञाने-

भामतीव्याख्या

न त्वस्य निकृष्टतामापादयतीति चेदिहापि व्यतिहारानुचिन्तनमात्रमुपदिश्यते फलाय न तु निकृष्टता भवत्युक्तस्य । अत्रापि
यशिष्ठं तु तादात्म्यदार्ढ्यं भवन्नोपेक्षामहं । सत्यकामादिगुणोपदेश इव तद्वृणेश्वरसिद्धिरिति सिद्धमुभयत्रोभयान्मात्राभ्यामिति
॥ ३७ ॥ सैव हि सत्यादयः । तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतमहद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयती
माल्लोकाजित इवसावसय एवमेतमहद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं हेव ब्रह्म । पूर्वोक्तस्य हृदयाख्यस्य ब्रह्मण
सत्यमित्युपासनमनेन संदर्भेण विधीयते । तदिति हृदयाख्यं ब्रह्मेकेन तदा परामृशति । एतदेवेति वक्ष्यमाण प्रकारान्तरम्
परामृशति । तत्तदाऽपि आस भव्यं । किं तदित्यत आह—सत्यमेव । सच्च मूर्ते ल्यच्चा मूर्ते च सत्यम् । तदुपासकस्य फलमाह—
स यो हैतमिति । यः प्रथमजं यक्षं पूज्यं वेद । कथं वेदेत्यत आह—सत्यं ब्रह्मेतीति । स जयतीमान् लोकान् । किंच
जितो वशीकृत इनुशब्द इत्थं शब्दस्यार्थे वर्तते । विजेतव्यत्वेन बुद्धिसंनिहितं शत्रुं परामृशति—असाविति । असद्भवेत्यर्थः ।
उक्तमर्थं निगमयति—य एवमेतदिति । एवं विद्वान्कस्माज्जयतीत्यत आह—सत्यमेव यस्माद्ब्रह्मेति । अतस्तदुपासनम्
फलोत्पादोऽपि सत्य इत्यर्थः । तद्यत्तसत्यं किमसौ । अत्रापि तत्पदाभ्यां रूपप्रकारौ परामृष्टौ । कस्मिन्नालम्बने तदुपासनीयमित्यत

आनन्दगिरियव्याख्या

पणमनर्थकं तस्मात्तदर्थवत्त्वानुपपत्त्या मतिरुभयोरूपैव कार्येत्यर्थः । उक्तं स्मारयति—नन्विति । निगुणस्य सगुणत्वोक्तिरवद्योग्या-
त्मतया ध्यानमात्रस्य विधानात्र वस्तुतो निकृष्टत्वेत्याह—नेत्यादिना । ईश्वरे जीवतादात्म्यस्यारोप्योपास्यत्वात्त्रैश्वर्यस्योत्कर्षनिवृत्तिरित्यर्थः ।
वचनादुभयत्रोभयानुचिन्तने मदुक्तमेवायातमिति शङ्कते—नन्विति । किमिह नान्तराग्यत्वेनैकत्वमपि दृढीभवतीत्युच्यते किंवा तत्त्व-
मस्यादिवत्तदेवोपदिश्यत इति, तत्राद्यं प्रत्याह—न वयमिति । न द्वितीयो ध्यानविधिपरत्वाद्वाक्यस्येत्याह—किं तर्हीति ।
इहेत्युदाहरणोक्तिः । एकत्वज्ञानस्यापीह भानात्तत्परत्वं किं न स्यात्, तत्राह—फलतस्त्विति । अर्थादित्यर्थः । कथमुपास्तिपरत्वे-
ऽर्थादपि तदृढीकरणं, तत्राह—यथेति । अन्यपरस्यापि मानान्तराविरुद्धेऽर्थे स्थानमानत्वमित्यर्थः । उभयोच्चारणसामर्थ्यसिद्धमुप-
हरति—तस्मादिति । व्यतिहारानुचिन्तनकार्यताकीर्तनस्य पादसंगाति सूचयति—समाने चेति । यत्र यत्राहंप्रहोपास्तित्व-
तत्रेति यावत् । उभयरूपमतिकरणे सत्यैकत्वमर्थतो दृढीभवतीति वक्तुमितीत्युक्तम् ॥ ३७ ॥ जीवब्रह्मणोरन्योन्यात्मत्वोक्तिभेदादि-
रूपा मतिरनुष्ठेयैत्युक्तम् । संप्रति जयतीमाल्लोकान् इति पाप्मानमिति च फलोक्तिभेदाद्विधाभेदमाशङ्क्योक्तम्—सैवैति । सत्य-
विद्यामुदाहरति—स यो हैति । अविशेषणाधिकारी सर्वनामभ्यामुक्तः । उपास्यप्रसिद्धयो ह शब्दः । एतदिति बुद्धिसमुपास्यं परा-
दयते । तस्य व्यापकत्वमाह—महदिति । यक्षं पूज्यं प्रथमजं भौतिकानां मध्ये प्रथमं जातं सच्च ल्यचेति सत्यं ब्रह्म हिरण्य-

विद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायानन्तरमाज्ञायते—‘तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः’ (बृ० ५।५।२) इत्यादि । तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किंवैकैवेति । द्वे इति तावत्प्राप्तम् । भेदेन हि फलसंयोगो भवति ‘जयतीमा-ल्लोकान’ (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात् ‘हन्ति पाप्मानं जहाति च’ (बृ० ५।५।३।४) इत्युप-रिष्ठात् । प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति । कुतः—‘तद्यत्तत्सत्यम्’ (बृ० ५।५।२) इति प्रकृताकर्षणात् । ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैक-त्वादुपपद्यत इत्युक्तम् । नैतदेवम् । यत्र तु विस्पष्टाकारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात् । अत्र तूभयथा संभवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबद्धमेव सत्यमुत्तर-ब्राह्मण्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः । यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति । अत्रोच्यते—

रत्नप्रभाव्याख्या

नोक्ता । यत्तत्पूर्वप्रकृतं हृदयाख्यं तत्संप्रत्युक्तयक्षत्वाद्विगुणकं, सोऽसावादित्यमण्डलेऽक्षिणि च पुरुषस्तस्याहरित्यहमिति च नामद्वयज्ञानात्पापक्षयः फलमित्यर्थः । अत्र पूर्वोत्तरवाक्ययोः फलभेदध्रुतेः प्रकृताकर्षणाच्च संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे गुणानां व्यवस्थयानुष्ठानं, सिद्धान्ते त्वनुष्ठानैक्यमिति फलम् । यथा जीवेशयोरन्योऽन्यातात्वधृतिभेदान्मतिर्द्वै-रूपमुक्तं, तथात्र फलधृतिभेदाद्विद्याभेद इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—द्वे इति । विशेषतश्च ब्रह्मात्राकर्षणमुक्तं, तद्यत्तदिति सर्वनामभिः पूर्वोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म आकृष्यादित्याक्षिस्थानादिगुणविधानात्, तथाच वाक्यादेव विधेयसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—एकैवेति । यथा दहराण्डित्यविद्ययोर्ब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानमात्रं तथात्र नेत्याह—नैतदिति । कारणान्तरं प्रकरणभेदादिकम् । एवं विद्याभेदेऽप्येतदुपास्यैक्यज्ञानं स्यादत्र तूभयथासंभवे विधेयकानात्वसंशये सत्यमित्युपास्यरूप-क्यज्ञानाद्विधेयकनिश्चय इत्यक्षरार्थः । असत्यपवादकारणे रूपैक्याद्विधेयक्योत्सर्गसिद्धिर्न च फलभेदादपवादः । अज्ञे फलध्रुतेः धृतिमात्रतया फलभेदासिद्धिरित्याह—यत्पुनरित्यादिना । किंच यत्र प्रधानविद्यावेवंकाम इति फलं ध्रुतं, तत्र प्रधान-फलनैवाज्ञानां फलाकाङ्क्षानिवृत्तौ फलध्रुतेः क्षुतिमात्रत्वं, इह तु प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति चेदेति प्रधानविद्याविधिरूपत्वं लोकजयफलस्याभ्युपेत्यात्माभिर्निरूप्यास्य फलध्रुतेः क्षुतिवमुक्तम् । वस्तुतस्तु प्रधानविद्यावाक्येवंकामपदाभावाद्वात्रिसत्र-

भामतीव्याख्या

उत्तरम्—स आदित्यो य एष इत्यादिना तस्योपनिषद्दहरमिति । हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदेत्यन्तेन । उपनि-षद् दहरस्य नाम । तस्य निर्वचनं—हन्ति पाप्मानं जहाति चेति । हन्तेर्जहातिर्न रूपमेतत् । तथाच निर्वचनं कुर्यात्तल पापहानिमा-हेति । तमिमं विषयमाह भाष्यकारः—यो वै हैतमिति । सनामाक्षरोपासनामिति । तथाच श्रुतिः—‘तदेतदक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽष्टवं तदेतद्वृत्तमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैवविद्वांसममृतं हिनस्ति’ इति । तीतीकारानुबन्ध उच्चारणार्थः । निरनुबन्धस्तकारो द्रष्टव्यः । अत्र हि प्रथमो-त्तमे अक्षरे सत्यं मृत्युरूपाभावात् । मध्यतो मयेऽष्टतममृतं हि मृत्युः । मृत्युवृत्तयोस्तकारसाभ्यात् । तदेतद्वृत्तं मृत्युरूपमुभ-यतः सत्येन परिगृहीतम् । अन्तर्भावितं सत्यरूपाभ्याम् । अतोऽकिंचित्करं तत्सत्यभूयमेव सत्यबाहुल्यमेव भवति । शेषमतिरोहि-

आनन्दगिरीयव्याख्या

भाष्यं वेदोपास्ते तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । तदेतदक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरमित्यादिना सत्यनामविशिष्टमुपास्यतमुक्तमन्याह—सनामेति । तत्तत्र ब्रह्मणो हृदयात्वे सिद्धे यत्तद्ब्रह्म सत्यं हृदयाख्यं सोऽसावादित्य इति योचना । विशेषतः तत्र संशयः न इत्युक्तम् । तस्य मण्डलमात्रत्वं व्यावर्तयति—य एष इति । तस्यैवाध्यात्मिकत्वमाह—यश्चेति । वाक्यद्वये श्रुता सत्यविद्यां विशेषीकृत्य फलभेदात्प्रकृताकर्षणाच्च संशयमाह—तत्रेति । विद्याभेदाभेदनिरूपणद्वारा वाक्यार्थोद्भूतकेव पादादिसंगतिः । पूर्व-पक्षे गुणव्यवस्था सिद्धान्ते तदव्यवस्थेऽस्यैव पूर्वपक्षयति—द्वे इति । सत्यनामाक्षरत्रयविशिष्टादक्षरगुणाविशिष्टस्य त्रयपक्षतया रूपभेदाद्विद्याभेद इत्यर्थः । तत्रैव फलसंयोगभेदं हेतुन्तरमाह—भेदेनेति । तद्यदिति प्रकृताकर्षणाद्विद्याः सत्यनामाक्षरविशिष्टस्योत्तरत्र-स्थानगुणसंबन्धकथनाद्भूयैवे कुतो विद्यानानात्वं, तत्राह—प्रकृतेति । फलभेदस्योक्तवाक्यत्रयस्यैव त्रयपूर्णमास्यनुक्तं यामेदेऽपि विद्यानानात्वमिति भावः । विद्याभेदाद्विगुणव्यवस्थेति पक्षमनूय सैवेति सूत्रावयवेन सिद्धान्तमाह—एवमिति । तत्र हेतुं विशदय-चितं प्रथमपूर्वकमाह—कुत इति । खल्वेतत्संवाक्षरस्योपास्यव्याख्यानामतिवद्विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणं स्यादिति शङ्का—नन्वेति । तत्र कारणान्तरादपवादविद्याभेदेऽपि प्रकृते तदभावात्तच्छब्देन प्रकृतग्रहादभेदेन प्रत्यभिज्ञानाद्विधेयकमित्याह—नैतदिति । खल्वे-तत्सत्येति यत्तत्तुक्तम् । कारणान्तरं फलभेदादि । यत्तदिति प्रकृताकर्षणमुक्तम् । एवमिति । तस्य विधेयक्यविचारोपनिमित्तं भेदः । शब्देति सत्यविद्योच्यते । उभयथा संभवे भेदाभेदाभ्यामुपपत्तिः । प्रकृते फलसंयोगभेदो भेदोपापादोऽस्तीत्युक्तं, तत्राह—यत्पुन-रिति । प्रसंगार्थवादकत्वेनास्य फलविधित्वाभावाच्च फलसंयोगभेदसिद्धिरित्याह—अत्रेति । इतश्च फलभेदाद्विद्याभेदो नास्तीत्याह—

तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः । अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बह्वन्यपि फलान्यवयवित्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति । तस्मात्सैवैयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेतास्नातेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोग उपसंहर्तव्याः । केचित्पुनरस्मिन्सूत्र इदं च वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यं छान्दोग्ये च—‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते’ (छा० १।६।६) अथ ‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ (छा० ४।१।५।१) इत्युदाहृत्य सैवैयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छान्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते । तत्र साधु लक्ष्यते । छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसंबन्धिनीयमुद्रीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते । तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसंबन्धिचिह्नानि भवन्ति ‘इयमेवर्गग्निः साम’ (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, ‘तस्यर्क्कं साम च गेष्णौ तस्मादुद्रीथः’ (छा० १।६।८) इति मध्ये, ‘य एवं विद्वान्साम गायति’ (छा० १।७।९) इत्युपसंहारे । नैवं वाजसनेयके किञ्चित्कर्मसंबन्धिचिह्नमस्ति । तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥



असंहतिः संहतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः ॥ उपास्यश्रेयभेदेन तद्गुणानामसंहतिः ॥ १ ॥

उपास्यै कचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहतिः ॥ दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

न्यायेन फले कल्पनीये सति प्रधाने तद्गते वा यत्किञ्चित्फलं धृतं तस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वाविशेषाज्जातेष्टिफलन्यायेन समुचित्यैकप्रधानफलत्वकल्पनात्फलभेदोऽसिद्ध इत्याह—**अपिचेति** । सूत्रं योजयति—**तस्मादिति** । एकदेशिव्याख्यामुद्राव्य दूषयति—**केचिदित्यादिना** । छान्दोग्ये कर्माज्ञोद्रीथे हिरण्यमपुरुषदृष्टिरित्यत्र लिङ्गमाह—**तत्रेति** । पृथिव्यात्मना दृष्टे ऋक्सामे गेष्णौ, तस्मादक्सामगेष्णत्वात्, पुरुष उद्रीथ इत्येवं विद्वानुद्गाता कर्मफलसमृद्धिसमर्थ इति श्रुत्यर्थः । सत्यविद्या तु न कर्माज्ञाश्रितेत्याह—**नैवमिति** । अङ्गविद्यातः स्वतन्त्रहिरण्यगर्भविद्याया भेदान्न गुणोपसंहार इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ **कामादीतरत्र** । सगुणनिर्गुणविद्ययोः श्रुताः सत्यकामादयो वशित्वादयश्च गुणा मिथ उपसंहर्तव्या न वेनु-

भामतीव्याख्या

तार्थम् । सेयं सत्यविद्यायाः सनामाश्रयोपासनता । यद्यपि तद्यस्त्यमिति प्रकृतानुकर्षेणाभेदः प्रतीयते तथापि फलभेदेन भेदः साध्यभेदेनैव नित्यकाम्यविषययोर्दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतिति शास्त्रोः सत्यप्यनुबन्धाभेदे भेद इति प्राप्ते प्रत्युच्यते—एकैवेयं विद्या तत्सत्यमिति प्रकृतपरामर्शोदभेदेन प्रत्यभिज्ञानात् । न च फलभेदः । तस्योपनिषदहरहमिति तस्यैव यदङ्गान्तरं रहस्यनामोपासनं तत्प्रशंसार्थोऽर्थादोऽयं न फलविधिः । यदि पुनर्विद्याविधातृभिराश्रयणाभावात्तत्कल्पनायामार्थवादिकं फलं कल्पेत ततो जातेष्टाविवागृह्यमाणविशेषतया संवलितधिकारकल्पना ततश्च समस्तार्थवादिकफलयुक्तकर्मोपासनमिति सिद्धम् । परकीयं व्याख्यानमुपन्यस्यति—**केचित्पुनरिति** । वाजसनेयकमप्यक्ष्यादित्यविषयं छान्दोग्यमपीत्युपास्याभेदादभेदः । ततश्च वाजसनेयोक्तानां सत्यादीनामुपसंहार इत्यत्रार्थं सैव हि सत्यादय इति सूत्रं व्याख्यात तदेतदूषयति—**तत्र साध्विति** । ज्योतिष्टोमकर्मसंबन्धिनीयमुद्रीथव्यपाश्रयेति । अनुबन्धाभेदोऽपि साध्यभेदाद्भेद इति विद्याभेदादनुपसंहार इति ॥ ३८ ॥ **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः** । छान्दोग्यवाजसनेयविद्ययोरेद्यपि सगुणनिर्गु-

आनन्दगिरीयव्याख्या

अपिचेति । विध्युदेशे फलान्तराश्रिते रात्रिसत्रवत्फले कल्प्ये सत्यगृहीतविशेषतया सर्वस्यापि फलस्य तत्संबन्धितात्कल्पनात्र फलं दद्विद्याभेदाशङ्केत्याह—**अर्थेति** । अपवादरहितं हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातं विधैक्यमुपसंहरति—**तस्मादिति** । अवशिष्टं सूत्रवत्त्वं व्याकुर्वन्पूर्वपरवाक्यार्थविशेषणान्येकीकृत्य ध्यानं कार्थमित्याह—**इत्यत इति** । परकीयव्याख्यामुत्थापयति—**केचिदिति** । तदूषयति—**तत्रेति** । कर्मसंबन्धिनीयत्र कर्म ज्योतिष्टोमस्तदङ्गभूतोद्रीथव्यपाश्रयत्वमेव विद्याया विशदयति—**तत्रेति** । उद्रीथव्यपाश्रयत्वमोपासनोपासनात्तत्कल्पनायामार्थवादिकं फलं कल्पेत ततो जातेष्टाविवागृह्यमाणविशेषतया संवलितधिकारकल्पना ततश्च समस्तार्थवादिकफलयुक्तकर्मोपासनमिति सिद्धम् । परकीयं व्याख्यानमुपन्यस्यति—**केचित्पुनरिति** । वाजसनेयकमप्यक्ष्यादित्यविषयं छान्दोग्यमपीत्युपास्याभेदादभेदः । ततश्च वाजसनेयोक्तानां सत्यादीनामुपसंहार इत्यत्रार्थं सैव हि सत्यादय इति सूत्रं व्याख्यात तदेतदूषयति—**तत्र साध्विति** । ज्योतिष्टोमकर्मसंबन्धिनीयमुद्रीथव्यपाश्रयेति । अनुबन्धाभेदोऽपि साध्यभेदाद्भेद इति विद्याभेदादनुपसंहार इति ॥ ३८ ॥ **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः** । छान्दोग्यवाजसनेयविद्ययोरेद्यपि सगुणनिर्गु-

‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेद्यं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः’ (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य च्छान्दोगा अधीयते—‘एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युविशोको विजिघ्रस्तोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ (छा० ८।१।५) इत्यादि । तथा वाजसनेयिनः—‘स वा एष महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नेते सर्वस्य वशी’ (बृ० ४।४।२२) इत्यादि । तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति । तत्रेदमुच्यते—कामादीति सत्यकामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तद्वि-तरत्र वाजसनेयके ‘स वा एष महानज आत्मा’ इत्यत्र संबध्येत । यच्च वाजसनेयके व-शित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र च्छान्दोग्ये ‘एष आत्माऽपहतपाप्मा’ (छा० ८।१।५) इत्यत्र संबध्यते । कुतः—आयतनादिसामान्यात् । समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्येवमादि बहु सामान्यं दृश्यते । ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशश्रयस्य ब्रह्मण इति । न । ‘दहर उत्तरेभ्यः’ (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र च्छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् । अयं त्वत्र विद्यते विशेषः । सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते ‘अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्’ (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते ‘अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि’ (बृ० ४।३।१४) ‘असङ्गो ह्ययं पुरुषः’ (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते । तथा चोपरिष्ठात् ‘स एष नेति नेत्यात्मा’ (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति । गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वादि-

रत्नप्रभाख्याख्या

पसंहारस्य फलभावाभावाभ्यां संदेहे सत्यविद्याया एकत्वाद्गुणसांकर्येऽप्यत्र विद्ययोः सगुणनिर्गुणरूपभेदेन भेदाभिर्गुण-विद्यायां गुणोपसंहारस्य फलभावाच्चापसंहार इति बहिरेव प्राप्ते सिद्धान्तयति—तत्रेदमित्यादिना । एवं विद्याभेदे स्फुटे कथं गुणोपसंहारः, तत्राह—गुणवतस्त्विति । भिन्नविद्यास्थानामपि गुणानामायतनादिसाम्येन निर्गुणस्थले बुद्धि-स्थानां सुत्यर्थमुपसंहारो युक्तः, ज्ञानस्तुतिप्रकर्षस्याकाङ्क्षितत्वात्, यत्र कचिद्वृष्टगुणैः स्तुतेः कर्तुं योग्यत्वात् । यद्यपि

भामतीख्याख्या

णत्वेन भेदः । तथाहि छान्दोग्ये—‘अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्ति एतांश्च सत्यान्कामान्’ इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वं श्रूयते । वाजसनेये तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यते ‘विमोक्षाय ब्रूहि’ इति तथापि तयोः परस्परगुणोपसंहारः । निर्गुणयां तावद्विद्यायां ब्रह्म-स्तुत्यर्थमेव सगुणविद्यासंबन्धिगुणोपसंहारः संभवी । सगुणयां च यद्यप्याध्यानाय न वशित्वादिगुणोपसंहारसंभवः । नहि निर्गु-णयां विद्यायामाध्यातव्यत्वेनैतं चोदिता येनात्राप्येवत्वेन संबन्धेरनपि तु सत्यकामादिगुणनान्तरीयकत्वेनैतेषां प्राप्तिरित्युपसंहार उच्यते । एवं व्यवस्थित एष संश्लेषोऽधिकरणार्थस्य—साम्यबाहुल्येऽप्येकत्राकाशाधारत्वस्यापरत्र चाकाशतादात्म्यस्य श्रवणाद्वेदे नियमोऽपि परस्परगुणोपसंहार इति पूर्वपक्षः । रादान्तस्तु सर्वसाम्यमेवोभयत्राप्याभोपदेशादाकाशशब्देनैकत्वान्मोक्षोऽप्यत्र च दह-

आनन्दगिरियव्याख्या

वाक्यमुदाहरति—अथेति । परावरविद्यागता वशित्वादयः सत्यकामादयश्च गुणा विषयास्ते किमन्योन्यत्र नोपसंहर्तव्याः भिन्नोपसं-हर्तव्या इत्युभयत्रोभयेषामुपयोगभावाभावाभ्यां संशये ध्यानस्तुत्युपयोगित्वेन गुणानामन्योन्यत्रोपसंहारोक्त्या वाक्यार्थधीतद्वेयुचिन्त-नात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे कचिदाकाशस्य ध्येयत्वं कचिच्चिदाश्रयस्य ज्ञेयतेति विशेषतिसिद्धिः । सिद्धान्तोऽपि ब्रह्मण एवाकाशशब्द-त्वादुक्तविशेषोपपत्तिरित्यङ्गीकृत्य सिद्धान्तमाह—तत्रेति । अवयववाचकेनावयविग्रहे दृष्टान्तमाह—यथेति । पदार्थमुक्त्वा वाक्या-न्तमाह—यदेतद्विति । हेतुमुक्तं विवृणोति—समानं हीति । आदिपदेनात्मत्वादि गृह्यते । बहुतरसाम्यदर्शनादितरेतरगुणोपसंहार इत्यर्थः । अस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षमाह—नन्विति । नायं विशेषस्तत्राप्याकाशस्य ब्रह्मत्वादित्याह—नेत्यादिना । सगुणनिर्गुणतया विद्याभेदादपहतपाप्मात्वादीनां वशित्वादीनां चेतरेतरत्रानुपसंहार इत्याशङ्क्याह—अयं स्थितिः । वाजसनेयकेऽपि वशित्वाद्युपदे-शेनाशङ्क्य सगुणमेवेत्याशङ्क्याह—स्तुत्यर्थमिति । तत्र निर्णायकत्वेन वाक्यशेषं दर्शयति—तथाचेति । कथं तर्हि गुणोपसंहारः इति, तत्राह—गुणवतस्त्विति । साम्यबाहुल्याद्रहस्यो ध्येयस्य स्तूयमानस्येतरेतरत्र संनिधानाच्च कचिदुपास्यत्वाच्च कचिच्च स्तुतिपो-कृत्यायाकाङ्क्षितत्वाच्चत्तद्वृणसंयोगयोग्यत्वाच्च ब्रह्मणो वशित्वादीनामपहतपाप्मात्वादीनां चेतरेतरत्रोपसंहारः । स्तुतिर्हि दृष्टेन दारेण

भूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति ब्रह्मव्यम् ॥ ३९ ॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥



न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने ॥ न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादौक्तितः ॥ १ ॥

भुज्यर्थोपजीवित्वास्तलोपे लोप इष्यते ॥ भुक्तिपक्षे पूर्वमुक्तावाक्योऽप्युपपद्यते ॥ २ ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—‘तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा’ (छा० ५।१९।१) इत्यादि । तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः । तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः ‘य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति’ (छा० ५।२४।२) इति ‘यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते’ (छा० ५।२४।५) इति च । तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति । तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात् । आदरात् । तथाहि वैश्वानरवि-

रत्नप्रभाष्याख्या

सगुणस्थसत्यकामादिषु निर्गुणस्थगुणा अन्तर्भूता एव तथापि नोपसंहारोक्तैर्वैयर्थ्यं निर्गुणस्तावकत्वेन श्रुतगुणानामन्यत्राप्ये-
यत्वमिति शङ्कानिरासेनान्तर्भावदाढ्यार्थत्वादित्यनवयम् ॥ ३९ ॥ आदरादलोपः । अत्र यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां
संशयमाह—तत्रेदं विचार्यते इति । वैश्वानरोपासकेनातिथिभोजनात्प्राकार्यत्वेन विद्याङ्गप्राणाग्निहोत्रविचारत्वादसं-
गतिः । पूर्वपक्षे भोजनलोपेऽपि द्रव्यान्तरेण प्राणाग्निहोत्रानुष्ठानं, सिद्धान्ते तल्लोप इति भेदः । ननु यद्भक्तमिति यच्छब्देन
भोजनाक्षिप्तं भक्तमनूय तद्धोमीयमिति होमसंयोगविधानादाक्षेपकभोजनलोपे तदाक्षिप्तभक्ताश्रितहोमलोप इति सिद्धान्ते
शङ्कते—तद्यदिति । निर्गुणस्योपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थगुणस्यैवद्भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्यादरेण स्तुतिनिर्वाहार्थमलोप
इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षसूत्रेण परिहरति—एवं प्राप्ते इति । एवं तदिति स्वयं प्राणाग्निहोत्रमकृत्वातिथीनां तत्करणमित्यर्थः ।

भामतीव्याख्या

राकाशाधारः स एवोक्त इति सर्वसाम्याद्ब्रह्मण्युभयत्रापि सर्वगुणोपसंहारः । सगुणनिर्गुणत्वेन तु विद्याभेदेऽपि गुणोपसंहारव्यवस्था
दर्शिता । तस्मात्सर्वमवदात् ॥ ३९ ॥ आदरादलोपः । अस्ति वैश्वानरविद्यायां तदुपासकस्यातिथिभ्यः पूर्वभोजनम् ।
तेन यद्यपीयमुपासनागोचरा न चिन्ता साक्षात्तयापि तत्संबद्धप्रथमभोजनसंबन्धादस्ति संगतिः । विचारगोचरं दर्शयति—
छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्येति । विचारप्रयोजकं संदेहमाह—किं भोजनलोप इति । अत्र पूर्वपक्षभावेन
संशयमाक्षिपति—तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणादिति । उक्तं स्वत्वेतत्प्रथम एव तत्रे ‘पदकर्मप्रयोजकं
नयनस्य परार्थत्वात्’ इत्यनेन । यथा सोमकयार्थानीयमानैकहायनीसप्तमपदपांशुग्रहणमप्रयोजकं न पुनरेकहायन्या नयनं
प्रयोजयति । तत्कस्य हेतोः । सोमकयेण तन्नयनस्य प्रयुक्तत्वादुपजीवित्वात्सप्तमपदपांशुग्रहणस्येति । तथेहापि भोजनार्थभक्ता-
गमनसंयोगात्प्राणाहुतेर्भोजनाभावे भक्तं प्रत्यप्रयोजकत्वमिति नास्ति पूर्वपक्ष इत्यपूर्वपक्षमिदमधिकरणमित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य
समाधत्ते—एवं प्राप्ते, न लुप्येतेति तावदाह । तावच्छब्दः सिद्धान्तशङ्कानिराकरणार्थः । पृच्छति—कस्मात् । उत्तरम्—

आनन्दगिरियव्याख्या

कर्तुं शक्येति सगुणविद्यासु ध्येयत्वेनोक्तानामपि गुणानां निर्गुणविद्यायां युक्तः स्तुत्यर्थत्वेनान्वयः । ध्येयत्वं त्वपूर्वविध्यैकगम्यम् ।
यत्र वक्षित्वादयः श्रुता न तत्रैषां ध्येयत्वेन विधानमित्यन्यत्र गतानामपि न ध्येयत्वम् । स्तुत्यर्थत्वं तु स्यात्तदपि न शब्दतत्त्वैर्वा
नयनमपेक्षते सत्यकामत्वादिसामर्थ्यादेव सर्वैश्वरत्वादिसिद्धिः । अतोऽन्तर्भावमात्रमुपसंहार इति भावः ॥ ३९ ॥ उपास्तिलोपेऽपि
स्तुत्यर्थत्वेन गुणलोपवत्पूर्वोऽतिथिभ्य इत्यादिश्रुत्युपपत्तये भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रालोप इति चोदयति—आदरादिति ।
वैश्वानरविद्यागतं प्राणाग्निहोत्रं विषयत्वेनोपन्यस्यति—छान्दोग्य इति । स इति वैश्वानरविद्याविदुक्तः । श्रुतितात्पर्यार्थे संगृह्यति—
तत्रेति । संदेहार्थं शब्दान्तरप्रयोगं पूर्वपक्षबीजमाह—तास्त्विति । न कश्चिदपि पाप्मा तं स्पृशतीति यच्छब्दस्य संबन्धः । प्राणा-
ग्निहोत्रे यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । उपास्तिविचारप्रस्तावेन तद्वत्प्रथमभोजनाश्रितविचारद्वारा वाक्याधी-
हेतुविचारसंक्रान्तेरस्ति पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रतिनिधिन्यायेन प्राणाग्निहोत्राकार्यताप्रौढ्यम् । सिद्धान्ते तदनवतारात्तदनवतार-
कत्वमित्याशयेन पूर्वपक्षसूत्रव्याख्यां सिद्धान्ताशङ्कामुत्थापयति—तद्यदिति । भक्तागमनसंबन्धात्प्राणाग्निहोत्रस्येति संबन्धः । ननु
होमस्य भक्तागमनप्रयोजकत्वं भोजनप्रयुक्तभक्तोपजीवित्वादतस्तलोपे लोपात्पूर्वपक्षभावादधिकरणमनारभ्यमित्यर्थः । ध्येयेन पूर्व-
समाधानोऽधिकरणारम्भमुपपादयति—एवमिति । तावच्छब्दः सिद्धान्तशङ्कानिरासार्थः । पूर्वपक्षी प्रश्नपूर्वकं त्वं हेतुनवतार-
यति—कस्मादिति । आदरमेव स्फोरयति—तथाहीति । विध्यपेक्षितमर्थवादं दर्शयति—यथेति । ननु स्वामिभोजनस्य प्रा-
प्तं

रत्नप्रभाव्याख्या

भामतीव्याख्या

आनन्दगिरीयध्याख्या

[illegible]

तस्मिन्नेव धर्मप्राप्तिरस्ति । कुण्डपायिनामयने हि मासमग्निहोत्रं जुहोतीति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामभ्युद्धरणवादोऽपि प्राप्येरन् । न चास्ति संभवः । अश्वयुद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय न चायमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात् । भोजनोपनीतद्रव्यसंबन्धाच्चास्य एवैष होमः । तथाच जाबालश्रुतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽग्नीयादित्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति । अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—‘उर एव वेदिलोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः’ (छा० ५।१।८।२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्थं द्रष्टव्या । मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात् । तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात् । भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगाद्वाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः । एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः । यत्वाद्दर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । न ह्यस्ति वचनस्यातिभारः । न त्वेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम् । तस्माद्भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

माह—तद्धर्मप्राप्तौ चेति । अत एवेति तद्धर्मप्राप्त्यभावादेवेत्यर्थः । प्राप्तौ संपादनं वृथा स्यादिति भावः । मुख्याग्निहोत्राङ्गानि संपाद्यन्ते चेत्कथं तदनङ्गं वेदिरत्र संपाद्यते तत्राह—वेदिश्रुतिश्चेति । मुख्याग्निहोत्रस्याभ्युद्धरणवत्सायं प्रातःकालद्रव्यस्यापि न प्राप्तिरित्याह—भोजनेनेति । उपस्थानपरिस्तरणादयोऽप्यभ्युपगम्यभावात् प्राप्नुवन्तीत्याह—एवमिति । यस्मात्तद्धर्मप्राप्त्यभावस्तस्माद्भोजनद्रव्येणैव होम इत्युपसंहारः । प्राणाय स्वाहा इत्यादयो मन्त्राः । ननु स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्वं श्रुत्यादिविहितं कथं पूर्वोऽतिथिभ्योऽग्नीयादितिवचनेन बाध्यते तत्राह—न ह्यस्तीति । उपासकान्यस्यामिषिष्यमुत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः । न त्विति प्राथम्यमात्रेणेत्यर्थः । प्राणोपासकस्य प्राप्ते भोजने प्राथम्यार्थतयादरस्यान्यथासिद्धौ

भामतीव्याख्या

बहुतरं प्राप्तं बाध्यते । नच संभवे बाधनिचयो न्यायः । कृष्णलचरो तत्त्वगत्या प्राप्तबाधोऽभ्युपेत्य इत्याह—तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामिति । चोदकाभावमुपोदलयति—अत एव चेहापीति । यत एवोक्तेन क्रमेणातिदेशभावोऽत एव सांपादिकत्वमग्निहोत्राङ्गानाम् । तस्यासौ तु सांपादिकत्वं नोपपद्येत । कामिन्यां किल कुचवदनायसता चक्रवाकनलिनान्दिरूपेण संपाद्यते । न तु नद्यां चक्रवाकादय एव चक्रवाकादिना संपाद्यन्ते । अतोऽप्यवगच्छामो न चोदकप्राप्तिरिति । यत्वाद्दर्शनमिति तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । यस्मिन्पक्षे धर्मान्वलोपस्तस्मिन्धर्मिणोऽपि न त्वेतावता धर्मिनित्यता तिथ्यतीति भावः । नन्वतिथिभोजनोत्तरकालता स्वामिभोजनस्य विहितेति कथमसौ बाध्यत इत्यत आह—नास्ति वचनस्यातिभारः ।

आनन्दगिरीयव्याख्या

नापि संभवात् तद्वशात्प्राणाग्निहोत्रे नैयमिकाग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरित्यर्थः । कौण्डपायिनवदित्युक्तं विपद्यति—कुण्डेति । दार्ष्टान्तिके प्रायुक्तमेव वैपम्यं विशदयति—इहेति । प्राणाग्निहोत्रं सप्तम्यर्थः । विपक्षे दोषमाह—तद्धर्ममिति । तेषामपि प्राप्तिं का हानिः, तत्राह—नचेति । असंभवपक्षे तेषां साधयति—अग्नीति । अश्वधाधारहोमाभावात्प्राणाग्निहोत्रे नाश्वयुद्धरणसिद्धिरित्यर्थः । अश्वयुद्धरणेऽपि तदर्थमेवाभ्युद्धरणं नेत्याह—नचेति । आहुतीनामश्वधाधारत्वाभावे युक्त्वन्तरमाह—भोजनेनेति । तर्हि किमिहाहुतीनामधिकरणं तत्राह—आस्य इति । प्राणाग्निहोत्रे होमाधिकरणमास्यमेवेत्यत्र श्रुत्यन्तरमाह—तथाचेति । आहुतीनामास्याधारत्वे प्राणाग्निहोत्रेऽग्निहोत्रशब्दाजैयमिकाग्निहोत्रधर्माप्राप्तौ च गमकमाह—अत इति । तद्धर्मप्राप्तौ मुख्यानामेव संभवात्संपादनवैयर्थ्यमित्यर्थः । उर एव वेदिरित्यत्रावन्तरविशेषमाह—वेदीति । अत्रेति प्राणाग्निहोत्रोक्तः । वेदिकरणस्यापि संपादनार्थमितराङ्गवदिह संकीर्तनं किं न स्यात्, तत्राह—मुख्येति । दर्शपूर्णमासवमुख्येऽग्निहोत्रे वेदिकरणाभावेऽपि प्रकृते ध्यानार्था वेदिरुच्यतामित्याशङ्क्याह—तदङ्गानां चेति । अग्निहोत्रवदश्वयुद्धरणयोगमुक्त्वा कालद्रव्यावरोधोऽपि नास्तीत्याह—भोजनेनेति । अश्वयुद्धरादावुक्तन्यायमिति दिशति—एवमिति । आदिशब्देन परिस्तरणादयो गृह्यन्ते । सिद्धान्तप्रशार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । धर्मलोपमपि क्षुतिरसहमाना सुनरां न सहते धर्मिलोपमित्युक्तमनूय दूषयति—यस्त्विति । धर्मिलोपाभावपक्षे धर्मोऽपि न लुप्यते न चेतावता धर्मिणो नित्यतेत्यर्थः । अतिथिभोजनोत्तरकालता स्वामिभोजनस्य क्षुतिस्मृतिसिद्धा तत्कथं प्राथम्यविधानं, तत्राह—नहीति । प्राणाग्निहोत्रमिति किमपि स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः । प्राणाग्निहोत्रस्य प्राथम्ये कथमनङ्गत्वं, तत्राह—न र्विति । अनेन प्राथम्यविधानेनेति यावत् । अस्य प्राणाग्निहोत्रस्येत्यर्थः । तस्य नित्यतां विना प्राथम्यसिद्धेरुक्तत्वादिति भावः । आश्वमेधोत्तरन्यायसिद्धौ पश्चिममाह—तस्मादिति । प्रतिनिधिन्यायो नावतरति फलितं वक्तुमितीत्युक्तम् ॥ ४१ ॥ वैधानरविधाप्रप्राणाहुतीनामनित्यत्वो-

तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥



नित्या अज्ञावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत ॥ पर्णवत्क्रतुसंबन्धो वाक्याभिलाषतो मताः ॥ १ ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् ॥ उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपाख्युपासिनोः ॥ २ ॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः । किं तावत्प्राप्तं—नित्यानीति । कुतः—प्रयोगवचनपरिग्रहात् । अनारभ्याधी-
तान्यपि हेतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसंबन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत्संसृश्यन्ते । यत्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् ‘आपयिता ह वै कामानां भवति’ (छा० १।१।७) इत्यादि तद्वर्तमाना-
पदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानम् । तस्माद्यथा ‘यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति’ इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवे-
शात्प्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथायुपासनानामपीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम-

रत्नप्रभाष्याख्या

फलितमाह—तस्मादिति ॥ ४१ ॥ तन्निर्धारणा । उभयथा दृष्टान्तदर्शनात्संशयमाह—किं तानीति । यथाऽनार-
भ्याधीतपर्णमयीत्वं जुह्वद्वारा कृत्वङ्गतया कर्मसु नित्यं प्रयुज्यते, तथाङ्गाश्रितोपासनान्युद्गीथादिद्वाराऽङ्गतया नित्यानि, उत
कृत्वङ्गाप्रणयनाश्रयो गोदोहनसंयोगः पशुफलार्थत्वादित्यत्वेन यथा प्रयुज्यते यथा वा पश्वङ्गयूपाश्रयं वैत्वत्वमत्राद्य-
फलत्वादित्यत्वं तथा कर्मसमुद्भवादिफलकत्वादुपासनान्यनङ्गत्वेनानित्यानीति संशयार्थः । पूर्वपक्षे उपासनानां प्रयोगनि-
त्यत्वं, सिद्धान्ते त्वनित्यत्वमिति फलभेदः । अनित्यभोजनाश्रयप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्ववन्नित्यकर्मोपासीनां नित्यत्व-
मिति प्रत्युदाहरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । उपासनानि कर्माङ्गानि, अफलत्वे सति कर्माङ्गाश्रितत्वात्-

भामतीष्याख्या

सामान्यशास्त्रबाधायां विशेषशास्त्रस्यातिभारो नास्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः
फलम् । यथैव ‘यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति’ इत्येतदनारभ्याधीतमव्यभिचरितक्रतुसंबन्धं जुह्वद्वारा क्रतु-
योगवचनगृहीतं कृत्वर्थं सत्फलानपेक्षं सिद्धवर्तमानापदेशप्रतीतं न रात्रिसत्त्वफलतया स्वीकरोतीति । एवमव्यभिचरित-
र्मसंबन्धोद्गीथगतमुपासनं कर्मप्रयोगवचनगृहीतं न सिद्धवर्तमानापदेशवगतसमस्तकामावापकत्वलक्षणफलकल्पनायालम् । परार्थत्वाद-
तथाच पारमर्षं सूत्रम्—‘द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्’ इति । एवंच सति क्रतौ पर्णतानियमवदुपास-
नियम इति प्राप्ते उच्यते—युक्तं पर्णतायां फलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वम् । नहि पर्णताऽनारभ्या यागादिवत्फलसंबन्धमनुभविमुपैति

आनन्दगिरीयव्याख्या

क्तिप्रसक्त्या कर्माङ्गसंज्ञिनामपि ज्ञानानामनित्यत्वमाह—तन्निर्धारणेति । अज्ञावबद्धोपासनानि विषयत्वेनोपन्यस्यति—सन्तीति
उभयविधदृष्टान्तद्वष्टा संशयमाह—किमिति । यथा द्रव्यसंस्कारकर्मसु कृत्वर्थेषु फलश्रुतेरर्थवादत्वादगत्या रात्रिसत्राणां विपरिणामेऽ-
प्रकृतेषु क्रतुपकारस्य सिद्धत्वाद्विपरिणामायोगात्क्रतुपकारद्वारा पर्णमयीत्वं प्रयाजादिवत्तत्र नित्यमिष्टं तथैतान्यङ्गसङ्गीन्युपासनानि कर्म
नित्यान्येवेत्येको विकल्पः । यथा प्राकृताप्रणयनाश्रयो गोदोहनोपरागः पशुभ्यो विधीयते यथा च कांस्योपरागस्तदाश्रयो ब्रह्मवर्चसकृते
ऽभिलष्यते वैश्वश्वाभ्राद्यफलो यूपाश्रयो दृश्यते तथैतान्युपासनानि कर्मस्वनित्यानीति विकल्पान्तरम् । अत्र चाङ्गाश्रितोपासीनां क्रतु-
नित्यत्वात्नित्यत्वनिरूपणद्वारा वाक्यार्थधीहेतुनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे यथोक्तोपासीनां क्रतुषु पर्णतादिवत्तदवश्यकत्वम्
सिद्धान्ते तद्राहित्यमङ्गीकृत्य विवृशति—किमिति । अनित्यभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्ववन्नित्यकर्मोपासीनां नित्यत्वे
पूर्वपक्षयति—नित्यानीति । क्रतुप्रकरणपाठात्प्रयोगवचनापरिग्रहादुपासीनां नास्ति क्रतुषु नित्येति शङ्कते—कुत इति । अथ
भिचरितक्रतुसंबन्धजुह्वद्वारा पर्णतावद्गीथादिद्वारेणोपासीनामपि क्रतुसंबन्धात्प्रयोगवचनपरिग्रहादमूषां क्रतुषु नित्यत्वाह-
प्रयोगेति । कृत्वङ्गात्प्रयोगवचनपरिग्रहयोरन्योन्याश्रयत्वात्प्रकरणान्तरत्वाच्च नोपासीनां तत्परिग्रहः स्यादित्याशङ्क्याह—अनारभ्येति ।
अङ्गान्तरं पर्णमयीत्वादि । उपासीनां फलान्तरश्रुतेरिति स्वातन्त्र्यमिल्याशङ्क्याह—ययिवति । क्रतुपकारद्वारेण व्यवहितफलोपासना-
दव्यवहितश्रुतफलस्य साध्यत्वविपरिणामः श्रेयानित्यपापश्लोकश्रुतेरपि फलविधित्वमेवेत्याशङ्क्याह—नेति । कचिदगत्या विपरिणामेऽपि
प्रकृते कर्माङ्गत्वं गतिरिति न विपरिणामसिद्धिरित्यर्थः । अङ्गाश्रितोपासनानि प्रयोगवचनेन कृत्वङ्गतयोपादेयानि साध्यफलोक्ति-
शून्यत्वे सति कृत्वङ्गसंज्ञितया विहितत्वात्पर्णमयीत्वादिवदिति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति । एवमादीनामित्यादिशब्देन यदाऽ-
चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य दृष्टे यत्प्रयाजानुयाजा इत्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियत इत्यादि गृह्यते । जुह्वादिद्वारेणेत्यत्रादिपदेन कर्तृ-
ग्रहणम् । उद्गीथायुपासनानां कर्मसु नित्यत्वादविदुषो न कर्मेति प्राप्तिसूत्रं सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रतिष्ठां विभजते—

इति । याव्येतान्युद्गीथादिकर्मणुणयाथात्म्यनिर्धारणानि रसतम आसिः समृद्धिमुख्यप्राण आ-
दित्य इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन् । कुतः—तद्दृष्टेः । तथा ह्यनित्यत्वमेवजा-
तीयकानां दर्शयति श्रुतिः—‘तेनोभौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद’ (छा० १।१।१०)
इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात् । प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याज-
नाध्यवसानदर्शनात् ‘प्रस्तोतरीयं देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि’ (छा०
१।१।०।९) ‘तां चेदविद्वान्प्रास्यसि’ (छा० १।१।०।१०) ‘तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि’ (छा०
१।१।०।११) इति च । अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमु-
पलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् ‘तेनोभौ कुरुतो यश्चेत-
देवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ (छा० १।१।१०) इति । तत्र नाना त्वित्तिविद्वद्विद्वत्प्रयोगयोः पृथक्कार-
णादीर्यवत्तरमिति च तत्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्वद्विहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते । तच्चानित्यत्वे
विद्याया उपपद्यते । नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत । सर्वाङ्गोपसंहारे हि

रत्नप्रभाव्याख्या

पनमयीत्वादिवत् । तथा चाज्ञतया प्रयोगविधिना नित्येन प्रयुज्यन्त इति प्राप्ते सिद्धान्तपूर्त्रं व्याचष्टे—**यानीत्यादिना ।**
उद्गीथाद्यः कर्मणां गुणाः अज्ञानि तेषां याथात्म्यं रसतमत्वादिर्कं तन्निर्धारणान्युपासनानि यानि तानि कर्मसु नित्य-
पणमयीत्वादिवन्न नियम्येरमित्यर्थः । एषां कर्माङ्गत्वे तद्दीनस्याविदुषः कर्म न स्यादज्ञलोपात्, तस्मादविदुषोऽपि कर्म-
कर्तृत्वश्रुतिविज्ञैरज्ञत्वानुमानबाध इत्याह—**तदृष्टेरिति ।** तस्यानियमस्य दर्शनादित्यर्थः । तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यति मूर्खो ते
व्यपतिथ्यतीति चाकाशयेनर्त्विजामाक्षितत्वादनुपासकानामपि कर्मप्रयोगोऽस्तीत्याह—**प्रस्तावादीति ।** उपासीनां
कर्मकलात् पृथक्फलधुतेर्न कर्माङ्गत्वमित्याह—**अपिचेति ।** तेनोमित्यक्षरेण यच्चैतदक्षरमेवं रसतमत्वादिरूपेण वेदोपास्ते
यश्च न वेद तावुभौ कर्म कुतश्च एव ययपि तथापि तु विद्याविद्ययोर्नानात्वं भिन्नफलत्वम् । दृष्टं हि मणिविक्रयं ज्ञाना-
ज्ञानाभ्यां वणिक्काशयोर्यः फलैवैषम्यं, तस्माद्यदेव कर्म विद्ययोर्द्वीधाद्युपास्या श्रद्धयास्तिक्यदुशोपनिषदा रहस्यदेवता-या-
नेन करोति तदेव कर्म फलातिशयवदित्यर्थः । कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं विद्याहीनस्यापि गम्यमानं विद्याया
अनङ्गत्वे लिङ्गमिति भावः । सास्त्रि लोकादिदृष्टयुपासनेषु कर्मसमृद्धप्रतिरिक्तलोकादिफलधुतेषु नाङ्गत्वमित्याह—

भामतीव्याख्या

अन्यापारूपत्वात् । व्यापारस्यैव च फलवत्त्वात् । यथाहुः—‘उपतिमत्तः फलद्विज्ञानात्’ इति । नापि स्वादिरतायाभिर् प्रकृतकतु-
संबद्धो यूप आश्रयस्तदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति अनारम्भाधीतलतावर्णतायाः । तस्माद्वाक्येनैव त्रुष्टसंबन्धद्वारेण पर्वतायाः कतुराश्रयो
ज्ञापनीयः । न चातत्परं वाक्यं ज्ञापयितुमर्हतीति तत्र वाक्यवार्तापर्यवस्यशाश्रयणीयम् । तथाच तत्परं सन्न वर्णनायाः कृत्-
संक्षमपि गमयितुमर्हति । वाक्यभेदप्रसङ्गात् । उपासनानां तु व्यापारात्मत्वेन स्वन एव फलसंबन्धोपपत्तेः । उद्गीथावशाश्रयण
फले विधानं न विरुध्यते विशिष्टविधानात् । फलाय खट्वीदृशाधनकप्रपासनं विधीयमानं न वाक्यभेदमावहति । ननु कर्माज्ञेदीध-
संस्कार उपासनं श्रेष्ठणादिविहीत्याश्रितेरुद्गीथमिति । तथा चाज्ञानादिविष संस्कारेण फलव्युत्पत्तिर्यादात्म्यम् । मैत्र्यम् । नञ्योदीधस्योपासनं
किंतु तदवयवव्योक्त्योक्त्येव युक्त्यप्यस्तात् । न चोक्तारः कर्माङ्गमपि तु कर्माज्ञेदीधवाच्यवः । न चानुपयोगमीमित्यम् । तस्मात्सन्तु-

आनन्दगिरीयव्याख्या

आनन्दनगरस्य व्याख्या

यानीति । नित्यपणं मयीत्वादिवदित्येतदनुमानतो नियमे निवेदिते नानियमप्रतिज्ञेति शङ्कते—**कुत इति** । तत्र सूत्रप्रदमवारयनि-
तृष्टेरिति । तस्यानियमस्य दृष्टेरिति व्याचक्षणाः श्रौतेरैवं विधानामनाहृत्यासाधनेनुमानं बाध्यमित्याह—**तथाहीनि** । तेन-
लोकाराख्यमश्वरमुक्तम् । एतदश्वरमुदीयावयवभूमेवं रसतामादिगुण—**प्रस्तावादीति** । तां चेदविद्याप्रत्योक्तिं मूलां ते विपरिग्रहिणीति
चेति योजना । विधायाः दर्माहृत्यानियमे लिङ्गान्तरमाह—**प्रस्तावादीति** । उद्गीथापुपास्तीनां पृथक्फलश्रवणादपि न कामाहृत्यवशिष्टप्रावरणवयं व्या-
चाक्षाद्यनाश्लेषकरणादिवदित्ता प्रस्तोत्रादेः सिद्धेत्यर्थः । उद्गीथापुपास्तीनां पृथक्फलश्रवणादपि न कामाहृत्यवशिष्टप्रावरणवयं व्या-
चष्टे—अभिषेचति । शानाभावे कर्मफलप्रतिबन्धे शान्त्यस्य कर्माहृता स्यादित्याशङ्काह—**तदिति** । कर्मफलस्य वीर्यवत्तरत्वं
चष्टे—**अभिषेचति** । शानाभावे कर्मफलप्रतिबन्धे शान्त्यस्य कर्माहृता स्यादित्याशङ्काह—**तदिति** । कर्मफलस्य वीर्यवत्तरत्वं
ज्ञानफलं तदभावेऽपि वीर्यवदेव कर्मलक्षणं । फलभेदे मानमाह—**तेनेति** । पूर्वशब्दगुण्यस्य श्रुतिः स्वयमेव तुल्यार्धेन निर-
ञ्ञानफलं तदभावेऽपि वीर्यवदेव कर्मलक्षणं । फलभेदे मानमाह—**तेनेति** । पूर्वशब्दगुण्यस्य श्रुतिः स्वयमेव तुल्यार्धेन निर-
स्यनि—**नागा स्त्विति** । भिक्षुफलत्वं नानालम् । दृष्टं हि मणिविक्रये शहरवज्रीजोशानभावाभावाभ्यां फलवेक्ष्यप्यम् । तमापदेव किं
विषया प्रकृतौ दीयाधर्षया करोति अथवास्तव्ययुद्धया तपोपनिषदा तत्तद्देशताभ्यामेनत्वं । शुनस्तास्थस्य माह—**तत्रेति** । किं
तावता ते सिद्धं, तथाह—**तच्छेति** । विधाहीनस्य कर्मणो वीर्यवत्त्वं कर्मणि तदनित्यत्वगमकमिति व्यनक्ति यः श्रुत्यति-
नित्यत्वे स्त्विति । अङ्किमात्रस्य फलं वीर्यवत्त्वमहस्तस्य तु वीर्यवत्तरत्वनित्यमुपपन्नोपपत्तिमाशङ्काह—**सर्वेति** । कर्ममश्वद्वय-

विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात् । उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्दिशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याध्या-
यानां फले विधानं न विरुध्यते । तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनि-
त्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपास-
नानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥



एकीकृत्य पृथक्वा स्यादायुप्राणानुचिन्तनम् ॥ तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥ १ ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पथकश्रुतेः ॥ प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥ २ ॥

वाजसनेयके—‘वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे’ (बृ० १।५।२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः
श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमस्यादीनां वायुः । तथा छान्दोग्ये—‘वायुर्वाव संवर्गः’ (छा० ४।३।१)
इत्यत्राधिदैवतमस्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः ‘प्राणो वाव संवर्गः’ (छा० ४।३।२) इत्यत्रा-
ध्यात्मं वागादीनां प्राणः । तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणानुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति ।
अपृथगेवेति तावत्प्राप्तं तत्त्वाभेदात् । नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम् । दर्शयति च श्रुतिर-
ध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ (ऐ० २।४) इत्यारभ्य । तथा ‘त
एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः’ (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूति-
मात्मभूतां दर्शयति । तथान्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति ।

रत्नप्रभाख्याया

इयस्य फलसंयोगो विधेय इति वाक्यभेद इत्यर्थः । पर्णतादिवैलक्षण्यमुपासनानामाह—उपासनानां विधिः । स्वयं
क्रियात्वाद्यागादिवत्फलविशिष्टत्वेन विधानोपपत्तिरित्यर्थः । तस्मादिति अङ्गत्वावेदकमानाभावादित्यर्थः । अत एवेति अनङ्गत्वा-
देवेत्यर्थः । तस्मादङ्गोपास्यभावेऽपि कर्माधिकार इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥ प्रदानवदेव तदुक्तम् । वायुप्राणयोर्भेदाभे-
दवाक्याभ्यां संशयमाह—तत्रेति । अस्तु कर्माङ्गानां तत्संबद्धोपास्तीनां च फलभेदाभिल्यात्वानित्यत्वरूपः प्रयोगभेदः,
इह तु वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदात्तत्त्वरूपप्राप्तिलक्षणफलैक्याच्च ध्यानप्रयोगैक्यमिति पूर्वपक्षयति—अपृथगिति । ‘अग्नि-
र्वाग्भूत्वा’ इत्यारभ्य ‘वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्’ इत्यभेदं दर्शयतीत्यर्थः । ‘यतश्चोदेति सूर्यसं वद’ इति

भामतीख्याया

ल्पना । फलपरत्वे त्वस्य न शक्यं प्रयाजादीनां पारार्थ्येनाफलत्वं वक्तुमिति ॥ ४२ ॥ प्रदानवदेव तदुक्तम् ।
तत्तत्पुत्र्यालोचनया वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदे सिद्धे तदधीननिरूपणतया तद्विषयोपासनाप्यभिज्ञा न चाध्यात्माधिदैवगुणभेदाद्भेदः ।
नहि गुणभेदे गुणवतो भेदः । नह्यभिहितं जुहोतीत्युपब्रस्यमिहोत्रस्य तण्डुलादिगुणभेदाद्भेदो भवति । उत्पद्यमानकर्मसंयुक्तो हि

आनन्दगिरीयव्याख्या

विधिरित्यर्थः । पर्णमयीत्वादियु फलश्रुतेरर्थवादत्वमुपपाद्योद्गीथाद्युपासनेषु तेभ्यो वैषम्यमाह—उपासनानां विधिः । तासां
व्यापाररूपत्वादव्यापारात्मकपर्णतादिभ्यो वैलक्षण्यत्वात्फलवत्त्वेऽपि च विधानसिद्धेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिब्रह्मव्यभेदाभावात् फलविधा-
नमित्यर्थः । प्रस्तुतोपास्तीनां प्रकरणादिना क्रत्वर्थोऽश्रिततायाः सिद्धत्वात्तदाश्रयणेन गोदोहनादिवदिशिष्टफलोद्देशेन विधानसंभवे
फलितुपसंहरति—तस्मादिति । उद्गीथादिविधानां पर्णतादिवत्कर्माङ्गत्वाभावे लिङ्गान्तरमाह—अत इति । अङ्गत्वाभावादेवेति
यावत् । तथाच विदुष इवाविदुषोऽपि कर्माधिकारोऽस्तीति भावः ॥ ४२ ॥ पृथगप्रतिबन्धः फलमिति फलपृथक्त्वं वदुपगमनप-
थकत्वाह—प्रदानवदेति । बृहदारण्यके छान्दोग्ये चाधिदैवाध्यात्मभेदेनोक्तौ वायुप्राणानुदाहरति—वाजसनेयक इत्यादिना ।
श्रेष्ठत्वममराजतत्त्वेनोक्तवत्त्वम् । तयोर्भेदाभेदादिवाक्याभ्यां संशयमाह—तत्रेति । अत्र वायुप्राणयोरुपगमनविधौक्या वाक्यार्थ-
रीतिरेव कथनात्प्रादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विवैक्यात्प्रवृत्तिभेदासिद्धिः । सिद्धान्ते तदेक्येऽपि गुणभेदात्सिद्धिरिति सिद्धवत्कृत्य
पूर्वपक्षयति—अपृथगिति । फलभेदात्कर्माङ्गानां तद्युक्तोपास्तीनां च नित्यत्वानित्यत्वप्रयोगभेदवद्वायुप्राणयोस्तत्त्वाभेदात्तत्प्राप्ति-
फलक्याचोपास्तिप्रयोगैक्यमिति भावः । तत्त्वाभेदेऽपि कथमपृथगनुचिन्तनं, तत्राह—नेति । न खल्वेकस्मिन्नप्रदेशे प्रयोगभेदो-
स्तीत्यर्थः । तत्त्वाभेदे मानमाह—दर्शयतीति । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदिति श्रुतिरत्रोपयुक्ता । आध्यात्मिकप्राणस्या-
भेदविक्रमव्यभेदे लिङ्गमाह—तथेति । अध्यात्ममधिदैवं च तयोस्तत्त्वाभेदे सर्वश्रुतिसंमतिमाह—तथान्यत्रेति । वायुप्राणयो-
स्तत्त्वाभेदे वाक्यमपि मानमित्याह—कथिचेति । अथेमां न नामोन्मुख्ययोऽयं मध्यमः प्राण इत्युपक्रम्य प्राणाद्वा एव सर्व उदेती-

कश्चिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति स्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति । तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयि-
ब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणान्ना एष उदेति प्राणे-
ऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणनैवोपसंहारश्लोके दर्शयति । 'तस्मादेकमेव व्रतं चरे-
त्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहारश्लोके द्रढयति । तथा
छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा०
४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति । तस्मा-
दपृथक्त्वमुपगमनस्येति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणानुपगमन्तव्याविति । कस्मात् ।
पृथगुपदेशात् । आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽन-
र्थक एव स्यात् । ननुक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति । नैष दोषः । तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभे-
दादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः । श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्य-
मानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात् । 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एव-

रत्नप्रभाष्याख्या

प्रश्ने सूत्रात्मकवायुर्वाच्यो वायुस्थाने प्राणं वदन्नेकत्वं तयोर्दृश्यतीत्याह—तथेति । किंच यदि वायुप्राणयोः पृथ-
गध्यानं स्यात्तर्हि ध्यानाद्भ्रतभेदोऽपि स्यादिति तु प्राणापाननिरोधात्मकव्रतैक्यश्रुतेर्ध्यानैक्यमित्याह—तस्मादिति ।
व्रतैक्यस्य प्रशस्तत्वादित्यर्थः । किंच वायुप्राणौ संवर्गौ भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गदेवैक्यश्रुतेः प्रयोगैक्य-
मित्याह—तथेति । महात्मन इति द्वितीयावहुवचनम् । चतुरश्रतुःसंख्याकानमिसूर्योदकचन्द्रानपरांश्च वाक्चक्षुःश्रोत्रमनो-
रूपानेको देवः कः प्रजापतिः जगार गीर्णवानुपसंहृतवानित्यर्थः । न ब्रवीति भेदमिति शेषः । यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति'
इत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्यैकस्यैव दधितण्डुलादिगुणभेदेन सायंप्रातःकालभेदेन प्रयोगभेदस्तथा 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इत्यु-
त्पन्नायाः संवर्गविद्याया एकत्वेऽप्युत्पन्नशिष्टवायुप्राणानुपगमनमेदात्प्रयोगभेद इत्युत्पन्नं सिद्धान्तयति—पृथगेवेति ।
'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' इत्युपास्यभेदवाक्यस्य प्रयोगभेदपरत्वाद्वाक्यादेव भेदसिद्धिरित्यर्थः । पूर्वपक्ष्युक्तमनूय प्रत्याह—
ननुक्तमित्यादिना । उपास्यतया प्रधानभूतसंवर्गगुणविशिष्टोपास्यभेदवाक्यविरोधादुपसास्यवायुतत्त्वैक्यवचनं न प्रयो-
गैक्यप्रापकमिति भावः । सूर्योदयास्तमययोर्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोत्वत्तदभेदाभिप्रायेण प्राणात्तावुक्तौ । ततोऽध्यात्माधिदैववाक्यभेदेनै-
कस्य ध्येयभेदस्य निरासे 'यतश्चोदेति' इति श्लोकस्य न शक्तिरित्याह—श्लोकेति । असामर्थ्यं लिङ्गमाह—स यथेति ।

भामतीव्याख्या

गुणभेदः कर्मणो भेदकः । यथाभिधावाजिनसंयुक्तयोः कर्मणोः । नोत्पन्नकर्मसंयुक्तः । अध्यात्माधिदैवोपदेशेषु चोपपन्नोपासनसंयोगः ।
तथोपक्रमोपसंहारालोचनया विधेयैक्यविनिश्चयादेकैव सकृत्प्रवृत्तिरिति पूर्वपक्षः । राक्षान्तस्तु—सत्यं विधेयैक्यं तथापि गुणभेदात्प्रवृत्ति-
भेदः । सायंप्रातःकालगुणभेदाद्येकस्मिन्नप्यग्निहोत्रे प्रवृत्तिभेदः एवमिहाप्यध्यात्माधिदैवगुणभेदादुपासनस्यैकस्यापि प्रवृत्तिभेद-
इति सिद्धम् । आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेश इति । अग्निहोत्रस्यैवाध्यानस्य कृते दधितण्डुलादिवर्गं

आनन्दगिरीयध्याख्या

रूपसंहाराच्च तयोरैक्यमित्याह—तथेति । यदि पृथगनुचिन्तनं तयोर्विधिरिति तर्हि तदङ्गव्रतोपदेशोऽपि पृथगेव स्यात् । इह
च प्राण्यादिति प्राणने प्राप्तेऽपान्यादित्यपाननमुक्त्वा तस्मिन्प्राप्ते प्राण्यादिति प्राणनवचनेन प्राणापाननिरोधं कुर्यादित्येकमेव व्रतं दर्श-
यति । ततश्चापृथगनुचिन्तनमित्याह—तस्मादिति । छान्दोग्यालोचनयामपि तयोः स्वरूपभेदधीरित्याह—तथेति । वायुं प्राणं च
संवर्गगुणकं भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गमेकमेव गमयतीति संबन्धः । महात्मन इति द्वितीयावहुवचनम् । चतुरश्रतुःसं-
ख्याकानमिसूर्योदकचन्द्रानन्यांश्च वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोऽनुक्षणानेको निरोपेक्षः सन्को देवः प्रजापतिर्जगार गीर्णवानुपसंहृतवानिति वाक्यं ।
भेदं मानाभावादपि तयोरैक्यमित्याह—नेति । बहुश्रुत्यालोचनया वायुप्राणैक्यसिद्धेस्तदुपास्तेरपि तदधीनत्वाद्भेदः । न चाध्यात्माधिदै-
वगुणभेदाद्भेदः, तदभेदोक्तैरुपपन्नोपास्तिसंयोगाद्भेदकवायोगात् । नो खल्वग्निहोत्रं जुहोतीत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्य दधितण्डुलादिभेदाद्भेद उत्पन्न-
कर्मयोगिगुणभेदस्यैव भेदकत्वात् । तस्मादुत्पन्नोपास्तियोगित्वाद्गुणभेदस्योपास्तभेदाभावादपृथगनुचिन्तनमित्युपसंहारः—तस्मादिति ।
उक्तनीत्या विधेयैक्येऽप्यध्यात्माधिदैवगुणभेदात्प्रवृत्तिभेदः सायंप्रातःकालगुणभेदादेकस्मिन्नप्यग्निहोत्रे प्रवृत्तिभेदवदिति सिद्धान्तयति—
एवमिति । उपास्यैक्यात्प्रयोगैक्योक्तं पृथगनुचिन्तनमिति शङ्कते—कस्मादिति । अग्निहोत्रस्यैव दधितण्डुलादिवर्गानस्य गुण-
भेदोपदेशात्पृथगनुचिन्तनसिद्धिरित्याह—पृथगिति । तदेव विवृणोति—आध्यानेनेति । तौ वा एतौ संवर्गौ इति वाक्यस्योपास्यगुण-
विशेषभेदाच्चिनो भेदेनानुचिन्तनं तात्पर्याद्वाक्यप्रामाण्याद्भेदेनैव चिन्तनमित्यर्थः । पूर्वपक्षबीजमनुवदति—नन्विति । उपास्यत्वा-
प्रधानभूतसंवर्गगुणकवायुप्राणधर्मभेदविषयेण वाक्येन गुणभूतसमीरणस्वभावैक्यविषयं वाक्यं बाध्यमित्यभिप्रेत्याह—नेति । क-
श्चोदेतीत्यादिश्लोकोक्तेर्वायुप्राणैक्यसिद्धेरुपास्तेरपि तथात्वादपृथगुपगतिरित्याशङ्क्याह—श्लोकेति । सूर्योदयास्तमययोर्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोत्वत्तदभेदाभिप्रायेण प्राणात्तावुक्तौ ततोऽध्यात्माधिदैवविभागोक्तस्य ध्येयभेदस्य निरासे श्लोकस्य न सामर्थ्यमित्यर्थः । श्लोकी

मेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात् । एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः । 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः । भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि सृज्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः । न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति प्रस्तुत्य तुल्य-वद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इति वायुप्राप्ति-फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति । देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेक्षित-त्वात् । पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति । तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवोपसंहरति । तस्मात्पृथगेवोपगमनम् । प्रदानवत् । यथेन्द्राय राक्षे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायधिराजा-येन्द्राय स्वराक्ष इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्तुल्यं वदकारमिति ।

रत्नप्रभा-भामती

श्लोकोपन्यासव्रतैक्योपन्यासोऽपि तत्त्वाभेदाभिप्रायेणेत्याह—एतेनेति । नन्वेवकाराद्वायुव्रतनिवृत्तेः प्राण एवैको ध्येयो भातीत्यत आह—एकमेवेति । वदनदर्शनादीनि वाक्चक्षुरादीनां व्रतानि श्रमरूपसृज्युना भग्नानीत्युक्त्वा प्राणस्याभग्नव्रतत्वं निर्धारितं, तथा ज्वलनतापादीन्यभ्यादित्यादीनां व्रतानि भग्नानीत्युक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वं निर्धारितं, 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राणः स्थिरव्रत एवमेतासां देवतानां वायुर्भोज्यं हन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः' इति धृतेः । अतो भग्नव्रतनिरासार्थं एवकारो न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थ इत्यर्थः । अत्रैवार्थे लिङ्गमाह—एकमिति । उकारार्थः । तेन व्रतेन वायोः सायुज्यं समानदेहत्वं सलोकतां च जयतीत्यर्थः । नन्वत्र वायुप्राप्तिं धृतेत्यत्राह—देवतेति । तस्मा-त्तत्त्वाभेददृष्ट्या व्रतैक्यमिति स्थितं, संप्रति पूर्वोक्तं पृथगुपदेशं विवृणोति—तथा तौ वा इति । सौत्रं दृष्टान्तं व्या-चष्टे—प्रदानवदिति । त्रयः पुरोडाशा अस्यां सन्तीति त्रिपुरोडाशिनीष्टित्वां किं सहप्रदानमुत भेदेनेति संदेहे पूर्वपक्षमाह—सर्वेषामिति । सर्वेषां देवानामभिमुख्येन प्रापयन्हविरवयति गृह्णाति, अच्छेदवदकारं वषट्काराख्य-देवभागमित्यर्थः । यद्वा सर्वदेवार्थं युगपदवदानं कार्यमित्यत्र हेतुरच्छेदवदकारमिति अव्यर्थत्वायेत्यर्थः । एकार्थमवसे

भामतीव्याख्या

पृथगुपदेशः । एतेन व्रतोपदेश इति । एतेन तत्त्वाभेदेन । एवकारश्च वागादिव्रतनिराकरणार्थः । नन्वेतस्यै देवतायै इति देवतामात्रं श्रूयते न तु वायुस्तत्कथं वायुप्राप्तमाहेत्यत आह—देवतेत्यत्र वायुरिति । वायुः तत्त्वभेदादीनसंज्ञित इत्यभ्यादीनपेक्षानव-च्छिन्नोऽभ्यादयस्तु तेनैवावच्छिन्ना इति संवर्गगुणतया वायुरनवच्छिन्ना देवता । सर्वेषामभिगमयन्निति । मिलितानां श्रवणा-

आनन्दगिरियव्याख्या

विशिष्टध्वेयभेदोऽस्तीत्याह—स यथेति । यत्तु प्राणव्रतेनोपसंहारादैक्ये सत्यपृथगुपगमनमिति, तथाह—एतेनेति । श्लोकस्य स्वरू-पेवामिप्रायत्वबोधेन व्रतवचनमपि तत्त्वाभेदाभिप्रायं युक्तमित्यर्थः । एवकारश्चैतरेष्ववप्रवृत्तिरेव भातीत्याशङ्क्याह—एकमिति । केमिति वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतं साध्यते, तथाह—भग्नोति । वायुव्रतनिवृत्त्यर्थमेवावधारणं किं न स्यात्, तथाह—नेति । मध्यमेव नामोदित्यध्यात्मं मुख्यप्राणस्य सृज्युनाऽनास्तमत्वमभिर्देवत्वं चाभ्यादीनां ज्वलनादिव्रतमङ्गमुक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वमुक्तम् । भेदभोज्यत्वस्या देवता न वायुरिति न वायुव्रतनिवृत्तिरेवकारार्थ इत्यर्थः । फलोक्तिरपि वायुव्रतनिवृत्त्यभावं दर्शयतीत्याह—एकमिति । तेन व्रतेन । अपिशब्देन समानार्थः सनुशब्दः सायुज्यं सलोकतामपीत्युपरि संवध्यते । एतस्य एतस्या देवतायाः सायुज्यं समानदेहतां वा सालोच्यं समान-श्लोकतां चोपास्तेस्तारतम्याज्जयति प्राप्नोतीत्यर्थः । अन्यत्रानुप्राप्तान्याप्राप्तेरत्र च वायुप्राप्तिर्नन्द-शात्र तद्व्रतनिवृत्तिरिति श्रुतितात्पर्यमाह—वाचित्विति । देवताप्राप्तिरेवात्र श्रुता न वायुप्राप्तिरित्याशङ्क्याह—देवतेति । अभ्यादीनप-ेक्षानवच्छिन्नो देवो वायुस्ते तु तेनैवावच्छिन्ना इति संवर्गगुणो वायुरनवच्छिन्ना देवता तद्वत्त्वमत्रापिमिष्टमनो देवतामिवायुप्राप्ति-रित्यर्थः । न केवलं प्रकरणालोचनया देवता वायुः किंतु साक्षादेव श्रुतित्याह—पुरमादिति । यत् पृथगुपदेशात्पृथगुपनय-नमुक्तं तदिदानीं विवृणोति—तथेति । संवर्गभेदेनोपक्रमवद्भेदेनोपसंहारादपि पृथगुपनयनमित्याह—ते वा इति । उपक्रमोप-संहाररूप्यफलमुपसंहरति—तस्मादिति । तत्रोदाहरणमवतार्य व्याचष्टे—प्रदानवदिति । त्रयः पुरोडाशा अस्या मा त्रिपुरोडा-शिनी तस्यामुपक्षिन्नावयमुदाहरति—इन्द्रायेति । किं तस्यां गृह प्रदानं किं भेदेनेति संदेहे पूर्वपक्षमाह—सर्वेषामिति । प्राक्षिकाः सत्यस्यामिष्टौ युगपदेवदानं कुर्वन्ति तेन सर्वेषां देवताविशेषाणामभिगमयन्नप्रापयन्नप्रापयन्नेव पुरोडाशानवयति तत्तद्भागं गृह्णातीत्यत्र हेतुमाह—अच्छेदवदकारमिति । अव्यर्थत्वायेत्यत यावत् । एकार्थं सर्वतोऽवदाने श्लोको यागानन्दः स्वायगपसर्वार्थ-

‘तत्पद्विंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः’ इत्यादि । तथैव ‘वाङ्मि-
प्राणचित्तश्चक्षुश्चित्तः श्रोत्रचित्तः कर्मचित्तोऽग्निचित्तः’ इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकाश्च ।
तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका
इति । तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति ।
भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते ‘तद्यत्किंचेमानि
भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः’ इति ‘तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि
चिन्वन्त्यपि स्वपते’ इति चैवंजातीयकानि । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः, तदप्युक्तं पूर्वस्मि-
न्काण्डे—‘श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्’ (जै०
सू० ३।३।३) इति ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

भित्तिरुक्तावेन कल्पिताभिर्मनसैव संपादिता अग्रयो मनश्चित्तस्तानर्कान्पूज्यान्मनोमयान्मनोवृत्तिषु संपादितानात्मनः स्वस्य
संबन्धित्वेन मनोऽपश्यत्, तथा वाक्प्राणादयोऽपि स्ववृत्तिरूपानग्नीनपश्यन्त्याह—**तथेति** । प्राणो प्राणं कर्मेन्द्रियेण
हस्तादिना चित्तः कर्मचित्तः अस्मिन्वक् पूर्वत्राग्निचयनप्रकरणात्किमेतेऽग्रयः कत्वर्थो उत प्राधान्यज्ञापकलिङ्गादि-
भूयस्त्वापुरुषार्था वेति संशयमाह—**तेष्विति** । केवलविद्यात्मकाः क्रियाज्ञत्वं विना भावनामया इत्यर्थः । एकप्रयोगासं-
भवाद्वायुप्राणयोर्ध्यानप्रयोगभेदोऽस्तु, इह तु मनश्चिदाद्यग्नीनां प्रकरणात्कर्माज्ञत्वेनैकप्रयोगत्वमिति प्राप्य यिद्वातन्त्र्यमुपक-
मते—**तत्रेत्यादिना** । पूर्वपक्षे भावनाग्नीनां कत्वज्ञत्वमिष्टं तेषां क्रियाज्ञत्वं विकल्पः समुच्चयो वास्तु । सिद्धान्ते पुरुषार्थ-
त्वमिति फलम् । तत्र सर्वप्राणिमनोवृत्तिभिर्मनः सदाग्रयः चीयन्त इति ध्यानदाढ्यं सति सर्वभूतानि यत्किंचित् मनसा
संकल्पयन्ति तेषामेवाग्नीनां सा कृतिः करणमित्येकं लिङ्गं, क्रियाज्ञस्य यत्किंचित्करणेन सिद्धयदर्शनादित्याह—**तद्य-**
दिति । एवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि तदीयाग्नीभूतानि सर्वदा चिन्वन्तीति लिङ्गान्तरं, क्रियाज्ञस्य चोदितकालानुप्रेयस्य
सदा सर्वैरनुप्रेयमानत्वायोगादित्यर्थः । षट्त्रिंशत्सहस्रत्वसंख्याप्यनज्ञत्वे लिङ्गं एवंजातीयकपदेनोक्तम् ॥ ४४ ॥ एवं सिद्धान्त-

भामतीव्याख्या

आनि तथापि न तानि स्वातन्त्र्येण स्वातन्त्र्यं प्रति प्रापकाणि । प्रमाणप्राप्तिं तु स्वातन्त्र्यमुपोद्बलयन्ति । न चायास्ति स्वातन्त्र्य-
प्रापकं प्रमाणम् । न चेदं सामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं येनास्य स्वातन्त्र्येण प्रापकं भवेत् । तद्धि सामर्थ्यमभिधानस्य वार्थस्य वा स्यात् । तथा
पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रस्य पूषाद्यनुमन्त्रणे यथा वा ‘पशुना यजेत’ इत्येकव्यसंख्याया अर्थस्य संश्लेषाच्छेदमावर्त्यम् । न चेदमन्त्रस्यापि-
दनेनलक्षणं लिङ्गं तथा । स्तुत्यर्थत्वेनास्य विपुद्देशेनैकवाक्यतया विधिपरत्वात् । तस्मादसति सामर्थ्यलक्षणे विरोद्धे प्रकरण-
मप्यहं मनश्चिदादीनां क्रियाशेषतामवगमयति । नच ते हेतौ विद्याचित्त एवैववप्राणश्रुतिः क्रियानुप्रेषं वारयति । येन श्रुति-
विरोधे सति न प्रकरणं भवेत्, बाह्यसाधनताप्राकरणार्थत्वादवधारणस्य । नच विद्याहंवेत एवं विदधिता भवतीति पुरुषसंबन्धमापाद-

आनन्दगिरीयव्याख्या

उपतेः प्रागिदं सर्वं नैव सदासीद्वाप्यसदित्युपक्रम्य मनसः प्रादुर्भावमुक्त्वा तदात्मानमंश्वतेर्नाशणपूर्वकं नग्नम आत्मनोऽग्नीनपश्यदिति
मनोपिकृत्य पठन्तीत्यर्थः । पुरुषस्यायुद्धेन क्लृप्तशतवर्षान्तर्गतषट्त्रिंशत्सहस्राहोरात्रावच्छिन्नमनोवाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रत्वक्वायश्रुतिर्मान-
यैरिष्टात्वेन भाग्यमानैश्चैवमानान्सांपादिकानग्नीनमन्तीत्याह—**तदिति** । अत्रानर्कान्मानमनोमयान्मनोवृत्तिमावित्वाद्वाग्मादि-
भित्तिरुक्तावेन भावित्वाभिधीयन्त इति वाचिचिदादीनग्नीनामनो वागादयोऽपश्यन्त्याह—**तथैवेति** । कत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वविनिर्धो-
जकमानदृष्ट्या संशयमाह—**तेष्विति** । केवलविद्यात्मकत्वं क्रियानुप्रवेशं विना भावनामयत्वं । वायुप्राणश्रोत्रकर्मप्रयोगायोगाध्याययोगभेदेन
ध्येयत्वेऽपि मनश्चिदादीनां कर्माज्ञत्वेनैकप्रयोगत्वं युक्तमित्याह—**तत्रेति** । सांपादिकाग्नीनां केवलविद्यात्मत्वेन पुरुषार्थत्वमन्येनद्वारा
वाक्यार्थोद्देशेरेवोक्तेरत्र प्रादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे क्रियाधीनामग्नीनां क्रियात्वं सिद्धान्ते पुमर्थानां तेषां केवलत्वव्यामयत्वमित्य-
कीकृत्य सिद्धान्तमुपक्रमते—**स्वातन्त्र्यमिति** । सूत्राक्षराणि योजयति—**भूयांसि** । सर्वान्यधीमानि भूतानि यत्किंचित् मनसा
संकल्पयन्ति तेषामेवाग्नीनां सा कृतिः करणमित्येकं प्रकृताग्नीनां स्वातन्त्र्येण भावनामयत्वं लिङ्गं । नहि क्रियाज्ञं यत्किंचि-
त्करणे सिध्यति चोदनैकलभ्यत्वादित्याह—**तद्यदिति** । एवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि तानान्तामग्नीभूतानि सर्वाणि सर्वदा चिन्वन्तीति
लिङ्गान्तरं नहि कर्माज्ञं सर्वदा सर्वैरनुप्रेयते प्रतिनियतदेशकालनिमित्तेषु चोदितत्वादित्याह—**तानिति** । कार्यकरणव्यापारेः पद-
विश्रुतसहस्राहोरात्रावच्छिन्नैरिष्टात्वेन भावित्वेरेतैः संपाद्यन्ते । तत्रेष्टकास्वप्निषु च संख्याधिक्यमग्नीनां केवलविद्यात्वं लिङ्गम् । नहि
क्रियाज्ञत्वे प्रसिद्धसंख्यातिरेकसिद्धिरिति मत्वाह—**एवमिति** । प्रकरणाद्वा क्रियाज्ञत्वं सिद्धं लिङ्गाच्च स्वातन्त्र्यं तेन संशयः
स्यादित्याशङ्क्याह—**तद्वेति** । प्रमाणस्वाविशेषे कुतो नालम्ब्यवस्थेलाशङ्क्याह—**तदपिति** ॥ ४४ ॥ सिद्धान्तोपक्रमाधुना

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्याक्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति । पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः । ननु प्रकरणादलिङ्गं बलीयः । सत्यमेवमेतत् । लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्वलीयो भवति । अन्यार्थदर्शनं ह्येतत् । सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात् । अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते । तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः । मानसवत् ।

रक्तप्रभास्याख्या

मुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—पूर्वेति । पूर्वस्येष्टकामिरिति चिनुत इत्युक्तस्य स एष त्विष्टकामिरिति संनिहितस्यायं विकल्पविशेषोपदेशः संकल्पमयत्वाख्यप्रकारभेदोपदेशः क्रियामिवत्सांकल्पिकाग्नयोऽप्यङ्गमिति यावत् । किं विधिवाक्यस्य लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः, अर्थवादस्थं वा । आद्यमङ्गीकरोति—सत्यमिति । न द्वितीय इत्याह—लिङ्गमिति । मानसाग्निविध्यवत्त्वात् लिङ्गानां स्वाध्यापकमानाभावाद्दौर्बल्यमित्यर्थः । सूत्रस्थक्रियापदं व्याचष्टे—तस्मादिति । ननु अक्रियारूपाम्नीनां ध्यानमयानां कथं क्रियाङ्गत्वं तत्राह—मानसवदिति । द्वादशाहस्यायन्ताहर्द्वयं त्यक्त्वा मध्यस्थदशरात्रस्यैव द्विरात्रादिषु प्रकृतित्वं, तद्धर्माणामेव तेष्वतिदेशात्तस्य दशमेऽहन्यर्थोदिकादशेऽहनि मानसग्रहः श्रूयते—‘अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोप्रहं गृह्णामि’ इति । अनया रसया पृथिव्या पात्रेण समुद्रं त्वां प्राजापतिदेवताकं मनोप्रहं गृह्यते इति ग्रहः सोमरसः, मनसा रसत्वेन भावितमध्वर्युर्गृह्णातीत्यर्थः । अत एवाविजं

आमनीत्याख्या

यद्वाक्यं प्रकरणमपबाधितुमर्हति । अन्यार्थदर्शनं सत्त्वेतदपि । न च तत्स्वातन्त्र्येण प्रापकमित्युक्तम् । तस्मात्तदपि न प्रकरणविशेषायालमिति सांपादिका अप्येते अग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव मानसवत् । द्वादशाहे तु श्रूयते—‘अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोप्रहं गृह्णामि’ इति । तत्र संशयः—किं मानसं द्वादशाहादहरन्तरमुत तन्मध्यपातिनो दशमस्याङ्गमिति । तत्र वार्ष्ये द्वादशाहो मनो मानसमिति मानसस्य द्वादशाहाद्वेदेन व्यपदेशाद्वाजनसभेदवद्भेदः । निर्धूतानि द्वादशाहस्य गतरसानि छन्दसि तानि मानसेनैवाप्यायन्तीति च द्वादशाहस्य मानसेन स्तुयमानत्वाद्भेदो न सति स्तुतिस्तुल्यभावस्योपपत्तेर्द्वादशाहादहरन्तरं न तदङ्गं, पत्नीसंयाजान्तत्वाच्चाहं पत्नीः संयाज्य मानसाय प्रसर्पन्तीति च मानसस्य पत्नीसंयाजस्य परस्ताच्छ्रुतेः । त्रयोदशाहेऽप्यवयुज्य द्वादशसंख्यासमवायात्कथंचिज्जघन्ययापि वृत्त्या द्वादशाहसंज्ञाविरोधाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते—प्रमाणान्तरं हि त्रयोदशत्वेऽह्नां सिद्धे द्वादशाह इति जघन्यया वृत्त्येवाधीयते । न त्वस्ति तादृशं प्रमाणान्तरम् । न च व्यपदेशभेदोऽहरन्तरं कल्पयितुमर्हति । अङ्गाङ्गिभेदेनापि तदुपपत्तेः । अतएव च स्तुत्यस्तावकभावस्याप्युपपत्तिः । देवदत्तस्यैव दीर्घैः केशैः । पत्नीसंयाजान्तता तु यद्यर्थोत्सर्गिकी तथापि दशमस्याहो विशेषवचनान्मानसानि ग्रहणासादनह्वनादीनि पत्नीसंयाजात्पराङ्गि भविष्यति । किमिव हि न कुर्याद्वचनमिति । एष वै दशमस्याहो विसर्गो यन्मानसमिति वचनाद्दशमाहरङ्गता गम्यते । विसर्गोऽती

आनन्दगिरीयव्याख्या

पूर्वपक्षयति—पूर्वेति । पूर्वपक्षं विवृण्वन्नुक्तसिद्धान्तप्रतिज्ञां निषेधति—नैतदिति । संप्रति सहेतुकं पूर्वपक्षं प्रतिजानीते—पूर्वस्येति । इष्टकामिरिच्छितुत इत्युक्तक्रियामयाव्यधिकारे श्रवणादयमपि सांपादिकाग्नयुपदेशस्तद्विषयो विकल्पोपदेशस्तथा च यथा क्रियाङ्गं क्रियामयोऽस्ति तथा सांपादिकाग्निरपि तदङ्गं स्यादित्यर्थः । विकल्पविशेषः प्रकारभेदः । उक्तं सैद्धान्तिकं मतमुक्तं दति—नन्विति । तेन प्राकरणिकं क्रियाशेषत्वं हित्वा लैङ्गिकं पुमर्थत्वमेष्टव्यमिति शेषः । विध्युद्देशस्य मर्थवादस्थं वा लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयमिति विकल्पाद्यमङ्गीकरोति—सत्यमिति । द्वितीयं दूषयति—लिङ्गमिति । एवंजातीयकं सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्मतीत्याधेवादस्थमिति यावत् । तदेव साधयति—अन्यार्थेति । न हीदं साधनात्मकं लिङ्गं विध्युद्देशकवाक्यतया तत्परत्वादती नेदं स्वातन्त्र्येण प्रमाणं स्तुतिमात्रत्वादित्यर्थः । अन्यार्थदर्शनानामपि प्रमाणकत्वमाशङ्क्य मूलप्रमाणभावे तथाभावेऽपि प्रकृते तदभावमेवमित्याह—अन्येति । प्रकृतलिङ्गस्य प्रकरणाबाधकत्वे फलितमाह—तस्मादिति । एतेन क्रियेति पदं व्याख्यातम् । कथमक्रियारूपाणामेतेषां क्रियाशेषत्वं, तत्राह—मानसवदिति । द्वादशाहे श्रूयतेऽनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोप्रहं गृह्णामि । तत्र किं मानसं द्वादशाहादहरन्तरं किंवा तन्मध्यपातिनो दशमस्याङ्गमिति संदेहे वाग्वै द्वादशाहो मनो मानसमिति गृह्णातीति । तत्र किं मानसं द्वादशाहादहरन्तरं किंवा तन्मध्यपातिनो दशमस्याङ्गमिति संदेहे वाग्वै द्वादशाहो मनो मानसमिति प्राप्ते मानसस्य त्रयोदशाहत्वे मानाभावाद्द्वादशाहसंज्ञाया गुणवृत्त्या नेतुमशक्यत्वाद्वाङ्गीभेदेनोक्तिभेदस्य स्तुतिस्तुल्यभावस्य मानसमिति प्राप्ते मानसस्य त्रयोदशाहत्वे मानाभावाद्द्वादशाहसंज्ञाया गुणवृत्त्या नेतुमशक्यत्वाद्वाङ्गीभेदेनोक्तिभेदस्य स्तुतिस्तुल्यभावस्य च सिद्धेरहं पत्नीसंयाजान्ततायाश्चोत्सर्गिकत्वादिशेषोक्त्या दशमस्याहो ग्रहणादीनां मानसानां पत्नीसंयाजात्पराङ्गि विरोधे वै दशमस्याहो विसर्गो यन्मानसमिति चोक्तैर्विसर्गस्यान्तस्यान्तवतो धर्मत्वाद्दशमाहरङ्गतावगतेर्दशमेऽहनि मानसाय प्रसर्पन्तीति चापारलोके

शक्यं वक्तुम् । नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तर उप-
कर्तुं शक्नुवन्ति । यत्तु पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः
प्रवर्तत इति तदस्त्वपक्षेऽस्मिन्त्वसामान्येनातिदेशसंभवात्प्रत्युक्तम् । अस्ति हि सांपादिकानाम-
प्यग्नीनामस्मिन्त्वमिति । श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि । एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः
स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम् । प्रह्वान्तरपृथक्त्ववत् । यथा प्रह्वान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि
स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबन्धमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रह्वान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति ।
दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राज्यहत्वाच्च राजसूयस्य ।
तदुक्तं प्रथमे काण्डे—‘कत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्’ (जै० सू० ११।४।७) इति ॥ ५० ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

नातिदेश इति तत्रेत्याह—यत्त्विति । सूत्रे बहुवचनार्थमाह—श्रुत्यादीनि चेति । अनुबन्धातिदेशश्रुतिलिङ्गवाक्येभ्य
इत्यर्थः । एवमिति । अर्थ इति शेषः । मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये क्रियाप्रकरणादुत्कर्षः स्यादित्याह—
दृष्टश्चेति । एकादशे चिन्तितं ‘राजा स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत’ इति प्रकृत्यावेष्टिनाम काचिदिष्टिराम्नाता—‘आग्ने-
योऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा’, ‘बार्हस्पत्यं चरं शितिपृष्ठो दक्षिणा’, ‘ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा’ इति । तस्यां वर्णभेदेन
प्रयोगभेदः श्रूयते—‘यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाभिचारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं चरं मध्ये
निदध्याद्यदि राजन्यस्तदैन्द्रम्’ इति । आग्नेयैन्द्रपुरोडाशयोर्मध्ये बार्हस्पत्यं चरं निधायेत्यर्थः । तत्राग्नेयादिचरस्य अज्ञानं
तन्त्रेण प्रयोगो भवति मध्येनिधानलिङ्गात्प्रयोगभेदे मध्येनिधानायोगादेतयानाथकामं याजयेदित्येकवचनाच्च । स च तन्त्र-
प्रयोगो राजसूयक्रतुवाह्यायामन्नाथकामवर्णत्रयकर्तृकायामेवावेष्टौ ज्ञेयो न तु कत्वन्तर्गतायां । ननु किमत्र नियामकं कत्वर्थया-
मप्यवेष्टौ तन्त्रप्रयोगः किं न स्यादिति चेत् । न । वर्णत्रयसंयुक्तायां काम्यायामेवाङ्गतन्त्रैक्यसाधकस्य मध्ये निधानादि-
लिङ्गस्य सत्त्वादतो लिङ्गैकवचनाभ्यां तन्त्रैक्ये सति हिरण्यादिका मिलितैकैव दक्षिणा देया, अन्यथा प्रयोगैक्यायोगात् ।
राजमात्रकर्तृकत्वन्तर्गतेष्टौ तु वर्णत्रयसंयोगाभावान्मध्ये निधानादिलिङ्गं नास्ति ततश्च तन्त्रैक्यसाधकाभावाद्दक्षिणाभेदेन
तन्त्रभेदः इत्यज्ञानामावृत्तिरेव चरुत्विति सूत्रार्थः । अत्र चैकप्रयोगलिङ्गस्य कत्वर्थेष्टावसंभवं काम्येष्टौ च संभवं वदतामेन

आनन्दगिरीव्याख्या

दादीनां तदभावात्त्रेष्टाचितेन विकल्पः स्यादित्याह—नहीति । अतिदेशस्य पूर्वपक्षानुगुण्यात्कथमादिशब्देन ग्रहणमित्याह—
नुवदति—यत्त्विति । अस्मिन्त्वसामान्येनाप्यतिदेशसिद्धेर्न पारिशेष्यमिति दूषयति—तदिति । अस्मिन्त्वसाम्यसंभवमेव रणुयति—
अस्तीति । बहुवचनं घटयति—श्रुत्यादीनीति । उक्तहेतुफलं निगमयति—एवमिति । दृष्टान्तमवतार्य व्याचष्टे—प्रह्वान्तरेति ।
उक्तदृष्टान्तानुसारानुबन्धाद्युक्तहेतुभ्यो मनश्चिदादीनामपि स्वातन्त्र्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । सूत्रविभागव्याख्यासमाप्ति-
तिशब्दः । मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये क्रियाप्रकरणपाठासिद्धिरित्याह—दृष्टश्चेति । उक्तं हेतुमाह—वर्णेति । तथापि राज-
सूयाहत्त्वयोगादुत्कर्षासिद्धिः, तत्राह—राजेति । राजा स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेतेत्यारभ्याग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा
नाऽवेष्टिनामिष्टिराम्नाता । तत्र यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिचारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं वा
राजन्यस्तदैन्द्रमिति श्रूयते । तत्र किं ब्राह्मणादीनां राजसूये प्राप्तानां निमित्तार्थेन अत्रणमुत तेषामेव यागो विधीयत इति संदे-
हः ब्राह्मणो यजेतेत्याद्याः श्रुतयो निमित्तार्था इति नास्ति प्रकरणादुत्कर्षोऽवेष्टेरिति प्राप्ते ‘गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च’ इति
पाणिनिना गुणवचनेभ्यः शुक्लादिशब्देभ्यो ब्राह्मणादिशब्देभ्यश्च कर्मणि ध्वजप्रत्ययस्मरणान्नाशः कर्म राज्यमिति राजकृत्येणात्र
ज्यमित्यवगमात्कोऽसौ राजसूयपेक्षायामर्थेषु तत्प्रसिद्धभावेऽपि म्लेच्छानां क्षत्रियमात्रे राजशब्दप्रयोगान्म्लेच्छप्रसिद्धा राजशब्दार्थेन
याब्राह्मणादौ च पालनादिकर्तारं राजशब्दस्य गौणत्वात्क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकाराब्राह्मणवैश्ययोस्तत्राप्राप्ते राजसूयप्रकरणं तत्र
ब्राह्मणादिकर्तृकाणि कर्मान्तराणि विधीयन्त इति राजसूयप्रकरणादुत्कर्षोऽवेष्टेरिति द्वितीयं स्थितम् । तत्र यथा क्षत्रियकर्तृके राजसू-
यब्राह्मणादेरनधिकारादवेष्टे राजसूयप्रकरणादुत्कर्षस्तथा मनश्चिदादीनामपि क्रियाप्रकरणादुत्कर्षो लिङ्गादिभिरेति भावः । एकादशे
चिन्तितमेतदित्याह—तदुक्तमिति । राजसूयप्रक्रियायामवेष्टिनामिष्टिराम्नाता आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा बार्हस्पत्यं चरं शिति-
पृष्ठो दक्षिणेति । तत्राग्नेयादिहविःश्वजानां तन्त्रेण प्रयोगः किं वावृत्त्येति संशये पूर्वपक्षसूत्रम् ‘अवेष्टौ त्वेकतन्त्रं स्याद्विद्वदनात्’ इति
बार्हस्पत्यं मध्ये निधायेति लिङ्गोपलम्भात्प्रयोगभेदे च मध्ये निधानायोगादेतयाऽब्राह्मणकाममित्येकवचनाच्चैकतन्त्र्यमवेष्टावेकस्मिन्मन्त्रे
ऽज्ञानां तन्त्रेण भावः सकृदनुष्ठानमिति पूर्वपक्षं कृत्वाऽब्राह्मणकामप्रयोगोऽवेष्टेरिदं लिङ्गदर्शनात् न कत्वर्थप्रयोगे—कत्वर्थ-
भेदाद्भेद इत्यङ्गावृत्तिरेवेति राक्षान्तिते कत्वर्थायामपीष्टाविदं लिङ्गदर्शनात्क्षत्रीयलिङ्गानावृत्तिरित्याह—अन्य-
यामिति चेदिति । काम्यायामिष्टौ ‘यदि ब्राह्मणः’ इत्यादिना वर्णत्रयसंयोगात्तरथा च मध्यनिधानादिसिद्धेर्न राजकर्तृकत्ववत्त्वै-

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते । न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम् । पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः । नहि किञ्चित्कस्यचिक्तेन-
चित्सामान्यं न संभवति । नच तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते । मृत्युवत् । यथा 'स वा एष
एव मृत्युर्य एष पतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३।२।१०) इति चाग्न्यादित्य-
पुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः । यथा च 'असौ वाव लोको गौत-
मास्तिस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५।३।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावा-
पत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

पुरस्तादपि 'अयं वायु लोके एषोऽग्निश्चितः' इत्यसिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्यावि-
धित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते न शुद्धकर्मोद्भिदधित्वम् । तत्र हि—[विद्याया तदारोहन्ति
यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इत्यनेन श्लोकेन केवलं
कर्म निन्दन्विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति । तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्रा-

रत्नप्रभाय्याख्या

सूत्रेण कर्म्येष्टेः कर्तृर्थेतिविलक्षणत्वात्कुत्रप्रकरणदुत्कर्ष इति सूचितम् । स चोत्कर्षो युक्त एव, राजमात्रकर्त्तराजसूचकौ वणत्रयकर्त्तृकैरेरन्तर्भावायोगादिति स्थितं, तथा मनश्चिदादीनामुत्कर्ष इति भावः ॥ ५० ॥ एवं दृष्टान्तं विषययति—
न सामान्यादिति । कर्तृर्थत्वपुरुषार्थत्ववैषम्येऽपि मानसत्त्वसामान्यं न विरुध्यते विषमयोरपि साम्यदर्शनादित्यर्थः ॥ ५१ ॥ किंच पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः स्वतन्त्रविद्याविधानात्तन्मध्यस्थस्यापि ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रविद्याविधिपरत्वमित्याह—
परेण चेति । चित्तेऽग्रे लोकदृष्टिविधानं स्वतन्त्रमुत्तरत्र गम्यते पूर्वत्र मण्डलपुरुषोपासितस्तत्सन्निध्यान्मध्येऽपि मान-

भामतीव्याख्या

नृदशनात्मन्यप्रातिनोऽपि तत्सामान्याद्विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते न कर्माह्वयमित्याह स्वेषेण—**परेण च शब्दस्य तात्पर्यं भूयस्त्वास्वनुबन्धः** । स्फुटमस्य भाष्यम् । अस्ति राजस्यः ‘राजा त्त्वाऽयकामो राजस्येन यजेत’ इति । तं प्रकृत्यामनन्ति अवेष्टि नोमेष्टिम् । आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणेत्येवमादि तां प्रकृत्यापीयते । यदि ब्राह्मणो यजेत हार्दस्य मध्ये निधायानुति हुत्वाभिचारयेयदि वैश्वो वैश्वदेवं यदि राजस्य ऐन्द्रमिति । तत्र संदिश्यते—किं ब्राह्मणादीनां ग्रासानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत ब्राह्मणादीनामयं यागो विशेषत इति । अत्र यदि प्रजापालनकण्टकोद्वेगनादि कर्म राज्यस्य कर्ता राजेति राजशब्दस्यार्थस्ततो राजा राजस्येन यजेतेति राज्यस्य कर्तुं राजस्योऽपेक्षाः । तस्मात्संभवत्यविशेषेण ब्राह्मणश्रवियैवेत्या राज्यस्य कर्तार इति सिद्धं सर्व एवैते राजस्ये प्राप्ता इति ‘यदि ब्राह्मणो यजेत’ इत्येवमादयो निमित्तार्थाः श्रुतयः । अथ तु राज्ञः कर्म राज्यमिति राजकर्तृयोगात्तत्कर्म राज्यं ततः को राजेत्वंप्राप्तयामेतेषु तत्प्रसिद्धेन्द्रब्राह्मणिकमेतत्तत्तत्सामान्यादिशब्दाधीवधारणाय म्लेच्छप्रसिद्धिरिवाध्यानां श्रवियजातौ राजशब्दप्रसिद्धिस्तद्वधारणकारणमिति श्रविय एव राजेति तत्राक्षरवैयर्थ्योः प्राप्तिरिति राजस्यप्रकरणं भित्त्वा ब्राह्मणादिर्कर्तुंकाणि पृथगेव कर्माणि प्राप्यन्त इति न भवित्तिकानि । तत्र किं तादृशं, नैमित्तिकानीते । राज्यस्य कर्ता राजेत्याधीर्णामात्राणां नाविवादः । तथाहि—ब्राह्मणादिषु प्रजापालनकर्तृषु कर्णकण्डोत्तपत्रश्वेतचामरादिलोचनेषु राजपदमात्राश्रयाधीर्णाविवादं प्रयुजाना दृश्यते । तेनाविप्रतिपत्तिप्रतिपत्तावधार्याश्रययोगेणोपयवराहवदार्थप्रसिद्धेऽत्राप्रसिद्धितो बलीयसीत्वात् । बलवदार्थप्रसिद्धिविरोधो त्वतन्मूल्यापः पाणिनीयप्रसिद्धः ‘विरोधो त्वनपेक्ष

भानन्दगिरीयव्याख्या

अनन्दाद्विगोचरव्याख्या ।
 तत्प्राप्तिरतोऽङ्गावृत्तिरित्यर्थः । अत्र चैकप्रयोगत्वलिङ्गस्य ऋत्वर्थेऽथावसंभवं काव्येष्टे च संभवं वदतादेन सृष्टेण काव्येष्टेः ऋत्वर्थ-
 ष्ट्वेवैकप्रयोगसूचनादारेणार्थात्प्रकरणदुल्लेखोऽपि सिध्यतीति क्रियाप्रकरणान्मनश्चिदादीनामुल्लेखं भनत्येतदनुगुणमुदाहरणमिति द्रष्टव्यम्
 ॥ ५० ॥ परोदीरितमुदाहरणं विषट्वयति—नेति । परोक्तमनूष तदुत्तरत्वेन सूत्राश्रयाणि व्याचष्टे—यदिह्यादिना । मानसेन
 प्रयेण सृष्टमनश्चिदादीनां च भावनामयत्वे तुल्ये कथं श्रुत्यादिभिः स्वातन्त्र्यं, तत्राह—नहीति । सत्यं सादृश्यं यथासं-
 पत्त्यमव्यावृत्तचिन्तित्यत्र दृष्टान्तमादाय व्याचष्टे—मृत्युवदिति । नहीत्यादि विभजते—यथाचेति । उक्तदृष्टान्तानुरोधान्मानस-
 ष्वस्य मनश्चिदादीनां च भावनामयत्वाविशेषोऽपि पारतन्त्र्यत्वात्तद्व्यत्यये सिद्धिरित्याह—तत्रद्विती ॥ ५१ ॥ पूर्वोत्तरमाश्रययोर्विशि-
 षाधान्यदर्शनोत्तममध्यापितोऽनोऽस्यापि तत्प्राधान्यनिमित्ताह—परशेषे चेति । संदिग्धस्य निणयो वाच्यश्रेयोपदिन्यायेन सूत्रावयवं
 मातृकुर्वन्वायशेयमनुसंधेचे—परशेषाह । उत्तरमाश्रयस्य विधाप्राधान्ये गमकमाह—तत्रेति । आश्रयस्य विधाप्राधान्यमेतदित्यु-
 क्तम् । उपक्रमतश्चेन्नोपक्रमोऽप्येकस्मिन्वाक्ये अतिवृत्त्यभिप्रायेण चकार व्याकुर्वन्पूर्वमपि आश्रयमनुसंधेचे—तथेति । तस्य

वतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः । इह चेदं चोदनालक्षणेष्वाप्तनेषु विचार्यमाणेष्वामास्तित्वं विचार्यते कृत्वाशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय । अपिच पूर्वसिद्धधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं कोऽसौ पुरुषो यदर्थो एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते । तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम् । आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानि-
खननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयति । अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरि-
कस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराका-
रपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः

रत्नप्रभाव्याख्या

उद्धार उपरमः । अस्याधिकरणस्यासिन्नादे प्रसङ्गसंगतिरित्याह—इह चेति । आसुम्भिकफलोपासनाभिर्नियमप्राप्तेन तदपेक्षितात्मास्तित्वमुच्यते इत्यर्थः । एतत्सिद्धवत्कृत्य "प्रथमसूत्रेऽथशब्देनाधिकारो चिन्तितस्वादिदमधिकरणं सर्वशास्त्रा-
ङ्गमिति शास्त्रसंगतिमाह—कृत्वेति । आक्षेपलक्षणासवान्तरसंगतिमाह—अपिचेति । देहातिरिक्त आत्मास्ति न वेति
नादिविप्रतिपत्तेः संशये पूर्वपक्षमाह—अत्रैक इति । यद्यपि समस्तेषु मिलितेषु भूतेषु चैतन्यं न दृष्टं ततोदकम्भस्य
ज्ञानाभावाच्चस्तेषु तु नास्त्येव तथापि देहात्मकभूतेषु स्यादिति तेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं संभावयन्तो मदशक्तिवद्विज्ञानं
अंघातजं तद्विशिष्टसंघात आत्मेत्याहुरित्यन्वयः । यथा मादकद्रव्येषु ताम्बूलपत्रादिषु प्रत्येकमदृष्टमपि मदशक्तिस्तत्संघाता-

भामतीव्याख्या

शर्पस्यापकर्षः प्रमाणलक्षणोपयोगितया तत्र कृत इति । यत इह सूत्रकृद्व्यत्यत एव भगवतोपवर्षेणोद्धारोऽपकर्षस्य कृतः ।
विचारस्यास्य पूर्वोत्तरतन्त्रशेषत्वमाह—इह चेति । पूर्वाधिकरणसंगतिमाह—अपिचेति । नान्यात्मास्तित्वोपपत्तय एवातो-
व्यस्तां किं तदाक्षेपेणेत्यत आह—आक्षेपपूर्विका हीति । आक्षेपमाह—अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिन इति ।
यद्यपि समस्तव्यस्तेषु पृथिव्यसेजोवायुषु न चैतन्यं दृष्टं तथापि कार्याकारपरिणतेषु भविष्यति । नहि किंशादयः समस्तव्यस्ता
न मदना दृष्टा इति मदिराकारपरिणता न मदयन्ति । अहमिति चानुभवे देह एव गौरवाकारः प्रथमे । न तु तदनिरिक्तः
तदधिष्ठानः कुण्ड इव दधीति । अत एवाहं स्थूलो गच्छामीत्यादिसामानाधिकरण्योपपत्तिरहमः स्थूलादिभिः । न जानु दधि-
समानाधिकरणानि मधुरादीनि कुण्डलैकाधिकरण्यमनुभवन्ति सितं मधुरं कुण्डमिति । न चाप्रत्ययमात्मतत्त्वमनुमानादिभिः
शक्यमुनेषु । न तत्त्वप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति । उक्तं हि—देशकालादिरूपाणां भेदाद्विज्ञासु शक्तिषु । भावानामनुमानं प्रसि-
द्धिरतिदुर्लभा इति । यदा च उपलब्धिसाध्यनान्तर्रीयकभावस्य लिङ्गस्यैव गतिस्तदा केव कया दृष्टव्यमिचारस्य शब्दस्था-
द्विरतिदुर्लभा इति । यदा च उपलब्धिसाध्यनान्तर्रीयकभावस्य लिङ्गस्यैव गतिस्तदा केव कया दृष्टव्यमिचारस्य शब्दस्था-
धीनस्थान्तपरोक्षार्थगोचराया उपपन्नस्य च तत्तत्कदेशसादृश्यविकल्पितस्य । सर्वस्वरूपे तत्त्वात् । एकदेशस्वरूपे चातिप्र-
सङ्गात्सर्वस्य सर्वेणोपमानात् । सौत्रस्तु हेतुर्भाष्यकृता व्याख्यातः । चेष्टा हिताहितप्राप्तिपरिहारायां व्यापारः । स च शरी-
राधीनतया दृश्यमानः शरीरधर्म एवं प्राणः श्वासप्रश्वासादिरूपः शरीरधर्म एव । इच्छाप्रयत्नादयश्च यद्यप्यन्तराः तथापि शरीराति-

आनन्दगिरियव्याख्या

निरूपयति तस्मादेवेति यावत् । आत्मास्तित्वस्यास्मात्पूर्वकाण्डं प्रति नयनमपकर्षतत्त्वोद्धारो निवृत्तिरित्यर्थः । अथात्रापि प्रथ-
मसूत्रेऽथशब्दोपात्तोऽधिकारी चिन्तितस्तत्त्वकथमिह पुनस्तन्निरूपणं, तत्राह—इह चेति । तत्र लोकमिदमादानेनाधिकारी दर्शितो
न तद्विशेषचिन्तितः । प्रकृते तु विप्रमाणकणेषूपानेषु विचार्यमाणेषु विचार्यते विशेषतस्तदस्तित्वेन्यस्ति भेद इत्यर्थः । प्राम-
न्त्रिकीमध्यायपादसंगतिमधिकरणस्योक्त्वा श्रुतिशास्त्रसंगतिं सूचयति—कृत्वेति । सर्वस्वेवप्रायस्य तदर्थविचारात्मकस्य शास्त्रस्य
शेषभूतमधिकरणमतिरिक्तात्माविचारे सर्वस्यास्य दुर्बलत्वादतोऽतिरिक्तस्यात्मनः शेषत्वं दर्शयितुमेष विचार इत्यर्थः । संगतिननुष्ठय-
मेवमुक्त्वा पूर्वोत्तराधिकरणसंगतिमाह—अपिचेति । इतश्चेदमिह संगतमित्यर्थः । अनेन सूत्रेण तत्रोच्यते इत्यादिप्राशङ्गिकव्यावा-
नरसंगतिमाह—तदस्तित्वेति । अतिरिक्तात्मास्तित्वे साध्ये किं तदाक्षेपेणेत्याशङ्क्याह—आक्षेपेति । इत्याक्षेपस्योपपत्तौ नां शेषः ।
मनश्चिदादयोऽप्यत्र यदर्थोऽसौ पुरुषो विषयः स किं देहस्तदतिरिक्तो वेति विप्रतिपत्तेः संशय पूर्वपक्षयति—अत्रेति । पूर्वपक्षे
देहात्मवादसिद्धिः सिद्धान्ते वैदिकतामसिद्धिरिति फलभेदः । परीक्षकव्यवहारभूमिः सतम्यः । स्वनन्त्रमन्यापारं वा चैतन्यमात्रं
वा व्यावर्तते मनुष्योऽहमितिदेहस्याहंप्रत्ययात्मन्वनवदतिरिक्तात्मसत्त्वे मानानां गृहीतवाह—वेहेति । चैतन्यापारस्यात्मत्वाद्गौ-
तिकावेनाचैतन्यस्य कथमात्मत्वमित्याशङ्क्याह—समस्तोति । एकैकसिद्धविषयमानं कथं संघाते स्यात्, तत्राह—तन्मय इति । चैतन्यं
संभावयन्त इति संवत्थः । संघातविशेषं कार्यविशेषसत्त्वे दृष्टान्तमाह—मदेति । यथैकैकस्यात्माभूतादेरदृष्टादपि मदशक्तिः संघाते
इत्यनेन तेषां शानभैकैकसिद्धदृष्टमपि देहाकारपरिणतभूतेषु संघतेषु भवतीति चाहुतिरिति योजना । देहस्यैव भूतकृते यत्तदेतदपि भोग-
स्यादित्याशङ्क्याह—चैतन्येति । असिन्निधानादयः १० लौक्यमिवात्मसंनिधेर्देहचैतन्यमित्यतिरिक्तस्यात्मनः स्वगोपयन्निबन्धिनो-

पुरुष इति चाहुः । न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्मास्ति यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात् । देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते । हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति । यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावीष्यप्रकाशौ । प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां तेष्वप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति । तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वाच्च तूपलब्धिञ्चत् ॥ ५४ ॥

न त्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति । व्यतिरेक एवास्य देहाद्भवितुमर्हति । तद्भावाभावित्वात् । यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत ततो देहभावेऽप्य-

रत्नप्रभाष्याख्या

ज्जायते तद्वदित्यर्थः । ननु देहः स्वयं न चेतनः घटवद्भौतिकत्वात् किंतु चेतनः कश्चित्स्वर्गादिभोक्ताऽस्ति तस्मांनिध्यादेहस्य चैतन्यविभ्रम इत्यत आह—**न स्वर्गेति** ॥ ५३ ॥ मनुष्योऽहं जानामीति देहस्य ज्ञातृतायाः प्रत्यक्षत्वादात्मधर्मत्वेन प्रसिद्धानां धर्माणां देहान्वयव्यतिरेकानुभवात्तदव्यात्मनि प्रत्यक्षाभावादप्रत्यक्षस्याप्रामाणिकत्वाद्देह एवात्मेति प्राप्ते सूत्रस्थ-
नवितिपदेन सिद्धान्तं प्रतिजानीते—**नत्वेतदिति** । अनुमानस्य तावत्प्रामाण्यमनिच्छताप्यास्त्येयमन्यथा व्यवहारसिद्धेः । न ह्यनगतपाकादाविष्टसाधनतानुमितिं विना प्रवृत्तिः संभवति । तथाच ज्ञानादयो देहव्यतिरिक्ताश्रयाः देहसत्त्वेऽप्यसत्त्वा-
व्यतिरेकेण देहरूपादिवदित्याह—**व्यतिरेक एवास्येति** । नचादौ इयामदेहस्य पश्चाद्रूपान्तरे व्यभिचारः, गुणत्वसाक्षा-
द्व्याप्यजाल्यवच्छेदेन असत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । देहेऽवस्थिते सदा रूपत्वावच्छिन्नमस्त्येव । ज्ञानत्वावच्छिन्नं तु नास्तीति

आमतीष्याख्या

रित्तस्य तदाश्रयानुपलब्धेः सति शरीरे भावात् अन्तःशरीराश्रया एव, अन्यथा दृष्टहानादृष्टकल्पनाप्रसङ्गात् । शरीरातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावाच्छरीरे च संभवाच्छरीरमेवेच्छादिमदात्मेति प्राप्त उच्यते—॥ ५३ ॥ **व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वाच्च तूपलब्धिञ्चत्** । नाप्रत्यक्षं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रष्टव्यो जायते कुतो भवाननुमानादीनामप्रामाण्यमवधारितवानिति । प्रत्यक्षं हि लिङ्गादिरूपमात्रग्राहि नाप्रामाण्यमेषां विनिश्चेतुमर्हति । नहि धूमज्ञानमिवैषामिन्द्रियार्थसन्निकषोदप्रामाण्यज्ञानमुदेतुमर्हति । किंतु देशकालावस्थारूपभेदेन व्यभिचारोपेक्षया । न चैतावान्प्रत्यक्षस्य व्यापारः संभवति । यथाहुः—**नहीदमित्यतो व्यापारकर्तुं समर्थं** संनिहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वादिति । तस्मादस्मिन्ननिच्छतापि प्रमाणान्तरमभ्युपेयम् । अपिच प्रतिपन्नं पुनस्तम्प-
हायाप्रतिपन्नसंदिग्धाः प्रेक्षावद्भिः प्रतिपाद्यन्ते । न चैषामित्थंभावो भवत्प्रत्यक्षगोचरः । न स्वत्वेते गौरत्वादिवत्प्रत्यक्षगोचरः किंतु वचनचेष्टादिलिङ्गानुमेयाः । नच लिङ्गं प्रमाणं यत एते सिध्यन्ति । न पुंसामित्थंभावमविज्ञाय यं कंचन पुरुषं प्रतिपिपाद-
मिषतोऽनवधेयवचनस्य प्रेक्षावत्ता नाम । अपिच पशवोऽपि हिताहितप्राप्तिपरिहारायैव कोमलशप्यश्यामलायां भुवि प्रवर्तन्ते । परिहरन्ति चाश्यानतृणकण्टकाकीर्णम् । नास्तिकस्तु पशोरपि पशुरिष्टानिष्टसाधनमविद्वान् । न स्वत्वस्मिन्ननुमानगोचर-प्रवृत्तिमि-
वृत्तिगोचरे प्रत्यक्षं प्रभवति । नच परप्रत्यायनाय शब्दं प्रयुज्जीत शब्दस्यार्थस्याप्रत्यक्षत्वात् । तदेव मा नाम भूलास्तिकस्य जन्मान्तरस्मिन्नेव जन्मन्युपस्थितोऽस्य मूकत्वप्रवृत्तिनिवृत्तिविरह रूपो महाचरकः । पराकान्तं चात्र सूरभिः । अत्यन्तपरोक्षगोचरा-
प्यन्यथानुपपद्यमानार्थप्रभवार्थापत्तिः । भूयःसामान्ययोगेन चोपमानमुपपादितं प्रमाणलक्षणे । तदन्वास्तु तावत्प्रमाणान्तरं प्रत्यक्ष-
मेवाहंप्रत्ययः शरीरातिरिक्तमालम्ब्यत इत्यन्यव्यतिरेकाभ्यामवधार्यते । योगव्यापवत्स्वप्रदशयां च शरीरान्तरपरिग्रहमिमानेऽप्य-
हंकारास्पदस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वमित्युक्तम् । सूत्रयोजना तु न त्वव्यतिरिक्तः किंतु व्यतिरिक्त आत्मा देहात् । कुतस्तद्भावा-

आनन्दगिरियध्याख्या

ऽभावाच्च देहस्य चैतन्यवैशिष्ट्यमित्याशङ्क्याह—**नेत्यादिना** । आत्मा तर्हि कः स्यादित्यपेक्षायामाह—**देहेति** । सूत्रभागेन प्रति-
ज्ञातेऽर्थे हेतुमवतार्य व्याचष्टे—**यद्वीति** । अन्यव्यतिरेकाभ्यां चैतन्यस्य देहधर्मतैवेति नातिरिक्तात्मसिद्धिरित्यर्थः । प्राणचेष्टादय-
साश्रयाः, कार्यत्वात्समतत्वात्, इत्यनुमानात्प्राणाद्याश्रयस्यातिरिक्तात्मनः सिद्धिरित्याशङ्क्यानुमानाप्रामाण्यात्प्राण्येऽपि सिद्धत्वात्त्वान्नैक-
मित्याह—**प्राणेति** । चेष्टा हिताहितप्राप्तिपरिहारायैव व्यापारः । आदिपदेनेच्छादेष्टादय उक्ताः । तेषां देहधर्मत्वेनादृष्टानां ब-
तद्धर्मत्वेत्याशङ्क्याह—**असिद्ध इति** । प्रत्यक्षेणातिरिक्तात्मनोऽदृष्टेर्मानान्तरे चासंमतेगौरोऽहं स्थूलोऽहमिति च देहस्यैवात्मत्वनायक-
त्वात्तदाधारत्वमेव प्राणादीनामित्यर्थः । देहात्मवादी प्रत्यक्षकलमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ५३ ॥ सिद्धान्तसूत्रमवतारयति—
एवमिति । तत्र न त्विति पूर्वपक्षनिषेधप्रतिज्ञां विभजते—**न रिवति** । उत्तरपक्षप्रतिज्ञां व्याकरोति—**व्यतिरेकेति** । त-
हेतुमवतार्य व्याचष्टे—**तदिति** । देहभावेऽपि प्राणादीनामभावो मृतावस्थायामास्येयः । चैतन्यादयो न देहस्य विशेषगुण-
त्वाभावित्वात् । ये तद्विशेषगुणास्ते न तद्भावाभाविनो यथा रूपादय इत्याह—**देहेति** । नेलक्षण्यं स्पष्टयन्नुद्घातस्य सप्त-

त्मानं दहति । नहि नष्टः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति । नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन् । नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं वा विषयीक्रियते । विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च यथैवास्या भूतभौतिक-विषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यत एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । उपलब्धिस्वरूप एव चन आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम् । नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात् । अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् । स्मृत्याद्युपपत्तेश्च । यत्तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् । अपिच सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यस्तसु न भवति । न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति । एवं सति देह उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति । उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिदेहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं देहस्योपलब्ध्यावुपयोगोऽपि

रत्नप्रभाष्याख्या*

मित्यादिना । देहात्मकभूतानां चैतन्यं प्रति विषयत्वात्कर्तृकर्मविरोधेन विषयस्य कर्तृत्वायोगात् भूतकर्तृकत्वं चैतन्यस्येत्यर्थः । किंच ज्ञानस्य भूतधर्मत्वे रूपादिवज्जापत्तेर्न तद्धर्मत्वमित्याह—**नहीति** । फलितं सूत्रपदार्थमाह—**अतश्चेति** । या देहातिरिक्ता सद्रूपोपलब्धिः स एवात्मा चेदनित्यः स्यादुपलब्धेरनित्यत्वादित्यत आह—**नित्यत्वं चेति** । षटः स्फुरति षटः स्फुरतीति सर्वत्र स्फूर्तेरभेदान्नित्यत्वं विषयोपरागनाशे तु नाशभ्रम इत्यर्थः । एवमात्मा देहाद्विभ्र उपलब्धिरूपत्वाद् उपलब्धिवदित्युक्तम्, किंच जाग्रत्स्वप्नयोर्देहभेदेऽप्यात्मैकत्वप्रत्यभिज्ञानादात्मभेदे चान्यानुभूतेऽन्यस्य स्मृतीच्छानुपपत्तेः स्वप्नस्मृत्यादिमानात्मा देहाद्विभ्र इत्याह—**अहमिति** । निरस्तमप्यधिकाभिधित्तयानुवदति—**यत्तूक्तमिति** । उपलब्धेर्देहान्वयव्यतिरेको न देहधर्मत्वसाधकौ तन्निमित्तत्वेनान्यथासिद्धेरित्यधिकमाह—**अपिचेति** । उपलब्धिमात्रे देहस्य निमित्तत्वमप्यसिद्धमित्याह—**न चात्यन्तमिति** । स्वप्नोपलब्धिर्न देहजन्या, देहव्यापारं विनापि भावादृक्भवत् । अत एव तन्भावेऽपि स्वप्नप्रयोगिनां भोगं सूत्रकृद्वक्ष्यति । जाग्रदुपलब्धेर्देहजत्वमस्तीत्यत्यन्तमित्युक्तम् । तस्मादुक्तानुमानानुगृहीतान्मम शरीर-

भामतीव्याख्या

पित्वं भवित्यतीति वाच्यम् । स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न चोपलब्ध्यावेष प्रसङ्गस्तस्या अजडायाः स्वयंप्रकाशत्वाभ्युपगमात् । कृतोपपादनं चैतपुरस्तात् । उपलब्धिवदिति सूत्रावयवं योजयति—**यथैवास्या इति** । उपलब्धिग्राहिण एव प्रमाणच्छरीरव्यतिरेकोऽप्यवगम्यते । तस्यास्ततः स्वयंप्रकाशप्रत्ययेन भूतधर्मेभ्यो जडेभ्यो वैलक्षण्येन व्यतिरेकनिश्चयात् । अस्तु तर्हि व्यतिरेकादुपलब्धिर्भूतेभ्यः स्वतन्त्रा तथाप्यात्मनि प्रमाणाभाव इत्यत आह—**उपलब्धिस्वरूप एव चन आत्मेति** । आजानतस्तावदुपलब्धिभेदो नानुभूयत इति विषयभेदादभ्युपेयः । न चोपलब्धिव्यतिरेकिणां विषयाणां प्रथा संभवतीत्युपापदितम् । नच विषयभेदग्राहि प्रमाणमस्तीति चोपपादितं ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामस्माभिः । एवं च सति विषयरूपतद्देवैव सुदुर्लभाविति दूरनिरस्ता विषयभेदादुपलब्धिभेदसंकथा । तेनोपलब्धेरुपलब्धत्वमपि न तात्त्विकम् । किंच विद्याकल्पितम् । तत्र विद्यादशायामप्युपलब्धेरभेद इत्याह—**अहमिदमद्राक्षमिति चेति** । न केवलं तात्त्विकाभेदाभिल्यत्वमतात्त्विकादपि नित्यत्वमेवेति तस्यार्थः । **स्मृत्याद्युपपत्तेश्च** । नानात्वे हि नान्येनोपलब्धेऽन्यस्य पुरुषस्य स्मृतिरुपपद्यत इत्यर्थः । निराकृतमप्यर्थ निराकरणान्तरायावभाषते—**यत्तूक्तमिति** । यो हि देहव्यापारादुपलब्धिरुपपद्यते तेन देहधर्म इति मन्यते तं प्रतीते

आनन्दगिरियव्याख्या

स्वात्मानं छिनत्तीतिवदेकत्र विषयविषयित्वायोगादिति हेत्वर्थः । किंच यो यस्य धर्मः स न तत्साधको यथा रूपादिः । तथाचैतन्यस्य भूतभौतिकसाधकत्वादेव तदतिरेकसिद्धिरित्याह—**नहीति** । रूपादिदृष्टान्तं स्पष्टयति—**नहीति** । तर्हि चैतन्यसाधि साधकत्वं मा भूत्, तत्राह—**विषयीति** । सूत्रावयवं फलितपरत्वेन योजयति—**अतश्चेति** । भवतु तर्हि भूतेभ्योऽतिरिक्तस्वतन्त्रोपलब्धिस्तथापि कथमात्मसिद्धिः, तत्राह—**उपलब्धीति** । क्षणिकत्वात्तस्या नित्यात्मरूपत्वमयुक्तमित्याशङ्क्याजानतस्तद्भेदभावाद्विषयोपरागात्तद्भेदानादसावेवानिलो नोपलब्धिरित्याह—**नित्यत्वं चेति** । किंच स्थूलदेहाभिमानहीनस्य स्वप्ने प्रत्यभिज्ञानादतिरिक्तमसिद्धिरित्याह—**अहमिति** । स्वप्नेऽपि स्थूलदेहान्तरस्थेनोपलब्धत्वं नित्यात्मरूपत्वात्—**स्मृत्यादीति** । उपलब्धत्वेनोभेदे सत्यन्योपलब्धेऽन्यस्य स्मृतिरिच्छादयश्च नेति न तयोदन्येत्यर्थः । दूषितमपि दोषान्तरं वक्तुमनुभाषते—**यत्ति** । तद्भावाभावित्वव्याख्यानेन प्रत्याख्यातमेतदित्युक्तं स्मारयति—**तदिति** । अधिकं दोषं दर्शयति—**अपिचेति** । अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ बाध्यौ देहस्य च चैतन्यान्वयव्यतिरेकावधिष्ठानविषयतयाऽन्यथासिद्धाविति स्पष्टान्तं साधयति—**सत्त्विति** । उपकरणत्वमपि देहस्योपलब्धौ न सिध्यतीत्याह—**नचेति** । उपलब्धिर्न देहजन्या तस्मिन्नप्यभिप्रायमाणेऽपि सत्त्वादर्थान्तरवत् । ज्ञाने तु व्यञ्जकजनकतया कथंचिदुपयोगमस्तीकृत्यात्यन्तमित्युक्तम् । स्वप्ने द्रष्टव्यं पञ्चमीत्याषाढाभिताप्यक्षस्य स्थूलदेहाकारोन्नत

दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन् देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्म-
नोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखास्तु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥



उक्थादिषीः स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत् ॥ संनिध्यात्स्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥
उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते ॥ श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥ २ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा संप्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तमाने—‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’
(छा० १।१।१) ‘लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत’ (छा० २।२।१) ‘उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति
तदिदमेवोक्थम्’ ‘इयमेव पृथिवी’, ‘अयं वाव लोकः एषोऽग्निश्चितः’ इत्येवमाद्या य उद्गी-
थादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु
भवेयुरथवा सर्वशाखागतोऽपि विशयः । प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानु-
पादायामुपन्यासः । किं तावत्प्राप्तम् । स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्ति । कुतः—
संनिधानात् । ‘उद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां

रत्नप्रभाख्या

मिति भेदानुभावादहं मनुष्य इत्यभेदज्ञानं भ्रम इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ५४ ॥ अङ्गावबद्धाः । उद्गीथावयवोद्गारे
प्राणदृष्टिः, ‘पृथिवी हिकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो यौनिधनम्’ इति हिकारादिपञ्चविधे तांश्च पृथि-
व्यादिलोकदृष्टिः, उक्थाख्यशस्त्रे पृथिवीदृष्टिः, इष्टकाचिताम्री लोकदृष्टिरित्येवं कर्माङ्गाश्रितोपास्तयः सन्ति, तासुद्गीथादिसाधार-
णश्रुत्या विशेषसंनिधिना च संशयः । ननुद्गीथादीनां सर्वशाखास्वेकत्वादुपास्तयः सर्वत्रेति वेश्यक्याभिधये कथं संशय
इत्यत आह—प्रतिशाखं चेति । यथा देहात्मनोर्भेदादात्मधर्मा देहे न संभवन्ति तथा प्रतिवेदमुद्गीथादीनां भिन्नत्वादे-
रस्मिन्वेदे विहितोद्गीथाद्युपास्तयो वेदान्तरस्थोद्गीथादिषु न संभवन्तीति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—स्वशाखेति । उद्गी-
थमुपासीतेति विधिवाक्यस्थोद्गीथत्वसामान्यस्य व्यक्त्यपेक्षत्वात्स्वशाखासंनिहितव्यक्तिप्रह इत्यर्थः । सामान्यभुतेः संनि-

भामतीख्या

सामान्यं—न चात्यन्तं देहस्येति । प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादनवद्यमिति ॥ ५४ ॥ अङ्गावबद्धास्तु न
शाखास्तु हि प्रतिवेदम् । स्वरादिभेदात्प्रतिवेदमुद्गीथादयो भिद्यन्ते । तदुक्तवद्वास्तु प्रत्ययाः प्रतिशाखं विहिता भेदेन ।
अत्र संशयः—किं यस्मिन्वेदे यदुद्गीथादयो विहितास्तेषामेव तद्वेदविहिताः प्रत्यया उपास्तयेदविहितानामप्युद्गीथादीनां ते प्रत्यया
इति । किं तावत्प्राप्तम् । ‘ओमित्यक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्युद्गीथश्रवणेनोद्गीथसामान्यमवगम्यते । निर्विशेषस्य च तस्यानुपपत्तेर्वि-
शेषाकाङ्क्षायां स्वशाखाविहितस्य विशेषस्य संनिधानान्तेनेवाकाङ्क्षाविनिवृत्तेन शाखान्तरीयमुद्गीथान्तरमपेक्षते । न चैवं संनिधानेन
श्रुतिपीडा, यदि हि श्रुतिसमर्पितमर्थमपवाधेत ततः श्रुतिं पीडयेच्च चेत्तदस्ति । ननुद्गीथश्रुत्यभिहितवृत्तिर्ना सामान्यविशेषौ

आनन्दगिरियव्याख्या

श्रुतिरिक्तामविषयत्वाच्च देहात्मवादसिद्धिरिति भावः । अनुमानावपामाण्यं तु प्रतिज्ञामात्रमिति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति
॥ ५४ ॥ देहभावे भवतश्चेत्तस्य तद्भावेऽप्यभाववदुद्गीथादिभावे भवत उपासनस्य तद्भावेऽप्यभावमाशङ्क्याह—अङ्गेति । अत्रान्तरसं-
तिमाह—समासेति । उद्गीथावबद्धाश्रितोपासनानि विषय इति तत्तद्वाक्योक्त्या दर्शयति—ओमित्येतदिति । इदं वाच्यं व्यासश्रेय-
दधिकरणं व्याख्यातम् । लोकेषु पृथिव्यादिषु लोकशब्दो लोकांशेषु लाक्षणिकः । पृथिव्यादिदृष्ट्या पञ्चविधं सामोपासीत्यर्थः ।
पृथिवी हिकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो यौनिधनम्’ इति । उक्थं कर्माङ्गं शस्त्रमिति शीघ्रया यत्प्रजा वदन्ति तदि-
मेव येयं पृथिवीत्युक्ते पृथिवीदृष्टिविधिः । चित्तोऽग्निः कर्माङ्गभूतस्तत्रायंल्लेख्य इति दृष्टिरित्यर्थः । उद्गीथादिप्रत्ययानुपास्तयः प्रकरणानु-
पादिशब्दसाधारण्याच्च संशयमाह—त इति । उद्गीथादीनां सर्वशाखास्वेकत्वात्तदुपास्तित्वव्याशङ्क्याभावादनारभ्यमिदमधिकरणमित्याश-
याह—प्रतीति । नोद्गीथादिस्वरभेदादध्ययनधर्मेभेदाद्दोद्गीथादेरपि भेदमङ्गीकृत्य विद्याविना इत्यर्थः । अत्र हि श्रौतं न सामा-
न्यं प्राकृतिकस्य विशेषनियमस्य बाधात्सर्वशाखासंनिहितप्रधानकर्माङ्गत्वेन प्रयुक्तसर्वोद्गीथादिर्विशेषेण तदालम्बनोपासीतानुपसंशा-
स्या सर्वशाखाभिरनुष्ठेयत्वोक्तैर्वाक्यार्थधीतोरेव चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षेऽनुष्ठानव्यवसायसिद्धिः सिद्धान्ते न दृश्यवत्त्वेना-
प्य पूर्वपक्षश्रुतिर्विच्छिद्यति—किमिति । यथा देहात्मनोर्भेदादात्मधर्मा देहे न भवन्त्येवमेकशाखागतोद्गीथधर्माणां भिन्नशाखोद्गीथादौ
प्राप्तिरिति पूर्वपक्षमाह—स्वशाखेति । विद्याचित एतेष्वेवश्रुत्या मनश्चिदादीनां क्रियाप्रकरणभेदेन पुरुषार्थैकवदिहाऽप्युद्गीथादिश्रु-
त्यवस्थातया प्रकरणभेदात्तस्यामुपासीतां व्यवस्थेत्याह—कुत इति । उद्गीथादिसामान्यभुतेः प्रकरणोपनीतविशेषाकाङ्क्षेनेवाभा-
वात्तदुपास्तित्वव्यवस्था युक्तेति मत्वाह—संनिधानादिति । प्रकरणं विवृणोति—उद्गीथमिति । उद्गीथोक्तचिदादीनां प्रत्ययान्-

संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः । तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति । तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति । एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन् । अपि तु सर्वशाखास्ववर्तेरन् । कुतः—उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात् । स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात् । न चैतद्व्याप्यम् । संनिधानान्तु श्रुतिर्बलीयसी । नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते । तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः । कथमन्यशाखागतेष्वुद्गीथादिवन्व्यशाखाविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति । मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः । तथाहि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । येषामपि हि शाखिनां कुटुरसीत्यश्मादानमन्त्रो ना-

रत्नप्रभाष्याख्या

हितव्यक्तिग्रहाख्यसंकोचस्तत्र कर्तव्यो यत्र व्यक्तिमात्रग्रहो नोपपद्यते, यथा शुक्रां गामानयेत्यत्र गोभूतेः संनिहितश्रुत्यक्तिपरतया संकोचः, अत्र चानुपपत्त्यभावाद्यक्तिमात्रसंबन्धसामान्यमुपास्यमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥ ५५ ॥ पूर्वं शाखान्तरविहितोपास्तीनां शाखान्तरस्थाङ्गसंबन्धे यः प्रतीतो विरोधस्तमङ्गीकृत्य संबन्ध उक्तः संग्रति विरोध एव नास्ति, शाखान्तरविहिताङ्गानां शाखान्तरस्थाङ्गसंबन्धवदुक्तसंबन्धोपपत्तेरित्याह—अथवेत्यादिना । यदुर्वेदिनां कुक्कुटोऽसीति मन्त्रोऽस्ति कुटुरसीति नास्ति तथापि तण्डुलपेषणार्थाश्मादाने मन्त्रद्वयस्य विकल्पेन विनियोगात्सोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः । सूत्रस्थादिपदोपात्तकर्मणामुदाहरणमाह—येषामिति । मैत्रायणीयानामित्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोरैक्यादन्वः पञ्च तद्वत्पञ्चसंख्याकाः प्रयाजाः समानत्र तुल्यकर्मस्थले होतव्या इति पञ्चत्वगुणविधानाद्गुणिनः शाखान्तरविहिताः

भामतीव्याख्या

बाधितौ स्वशाखागतयोः स्वीकरणाच्छाखान्तरीयास्वीकारेऽपि । यथाहुः—‘जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं तु श्रुतलक्षिते । कृष्णादि यदि मुञ्चामः का श्रुतिस्तत्र पीड्यते’ ॥ एवं प्राप्तम् । एवं प्राप्त उच्यते—उद्गीथाङ्गावबद्धास्तु प्रत्यया नानाशाखासु प्रतिवेदमनुवर्तेरन् प्रतिशाखं व्यवतिष्ठेरन् । उद्गीथमित्यादिसामान्यश्रुतेरविशेषात् । एतदुक्तं भवति—युक्तं शुक्रं पटमानयेत्यादौ पटश्रुतिविशेषप्रवृत्तामपि संनिधानाच्छ्रुतिर्बाधत इति । विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तत्वात्पदानां समभिध्याहारस्य । अन्यथा तदनुपपत्तेः । नच स्वार्थमस्मादयित्वा विशिष्टार्थप्रत्यायनं पदानामिति विशिष्टार्थप्रयुक्तं स्वार्थस्मरणं न स्वप्रयोजकमपवाधितुमुत्सहते । मा च बाधिप्रयोजकाभावेन स्वार्थस्मरणमपीति युक्तमविशेषप्रवृत्ताया अपि श्रुतेरेकस्मिन्नेव विशेषे अवस्थापनम् । इह तूद्गीथश्रुतेरविशेषविशिष्टार्थप्रत्यायकत्वात् । संकोचे प्रमाणं किञ्चिन्नास्ति । नच संनिधिमन्त्रमपवाधितुमर्हति । श्रुतिसामान्यद्वारेण च सर्वविशेषगमित्याः श्रुतेरेकस्मिन्वस्थानं पीडैव । तस्मात्सर्वोद्गीथविषयाः प्रत्यया इति ॥ ५५ ॥ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः । विरुद्धमिति नः

आनन्दगिरियव्याख्या

स्वनानां वेदत्रयोक्तप्रधानकर्मस्वङ्गत्वेन प्रयुक्तानां प्रतिशाखं स्वरादिभेदेन भेदादुद्गीथादिश्रुतिभिः प्रत्ययालम्बनानामुद्गीथादीनां सामान्येनोपात्तानां विशेषाकाङ्क्षायां तत्तच्छाखास्वप्रधानकर्माङ्गत्वेन प्रयुक्तोद्गीथादिविशेषेष्वुद्गीथमुपासीतेत्यादिप्रत्ययाः प्रकरणाभिव्यक्त्यर्थः । प्रकरणाद्यवस्थायां यच्छाखास्व यदुपासनं तत्तच्छाखिभिरेवानुष्ठेयमित्युपसंहरति—तस्मादिति । पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तयति—एवमिति । सूत्राक्षराणि योजयति—तुशब्द इति । हिशब्दोपात्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकमाह—कुत इति । सामान्यप्रवृत्तेश्चेति विशेषाकाङ्क्षायां प्रकरणाद्विशेषनियमो युक्तः । प्रकृते तूद्गीथादिसामान्येषूपपास्तिसंभवेन विशेषाकाङ्क्षाभावे श्रौतसामान्येन प्रकरणविशेषनियमबाधत्वात्स्वशाखास्वप्रधानकर्माङ्गत्वेन विनियुक्तोद्गीथादिविशेषेषु तदालम्बनधियामुपसंहारः स्यादिति हेतुं विवृणोति—स्वेति । प्रकरणेन विशेषार्थं सामान्यश्रुत्यबाधेऽपि संकोचे मानाभावात्सामान्यद्वारा सर्वविशेषगमिश्रुतेरेकस्मिन्विशेषे नियमनं पीड्येति मत्वोक्तम्—पीडितेति । स्वल्पे श्रुत्या प्रकरणबाधवन्मत्वक्षेऽपि तेन श्रुतिर्बाध्यतामविशेषोदित्याशङ्क्याह—संनिधानमिति । सामान्यस्योपास्यत्वायोगाद्विशेषाकाङ्क्षायां तदर्थकं प्रकरणं कथं श्रुत्या बाध्यमित्याशङ्क्याह—नवेति । तथापि प्रतिषेधं ददति । सामान्यस्योपास्यत्वायोगाद्विशेषाकाङ्क्षायां तदर्थकं प्रकरणं कथं श्रुत्या बाध्यमित्याशङ्क्याह—नवेति । तथापि प्रतिषेधं ददति । वाशब्दार्थं कथयति—अथवेत्यादिना । हेतुमत्ताथार्थस्यार्थमाह—मन्त्रेति । तत्र मन्त्रोदाहरणं दर्शयति—येषामिति । तण्डुलपेषणार्थं कुटुरसीत्यश्मादानमन्त्रो येषां शाखिनां नास्नातः कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इत्यमेव मन्त्रः समाह्वानो तथापि तेषां प्रयोगसूत्रेण विनियोगे सोऽपि मन्त्रो वृश्यते तेन शाखान्तरोत्पन्नस्य मन्त्रस्य शाखान्तरे संग्रहोऽस्तीत्यर्थः । क-

ज्ञातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमावृत्ते कुट्टरसीति वेति । येषामपि समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिरास्त्रायते—‘ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः’ इति । तथा येषामपि ‘अजोऽग्नीषोमीयः’ इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति तेषामपि तद्विशयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—‘छागस्य वपाया मेदसोऽनुबृहि’ इति । तथा वेदान्तरोत्पन्ना-नामपि ‘अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्’ इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः । तथा बहुचपठितस्य सूक्तस्य ‘यो जात एव प्रथमो मनस्वान्’ (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य ‘अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्’ इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः । तस्माद्यथाश्रयाणां कर्मोद्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

भूम्नः ऋतुवज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥



ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा ॥ अंशोपास्तिकलयोरुक्तेरस्यशेषीरपि ॥ १ ॥

उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् ॥ अंशोपास्तिकले स्तुलैः प्रत्येकोपास्तिकनिवृत्तान् ॥ २ ॥

‘प्राचीनशाल औपमन्यवः’ (छा० ५।११।१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते । व्यस्तोपासनं तावत् ‘औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से’ (छा० ५।१२।१) इत्यादि । तथा समस्तोपासनमपि ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुते-

रत्नप्रभाव्याख्या

संबन्धन्त इति भावः । गुणमुदाहरति—**तथा येषामिति** । यजुर्वेदिनामग्नीषोमीयः पशुः धृतो नाज इति जातिविशेषस्तथापि प्रैषमन्त्रलिङ्गाज्जातिविशेषसंग्रह इत्यर्थः । मन्त्राणामुदाहरणान्तरमाह—**तथेति** । सामवेदस्थानां यजुर्वेदे परिग्रह इत्यर्थः । तथेति ‘स जनारा इन्द्र’ इत्यनेनोपलक्षितं सूक्तं सजनीयं तस्य याजुषाध्वर्युकर्तृकप्रयोगे शंसनं दृष्टमित्यर्थः । यो जातो बाल एव प्रथमो गुणैः श्रेष्ठो मनस्वान्विवेकवान्स इन्द्र एवंविधो हे जनानो जना इति धृत्यर्थः ॥ ५६ ॥ **भूम्नः ऋतुवत्** । गुणोकादिषु प्रत्येकं वैश्वानरत्वोपास्तिसर्व्योपास्तिसद्वयव्युपास्तिः समस्तोपास्तिरिति भेदः ।

भामतीव्याख्या

संग्रहयो यत्प्रमाणेन नोपलभ्यते । उपलब्धं च मन्त्रादिषु शास्त्रान्तरीयेषु शास्त्रान्तरीयकर्मसंबन्धिवत् । तद्वदिहापीति दर्शनादविरोधः । एतच्च दर्शितं भाष्येण सुगमेनेति ॥ ५६ ॥ **भूम्नः ऋतुवज्यायस्त्वं तथाच दर्शयति** । वैश्वानरविद्यायां छान्दोग्ये किं व्यस्तोपासनं समस्तोपासनं च उत समस्तोपासनमेवेति । तत्र दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचेति प्रत्येकमुपासनश्रुतेः प्रत्येकं च फलवत्त्वान्नातस्तमस्तोपासने च फलवत्त्वश्रुतेरुक्तमयथाप्युपासनम् । नच यथा वैश्वानरीयेष्टा यदष्टाकपालो भवतीत्यादीनामव-

आनन्दगिरीयव्याख्या

णामुदाहरणमाह—**येषामपिति** । भैत्राणीयानां समिधो यजति तनूनपातं यजतीडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजतीति समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तथापि तेषु संख्यादिगुणविधिरास्त्रायते । द्वादश मासाः पथर्व इत्यत्र हेमन्तशिशिरयोरेकीकरणेन पथर्वः प्रसिद्धः । तथा चतुर्वत्सपथसंख्याकाः प्रयाजाः समानत्र समानदेशे होतव्या इति यावत् । तत्र शास्त्रान्तरोत्पन्नकर्मणां शास्त्रान्तरोत्पन्नो दृष्टोऽन्यथा तत्र गुणविध्ययोगादित्यर्थः । गुणोदाहरणमाह—**तथेति** । ‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेन’ इति यजुर्वेदिनामग्नीषोमीयः पशुरास्त्रायते नाज इति जातिविशेषस्तेन विशेषाश्रवणाद्यः कश्चित्पशुरालम्बनीय इति प्राप्ते ‘छागो वा मन्त्रवर्णात्’ इति मन्त्रेण च्छागान् प्रैषमन्त्रलिङ्गादुपसंग्रहो दृष्ट इत्यर्थः । मन्त्राणामुदाहरणान्तरमाह—**तथेति** । वेदान्तरशब्दाभ्यामुदाहरणव्युत्पन्नोपलक्ष्ये । तथैवोदाहरणान्तरमाह—**तथेति** । यो जातो बाल एव प्रथमो गुणैः श्रेष्ठो मनस्वान्विवेकवान् जनान्स इन्द्र इति शेषः । जनानो जनास्तो संबोध्यन्ते स इन्द्र एवंविध इति यावत् । अध्वर्यवे तत्कर्तृकप्रयोगार्थं सजनीयं ‘स जनानः’ इत्येतेनोपलक्षितं सूक्तं शस्यं शंसनीयमित्यर्थः । दृष्टान्तानुवादेन दार्ष्टान्तिकं निगमयति—**तस्मादिति** । शास्त्रान्तरोत्पन्नस्य शास्त्रान्तरे संग्रहबाधव्युत्पन्नं तच्छब्दार्थः ॥ ५६ ॥ उद्गीथाद्युपासनं तत्तदङ्गविशेषालम्बनं नेत्युक्तिप्रसङ्गेन वैश्वानरोपास्तिरपि तत्तदङ्गविशेषालम्बना नेति माधयति—**यूम्न इति** । सेव हीत्यत्र तथस्तत्सत्यमिति तच्छब्देन प्रकृतपरामर्शाद्वैक्यमुक्तम् । अत्र तु तददभेदे होतृभावादगतार्थेनेति मत्वा व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रौतमुदाहरति—**प्राचीनेति** । तत्र प्रश्नप्रतिवचनरूपवाक्येन व्यस्तोपास्तिसुपन्यस्यति—**व्यस्येति** । वैश्वानराधिकरणे व्याख्यातं वाक्यमनुसृत्य समस्तोपास्तिं दर्शयति—**तथेति** । द्विविधमुपास्तिसमधिकूलोमयत्र विषिकलमुतिभ्या-

आश्वभुविश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव" रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१।२) इत्यादि । तत्र संशयः—किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद्व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति । किं तावत्प्राप्तम् । प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपपास इति क्रियापदश्रवणात् 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५।१।२१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम् । ततोऽभिधीयते—भूतः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्यमस्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति न प्रत्येकमवयवोपासना नामपि । क्रतुवत् । यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम् । नाप्येकदेशाङ्ग्युक्तस्य प्रधानस्य तद्वत् । कुत एतद्भूमेव ज्यायानिति । तथा हि श्रुतिभूतो ज्यायस्त्वं दर्शयति एकवाक्यतावगमात् । एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं 'पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते । तथाहि—प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षडङ्गप्रयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजमुत्तिष्ठुपक्रम्यैकैकस्यर्वेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१।२१२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः' (छा० ५।१।२१२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति । पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वामख-

रत्नप्रभाष्याख्या

आख्यायिका पूर्वमेव व्याख्याता । अत्रोभयत्र विधिफलयोः श्रवणादेकवाक्यत्वोपपत्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । 'संव हि सत्यादयः' इत्यत्र तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकार्यद्विवैक्यमुक्तं तद्वदत्रैक्यहेत्वभावादगतार्थत्वं मत्वा पूर्वोद्गीथादिभ्यः संनिधिबाधेनोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखासुपसंहारवद्व्यस्तोपास्तीनां विधिभूतेः फलश्रवणस्य च समस्तोपास्तिरसंनिधिप्राप्तं सुखर्थं बाधित्वा तद्विधेयत्वमिति पूर्वपक्षमाह—प्रत्यवयवमिति । फलानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षसिद्धिरेव फलं मन्तव्यं । सुतं खण्डनं सोमद्रव्यं तस्यैव प्रसुतत्वमासमन्तात् सुतत्वमवस्थाभेदः सोमयागसंपत्तिस्तव कुले दृश्यत इति यावत् । आत्मनो वैश्वानरस्य

आमतीव्याख्या

युज्यवादानां प्रत्येकं फलश्रवणेऽप्यर्थवादमात्रत्वं वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वेपदित्यस्यैव तु फलवत्त्वमेवमत्रापि भवितुमर्हति । तत्र हि द्वादशकपालं निर्वेपदिति विधिभक्तिश्रुतियेदृशकपालो भवतीत्यादिषु वर्तमानापदेशः । न च वचनानि त्वपूर्वत्वमिति विधिकल्पना । अवयुज्यवादेन स्तुत्यापुपपत्तेः । इह तु समस्ते व्यस्ते च वर्तमानापदेशस्याविशेषादगृह्यमाणविशेषणा उभयत्रापि विधिकल्पनायाः फलकल्पनायाश्च भेदात् । निन्दायाश्च समस्तोपासनारम्भे व्यस्तोपासनेऽप्युपपत्तेः । श्यामो वाक्-द्रुतिमभ्यवहरतीतिवद्भयमिधमुपासनमिति प्राप्त उच्यते—समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वं न व्यस्तोपासनस्य । यद्यपि वर्तमानापदेशत्वमुभयत्राप्यविशिष्टं तथापि पौर्वापर्यालोचनया समस्तोपासनपरत्वस्यावगमः । यत्परं हि वाक्यं तदर्थार्थः । तथाहि—प्राचीनशालप्रभृतयो वैश्वानरविद्यानिर्णयायाश्वपतिं कैकेयमाजगमुः । ते च तत्तदेकदेशोपासनमुपन्यस्तवन्तः । तत्र कैकेयस्तत्तद-

आनन्दगिरीव्याख्या

मेकवाक्यत्वोपपत्तेश्च संशयमाह—तत्रेति । एकवाक्यतालाभेन समस्तस्यैव वैश्वानरस्योपास्तिरित्युक्त्या वाक्यार्थोद्देशेनोपासनापि विन्यतानादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे वाक्यभेदः सिद्धान्ते तदैक्यमित्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षार्थं विमृशति—किमिति । उद्गीथादिभ्यः संनिधिबाधित्वोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखासुपसंहारोक्तिवदत्रापि व्यस्तोपासनस्य विधिफलयोः श्रुतेः समस्तोपास्तिरसंनिधिप्राप्तं सुखर्थं बाधित्वेति पूर्वपक्षमाह—प्रतीति । सुतमित्यभिषवस्य कण्डनस्य कर्मतापन्नं सोमरूपम् । प्रसुतमासुतमित्यवस्थाविशेषणं ततो विशेषणम् । सोमयागकरणसंपत्तिस्तव कुले दृश्यत इति यावत् । आत्मनो वैश्वानरस्येत्यादिवाक्यप्रकरणान्यां समस्तोपासनं ज्ञत्वेन तदन्तर्भावेऽपि व्यस्तोपासनानामन्त्यत्र पश्यति प्रियमित्यादिना प्रत्यवयवं विधिकलश्रुतेः स्वातन्त्र्येणापि विधानं कर्तव्यं ते । भयवोपासनं कार्यमिति मित्रान्येवैतानि वाक्यानीत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमवतार्य भूतो ज्यायस्त्वमिति प्रतीक्षां व्याचष्टे—तत् इति । समस्तोपासनवद्व्यस्तोपासनमपीत्यर्थात्, तत्राह—नेति । तत्र दृष्टान्तमादाय विभजते—क्रतुवदिति । सामस्येनेत्यौत्सर्गिकोक्तिः । प्रयाजादीनां प्रत्येकमप्रयोगेऽपि नित्यादीनां किञ्चिदुपवतामपि प्रयोगोऽस्तीत्याशङ्क्य काम्येषु नैवमित्याह—नापीति । सर्वलोकेषु म्यक्रतोऽरिष्टवद्वैश्वानरोपासनस्यापि समस्तस्यैव प्राधान्येनेष्टेत्याह—तद्वदिति । हेतुः प्रशपूर्वकमेव व्याकरोति—कुत इति । साक्षाज्यायस्योक्तिरिष्टेत्याशङ्क्याह—एकेति । वाक्यप्रकरणाभ्यामेकवाक्यत्वं साधयति—एकं हीति । विहितानामपि व्यस्तोपास्तीनां समस्तोपास्यन्तर्भावान्न पृथक्कथ्येतेति मत्वाह—तथाहीति । व्यस्तोपास्यपवादश्रुतेश्च समस्तस्यैवोपासनस्य ज्यायस्त्वमित्याह—सूतेति । समस्तोपासने वैफल्याच्च तस्य ज्यायस्त्वमित्याशङ्क्याह—पुनर्नेति । व्यस्तोपासनेऽपि फलश्रवणमस्तोपास-

न्नमति' (छा० ५।१।८१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति । यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवं सत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम् । तद्योपास्त इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम् । तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति । केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनपक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यत इति कथयन्ति । तदयुक्तम् । एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१।२।२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात् । स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात् । सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥



न भिक्षा उत भिक्षन्ते शाण्डिल्यदहरादयः ॥ समस्तोपासनश्रेयसाङ्गक्याद्यभिक्षता ॥ १ ॥

कृत्स्नोपास्तेरशक्यत्वाद्गुणैर्महापृथक्कृतम् ॥ दहरादीनि भिक्षन्ते पृथक्पृथक्प्रक्राम् ॥ २ ॥

पूर्वसिन्धधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम् । अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपाशिष्यन्त इति । अपिच नैव

रत्नप्रभाख्याख्या

मूर्धैव सुतेजा इति वाक्यप्रकरणाभ्यां व्यस्तोपास्तीनां समस्तोपास्त्यन्तर्भावेन प्रयाजदर्शवदेकप्रयोगत्वे सिद्धे प्रधानतदङ्गफलानामर्थवादगतानामेकप्रधानफलतयोपसंहाराद्वाक्यभेदो न युक्त इति सिद्धान्त्याशयः । एकदेशिव्याख्यामनूय दूषयति— केचिदिति । यद्युभययोपासनं सिद्धान्तस्तर्हि व्यस्तोपासनमेवेति पूर्वपक्षो वक्तव्यः, स च न संभवतीत्याह— स्पष्टे चेति । कथं तर्हि सूत्रे ज्यायस्त्वोक्तिस्तत्राह—सौत्रस्येति । व्यस्तोपास्तीनामप्रामाणिकत्वद्योतनार्थं तदुक्तिरिति भावः ॥ ५७ ॥ नानाशब्दादिभेदात् । शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यैका नाना वा तथा संवर्गादि प्राणविद्यैका नाना येति रूपैक्यभावाभावाभ्यां संशये दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—पूर्वसिन्धिति । रूपैक्याच्च विद्यैक्यमित्याह—अपिचेति । विद्यैक्यं चेदेकश्रुत्युक्तविद्यायाः

भामतीव्याख्या

पासननिन्दार्पूर्वं तन्निवारणेन समस्तोपासनमुपसंजहार । तथा चैकवाक्यतालाभाय वाक्यभेदपरिहाराय च समस्तोपासनपरितेव मंदमेव लक्षयते । तस्माद्बहुफलसंकीर्तनं प्रधानस्तवनाय । तमस्तोपासनस्यैव तु फलवत्त्वमिति सिद्धम् । एकदेशिव्याख्यानमुपन्यस्य दूषयति—केचित्त्वचेति । संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वात् । नेदं सूत्रव्याख्यानां समञ्जसमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ नाना शब्दादिभेदात् । सिद्धं कृत्वा विद्याभेदमपस्तनं विचारनातमभिनिर्वर्धितम् । संप्रति तु सर्वोपासीभ्योचराणां विद्यानां किमभेदो भेदो वा, एवं प्राणादिगोचरास्ति विचारयितव्यम् । ननु यथा प्रत्ययाभिधेयाया अपूर्वभावनाया आज्ञानतो भेदाभावेऽपि धात्वर्थेन निरूप्यमाणत्वात्तस्य च यागादेर्भेदात्प्रकृत्यर्थयागादिधात्वर्थानुबन्धभेदाद्रेदः । तदनुरक्ताया एव तस्याः प्रतीयमानत्वात् । एवं विद्यानामपि रूपतो वेद्यस्येश्वरस्याभेदेऽपि तत्तत्तत्त्वसंकल्पत्वादियुगोपधानभेदाद्विद्याभेद इति नास्त्यभेदाशङ्का । उच्यते—युक्तमनुबन्धभेदात्कार्यरूपणामपूर्वभावनानां भेद इति । इह ब्रह्मणः सिद्धरूपत्वाद्गुणानामपि सत्यसंकल्पत्वादीनां

आनन्दगिरीयव्याख्या

तत्राह—यविवति । व्यस्तोपास्तीनां प्रकरणवाक्याभ्यां समस्तोपास्त्यन्तर्भावेन प्रयाजदर्शपूर्णमासवदेकप्रयोगत्वे सिद्धे प्रधानतदङ्गफलानामर्थवादगतानामेकीकरणेन समस्तोपास्तिरेव ज्यायसीत्याह—तदिति । प्रत्यवयवमुपास्तिविधिश्रुत्यर्थतोपास्तिर्मात्रीत्युक्तमित्याशङ्काह—तथेति । औपमन्यवाक्यवगतरूपानुवादेन समस्तोपास्तिरेवा विधित्तितेत्यर्थः । स्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । एकदेशिव्याख्यामनूय दूषयति—केचित्त्विति । किलकारोऽनिच्छायाम् । एकवाक्यताभङ्गेन वाक्यभेदे कृत्वा व्यस्तोपासनान्यपि पृथिविषीयन्तामित्याशङ्काह—मूर्धैति । यदोभययोपास्तिः सिद्धान्तस्तदा व्यस्तोपास्तिरेवा समस्तोपास्तिरेव वा पूर्वपक्षः स्यात्तत्र इत्याह—स्पष्टे चेति । द्वितीयश्च तवायुक्तो वाक्योपक्रमस्य व्यस्तोपास्तिषीविरोधात्समस्तोपास्तिविषयं पराभिप्रायानुवादे सिद्धान्तोद्देशेनोपास्तिर्भावेन । समस्तोपास्तिरेव कार्या न व्यस्तोपास्तिरित्यत्र किमपेक्ष्य सौत्रं ज्यायस्त्ववचनं, तत्राह—सौत्रस्येति । समस्तोपास्तिरेव कार्यैलेकवचनोक्त्या व्यस्तोपास्तेर्वाक्यतात्पर्योविषयत्वेनाप्रामाणिकत्वं द्योतयितुं सूत्रे भूयो ज्यायस्त्वमुक्तम् । अतः समस्तोपास्तिरेव कार्यैलेकवाक्यता सिद्धेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ भिन्नश्रुतीनामपि सुतेजःप्रभृतीनां समस्तोपासनं ज्यायश्चेत्तर्हि सर्वोपास्तीनामपि भिन्नश्रुतीनां समस्तोपासनं ज्यायः स्यादित्याशङ्काह—नानेति । दहरविद्यादिब्रह्मोपासनानि प्राणोपासनानि च वेद्याभेदादभिज्ञानि वा शब्दादिभेदाद्विज्ञानि चेति संदेहे पूर्वनाथेन पूर्वपक्षवति—पूर्वसिन्धिति । शाण्डिल्यविद्यादीनामभेदे हेत्वन्तरमाह—अपिचेति । तत्र सदृष्टान्तं हेतुमाह—

मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात् । अर्थान्तरासंभवाच्च । तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति । नैष दोषः । मनो-
वृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोपपत्तेः । एकस्यापीश्वरस्योपास्यस्य प्रति-
प्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते । तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्याहगुणो-
ऽन्यत्रोपासितव्योऽन्याहगुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदावेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते ।
न चात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम् । विनिगमनायां हेत्वभावात् ।
अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन विधानानुपपत्तेः । न चास्मिन्पक्षे समानाः
सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः । प्रतिप्रकरणं चेदं कामेनैदमुपासितव्यमिदं-
कामेन चेदमिति नैराकारकस्यावगमात्त्रैकवाक्यतापत्तिः । न चात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्त-
चोदनापरास्ति यद्वलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः । वेद्यैकत्वनि-
मित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायते ।
तस्मात्सुष्ठूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति । स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि
द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥



अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा ॥ नियामकस्याभावेन याथाकाम्य प्रतीयताम् ॥ १ ॥

ईशाशास्त्रकृतेस्त्वेकविधयैव प्रसिद्धतः ॥ अन्यान्यैकविधेषो विकल्पस्य नियामकौ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

संयोगभेदाद्दहरशाण्डिल्यादिसमाख्याभेदाद्भेद इति समाधत्ते—**नैष दोष इत्यादिना** । यदुक्तं श्रुतिनानात्वं गुणान्तरवि-
धमिति तत्रेत्याह—**न चात्रैक इति** । किंच प्राप्तविद्यानुवादेनाप्राप्तानेकगुणविधाने वाक्यभेदः स्यादित्याह—
अनेकत्वाच्चेति । किंच विद्यैक्यपक्षे गुणानां पुनरुक्तिर्यथा नच प्रत्यभिज्ञानार्था ब्रह्मैक्यादेव तत्सिद्धेः, विद्यानानात्वपक्षे
तु गुणानामप्राप्तेः सा प्राप्त्यर्थेत्याह—**न चास्मिन्पक्षे इति** । फलभेदाच्चोदनैक्याभावात्सर्वगुणभ्यानस्याशक्यत्वाच्च
विद्या नानेत्याह—**प्रतिप्रकरणं चेत्यादिना** । दहरध्यातुः सर्वेषु लोकेषु कामचारे भवति वैश्वानरध्याता सर्वत्रात्ममत्ती-
त्यादिकलभेद इत्यर्थः । ननु विद्यानानात्वे सिद्धे पश्चाद्दहरादिविद्या प्रतिवेदान्तमेकाऽनेका वेति चिन्तोचिता तत्कथमर्था
सा कृतेत्यत आह—**स्थिते चेति** । विद्यानानात्वाधिकरणं पादादावेव संगतमत्र प्राप्तिक्रममिति भावः ॥ ५८ ॥

भामतीव्याख्या

नच तत्तद्गुणतयोपासनानि गुणभेदाच्च भिद्यन्ते । न चाभिहोत्रमियोपासनं विधाय दधितपड्व्यादिगुणविद्दह सत्यसंकल्पत्वादियुगपि-
धियेनेकशाल्वत् स्यात् । अपि तत्पदात्वेवोपासनानां तत्तद्गुणविशिष्टानामवगमात् । तत्रागुथमा विशेषतया सर्वासां भेदस्तुभ्यः ।
नच समस्तशास्त्राविहितसर्वगुणोपसंहारः शक्यानुष्ठानस्तस्माद्भेदः । **न चास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादय इति** ।
केचित्सुतु गुणाः कासुचिद्विद्यासु समानास्तनैकविधात्वे आवर्तयितव्याः । एकत्रोक्तत्वात् । विद्याभेदे तु न पुनरुक्त्यभे-
कस्यां विद्यायामुक्ता विद्यान्तरे नोक्ता इति विद्यान्तरस्यापि तद्गुणत्वाय वक्तव्या अनुक्तानामप्रतिरिति ॥ ५८ ॥ **विकल्पो-**

आनन्दगिरीयव्याख्या

दीनां मनोवृत्तिविशेषेऽपि तत्प्रकरणेष्टुपत्तिशिष्टतत्तद्गुणविशिष्टवैक्यभेदाद्विशिष्टोपास्यनुबन्धो भिद्यन् इत्याह—**नेत्यादिना** ।
गुणानामपि ब्रह्मोपाधौ व्यवस्थानात्रानुबन्धभेद इत्याशङ्क्य वरतुनिष्ठत्वाभावादुपास्तिवाक्यानां तत्तत्फलस्य कार्यत्वेनानिर्गुणतया विशिष्ट-
क्षोपासितविधेरनुबन्धभेदः स्यादित्यभिप्रेत्याह—**एकस्यापीति** । ब्रह्मण्युक्तं न्यायं प्राणैर्दृष्टं दर्शयति—**तथेति** । प्रतिप्रकरणं
गुणभेदोक्तं फलितमाह—**एवमिति** । यत्तु श्रुतिनानात्वं गुणान्तरपरमिति तदुच्यते—**नचेति** । गुणात्पर्यायपरत्वं वाटप्राप्ताने-
कगुणपरतया वाक्यभेदाच्च युक्त्यैव व्यवस्थेति दोषान्तरमाह—**अनेकत्वाच्चेति** । विधैक्यं मूल्यकर्मकां गुणानामन्यत्रोत्तरयुक्ता
पौनरुक्त्यात् । विद्याभेदे तु नैव विद्यान्तरस्यापि तद्गुणत्वाय पुनरुक्तिसंभवादोऽपि विद्यानानात्वमित्याह—**नचेति** । तत्रैव
हेत्वन्तरमाह—**प्रतीति** । सर्वेषु लोकेषु कामचारे भवति सर्वैवात्मस्वरूपमिति जयन्तमाल्लोकान्यादिकल्पसंयोगभेदादाकाशभावा-
देकवाक्यप्रत्ययाद्योपादानानात्वमित्यर्थः । यत्तु पूर्वव्यायेन समस्तोपास्तेर्ज्यायस्तत्तुक्तं तत्प्रत्याह—**नचेति** । अथेति शाण्डिल्यादि-
प्रयोगः । यत्तु वैधैक्यादिवैक्यमिति, तत्राह—**वेद्येति** । सर्वगुणानुसंहस्य प्रत्ययकतुरधिकारिणोऽसंभवाच्च विधैक्यामित्यर्थः ।
शब्दादिभेदकृतं विद्याभेदमुपसंहरति—**तस्मादिति** । शब्दादिभेदाद्विद्याभेदे सति कथं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणं विधैक्यमुक्तं,
तत्राह—**स्थिते चेति** । शब्दादिभेदाद्विद्याभेदे सिद्धे सति सर्वशास्त्रगततत्तद्ब्रह्मज्ञानं प्राणस्यानं च भिन्नमेवेति शङ्कते सर्ववेदान्तगतं
अद्विष्टानभेकमित्युक्तमतोऽस्याधिकरणस्य पादादावेवार्थिकी संगतिरत्र तु प्रसङ्गादुक्तमित्यर्थः ॥ ५८ ॥ विद्याभेदमुक्त्वा नदनुष्ठानभेदं
अद्विष्टानभेदशोपास्तीनामनुष्ठानप्रकारमाह—**विकल्प इति** । अहंग्रहोपासनान्यधिकृत्य याथाकाम्यविकल्पयोर्विद्यानानात्वस्यादाधिकरण-

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा ज्ञात् । अथवा विकल्प एव नियमेनेति । तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किञ्चित्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति । तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः । विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः । तथाहि—‘मनोमयः प्राणशरीरः’ (छा० ३।१४।२) ‘कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ (छा० ४।१।०।५) ‘सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः । समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् । तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवितुमर्हति न समुच्चयः । कस्मात् । अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम् । एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् । अपि चासंभवः । साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात् । साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—‘यस्य स्याद्ब्रह्म न विचिकित्सास्ति’ (छा० ३।१४।४) इति ‘देवो भूत्वा देवानप्येति’ (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः । स्मृतयश्च—‘सदा तद्भावभावितः’ (८।६) इत्येवमाद्याः ।

रत्नप्रभाष्याख्या

विकल्पः । विद्यानां स्वरूपमुक्त्वानुष्ठानप्रकारोऽत्र निरूप्यत इत्युपजीव्यत्वसंगतिमाह—स्थित इति । विद्याविधाः अहंप्राहास्तदस्था अङ्गाश्रिताश्चेति । तत्राहंप्राहविद्यासु याथाकाम्यविकल्पयोर्विद्यानानात्वसाम्यात्संशयमाह—किमिति । पूर्वपक्षे यथेच्छमनुष्ठानमित्यनियमः सिद्धान्ते विकल्पेनानुष्ठानमिति नियम इति फलभेदः । तत्रानियमं साधयति—**तत्र स्थितत्वादित्यादिना ।** एकपुरोडाशफलत्वाद्यथा ब्रीहियवयोर्विकल्पस्तथा विकल्पनियम एवासां विद्यानां न्याय्यः, तुल्यफलत्वात् । नच फलभूयस्त्वाधिनः काम्यकर्मसमुच्चयोऽपि दृष्ट इति वाच्यम्, ईश्वरसाक्षात्कारात्परं फलभेदेऽप्यासामहंप्राहोपास्तीनां साक्षात्कारामकफलस्य तुल्यत्वात्, तस्य चैक्याकृतत्वे अन्यस्याः कृत्याभावाच्चित्तविक्षेपकतया तद्विघातकत्वाच्चेति सिद्धान्तभाष्यार्थः । मास्तु साक्षात्कार इत्यत आह—**साक्षात्करणसाध्यं चेति ।** यस्य पुंसः, अदो ईश्वरोऽहमिति साक्षात्कारः स्याद्विचिकित्सा च नास्ति अहमीश्वरो न वेति तस्यैवैश्वरप्राप्तिरित्यर्थः । जीवन्नेव भावनया देवत्वं

भामतीव्याख्या

ऽविशिष्टफलत्वात् । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु पृथगधिकारानामपि समुच्चयो दृष्टो नियमवांस्तेषां नित्यत्वादुपासनास्तु काम्यतया न नित्यास्तस्मात्सासां समुच्चयनियमः । तेन समानफलानां दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनामिव न नियमवान्विकल्पः फलभूमाधिनः समुच्चयस्यापि संभवादिति पूर्वः पक्षः । उपासनानाममूषासुपास्यसाक्षात्करणसाध्यत्वात्फलभेदस्यैकोपासनेनोपास्यसाक्षात्करणे तत एव फलप्रतिलाभे तु कृतसुपासनान्तरेण । नच साक्षात्करणस्यातिशयसंभवस्योपायसहस्रैरपि तादवस्थान्तन्मात्रसाध्यत्वाच्च फलवाप्तेः । उपासनान्तराभ्यासे च चित्तकाप्रताप्याघातेन कस्य चिदुपासनानिष्पत्तेरिह विकल्प एव नियमवानिति राट्नातः ।

आनन्दगिरिव्याख्या

संगतिगर्भं संशयमाह—स्थित इति । अहंप्राहोपास्तीनां विकल्पेनानुष्ठानोक्त्या वाक्यार्थधीहेतोरेवोक्तेरत्र पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे स्वेच्छया प्रवृत्तेरनुष्ठानानियमः । सिद्धान्ते ब्रीह्यादिध्विव तन्नयितिरिति मत्वा याथाकाम्येनानुष्ठानमिति पूर्वपक्षस्थित्यादौ समुच्चयनियमं निरस्यति—**तत्रेति ।** उपासनानां भिन्नत्वेऽपि समुच्चयनियमे नियमो युक्तो नित्याग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवदिति शङ्कते—**नन्विति ।** उपास्तीनां काम्यत्वात्नैवमित्याह—**नेत्यादिना ।** अग्निहोत्रादिषु समुच्चयस्तत्रेत्युक्तः । तर्हि किमिति विकल्पनियमो नाश्रीयते, तत्राह—**नापीति ।** समुच्चयविकल्पयोर्नियमायोगादिच्छयान्यतरोऽङ्गीकर्तव्य इत्याह—**पारिशेष्यादिति ।** यथा ब्रीहिभिरिव पुरोडाशे सिद्धे यवा न समुच्चयन्ते कृतकरणत्वप्रसङ्गात् । तथात्रापि ब्रह्मप्राप्तिफलमविशिष्टं तदेकैकोपासनेन कृतं चेन्नावकाशः समुच्चयस्येति शङ्कते—**नन्विति ।** तदेवाविशिष्टफलत्वं स्पष्टयति—**तथाहीति ।** काम्यदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिवत्फलभूमाधिनः समुच्चयः स्यादित्याह—**नेत्यादिना ।** विकल्पसमुच्चयनियमनिवृत्तिफलमुपसंहृत्य सिद्धान्तपुत्रमवतारं प्रतिष्ठा विभजते—**तस्मादित्यादिना ।** उक्तोऽर्थे प्रश्नपूर्वकं हेतुमादाय व्याचष्टे—**कस्मादित्यादिना ।** ध्येयसाक्षात्कारार्थमेव समुच्चयार्थं कारं का क्षतिः, तत्राह—**एकेनेति ।** अभीष्टफलघातित्वाच्च समुच्चयोऽत्र नास्तीत्याह—**अपिचेति ।** उपास्तेरदृष्टद्वारा यगादिवत्फलोपायत्वोपपत्तेरुपास्यसाक्षात्कारार्थमेव नास्तीत्याह—**साक्षादिति ।** देवो भूत्वा यत्सोपासकस्याद्या साक्षादुपास्यं स्यान्न विचिकित्सा संशयोऽस्ति प्रामुख्यमहं फलं न वेति तस्य ब्रह्मप्राप्तिः स्यादित्यर्थः । देवो भूत्वा जीवन्नेव साक्षात्कारेण देवभावमनुभूय पतिते देहे देवानप्येति प्रामोतीत्यर्थः । न चाविशिष्टफलत्वे फलभूमाधिनः समुच्चयानुष्ठान-

तस्मादविशिष्टफलानां विधानामन्यतमामादाय तत्परः स्यादावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥



प्रतीकेषु विकल्पः स्यादाथाकाम्येन वा मतिः ॥ अहंप्रहेष्विवेत्यु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥ १ ॥

देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः ॥ याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥ २ ॥

अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम् । यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३।१।५।२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते याव-
न्नासौ गतं तत्रास्य यथाकामचरो भवति' (छा० ७।१।५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टे-
नात्मनात्मीयं फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा
समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥



समुच्चयोऽङ्गवद्भेदेषु याथाकाम्येन वा मतिः ॥ समुचितत्वादङ्गानां तदङ्गेषु समुच्चयः ॥ १ ॥

ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्वारम्भ इत्यादिवन्नहि ॥ श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्यं ततो भवेत् ॥ २ ॥

कर्मङ्गपूत्रीधादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन्किंवा यथाकामं

रत्नप्रभाख्याख्या

॥ साक्षात्कृत्य देहपातोत्तरकालं देवान्प्राप्नोतीति श्रुत्यन्तरार्थः । अहंप्रहणामनुष्ठानप्रकारमुपसंहरति—तस्मादिति
॥ ५९ ॥ **काम्यास्तु** । तदुपास्योपास्तयोऽत्र विषयस्तासु किं विकल्प उत यथाकाममनुष्ठानमिति पूर्ववत्संशये सत्युपास्तित्वा-
वशेवाहंप्रहवद्विकल्प इति प्राप्तावपवादं सिद्धान्तयति—**अविशिष्टेति** । स यः कश्चिदेतं वायुमेवं गोत्वेन कल्पितानां
दिशां वत्सं वेदोपास्ते नासौ पुत्रमरणनिमित्तं रोदनं रोदिति लभते नित्यमेव जीनपुत्रो भवतीत्यर्थः । अहंप्रहट्टान्ते
साक्षात्कारद्वारत्वमुपाधिरिति भावः ॥ ६० ॥ संप्रत्यङ्गावबद्धोपास्तीनामनुष्ठानकर्म वक्तुं पूर्वपक्षयति—**अङ्गेष्विति** । अज्ञा-
श्रुतत्वात्सफलत्वाच्च संशयमाह—**किमिति** । यथा कत्वनुष्ठाने तदाश्रिताङ्गानां समुचितानुष्ठाननियमस्तथाङ्गानुष्ठाने तदा-
श्रुतत्वात्सफलत्वाच्च संशयमाह—**किमिति** । यथा कत्वनुष्ठाने तदाश्रिताङ्गानां समुचितानुष्ठाननियमस्तथाङ्गानुष्ठाने तदा-

भामनीव्याख्या

॥ ५९ ॥ **काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्** । यामृत्पाननाम निगोपास्यसाध्याकरणमष्टमेव
काम्यसाधनं तासां काम्यदर्शयोर्यमासादिवपुरुषेच्छावशेन विकल्पसमुच्चयमिति साम्प्रतम् ॥ ६० ॥ **अङ्गेषु यथाश्रयभावः** ।
तद्विधिरानियमस्तद्विष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलमित्युपासनासु फलश्रुतः पण्मयीन्यायेनार्थान्नादतयोपासनात् कृत्यत्वेन
समुच्चयनियममाशङ्क्य पुरुषार्थतयैकप्रयोगवचनग्रहणाभावे समुच्चयनियमो निरस्तः । इह तु सत्यपि पुरुषार्थत्वं कर्मासंज्ञप्रयोगवच-
नग्रहणं भवतीति पूर्वोक्तमर्थमाश्रित्य प्रत्यवतिष्ठते । यद्यपि हि काम्या एता उपासनास्तथापि न स्वतन्त्रा भवितुमर्हन्ति ।
तथा सति हि कृत्यार्थनाश्रिततया क्रतुप्रयोगादहिरण्यमूपां प्रयोगः प्रसज्यते । नच प्रयुज्यन्ते तत्करय हेतोः । कृत्यार्थनाश्रि-
तासु तासां तत्तत्फलोद्देशेन विधानादिति । एवं चाश्रयतत्त्वादायितानां प्रयोगवचननाश्रयणां समुच्चयनियमेनाश्रितानामपि

आनन्दगिरायव्याख्या

मुपास्यसाक्षात्कारे तन्निमित्तं तत्प्राप्तौ च विशेषभावादिशाशयनोपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ५९ ॥ अहंप्रहोपास्तीनामनुष्ठान-
स्कारमुक्त्वा प्रतीकोपास्तीनां तत्प्रकारमाह—**काम्यास्त्विति** । अनहंप्रहोपास्तीनामनुष्ठानावबद्धानि च मनो भ्रान्त्युपासीत्येवमाहंप्रह-
वद्विकल्पानुपासनानि विषयस्तेषु किं विकल्पनियमो याथाकाम्यं वेत्तुमयोग्यत्वा संशये प्रतीकोपास्तीनामुपासित्वाहंप्रहोपास्तिवदि-
कल्पनियमे प्राप्ते तद्वैपरीत्यमाह—**अविशिष्टेति** । अत्र प्रतीकोपास्तिषु पूर्ववैपरीत्येनानुष्ठानस्य याथाकाम्योक्त्या वाक्यार्थवर्धनोप-
पत्त्यावादादिसंगतिः । पूर्वपक्षं श्रीह्यादिविधानुष्ठाननियमसिद्धिः । सिद्धान्ते फलवशादतन्निमित्तानि रित्यङ्गकृत्यं यथाश्रयाणि योजयन्ति—
प्राप्तिविति । स यः कश्चिदेतं वायुं दिशां गोत्वेन कल्पितानां वत्सं वेद नासौ पुत्रमरणनिमित्तं रोदनं रोदिति लभते किं
नित्यमेव जीनपुत्रो भवतीत्यर्थः । अहंप्रहोपास्तिषु साक्षात्कारसाधनत्वमुपाधिरिति मत्वा विज्ञानदि-
साक्षादिति । निमतानुपासनानि याथाकाम्येनानुष्ठेयान्यविरुद्धमिन्नफलत्वाच्चिदाज्योपशोभनादिवर्तित भावः ॥ ६० ॥ प्रतीकोपास्तीनाम-
नुष्ठानकर्ममुक्त्वाऽङ्गावबद्धोपास्तीनां कर्म निरूपयित्वा पूर्वपक्षमाह—**अङ्गेष्विति** । अङ्गद्वारा क्रतुसंबन्धात्फलमन्त्रिकाद्य संशय इत्याह—
कर्ममिति । तदाश्रितोपासनानि विषयत्वेन दर्शयति—**य इति** । अङ्गद्वारा क्रतुसंबन्धात्फलमन्त्रिकाद्य संशय इत्याह—
य इति । तद्विधिरानियमाधिकरणे पुरुषार्थत्वमनु-
पास्तीनामुक्तमिह सत्यपि पुरुषार्थत्वं समुच्चये मानं नेत्युच्यते । अङ्गो-

नामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम् । अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम् । आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावेन सहभावनियममर्हन्ति तत्सहभावाश्रुतेरेव । तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—‘एवंविद्धं वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति’ (छा० ४।१।७।१०) इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि सर्वे सर्वविदः इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येन । तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाध्याख्या

मित्यत आह—आश्रयेति । इदमेव तेषां अङ्गाधितत्वं यदङ्गाभावे सत्यसत्त्वं न त्वङ्गव्यापकत्वमित्यर्थः ॥ ६५ ॥ किंच विदुषा ब्रह्मणान्येषामृत्विजां पाल्यत्ववचनान्न सर्वोपास्तीनां सहप्रयोग इत्याह—**दर्शनाच्चेति** । ऋग्वेदादिमिहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्तादिविज्ञानवत्त्वमेवंवित्त्वं ब्रह्मण इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भामतीच्याख्या

अस्य सूत्रस्यान्यव्यमुत्वेन व्यतिरेकमुत्वेन च व्याख्या । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

आनन्दगिरियस्याख्या

श्रितानामाश्रयतन्त्रत्वं यदाश्रये सत्येव वृत्तिर्नास्तीति । न तु तत्र वृत्तिरेव नावृत्तिरिति कामानामनित्यत्वात्तदुपबन्धोपास्तीनामपि तथात्वान्नित्यसंयोगविरोधादित्यर्थः । अङ्गोपास्तीनामङ्गवदसमुच्चये प्रतीकदृष्टिवच्यारुच्यनुष्ठानमित्युपसंहारः—**तस्मादिति** ॥ ६५ ॥ किंच विदुषा ब्रह्मणाऽन्येषामृत्विजां पाल्यत्वोक्तेरपि न सर्वविज्ञानोपसंहारधीरित्याह—**दर्शनाच्चेति** । सूत्रं विभजते—**दर्शयतीति** । ऋग्वेदादिमिहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्तादिविज्ञानवत्त्वमेवंवित्त्वं ब्रह्मणोऽभीष्टं कथं तावता विवक्षितानुपसंहारः, तत्राह—**सर्वेति** । अस्ति च तेनेतरेषामृत्विजां पाल्यत्वकीर्तनं तेन प्रत्ययानुपसंहारधीरिति शेषः । अनुमानाल्लिङ्गाच्च सिद्धमर्थमुपसंहारः—**तस्मादिति** । याथाकाम्यं व्याचष्टे—**समुच्चयो विकल्पो वेतीति** ॥ ६६ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य परापरब्रह्मविद्यागुणोपसंहाराख्यस्तृतीयः पादः ॥



तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः ॥ १ ॥



क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वात्मनो यतः ॥ देहातिरेकमज्ञात्वा च कुर्यात्कृतुं ततः ॥ १ ॥
नाह्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा ॥ आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्तनः ॥ २ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वितस्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तनैव तावदुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अस्माद्विद्वान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिध्यतीति वादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतद्वगम्यते शब्दादित्याह । तथाहि—‘तरति शोकमात्मवित्’ (छा० ७।१।३) ‘स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ (मु० ३।२।९) ‘ब्रह्मविदामोति परम्’ (ते० २।१।१) ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये’ (छा० ६।१।४।२) इति । ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’ (छा० ८।७।१) इत्युपक्रम्य ‘सर्वोश्च लोकानामोति सर्वोश्च कामा-

रत्नप्रभाख्याख्या

कर्माज्ञविद्याप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माज्ञत्वमाशंक्याह—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः । पूर्वपादे परापरविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या स्वरूपं निश्चितमस्मिन्पादे तासां कर्मानज्ञतया पुरुषार्थहेतुत्वं निरूप्यते । ततोऽज्ञाकाङ्क्षायां यज्ञादीनि बहिरङ्गानि शमादीन्यन्तरङ्गानि च निरूप्यन्त इत्येकविद्याविषयत्वं पादयोः संगतिः । तत्रादौ तत्त्वज्ञानं विषयकीकृत्य वादिविप्रतिपत्त्या संशयमाह—अथेति । पूर्वपक्षे ज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गित्वेन समुच्चयः । सिद्धान्ते केवलज्ञानान्मुक्तिरिति फलभेदः । ‘य आत्मेति’ प्रजापत्युक्तब्रह्मविद्यायां लोकादिकं सगुणविद्याफलं मोक्षानन्देऽन्तर्भावामिप्रायेणोक्त-

भामतीव्याख्या

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः । स्थितं कृत्योपनिषदामपवर्गाख्यपुरुषार्थसाधनात्मज्ञानपरत्वमुपासनाच्च चित्पुरुषार्थसाधनत्वमपस्तनं विचारजातमभिनिर्वर्तितम् । सम्प्रति तु किमौपनिषदात्मतत्त्वज्ञानमपवर्गसाधनतया पुरुषार्थमाहोऽनुप्रयोगाभिहितकर्तृप्रतिपादकतया क्रत्वर्थमिति मीमांसामहे । यदा च क्रत्वर्थं तदा यावन्मात्रं क्रतुप्रयोगविधिनिर्दिष्टं कर्तृमामुष्मिकफलोपभोक्तृत्वं च न चेतदनित्यत्वे षट्ते कृतविप्रणाशकृताभ्यागमप्रसङ्गादतो नित्यत्वमपि, तावन्मात्रमुपनिषत्सु विहितम् । इतोऽन्यदन्तर्दिष्टं विपरीतं च नोपनिषदर्थः स्यात् । यथा श्रद्धादि । यद्यपि जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरपस्तत्वमुपनिषदामिति महता प्रवन्धेन तत्र तत्र प्रतिपादितं तथाप्यत्र केषां चित्पूर्वपक्षशङ्काभीमाना निराकरणे तदेव स्थूणात्सन्नन्यायेन निश्चलीकृत्य इत्यस्ति विचारप्रयोजनम् । तत्र यद्यपि प्रोक्षणादिवदामज्ञानं न कञ्चित्तुमारभ्याधीतम्, यद्यपि च कर्तृमात्रं नाध्यभिचरितकतुसंबन्धं कर्तृमात्रस्य लौकिकेऽपि कर्मसु दर्शनायेन पर्णतादितदनारभ्याधीतमप्यभिचरितकतुसंबन्धद्वारेण वाक्येनैव क्रत्वर्थमापद्यते तथापि यादृश आत्मा कर्तामुष्मिकमन्वादिफलभोगमागी देहाद्यतिरिक्तोऽन्तः प्रतिपाद्यते न तादृशस्यास्ति लौकिकेषु कर्मसु प्रयोगः । तेषामेहिकफलानां शरीरानतिरिक्तेनापि यादृशतादृशेन कर्तृपत्तिः । आमुष्मिकफलानां तु नैदिकानां कर्मणां तन्मन्त्रेणासंभवात्तत्संबन्ध एवावर्गोपनिषदः कर्तैति तदध्यभिचारात्तान्यनुस्मारकादिवदवाक्येनैव तज्ज्ञानं पर्णतावत्कत्वेदमर्थमापद्यत इति फलश्रुतिरर्थवादः । तदुक्तम्—‘द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् श्रुतिरर्थवादः स्यात्’ इति औपनिषदात्मज्ञानसंस्कृतो हि कर्ता पारलौकिकफलोपभोगयोग्योऽभीमान विद्यायाश्चङ्कावात्कतु-

आनन्दगिरीयव्याख्या

कर्माज्ञसङ्गिविद्योक्तिप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माज्ञत्वमाशङ्क्य परिहरति—पुरुषार्थ इति । परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या परिगणनवार्थं तासां कर्मानपेक्षानामेव पुरुषार्थसाधनत्वमवसरप्राप्तौ निरूप्यते । तत्र कर्मानपेक्षानाममूर्त्तां का नामेति कनेत्यत्राह—हि तां विना कारणतयाशङ्क्य यज्ञादयः श्रवणादयः शमदमादयश्च विद्योत्पत्त्युपयोगिन्य इति कनेत्यत्राह—निरूप्यन्ते तदभिप्रेत्याह—अथेति । फलभेदाभेदौ विना न विद्याभेदाभेदौ न च तौ विना गुणोपसंहाराणुपसंहारौ तेन प्रागेव विद्यानां पुमर्थहेतुत्वं तत्र प्रथमौपनिषदमात्मज्ञानमधिकृत्य वादिविप्रतिपत्त्या संशयमाह—औपनिषदमिति । अनन्तं वात्मज्ञानविशेषणं शास्त्रसिद्धान्तगिरुच्यते । सिद्धे फलवत्त्वे स्वतन्त्रमेवेदं फलवदिति साधनादध्यायपादमङ्गी । पूर्वपक्षं समुच्चयपक्षमिद्विः । सिद्धान्तं केवलज्ञानस्य केवल्यसाधनतेति मत्वा पूर्वपक्षमग्रे दर्शयिष्यन्नादौ सिद्धान्तमाह—सिद्धान्तान्तेनेति । सूत्रार्थं प्रतिष्ठां योजयति—स्मादिति । तत्र प्रमाणं पृच्छति—कुत इति । सूत्रावयवनेोत्तरमाह—शब्दादित्याहेति । प्रमाणं विशुद्धेति—तथा स्यादिति । सगुणब्रह्मज्ञानस्यापि स्वातन्त्र्येण पुमर्थहेतुतेति । त्रुक्तं तद्विषयां धुनिमाह—य आत्मेति । निर्गुणविद्याविषयं वाक्यान्त-

कात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम् । नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात् । न । प्रियादिसंसृचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात् । अपहतपाप्मत्वादि विशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति । ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति । सत्यं प्रसाधितं तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दाढ्याय ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

‘जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यक्षेनेजे’ (बृ० ३।१।१) ‘यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि’ (छा० ५।१।५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसंबन्धदर्शनानि भवन्ति । तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसंबन्धोऽवगम्यते । केवलाब्धेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः । ‘अकं चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्’ इति न्यायात् ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाख्या

खेनापीत्यर्थः । देहभिन्नकर्तृज्ञानस्याङ्गत्वेऽप्यकर्तृब्रह्मात्मज्ञानस्य नाङ्गत्वमिति शङ्कते—नन्वपहततेति । यस्यार्थे जायादिकं प्रियं भोग्यं स आत्मा द्रष्टव्य इति भोग्यलिङ्गेन सूचितभोक्तृभिन्नमकर्तृस्वरूपं नास्तीति रामाभ्यर्थः । जन्मादितृन्मामभ्य साधितं स्वरूपं कथं नास्तीति शङ्कते—नन्विति । स्वरूपज्ञानं वेदान्तानां फलं, तस्य कत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वविचारेण दाढ्यं क्रियत इत्याह—सत्यमिति ॥ २ ॥ ब्रह्मविदां कर्माचारदर्शनं ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्गमित्याह—आचारेति । ईजे यागं कृतवानित्यर्थः । हे भगवन्त इति ब्राह्मणान्संबोधय ब्रह्मवित्कैकेयराजो ब्रूते अहं यक्ष्यमाणो यागं करिष्यमाणोऽस्मि वसन्तवत्र भगवन्त इत्यर्थः । अन्यपरेष्विति विद्याविधिपरेष्वित्यर्थः । अल्पायासं मुक्तैरुपायं ज्ञानं लब्ध्वा ब्रह्मायासं कर्म न कुर्युरित्यत्र दृष्टान्तमाह—अक इति । समीप इत्यर्थः । अकं इति पाठेऽप्ययमेवार्थः ॥ ३ ॥ ब्रह्मविद्यायाः

भामतीव्याख्या

पहतपाप्मत्वादि तु तद्विशेषणं तस्यैव स्तुत्यर्थम् । न तु तत्परवगुपतिपदम् । तस्मात्कत्वर्थमेवात्मज्ञानं कर्तृमस्कारद्वारा न पुनः पुरुषार्थमिति । एतदुपोद्बलनार्थं च ब्रह्मविदामाचारादिः श्रुत्यवगत उपन्यस्तः । न केवलं वाक्यादात्मज्ञानस्य कत्वर्थ-

आनन्दगिरीयव्याख्या

ज्ञानाज्ञानयोरित्यर्थः । तर्हि वैदिकान्यपि कर्माणि कर्मत्वादितरवत्र व्यतिरेकज्ञानापेक्षाणीत्याशङ्क्य—वैदिकेति । कार्यादिनिवृत्त्यर्थं देहपातेत्यादिविशेषणम् । द्वितीयमाशङ्कते—नन्विति । अनुपयोगित्वादिरौपिवाच्यं तस्य न कर्तृत्वमिति बोधः । कत्वर्थत्वे रूपं हित्वान्यदविवक्षितमित्याह—नेत्यादिना । जायादीनामात्मभावत्वेन प्रियत्वमुक्तत्वात्मा द्रष्टव्य इति वदता जायादिना भोग्येन सूचितस्य संसारिणो भोक्तृत्वे द्रष्टव्यत्वमिष्टं भोक्तृज्ञानं च कर्मसंप्रयुक्तमनो भोक्तृनिर्मुक्तमात्मवर्षे न श्रौतमित्यर्थः । अपहतपाप्मत्वादिविशेषणस्य भोक्तृवैयुक्तत्वादतिरिक्तामात्मरूपमष्टव्यमित्याशङ्क्य—अपहततेति । जन्मादिसंसारस्य तत्र तत्राप्यध्वन्यात्मपरता वेदान्तानामुक्ता तत्कथमपहतपाप्मत्वादिकीर्तनस्य स्तुत्यर्थेनेति शङ्कते—नन्विति । अविकारमिति विशेषणमाशङ्क्य ज्ञानं वारयति—तदेवेति । संसारिणोऽसंसारिभ्यो रूपमिति व्याहृतिं प्रत्याह—पारमार्थिकमिति । ऐश्वर्यं प्रमाणं पुत्राकं युवार्थं—उपनिषत्स्विति । पूर्वपक्षक्षेपं समाधत्ते—सत्यमित्यादिना । फलद्वारेणैवात्मज्ञानं वेदान्तानां फलं तत्कत्वर्थं पुण्यार्थेनेति विचारद्वारेणेत्यर्थः । साधितं यैवाक्षेपसमाधिभ्यां साधनस्य फलमाह—दाढ्योयेति ॥ २ ॥ किंच जनकानां विद्यायां कर्मकर्माचरणदर्शनात् केवलैव विद्या मोक्षहेतुरतः सहासुष्ठानं विद्यायाः स्तानुष्ठानमात्रेण कर्माङ्गत्वं लिङ्गमित्याह—आचारेति । यथं व्याचष्टे—जनको हेति । विदेहानामधिपतिर्जनको नाम राजा बहुदक्षिणसंज्ञेन यक्षेनाथमेधेन वा बहुदक्षिणायुक्तं पुत्रं कदाचिदीजे यागं कृतवान् । कैकेयस्य राज्ञो ब्रह्मविदो वाक्यमाह—यक्ष्यमाण इति । विद्याधिः समागतान्प्राप्तिनात्यादीन्भगवन्त इति संबोध्यार्हं यक्ष्यमाणोऽस्मि ततश्च कतिचिदिनाम्याध्वमिति राजोक्तवानित्यर्थः । उक्तवाक्यानि विद्याधीनं न कर्माध्यात्मोपायैः इत्याह—अन्येति । इतश्च ब्रह्मविदमस्ति कर्मसंगतिरित्याह—तथेति । आदिपदेन व्यामयाज्जन्मव्याधिर्मग्नः । द्वितीयेन भाषांशुशासनादि गृह्यते । कर्म कृतं विद्वद्भिरेव कैश्चिदित्येतावता विद्याशक्तेरपहवायोगात्केवलैव सा मुक्तिहेतुरित्याशङ्क्य—केवलादिति । अल्पायासमुपायं हित्वा न कोऽपि महायासं तमाद्रियत इत्यत्र लौकिकन्यायमाह—अकं चेदिति । समीपवचनोऽकं-

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

‘यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ (छा० १।१।१०) इति च कर्म-
शेषत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते’ (बृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्व-
शीनां स्वतन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वा-
ध्यायमधीयानः’ (छा० ८।१।५।१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्मादि-
कारं दर्शयति तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येवध्ययनमात्रं वेदस्य
श्रूयते नार्थविज्ञानम् । नैष दोषः । दृष्टार्थत्वाद्देवाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे’
(ई० २) इति । तथा ‘एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्योवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा’
इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥ ७ ॥ एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

रक्तप्रभाष्याख्या

कर्माङ्गत्वे तृतीयाश्रुतिरप्यस्तीत्याह—तच्छ्रुतेरिति ॥ ४ ॥ लिङ्गान्तरमाह—समिति । तं परलोकं गच्छन्त
विद्याकर्मणी अनुगच्छत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ गुरोः शुश्रूषारूपं कर्म कुर्वन्नतिशेषेणावशिष्टेन कालेन यथाविधानं वेद-
मधीत्यनन्तरमाचार्यस्य कुलाद्गृहात् । ब्रह्मचर्योदिति यावत् । अभिसमावर्तनं कृत्वा कुटुम्बे गार्हस्थ्ये स्थितः प्रत्यहं शुचौ
देशे स्वाध्यायाध्ययनं कुर्वन्नन्यांश्च नित्यादिधर्माननुतिष्ठन्ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीति श्रुत्यर्थः । यथावघातस्तुपविमोक्षपर्यन्त
एवमध्ययनमर्थावबोधान्तम् । दृष्टेऽर्थावबोधार्थे फले संभवति अध्ययनस्यादृष्टार्थत्वायोगादिति पूर्वतन्त्रे स्थितम् । ततश्च ब्रह्मापि
वेदार्थ इति तदवबोधवतः कर्मविधानमित्यर्थः ॥ ६ ॥ यावज्जीवं कर्मनियमोऽप्यत्र लिङ्गमित्याह—नियमाच्चेति । इह
देहे कर्माणि कुर्वन्नेव शतं संवत्सराञ्चीवितुमिच्छेदेवं कर्मित्वेन जीवति त्वयि नरे कर्म पापं न लिप्यते । इतः क-
र्मणोऽन्यथा नास्ति । कर्मविना श्रेयो नास्तीत्यर्थः । जरामर्यं जरामरणावधिकमित्यर्थः ॥ ७ ॥ कर्तुराधिकस्यासंसार्यात्मनः

भामतीव्याख्या

त्वम् । तृतीयाश्रुतेश्च । न त्वेतत्प्रकृतोद्गीथविद्याविषयं यदेव विद्ययेति सर्वनामावधारणाभ्यां व्याप्तेरभिगमार् । यथा एव
धूमवान्देशः स वह्निमानिति । समन्वारम्भवचनं च फलारम्भे विद्याकर्मणोः साहित्यं दर्शयति । तच्च यद्यप्याद्येयादियोगपूरक-
त्समप्रधानत्वेनापि भवति तथाप्युक्तया युक्त्या विद्यायाः कर्म प्रत्यङ्गभावेनैव नेतव्यम् । वेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानादुपनि-
षदोऽपि वेदार्थ इति तज्ज्ञानमपि कर्माङ्गमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ नियमाच्च । सुगमम् ॥ ७ ॥ सिद्धान्तयति—

आनन्दगिरियन्याख्या

शब्दः ॥ ३ ॥ न केवलं विद्याया लिङ्गादेव कर्माङ्गत्वं किंतु तृतीयाश्रुतेरपीत्याह—तदिति । सूत्रार्थं विवृणोति—यदेवेति ॥ ४ ॥
इतश्च न स्वतन्त्रा विद्या पुमर्थहेतुरित्याह—समन्वारम्भणादिति । सूत्रं विवृणोति—तमित्यादिना । तं परलोकं व्रजन्तं कुर्वन्
कर्मणी समनुगच्छत इति यावत् ॥ ५ ॥ तदस्वातन्त्र्ये लिङ्गान्तरमाह—तद्वत् इति । तद्वत्करोति—आचार्येति । तस्य कुर्वन्
गृहमुपनयनं कृत्वा तत्प्राप्त्यनन्तरं गुरोः शुश्रूषारूपं कर्म विद्यायातिशेषेण शिष्टेन कालेन यथाविधानं पवित्रपाणिप्रक्षालन-
दिविधानमनतिक्रम्य वेदमधीत्यनन्तरमभिसमावृत्य व्रतविसर्गं कृत्वा दारानाहत्य कुटुम्बे गार्हस्थ्ये स्थितः शुचौ देशे स्वाध्यायाध्ययनं
कुर्वन्कर्मान्तराणि च विहितानि यथाशक्ति कुर्वाणो ब्रह्मलोकमभिसंपद्यत इत्यर्थः । अध्ययनशब्दस्य यथाश्रुतमर्थं गृहीता क-
ङ्कते—नन्विति । अध्ययनविधेरवघातादिविधिवद्दृष्टार्थत्वादर्थावबोधान्तो व्यापारोऽस्तीति प्रथमे तन्त्रे समर्थितमित्याह—नेला-
दिना ॥ ६ ॥ इतश्च न स्वतन्त्रा विद्या पुमर्थहेतुरित्याह—नियमाच्चेति । नियमं विभजते—कुर्वन्नेति । इह देहे शतं
समाः शतसंख्याकान्संवत्सरान्यज्जिजीविषेच्छतं कर्माणि कुर्वन्नेवेति नियमविधिः । एवं त्वयि नरे वर्तमानं सत्यशुभं कर्म न
लिप्यते तेन त्वं न शिप्यस इति यावत् । इतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति यतो न कर्मलेपः स्यादित्यर्थः । नियमान्-
तरमाह—तथेति । जरामर्यं जरामरणावधिकम् । तदेव विशदयति—जरयेति । श्रुत्यादिभिरात्मविधेः सिद्धे कर्माङ्गत्वे तत्फलमेव
फलवत्समित्युपसंहृतमिति त्युक्तम् ॥ ७ ॥ पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तयति—एवमिति । सूत्रं योजयति—तुषाब्दादिति । पशुवि-

अधिकोपदेशाच्च बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तम्—‘शेषत्वात्पुरुषार्थवादः’ (ब्र० सू० ३।४।२) इति तन्नो-
पपद्यते । कस्मात् । अधिकोपदेशात् । यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरी-
रमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् ।
अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिवि-
शेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । नच तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति
प्रत्युत कर्माण्युच्छिन्नतीति वक्ष्यति ‘उपमर्दं च’ (ब्र० सू० ३।४।६) इत्यत्र । तस्मात्
‘पुरुषार्थोऽतः शब्दात्’ (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति
न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते । तथाहि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं
दर्शयन्ति श्रुतयः—‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ (मुण्ड० १।१।९) ‘भीषाऽस्माद्वातः पवते’ (तै०
२।८।१) ‘महद्भयं वज्रमुद्यतम्’ (कठ० ३।२) ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्मि’ (बृ०
३।८।९) ‘तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत’ (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः । यत्तु
प्रियादिसंस्मृतितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् ‘आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं
भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ (बृ० २।४।५) ‘यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः’
(बृ० ३।४।१) ‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य ‘एतं त्वेव ते
भूयोऽनुव्याख्यास्यामि’ (छा० ८।९।३) इति चैवमादि तदपि ‘अस्य महतो भूतस्य निःश्वसि-
तमेतद्यद्वेदः’ (बृ० २।४।१०) ‘योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति’ (बृ०
३।४।१) ‘परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः’ (छा० ८।१२।३)
इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः । पारमे-

रत्नप्रभायाख्या

कर्मशेषत्वाभावात्तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं नेति सिद्धान्तयति—अधिकेति । अस्य महत् इति वाक्यशेषात्प्रियसंस्मृति आत्मा
पर एव द्रष्टव्यः । यः प्राणादि प्रेरयति सोऽप्यशनायाद्यल्यवाक्यशेषात्पर एव । तथाक्षिपुरुषोऽप्यवस्थासाक्षि परंज्योति-
रिति वाक्यशेषात्पर इति विभागः । जीवानुकर्षणमभेदाभिप्रायमित्यङ्गीकारे न विरोध इति कथम्, अभेदे जीवत्वविरो-
धादित्यत आह—पारमेश्वरमिति । ज्ञानं कर्माङ्गमफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वादित्युक्तो हेतुरसिद्ध इति भावः ॥ ८ ॥

भामतीयाख्या

अधिकोपदेशाच्च बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । यदि शरीराद्यतिरिक्तः कर्ता भोक्तात्वेत्येतन्मात्र उपनिषदः पर्यव-
सिताः स्युस्ततः स्यादेवं, न त्वेतदस्ति । तास्त्वेवंभूतजीवानुवादेन तस्य शुद्धबुद्धोदासीनब्रह्मरूपताप्रतिपादनपरा इति तत्र
तत्त्वामकृदावेदितम् । अनधिगतार्थबोधनस्वरसता हि शब्दस्य प्रमाणान्तरसिद्धानुवादेन । तथा चोपनिषदात्मज्ञानस्य कृत्वन्तु-
ष्टानविरोधिनः क्रतुसंबन्ध एव नास्ति । किमङ्ग पुनः तदव्यभिचारस्ततश्च क्रतुशेषता । तथाच नापवर्गफलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वमपि
फलपरत्वमेव । अत एव प्रियादिस्मृतिरेव संसारिणामनोपक्रम्य तस्यैवात्मनोऽधिकोपदिदिक्षायां परमात्मनात्यन्ताभेद उप-
दिश्यते । यथा समारोपितस्य भुजगस्य रज्जुरूपादत्यन्ताभेदः प्रतिपाद्यते योऽयं सर्पः सा रज्जुरिति । यथा विद्यायाः कर्मा-

आनन्दगिरीयव्याख्या

रवेतमानमेव पक्षमनूय दर्शयति—यदिति । अनुपपत्तिहेतुं प्रश्नपूर्वकमाह—कस्मादिति । अधिकोपदेशं व्यतिरेकतो दर्शयन्—
दीति । यः कर्ता कर्माङ्गं नासां वेदान्तबन्धो यच्च ब्रह्म तद्वयं न तत्कर्माङ्गमतस्तज्ज्ञानस्य कुतः शेषता कुतस्तत्र फलश्रु-
र्यवादित्यर्थः । ब्रह्मात्मधीनं क्रतुप्रयोगविधिर्नोपादेया तद्विरोधित्वादादीदृशानोदितहोमविरोधनुदिनहोमवदिति मत्वाह—प्रत्युतेति ।
बदरायणस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्यादिति । उक्तात्मज्ञानस्य क्रतुशेषत्वायोगस्तच्छब्दार्थः । अधिकोपदेशासिद्धिमाशङ्क्य तद्दर्शनादित्य-
न प्रत्याह—तथाहीति । कृत्वपेक्षितं रूपं हित्वाऽन्यदात्मरूपमनिष्टमित्युक्तं, तत्राह—यदिति । आत्मनस्तु कामायत्युपक्र-
मात् वा अरे द्रष्टव्य इति वाक्यं ब्रह्मोपदिदिक्षायां सत्यामेव ब्रह्मात्मैक्याभिप्रायमित्यत्र वाक्यशेषमाह—अस्येति । यः प्राणेने-
दि वाक्यमप्येक्यपरमित्यत्र वाक्यशेषं दर्शयति—योऽशनायेति । य एषोऽक्षिणाद्यादिवाक्यमपि तथैवमित्यत्र शेषानुगुप्य-
ह—परमिति । उक्तैः शेषैः संसारिणो यदधिकं ब्रह्म तस्योपदिदिक्षायां सत्यामेव ब्रह्मणो जीवत्वात्यन्ताभेदाभावादिषां द्रष्टव्या-
भावमिति कृत्वपेक्षितमात्मरूपं वेदान्तेषु विवक्षितमित्युपगमे न कश्चिद्विरोधोऽस्तीति योजना । कुतो जीवब्रह्मैक्यं मिथो
पेदादित्याशङ्क्य तात्त्विको विरोधो नास्तीत्याह—पारमेश्वरमिति । प्रातिभासिकस्तु विरोधस्तात्त्विकाभेदाविरोधीति मत्वाह—

श्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम् । उपाधिभूतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टु' (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यत्तुक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति । अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः । तथाहि श्रुतिर्भवति—'एतद्व स वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था धयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । एतद्व स वै तत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रिरे' 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्येवंजातीयका । याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अपिच 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमसि' (छा० ५।११।५) इत्येतद्विद्वांसं वैश्वानरविद्याविषयम् । संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम् । न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति । प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥ यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।४) इति । अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

'यदेव विद्याया करोति' (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया । प्रकृतविद्याभिस्त्वन्धात् । प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्र ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गमिति तत्प्रत्युच्यते । विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्यान्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यमिति । शतवत् । यथा शतमाभ्यां दीयतामिन्त्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्यै पञ्चाश-

रत्नप्रसाध्याख्या

ब्रह्मविदां कर्मवत्संन्यासस्यापि दर्शनात्तेषां कर्मदर्शनात्मकं लिङ्गं लोकसंग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्धमित्याह—तुल्यं त्विति । किंच यस्य कर्म स न ब्रह्मविदित्याह—अपिचेति । तर्हि वैश्वानरविद्यायाः कर्माङ्गत्वं स्यादित्यत आह—नत्विति । ब्रह्मविदां लोकसंग्रहार्थं क्रियमाणमपि कर्म न भवति अभिमानाभावेनानधिकास्तिवादिति भावः ॥ ९ ॥ १० ॥ समन्वारम्भवचनस्य सुष्ठु

भामतीव्याख्या

ङ्गत्वे दर्शनमुपन्यस्तमेवमकर्माङ्गत्वे दर्शनमुक्तम् । तत्र कर्माङ्गत्वदर्शनानामन्यथासिद्धिरुक्ता केवलविद्यादर्शनानां तु नान्यथासिद्धिः ॥ ८ ॥ ९ ॥ असार्वत्रिकी । व्याप्तिरपुद्गीथविद्यापेक्षया तस्या एव प्रकृतत्वाच्च त्वेषापेक्षया । यथा सर्वे ब्राह्मणा भोग्यतामिति निमित्तापेक्षया तेषामेव प्रकृतत्वात् ॥ १० ॥ विभागः शतवत् । सुगमम् । अविभागेऽपि न दोष इत्याह—न चेत्

आनन्दगिरीयव्याख्या

इषाधीति । जीवस्य तात्त्विकं रूपं ब्रह्मैवेत्यत्र श्रुतिसंवादमाह—तत्त्वमिति । संपदादिविषयं तत्त्वमादिवाक्यं न वस्तुविषयमिति शङ्कयाह—सर्वं चेति ॥ ८ ॥ परोक्तं लिङ्गदर्शनं न्रत्याह—तुल्यं त्विति । उक्तमनूय सूत्रमुत्तरत्वेन योजयति—यदित्यादिना । इतश्च विद्याया न शेषतेत्याह—याज्ञवल्क्येति । आदिशब्देन शुकादयो गृह्यन्ते । कथं तेषामकर्मनिष्ठत्वं तदाह—एतावदिति । उभयथालिङ्गदर्शने संशयमाशङ्क्य परकीयलिङ्गानामन्यथासिद्धिं वक्तुमारभते—अपिचेति । तत्र यक्ष्यमाण इत्यादिलिङ्गदर्शनस्यान्यथासिद्धिमाह—यक्ष्यमाण इति । तत्रापि विद्यात्वाच्च कर्मसाहित्यमन्यथा ब्रह्मविद्यायामपि तत्प्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—संभवतीति । तर्हि वैश्वानरविद्याया न स्वातन्त्र्येण फलवत्त्वं कर्माङ्गत्वाङ्गीकारात्, तत्राह—न त्विति । येषां च ब्रह्मविदामपि कर्म दृश्यते न तत्तेषां कर्म तद्वि चोदनालक्षणं तेषां चाहंममाभिमानाभावेन चोदनाभावात्कथंचिदनुवर्तमानमपि तदाभासमात्रमिति भावः ॥ ९ ॥ परोक्तां श्रुतिमनूय तदुत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति—यदिति । तद्विभज्यते—यदेवेति । विद्याशब्दस्य सामान्यविषयस्य विशेषाकाङ्क्षस्य प्राकराणिकविशेषणं चरितार्थादिति हेतुमाह—प्रकृतेति । आत्मविषयस्तथात्वशङ्कां प्रत्याह—प्रकृता चेति । ॥ १० ॥ परकीयं लिङ्गान्तरं दृषयति—विभाग इति । चोदमनूयोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—यदपीत्यादिना । सामान्यश्रुतेः कथं विभागः स्यात्तत्र सदृष्टान्तमाह—शतवदिति । समन्वारम्भवचनस्य सुष्ठुविषयत्वमुपेत्य कर्मसाहित्येन तल्लिङ्गविभागश्च

दपरस्मै तद्वत् । न चेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम् 'इति तु कामयमानः' (बृ० ४।४।६)
इति संसारिविषयत्वोपसंहारात् । 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुप-
क्रमात् । तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभावात् ।
कर्माणि विहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात् । एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भवच-
नमवकल्पते ॥ ११ ॥ यच्चैतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इत्यत उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१।५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव
कर्मविधिरित्यध्ययस्यामः । नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत । नैष दोषः । न
व्ययमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः किं तर्ह्यपनिषदमात्मज्ञानं स्वात्मन्ये-
नैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः । यथा च
न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्षत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥ यदप्युक्तं
'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इत्यत्रामिधीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषो-
पोऽस्ति । अविशेषेण नियमविधानात् ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते । यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्या-
द्विद्वानेव कुर्वन्निति संवध्येत तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुष्ठानमेतद्विष्टयम् 'न कर्म लिप्यते

रत्नप्रभाख्या

क्षुविषयत्वमङ्गीकृत्य विद्या अन्यं मुमुक्षुं मुक्तत्वेनान्वारभत इति विभाग उक्तः सूत्रकृता । वस्तुवस्तु तन्नास्तीत्याह—
नचेदं समन्वारम्भवचनमिति । तत्र संसारिविषये तं विद्येत्यादिवाक्ये यथाप्राप्तानुवादिनि विद्यादिपदार्थमाह—
तत्रेति । विहितोद्गीथादिविद्या प्रतिषिद्धा नमस्त्रीभ्यानादिरूपा ॥ ११ ॥ यच्चैतदिति । उक्तमिति शेषः । अविद्यत्वादे-
र्दार्थज्ञानशून्यत्वादित्यर्थः । मात्रपदमात्मज्ञानस्य व्यावर्तकं न कर्मज्ञानस्येत्याह—नैष दोष इति ॥ १२ ॥ १३ ॥ नियमवा-
च्यमज्ञविषयमित्युक्तं विदुषो ज्ञानस्तुल्यं वेत्याह—स्तुतय इति । एवं कर्म कुर्वन्नेति त्वयि नरे नेतो विद्यालब्धाद्वाभा-
वादप्यथास्ति कर्मणा संसारो नास्तीति यावत् । यतः कर्म न लिप्यते । अपूर्वैरूपलेपाय न भवतीत्यर्थः धृतैरिति भावः

भामतीव्याख्या

समन्वारम्भवचनमिति । संसारिविषया विद्या विहिता यथोद्गीथविद्या । प्रतिषिद्धा च यथाऽस्तच्छास्त्राधिगमनलक्षण-
॥ ११ ॥ अध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिर्न तृपतिषदध्ययनवतः । एतदुक्तं भवति—यदध्ययनमर्थविबोधपर्यन्तं कर्मसूपपुञ्ज्यते
यथा कर्मविधिविक्रानां तन्मात्रवत एवाधिकारः कर्मसु नोपनिषदध्ययनवतः तदध्ययनस्य कर्मस्वरूपगोमादिति । अध्ययनमात्रवत
एवेति मात्रग्रहणनार्थज्ञानं वा व्यवच्छिन्नमिति मन्वानो ब्रान्त्योदयति—नन्वेवं सतीति । स्वाभिप्रायमुद्राष्टयन्ममापते—न
वयमिति । उपनिषदध्ययनपेक्षं मात्रग्रहणं नार्थबोधापेक्षमित्यर्थः ॥ १२ ॥ नाविशेषात् । कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यविद्या-
द्विषयमित्यर्थः ॥ १३ ॥ विद्यावद्विषयत्वेऽप्यविरोधो विद्यास्तुल्यत्वादित्याह—स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥ अपिच विद्याफलं

आनन्दगिरियव्याख्या

कर्म । इदानीमुमुक्षुविषयत्वादविभागेऽपि न दूषणमित्याह—नचेति । तस्मात्मुमुक्षुविषयत्वे हेतुन्तरमाह—अथेति । संसा-
रिविषये तं विद्येत्यादिवाक्ये विद्याशब्दादर्थमाह—तत्रेति । उद्गीथादिविषया विहिता विद्या प्रतिषिद्धा च नमस्त्रीदशनादिरूपा । तथाभूतक-
र्मसाहचर्योदपि तथाविधैव विद्येत्याह—कर्मापीति । प्रकृते वाक्येऽपि विद्याकर्मणोरविशेषापादाने हेतुमाह—यथेति । उक्तार्थवाक्यस्य
संसारिविषयत्वे फलितमाह—एवमिति ॥ ११ ॥ लिङ्गान्तरमनूय सूत्रमादत्ते—यचेति । यच्चैतदुक्तमित्यर्थः । सूत्रं विदुषेति—
आचार्येति । मात्रग्रहणेनार्थज्ञानमात्रं व्यवच्छिन्नमिति मन्वानः शङ्को—नन्विनि । अविद्यात्वादिद्याहीनत्वादिति यावत् । मात्र-
ग्रहणमात्मज्ञानापेक्षं न कर्मावबोधोधापेक्षमित्याह—नेत्यादिना । वेदाधेस्तादात्मनस्तत्तत्ज्ञानमपि कर्मबोधवदधिकारोऽपेक्षितमिति शब्दा-
द्विषयमाह—यथेति । पूर्वसूत्रव्याख्यासमाप्ताविति शब्दः ॥ १२ ॥ लिङ्गान्तरमनूय सूत्रान्तरमादत्ते—यदपीति । अविद्वद्विषयं नियमवि-
धानमिति व्याकष्टे—कुर्वन्निति ॥ १३ ॥ विद्वद्विषयत्वमुपेक्ष्य परिहारान्तरमाह—स्तुतय इति । एवं तर्हि प्रकरणमसममिति मत्व
सर्वं विभजते—कुर्वन्नेवेति । विशेषमेव विशदयति—अपपीति । स्तुल्यर्थं कर्मानुष्ठानमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—नेति ।

नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति । एतदुक्तं भवति । यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपिचैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तद्वष्टुमात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति । कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतच्च स वै तत्पूर्वं विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (वृ० ४।४।२२) इति । अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपिच कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैर्वाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (वृ० २।४।१४) इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते । न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते । कर्माभावात् । न ह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति । स्यादेतत् । ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति तदपि नास्ति तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा०

रत्नप्रभाष्यारूपा

॥ १४ ॥ स्वेच्छातः कर्मसाधनप्रजादित्यागलिङ्गाच्च विद्या स्वतन्त्रफलत्याह—**कामेति** । तदेतद्ब्रह्म येषां नोऽस्माकं अयमपरोक्ष आत्मा अयमेव लोकः पुरुषास्ते वयं किं प्रजादिना करिष्याम इत्यालोच्य कर्म त्यक्तवन्त इत्यर्थः । नन्वय लोक इति ज्ञानफलस्य प्रत्यक्षत्वोक्तिरयुक्ता कर्मफलवददृष्टत्वादित्यत आह—**अनुभवेति** ॥ १५ ॥ न केवलमनुपयोगि-ज्ज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वं किंतु कर्मनाशकत्वाच्चेत्याह—**उपमर्दं चेति** ॥ १६ ॥ किंच कर्मतत्त्वज्ञाने नाङ्गाङ्गिभूते भिन्नाधिकारि-स्थत्वाद्वाजसुयवृहस्पतिसवदित्याह—**ऊर्ध्वेति** । त्रयो धर्मस्कन्धाः कर्मप्रधाना आश्रमाश्चतुर्थो ब्रह्मसंस्थ इत्यर्थः । 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अमृणः' इति श्रुतेः । 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' । अन-पाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजलधः' इति स्मृतेश्च प्राप्तगार्हस्थ्यस्यैव निरस्तर्णत्रयस्य पारिव्राज्यमित्यपि शङ्का न कार्या । ब्रह्म-चर्यादेव प्रव्रजेदिति द्वितीयमाश्रममिच्छेतमावसेदिति च विधिश्रुतिस्मृतिविरोधेन अर्थवादश्रुतिस्मृत्योरविरक्तविषयवाक्यमा-

भासतीत्याख्या

प्रत्यक्षं दर्शयन्ती श्रुतिः कालान्तरभाविफलकर्माङ्गत्वं विद्याया निराकरोतीत्याह—**कामकारेण चैके** । कामकार इत्या ॥ १५ ॥ **उपमर्दं च** । अधिकोपदेशादित्यनेनात्मन एव शुद्धबुद्धोदासीनत्वादय उक्ताः । इह तु समस्तक्रियाकार-

आनन्दगिरीयध्यारूपा

तथापि कथं स्तुतिः, तत्राह—**एतदिति** । एवं कर्म कुर्वत्यपि स्वयि नेतो ब्रह्मभावाद्विद्यागम्यादन्यथा संसारापत्तिरस्ति यतो न कर्म लिप्यत इति योजनां गृहीत्वोपसंहरति—**तदेवमिति** ॥ १४ ॥ पूर्वपक्षहेतुनेवमुन्मध्य स्वपक्षे हेत्वन्तरमाह—**कामेति** । इतश्च विद्याया न कर्माङ्गतेति चकारार्थमाह—**अपिचेति** । स्वेच्छातः । कर्मसाधनप्रजादित्यागलिङ्गादपि विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति हेत्वन्तरमेव स्फोरयति—**एक इति** । येषां नोऽस्माकमयमपरोक्षः सन्नात्मायं लोकः प्रत्यक्षं फलं ते वयं किं प्रजया करिष्याम इति निश्चिन्नाग्निहोत्रादि न हुतवन्त इत्यर्थः । मोक्षस्यादृष्टफलत्वात्कथं मुक्तत्वनिश्चयात्प्रजादित्यागसिद्धिः, तत्राह—**अनुभवेति** । ब्रह्मधीनं क्रतुप्रयोगविधिनादेया क्रत्वङ्गसंबन्धित्वेऽपि फलान्तरयोगित्वादोहनवदिति मत्वाह—**अतोऽपीति** ॥ १५ ॥ अपिचोपदेशादित्यात्मनोऽशनायाधत्तयात्तद्दीनं कर्माङ्गमित्युक्तम् । इदानीमशेषक्रियादिविभागोपमर्दकत्वादपि न कर्माङ्गमित्याह—**उपमर्दं चेति** । इतश्चात्मधीनं कर्माङ्गमिति चकारार्थमाह—**अपिचेति** । हेत्वन्तरं स्फोरयति—**कर्मेति** । विद्यासामर्थ्यात्प्रपञ्चोपमर्द-फलतमाह—**वेद्यान्तेति** । आत्मज्ञानस्यादीयमानक्रत्वङ्गविरोधित्वे फलितं निगमयति—**तस्मादिति** ॥ १६ ॥ विद्यप्रवातपक्षे हेत्व-न्तरमाह—**ऊर्ध्वरेतःस्त्विति** । विद्याकर्मणी नाङ्गाङ्गिभूते मिथो व्यतिरेकित्वादनुगमननेष्टिकव्रतवदिति मत्वा योजयति—**ऊर्ध्वरेतः-नदीति** । दिना । तथापि कथं कर्माङ्गत्वं विद्याया व्यासेष्यते, तत्राह—**नचेति** । तेषामपि खानादि कर्मास्तोत्याशङ्क्याह—**न** । बाधितानुपपत्त्या तत्सङ्गावेऽपि वैदिकाग्निहोत्राद्यभावाच्च क्रत्वङ्गता ज्ञानस्येत्यर्थः । शब्दे हीतिप्रावयवव्याख्यामाशङ्क्याह—**न** ।

एष द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसाद्यन्सर्वे पते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ (छा० २।२३।१) इति । ननु परामर्शोऽप्याश्रमा गम्यन्त एव । सत्यं गम्यन्ते । स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः । अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति । अनधिकृतविषया वा । ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति । सत्यमेवं तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाम्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम् । तस्मात्स्तुत्यर्थं एवायं परामर्शो न चोदनार्थः । अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् ‘वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते’, ‘आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातनुं मा व्यवच्छेत्सीः’ (तै० १।११।१) ‘नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः’ इत्येवमाद्या । तथा ‘ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते’ (छा० ५।१०।१) ‘तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये’ (मुण्ड० १।२।११) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरावपदेशः । संदिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् ‘तप

रत्नप्रभाष्याख्यम्

चक्राः । बहूदकालु त्रिदण्डिनः । शिष्यजलपवित्रपादुकासनशिष्यायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेपथरास्तीर्थान्यदन्ते भक्षं वरुन
आत्मानं प्रार्थयन्ते । हंसासु एकदण्डिनः शिखावर्जं यज्ञोपवीतधराः शिष्यकमण्डलुपाणयः प्रामेकारात्रवासिनः कुच्छ-
चान्द्रायणपराः । परमहंसास्त्वेकदण्डधरा मुण्डा अयज्ञोपवीतिनः त्यक्तसर्वकर्माण आत्मनिष्ठा इति । अत्र पूर्वपक्षे संन्यासभावा-
ज्ज्ञानस्य स्वतन्त्रफलत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तद्वातात्तत्सिद्धिरिति फलभेदः । स्कन्धा आश्रमाः आत्मानं शरीरमाचर्य
कुले गृहे कर्षयन्नेष्टिक इत्यर्थः । स्कन्धश्रुतावाश्रमा न विधीयन्ते किंतु ब्रह्मसंस्थतास्तुत्यर्थमन्यन्त इत्युक्ते शक्तौ-
ननु परामर्शोऽपीति । अनुवादोपेक्षितपुरोवादात्प्रतीतिमङ्गीकरोति—सत्यमिति । प्रत्यक्षा स्कन्धश्रुतिरेव पुरोवागोऽनु-
नानुवाद इत्यत आह—स्मृतीति । तयोरपि इयमेव श्रुतिर्मूलमसु । क्लृप्तश्रुतौ विधिमात्रकल्पनालाघवात् । अस्या अनु-
वादत्वे तु मूलत्वेन सामिकानमिकाश्रमश्रुतिस्तत्र विधिश्चेति द्वयकल्पनागारवादित्यत आह—अतश्चेति । स्मार्तवादाश्रमाः
प्रत्यक्षयावज्जीवकर्मविधिश्रुत्यविरुद्धा ग्राह्याः । विरुद्धास्त्वनमिकाश्रमा उपेक्ष्याः कर्मानधिकृतैरन्यादिभिर्वा अनुष्ठेया इत्यर्थः ।
यावज्जीवश्रुतिविरोधान्नाश्रमं त्याज्यमिति भावः । स्कन्धश्रुतावनुवाद्यत्वाविशेषाद्वाहंस्कन्धवदितरेषामनुष्ठेयवमाह तस्य
श्रौतत्वादानुष्ठानं नेतरेषामश्रौतत्वादतो ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमिदं स्कन्धवाक्यमित्याह—नन्वित्यादिना । तन्तुं संततिम् । तथा
ये चेति । तेऽपिषमभिसंभवन्तीति वाक्यशेषादित्यर्थः । स्कन्धशब्दस्य आश्रमेष्वरूढत्वाच्चात्र नाश्रमविधिरित्याह—संदिग्धं

भामतीव्याख्या

माह—अथो धर्मस्कन्धा इत्यादिना । अनधिकृतविषया वेति । अन्धप्रज्ञाद्वाद्यो हि ये नैमित्तिककर्मानधिकृतप्रत्यक्षा-
मान्तरविधिरिति । अपिचापवदति हि । न केवलमन्यपरतया परामर्शस्याश्रमान्तरं न लभ्यते अपि त्वाश्रमान्तरनिन्दारूपपापता-
दपीत्यर्थः । स्यादेतत् । भवत्वेपि परामर्शोऽन्यार्थः । ये चेमेऽरण्य इत्यादिभ्यस्त्वाश्रमान्तरं सेत्स्यतीत्यत आह—ये चेमेऽरण्य
इति । अस्यापि देवपथोपदेशपरत्वाच्चैतत्परत्वमित्यर्थः । न चाभ्यपरादपि स्फुटतराश्रमान्तरप्रत्यय इत्याह—संदिग्धं वेति ।
नहि तप एव द्वितीय इत्यत्राश्रमान्तराभिधायी कश्चिदस्ति शब्द इति । नन्वेतमेव प्रव्राजिन इति वचनादाश्रमान्तरं सेत्स्य-

आनन्दगिरीयध्याख्या

अन्यत्र विहितस्यान्यत्र परामर्शोऽन्यत्र विधिकल्पनादिहैव कल्पना लब्धीत्याशङ्कते—**नन्विति** । परामर्शस्यानुवादस्य । वादोपेक्षत्वाच्चज्ञाशाश्रमप्रतीतिमङ्गीकरोति—**सत्यमिति** । तर्हि तद्विषयश्रुतेरन्यत्राश्रितत्वाद्गौरवमिल्याशङ्काह—**स्मृतीति** । तत्रापि श्रुतिमूलत्वादिभियुक्तश्रुतिकल्पनादिहैव तत्कल्पने लाघवमिल्याशङ्काह—**अतश्चेति** । प्रत्यक्षश्रुतियावज्जीवादिश्रुतिः । निरालम्बत्वात्कर्ममपि सात्वन्बन्तवं युक्तमिति कल्पान्तरमाह—**अनधिकृतेति** । येऽन्धादयो नित्यादिकर्मस्वनिरुक्ततासिद्धिषा आश्रमान्तरस्यस्तदाचाराक्षेपार्थः । आश्रमान्तराणां परामर्शोऽपि गार्हस्थ्यवत्प्रामाणिकत्वसिद्धेरनुपेयतेति शङ्कते—**नन्विति** । परामर्शस्यान्यमङ्गीकरोति—**सत्यमिति** । तर्हि प्रामाणिकत्वेनानुपेयत्वमपि तुल्यं स्यादित्याशङ्क्य न परामर्शमात्राद्गार्हस्थ्यसिद्धिः । अपि तु प्रत्यक्षश्रुतिविधानादिति विशेषमाह—**तथापीति** । गार्हस्थ्यमेव श्रौतमिति स्थिते ब्रह्मसंस्थतास्तुल्यमेव त्रय इत्याद्याश्रमान्तरवत्त्वमित्युपसंहरति—**तस्मादिति** । निम्नमानत्वाच्चाश्रमान्तरमननुपेयमित्याह—**अपिचेति** । तत्र सूत्रावयवं योजयति—**अपवर्ततेति** । तत्र त्रय इत्यादिवाक्यस्यान्यायत्वंमुक्त्वा वाक्यान्तरस्यापि तददेवाधीन्तरपरत्वमाह—**तथेति** । तेऽपिचमभिसंबन्धनि संसृष्टावै विरजाः प्रयान्तीतिवाक्यशेषादेवयानोक्तिपरं तदित्यर्थः । आश्रमवाचकशब्दाभावाच्चाधीन्तरपरत्वमित्याह—**संदिग्धं चेति** । प्रवक्तव्यं

एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु । तथा 'एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव-
जन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः । ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रवजे-
दिति विस्पष्टमिव प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम् । सत्यमेवमेतत् । अनपेक्ष्य त्वेतां
श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते । वेदे श्रवणात् । अग्निहोत्रादीनां चाव-
श्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनेधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमितिहीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदेवा-
श्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः । कुतः—साम्यश्रुतेः । समा हि गार्हस्थ्ये-
नाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या । यथेह
श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च शास्त्रा-
न्तरप्राप्तयोरेव निर्वीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उच्यते विधिपरे वाक्ये । तस्मान्मुन्यमनु-
ष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य । तथा 'एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रवजन्ति' (बृ०
४।४।२२) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः । 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपा-

रत्नप्रभावाख्या

चेति । तर्हि प्रवजन्तीत्याश्रमविधिरित्यत आह—तथैतमिति । आत्मलोको महीयान् यदर्थमशक्यां प्रवज्यामपि
कुर्वतीति स्तुतिर्वैतमानापदेशादित्यर्थः । संप्रति पूर्वपक्षमाक्षिप्येयं श्रुतिर्नास्तीतिकृत्वा चिन्त्यत इत्याह—नन्वित्यादिना
॥ १८ ॥ स्कन्धश्रुतावितराश्रमाः श्रुत्यन्तरविहिता अनुव्रजन्ते एतद्वाक्यानुवाद्यत्वाद्गार्हस्थ्यवदिति सिद्धान्तयति—अनुष्ठेय-
मिति । अनुवादस्य कचिद्विधिपूर्वकत्वे दृष्टान्तमाह—यथाचेति । निर्वीत मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं
देवानामिति वाक्ये दैवे कर्मण्युपवीतं विधीयते । तत्स्तुतये द्वयमनुव्रजते । मानुषक्रियासु देहार्धवस्त्रवन्धनाद्यनिर्वीतस्य
सौकर्यार्थतया प्राप्तत्वात् पित्र्ये कर्मणि प्राचीनावीतस्यापि विध्यन्तरप्राप्तत्वादित्यर्थः । वाक्यान्तरे च साक्षादेव पारिव्राज्य-
विधिर्निर्दिष्टः साहित्यादित्याह—तथैतमेवेति । अस्मैति पारिव्राज्योक्तिः । विधेयवेदानुवचनादिसाहित्यात्पारिव्राज्यस्य
विधेयतेत्यर्थः । वाक्यान्तरेऽपि साम्यश्रुतिमाह—ये चेति । अस्मैति वानप्रस्थोक्तिः । विधेयपञ्चाग्निविधया वानप्रस्थस्य

भामतीव्याख्या

गीत्यत आह—तथैतमेवेति । एतदपि लोकसंस्तवनपरमिति । अधिकरणारम्भमाश्लिष्य नास्ति प्रत्यक्षवचनमिदं कृत्वा
चिन्तेयमिति समाधत्ते—ननु ब्रह्मचर्यादेवेति ॥ १८ ॥ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः । भवत्यर्थः
परामर्शस्तथाप्येतस्मादश्रमान्तराणि प्रतीयमानानि च नापाकरणमर्हन्ति । एवं तान्यप्राप्तियेभ्यश्चमप्यप्रतीयन्ते । प्रतीयमानानि वा
श्रुत्या बाधेरन् । न तावन्न प्रतीयन्ते । तथाहि—त्रयो धर्मस्कन्धा इति स्कन्धानिर्लभं प्रतिज्ञातम् । तत्र स्कन्धशब्दो यथाश्रमपरो न
स्यादपि तु समूहवचनस्ततो धर्माणां यज्ञादीनां प्रातिस्विकोत्पत्तीनां किमपेक्ष्य त्रितयसङ्ख्या मुख्यवस्थापित । एकैकाश्रमो-

आनन्दगिरियव्याख्या

त्याश्रमवाचिशब्ददृष्टेरनुष्ठेयं पारिव्राज्यमित्याशङ्क्याह—तथेति । एवंविशिष्टोऽयमात्मलोको यदेतं साक्षात्कनुमिच्छन्तो दूरनुष्ठेयामपि
प्रवज्यां कुर्वन्तीति स्तुतिर्न तादृश्यो विधिर्वैतमानापदेशादित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति । प्रत्यक्षविधानमङ्गीकरोति—
सत्यमिति । तर्हि पूर्वपक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य नास्तीदं विधानमिति कृत्वा चिन्तेयमित्याह—अनपेक्ष्येति ॥ १८ ॥ मिदन्त्ययमव-
साधं व्याकरोति—अनुष्ठेयमिति । पूर्वपक्षमनुमाप्य तन्निरासप्रतिज्ञां विवृणोति—वेद इति । तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—
कुत इति । तस्याक्षरार्थमाह—समा हीति । तस्यैव तात्पर्यार्थमाह—यथेति । त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्राध्वरेणम आश्रमाः श्रुत्यन्तरप्र-
सिद्धा एव परामृश्यन्त एतद्वाक्यपरामृष्टत्वाद्गार्हस्थ्यवदित्यर्थः । परामर्शस्य विधिपूर्वकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । निर्वीतं मनुष्याणां
प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामुपव्रज्यते देवत्वममेव तत्कुरुत इत्युपवीतविधिपरं वाक्यं विध्यन्तरप्राप्तयोरेव निर्वीतप्राचीनावी-
तयोर्वेदा परामर्शस्तथाप्राप्त्यर्थः । निर्वीतं मनुष्याणामित्यादि दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं तत्रोपवीतं विधीयत एतदर्थयोगतु विविरय-
शब्दो वेति संशये सत्यपूर्वार्थलाभमनुव्रज्यशब्दस्य च मनुष्यप्राधान्यवानिवादातिथ्ये कर्मणि निर्वीतं पित्र्ये च प्राचीनावीतमिति
शब्दे मनुष्याणां क्रियासु सौकर्यार्थ कण्ठवस्त्रवन्धनस्य वा देहार्धवस्त्रवन्धनस्य वा निर्वीतस्य प्राप्तत्वात्प्राचीनावीतस्य न पितृयमे
क्रियान्तरेण म्यास्तदनुवादेन निर्वीतमित्यादिरुपवीतं स्तोत्रमर्थवाद इति प्राच्यां भाषांमायां पितृयम् । तथैव परामर्शश्रुतावपि त्रय
इत्याद्यां गार्हस्थ्यवदाश्रमान्तरमपि विहितमेवान्वय परामृश्यते तस्य विध्यपक्षत्वादित्यर्थः । साम्यश्रुतिफलमाह—तस्मादिति ।
य इत्यप्राश्रमान्तरस्य गार्हस्थ्येन साम्यश्रुतिरुक्ता संप्रति पारिव्राज्यवाक्येऽपि साम्यश्रुतिमाह—तथेति । अस्मैति पारिव्राज्योक्तिः ।
विधेयसाहित्यादित्यापि विधेयतेत्यर्थः । वाक्यान्तरेऽपि सा । तस्माह—ये चेति । अस्मैति वानप्रस्थोक्तिः । विधेयपञ्चाग्निविधया

सते' (छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया । यस्मिन् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति । नैष दोषः । निश्चयकारणसद्भावात् । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम् । नच यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसंबन्धात्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते । तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत । 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः । तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम् । ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरूपरुध्येत प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलाख्यो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वसूतत्वफलेति । सत्यमेतत् । सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् । विध्यन्तरस्यादर्शनात् । विस्पष्टाश्चाश्रमान्तरप्रत्ययाहुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजना-

रत्नप्रभाख्याख्या

सहोक्त्या तदपि विधेयमित्यर्थः । श्रुतत्रित्वाव्याधानुपपत्त्या स्कन्धशब्दस्य आश्रमपरत्वनिश्चय इत्याह—यस्मिन्मि त्यादिना । उत्पत्तिभिन्ना इति । यजेताऽप्येतत् दद्यादिति पृथगुपमा इत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्कन्धश्रुतेरनुवादकत्वमङ्गीकृत्य विध्यन्तरकल्पनेनाश्रमा अनुष्ठेया इत्युक्तम् । इदानीं विधित्वं तस्या एव कल्प्यं लाघवादिह्याह—विधिर्वेति यावज्जीवादिश्रुतेरविरक्तविषयत्वात् लाघवबाधकत्वमिति भावः । अल्पफलत्वेनाश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमेकमिदं वाक्यं भाति । तत्राश्रमविधिचतुष्टयमयुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । आश्रमाणां विध्यन्तरप्राप्त्यभावादनुवादयोगात् । स्तुतिलक्षणदोषाच्च वरं विस्पष्टाश्रमविधिभेदकल्पनमपूर्वत्वादित्याह—सत्यमित्यादिना । प्रतीतैकवाक्यत्वमङ्गेन भेदकल्पने

भामतीख्याख्या

पसंगृहीतास्त्वाश्रमाणां त्रित्वाच्छक्यास्त्रित्वे व्यवस्थापयितुमिच्छामाश्रमत्रित्वप्रतिज्ञोपपत्तिः । तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो ब्रह्मचारीति द्वितीयस्तप इति च तपःप्रधानात् वानप्रस्थाश्रमाच्चान्यः, ब्रह्मसंस्थ इति च पारिशिष्यात्पदिनाडिति वक्ष्यति । तस्मादप्यपरादपि परामर्शादाश्रमान्तराणि प्रतीयमानानि देवताधिकरणन्यायेन न शक्यन्तेऽपाकर्तुम् । नच प्रत्यक्षश्रुतिनिर्गमे वीरहा वेत्यादिः प्रतिपन्नगार्हस्थ्यं प्रमादादज्ञानाद्वाभिमुद्रासयितुं प्रवृत्तं प्रत्युपपत्तेः । एवंच अविरोधे भिन्नवत्तराश्रमाश्रमान्तराणां शास्त्रान्तरमिद्वि वा कल्पयिष्यामो यथोच्यतीतिविधिरेव वाक्ये 'उपव्ययते देवत्वमव तत्कुरुते' इत्यत्र निर्वातं मनुष्याणां प्राचीनावोतं पितृणामिति शास्त्रान्तरसिद्धयोर्निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श इति ॥ १९ ॥ विधिर्वा धारणवत् । यद्यपि ब्रह्मसंस्थत्वस्तुतिपरतयाऽस्य संदर्भस्यैकवाक्यता गम्यते । संभवत्वां चैकवाक्यतायां वाक्यभेदोऽप्याप्यः । तथाप्याश्रमान्तराणां पूर्वमिद्वेदभावात्परामर्शानुपपत्तेः, अपरामर्शे च स्तुतेरसंभवेन किंपरतया एकवाक्यतास्त्विति तां भङ्क्त्वा धारणवद्वयपूर्वत्वाद्विधिरेवास्तु । यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतिं विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात् । तथोक्तम् 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति । तथेहाप्याश्रमान्तरपरामर्शश्रुतिविधिरेवेति कल्प्यते ।

आनन्दगिरियव्याख्या

तस्य सहोक्तिरस्ति तेन तद्वदेव वानप्रस्थमनुष्ठेयमित्यर्थः । परोक्तिमुद्राव्य प्रत्याह—यस्मिन्मि त्यादिना । किं तन्निश्चयकारणं तदाह—त्रय इति । स्कन्धशब्दस्य समूहवाचित्वेऽपि त्रित्वप्रतिज्ञा स्यादित्याशङ्क्याह—नचेति । यजेत दद्यादित्याद्युपपत्तिविधिभिन्नाः सन्तो बहवो धर्मा नाश्रमसंबन्धमन्तरेण त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते । यथाश्रमपरः स्कन्धशब्दो न स्यात् स्वाग्नेयशब्दीनां त्रित्वं तेषामधिकृतत्वादतः स्कन्धशब्दस्य समूहार्थत्वायोगाज्जित्वमेव स्कन्धानामाश्रमत्वनिश्चायकमित्यर्थः । कथं तर्हि तेषामप्यश्रमाणां विभागः, तत्राह—तत्रेति । वाक्यान्तरेऽपि निश्चायकं दर्शयति—ये चेति । परोक्तं निरस्य स्वमतमुपसहृति—तस्यादिति ॥ १९ ॥ परामर्शमुपेयानुष्ठेयत्वमुक्तमिदानीं विधिरेवायमित्याह—विधिर्वेति । प्रतिज्ञां विमज्जे—विधिरिति । स्तुत्याचारयोराश्रमचतुष्टयनिविष्टयोर्भ्रान्तिव्यायोगान्मूलकल्पनायां विधियुक्तवाक्यकल्पनालौघीयस्य इत्यादिष्वाश्रमविधिकल्पनमिति भावः । अल्पफलत्वेनाश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थतारनुत्तरैकवाक्यत्वनिश्चयात्तद्भङ्गनात्राश्रमविधिकल्पनमयुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । एकवाक्यताधीरेव कथं, तत्राह—प्रतीयते चेति । एकवाक्यत्वसंभवे तद्वदेव न युक्तमानिलङ्गीकरोति—सत्यमिति । आश्रमाणां पूर्वमिद्वेदभावात्परामर्शेन स्तुतेरयोगादेकवाक्यतैवात्रायुक्त्याह—सतीमिति । किंच विधियुक्तवाक्यान्तरकल्पनयामाश्रमान्तराणां विहितत्वोपगमप्रसक्त्या स्वपक्षहानात्कल्पनादिहैवाभोष्टे वाक्ये विधिमाम्त्रकल्पना युक्त्याह—विध्यन्तरस्येति । किंच मुख्यमाश्रमान्तरप्रत्ययं त्वक्त्वा स्तुतिलक्षणयैकवाक्यत्वकल्पनायोगाद्वाक्यभेदेन विधिरेवायमित्याह—विस्पष्टाचेति । एकवाक्यताभावेऽपि

नृपपत्तेः । धारणवत् । यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात् । तथा चोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति । तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरवेति कल्प्यते । यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या । सा च किं चतुर्ष्वश्रमेषु यस्य कस्य चिदाहोस्वित्परिव्राजकस्येवेति विवेकव्यम् । यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्तत्तत्तुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमत्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वश्रमेषु ब्रह्मसंस्थो भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति । तत्र

रत्नप्रभाख्याख्या

दृष्टान्तमाह—धारणवदिति । महापितृयज्ञे प्रेतामिहोत्रे च सुवि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं प्रति यदा नीयते तदा तस्य हवियः 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेत्' इति विहिताधोधारणस्तावकतयोपरि हीत्यसैकवाक्यत्वमानेऽपि देवे होमे सुगण्डोपरि समिद्धारणे विधिरवापूर्वत्वादिति वाक्यभेदस्तृतीयाध्याये जैमिन्याचार्येणोक्त इत्यर्थः । एवं चत्वार आश्रमा विधीयन्त इति पक्ष उक्तः । संप्रत्याश्रमत्रयानुवादेन पारिव्राज्यमेकमेव विधीयत इति पक्षान्तरमाह—यदापीत्यादिना । ब्रह्मसंस्थताविधौ कथं पारिव्राज्यविधिरित्याशङ्क्य विचारयति—सा चेति । ननु त्रय इति वाक्य आश्रमचतुष्टयस्याप्राप्तेर्निर्बाजोऽयं विचार इत्याशङ्क्य तद्वाक्ये परिव्राजकः परामृष्टो न वेति संदिह्याये पूर्वपक्षप्राप्तिमाह—यदिचेति । नन्वनाश्रमस्येव ब्रह्मसंस्थः किं न स्यादत आह—अनाश्रमत्वेति । अनाश्रमी न तिष्ठेतेति निषेधादिति भावः । द्वितीये सिद्धान्तप्राप्तिमाह—अथेति । एवं परामर्शतदभावाभ्यां संशयमुक्त्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । वनस्थस्य ह्यसाधारणं कृच्छ्रादिकं तप इति

भामतीव्याख्या

प्रति परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां ब्रह्मसंस्थता संस्तवसामर्थ्यादेव विधातव्या । न खल्वविधेयं संस्तव्यते तदर्थत्वासंस्तवस्येवाह—यदापीति । अत्रावान्तरविचारमारभते—सा च किं चतुर्विधिति । विचारप्रयोजनमाह—यदि चेति । ननु वनाश्रमस्येव ब्रह्मसंस्थो भविष्यतीत्यत आह—अनाश्रमत्वेति । तत्र पूर्वपक्षमाह—तत्र तपःशब्देनेति । अयमभिप्रायः । यदि तावद्ब्रह्मसंस्थ इति पदं प्रत्यस्तमितावयवार्थं परिव्राजकेऽश्वकर्णादिपदवद् तदाश्रमप्राप्तिमात्रेणैवाप्यनीभाव इति न द्वावाप्य ब्रह्मज्ञानमपेक्षेत । तथाच नाप्यः पन्था विद्यतेऽन्यनायेति विरोधः । नच समवयवयवार्थं समुदायशक्तिकमाना । तस्माद्ब्रह्मणि संस्थास्येति ब्रह्मसंस्थः । एवंच चतुर्ष्वश्रमेषु यस्यां ब्रह्मणि निष्ठव्यमाश्रमिणः स ब्रह्मसंस्थोऽमुक्तवतीति युक्तम् । तत्र तावद्ब्रह्मचारिगृहस्थौ स्वशब्दाभिहितौ तपःपदेन च तपःप्रपाततया भिन्नत्वानप्रत्यापुपस्थापितौ । एतदपि हि समधिकशोचाष्टाश्रीभोजननियमाद्व्रति वानप्रस्थव्रतपःप्रपातः । नच गृहस्थादेः कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठ्यासंभवः । दि तावत्कर्मयोगः कर्मिता सा भिक्षोरपि कायवाङ्मनोभिरिति । अथ ये न ब्रह्मार्पणं कर्म कुर्वन्ति किंतु कामार्पितया नेमिणः । तथा सति गृहस्थादयोऽपि ब्रह्मार्पणं कर्म कुर्वाणा न कर्मिणः । तस्माद्ब्रह्मणि तात्पर्यं ब्रह्मनिष्ठता न तु कर्मत्वात् । तावतिरोधार् । तपसा च द्वयोरश्रमयोरेकीकरणेन त्रय इति नित्यमुपपद्यते । एवंच त्रयोऽयाश्रमा अब्रह्मसंस्थाः सन्तः

आनन्दगिरियव्याख्या

परामर्शपूर्वविधौ दृष्टान्तमाह—धारणवदिति । महापितृयज्ञे शिष्टं यत्तामिहोत्रे च श्रुतं वाक्यमुदाहरति—अधस्तादिति । आहरणव्याख्योपयोगित्वेन वाक्यस्याभीष्टमर्थमाह—अथेति । प्रकृते कर्मविशेषं नृपि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं प्रति यदा नीयते तदा विधेयं होमे तस्य हवियोऽधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदित्यधोधारणस्य विहितत्वादुपरि हीति तच्छेषानुवाक्यता तदेकवाक्यत्वमिहोपरिधारणस्य पूर्वत्वादेव होमे वाक्यभेदं कृत्वा तद्विधीयत इत्यर्थः । उक्तं यं तानां यत्र मुद्राहरति—तथेति । उपरि देवेभ्यो धारयतीत्यत्रोपरिधारणं विधीयते न वेति संदेहे धारयतीति वर्तमानोपदेशादुपरि हीति द्विचक्षुश्चोपरि मभिधः सैहविषयस्य हि तद्रव्यत्वेन येन केनाच्छादनप्राप्तौ सुगण्डे समिधमुपसंगृह्णानुद्रवतीति वाक्यान्तरप्राप्तमभिधायनानाद्यनुवाचो न विधिरिति प्राप्ते सुगण्डे समिधमुपसंगृह्णेति हवियः प्राग्देशे समिद्धारणस्य प्राप्तत्वेऽपि तस्मादुपरि तद्वारणस्याप्राप्तमदस्तादृशं न मलकारेण विधिरवायमित्याह—विधिस्त्विति । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । परामर्शपक्षमेवावलम्ब्याश्रमाणां परामर्शेऽपि पारिव्राज्यस्य विधिरिष्टव्योऽन्यथा रतुल्ययोगादित्याह—यदेति । ब्रह्मसंस्थताया उत्पन्नयेन तद्विधीयत इति न्यायादिष्वेऽपि पारिव्राज्यस्य किं स्यादित्याशङ्क्य तदर्थं विचारमवतारयति—सा चेति । पक्षद्वयस्य निर्वाहत्वात्तत्र विचार्यमित्याशङ्क्य परामर्शतौ परिव्राजकोऽपि परामृष्टो न वेति विकल्प्याद्यमनूय प्रथमपक्षप्राप्तिमाह—यदीति । परामृष्टत्वाविशेषादनुवाचोऽप्युक्तं यः ब्रह्मसंस्थो भविष्यतीति संबन्धः । ब्रह्मसंस्थोऽनाश्रमी कस्मात् स्यादित्याशङ्क्यानाश्रमिण्यस्य निन्वमानत्वादित्याह—अनाश्रमत्वेति । द्वितीयमनूय द्वितीयपक्षप्राप्तिमाह—अथेति । योः संभावनाया विचारारम्भमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । पविना-

तपःशब्देन वैखानसप्राणिणा परामृष्टः परित्राडपीति केचित् । तदयुक्तम् । नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परित्राजको ग्रहणमर्हति । यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारण्येनैव खेन खेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम् । तपश्चासाधारण्यो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात् । तपःशब्दस्य तत्र रूढेः । भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते । चतुष्टेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम् । अपिच भेदव्यपदेशोऽत्र भवति 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति । पृथक्त्वे चैव भेदव्यपदेशोऽवकल्पते । न ह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति । भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति । त-

रत्नप्रभाष्याख्या

प्रसिद्धम् । तेनैकेन तपःशब्देनोभयग्रहणमन्याय्यं भिक्षोस्तपस्त्रित्वप्रसिद्ध्यभावाच्च । तथाच यज्ञायसाधारण्यमद्वा गृहस्थायाश्रमत्रयवद्ब्रह्मसंस्थशब्देनैव ब्रह्मनिष्ठाप्रधानश्चतुर्थाश्रमो गृह्यते । स च स्तुतिसामर्थ्यात् सह ब्रह्मसंस्थविधीयत इति सिद्धान्तयति—तदयुक्तमित्यादिना । पृथग्व्यपदेशाच्च ब्रह्मसंस्थः पूर्वोक्तेभ्य आश्रमिभ्यः पृथग् इत्याह—अपिचेति । नचावस्थाभेदेन तेषामेव ब्रह्मसंस्था स्यादिति वाच्यम् । कालभेदेनापि सति मन्दप्रज्ञत्वे प्रज्ञाधिक्यत्सति कर्मित्वे तेषां विक्षिप्तचेतसां ब्रह्मसंस्थानुपपत्तिः । कर्मत्यागे च परित्राडेव ब्रह्मसंस्थ इत्यस्मद्विद्वदिति भावः । इमे

भामतीव्याख्या

पुण्यलोकभाजो भवन्ति यः पुनरेतेषु ब्रह्मसंस्थः सोऽमृतत्वभागिति । नच येषां पुण्यलोकभाक्त्वं तेषामेवामृतत्वमिति विरोधः । यथा देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावभूतां संप्रति तयोर्थज्ञदत्तरतु शास्त्राभ्यासापटुप्रज्ञो वर्तते इति तथेहापि य एवाब्रह्मसंस्थाः पुण्यलोकभाजस्त एव ब्रह्मसंस्था अमृतत्वभाज इत्यवस्थाभेदादविरोधः । तथाच ब्रह्मसंस्थ इति योगिकं पदं प्रकृतविषयं न विध्यति । यथा आभेय्यामीप्रमुपतिष्ठत इत्यत्र विनियुक्तापि प्रकृतैवाभेयी गृह्यते । नच विनियुक्तविनियोगविरोधः । यदि ह्यभेय्युपदिश्येत ततो यथा प्रतीता तथोद्दिश्येत विनियुक्ता च प्रतीतिर्भवेदिति विनियुक्तविनियोगविरोधः । इह तु आभीशेषस्यां सा विधेयत्वेन विनियुज्यते न तूद्दिश्यते । विधेयत्वेन च विनियोगे आभेयीपदार्थोपेक्षणप्रकृतातिक्रमे प्रमाणाभावात् । तावता च शास्त्रोपपत्तेर्नाप्रकृतानामपि ग्रहणसंभवः । नच यातयामतया न विनियोगः । वाचःस्तोमे सर्वेषामेव भन्तानां विनियोगादन्यत्राप्यविनियोगप्रसङ्गात् । तथेहापि प्रकृता एवाश्रमा बुद्धिविपरिवर्तिनः परामृश्यन्ते नानुक्तः परित्राडेवेति पूर्वः पक्षः । राक्षान्तमुपक्रमते—तदयुक्तम् । नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेनेति । यथोपक्रान्तं तथैव परिसमापनमुचितम् । यत्संख्याकाश्च ये प्रसिद्धास्ते तत्संख्याका एव कीर्त्यन्ते इति चोचितम् । न तु सत्यां गतादुसर्गस्यापवादो युज्यते । असाधारणैर्नैकैकेन लक्षणेनैकैक आश्रमो वक्तुमुपक्रान्त इति तथैव समापनमुचितम् । न तु साधारणसाधारण्यमुपक्रमसमाप्ती सिध्यते । नच तपो नाम नासाधारणं वानप्रस्थानामित्यत आह—तपश्चासाधारण्य इति । न खलु पराकादिभिः कायदेशप्रधानो यथा वानप्रस्थस्तथा भिक्षुः सत्यप्यष्टासादिनियमे । नच शौचसन्तोषशमदमदयस्तपःपक्षे वर्तन्ते तत्र वृद्धानां तपःप्रसिद्धेरसिद्धेः । अत एव वृद्धाः तपसो भेदेन शौचादीनाचक्षते—'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' इति । सिद्धसंख्याभेदेषु च संख्यान्तराभिधानमस्ति इत्याह—चतुष्टेन चेति । अपिच भेदव्यपदेशोऽत्रेति । त्रय एत इति किं भिक्षुरपि परामृश्यते किंवा भिक्षुवर्जं त्रय एव । न तावत्रय इति भिक्षुसंग्रहे तद्वर्जनमेते त्रय इत्यत्र कर्तुं शक्यम् । एत इति प्रकृतानां साकल्येन परामर्शोद्भिद्संग्रहे च न तस्य पुण्यलोकत्वमब्रह्मसंस्थत्वाभावाद्भिद्भिः । तेन तस्य ब्रह्मसंस्थस्य सदा पुण्यलोकत्वममृतत्वं चेति विरोधः । त्रिषु च ब्रह्मसंस्थपदे यदेति संसन्धनीयम् । भिक्षो च सदेति वैषम्यम् । तदिदमुक्तम्—

आनन्दगिरियव्याख्या

जकस्यापि यमनियमादितपःसंभवादित्यर्थः । आश्रमाणामेकैकशोऽसाधारण्यमरूपदर्शनायोपक्रमान्तदनुसारेण चोपसंहारस्य युक्तता पःशब्देन नोभयग्रहणमिति दूषयति—तदिति । किं तर्हि युक्तं तदाह—यथेति । कस्तर्हि तपःशब्दार्थः, तत्राह—तपश्चेति तेषां तत्प्रधानत्वेऽपि तपःशब्दस्य साधारण्यं किं न स्यात्, तत्राह—तपःशब्दस्येति । तस्य कुच्छादो रूढेरन्वय तदभावादे वानप्रस्थ एव परामृश्यत इत्यर्थः । कथं तर्हि परिव्राजकधर्मेऽपि तपःशब्दप्रयोगः, तत्राह—भिक्षोस्त्विति । इतश्च पूर्व परिव्राजकं नोक्त इत्याह—चतुष्टेनेति । नहि प्रसिद्धसंख्याभेदेषु संख्यान्तरोक्तिरुक्त्यर्थः । पृथगुक्तिसामर्थ्यादि प्रकृताश्रमत्रयातिरिक्तो ब्रह्मसंस्थ इत्याह—अपिचेति । भेदव्यपदेशोऽपि कथं पृथक्त्वं, तत्राह—पृथक्त्वे चेति । सर्व एते पुण्यलोका इत्यत्र भिक्षुरपि परामृश्येत् स्वाभ्रह्मसंस्थत्वाभावादमृतत्वंभवेति न पुण्यलोकत्वं विरोधात् । नच तपःशब्देन भिक्षोरपि ग्रहे तद्वर्जनं युक्तमेत इति प्रकृतं कात्स्न्येन परामर्शात् । तस्माद्भेदोक्त्या पृथक्त्वमेवेत्यर्थः । अपृथक्त्वे भेदोक्तिरयुक्तं वृष्टान्तमाह—नहीति । पृथक्त्वे तु ह्य कर्मित्वे मन्दप्रज्ञो क्तियुक्तेत्याह—भवतीति । न चावस्थाभेदापेक्षया वृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सिद्धिरपृथक्त्वेऽपीति वाच्यम् । सति कर्मित्वे मन्दप्रज्ञो

स्वात्पूर्वं त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक् । कथं पुनर्ब्रह्म-
संस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत् । रूढभ्युपगमेचाश्रम-
मात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्ति-
रन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते । तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न संभवति । स्वाश्रमवि-
हितकर्मननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात् । परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न संभवत्यन-
नुष्ठाननिमित्तः । शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी । ब्रह्मनि-
ष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषां तद्व्यतिक्रमे च तस्य
प्रत्यवायः । तथाच 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि
तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः
गृह्यसत्त्वाः' (मुण्ड० ३।२।६ नारा० १२।३ कैवल्य० ३) इत्याद्याः श्रुतयः । स्मृतयश्च—'तद्-

रत्नप्रभाख्याख्या

र्थं स्पष्टयितुं शङ्कते—कथं पुनरिति । यद्यपि ब्रह्मसंस्थशब्दः संन्यासाश्रमे न रूढस्तथापि योगात्मवोपस्थापयति ।
अन्याश्रमेषु यौगिकार्थासमवायादित्याह—अत्रोच्यत इति । सर्वकर्मत्यागिनः प्रणवार्थब्रह्मनिष्ठातिरेकेणानुष्ठेयं नास्तीत्यत्र
मानमाह—तथाचेति । न्यासः संन्यासो ब्रह्मेति सुतौ हेतुमाह—ब्रह्मा हीति । हिरण्यगर्भो हि पर इति प्रसिद्धः ।
अतो ब्रह्मत्वेन सुतः संन्यासः पर एवेति सुत्वा कर्माणि निन्दति तानीति । ततो न्याग एव ज्ञानद्वारा मोचकत्वादधिक
इत्यर्थः । तद्बुद्धयो ब्रह्मचित्तास्तदात्मानो ब्रह्मस्वरूपास्तन्निष्ठाः श्रवणादिपरास्तपरायणाः ब्रह्मप्रेमस्यः निष्कामा इति
भावत् । एवं ब्रह्मसंस्थशब्दस्य ज्ञानप्रधानाश्रमवाचित्वादमृतत्वकामस्वमुमाश्रममनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते । अतो

भामतीव्याख्या

पृथक्चेति । पूर्वपक्षाभासं स्मारयति—कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगादिति । तन्निराकरोति—अत्रोच्यत इति ।
अयमभिप्रायः । सत्यं यौगिकः शब्दः सति प्रकृतसंभवे न तदतिपत्त्याऽप्रकृते वर्तितुमर्हति । अमति तु संभवे मा भूत्प्रमाद-
पाठ इत्यप्रकृते वर्तयितव्यः । दक्षितश्चात्रासंभवोऽवस्तादिति । एष हि ब्रह्मसंस्थताल्लक्षणे धर्मो भिन्नोऽस्मात्प्राणि
तत्संस्थान्यतस्तसंस्थानि च भिद्युस्तत्संस्थ इत्येव । तत्संस्थता हि स्वाभाव्यं व्यवच्छिन्दन्ती विरोधावस्तत्संस्थ एव तत्राप्रसी
नाम्यत्र । शमदमादिस्तु तदीय इति । स्वाङ्गमव्यवधायकमित्यर्थः । ब्रह्मसंस्थत्वमसाधारणं परिव्राजकधर्मं अनिरादयतीत्याह—
तथाच न्यास इति ब्रह्मेति । सर्वसङ्कर्षत्यागो हि न्यासः स ब्रह्मा कुन इत्यत आह—ब्रह्मा हि परः । अतः परो न्यासो
प्रेमेति । किमपेक्ष्य परः संन्यास इत्यत आह—तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयदिति ।
इतदुक्तं भवति—ब्रह्मपरतया सर्वेष्वपारित्यागलक्षणे न्यासो ब्रह्मेति । तथा चेदर्थं न्यामलक्षणं ब्रह्मसंस्थत्वं भिन्नोऽस्मात्प्राणि

आनन्दगिरियव्याख्या

च ब्रह्मसंस्थताया महाप्रज्ञत्वस्य चायोगात्पुण्यवशौ व्यादिति मत्तोपसंहरति—तस्मादिति । किमेव ब्रह्मसंस्थशब्दो यौगिको रूढो
चेति विकल्पाये न परिव्राजकमात्रविषयतेति शङ्कते—कथमिति । द्वितीयं निराह—रूढीति । यौगिकत्वमुपेत्य परिहरति—
अत्रेति । यथोक्तं ब्रह्मसंस्थत्वमन्येषामपि सिध्यतीत्याशङ्क्याह—तच्छेति । तुल्यं संन्यामिनोऽपि स्वाश्रमकर्मोपानुष्ठाने प्रत्यवायित्वं
तदुक्तोऽस्य ब्रह्मसंस्थत्वं, तत्राह—परिव्राजकस्येति । तस्यापि शमदमापनुष्ठेयमिति कुतो ब्रह्मसंस्थतेत्याशङ्क्याह—शमेति ।
तत्र हेतुः—ब्रह्मेति । शमदेवैश्वर्यसंस्थताङ्गत्वात् तद्विरोधित्वार्थः । गृहस्थानीनामपि ब्रह्मसंस्थितत्वाविरोधेयं स्वाश्रमविहितं कर्म-
स्याशङ्क्याह—यज्ञेति । तानि हि रागाद्याक्षिसानि न च रागादिमतां ब्रह्मसंस्थतेति भावः । शमदमापनुष्ठेयं ब्रह्मनिष्ठत्वमेव
संन्यासिनः स्वाश्रमकर्मैत्युक्तं तदवरणे तस्य प्रत्यवायित्वं त्वपदार्थविवेकायैवेति स्मृतित्याह—तद्विनि । चकारादिनिरूपणमपि
तत्तदाश्रमकर्मतिक्रमे प्रत्यवायित्वमकुर्वन्विहितं कर्मत्यादिरस्मृतिरपि भ्रूयते । संन्यासिनः सर्वकर्मत्यागेन ब्रह्मसंस्थत्वमेव स्वाश्रमक-
र्मैत्यत्र मानमाह—तथाचेति । न्यासः संन्यासो ब्रह्मेति स्तुयते । तत्र हेतुमाह—ब्रह्मा हीति । हिरण्यगर्भो हि श्रुतिस्मृतिपु-
रोऽभीष्टतथापि कथं संन्यासस्तदात्मकः, तत्राह—परो हीति । तस्य परत्वे हेतुः—ब्रह्मेति । तद्विहेतुत्वात्परो यस्मादेव
न्यासस्तत्त्वाङ्गत्वार्थः । तस्य परत्वं स्फोरयति—तानीति । पूर्वोक्तानि सत्यादीनि प्रसिद्धानि तानि ज्ञानदीनान्यवराण्येतानि
पांसि निरुद्धत्वेहेतुत्वाद्यास एवैभ्योऽतिरिक्तः श्रेष्ठो ब्रह्मसंस्थताद्वाराऽमृतत्वहेतुत्वादित्यर्थः । तस्य कर्मान्तर्भावो वाक्यान्तरमाह—
तन्मेति । श्रुद्बुद्धयो विरक्ताः संन्यासयोगाद्देवान्तविज्ञानेन सुनिश्चितार्थां मुच्यन्त इति वचनात्कर्मान्तरभावः संन्यासिनां
पतीत्यर्थः । न कर्मणा न प्रजयैत्याद्या भूयस्यः क्षुतयोऽत्र सन्तीति वक्तुमादिपदम् । तस्मिन्ब्रह्मणि बुद्धिर्भनो येषां ते तथा
देव ब्रह्मात्मा स्वरूपं येषां ते तदात्मानः । तत्रैव निश्चयेन स्थितिमाह—तन्निष्ठा इति । विषयान्तरपारवश्यं व्यावर्तयति—
दिति । यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहायेत्यादिरस्मृतिसंग्रहः ॥ आदिपदम् । उक्तश्रुतिस्मृतितात्पर्यमाह—ब्रह्मेति । ब्रह्मसंस्थशब्दस्य

अयस्तदात्मानस्तस्मिन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति । तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येवोऽपि दोषो नावतरति । तदेवं परामर्शोऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतैव । अनपेक्ष्येव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः । विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा । 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति । न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम् । अविशेषश्रवणात् । पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना । ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम् । तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राजिवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षानो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति । तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः । सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विधायीः स्यात्तद्व्यति ॥ २० ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥



स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् ॥ जुहुरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥ १ ॥

भिन्नप्रकरणस्यत्वाद्वाङ्गविष्येकवाक्यता ॥ उपासीतेति विध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

न ज्ञानानर्थक्यदोष इत्युपसंहरति—तस्मादिति । संप्रति कृत्वाचिन्तामुद्घाटयति—अनपेक्ष्येति । शिष्यबुद्धिवैश्यायं स्कन्धश्रुतिमादाय चिन्ता कृतेति भावः । यदिवेतरथेति । ब्रह्मचर्यं स्थितस्यैव पूर्वमुक्तपरिपाकाद्वैराग्यं यदि स्यादित्यर्थः । यदुक्तं कर्मानधिकृतान्धादिविषयः संन्यास इति तत्रेत्याह—नचेति । सामान्यश्रुतेः संकोचहेत्वभावादिति भावः । पृथगिति । संन्यासस्येति शेषः । व्रती गोदानादिवेदव्रतवान् । गुरुकुलान्निवृत्तिरूपज्ञानानन्तरमकृतगार्हस्थ्यो गुरुसौ स्नातकः उत्सन्नाग्निर्विधुरः अगृहीताग्निरनग्निकः प्रव्रजेदित्यन्वयः । सकलाङ्गानामेव कथंचित्कर्मानधिकृतानां संन्यासो युक्तः । विकलाङ्गानां त्वन्धादीनां न ज्ञानप्रधानसंन्यासाधिकार इत्याह—ब्रह्मेति । दृष्टिपूतसंचारश्रवणादिकं विना ज्ञानानुत्पत्तेः । 'शरीरं मे विचक्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरिविधुवम्' इत्यङ्गसाक्ष्यप्रार्थनालिङ्गाच्च नान्यपहुम्बुधधिरादीनामधिकार इत्यर्थः । तच्चेति । पारिव्राज्यस्य ब्रह्मज्ञानाङ्गत्वं चेत्यर्थः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्कारायैति यावत् ॥ २० ॥ **स्तुतिमात्रं** । पृथिव्यबोधविपुरुषवाचकसात्रां सप्तानां रसानां रसतमोऽष्टम उद्गीष्टावयव उँकारः परमः परमासंप्रती-

भास्तीत्याख्या

नेतरेषामाश्रमिणाम् । ब्रह्मज्ञानस्य शब्दजनितस्य यः परिपाकः साक्षात्कारोऽपवर्गसाधनं तदङ्गतया पारिव्राज्यं विहितम् । न त्वनधिकृतं प्रतीत्यर्थः ॥ २० ॥ **स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्** । यद्यत्र संनिधान उपासनाविधिर्नस्ति तत्र

आनन्दगिरीयव्याख्या

परिव्राजके रुद्धिमुपेत्योपसंहरति—तस्मादिति । यथा गृहस्थशब्दस्य यौगिकत्वे सत्यतिप्रसङ्गपरिहारायाश्रमविशेषे रूढत्वेऽपि न गार्हस्थ्यमात्रात्पुण्यलोकासिः किंतु यथोक्ताग्निहोत्रादिकरणात् । तथा परिव्राजकस्यापि ब्रह्मसंस्थस्य वाक्यार्थसाक्षात्कारद्वारेण मुख्यममृतत्वमिति कुतो ज्ञानानर्थक्यमित्यर्थः । एवमेकदेशिमतं प्रत्याख्याय ब्रह्मसंस्थशब्दस्य परिव्राजकविषयत्वे स्थिते संस्तवसामर्थ्याद्ब्रह्मसंस्थत्वं पारिव्राज्यमितरपरामर्शोऽपि विधेयमिति परमप्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति । शिष्यबुद्धिकिकासार्थं परामर्शश्रुतिमात्रेण कृत्वाचिन्तया विचारं कृत्वा कृत्वाचिन्तामुद्घाटयति—अनपेक्ष्येति । यदि वेतरथेति ब्रह्मचर्यं स्थितस्यैव पारिव्राज्येच्छा गार्हस्थ्ये च वैराग्यं दैवयोगाद्यदि स्यादित्यर्थः । यत्वनधिकृतान्धादिविषयः संन्यासः स्यादिति, तत्राह—नचेति । अविशेषश्रुतिरसति बाधे न विशेषे संकोचमर्हतीत्यर्थः । इतश्चेदं वाक्यं नानधिकृतविषयमित्याह—पृथगिति । अनधिकृतानां संन्यासस्येति शेषः । गोदानादिवेदव्रतवान् । अव्रती तद्विपरीतः । स्नातको गुरुकुलनिवृत्तिरूपज्ञानानन्तरमपि गुरुशुश्रूषापैरः । तद्विपरीतोऽस्नातकः । उत्सन्नाग्निश्चेतभार्यः पूर्वमेवाग्निपरिग्रहद्विहितो वा । परिव्रजेदिति कर्माधिकारप्रतिपत्तिहीनानामपि संन्यासस्य पृथगुक्तेर्न वाक्यमनधिकृतविषयमित्यर्थः । संन्यासविधेरनधिकृतविषयत्वे हेत्वन्तरमाह—ब्रह्मेति । श्रवणादिद्वारा संन्यासस्य ब्रह्मज्ञानदाढ्यर्थत्वं प्रकण्डित्सिद्धं तेन समर्थस्यैवाधिकारस्तस्मिन्नित्यर्थः । पारिव्राज्यस्य ब्रह्मधीदाढ्यर्थत्वे श्रुति प्रमाणयति—तच्चेति । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावात् तस्मात्साक्षात्कारयेत्यर्थः । अन्तर्गमिताधिकरणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रामाणिकत्वं तच्छब्दार्थः । तेषां प्रमितत्वेनानुष्ठीयमानत्वेपि प्रकृते किं जातमित्याशङ्क्य प्रथमाधिकरणार्थं निगमयति—सिद्धं चेति ॥ २० ॥ अनुष्ठेयसान्म्यश्रुतेराश्रमान्तरमनुष्ठेयत्वा विधेयमित्युक्तम् । संप्रति रसतमत्वादीनामङ्गाश्रितत्वेनेत्येव जुहुरित्यादिश्रुतितुल्यतया स्तुत्यर्थत्वमित्याशङ्क्य प्रत्याह—स्तुतीति ।

‘स एष रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः’ (छा० १।१।१) ‘अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । तदिदमेवोक्तमियमेव पृथिवी’ इत्येवं-
जातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था
इति युक्तम् । उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात् । यथा—‘इयमेव जुहुरादित्यः कर्मः
स्वर्गो लोक आहवनीयः’ इत्याद्या जुह्वादस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत् । नेत्याह । नहि स्तुतिमा-
त्राणां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात् । विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति स्तुत्यर्थ-
तायां त्वानर्थक्यमेव स्यात् । विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना
स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् ‘विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः’ इत्यत्र । प्रदे-
शान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानर्थि-
कैव स्यात् । इयमेव जुहुरित्यादि तु विधिसंनिधावेवास्मात्तमिति वैषम्यम् । तस्माद्विध्यर्था एवै-
वंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

कत्वात्परस्य ब्रह्मणोऽर्थे स्थानं तदर्हतीति परार्थ इत्यर्थः । आसु श्रुतिष्वङ्गोपादानादपूर्वार्थत्वाच्च संशयमाह—किमिति । यथा-
नुष्ठेयग्राहकस्यसाम्यश्रुतेः परिव्राज्यस्यानुष्ठेयस्य तद्वदासां श्रुतीनां जुह्वादस्तुतियुतिसाम्यात्स्तुतिव्यतिरिक्तमिति पूर्वपक्षयति—स्तुत्यर्था
इति । जुहुरियमेव पृथिवीति स्तूयते । चयनस्थः कर्म आदित्य इति । आहवनीयः स्वर्गलोक इति स्तुतिः । तथोद्गीथा-
दीनां रसतमत्वादियुगैः स्तुतिरित्यर्थः । स्तुतिरक्षणतो वरं विधिकल्पनमनुष्ठानफलभावादिति सिद्धान्तयति—नहि स्तुतीति।
पूर्वपक्षे त्वननुष्ठानं फलं सिद्धान्ते त्वननुष्ठानं फलमिति मन्तव्यम् । स्तावकत्वेनार्थवत्त्वं किं न स्यादित्यत्र आह—विधायक-
स्येति । युक्तमियमेव जुहुरित्यादिश्रुतीनां फलवज्जुह्वादिविधिप्रकरणस्थतया स्तावकत्वेनार्थवत्त्वं; रसतामिदश्रुतीनां तु

भामतीव्याख्या

प्रदेशान्तरस्थितोऽपि विधिरव्यभिचरिततद्विधिसंबन्धेनोद्गीथेनोपस्थापितः स एष रसानां रसतम इत्यादिना पदसंदर्भेणैकवाक्यभावमु-
पगतः स्तूयते । नहि समभिव्याहृतैरेकवाक्यता भवतीति कश्चिन्नियमहेतुरस्ति । अनुष्ठानातिदेशलब्धेरपि विध्यसमभिव्याहृतैरेक-
वादेरेकवाक्यताभ्युपगमात् । यदि तूद्गीथमुपासीत सामोपासीतत्यादिविधिसमभिव्याहारः श्रुतस्तथापि तस्यैव विधेः स्तुतिर्न
तूपासनाविषयसमर्पणपर ओमित्येतदश्वरमुद्गीथमित्यनेनैवोपासनाविषयसमर्पणादिनि प्राप्तोऽभिधीयते—न तावद्व्यर्थेन कर्मविधिवार्येन-
कवाक्यतामभवत् । प्रतीतसमभिव्याहृतानां विधिनैकवाक्यतया स्तुत्यर्थत्वमर्थवादानां रक्तपटव्ययेन भवति । न तु स्तुत्या विना
कचिदनुपपत्तिविधेः । यथाहुः—‘अस्ति तु तदित्यादिरेके परिहारः’ इति । अत एव विधिरुपशमाभावात्पर्यवर्तनामकस्यानुष्ठानातिदेशादि-
भिरर्थवादप्राप्त्यभिधानमसम्भज्यम् । नहि कत्रेपेक्षितोपायतायामवगतायां प्राप्त्यप्रत्ययस्यास्ति कश्चिदुपयोगः । तस्माद्व्यर्थस्य
कर्मविधेः स्तुतावानर्थक्यम् । तेनैकवाक्यतानुपपत्तेः संनिहितस्य तूपासनाविधेः किं नियमसमर्पणेनोपयुज्यतामुत् स्तुत्येन विशये

आनन्दगिरीयव्याख्या

अधिकरणस्य विषयं वदन्वाक्यानि पठति—स इति । एषां भूतानां पृथिवी रमः पृथिव्या आपोपापोपपथ ओपधीनां पुरुषः
पुरुषस्य वाक्याच्च कण्ठ्यः सन्न सन्ना उद्गीथो रस इत्युपक्रम्य श्रूयते स एष रसानां पृथिव्यादीनां सामान्यानां भूतेभूतरोक्षरं
सारवेनोक्तानामतिशयन सारो रसतमः परमः परमात्मप्रतीकत्वात्परस्य ब्रह्मणोऽर्थे स्थानं तदर्हतीति परार्थः परमपदोपास्य
इत्यर्थः । पृथिव्याद्यपक्षयाष्टमः कोऽसौ यदुद्गीथो य उद्गीथ आकार इत्यर्थः । उद्गीथाद्यङ्गवद्भुतरीचिकृत्य पञ्चमयोपादा-
वङ्गसंज्ञे विध्युपलब्धेस्तथाविधेऽपि स्वर्गो लोक इत्यादौ स्तुत्युपलब्धेश्च संशयमाह—किमिति । ब्रह्मवैवर्तानामपि उद्गीतां
स्तुतिवाभावाद्विषयतया स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वे सत्यनङ्गात्मन्यः स्वतन्त्रतया फलवत्त्वमुपनिषदुपज्ञायाः किं वक्तव्यमित्युक्त-
त्वात्पादिसंगतिः । पूर्वपक्षे स्तुतिर्वाङ्मयश्रुतानुष्ठानासिद्धिः । सिद्धान्ते तासां विषयत्वात्तस्मिन्नित्युद्गीथस्य संशयमनूय पूर्व-
पक्षयति—इत्यस्मिन्निति । विमताः प्रत्ययाः स्तुतयः कर्माङ्गपूज्यपदार्थाध्यासप्रत्ययरूपत्वात्स्वर्गो लोक आहवनीय इत्यादिप्रत्ययव-
दित्यर्थः । जुहुरियमेव पृथिवीति स्तूयते कर्मश्रयनगतः सन्नादित्य इत्याहवनीयोऽग्निः स्वर्गो लोक इति त्वस्तुतिर्वैयर्थ्यः । स्तु-
तिकल्पनाद्विधिकल्पनमेव युक्तमनुष्ठानफलभावादिति परिहरति—नेत्यादिना । विमताः प्रत्यया न कर्माङ्गस्तुतयोऽपूर्वार्थत्वात्स्व-
न्तरवदित्याह—नेति । विमता धियो न कर्माङ्गस्तुतयो विशिष्टफलसंविन्त्वात्संमतवदित्याह—विधीति । वायुर्ब्रह्मविद्यादि-
षुद्गीथादिश्रुतीनां स्तुत्यर्थत्वेऽपि कस्मादर्थवत्त्वं न स्यादित्याशङ्क्याह—विधायकस्येति । अतु तर्हि विधायकशब्दशेषत्वेनो-
द्गीथादिश्रुतीनामपि स्तावकतयार्थवादत्वम् । तत्र वाच्यं किमुद्गीथादिप्रत्ययैर्द्गीथादिविधिः स्तूयते किं तदुपासनाविधिरिति विक-
ल्पाच्च दूषयति—प्रदेशान्तरेति । उद्गीथादिविधेः प्रकरणस्थत्वेन व्यवधानाच्च तेनोद्गीथादिश्रुतीनामैकवाक्यतया । विमता

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

‘उद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) ‘सामोपासीत’ (छा० २।२।१) ‘अहमुक्त्यमसीति विद्यात्’ इत्याद्यश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्त्येरन् । तथा च न्यायविदां स्मरणम्—‘कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम् । एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्’ इति लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एव स्मरन्ति । प्रतिप्रकरणं

रत्नप्रभाष्याख्या

कृत्वङ्गविधिप्रकरणस्थत्वाभावात्फलवदपूर्वोपास्तिविधायकत्वमेव युक्तं कृत्वन्तरधुतिवदिति भावः ॥ २१ ॥ किंचात्र विधि-
कल्प्य इति कृत्वाचिन्तयोक्तं वस्तुवस्तु न कल्प्यः कृत्वादित्याह—भावेति । न चैवमुपासनाविधिस्तावकत्वं रसतमादिश्रुती-
नामिति सांप्रतं । विध्यपेक्षितविषयार्पकत्वसंभवे स्तुतिलक्षणायोगादिति भावः । देवो मदधिं कुर्यादिति प्रार्थनादाविधि-
लिङादिप्रयोगादुपासीतेत्यादिशब्दानां कथं विधिपरत्वनिश्चय इत्यत आह—तथाचेति । एतल्लिङादिकं वेदेकसंगतो निय-
मेनेष्टसाधनत्वाख्यविधेरलक्षणं ज्ञापकं स्यात् । उपपदादिबाधके त्वन्याधूपरमित्यर्थः । तदिदमाह—लिङादीति । नच श्लोके
पञ्चममित्युक्तेः पञ्चपदानामेव विधिलक्षणत्वं नोपासीतेत्यादीनामिति भ्रमितव्यम् । क्रियासामान्यवाचिनां कृन्वस्तीनामुदाहरणेन
सर्वधातुपरकलिङादीनां विधिलक्षणत्वस्य विवक्षितत्वात्पञ्चमपदं तूक्तापेक्षया श्लोकपूरणार्थं मृत्युर्धोवति पञ्चम इतिवत् ।
यद्यपि डुकृञ्करण इति धातोरेव करणशब्दितभावनारख्यक्रियासामान्यवाचित्वं नेतरयोर्धोत्वोभौ सत्तायाम् भुवीत्यर्थान्तरोक्तेः ।
तथापि जन्माख्यभवनस्य तत्फलस्यास्तित्वस्य च प्रयोज्यनिष्ठस्य प्रयोजकव्यापारात्मकभावनाव्याप्तत्वात्तयोः क्रियासामा-
न्यवाचित्वव्यवहारः । तत्र कुर्यादिति प्रकृत्यर्थभावनाख्यातेनानूयते यथा द्वाविति प्रयोगे प्रकृत्यर्थो द्वित्वं प्रत्ययेनानूयते ।
तद्वल्लिङा च तस्या इष्टसाधनत्वाख्यविधिर्योच्यते । कर्ता तु तयाक्षिप्यत इत्याक्षिप्तकर्तृका भावनोदाहृता । तथा क्रियेते-
त्यत्रापि प्रकृतिप्रत्ययार्थौ व्याख्यातौ । कर्मात्र प्राधान्येनाक्षिप्यत इत्याक्षिप्तकर्मिकाभावनोदाहृता । आख्यातानां कर्त्रादिकारके
शक्त्यभावात्कर्तृकर्मणोराक्षेप एवेति गीमांसकमतम् । कर्तव्यमिति कृत्यप्रत्ययेन कर्मकारकमुच्यते । तस्योपसर्जनत्वेन प्रकृत्वा
भावनोक्तेति भेदः । तथा दण्डी भूयेत दण्डिना भवितव्यमित्युदाहृतव्यम् । तथा स्याद्भूयेत भवितव्यमित्यस्ति-
धातोर्पुदाहरणं द्रष्टव्यम् । अस्तेभूरादेशात् । एतद्धातुत्रयोपरकलिङादिभिः सर्वधात्वर्थोपरकभावनागतेष्टसाधनत्व-
रूपो विधिरैक एवोच्यते । धातूनां प्रत्ययानां कर्त्रादिकारकाणां च भेदेऽपि विधिभेदो नास्तीति ज्ञापनार्थं प्रतिधातु
दाहरणत्रयं दर्शितमिति सर्वमवदातम् । एवं सूत्रे भावो विधिरिति व्याख्याय चशब्दात्फलमिति व्याचष्टे—प्रति-
प्रकरणं चेति । एष ऋत्विगुपासकः कामागानस्य गानेन फलसंपादनस्येष्टे समर्थ इत्यर्थः । एवमन्नातिविद्या अपि

भामतीव्याख्या

विषयसमर्पणेन यथार्थवत्त्वं नैवं स्तुत्या बहिरङ्गत्वात् । अगत्या हि सा । तस्मादुपासनार्थो इति सिद्धम् । कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं
भवेत्स्यादिति पञ्चमम् । एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥ भावनायाः खलु कर्तृसमीहितात्कूलत्वं विधिविधेश्च कर्तुहि-
तात्कूलत्वम् । यथाहुः—‘कर्तव्यस्य सत्त्वफलोऽकर्तव्यो दुःस्वफलः’ इति । एतच्चास्माभिरुपासितं न्यायकणिकायाम् । क्रिया च
भावना तद्वचनाश्च करोत्यादयः । यथाहुः—कृन्वस्तयः क्रियासामान्यवचना इति । अत एव कृन्वस्तीनुदाहृतवान् । सामान्योक्तौ तदि-
शेषाः पचेदित्यादयोऽपि गम्यन्ते इति तत्र कुर्यादित्याक्षिप्तकर्तृका भावना । क्रियेतेति आक्षिप्तकर्मिका भावना । कर्तव्यमिति
तु कर्मभूतद्रव्योपसर्जनभावना । एवं दण्डी भवेदण्डिना भवितव्यं दण्डिना भूयेतेत्येकधात्वर्थविषया विष्णुपहिता भावना उदा-
हर्याः । भवतिश्चैव जन्मनि । यथा कुलालव्यापारादयो भवति बीजादङ्कुरो भवतीति प्रयुज्यते । नच बीजादङ्कुरोऽस्तीति

आनन्दगिरीव्याख्या

विधौ न कर्माङ्गस्तुतयोऽतत्प्रकरणस्थत्वात्कृत्वन्तरवदिति भावः । परोक्तं दृष्टान्तं विषटयति—इयमेवेति । अनुमानव्यकलं
निगमयति—तस्मादिति ॥ २१ ॥ न द्वितीय उपास्यविषयार्पणेन विध्यन्वययोगे लक्षणया स्तुत्यर्थत्वायोगादित्याह—भावेति ।
संनिहितविधेर्विषयार्पणेनार्थवत्त्वे रसतमादिवादानां संभवति तदीयस्तुतिपरत्वमपि तत्रायुक्तं स्तुत्यपेक्षया विषयार्पणस्यान्तरङ्गत्वात् ।
तत्र कर्माङ्गस्तुतिपरत्वं नेति किमु वक्तव्यमिति मन्वानो व्याचष्टे—उद्गीथमिति । निमज्जणादिष्वपि लिङादिस्मरणान्कथमुपासीते-
त्यादिशब्दस्य विधिपरतेत्याशङ्क्याह—तथाचेति । धातूनामनेकत्वेऽपि ‘डुकृञ् करणे’ ‘भू सत्तायाम्’ ‘अस युवि’ इति त्रीनेव धातु-
भावनासामान्यवाचिनः । सर्वव्याप्त्यर्थमुदाहरति—कुर्यादिति । आक्षिप्तकर्तृका भावना कुर्यादित्युक्ता सैवाक्षिप्तकर्मिका क्रियेत्यु-
दाहृता । सैव कर्तव्यमिति धात्वर्थोपसर्जनभूताऽभिहितेति भेदः । भवेदित्यत्रापि भूयेत भवितव्यमित्युदाहार्यम् । भवतेरस्तेष्वैकाग्र्ये
प्राप्त्यर्थं भवति दृष्टा पृथगस्तिमुदाहरति—स्यादिति । यथापूर्वमुदाहरणमिहापि द्रष्टव्यम् । पाठकममनुसृत्य पञ्चममित्युक्तम् ।
एतद्धात्वनुगतप्रत्ययैः सर्वभावनानुगतश्रेयःसाधनत्वरूपो विधिरुच्यते न तु प्रतिधातुप्रत्ययं च भावनाभेदोऽस्तीति मत्वाह—एतदिति ।
कथं तर्हि निमज्जणादिषु लिङादिस्मरणं मिथोविरोधादित्याशङ्क्योत्सर्गतो वेदे विधिपरा लिङाद्योऽपवादादन्यथात्वमित्यभिप्रेत्याह—
लिङादीति । उद्गीथादिश्रुतीनां स्तुत्यर्थत्वमाहृते हेतुवन्तरं चकारसूचितमाह—प्रसीति । फलभेदश्रवणमुपसंहरति—तस्मादिति ।

च फलानि श्राव्यन्ते—‘आपयिता ह वै कामानां भवति’ (छा० १।१।७) ‘एष ह्येव कामागान-
स्येष्टे’ (छा० १।७।९) ‘कल्पन्ते हासै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च’ (छा० २।२।३) इत्यादीनि ।
तस्मादन्युपासमविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥



पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः ॥ ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥ १ ॥
मनुर्वैवस्वतो राजेलेवं तत्र विशेषणात् ॥ अत्र विवेकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥ २ ॥

‘अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च’ (बृ० ४।५।१) ‘प्रतर्दन्तो
ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम’ (कौषी० ३।१) ‘जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धा-
देयो बहुदायी बहुपाक्य आस’ (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वारख्यानेषु
संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्माहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति । पारिप्लवार्था
इमा आख्यानश्रुतयः । आख्यानसामान्यात् । आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात् ।
ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत् । तन्न । कस्मात् ।

रत्नप्रभाख्याख्या

स्तत्र फलाः किमु वक्तव्यमनङ्गात्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति । आत्मविद्यास्वातन्त्र्ये चिन्ताया अस्याः पर्यवसानात्पादसंगतिर्बाध्या
॥ २२ ॥ पारिप्लवार्थाः । अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृत्ताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षतेति नानाविधाख्यानकथनात्मकः पारिप्लवप्रयोगो
विहितः । तथाच वेदान्तस्थकथानामाख्यानत्वसामान्याद्विद्यासंनिधानाच्च संशयमाह—किमिति । पूर्वं सुल्लेखया विधिज्या-
यानुष्ठानलाभादित्युक्तम् । तथैव कथानां न विद्यास्वातन्त्र्यं पारिप्लवानुष्ठानलाभादिति पूर्वपक्षः । तत्र फलमाह—ततश्चेति ।
यथा देवस्य त्वा सविनुरित्यादिमन्त्रे कस्यचित्पदस्य प्रयोगसमवेतार्थतया शेषस्य प्रयोगाङ्गत्वं तथा वेदान्तस्थकथानां
प्रयोगशेषत्वम् । तदेकवाक्यतया सर्ववेदान्तानां कर्मशेषत्वाच्च विद्याप्राधान्यमित्यर्थः । कथानां गुरुशिष्यसमानाचारप्रदर्शनेन बुद्धि-
सौकर्यद्वारा संनिहितविद्याशेषत्वं सामर्थ्यलिङ्गादतो विद्याप्राधान्यमिति फलं मत्वा सिद्धान्तयति—तत्रेत्यादिना । अश्वमेधे

भामतीध्याख्या

प्रयुजते । तस्मादस्तिः सत्तायां न जन्मनीति ॥ २१ ॥ २२ ॥ पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् । यद्यपि उप-
निषदाख्यानानि विद्यासंनिधौ श्रुतानि तथापि ‘सर्वोण्याख्यानानि पारिप्लवे’ इति सर्वश्रुत्या निःशेषार्थतया द्वैतस्य संनिधौ
चित्तत्वात्पारिप्लवार्थान्येवाख्यानानि । नच सर्वा दाशतयीरनुब्रूयादिति विनियोगेऽपि दाशतयीनां प्रातिमिकविनियोगोक्तत्वं तत्र
कर्मणि यथा विनियोगो न विरुध्यते तथेहापि सत्यपि पारिप्लवे विनियोगे संनिधानाद्विद्याङ्गत्वमपि भविष्यतीति वाच्यम् ।
दाशतयीषु प्रातिस्विकानां विनियोगानां समुदायविनियोगस्य च तुल्यबलत्वादिति तु संनिधानात् श्रुतेर्वैतरीयस्त्वात् । तस्मात्पा-
रिप्लवार्थान्येवाख्यानानीति प्राप्त उच्यते—नैषामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगः । किंतु पारिप्लवमाचक्षतेत्युपक्रम्य यत्प्राप्तातानि

आनन्दगिरियव्याख्या

पूर्वोक्तापूर्वत्वाविसमुच्चयार्थमपीत्युक्तम् ॥ २२ ॥ उद्गीथादिश्रुतेरुपास्तिविषयार्पकत्वं ज्यायो रसतमत्वादित्युक्तम् । अनुष्ठाना-
नानामपि विद्यारनुतेः सकाशात्पारिप्लवशेषत्वं ज्यायोऽनुष्ठानावसानयोगादित्याशङ्क्य परिहरति—पारिप्लवेति । विषयेऽपि पूर्वकमा-
ख्यानत्वसाम्याद्विद्यासंनिधेश्च संशयमाह—अथेत्यादिना । पारिप्लवप्रयोगो नामाश्वमेधे पुत्रामात्यपरिवृत्ताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षते-
त्यादिना नानाविधाख्यानकथनं विहितम् । अत्र चोपनिषद्भूताख्यानानां तादर्थ्यनिरासेन तत्र तत्र संनिहितस्तत्रपुरुषार्थेऽनुविचार्यत्वं
समर्थनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रयोगशेषत्वादाख्यानानां वेदान्तगतानामपि तद्भावाद्विद्याप्राधान्यासिद्धिः । सिद्धान्ते विशेषणादुप-
निषदाख्यानानां व्यवच्छेदात्तेषामप्रयोगशेषत्वाद्विद्याप्रधानत्वसिद्धिरिति स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति—पारिप्लवेति । गुरुशिष्यसमानाचारप्र-
दर्शनेन बुद्धिसौकर्यद्वारा च विद्याशेषत्वं सामर्थ्यलिङ्गादासां सिद्धमित्याशङ्क्य पारिप्लवश्रुतिविरोधे लिङ्गमप्रयोक्तव्यमित्याह—आख्यानेति ।
यथास्थितेन शस्यमाने सूर्योऽप्युदयादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयादिति सर्वासाधुचामाश्रितप्रदर्शनेन सर्वश्रुत्या विनियुक्तानामपि
प्रातिस्विकविनियोगवदाख्यानानां पारिप्लवे पारिप्लवमाचक्षतेति चोदितानामेतेन लिङ्गेन संनिधौ विद्यायां विनियोगः स्यादित्याशङ्क्य
प्रातिस्विकविनियोगस्य समुदायविनियोगस्य च श्रौतत्वेन तुल्यत्वात्प्रकृतं च तदभावात्नैवमित्याह—ततश्चेति । आख्यानानां
प्रयोगशेषत्वेऽपि सर्वेषां वेदान्तानामतच्छेषत्वायुक्तं विद्याप्रधानत्वमित्याशङ्क्याह—मन्त्रवदिति । देवस्य त्वेत्यादिमन्त्रे कस्यचित्पद-
पदस्य समवेतार्थतया प्रयोगशेषत्वे सिद्धे तदेकवाक्यतया पदान्तरागामपि नच्छेषत्वमिष्टम् । तथाख्यानानां प्रयोगशेषत्वे तदेक-
वाक्यत्वेन सर्वोपनिषदां तच्छेषत्वाच्च विद्याप्रधानतैल्यर्थः । सामान्यश्रुतेर्विशेषोक्तत्वाऽनन्तरत्वाच्च तथा लिङ्गादिबाधोऽस्तीति सिद्धा-
न्तयति—तत्रेत्यादिना । अश्वमेधे प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । द्वितीयेऽहनि यमो वैवस्वत इति । तृतीयेऽहनि वरुण

विशेषितत्वात् । 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैषखतो राजा' इत्येवमादीनि काचिद्विदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते । आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषा भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

असति च पारिप्लवार्थव्य आख्यानानां संनिहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या । एकवाक्यतोपबन्धात् । तथाहि तत्र तत्र संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च । मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ (बृ० ४।५।६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते । प्रातर्दनेऽपि ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इत्याद्यया । जानश्रुतिरित्यत्रापि ‘वायुर्वाच संवर्गः’ (छा० ४।३।१) इत्याद्यया । यथा ‘स आत्मनो वषाडुद्विदत्’ इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत् । तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥



आत्मबोधः फले कर्मपेक्षो नो वा ह्यपेक्षते ॥ अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥ १ ॥

अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः ॥ नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥ २ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

प्रथमेहनि मनुवैवस्वत इति कथा ब्रूयाद्वितीयेऽहनि यमो वैवस्वत इति तृतीयेऽहनि वरुण आदित्य इति वायव्यशेषे कथानां विशिष्यो
क्त्वाद्युपक्रमस्य संकोचो युक्त इति भावः ॥ २३ ॥ क तर्हि कथानां विनियोग इत्याशङ्क्य संनिधानाद्विद्याखिलाह—तथाचेति
प्ररोचनं प्रीतिजननं स प्रजापतिर्विषामुदक्षिदत् होमयोद्भुतवानित्यस्य प्राजापत्यमजं तूपरमालभेतेति विशिष्योक्त्यै एवमन्येषु
तत्तद्विशिष्येष्वन्तं द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥ एवमाद्याधिकरणप्रमेयं विद्यास्वातन्त्र्यमधिकरणत्रयेण दृढीकृत्याद्याधिकरणस्य फलमाह—
अत एव चेति । ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे जनयितव्ये सहकारित्वेन कर्माण्येष्वक्षते न वेति वादिब्रिवादात्संशये तैवेति ब्रह्म-
वित्पुण्यकृतैजस इत्यादिश्रुत्या ज्ञानकर्म्मसमुच्चयेन मोक्षप्राप्तिकथनादपेक्षत इति प्राप्ते विद्याया मुक्तिहेतुत्वादविद्यानिवृत्त्याह—

भामतीव्याख्या

मनुर्वैषस्वतो राज्ञेय्यादीनि तेभामिव तत्र विनियोगः, तान्येव हि पारिष्ठिवेन विशेषितानि । इतरथा पारिष्ठिवे सर्वोपाख्याना-
नीत्येतावतैव गतत्वापारिष्ठिवामक्षीतेत्यनर्थकं स्यात् । आख्यानाविशेषणत्वे त्वर्थवत् । तस्माद्विशेषणानुरोधात्सर्वस्वदस्यदेशो
न त्वशेषवचनः । यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र निमित्त्रतापेक्षः सर्वशब्दः । तथा चोपनिषदाख्यानानां शिष्य-
संनिधिरप्रतिब्रह्मी विद्येकवाक्यतां सोऽरोदीदित्यादीनामिव विध्येकवाक्यत्वं गमयतीति सिद्धम् । प्रतिपत्तिर्लोक्यवैखण्ड्याख्या-
नेन हि बाला अप्यवधीयन्ते यथा तन्त्रोपाख्यायिकेयेति ॥ २३ ॥ २४ ॥ अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । विद्यायाः

आनन्दगिरीयव्याख्या

आनन्दगिरियव्याख्या

आदित्य इत्याद्याख्यानविशेषा वाक्यशेषे श्रुतास्तद्बलादपक्रमस्य संकोचो युक्तः । न चोपक्रमस्थसर्वेशब्दादुत्पत्तिरसांस्था विशेषोक्ति-
रूपलक्षणार्थैति वाच्यम् । आदौ सर्वाण्यस्यानानि पारिप्लवे शंसतीत्युक्त्वा पारिप्लवमाक्षीतेति च विधाय मनुवंद्यस्त इत्यादि-
पठ्यते । तत्र पुनर्विधानं वाक्यशेषस्थाख्याननियमार्थमेतन्मया धैयर्थ्यात् । सर्वेशब्दोऽपि वाक्यशेषपर्योपाख्यानमप्यस्त्वक्तिपप्रयोगे,
गमात्रेणोपरमं व्यावर्तयितुमित्यर्थवानिति मत्वा सिद्धान्तं विवृणोति—**पारिप्लवमिति** । यच्चाख्यानसामान्यात्पारिप्लवार्था रमः क्षुप्त
इति, तत्राह—**आख्यानेति** । विशेषणफलं निगमयति—**तस्यादिति** ॥ २३ ॥ तर्हि कुत्राख्यानान्मुपकुञ्जीतोल्लासश्च विशेषण-
क्षया सर्वश्रुतो भग्नायां निर्बाध्यः संनिधिर्विशालस्त्वोपनिषदाख्यानानि नियुज्येतत्याह—**तथाचेति** । सूत्रार्थे विवृणोति—**असतीति** ।
एकवाक्यतोपसंवन्धं विभजते—**तथाहीति** । प्रोचनमनुरागजननम् । संनिहितविधाभिराख्यानानामेकावक्यताप्रतीतिमुदाहरति—
मैत्रेयीति । आख्यानत्वेऽपि पारिप्लवार्यत्वादज्ञानाच्च न तादर्थ्यं प्रकृताख्यानानामित्याह—**यथेति** । उद्विद्धदुष्टवृत्ताहारोभायेति
यावत् । श्रुतिलिङ्गसंनिधिविधार्यत्वे सिद्धे फलितमुपसंहरति—**तस्यादिति** ॥ २४ ॥ कथानां विधाशेषत्वे दक्षिते कर्मणां
तर्हि तच्छेषत्वं तच्छेषत्वामावेऽपि स्यादित्याशङ्क्य प्रसङ्गागतं विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह—**अत इति**
ब्रह्मविद्या मोक्षे कर्माणीतिकतंब्यत्वेनोपेक्षते न वेति वादिविप्रतिपत्तेः संदेहे यत्केनेति विविधविधायानि नियुक्तयथादीनां विषयलोच्यं
लभ्यायां तस्यामनन्वयात्तद्विषयज्ञानसाध्यमोक्षांस्त्वयस्य युक्तत्वादपेक्षत इति पूर्वपक्षे काष्ठैः पञ्चतीत्यत्र पाकसाधनज्वालजनकका-
ष्ठानां पाकेतुत्वाददर्शनज्वालेच्छाजनकान्तःकरणशुद्धिहेतुत्वेन यथादीनां ज्ञानेच्छाहेतुत्वसिद्धेः साक्षादेव मोक्षांस्त्वच्ये च शब्दे-

‘पुरुषार्थोऽतः शब्दात्’ (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत् इति परामुच्यते । अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वाद्भीन्धनादीन्याश्रमकर्मणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥



उत्पत्त्यानपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते ॥ फले यथानपेक्षेयमुत्पत्त्यानपेक्षता ॥ १ ॥

यज्ञज्ञानादिसापेक्षं विद्याज्ज्ञानं श्रुतिद्वयात् ॥ हलेऽनपेक्षितोऽप्यथो रथे यद्वदपेक्षते ॥ २ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति । तत्रात एवाभीन्धनादीन्याश्रमकर्मणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्त एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्ता-

रत्नप्रभाव्याख्या

मुक्तौ न कर्मापेक्षेति सिद्धान्तयति—**पुरुषार्थ इति** । अभीन्धनपदेन तत्साध्यकर्मणि लक्ष्यते । पुण्यकृतैजसः शुद्धसत्त्वो ब्रह्मविद्भ्यः तेन वेदेनैतै ब्रह्म प्राप्नोतीति श्रुतिर्वाह्येयेति भावः । मुक्तावेव कर्मणामसामर्थ्यादनपेक्षा विद्यायां त्वस्ति भित्त-
शुद्धिद्वारा तेषामपेक्षलक्षिकं वक्तुमयमुपसंहार इत्युपसंहारसूत्रस्य फलमाह—**अधिकेति** ॥ २५ ॥ अधिकमाह—
सर्वापेक्षा । यथा प्रमाफलत्वादविद्यानिवृत्तौ कर्मानपेक्षा तथा प्रमात्वाद्विद्यायामपि प्रमाकरणमात्रसाध्यायां नास्ति कर्मापेक्षेति पूर्वपक्षः । तत्र विद्यार्थं कर्मानुष्ठानासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । अत्र विविदिषायामिष्यमाण-
ज्ञाने वा यज्ञादीनां कर्मणा हेतुत्वमपूर्वत्वाद्विधीयते । प्रमाया अप्युत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितक्षयाख्यशुद्धिद्वारा कर्मसाधनसंभ-
वात् । नच पारंपर्ये तृतीयाश्रुतिविरोधः । ज्वालाद्वारा पारंपर्येऽपि कष्टिः पचतीति प्रयोगात्, द्वारस्याग्न्यवधायकत्वात् ।
नच शुद्धेन्द्रार्ये मानाभावः । ‘ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । कपाये कर्मभिः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तते’ इति
सूतेः । ‘अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मुक्तमश्नुते’ इत्यादिश्रुत्या कर्मणा पापनिवृत्तौ ज्ञानेन मुक्त्यभिधानाच्चेति सिद्धान्त-
यति—**इदमिति** । नन्वत्र विविदिष्यन्तीति पक्षमलकारेण विविदिषां भावयेयुरिति सनर्थच्छेद आख्याना भाति । तां विषयसौ-

भामतीव्याख्या

कत्वर्थत्वे सति तया कृतपकरणाय स्वकार्याय कतुरपेक्षितः । तदभावे कश्यपकारो विद्येति । यदा तु पुरुषार्थो तदा नानया कतुरपे-
क्षितः स्वकार्ये निरपेक्षया एव तस्याः सामर्थ्यात् । अग्नीधनादिना चाश्रमकर्माण्युपलक्ष्यते तदाह—**अभीन्धनादीन्याश्रमक-**
र्मणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीति । स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानि न तु स्वसिद्धाविति । एतच्चापि-
व्यपरीष्टादृश्यते । तद्विवक्षया चैतत्प्रयोजनं पूर्वतनस्याधिकरणस्योक्तम् ॥ २५ ॥ अधिकविवक्षयति यदुक्तं तदधिकमाह—
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् । यथा स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते आश्रमकर्मणि एवमुत्पत्तापि नापेक्ष्यन्ति शङ्का स्यात् ।
एव विविदिष्यन्ति यज्ञेनेत्यादिविरोधः । नखेप विविदिषु तु वर्तमानापदेशः । स च स्तुत्यापुपपद्यते । अपिच चतस्रः प्रतिप-
त्तौ ब्रह्मणि ॥ प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्राद्भवति यां किलाचक्षते श्रवणमिति । द्वितीया भीमांतासहित तस्मा-

आनन्दगिरियव्याख्या

पादिकरणभक्तिमहात्पारंपर्यस्यैवोपेक्षत्वाच्चापेक्षत इति सिद्धान्तः । एतदभिधेयं संनिहितस्मात्ः शब्दपरामर्शयोग्यस्याभावादत्पदा-
प्रतिमाशङ्क्य सत्ताक्षराणि योजयति—**पुरुषार्थ इति** । आधाधिकरणे यथा विवायाः स्वातन्त्र्येण पुनर्वहेतुत्वमुक्तं तथ नपे-
क्ष्यते । तथा चाग्नेयादिश्वदशनाश्च पुरुषार्थहेतुत्वं कर्मापेक्षाविरोधीति निरस्तम् । नचात्र पारादिर्मुगनिर्बन्धना प्रथमाधिकर-
णैव तत्फलविवक्षया तस्याः सुगमत्वात्फलमपि पूर्वोत्तरपक्षयोस्तद्वदेवैवभिधेयाह—**आद्यस्येति** । स्वार्थसिद्धौ नापेक्षा न तु
सिद्धौ ह्यत्र तदपेक्षास्तौल्यमन्तराधिकरणे निर्देष्टुमुपसंहार इति तत्फलमाह—**अधिकेति** ॥ २५ ॥ ब्रह्मविद्या स्वकर्म न
मापेक्षा प्रमात्वात्समतवदित्युक्तम् । तर्हि न स्वोत्पत्तावपि तदपेक्षा प्रमात्वात्तद्वदेवैवशाङ्काह—**सर्वेति** । अत्रिधिविवक्षेयत्वमुक्तं
तत्त्वोक्तं ब्रह्मविद्यामधिकृत्य भूतव्यधिकरणन्यायादिविदिषाश्रुतेश्च संशयमाह—**इदमिति** । अत्र च स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतुत्वोपनिषदात्म-
नोपलब्धौ यज्ञादीनां शमादीनां च विविदिषावाक्यीयविनिर्वागोक्तस्ति पारादिर्संगतिः । पूर्वपक्षे यज्ञादीनां विद्यानां नपेक्ष्य-
न्ति तत्प्रसक्त्या समुच्चयसिद्धिः । सिद्धान्ते परंपरया तेषां ज्ञानान्वयेऽपि तत्फलान्वये हेत्वभावात्तदभिधेयं ज्ञानस्यैव न तदुत्पत्ति-
दित्युक्तं हीनस्य पूर्वपक्षयति—**तत्रेति** । अपरोक्षविद्यो मानमात्रायत्तत्वात्प्रामाणिकज्ञानस्य मानहेतुत्वं सत्यं कर्माद्यभावात्तदुत्पत्ति-
त्वेनैवत्वमिति भावः । विविदिषावाक्ये वर्तमानापदेशेऽपि यस्य वर्णमयीत्यादिवापि पूर्वत्वात्पक्षमलकारेण ब्रह्मनुपब्रह्मो यज्ञादीनि
विद्युपगमादागमस्य केवलव्यतिरेकानपेक्षत्वादिष्वगोचर्यलभ्यायामिच्छायां साक्षादन्वयायोगात्तत्फलं ज्ञाने यज्ञाद्यवयवसि-
धौनेत्यादिकरणश्रुत्या च तेषामिष्यमाणपरोक्षविद्यापक्षान्वयं च मानावत्तया साक्षादन्वयायोगान्वयेऽपि तेषां चित्तशुद्ध्या

यामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति । अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव ।
'ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति । नेति ब्रूमः । उत्पन्ना हि
विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षत उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । कुतः—यज्ञादिश्रुतेः ।
तथाहि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'
(बृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति । विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्ति-
साधनभावोऽवसीयते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।१।१) इत्यत्र च
विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते ।
'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते
पदं संप्रहेण ब्रवीमि' (कठ० २।१५) इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं
सूचयति । स्मृतिरपि—'कषायपक्तिः कर्मणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मभिः पक्के

रक्षप्रभाष्याख्या

न्दर्यलभ्यतयोल्लङ्घ्य वेदनं चेद्वाव्यमुच्यते तर्हि वेदनमप्युल्लङ्घ्य तत्फलं मोक्ष एव कर्मभिर्भाव्यः किं न स्यादित्यत आह—
विविदिषासंयोगाच्चेति । इष्यमाणतया विद्यायाः शब्दतः फलत्वभानादश्रुतमोक्षो न फलमन्यथा कार्यः पक्षो
त्यत्रापि काष्ठानां पाकफलवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गादिति भावः । कर्मणां ज्ञानार्थत्वे लिङ्गावाक्यान्याह—अथेत्यादिना । कथिदेद-

भामतीव्याख्या

देवोपनिषद्वाक्याद्यामाचक्षते मननमिति । तृतीया चिन्ता सन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति । चतुर्थी साक्षात्कारवती
वृत्तिरूपा नाग्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति । तत्राथे तावत्प्रतिपत्ती विदितपददर्शस्य विदितवाक्यगतिसोचरण्यास्य च पुंम
उपपद्यते एवेति न तत्र कर्मापेक्षा । ते एव च चिन्तामयी तृतीयां प्रतिपत्तिं प्रसृवाते इति न तत्रापि कर्मापेक्षा । मा
चादरनैस्तर्थादीर्षकालसेविता साक्षात्कारवतीमाधत्त एव प्रतिपत्तिं चतुर्थीमिति न तत्राप्यस्ति कर्मापेक्षा तन्नाग्तरीयकं च कैवल्य-
मिति न तस्यापि कर्मापेक्षा । तदेवं प्रमाणतश्च प्रमेयत उत्पत्तौ च कार्यं च न ज्ञानस्य कर्मापेक्षेति बोजं शङ्कयाम् ।
एवं प्राप्त उच्यते—उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विविदिषोत्पादद्वारा 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति श्रुतेः । न चेद वन-
मानापदेशत्वास्तुतिमात्रमपूर्वत्वादर्थस्य । यथा यस्य पर्णमयी जुहुर्भवतीति पर्णमयताविधिरपूर्वत्वाच्च त्वयं वर्तमानापदेशः अनु-
वादानुपपत्तेः । तस्मादुत्पत्तौ विद्यया शमादिवत् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते । तत्राप्येवंविदिति विद्यास्वरूपसंयोगादन्तरङ्गाणि विद्योपादे
शमादीनि, बहिरङ्गाणि कर्माणि विविदिषासंयोगात् । तथाहि—आश्रमविहितनित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मसमुत्पादस्ततः पामा विलीयते । न
हि तत्त्वतोऽनित्याशुचिदुःखानामनि संसारे सति नित्यशुचिसुखात्मलक्षणेन विभ्रमेण मलिनयति चित्तमत्त्वमधर्मनिकम्बनवादि-
भ्रमाणाम् । अतः पाप्मनः प्रक्षये प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापावरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्य तात्त्विकीमनित्याशुचिदुःखरूप-
तामप्रत्युहं विनिश्चिनोति । ततोऽस्मिन्ननभिरतिसंज्ञं वैराग्यमुपजायते । ततस्तज्जिहासाऽऽप्योपावर्तते । ततो हानोपायं पर्येते
पर्येषमाणश्चात्मतत्त्वज्ञानमस्योपाय इति शास्त्रादाचार्यवचनाच्चोपश्रुत्य तज्जिज्ञासत इति विविदिषोपहारमुखेनास्मान्नोत्पत्तावलि
कर्मणामुपयोगः । विविदिषुः खलु युक्त एकाग्रतया श्रवणमनने कर्तुमुत्सहेते । 'ततोऽस्य तत्त्वमसि' इतिवाक्यान्निर्विचिकित्सज्ञ-
नमुत्पद्यते । नच निर्विचिकित्सं तत्त्वमसीति वाक्यार्थमवधारयतः कर्मण्यधिकारोऽस्ति । येन भावनायां वा भावनार्थे वा
साक्षात्कारे कर्मणामुपयोगः । एतेन वृत्तिरूपसाक्षात्कारकार्येऽपवर्गे कर्मणामुपयोगो दूरानरस्तो वेदितव्यः । तस्माद्यथैव शम-
दमादयो यावज्जीवमनुवर्तन्ते एवमाश्रमकर्मापीत्यसमीक्षिताभिधानम् । विदुषस्तन्नातनधिकारादित्युक्तम् । दृष्टार्थेण तु कर्मसु प्रति-
द्ववर्जमनधिकारोऽस्यसक्तस्य स्वारसिकी प्रवृत्तिरुपपद्यत एव । नहि तत्रान्वयव्यतिरेकसमधिगमनीयफलेऽस्ति विद्यपेक्षा ।
अतश्च 'भ्रान्त्या चेन्नैकिकं कर्म वैदिकं च तथास्तु ते' इति प्रलापः । शमदमादीनां तु विद्योत्पादाद्योपात्तानामुपरिष्ठादवस्था-

आनन्दगिरीव्याख्या

प्रत्यक्षप्रवणतामुत्पाद्यारोक्षज्ञाने पर्यवसानात्पार्येऽपि पञ्चनि काष्ठरितिवत्करणविकसितं भवादुत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षास्तीति सिद्धा-
न्तयति—इहमिति । आपातेन पूर्वोपरिविरोधप्रतीतिं शङ्कते—नन्विति । विभागोक्त्या प्रत्याह—नेतीति । उक्तव्यवस्थायां प्र-
पूर्वकं हेतुमाह—कुत इति । हेतुं विवृणोति—तथाहीति । नन्वत्र विविदिषासंयोगो यज्ञादीनां ज्ञायते यदि तस्यां निष्-
सौन्दर्यलभ्यायां तेषामन्वयायोगादिष्यमाणे ज्ञानेऽन्वयोऽभ्युपगम्यते तर्हि ज्ञानस्य माद्याधीनत्वात्कर्मणां तत्रान्वयासिद्धेः कृतत्वाच्च
तत्फले मोक्षे किमित्यन्वयो नेष्यते, तत्राह—विविदिषेति । मोक्षहेतुत्वकल्पनायां नास्त्यकृतः कृतत्वेत्यादिबिरोधात्परंपरया
हेतुत्वे बाधाभावाद्विदुषुश्च तदुत्पत्तावेवान्वयो यज्ञादीनामित्यर्थः । यज्ञादिश्रुतेरिति वाक्यान्तरमपि प्रदीतव्यमित्याह—अथेति ।
तत्र यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे विज्ञातं लिङ्गमाह—अथेति । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—सर्वं इति । परंपरया कर्मणां भीतुते
स्थितिमपि दर्शयति—स्मृतिरिति । उत्पत्ताविव कलेऽपि ज्ञानस्य कर्मापेक्षा किं न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमादाय व्याकरोति—

परिकल्प्य पौष्णं पेपणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः । तथा चोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्' (ब्र० सू० ३।४।२०) इति । स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्याखनभिसंघाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम् । तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि । तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि विविदिषासंयोगात् बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥ २७ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणालये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥



सर्वाज्ञानविधिः प्राणविद्योऽनुज्ञाव्यापदि ॥ अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्ध्याविविधीयते ॥ १ ॥

आद्यज्ञभोजनाशक्तेः शास्त्राद्याभोग्यवारणम् ॥ आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽस्मिन् ॥ २ ॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति । तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६।१।१४) इति । सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः । किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम् । तथाहि—प्रवृत्ति-विशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते ।

रत्नप्रभाष्याख्या

पौष्णं पेपणमिति सूत्रे विचारितमित्यर्थः । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्याद्याः स्मृतयः । कर्मणां ज्ञानहेतुत्वे शमादिवद्यावज्ज्ञानोदयमनुवृत्तिः स्यात्तथाच संन्यासाभाव इत्यत आह—तत्रापीति । दृष्टविक्षेपनिवृत्तिद्वारा शमादीन ज्ञानार्थत्वादानुवृत्तिर्न कर्मणामदृष्टद्वारा ज्ञानार्थत्वादिति भावः ॥ २७ ॥ **सर्वान्नानुमतिः** । एवंविदि प्राणस्यान्नं सर्वमिति ध्यानवतीत्यर्थः । जग्धं भक्षितम् । अपूर्वत्वाद्विध्यश्रुतेश्च संशयः । अपूर्वत्वाद्यज्ञादिवद्विधिः कल्प्य इति पूर्वपक्षयति—**विधिरिति** अत्र भक्ष्याभक्ष्यनियमत्यागस्य विद्याङ्गत्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तु विद्यास्तुतिरिति विवेकः । न कलञ्जं भक्षयेदिति शाक

भामतीव्याख्या

स्वाभाव्यादानपेक्षितानामप्यनुवृत्तिः । उपपादितं चेतदस्माभिः प्रथमसूत्र इति नेह पुनः प्रत्याख्यते । तस्माद्विविदिशोपादद्वारा श्रमकर्मणां वियोत्पत्तावपयोगो न विद्यार्थः इति सिद्धम् । शेषमतितरोहितार्थम् ॥ २६ ॥ २७ ॥ **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणालये तद्दर्शनात्** । प्राणसंवादे सर्वेन्द्रियाणां श्रूयते । एष किल विचारविषयः—सर्वाणि खलु वागादीन्यवगिरा प्राणो मुख्य उपाचैतानि किं मेऽन्नं भविष्यतीति तानि होतुः । यदिदं लोकेऽन्नमा च श्रम्य आ च शकुनिभ्यः सर्वप्राणिन षडन्नं तत्तवान्नमिति । तदनेन संदर्भेण प्राणस्य सर्वमन्नमित्यनुचिन्तनं विधायार्ह श्रुतिः—'न ह वा एवंविदि किंच नानन्नं भवति' इति । सर्वे प्राणस्यान्नमित्येवंविदि न किंचनानन्नं भवतीति । तत्र संशयः—किमेतत्सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवदेताद्विद्याङ्गतया विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति । तत्र यद्यपि भवतीति वर्तमानापदेशाच्च विधिः प्रतीयते तथापि यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीति वर्तमानापदेशादपि पलाशमयीत्वविधिप्रतिपत्तिः पञ्चमलकारापर्या तथेहापि प्रवृत्तिविशेषकरतालाभे विधिप्रतिपत्तिः । स्तुतौ हि अर्थवादमात्रं न तथार्थवद्यथा विधौ । भक्ष्याभक्ष्यशास्त्रं च सामान्यतः प्रवृत्तमनेन विशेषशास्त्रेण बाध्यते । गम्यागम्यविवेकशास्त्रमिव सामान्यतः प्रवृत्तं वामदेवविद्याङ्गभूतमस्तक्यपरिहारशास्त्रेण विशेष

आनन्दगिरीव्याख्या

इत्कथेन पौषेदेशेन पिष्टभागः कर्तव्य इति विकृतौ संबन्धः 'पौष्णं पेपणं विकृतौ प्रतीयेताच्चेदनात्प्रकृतौ' इत्यत्र विचारित इत्यर्थः अवान्तरवाक्यभेदेन सूत्रकृतापि स्वीकृतौ विधिरित्याह—**तथाचेति** । स्मृत्यनुसारेणाप्यवान्तरवाक्यस्य विधायकत्वं वाच्यमित्याह—**स्मृतिष्विति** । कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धेः फलितमाह—**तस्मादिति** । यज्ञादीनमपि श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्योऽनुवृत्त्येव शमादीनां तेभ्यो विशेषाभावाद्यावद्विद्योदयमविशेषेणानुष्ठानं स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्रापीति** ॥ २७ ॥ यज्ञादीन शमादीनां च विद्यासंनिहितानां तच्छेषतोका तत्प्रसङ्गाद्विद्यासंनिध्युक्तसर्वान्नानुज्ञानस्यापि विद्याशेषतामाशङ्क्य प्रत्याह—**सर्वाङ्गेति** । प्राणविदः सर्वान्नानुज्ञानं विषयं वक्तुं शास्त्रादयस्यां श्रुतिमाह—**प्राणेति** । जग्धं भक्षितम् । विषयवाक्यार्थं संगृह्णाति—**सर्वमिति** । अपूर्वत्वाद्विध्यश्रुतेश्च संशयमाह—**किमिति** । अत्र प्राणविद्यायाः स्वतन्त्रपुमर्थहेतोर्वाक्यार्थज्ञानोपयुक्त्यैवाः स्तुत्यर्थं सर्वान्नानुज्ञानकीर्तनमिति कथनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्राणविदो भक्ष्याभक्ष्यविभागासिद्धिः । सिद्धान्ते विद्योऽविद्युपश्रानादिति तत्सिद्धिरिति मन्वानः संशयमनूय पूर्वपक्षयति—**विधिरिति** । विधिपक्षेऽनुष्ठानविशेषलाभं हेतुमाह—**तथाहीति** । सर्वान्नानुज्ञानं स्वतन्त्रमेव विधीयतामित्याशङ्क्य संनिधिबिरोधाभेवमित्याह—**अत इति** । सर्वान्नानुज्ञानं प्राणविद्याङ्गं चेत्तर्हि न कलञ्जं भक्षयेदिति

नन्वेवंसति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात् । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावाद्वा-
धोपपत्तेः । यथा प्राणिर्हिसाप्रतिषेधस्य पशुसंक्षपणविधिना बाधः । यथा च 'न कांचन
परिहरेत्तद्व्रतम्' (छा० २।१।३२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वहृयपरिहारवचनेन
तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते । एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वा-
न्नमक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं
विधीयत इति । न ह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते 'न ह वा एवंविधि किंचनानन्नं भवति'
(छा० ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात् । न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वालो-
भेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते । अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवं-
विदः किंचिदनन्नं भवति' इति । नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते ।
शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम् । तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसायांऽयमर्थ-
वादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः । तद्वक्ष्यति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणाल्ये' इति । एतदुक्तं
भवति—प्राणाल्य एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते तद्वर्णनात् । तथाहि
श्रुतिश्चाक्रायणस्यैवः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु'
(छा० १।१०।१) इत्यस्मिन्नाह्मणे । चाक्रायणः किल्पिरापद्रव इत्येन सामिखादिताम्बुल्मा-

रत्नप्रभाख्याख्या

प्राणविद्यतिरिक्तविषयम् । यथा ग्राम्यकर्मणि वामदेव्यसामोपासकव्यतिरिक्तविषयं परस्त्रीनिषेधशास्त्रं तद्वदिति प्राप्ते सिद्धान्तं
सुराद्वहिरेव दर्शयति—नेदमिति । प्राणविद्याविधिसंनिधेरशक्यत्वाच्च स्तुतिरेव न विधिः कल्पः । निषेधशास्त्रविधौ
कुमो हि विधिः सामान्यशास्त्रबाधको ननु कल्प्य इति भावः । स्वस्थस्य प्राणविदो न सर्वान्नानुमतिरित्यत्र लिङ्गं वदन् सूत्रं
योजयति—तद्वक्ष्यतीति । मटच्यो रक्तशुद्धपक्षिणस्तेहेतेषु कुरुदेशस्थसस्येषु दुर्भिक्षे जाते बालया सह जायया मुनिदेशान्तरे
गच्छन्निभ्यप्राप्ते स्थितवानिभ्यो हस्तिपालवस्तेन सामिखादितानर्धभक्षितान् कुत्सितमापान् याचयित्वा भक्षितवान् । दम्भेन जलं
गृह्णेत्युक्ते सत्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति प्रतिपिथ्य माषाः किंनोच्छिष्टा इतीभ्येनोक्ते सति माषमक्षणे जलत्यागे च कारण-
मुवाच । अत्रांशे मम आपदस्ति । जलपानं तु स्वेच्छातस्तडागादौ लभ्यत इति माषान् खादित्वावशिष्टाभ्यायैव दत्तवान् । सा
चानापद्रता पत्युरापदं ज्ञात्वा माषान्संरक्ष्य प्रातस्तस्मै ददौ । स च तान् खादित्वा राज्ञो यज्ञं गत्वा प्रसन्नोऽसीदन्नाक्षिप्य

भामतीव्याख्या

विषयेणैति प्राप्त उच्यते—अशक्तेः कल्पनीयत्वाच्छान्तरविरोधतः । प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनसंस्तवः ॥ न तावकी-
यकर्मणोदमवं मनुष्यजातिना युगपत्प्राप्येण वा शक्यमनुम् । इमकरमकादीनामन्नस्य शमीकरीरकण कवश्कादीनां कस्यापि अशक्या-
नन्नात् । न चात्र लिङ्ग इव स्फुटतरा विधिप्रतिपत्तिरस्ति । नच कल्पनीयो विधिरभ्युत्थानावान् । स्तुत्यापि च तदुपपत्तेः । नच
त्वां गतो सामान्यतः प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य विषयसंकोचो युक्तः । तस्मात्सर्वं प्राणस्यान्नमित्यनुचितं विधानस्तुतिरिति साम्प्रतम् ।
व्यत्ये च प्रवृत्तिविशेषकरतोपपुज्यते नाशक्यविधानत्वे । प्राणाल्य इति चावधारणपरं प्राणाल्य एव सर्वोक्तव्यम् । ततोपराधनाच्च
कुटतरविधिरमृतेषु सुरावर्जैर्विन्मसमविद्वांसं प्रति विधानात् । न त्वन्यत्रेति । इत्येन हान्तिपकेन सामिखादितानर्धभ-

आनन्दागरीयव्याख्या

।।सं विरुध्येतेति शङ्कते—नन्विति । प्राणविद्यतिरिक्तविषयं तदिति विरोधं परिहरति—नेत्यादिना । उपर्युक्तमव कर्मविषयदृष्टान्ते-
गोशहरति—यथेति । तत्रैव विद्याविषयं दृष्टान्तमाह—यथाचेति । यदुपमन्वयत स हिकार इत्यादिना ग्राम्यव्यापारगणनेनाशु
हैकारादिदृष्टिर्विहिता सा वामदेव्यविद्या तत्रोपमन्वयं संकेतकरणम् । दृष्टान्तव्योसं दार्ष्टान्तिकं योजयति—एवमिति । विविदि-
गावस्ये वर्तमानापदेशेऽप्यपूर्वत्वात्पथमलकारादौकारेण विधिकल्पनवन्न हेत्यादौ वर्तमानापदेशेऽप्यपूर्वत्वाद्विधिरिति मनमनूष यथाह-
हेरेव सिद्धान्तमाह—एवमिति । तत्र हेतुमाह—नहीति । यस्य पणमधीत्यादाविव वर्तमानापदेशेऽपि कल्प्यो विधिरित्याश-
ङ्गाह—नचेति । सामान्यविधिबाधकत्वं श्रुतिविशेषविधेरितं विशेषकल्पना तु सामान्यविधिना बाध्या कल्पनाया विरोधाभावा-
त्संवादिलयः । इतश्च स्तुत्यर्थमेवेदं वचो न विधिरित्याह—अपिचेति । न यन्म आ शकुनिभ्य आ कोऽप्यनन्तैश्चस्तत्संप्रति
श्रवणादशक्यविषयो विधिर्न संभवतीत्याह—नचेति । तर्हि वचनवैयर्थ्यमित्याशङ्क्य सर्वं प्राणस्यान्नमिति धीमन्त्येवामेवमिति
त्याह—शक्यते इति । उक्तेऽर्थे सूत्रमादत्ते—तदिति । तदक्षराणि व्याकथयित्वाह—चाक्रायण इति । स हि दुर्भिक्षे
रक्तवर्णाः क्षुद्रपक्षिविशेषा वा तैर्हेतेषु कुरुषु तद्देशस्थस्येति यावत् । आख्यायिकायांमाह—चाक्रायण इति । स हि दुर्भिक्षे
जाते जाययाऽनुपजातपयोधरोदिलोभ्यजनया सह देशान् प्रतिचक्रमे । स कदाचिदभ्यग्रे नवनमन्निभ्येन मह हस्त्याग्रेण
सामिभोजितानर्धभक्षितान्कुल्माषान्कुत्सितमापान्भक्षितवानित्यर्थः । अनुपानं गृह्णेत्युक्ते सत्युच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति प्रतिपिथ्य किमेते-

पांश्चखाद् । अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचक्षे । कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीवि-
ष्यमिमान्खादन्' (छा० १।१०।४) इति 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च ।
पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषिताङ्कुलमापान्भक्ष्यान्भूवेति । तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्यु-
षितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते प्राणालयप्रसङ्गे प्राणसंधारणायामक्ष्य-
मपि भक्षयितव्यमिति । खस्यावस्थायां तु तत्र कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद्भ्रम्यते ।
तस्मादर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्येवमादिः ॥ २८ ॥

अथाधाच्च ॥ २९ ॥

एवंच सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

अपिच स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपिचापदि सर्वाङ्गभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽद्विदुषश्चाविशेषेण—'जीवितालयमापन्नो
योऽन्नमस्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभस्ता' इति । तथा 'मद्यं नित्यं
ब्राह्मणः' 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः' 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च
स्मर्यते वर्जनमनस्य ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

शब्दश्चानस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां ध्रूयते—'तस्माद्ब्रा-
ह्मणः सुरां न पिबेत्' इति । सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवादत्वा-
दुपपन्नतरो भवति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधाय इति ॥ ३१ ॥

रत्नप्रसाध्याख्या

प्राणादिकां प्रास्तावादिदेवतामुपदिश्य धनं प्राप्य स्थित इति भावः । अत्रोच्छिष्टभक्षणजलत्यागात्मकशिष्टाचारलिङ्गाच्छ्र-
तादनापदि विदुषाप्यभक्ष्यं न भक्षणीयमिति सूच्यत इति भावः ॥ २८ ॥ २९ ॥ सुरापानेनापि जीवनमाशङ्क्य कदापि तत्र
कार्यमित्याह—तथा मद्यं नित्यं ब्राह्मण इति । वर्जयेदिति शेषः । कुत इत्याशङ्क्य मरणान्तप्रायश्चित्तविधानादित्याह—
सुरापस्येति । उष्णामतितप्तं सुरामिति शेषः । इतश्च सा न पेयेत्याह—सुरापा इति ॥ ३० ॥ उदाहृतस्मृतीनां
मूलश्रुतिमाह—शब्दश्चेति । कामकारो यथेष्टप्रवृत्तिः सोऽपि निषेधोऽपि उपपन्नतरो भवति । न ह वा एवंविदीत्यस्यार्थ-
वादत्वात् । यद्ययमपि विधिः स्यात्तर्हि विहितप्रतिषिद्धत्वात्परोऽशिग्रहणाग्रहणवत्सुरापाने विकल्पः स्यात्तच्च सर्व-

भामतीव्याख्या

श्रितात् । स हि चाकायणो हस्तिपकोच्छिष्टान्कुलमापान्भुञ्जानो हस्तिपकेनोक्तः । कुलमापानिव मदुच्छिष्टमुदकं कर्माशान्पिबतीति ।
एवमुक्तस्तदुदकमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचक्षे । कारणं चात्रोवाच । न वाऽजीविष्यं न जीविष्यामीतीमाङ्कुलमापानत्तादम् । कामो
म उदकपानमिति स्वातन्त्र्यं मे उदकपाने नदीकूपतडागप्रपादिषु यथाकामं प्राप्नोमीति नोच्छिष्टोदकाभावे प्राणालय इति
तत्रोच्छिष्टभक्षणदोष इति मटचीहेतुषु कुरुषु ग्लायन्नशनायया मुनिनिरपत्रप इभ्येन सामिजग्यान्वाद्यामास ॥ २८ ॥ २९ ॥

आनन्दगिरियव्याख्या

ऽयमुच्छिष्टा नेति परेणोक्ते कारणं चानुपाननिषेधे कथितवानित्याह—अनुपानं त्विति । कुलमापानेन भक्ष्यन्ते जीवनमेव मे न
स्यात्कामः स्वेच्छानो मे तडागादिपृथक्पानं भविष्यतीत्यर्थः । स्वयं खादित्वा शिष्टाज्यायार्थमाजहार । तथा च भर्तृस्वभावश्चा निहिता-
नुत्तरदिने प्रातरेव भक्षितवानित्याह—पुनश्चेति । कुलमापभक्षणश्रुतेरभिप्रायमाह—तदिति । अनुपाननिषेधश्रुतेस्तत्तत्पर्यमाह—
स्वस्थेति । सर्वोन्नभक्षणस्य निरङ्कुशत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति ॥ २८ ॥ तस्यार्थवादत्वे हेत्वन्तरमाह—अथाधाचेति ।
सामान्यशास्त्रविरोधात् कल्प्यो विशेषविधिरित्युक्तम् । अधुना सामान्यशास्त्रं दर्शयन्त्यं योजयति—एवंचेति । स्वशास्त्रार्था-
भक्ष्याभक्ष्यभेदे सतीति यावत् ॥ २९ ॥ आपदवरथायामभक्ष्यभक्षणानुष्ठाने स्मृतिं संवादयति—अपीति । स्मृतिरपि विद्वद्विषयेत्याह-
क्याह—अपिचेति । सुरापानमवस्थाद्वयेऽपि न कार्यमित्याह—तथेति । ब्राह्मणो वर्जयेदिति शेषः । जीवितालयरमृता सुरापि
तदलये पातव्येत्याह—सुरापस्येति । उष्णां सुरामिति शेषः । उष्णामग्निना तप्तमिति यावत् । मरणान्तिकप्रायश्चित्त-
तद्वस्तुसम्पङ्गेऽपि सा न पातव्येत्यर्थः । इतश्च सा सदा न पेयेत्याह—सुरापा इति । तत्र हेतुः—अभक्ष्येति । मग्न-
त्वाविरमृतेस्तत्पर्यमाह—वर्जनमिति ॥ ३० ॥ स्मृतिप्रामाण्यार्थं तन्मूलश्रुतिमाह—शब्दश्चेति । तस्माद्ब्राह्मणस्य सुरापस्य मरणा-
न्तिकप्रायश्चित्तदर्शनादिति यावत् । श्रौतनिषेधस्य प्रकृतौपयोगमाह—सोऽप्यपि । श्रुतिस्मृतिसिद्धमर्थमुपसंहरन्नतः शब्दं व्या-
नं विधायार्थोक्तिर्विशानां स्मृतिर्नित्यवत् । एवं विधायार्थोक्तिर्विशानां स्मृतिर्नित्यवत् । एवं विधायार्थोक्तिर्विशानां स्मृतिर्नित्यवत् ।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥



विद्यार्थनाश्रमार्थं च द्विःप्रयोगोऽथवा सकृन् ॥ प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिनते ॥ १ ॥

आह्वार्थमुक्त्या कृतिः स्याद्विद्यार्थेनाश्रमसत्ता ॥ अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादरे मतः ॥ २ ॥

‘सर्वापेक्षा च—’ (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम् । इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्मुताहो नेति चिन्त्यते । तत्र ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति’ (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि । अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तथैषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति । अस्यां प्राप्नोति पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्याभ्येव नित्यानि कर्माणि ‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति’ इत्यादिना विहितत्वात् । नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥ अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति’ (बृ० ४।४।२२) इत्यादिना । तदुक्तम्—‘सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वघत्’ (ब्र० सू० ३।४।२६)

रत्नप्रभाष्याख्या

स्मृतिभिः शिष्टाचारेण च विरुद्ध इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । नित्याग्निहोत्रादिकर्मसु विहितत्वा-
द्विनियुक्तविनियोगविरोधाच्च संशये शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वावश्यकैः स्तुतिव्यवस्थितविनियुक्तव्यवस्थितविनियोगाद्विदिषायां
विनियोगधृतेः स्तुतिव्यवस्थिति पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । ज्ञानकामनयानुष्ठाने कर्मणामनित्यत्वमनावश्यकत्वं । तस्या अनि-
त्यत्वाद्यवजीवादिविधिना तु नित्यत्वं चेति विरुद्धधर्मद्वयापाताद्विदिषाधृतेः स्तुतिव्यवस्थिति पूर्वपक्षे । सिद्धान्तेनैव
यथानुष्ठानं फलम् ॥ ३२ ॥ सह मिलित्वा शुद्धिद्वारा विद्यां कुर्वन्तीति सहकारीणि कर्माणि । तेषां भावसत्त्वं तेनेत्यर्थः ।

भामतीव्याख्या

॥ ३० ॥ ३१ ॥ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । नित्यानि आश्रमकर्माणि यावज्जीवश्रुतेर्नित्येतिनोपायतयाऽन्यत्वं कर्तव्यानि ।
विविदिषन्तीति च विद्यासंयोगाद्विद्यायाश्चावश्यकभावनियमाभावादित्यता प्राप्नोति । नित्यानित्यसंयोगश्चकस्य न संभवति, अव-
श्यानवश्यकभावयोरेकत्र विरोधान् । नच वाक्यभेदाद्वास्तवो विरोधः शक्योऽप्यननुम् । तस्मादनवयमाय एवात्रेति प्राप्तम् ।
एतेन ‘एकस्य तृमयत्वे संयोगपृथक्त्वम्’ इत्याश्रितम् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—सिद्धे हि स्याद्विरोधोऽयं न तु साध्यं कथञ्चन । विध्य-
धीनामलभेऽस्मिन् यथाविधि मता स्थितिः ॥ सिद्धे हि वस्तु विरुद्धधर्मयोगेन वाच्यं । न तु साध्यत्वं यथा षोडशिन एकस्य
ग्रहणाग्रहणं । ते हि विध्यधीनत्वाद्विकल्पेते एव । न पुनः सिद्धे विकल्पसंभवः । तदिहकमेवाग्निहोत्राभ्यं कर्म यावज्जी-
वश्रुतेर्नित्येन युज्यमानं नित्येतिनोपात्तदुस्तरितप्रथमप्रयोजनमवश्यकत्वं, विद्याद्वयं च विद्यायाः कादाचित्कतयानवश्यक-
वेऽपि ‘काम्यो वा नैमित्तिका वा नित्यमर्थे विकृत्य निविशते’ इति न्यायादनित्याधिकारेण निविशमानमपि न नित्यमनित्यमिति,
तेनापि तस्मिन्नेति संयोगपृथक्त्वान्न नित्यानित्यसंयोगविरोध एकस्य कार्यस्येति सिद्धम् । सहकारित्वं च कर्मणां न कार्यं
नित्यायाः किं तूपात्तौ । कोऽर्थो विद्यासहकारीणि कर्माणोति । अयमर्थः—तन्म कर्मसु विद्येव व्यक्रियं व्यापियते । यथा ‘सहेतु दशभिः

आनन्दगिरीयव्याख्या

निविरोधादित्याशङ्क्याह—विहितत्वाच्चेति । व्यवहितेन संबन्धमाह—सर्वापेक्षेति । अग्निहोत्रादिकर्माभ्यधिकृत्य विहितत्वाऽनित्यमुक्तं
विनियोगयोगाच्च संशयमाह—इदानीं खति । अत्राग्निहोत्रादीनामुपयुक्तत्वात्तत्वेन स्वतन्त्रपुण्यपेक्षेनानुष्ठानाभ्यधिकृत्य विनियोगयोगाच्च संशयमाह—
रादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्याहेतुत्वोक्तैः स्तुतिव्यादिविदिषावाक्यस्य निवृत्तिरित्यादिभिः । सिद्धान्ते संयोगपृथक्त्वस्याप्याश्रमकर्मणां
भावत्वंसंवात्तस्मिन्नेतिनित्यमित्येतत् पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । यावज्जीवश्रुतेरमुमुक्षोरपि तान्यनुष्ठेयानीत्याशङ्क्याह—अथेति । विविदिषा-
श्रुतेर्विद्यासंयोगोऽपि तेषामवश्यकभावीत्याशङ्क्याह—नित्येति । आवश्यकतयाभावाद्विद्याकामनायाः काम्यतया कर्मणामनावश्यकत्वं
नित्यतया आवश्यकत्वमित्येकत्रैवावश्यकत्वानावश्यकत्वे विरुद्धे स्याताम् । अत्रो विरोधावश्यकैः स्तुतिर्नित्येत्यर्थः । सिद्धान्तप्र-
सवतां व्याकरोति—अस्यामिति । नित्यतया विहितानां विद्यार्थतया विधानं गौरवान्मुक्तमित्याशङ्क्याह—नहीति ॥ ३२ ॥
उक्तमनुचरत्वेन सत्त्वमवधारयति—अथेत्यादिना । नित्यत्वेऽपि विद्यासंयुक्तत्वमग्निहोत्रादीनां विविदिषादृष्टव्यमिति स्याच्छेदं—
विधिः । विविदिषासंयोगमात्रमत्र श्रुतं कृतो विदुः पुक्तत्वं, तथाह—तदुक्तमिति । सहकारित्वोक्त्या फलं प्रत्यक्षोपाकारि-

इति । न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिविद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम् । अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः । असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्ण-
मासादि स्वर्गफलसिपाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते नैवं विद्या । तथाचोक्तम् 'अत
एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहका-
रित्ववाच्योक्तिः । नचात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् ।
नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम् । अनित्यस्त्वपरः
संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (ब्र० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम् ।
यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्व तद्वत् ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

'सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त-

रत्नप्रभाष्याख्या

विद्याया सह फलकारित्वं सहकारिपदात्प्राप्तं निरस्यति—**नचेदमिति** । विद्याया अविहितत्वाद्वापेक्षास्ति । अतो विहितानि
कर्माणि अविहिताया न सहकार्यज्ञानि मोक्षस्यासाध्यत्वाच्च न कर्मणां सहकारित्वसंभव इत्यर्थः । तुल्यबलश्रुतिद्वयेन विनियोगप्र-
थक्त्वं संयोगभेदस्ततो न विरोधः । कामनाया अनित्यत्वेऽपि कर्मणां नानित्यत्वं नित्यविधिना प्रयोगस्य नित्यत्वात् । सत्त्वं
कामनायां काम्यप्रयोगेनैव नित्यत्वसिद्धेर्न कश्चिद्विरोधः । इदं च 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति सूत्रे चिन्तितम् । यथा
'खादिरो यूपो भवति' इति श्रुत्या खादिरत्वस्य कत्वर्थता खादिरं वीर्यकामस्येति श्रुत्या पुरुषार्थता चेत् । अतः सति
वाक्यद्वये विनियुक्तविनियोगो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ननु नित्याग्निहोत्रादिभ्यो भिन्ना एवापूर्वयज्ञादयो विविदिषायां
विनियुज्यन्तां तत्र कुतो विनियुक्तविनियोगस्तत्राह—**सर्वथापीति** । नित्यत्वे काम्यत्वे चेत्यर्थः । कुण्डपायिनामग्ने मास-
मग्निहोत्रं जुहुतीत्याख्यातस्य साध्यहोमवाचित्वात्तदेकार्थकामिहोत्रपदस्य व्यवहितसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शकत्वायोगान्मासगुण-

भासतीत्याख्या

पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी' इति सत्त्वेव दशपुत्रेषु सैव भारस्य वाहिकेति । **अविधिलक्षणत्वादिति** । विहितं हि दर्शवैर्णमाणा-
र्यैर्युज्यते न त्वविहितम् । ग्राहकग्रहणपूर्वकत्वादङ्गभावस्य विधेश्च ग्राहकत्वात् । अविहिते च तदनुपपत्तेः । चतसृणामपि च
प्रतिपत्तीनां ब्रह्मणि विधानानुपपत्तेरित्युक्तं प्रथमसूत्रे । द्रष्टव्यो निदिध्यासितव्य इति च विधिसरूपं न विधिरित्युपक्रमः ।
उच्यते प्रति हेतुभावस्तु सत्त्वशुद्ध्या विविदिषोपजनद्वारेत्यभस्तादुपपादितम् । असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्यापवर्गस्य स्वरूप-
स्थानलक्षणे हि सः । नच स्वं रूपं ब्रह्मणः साध्यं नित्यत्वात् । शेषमतिरोहिताथम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ **सर्वथापि त
एवोभयलिङ्गात्** । यथा मासमग्निहोत्रं जुह्वतेति प्रकरणान्तरात्कर्मभेद एवमिहापि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-
षन्ति यज्ञेन' इति कुतः प्रकरणमतिक्रम्य श्रवणात्प्रकरणान्तरात्तद्विध्यव्यच्छेदे सति कर्मान्तरमिति प्राप्त उच्यते—सत्यपि प्रकरणान्तो
तदेव कर्म, श्रुतेः स्मृतेश्च संयोगभेदः परं यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति तदेवाग्निहोत्रमुभयसं-
युक्तम् । नहि प्रकरणान्तरं साक्षाद्भेदकम् । किंतु अज्ञातज्ञापनस्वरसो विधिः प्रकरणेक्ये स्फुटतरप्रत्यभिज्ञाबलेन स्वरसं ज-

आनन्दगिरिय्याख्या

त्वमाचार्याभीष्टं कर्मणामित्याशङ्क्याह—**नचेति** । शास्त्रीयमन्वयव्यतिरेकसिद्धौ चोपकारकत्वम् । न चात्रोभयमस्तीत्याह—**अविधीति** ।
ब्रह्मधीः स्वकार्यं न चोदितापेक्षाऽचोदितत्वान्मर्दनवदित्यर्थः । ब्रह्मधीः स्वफले नेतिकर्तव्यतापेक्षा स्वतोऽसाध्यफलत्वात्कूपक्षन्त-
व्यापारवदित्याह—**असाध्यत्वादिति** । अविधिलक्षणत्वं व्यतिरेकोदाहरणेन प्रपञ्चयति—**विधीति** । अङ्गभावस्य ग्राहकग्रहणपूर्व-
कत्वाद्विधेश्च ग्राहकत्वाद्विहितं दर्शपूर्णमासादि प्रयाजादिभिर्ग्राहकगृहीतैरङ्गैर्युज्यते नाविहिता विधेर्यर्थः । तथापि कथमसाध्यफलत्वे
विद्यायां कर्मणामन्वयराहित्यं तदाह—**तथाचेति** । कथं तर्हि सहकारित्ववचनं तदाह—**तस्मादिति** । सह पुत्रैर्भारं वहति गर्द-
भीतिवत्कर्मसु सत्त्वेव विद्या स्वकार्याया व्यापित इत्यभिप्रेत्य सहकारित्वोक्तिरित्यर्थः । परोक्तमुद्राध्य प्रत्याह—**नचेति** । संके-
तभेदं विशदयति—**नित्यो हीति** । तुल्यबलश्रुतिद्वयेन पृथगेव संबन्धविधिः संयोगभेदस्तस्मादुभयथात्वमविवक्षितमित्यर्थः । 'यत्न-
तुभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इत्यत्रैतच्चिन्तितमित्युदाहरणेन दर्शयति—**यथेति** । वैद्यो वा खादिरो वा पालाशो वेल्लोको नित्यः
संयोगस्तेन कत्वर्थस्य खादिरत्वस्य वीर्यकामस्येत्यपरः संयोगोऽनित्यस्तेन पुरुषार्थतेत्येकस्य खादिरत्वस्योभयार्थत्वे संयोग-
थक्त्वं हेतुस्तथा कर्मस्वभेदेऽपि संयोगभेदादुभयथात्वमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ननु प्रकरणान्तरस्थेभ्यो नित्यकर्मभ्यो भिन्नाभ्येव कर्माणि
विविदिषावाक्ये विद्यासंयुक्ततया विधीयन्ते प्रकरणभेदस्य भेदकत्वात्तत्कथं तस्योभयत्वं, तत्राह—**सर्वथेति** । प्रतिज्ञा व्यापके—
सर्वथापीति । एवकारव्यावर्त्यं शङ्क्या दर्शयति—**त एवेतीति** । भेदशङ्कानिवृत्तिं व्यतिरेकदृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथेति** ।

एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति । कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः । यथा कुण्डपायिनामयने 'भासमग्निहोत्रं जुहति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः । कुतः—उभयलिङ्गात् । श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुक्ते न तु जुहतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति । स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति । यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति । तस्मात्साधिवदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति' यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।१।३) इत्यादिना । तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्मणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥



नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमाप्तिं वा नैव विषते ॥ भीशुः कर्थाश्रमिवस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥ १ ॥
अस्त्येव सर्वसंबन्धिजपादेश्चिन्तशुद्धितः ॥ श्रुता हि विद्या रक्षादेराश्रमे रवतिशुद्धता ॥ २ ॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसंप्रदहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्या-

रत्नप्रभाख्याख्या

विशिष्टं कर्मान्तरं विधीयत इति युक्तमिह तु यज्ञेनेत्यादि सुबन्तानामाख्यातनैकार्थत्वाभावात्सिद्धव्यवहितकर्मानुवादकत्वात्तेषामेव कर्मणां ज्ञानार्थविविधिरिति भावः । सिद्धकर्मसु संस्कारत्वप्रसिद्धिरपि शुद्ध्याख्यसंस्कारद्वारा ज्ञानार्थकर्मभेदे लिङ्गमित्याह—यस्यैत इति ॥ ३४ ॥ ब्रह्मचर्यादिकर्मणां प्रतिबन्धध्वंसद्वारा विद्यार्थत्वे लिङ्गमाह—अनभिभवं चेति ॥ ३५ ॥ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । अनाश्रमिणां जपादिकर्मसत्त्वाभिनिन्दितत्वाच्च संशये सति आश्रमकर्मणामेव

भामतीव्याख्या

भात् । प्रकरणांतरेण तु विषयितप्रत्यभिज्ञानः स्वरसमजहकर्म भिनति । इह तु सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुक्तानो न जुहतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयितुमर्हति । नच तथापि नैयमिकाभेदेन भासविधिनापूर्वमिहोत्रोत्पत्तिरिति प्राप्तम् । होम एव साक्षाद्विधिश्रुतेः । कालस्य चानुपादेयस्याविधेयत्वात् । काले हि कर्म विधीयते न कर्मणि काल इत्युक्तम् । इह तु विविदिषायां विधिश्रुतिः न यज्ञादा । तानि तु सिद्धान्त्यानुयन्त इत्येककर्म्यासंयोगपृथक्त्वं सिद्धम् । स्मृतिमुक्त्वा लिङ्गदर्शनमुक्तम् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । यदि विद्यासहकारीणाश्रमकर्मणि हन्त भो

आनन्दगिरीयव्याख्या

कुण्डपायिनामयनगताग्निहोत्रस्य प्रकरणभेदात्प्रमिद्धाग्निहोत्रात्कर्मान्तरत्वविदित्वेति विद्यामंशुक्ततया विहितानामपि कर्मणां प्रकरणभेदेव कर्मान्तरत्वशङ्कायां दृष्टान्ते जुहतीतिहोमविधिश्रुतेर्मासाख्यकालस्य चानुपादेयत्वेनाविधेयत्वादग्निहोत्रशब्दस्य चारुत्यातपारतत्रयादास्यातस्य च जुहोतिः सनिहितरूपत्वकर्म हित्वा व्यवहितनैयमिकाग्निहोत्रपरासाधन्यायोगादाख्यातार्थवानिहोमिहोत्रशब्दस्यापि कर्मान्तरविषयत्वमेवेति युक्तम् । विविदिषावाक्ये तु विविदिषायामेव विधिश्रवणात्प्रसिद्धानामेव यज्ञादीनां यज्ञादिशब्देननुशादादिव्यासयोगमात्रं विधीयते तेषामिति न कर्मान्तरतेत्यर्थः । उक्तमेवार्थं प्रश्नद्वारा हेतुमवतारं रकोरयति—कुत इत्यादिना । प्रसिद्धकर्मसु संस्कारत्वप्रसिद्धिरपि तेषां चित्तमलनिरासेन ज्ञानोत्पत्तादुत्पादकत्वमावेदयन्ती कर्माभेदं सूचयतीत्याह—अष्टेति । श्रमार्थानादयः सङ्घर्षमचारिणिसंयोगान्ताश्चतुर्दश पञ्चमहायज्ञाः सप्त सोमसंस्थाः सप्त हविःसंस्थाः सप्त पाकसंस्था इति चत्वारिंशत्संस्काराः । अनश्रमसंहिताख्ययनं प्रायणं कर्म जप उक्तमणं दैहिकं भरमसमुद्भूतमस्थिसंयनं श्राद्धानील्यवमथाचत्वारिंशत्संस्काराः । कर्मभेदाशङ्कायोगे फलितमाह—तस्मादिति ॥ ३४ ॥ नित्यानि कर्माणि स्वतः पुण्यलोकावाप्तिकलायपि ज्ञानकामेनाश्रितानि शक्तार्थानांयुक्तम् । इदानीं ब्रह्मचर्यादीनामाश्रमकर्मणां क्लेशतनुकरणेन विधेयं हेतुत्वस्य लिङ्गमाह—अनभिभवं चेति । सूत्रस्य तात्पर्योक्तपूर्वकमश्रवणं कथयति—सहकारित्वस्येति । उभयविधधीनमसंमुखसंहरति—तस्मादिति ॥ ३५ ॥ आश्रमकर्मणां विधेयाख्ये सत्यनाश्रमकर्मणां नैवमिति मन्वानं प्रत्याह—अन्तरेति । अनाश्रमिणो विधुरादीन्विषयीकृत्य तेषां भवितुमर्हतिनिन्द्याप्रतिषेधं संशयमाह—विधुरेति । अत्रानाश्रमकर्मणामुक्तविद्याहेतुत्वोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे यथा विधु-

यामधिकारोऽस्ति किंवा नास्तीति संशये नास्तीति तावत्प्राप्तम् । आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासंभवाच्चेतेषामिति । एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमत्वेन वतमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते । कुतः—तद्वृष्टेः । रैकवाचकवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नम्रचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे ॥ ३७ ॥ ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसंबन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्मर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति । तथाच स्मृतिः—जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इत्यसंभवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाश्रमकर्मभिः संभवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथाच स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (६।४।५) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतृन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणा-

रत्नप्रभाव्याख्या

विद्याहेतुत्वश्रुतेरनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चानधिकार इति पूर्वपक्षः । तत्रानाश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ रैकादीनां विद्यावत्त्वलिङ्गस्य जन्मान्तराश्रमकर्मणाऽन्यथासिद्धेरनाश्रमकर्मणो विद्यार्थवत्प्रापकं मानान्तरं वाच्यमिति शङ्कते—ननु लिङ्गमिति । अनाश्रमत्वाविरुद्धानां वर्णमात्रप्राप्तधर्माणां विद्यार्थत्वे मानमाह—तथाचेति । मैत्रो दयावानित्यर्थः । नन्वनाश्रमिणां कर्म भवतु विद्याहेतुस्तथापि तेषां न श्रवणादावधिकारः संन्यासाभावादित्यत आह—दृष्टार्था चेति । बन्धकाज्ञानध्वस्तिकफलकविद्याकामस्य श्रवणेऽधिकारः । संन्यासोऽपि कदाचित्कृतो ज्ञान उपक-

मासतीत्याख्या

विधुरादीनामनाश्रमिणामनधिकारो विद्यायाम्, अभावात्सहकारिणामाश्रमकर्मणामिति प्राप्त उच्यते—नात्यन्तमकर्मणो रैकविधुराचरुषीप्रभृतयः । सन्ति हि तेषामनाश्रमत्वेऽपि जपोपवासदेवताराधनादीनि कर्माणि । कर्मणां च सहकारित्वमुक्तमाश्रमकर्मणामुपलक्षणत्वादिति न तेषामनधिकारो विद्यायाम् । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चेति । न खलु विद्याकार्यं कर्मणामपेक्षा । अपितु उत्पादे । उत्पादयति च विविदिषोपहारेण कर्माणि विद्याम् । उत्पन्नविविदिषाणां पुरुषधरेयाणां विधुरसंवर्तप्रभृतीनां कृतं कर्मभिः । यद्यपि चेह जन्मनि कर्माण्यननुष्ठितानि तथापि विविदिषातिशयदर्शनात्प्रापि भवेदनुष्ठितानि तैरिति गम्यत इति । ननु यथाधीतवेद एव धर्मजिज्ञासायामधिक्रियते नानधीतवेद इह जन्मनि । तथैह जन्मन्याश्रमकर्मोत्पादितविनिदिष्ट एव विद्यायामधिकृतो नेतर इत्यनाश्रमिणामनधिकारो विधुरप्रभृतीनामित्यत आह—दृष्टार्था चेति । अविद्यानिवृत्तिविद्याया दृष्टार्थः । स चान्वयव्यतिरेकसिद्धो न नियममपेक्षत इत्यर्थः । प्रतिषेधो विद्यातत्त्वस्याभाव इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ यद्यनाश्रमि-

आनन्दगिरियव्याख्या

रकर्मणां विद्याहेतुत्वासिद्धिस्तथैवाश्रमकर्मणामपि विद्याहेतुत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते स्वाश्रमत्वस्य ज्यायसत्वात्कर्मणां सुतरां तस्मिन् रिति मन्वानः संशयमनूय पूर्वपक्षमाह—नास्तीत्यादिना । विविदिषावाक्ये यथादिपु प्रत्येकं करणविभक्तिश्रुतेराश्रमकर्माभावे वर्णमात्रधर्माणां दानादीनां संभवाद्विधुरादीनामपि विद्याधिकारः स्यादित्याशङ्क्य केवलवर्णधर्माणां विद्यासाधनत्वे साश्रमकर्मवैयर्थ्यादनाश्रमिणामनधिकारो विद्यायामित्याह—आश्रमेति । अनाश्रमकर्मणां न विद्याहेतुतेति पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्त्यति-पूर्वमिति । प्रतिज्ञां व्याकरोति—अनाश्रमत्वेनेति । तद्वृष्टेरिति व्याचष्टे—रैकेति ॥ ३६ ॥ श्रौती दृष्टिं शिक्षां स्वातीम् दर्शयति—अपीति ॥ ३७ ॥ श्रुतिस्मृत्यां सिद्धे सिद्धान्तेऽन्तरसूत्रनिरस्य बोधमाह—नन्विति । जन्मान्तरकृतापि कर्म रैकादीनां विद्यासंभवाद्गोपाधावुक्ताकर्मणो विधेयत्वं श्रुतिस्मृत्योरनियामकत्वात्त्रियामकान्तरं वक्तव्यमित्यर्थः । आश्रमधर्माभावे वर्णधर्मविशेषैरनुगृहीता विधोदेष्यतीति सूत्रेण समाधत्ते—सेति । अविरुद्धैरनाश्रमत्वाविरोधिभिरिति यावत् । अत एव पुरुषमात्रसंबन्धिभिरित्युक्तम् । आश्रमधर्मशून्यानां जपादिष्वपि शूद्रादिवन्नाधिकारोऽस्तीत्याशङ्क्याह—तथाचेति । मैत्रो मित्रे भ सर्वभूताहिसको दयावानित्यर्थः । किंच नैयोगिकफलेषु कर्मस्वानन्तर्यस्याचोदितत्वादनियतकालत्वे नैयोगिककर्मोभावेऽप्यनुष्ठितं कर्मभिर्विद्या भविष्यतीति सूत्रस्य व्याख्यान्तरमाह—जन्मान्तरैति । जन्मान्तरसंचितकर्मणां विद्यानुग्राहकत्वे मानमाह—तथाचेति । अनेकेषु जन्मसु संचितसंस्कारैः सिद्धः सम्यग्धीपरिपाकवानित्यर्थः । यथासिज्जन्मन्यधीतवेदो धर्मजिज्ञासाधिका तथासिज्जन्मनाश्रमधर्मैरुत्पादितविविदिषो विद्याधिकाारी स्यादित्याशङ्क्याह—दृष्टार्थेति । अविद्यानिवृत्तेर्दृष्टफलत्वान्नियमापेक्ष

दिषु । तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम् । श्रुतिस्मृतिसंहृष्टत्वात् । श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृतैजसश्च' (बृ० ४।४।९) इति । 'अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः । संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥



अवरोहोऽस्याश्रमाणां नवा रागास्त विद्यते ॥ पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथारोहस्तर्षेष्ठिकः ॥ १ ॥
रागस्यातिमिषिद्धत्वाद्धितस्यैव धर्मतः ॥ आरोहणियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्य शास्त्रतः ॥ २ ॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावाद्भिति । एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः—नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथाहि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २।२३।१) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति 'आचार्ये-

रत्नप्रभाभ्याख्या

रोति श्रवणं प्रत्यनङ्गत्वादिति भावः ॥ ३८ ॥ तर्ह्यश्रमित्वं वृथेत्यत आह—अतस्त्विति । पुण्यकृतैजसः शुद्धसत्त्वस्तेन ज्ञानमार्गेणैति ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र पुण्यकृत्वलिङ्गादाश्रमित्वं ज्यायः पुण्योपचये शीघ्रं विद्यालाभादनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चेति भावः ॥ ३९ ॥ तद्भूतस्य तु । उत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य प्रच्युतस्य कर्मापि विद्याहेतुरनाश्रमिकर्मवदिति संगतिः, पूर्वपक्षफलं चैतत् । सिद्धान्ते तु भ्रष्टस्य कर्म न हेतुरिति फलम् । रागादिप्राबल्यात्प्रच्युतिनिषेधाच्च प्रच्युतिः प्रामाणिकी न वेति संशयः । सिद्धान्तसूत्रे नियमं व्याचष्टे—**तथाहीति** । अत्यन्तमिति नैष्ठिकत्वनियमः । अरण्यमित्येकान्तो-

भामतीभ्याख्या

णामप्यधिकारो विद्यायां कृतं तर्ह्यश्रमैरतिबहुलायसितिलाशङ्क्याह—अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च । स्वस्थेनाश्रमित्वास्थे-
यम् । देवापुनः पठ्यादिवियोगतः सत्यनाश्रमित्वे भवेदधिकारो विद्यायामिति श्रुतिस्मृतिसंदर्भेण विविदिषति यज्ञेनेत्यादिना
आपस्त्वावगतेः श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्चावगम्यते । तेनैति पुण्यकृदिति श्रुतिलिङ्गम्, अनाश्रमी न तिष्ठेतेत्यादि च स्मृतिलिङ्गम्
॥ ३९ ॥ तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः । आरोहवत्प्रत्यवरोहोऽपि कदाचिदूर्ध्वरेतसां स्या-
दिति मन्दाशङ्कानिवारणार्थमिदमधिकरणम् । पूर्वधर्मेण यागहोमादिषु । रागतो वा गृहस्थोऽहं पठ्यादिपरिवृतः स्यामिति । नियमं

आनन्दगिरीयव्याख्या

माधादिप्राप्तकनिषधस्याभावमात्रेण तत्र पुरुषस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः । श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमर्थमुपसंहरति—**तस्यादिति** ॥ ३८ ॥
शर्मापाधुक्तधर्ममात्रादपि विद्योत्पद्यते चेदाश्रमित्वमनर्थकमित्याशङ्क्याह—अतस्त्विति । विद्यायाश्चिराच्चिरव्यक्तिहेतुतयाश्रमित्वानाश्र-
मेत्वयोर्विशेषात्र वैयर्थ्यमिति मत्वा व्याचष्टे—**अत इति** । साधनोपचयादचिरेण विद्याहेतुत्वं ज्यायस्त्वम् । आश्रमित्वस्य ज्यायस्त्वे
श्रुतिस्मृत्यनुगृहीतत्वं हेतुमाह—**श्रुतीति** । श्रुतौ पुण्यकृत्वविशेषणालिङ्गाच्च प्रथमाश्रमित्वमित्याह—**श्रुतीति** । तेन ज्ञानमार्गेण
कविदिति गच्छति ब्रह्म प्राप्नोति । स च पुण्यं स्वाश्रमोक्तं कर्म करोतीति पुण्यकृत्युच्यते । तेनसि परमात्मन्यात्मत्वेन वर्तत इति
जसः । तत्र पुण्यकृत्वविशेषणादाश्रमित्वं ब्रह्माप्राप्तिहेतुतया श्रेष्ठं सिद्धमित्यर्थः । आश्रमित्वस्य श्रेष्ठत्वे स्मार्तमपि निष्क्रम्यकुल-
ति—**अनाश्रमीति** ॥ ३९ ॥ अनाश्रमिणां कर्मापि विद्याहेतुश्वेदारूढपतितस्य पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य धीपूर्वकं प्रच्युतस्य कर्म किमु
त्यमित्याशङ्क्याह—**तद्भूतस्येति** । वृत्तानुवादेन विषयं सूचयति—**सन्तीति** । तानाश्रमाग्राप्तस्य धीपूर्वं प्रच्युतस्य कर्म
पश्यस्तत्किं विद्याहेतुर्न वेति संशयं सिद्धवत्कृत्य तद्धेतुमाह—**तांस्त्विति** । कथंचिद्रागाद्युद्वेगादित्यर्थः । सा मानवती न वेति
शयार्थः । ऊर्ध्वरेतसां बुद्धिपूर्वं प्रच्युतानां कर्म यथोक्तविद्याहेतुर्नैत्युक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे पूर्वाक्षाश्रमित्वश्रेष्ठतासिद्धिः ।
सिद्धान्ते प्रच्युतेरप्रामाणिकत्वात्तत्तिद्धिरिति स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति—**पूर्वेति** । पूर्वाश्रमोक्तो यागादिधर्मः सुखेन शयथोऽनुष्ठानमिति
चेकीर्षया रागादेववशेन च प्रत्यवरोहोऽपि प्रामाणिकः स्यात्तथाचानाश्रमिकं निन्दितमपि यथा विद्यासाधनमुक्तं तथा प्रत्यव-
रुप्यायि कर्म विद्याहेतुरनाश्रमावरोहोऽनुष्ठेयस्तदारोहावरोहयोरन्यतरत्वात्तदारोहवदित्यवरोहस्य प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । सिद्धान्तपुत्रम-
ण्यं व्याकरोति—**एवमिति** । उत्तराश्रमं प्राप्तस्य पूर्वाश्रमप्राप्तिरप्रामाणिकीत्यत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुत्रयमाह—**कुत इति** । तत्र नियमं
व्याचष्टे—**तथाहीति** । अरण्यमित्येकान्तोपलक्षितमूर्ध्वरेतसत्वं तदियाद्वच्छेदिति पदं शास्त्रमात्रंस्तत्सत्यादरप्राज्ञा पुनरेयापुनर्नाग-
न प्रत्यवरोहेदित्युपनिषद्ब्रह्मसमित्यर्थः । स्मार्तमपि नः । कथयति—**आचार्येणेति** । उक्तनियमतात्पर्यमाह—**एवमिति** ।

णाभ्यनुष्ठातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् । आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि' इति चैवजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति । यथाच 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते नैव प्रत्यवरोहरूपाणि । न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते । यत् पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति तदसत् 'ध्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मोत्वनुष्ठितात्' (३।३.५) इति स्मरणात् । न्यायाच्च । यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठानं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य । नच रागादिवशात्प्रच्युतिः । नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात् । जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ॥ ४० ॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥



अष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा ॥ अदर्शनोक्तेर्नास्त्येव प्रतिनो गर्दभः पशुः ॥ १ ॥

उपपातकमेवैतद्व्रतिनो मधुमांसवत् ॥ प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्र परं वचः ॥ २ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्णं नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति । नेत्युच्यते । यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णपशुश्च तद्वधाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६।८।२१) इति तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति ।

रत्नप्रभास्याख्या

पलक्षितं पारिव्राज्यं गृह्यते । तदियादृच्छेदिति पदं शास्त्रमार्गस्ततस्तस्मात्पारिव्राज्याच्च पुनर्यात्र प्रच्यवेदिति उपनिषद्ब्रह्मस्येत्यर्थः । अतद्रूपं प्रच्युतौ प्रमाणाभावं व्याचष्टे—यथाचेति । शिष्टाचाराभावमाह—नचैवमिति । 'चण्डालाः प्रत्यक्षिताः' इति स्मृतेश्च पतितानां कर्म निष्फलमिति भावः ॥ ४० ॥ नचाधिकारिकम् । अवकीर्णं व्यभिचरेदित्यर्थः । अवकीर्णो योनौ निषिक्तं रेतोऽस्यास्तीत्यवकीर्णः । अत्र प्रच्युतस्य प्रायश्चित्तं स्यान्नवेति उपपातकत्वात्पतनस्मृतेश्च संशयः । प्रच्युतस्य यज्ञादिकं निष्फलमित्युक्तं तद्वत्प्रायश्चित्तमपि निष्फलमिति पूर्वपक्षयति—नेत्युच्यते इति । अत्र कृतप्रायश्चित्तस्य कर्म ज्ञानहेतुर्न भवतीति फलं सिद्धान्ते तु भवतीति भेदः । यथोपनयनकाले होमो लौकिकामावेव कार्यः । दारसंबन्धोत्तर-

भामतीत्याख्या

व्याज्वले—तथाहि—अत्यन्तमात्मानमिति । अतद्रूपतामारोहतुल्यताभावं व्याचष्टे—यथाच ब्रह्मचर्यं समाप्येति । अभावं शिष्टाचाराभावं विभजते—न चैवमाचाराः शिष्टा इति । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ४० ॥ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् । प्रायश्चित्तं न पश्यामीति नैष्ठिकं प्रति प्रायश्चित्ताभावस्मरणान्नैर्ऋतगर्दभालम्भः प्रायश्चिनमुपकुर्वीणकं प्रति । तस्माच्छिरसि शिरस इव पुंसः प्रतिक्रियाभाव इति पूर्वः पक्षः । सूत्रयोजना तु—न चाधिकारिकमपि काल-

आनन्दगिरिव्याख्या

अतद्रूपमप्रत्यवरोहं व्याकरोति—यथाचेति । अभावं शिष्टाचाराभावं व्याचष्टे—नचेति । परोक्तमनुमानमनूय स्मृतिविरोधेन ह्यर्थेति—यतिवति । इतश्चानुमानमयुक्तमिहाह—न्यायाच्चेति । यत्तु रागादिवशात्प्रत्यवरोहणमिति, तत्राह—नचेति । ततो न पुनरित्यादि नियमशास्त्रम् । अवशिष्टं सूत्रावयवं व्याचष्टे—जैमिनेरिति । अत्रेति प्रामाणिकप्रच्युत्यभावोक्तिः । उभयसंप्रतिपत्तिरलमाह—प्रतिपत्तीति ॥ ४० ॥ प्रत्यवरोहणमशक्नीयमित्युक्तम् । संप्रति प्रमादात्प्रत्यवरोहे प्रायश्चित्तमस्तीति वक्तुं पूर्वपक्षमाह—नचेति । ऊर्ध्वरेतसोऽपीपूर्वच्युतब्रह्मचर्यं विषयस्तेषां किं नास्ति प्रायश्चित्तमुतास्तीति प्रायश्चित्ताभावस्युत्तेर्महापातकेश्चतुर्लोकसंनयेमाह—यदीति । प्रमादादित्यधीपूर्वच्युतब्रह्मचर्याणामेवोर्ध्वरेतसां प्रायश्चित्तचिन्तेयमिति द्योतयति । अवकीर्णं योनौ रेतः सिन्धे । अवकीर्णं योनौ क्षिप्तं रेतोऽस्यास्तीत्यवकीर्णः । प्रमादाद्युतब्रह्मचर्याणामूर्ध्वरेतसां कृतप्रायश्चित्तानां कर्म विधाहेतुरित्युक्ता पदादिकं । गतिः । पूर्वपक्षे प्रमादिनामूर्ध्वरेतसामालम्बितकादधःपातात्पुमर्थासिद्धिः । सिद्धान्ते तेषामपि प्रायश्चित्तेन पतनसमाधानात्तत्तिष्ठित्युपेक्षं पूर्वपक्षसूत्रमवतार्यै योजयति—उच्यते इति । तदेव षष्ठाध्याये निर्धारितं प्रायश्चित्तमुदाहरति—अवकीर्णीति । ब्रह्मचर्यवकीर्णीत्यत्र पशुहोमार्थमाधानं कर्तव्यं किंवा लौकिकेष्वेवाग्निपु तत्कर्मैति संदेहे पूर्वोपकारणे 'यदाहवनीये जुहोति तेन स्रष्टेऽन्नाभीष्टः भीतो भवति' इत्याहवनीयस्य सर्वहोमार्थत्वादाहवनीये तावदुपनयनहोमाः कार्ये इति प्रापश्य जातपुत्रोऽपीनादधीतेति कृतकस्याप्याधानविधानादुपनयनकाले दाराभावादाधानस्याप्राप्तकालत्वादाहवनीयाभावाल्लौकिकाग्निपुपनयनहोमा इति राक्षान्तिरे ब्रह्मचर्ययथाऽवकीर्णी सैव तस्य मायो स्यात्ततोऽप्याधानमित्यधिकां शङ्कां निराकृतुमतिदेशाधिकरणमवकीर्णपशुश्चेति यथोपनयनकाले लौकिकामो होमस्तथावकीर्णपशुश्च तत्रैव होतव्यः । आधानस्य पक्षीपरिग्रहोत्तरकालतया पूर्वं प्राप्त्यभावादितरस्याश्च परपरिग्रहपक्षमात्रात्त्वकल्पनयाधाने मानाभावादित्यर्थः । यदधिकारलक्षणे निर्णीतमाधिकारिकं प्रायश्चित्तं तदपि नैष्ठिकस्य भवितुं नार्हतीति संनयः ।

किं कारणम्—‘आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रचयवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स-
आत्महृत् इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्तरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः । उपकुर्वाणस्य तु
तादृक्पतनस्तरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते । यन्नैष्ठिकस्य गुरुद्वारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं
विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात् । तस्मादुपकुर्वाणव-
न्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च । अशन-
वत् । यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनः संस्कारश्चैवमिति । ये हि प्रायश्चित्त-
स्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते । ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येद-
विशेषश्रवणं मूलम् । तस्माद्भावा युक्ततरः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—‘समा विप्रतिपत्तिः स्यात्’
(जै० सू० १।३।८) ‘शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्’ (जै० सू० १।३।९) इति । प्रायश्चित्ताभाव-

रत्नप्रभाव्याख्या

कालविहिताधानस्य संप्रत्यप्राप्तकालवेनाहवनीयाभावात्तद्वदवकीर्णीनो ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तपशुर्गर्दभो लौकिकामौ होतव्य
इत्यधिकारलक्षणे षष्ठाध्याये निर्णयितं प्रायश्चित्तमाधिकारिकं तदुपकुर्वाणस्यैव न नैष्ठिकस्येति प्राप्ते सिद्धान्तयति—॥ ४१ ॥
उपपूर्वमिति । उपपदं पूर्वं यस्य पातकस्य तदुपपातकमित्यर्थः । ‘प्रायश्चित्तं न पश्यामि’ इति दर्शनाभावात्स्युनेः प्रायश्चित्ता-
भावपरत्वं कल्पयित्वा तन्मूलश्रुतिकल्पनात्प्रागेव कृप्तसाधारणश्रुत्या प्रायश्चित्तसद्भावादिदेः कल्पनं नोदिति कृप्तभूतिविरोधा-
दिति भावः । प्रायश्चित्तस्य भावाभावसिद्धयोः समत्वेऽपि भावप्रसिद्धिः श्रुतिमूलत्वादादतंग्येव्यत्र संमतिमाह—तदुक्त-
मिति । यवमयश्चरुल्यत्र यवशब्दं केचिद्विशेषकं प्रयुज्यते केचिद्विशेषशेषे प्रियङ्गुषु । अतः कस्य चरुः कार्य इति संदेहे
वृद्धप्रयोगसाम्यात्समा तुल्या विकल्पेन प्रतिपत्तिः स्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—शास्त्रमूला प्रतिपत्तिर्ग्राह्या शास्त्रनिमित्तत्वाद्धर्मादि-
ज्ञानस्य । तथाच ‘यदास्या ओषधयो म्लान्यन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति’ इति शास्त्रमूलत्वाद्दीर्घशकप्रयोगस्यैवार्थ इत्यर्थः ॥
स्मृतेर्गतिमाह—प्रायश्चित्तेति । ब्रह्मचर्यरक्षार्थं यन्नाधिक्यं कार्यमिति ज्ञापनार्थं प्रायश्चित्तं स्पष्टमपि न पश्यामीत्युक्तं

भामतीव्याख्या

धने प्रथमकाण्डे निर्णीतम् ‘अवकीर्णपशुश्च तद्वदधानस्याप्राप्तकालत्वात्’ इत्यनेन यत्प्रायश्चित्तं तत्र नैष्ठिके भनितुमर्हति ।
कृतः—आरूढो नैष्ठिकमिति स्मृत्या पतनश्रुत्यनुमानात्तत्प्रायश्चित्तायोगात् ॥ ४१ ॥ उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदु-
क्तम् । श्रुतितावत्स्वरसतोऽसङ्कुचदृष्टिर्ब्रह्मचारिमात्रस्य नैष्ठिकस्योपकुर्वाणस्य चाविशेषेण प्रायश्चित्तमुपदिशति साक्षात् । प्रायश्चित्तं न
पश्यामीति तु स्मृतिः । तस्यामपि च साक्षात्प्रायश्चित्तं न कर्तव्यमिति प्रायश्चित्तनिषेधो न गम्यते, न पश्यामीति तु दर्शनाभावेन
सोऽनुमातव्यः । तथा च स्मृतिनिषेधार्थेति अनुमाय तदर्थो श्रुतिरनुमातव्या । श्रुतिस्तु सामान्यविषया विशेषमुपसर्पन्ती शीघ्र-

आनन्दगिरीयव्याख्या

प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—किमित्यादिना । किंविषयं तर्हि प्रायश्चित्तवचनं ब्रह्मचारित्वाविशेषादुपकुर्वाणस्यापि तदयोगात्, तत्राह—
उपेति । तादृशिल्यप्रतिसमाधेयत्वोक्तिः—॥ ४१ ॥ सिद्धान्तयति—उपपूर्वमिति । उपपदं पूर्वं यस्य पतनस्य तदुपपूर्वमिति ध्याक-
रोति—अपि त्विति । प्रायश्चित्ताभावं व्यावर्तयितुमपीति प्रयुक्तम् । एवकारार्थमाह—नेति । नैष्ठिकव्रतलोपस्योपपातकत्वेऽपि प्राय-
श्चित्तसत्त्वे किं जातमित्याशङ्क्योपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं स्यादिति सूत्रावयवं व्याकुर्वन्नाह—तस्मादिति । उक्तमर्थे दृष्टान्तमवतार्यं
स्पष्टयति—अशनवदिति । प्रायश्चित्तं न पश्यामीति स्मरणार्थं तद्भावाधीरित्याशङ्क्याह—ये हीति । प्रायश्चित्तं नास्तीति
स्मरणभावाच्च पश्यामीति दर्शनाभावमात्रस्मरणाल्ल्यर्थः । भाववादिनामपि तुल्या मूलानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—ये त्विति ।
ननु न पश्यामीति स्मरणस्य प्रायश्चित्तनिषेधार्थत्वमनुमाय तदर्थश्रुतिकल्पनात्तद्विशेषे सामान्यश्रुत्या प्रायश्चित्तमप्या नान्युपगम्यते,
तत्राह—तस्मादिति । यावद्दर्शनाभावस्मरणस्य प्रायश्चित्तनिषेधार्थत्वकल्पनया तदर्थो श्रुतिरनुमीयते तावदविशेषप्रवृत्त्या प्रायश्चित्तं
क्षतिर्यमवतीति न स्मृत्या प्रायश्चित्ताभावधीरिति भावः । उक्तेऽर्थे यववराहाधिकरणसंमतिमाह—तदुक्तमिति । यवमयश्चरुं वराही
ज्ञानहाविल्यत्र यववराहशब्दाभ्यां प्रियङ्गुकृष्णशकुनिप्रशो वा दीर्घशकृत्सुकरप्रशो वेति संदेहे पूर्वप्रश्नामाह—समेति । केचि-
र्दीर्घशके यवशब्दं प्रयुज्यते प्रियङ्गुषु चापरे वराहशब्दमपि सुकरे केचिद्वाहुः कृष्णशकुनी चान्ये तेन प्रयोगाभ्यामप्या तुल्या
वैकल्पेन प्रतिपत्तिः स्यादित्यर्थः । सिद्धान्तमाह—शास्त्रस्था वेति । वाशब्दः पञ्चम्यादित्यर्थः । या शास्त्रमूला धीः येन ग्राह्या
ग्राह्यनिमित्तत्वात्तद्वर्मादिज्ञानस्य । शास्त्रं च यदा वान्या ओषधयो म्लान्यन्त्यथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति वराहं गावोऽनुपावन्तीति च
वराहशब्दोदीर्घशकसुकरविषयम् । तस्माद्दीप्त्याभावादिकल्पसिद्धेर्था शास्त्रमूला प्रसिद्धिः सेव ग्राह्यनि प्रवेगे मिदम् ।
वाशब्दात् शास्त्रमूलत्वाप्रायश्चित्तभावप्रसिद्धेस्तत्स्वमुक्तिर्यर्थः । प्रायश्चित्तं न पश्यामीति स्मृतेर्साद्धि का गतिः, तत्राह—प्रायश्चि-

स्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम् । एवं भिक्षुवैखानसयोरपि-
नप्रश्ने दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत् 'भिक्षुर्धानप्रस्थवः सोमवस्त्रिजं
स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुसर्तव्यम् ॥ ४२ ॥

बहिस्तृभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥



शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्याप्यो वा दोषहानितः ॥ उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥ १ ॥

आमुष्मिके च शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् ॥ प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यादशुद्धिस्त्वैहिकीयते ॥ २ ॥

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्क-
र्तव्याः । 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत्स
आत्महा' इति 'आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् । उद्धृजं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रा-

रत्नप्रभाष्याख्या

भगवद्विणेत्यर्थः । नैष्ठिकव्यतिवनस्थयोरपि प्रमादाद्ब्रह्मचर्यभङ्गे प्रायश्चित्तमस्तीत्याह—एवमिति । कृच्छ्रं प्राजापत्यं महा-
कक्षं बहुतृणकाष्ठदेशं जलदानादिना वर्धयेत् । यतिस्तु सोमलतावर्जं वर्धयेत् । 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पक्षिपावन एव च । उपपातकसङ्क्षेपे पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥'
इत्यादिस्वशास्त्रविहितध्यानप्राणायामादिसंस्कारोऽपि भिक्षुणा कार्य इत्यर्थः । आदिपदात् 'मनोवाक्कायजान्दोषानज्ञानोत्थान्प्रमाद-
जान् । सर्वान्दहति योगाग्निस्तूलाशिमिवाऽनलः । नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनस्त्यहरहः-
कृताः ।' इत्यादिवाक्यं ग्राह्यम् ॥ ४२ ॥ **बहिस्तृभयथापि** । कृतप्रायश्चित्तैस्तैः सह कृतध्रुवणादिकं ज्ञानसाधनं न वेति संदेहे
तेषां शुद्धत्वात्साधनमिति प्राप्ते प्रायश्चित्तात्परलोके तेषां शुद्धत्वेऽप्यत्र शुद्धभावान् साधनमिति सिद्धान्तयति—यद्यूर्ध्वंति ।

भामतीव्याख्या

प्रवृत्तिरिति । स्मार्तं प्रायश्चित्तादर्शनं तु यत्नगौरवार्थम् । एतदुक्तं भवति—कृतनिर्णेजनेरपि एतेन संख्यानं कर्तव्यमिति ।
सूत्रार्थस्तु—उपपूर्वमपि पातकं नैष्ठिकस्यावकीर्णित्वं न महापातकमपिरेवकारार्थं अत एके प्रायश्चित्तभावमिच्छन्तीति । आचार्याणां
विप्रतिपत्तौ विशेषाभावात्सात्यं भवेत् । शास्त्रस्था या वा प्रसिद्धिः सा ग्राह्या शास्त्रमूलत्वात् । उपपादितं च प्रायश्चित्तभावप्रसिद्धेः
शास्त्रमूलत्वमिति । सुगममितरतः ॥ ४२ ॥ यदि नैष्ठिकादीनामस्ति प्रायश्चित्तं तत्किमेतैः कृतनिर्णेजनेः संव्यवहर्तव्यमुत नेति । वत्र
दोषकृतत्वादसंव्यवहारस्य प्रायश्चित्तेन तन्निर्वहणादननिर्वहणे वा तत्करणवैयर्थ्यात्संव्यवहार्यो एवेति प्राप्त उपपत्ते—**बहिस्तृ-
भयथापि स्मृतेराचाराच्च** । निषिद्धकर्मानुष्ठानजन्यमेनो लोकद्वयेऽप्यशुद्धिमापादयति द्वैधम् । कस्यचिदेनो लोकद्व-
येऽप्यशुद्धिरपनीयत प्रायश्चित्तैरेनोनिर्वहणं कुर्वाणेः । कस्यचित्तु परलोकाशुद्धिमात्रमपनीयते प्रायश्चित्तैरेनोनिर्वहणं कुर्वाणैरिहलो-

आनन्दगिरियव्याख्या

तेति । एवं सति सामान्यश्रुत्या प्रायश्चित्तसत्त्वे निश्चिते सतीत्यर्थः । यदि कथंचिन्नैष्ठिकस्य ब्रह्मचर्यं लुप्येत तदा न प्रायश्चित्तं
दृश्यते तेन नैष्ठिकेन ब्रह्मचर्यं यत्नवता भाव्यमिति तद्विषययत्नस्याप्रमादेन सदाकार्यत्वरूपं गौरवमुत्पादयितुं प्रायश्चित्ताभावसं-
णमित्यर्थः । नैष्ठिके हि दक्षितन्यायमितरयोरतिदिशति—**एवमिति** । विशेषतोऽपि प्रायश्चित्तविधेस्तयोरस्ति प्रामादिके व्रतलोपे
प्रायश्चित्तमित्याह—**वानप्रस्थ इति** । दीक्षाभेदे व्रतलोपे प्रमादतो ब्रह्मचर्यभङ्गे कृच्छ्रं चरित्वा महाकक्षं बहुतृणकाष्ठं देशं वर्धयेदिति
संवन्धः । कृच्छ्रं विशिनष्टि—**द्वादशेति** । दिनत्रयमेकवारभोजनं दिनत्रयं रात्रिभोजनं दिनत्रयमुपासकारण-
मित्येवंरूपमित्यर्थः । परित्राजकेऽपि प्रमादतो व्रतलोपे तुल्यं कृच्छ्रानुष्ठानमित्याह—**भिक्षुरिति** । सोमस्य यथाज्ञत्वात्तदभिष्टु-
नाडुल्य महाकक्षं वर्धयेदित्याह—**सोमेति** । 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । पुनः स पूतो भवति पक्षिपावन एव च ॥
मनोवाक्कायजान्दोषानज्ञानोत्थांश्च प्रमादजान् । सर्वान्दहति योगाग्निस्तूलाशिमिवानलः ॥ उपपातकसङ्क्षेपे पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य
रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥ नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनस्त्यहरहःकृताः' इत्यादि
परित्राजकविषयं शास्त्रं तेनाभिहितः संस्कारो ध्यानादिः स च कर्तव्यो भिक्षुणेत्याह—**स्वशास्त्रेति** । ऊर्ध्वरेतसां प्रमादमुक्त-
द्वयार्थानां कृतप्रायश्चित्तानामधिकारोऽस्ति विधायामिति भावः ॥ ४२ ॥ कृतप्रायश्चित्तानामपि तेषां शिष्टाव्यवहार्यत्वमाह—
बहिस्त्विति । कृतप्रायश्चित्तैः सह शिष्टाचाररूपं कर्म विषयस्तत्किं विधाकं किंवा नेति संशये प्रागुक्तप्रायश्चित्तेनैव तेषां व्यव-
हार्यतासिद्धेरङ्गमिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—**यदीति** । प्रतिशार्थमुक्त्वा हेतुद्वयं व्यकरोति—**आरूढ इत्यादिना** । उद्धृज्यावरणकृ-
मेनो लोकद्वयेऽपि कर्तुंरशुद्धिमादधाति । तत्र प्रायश्चित्तेन लोकद्वयेऽपि कस्यचिदशुद्धिरपनीयते कस्यचित्तु पारलौकिकाशुद्धिरप-
नियत, येनिकाशुद्धिरनुवर्तते । उक्तं हि—'बालप्रांश्च कृतप्रांश्च विशुद्धानपि धर्मेतः । शरणागतद्वन्द्वं स्त्रीद्वन्द्वं न संवेद' इति ।
तथेहापि 'आरूढो नैष्ठिकम्' इत्यादिस्मृतिलिङ्गावाचाराच्च परलोकाशुद्धेरपनीयतेऽप्यव्यवहार्यत्वावगमाच्च तैर्व्यवहाररूपाचारस्य विनाः

चरेत्' इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः । शिष्टाचाराच्च । नहियन्नाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥



अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् ॥ ध्यातुरेव श्रुतं तस्माज्जाजमानमुपासनम् ॥ १ ॥

यूपादेवविदुर्नातेत्याविज्यत्वं स्फुटं श्रुतम् ॥ क्रीतत्वादित्वजलेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥ २ ॥

अङ्गेपूपासनेषु संशयः । किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदत्विकर्माणीति । किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति । कुतः—फलश्रुतेः । फलं हि श्रूयते—'वर्षति हासै वर्षयति ह य एत-
देवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।३।२) इत्यादि । तच्च स्वामिगामि न्याय्यम् ।
तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात् । अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य । फलं च कर्तुं-
पासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इत्यादि । नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मेन वा
यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (वृ० १।३।२८) इति । न । तस्य वाचनि-
कत्वात् । तस्मात्स्वामिन एव फलवत्पूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

मुगमं भाष्यम् ॥ ४३ ॥ **स्वामिनः फलश्रुतेः** । अङ्गाश्रितोपास्तिपूभयकर्तृत्वसंभवासंशयः । यः कृतप्रायश्चित्तः स
संभवहार्य इत्युत्सर्गस्य निन्दातिशयस्मृत्या नैष्ठिकादिषु बाधवयो यदङ्गकर्ता स तदाश्रितस्य कर्तव्युत्सर्गस्य कर्तुः फलश्रुत्या
बाध इति पूर्वपक्षमाह—**किमिति** । अत्र कर्तृत्वमोक्तवयोरैकाधिकरण्यं फलं सिद्धान्ते त्वङ्गाश्रिता कृत्विकर्तृका अयुपासनयो
यजमानगामिस्वतन्त्रफलाः किमु वाच्यं खनिष्ठब्रह्मविद्यायाः खान्द्रयमिति फलं विवेक्यम् । अतः पादसंगतिः । हिंसा-
प्रस्तावोद्गीधप्रतिहारनिधनाह्यपञ्चप्रकारे सामि वृष्टिध्यातुर्वैपसमृद्धिः फलमिति श्रुत्यर्थः । श्रुतं फलं कृत्विगत्वं किं न स्यादित्यत
आह—**तच्चेति** । यथासाङ्गकृत्वधिकृताधिकारत्वाद्गोहन्स्य फलं कृत्वधिकारिगतं तद्वदङ्गोपासनस्यापि फलं तद्वतमेवत्यर्थः ।
अतु तस्य फलं तद्वत कर्तात्वन्त्यः किं न स्यादित्यत आह—**फलं चेति** । यदुक्तं यजमानगामि फलमिति तस्यापवादं
शङ्कते—**नन्विति** । उद्दानेन साधयतीत्यर्थः । याजमानं फलमित्युत्सर्गस्यासति बाधकवचने सिद्धिरिति समाध्यायः । तस्मा-

भासतीध्याख्या

काशुद्धिस्वेनसापादिता न शक्यापनेतुम् । यथा स्त्रीवालादिधातिनाम् । यथाहुः—'विशुद्धानपि धर्मनो न सपिबन्' इति ।
तथा च 'प्रायश्चित्तेरपेक्ष्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्' कामतः कृतमपि । भावनादिस्तु कृतनिर्णयनोऽपि वचनादप्यवहार्य इह लोके
जायत इति । वचनं च बालभ्रांश्चित्यादि । तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ४३ ॥ **स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः** । प्रथमं काण्डे
शेषपक्षेण तथाकाम इत्यत्रैविकसंबन्धे कर्मणः सिद्धिं किं कामो याजमान उतापिबन् इति मशयान्वित्यपि कर्मणि याजमान
एव कामो गुणफलेष्विति निर्णायकमिह त्वेवंजातीयकानि चाङ्गसंबन्धानि उपासनानि किं याजमानाग्येवोपास्तिन्यासीनि विचार्यन्
इति न पुनरुक्तम् । तत्रोपासकानां फलश्रवणादनधिकारिणस्तदनुपपत्तेर्यजमानस्य न कर्मजनितकरोपयोगवानोऽधिकारादपिजा
च तदनुपपत्तेरपि राजाज्ञास्थानीयात्कचिद्विजां फलश्रुतेरिति वचने यजमानस्य फलतदुपासनं तस्य फलश्रुतेः तं ह
वक्तुं दाह्यो विद्विष्यकारित्यादेरुपासनस्य च सिद्धविषयतया न्यायात्वादामर्थोभावात्ताजमानमेवोपासनकर्माणि प्राप उच्यन्ते—

आनन्दागरीयव्याख्या

त्वम् । तदेवेमुक्ताचारस्योक्तविधानाङ्गत्वाभिधानात्प्रासङ्गिको पादादिमंगतिः । पूर्वपक्षे 'व्याख्या' इत्यादिमुक्तयोः । सिद्धान्ते तदा-
नुगुणमिति भावः ॥ ४३ ॥ अन्यस्मिन्पादकारिणि तेन व्यवहारादस्य स्वपकारवदन्यमनुपासनवत्तरे नन व्यवहारोपासनफलद्वयो-
पकारमन्ययमानस्य दर्शयन्पूर्वपक्षयति—**स्वामिन इति** । कर्मादिसङ्गाद्युपासनानि विषयमेवपुनरुक्तवत्तस्या मेवयमाह—
भवेद्विति । शास्त्रीयाङ्गाश्रितोपास्तीनां स्वतन्त्रफलानामृत्विकर्तृत्वोऽपि यजमानगामिकर्तृत्वोऽपि पादादिमंगतिः । पूर्वपक्षे कर्तृ-
त्वमोक्तवयोरैकाधिकारण्यासिद्धिः । सिद्धान्ते प्रकृतस्य कर्तृत्वान्वयानस्य यजमानादीनात्कृतवत्तमपि तदधीनमित्येकाधिकरण्य-
साविरुद्धतेति सिद्धवत्कृत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**किमिति** । तत्र हेतुं प्रश्नद्वारा दर्शयन्—**कुत इति** । फलश्रुतिमेव विशद-
यति—**फलं हीति** । श्रुतमपि फलमृत्विगत्वं किं न स्यात्, तत्राह—**तच्चेति** । तत्र हेतुः—**तस्येति** । उदीयानुपासकविधीनां
गोहोदनत्वकृत्वधिकारिण एव प्राप्तस्तस्यैवोद्देशनयोगात्तदाश्रितोपास्तीनां गोहोदनवद्विद्वत्तदधिकारगत्वात्कृतवत्तमपि एव गोहोदन-
फलवद्विधाफलेन संगतिरित्याह—**अधिकृतेति** । तथापि कथमुपास्तीनां याजमानत्वं, तत्राह—**फलं चेति** । यजमानं फलव-
पि यजमानस्य न साकृत्तुवमोक्तवयोरैकाधिकरण्यादित्यर्थः । यजमानगामि फलमित्यत्र स्वामिनारं श्रुते—**नन्विति** ।
त्वमेवो याजमानं फलं वचनत्वादपवादः स्यादिति—**न तस्येति** । वाचनिकापवादामात्रं नृत्सर्गोत्पत्तिरित्युपसंहरति—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

नैतदस्ति स्वामिकर्माण्युपासनातीति । ऋत्विक्कर्मण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । किं कारणं तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेन त्विक्परिक्रीयते । तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात् । तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेव त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन् । तथाच 'तं ह बको दालभ्यो विदांचकार स ह नैमिशीयानामुद्राता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्रातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूक्तं कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत इति । नैष दोषः । परार्थत्वात्-त्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसंबन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

'युं वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति' 'तस्मादु हेवंविदुद्राता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १।७।८-९) इति । तच्च त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामुत्त्विकर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥



अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते ॥ मासं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्यमुभय यतः ॥ १ ॥

निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् ॥ विधेयं तद्वेददृष्टिप्राप्तये तद्विधृतये ॥ २ ॥

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनि-

रत्नप्रभाष्याख्या

त्फलभोक्तृत्वादित्यर्थः ॥ ४४ ॥ उपासनमात्विज्यं ऋत्विक्कर्तृकमित्यत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तथाचेति । तमुद्गीथार्थं प्रणवं प्राणदृष्ट्या ध्यातवान्ध्यात्वा च नैमिशीयानां सत्रिणामुद्रातासीदित्यर्थः । यजमानेन स्वगामिफलकसाङ्गप्रयोगकरणायां विजां क्रीतत्वात्कर्तृत्वेऽपि न तत्फलभाक्त्वमुत्सर्गस्य बाधकाभावादित्युक्तत्वात् । कथणद्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यं चोपपद्यते श्रव्यकर्तृके युद्धे राजा युध्यते जयति चेतिवदिति भावः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ सहकार्यन्तरविधिः । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा संन्यस्य भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मादयतनोऽपि ब्राह्मण आपातज्ञानरूपपण्डावान्पण्डितस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन श्रवणजज्ञानस्य बलभावेन मननेनासंभावनानिरासेन बालस्य भावेन वा शुद्धचित्तत्वेन स्थातुमिच्छेदेवं मननश्रवणे कृत्वाथानन्तरं मुनिर्निर्दिध्यासनकृत्यादेवमौनं च मौनान्दयद्वात्यपाण्डित्यद्वयं मौनं च निर्दिध्यासनं लब्ध्वा अथ ज्ञानसामग्रीपौष्कल्यानन्तरं ब्रह्माहमिति साक्षात्कारवान् ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः । मौनशब्दस्य निद्वरूपे पारि-

भासनीत्याख्या

॥ ४४ ॥ आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते । उपास्यानात्तावदुपासनमौद्रात्रमवगम्यते । तद्वलयति सति बाधकेऽन्यथोपपादनीयम् । न च त्विक्कर्तृक उपासने यजमानगामिता फलस्यासंभविनी तेन हि स परिक्रीतस्तद्रामिने फलपष्टते । तस्मात् व्यसनितामात्रेणोपास्यानमन्यथयितुं युक्तमिति राद्धान्तः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिर्मानं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इति । यं च निर्विद्याथः निर्विद्याथः

आनन्दगिरीयव्याख्या

तस्मादिति ॥ ४४ ॥ अङ्गोपास्तीनां याजमानत्वात् स्वतन्त्रफलतः प्राप्ते सिद्धान्तयति—आर्त्विज्यमिति । तत्र प्रतिज्ञा विभजते—नैतदिति । अन्यकर्तृकत्वं कथमन्यस्य फलमिति शङ्कते—किं कारणमिति । सूत्रावयवेनोत्तरमाह—तस्मै इति । ऋत्विजो यजमानेन स्वगामिने फलपय क्रीतत्वात्तानुपपत्तिरित्यर्थः । साङ्गकर्तृक क्रीतत्वेऽपि ध्यानार्थमक्रीतत्वात्कथमुपास्तीनामृत्विक्कर्तृकत्वं तत्राह—तदिति । अङ्गोपास्तीनामधिकृताधिकारत्वे फलितमाह—तस्मादिति । तासां ऋत्विक्कर्तृकत्वे श्रौतं लिङ्गमाह—तथाचेति । तमुद्गीथार्थं प्रणवं प्राणादिदृष्टिविशिष्टं बको नामतो दल्भस्यापत्यं दारभ्यो विदांचकार विदितवान् । विदित्वा च नैमिशीयानां सत्रिणामुद्रातासीदित्यर्थः । पूर्वपक्षवीजमनुवदति—यचिति । उत्सर्गतो याजमानत्वेऽपि फलस्य वचनादपवादो व नैव तत्रोत्सर्गस्थितिरित्युक्तमित्याह—नेत्यादिना ॥ ४५ ॥ इतश्चोपास्तीनामृत्विक्कर्तृकत्वं यजमानगामिफलत्वं चेत्याह—श्रुतेरेति । उत्सर्गतः श्रुतिलिङ्गैश्च सिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । सिद्धे चोपास्तीनामृत्विक्कर्तृकत्वे तन्निर्धारणानियमन्यायेन स्वतन्त्रफलत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ४६ ॥ विधुरप्रभृतीनां मन्दाधिकारिणां धीसाधनोक्तिप्रसङ्गेनाङ्गोपासनमथमधीसाधनमेव निर्धार्य पुनरुत्सर्गमेव धीसाधनं वक्तुमारभते—सहकार्यन्तरेति । विषयवाच्यमुदाहरति—तस्मादिति । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा विदित्वात्मानमेव गणान्को षुत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणः पाण्डित्यं पण्डाऽव्ययनजा ब्रह्मदृष्टिस्तद्वाग्पण्डितस्तस्य कृत्यं च पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन ज्ञानबलभावेन युक्तितोऽसंभावनानिरासरूपमननेन शुद्धधीवेन वा तिष्ठाने-

एव विधेः पर्यवसानमिति तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति । निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम् । तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः । कथं च विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते । तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति । ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति । एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राप्त्या प्राप्नोति तस्मिन्नेव विधिरिति । विध्यादिवत् । यथा—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामं यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाश्रयत्वाधानादिकमङ्गजातं विधीयते । एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥ एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्यप्राप्ते श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१।११) इत्यत्र । तेन ह्युपसंहारस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति । अत उत्तरं पठति—

कृत्स्नभावाच्च गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

तु शब्दो विशेषणार्थः । कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते । बहुलायासानि हि बह्वन्याश्रमकर्मणि यद्वा

रत्नप्रभाष्याख्या

विधेयेत्याह—निर्वेदनीयत्वेति । नच त्रयाणां विधाने वाक्यभेदो दोषः । उपरिधारणवद्विष्टत्वात्तद्वाक्यभेदस्येति भावकस्येदं ध्यानं विधीयत इत्याह—तद्वत् इति । आत्मानं विदित्वेति परोक्षज्ञानवतः संन्यासिनः प्रकृतत्वादित्यर्थः । सूक्ष्मसाक्षात्कारसाधनत्वेन ध्यानदेः पञ्जादौ लोकतः प्राप्तिं शङ्कित्वा नियमविधिमाह—नन्वित्यादिना । ननु ब्रह्मविद्यावाक्ये कथं ज्ञानाङ्गमिति चेत्सफलकतुपरवाक्येऽङ्गविधिवदित्याह—विध्यादिवदिति । प्रधानमारभ्याङ्गपर्यन्तो विधिः । प्रधानः क्रतुर्विध्यादिरत एवाङ्गं विध्यन्त इत्युच्यत इत्यर्थः । एतत्सूत्रभाष्यभावानभिज्ञाः संन्यासाश्रमधर्मध्वजनादौ विधिस्तीति वदन्ति । विधौ ह्यप्राप्तिमाश्रमपेक्षितं तच्च भेददर्शनप्राप्त्यादर्शितमिति संप्रदायविदः ॥ ४७ ॥ समावर्तनानन्तरं कुटुम्बस्थितो ब्रह्मलोकं प्राप्नोति नच पुनरावर्तत इत्युपसंहारात्संन्यासो नास्तीति शङ्काः । आयासविशिष्टकर्मबाहुल्याद्गृहिणो

भामतीव्याख्या

तस्माद्बाल्यमेवात्र विधीयते मौनं तु प्राप्तं प्रशंसार्थमनूयत इति युक्तम् । भवेदेवं यदि पण्डितपर्यायो मुनिशब्दो भवेत् । अपि तु मात्रं पाण्डित्यं ज्ञानातिशयसंपत्तिस्तु मौनं तत्रैव तत्प्रसिद्धेः । आश्रमभेदे तु तत्प्रवृत्तिगोर्हस्यादिपदसंनिधानात् । तस्मादपूर्वत्वान्मौनं बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते । एवंच निर्वेदनीयत्वमपि विधान आज्ञासं स्यादित्याह—निर्वेदनीयत्वनिर्देशादिति । कस्येदं मौनं विधीयते विद्यासहकारितयेत्यत आह—तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनो विशेषो पृच्छति—कथमिति । विद्यावत्ता प्रतीयते न संन्यासितेत्यर्थः । उत्तरं तदधिकारात् भिक्षोस्तदधिकारात् । तद्वदीयते—आत्मानं विदित्वेति । सूत्रावयवं योजयितुं शङ्कते—नन्विति । परिहरति—अत आह पक्षेणेति । विद्यावानिति न किंतिशयो विवक्षितः । अपि तु विद्योदयायाभ्यासे प्रवृत्तो न पुनरुत्पन्नविद्यातिशयः । तथाचास्य पक्षे कदाचिद्भेददर्शनात्संभव इत्यर्थः विध्यादिविधिमुख्यः प्रधानमिति यावत् । अत एव समिदादिविध्यन्तः स हि विधिः प्रधानविधेः पश्चादिति । तत्राश्रयमाणं धित्वेऽपूर्वत्वाद्भिधिरास्थेय इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ ननु यद्ययमाश्रमो बाल्यप्रधानः कस्मात्पुनर्गोर्हस्थेनोपसंहरतीति चोदयति—ए बाल्यादिविशिष्टेति । उत्तर पठति—कृत्स्नभावाच्च गृहिणोपसंहारः । छान्दोग्ये बहुलायाससाध्यकर्मबहुलत्वाद्वा

आनन्दगिरियव्याख्या

आह—यस्त्विति । उपरिधारणवन्मौनं वाक्यभेदेन विधेयमित्यत्रैव हेतुवत्तमाह—निर्वेदनीयत्वेति । कस्येदं मौनं विद्यासंरितया विधीयते, तत्राह—तद्वत् इति । विशेषणप्रापकं पृच्छति—कथमिति । प्रकरणं तथेत्याह—तदिति । पक्षेणेति । शङ्कोत्तरत्वेनावतारयति—नन्वित्यादिना । ब्रह्मैव प्रत्यगद्वयं वस्तु द्वैतं सर्वमविद्यामयमिति शास्त्रयुक्तिभ्यां सिद्धे तत्साक्षात्कारत्वात् नाभ्यासे स्वयमेव पुरुषस्यौन्मुह्यादनर्थको विधिरिति चोदिते संन्यासप्रकरणोत्पन्नस्य श्रवणादेः साक्षात्कारहेतुभावस्यापूर्वत्वात्संस्तद्विधिरिति समाधिः । विद्यावन्तमधिकारिविशेषं प्रति विधेरानर्थक्यमुक्तमित्याशङ्क्य विद्यावत इति विद्यातिशययुक्तो नोक्तो हि विद्योदयाय तदुपायाभ्यासे प्रवृत्तस्तेनास्य पक्षे कदाचिद्भेददर्शनं प्राप्नोत्यतो विधेरर्थवत्तैति सूत्रपदार्थं विवृणोति—एतदिति । अत्रिष्टावयवस्य तद्विधायकत्वे दृष्टान्तमाह—विध्यादिवदिति । तदेव व्याचष्टे—यथेति । आदिर्मुख्यं प्रधानं विधेरादिविध्यादेः शेषपूर्णमासविधिः समिदादिरस्तु विध्यन्तस्तत्राश्रुतविधिकेऽपि विधिरास्थेय इत्यर्थः । दृष्टान्तस्थमर्थं दाष्टान्तिके योजयितुं—एवमिति । ॥ ४७ ॥ बाल्यादिप्रधानः संन्यासो यद्यनुष्ठेयस्तर्हि कस्माद्गोर्हस्थेनोपसंहरति श्रुतिरित्यनन्तरं सूत्रव्याख्येयमाह—एवमिति । गृहिणोपसंहारेऽपि कैवल्यश्रमस्य किं जातमित्याशङ्क्यानास्थाविषयत्वं प्राप्तमित्याह—तेनेति । बहुलायाससाध्यकर्मबाहुल्यात्तेनोपसंहारो न तेनैव समापनादित्याह—अत इति । सूत्रं व्याचष्टे—तुच्छाद इति । ननु यथा गृहिणो यथादीनि कर्तव्ये

दीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते । तस्माद्ब्रह्मेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलवासौ । दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—‘तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः’ (छा० २।२३।२) इत्याद्या । तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषानुल्लेखवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः । इतरेषामिति द्वयोरश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥



बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धिता ॥ वयस्यविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ॥ १ ॥
मनस्योपशुक्लत्वाद्वाप्यशुद्धिर्विवक्षिता ॥ अत्यन्तानुपयोगित्वाद्ब्रह्मचर्याच्च न द्वयम् ॥ २ ॥

‘तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्’ (वृ० ३।५।१) इति बाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते । तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादं मूत्रपुरीषत्वादिवालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिप्रकृतेन्द्रियत्वं दम्भदर्पादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः । किं तावत्प्राप्तं कामचा-

रत्नप्रभाख्याख्या

रः कृतो न संन्यासाभावादिति समाधर्ष्यः ॥ ५० ॥ संन्यासगार्हस्थ्यद्वयमत्र सूत्रकृतोक्तम् । ततोऽन्यदाश्रमद्वयं नास्तीति सचिह्नमः स्यात्तं निरस्यति—मौनवदिति । आश्रमद्वयवदित्यर्थः । इतरथोरपीति वाच्ये बहुक्तिरवान्तरभेदमपेक्ष्य । चास्माभिः प्राग्दर्शितः ॥ ४९ ॥ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । तत्र बाल्ये विषये तद्धितस्य भावार्थत्वासंभवात्कर्माध्यक्ष्यं शीत्वा तिष्ठन्मूत्रत्वादिकर्मणोऽप्रकृतेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धेश्च बालकमेतत्वाविशेषासंशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे विद्याश्रवणेन मूत्रत्वादिरूप्यनुष्ठानं सिद्धान्ते भावशुद्धेरवेति फलम् । पूर्वत्र मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये ध्याने प्रसिद्धत्वात् ध्यानं विधेयमित्यु-
म् । तद्ब्रह्मचर्यशब्दस्य कामचारादौ प्रसिद्धेस्तद्विधिग्रहणमित्याह—किं तावदिति । कामतत्त्वरणवदनभक्षणानि यस्य

भामतीव्याख्या

स्य चाश्रमान्तरधर्माणां च केषांचिदहिंसादीनां समवायात्तेनोपसंहारो न पुनस्तेन समापनादित्यर्थः ॥ ४८ ॥ एवं तदा-
द्वयोपन्यासेन क्वचित्कदाचिदतिराभावशङ्का मन्दबुद्धेः स्यादिति तदपाकरणार्थं सूत्रम्—मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।
तेर्वाणप्रस्थानामनेकविधैरेवं ब्रह्मचारिणोऽपीति वृत्तिभेदोऽनुष्ठितातो वा पुरुषा भिद्यन्ते, तस्माद्विधेऽपि बहुवचनमविकरम्
४९ ॥ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । बाल्येनेति यावद्बालचरितश्रूयतेः कामचारवादभ्युत्पत्त्याश्चाल्यन्तबाल्येन प्रसिद्धेः शीचा-
नेयमविधायिनश्च सामान्यशास्त्रस्यानेन विशेषशास्त्रेण बाधनात्सकलबालचरितविधानमिति प्राप्तेऽभिधीयते—विद्याश्रवणेन बाल्य-

आनन्दगिरीयव्याख्या

ने तथाश्रमान्तराणामपि करणसंयमादिकर्मान्तराप्युच्यन्ते तथाच कोऽस्य विशेषः, तत्राह—आश्रमान्तरेति । गृहमेषिणि
पि सिद्धे कलितमाह—तस्मादिति ॥ ४८ ॥ मौनं गार्हस्थ्यमित्याश्रमद्वयोर्किरितराश्रमाभावाशङ्का कस्यचिद्वैतज्ञिगमाधेमाह—
वदिति । कथं तयोः श्रुतिमत्त्वं, तत्राह—दर्शितेति । श्रुतिमत्त्वाविशेषे कलितमाह—तस्मादिति । इतरेषामिति बहुवचन-
स्यस्यापि परामर्शो न तु सिद्धवदुपन्यास इत्याशङ्क्याह—इतरेषामिति । गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहजिनि अश्विनो
विंशः । गृहस्थोऽपि वार्तावृत्तिः शालीनवृत्तिर्वायवरो घोरसंन्यासीति चतुर्विधः । वानप्रस्थश्च वैष्णवमौदुम्बरान्द्विविधः न पश्यते भेदे-
विंशः । तथा परित्राडपि कुटीचकबह्वदकहमपरमहंसभेदेश्चतुर्विध इति षोडशभेदास्तत्तदाश्रमास्तत्तद्वर्मविशेषयुक्ताः श्रुतिस्मृति-
द्व्याः । ततो ब्रह्मचारिणो वानप्रस्थे चानुष्ठातृभेदमनुष्ठानभेदं वाऽपेक्ष्य बहुक्तिनं गार्हस्थ्यमपेक्ष्य तस्य प्रागेवमदिश्वन्तेनोक्त-
देत्यर्थः ॥ ४९ ॥ बाल्यस्य विधेयत्वमुपेक्षायास्तद्विधानात्तद्विधानमिति प्राप्तेऽभिधीयते—विद्याश्रवणेन बाल्य-
विशेषमाह—अनाविष्कुर्वन्निति । अनुष्ठेयत्वेन श्रुतं बाल्यं विधेयत्वेनोदाहरति—तस्मादिति । तत्र बाल्यं विषये मंशय-
संबन्धः । संशयकारणमाह—बालस्येति । तर्हि बालभावो वयोविशेषोऽपि कल्पयतामित्याशङ्क्य नदग्रहं हेतुमाह—वालेति ।
तत्तुल्या परिशिष्टं बाल्यमाश्रित्य संशयमभिनयति—यथेति । बाल्यशब्दाद्यविचिन्नेन मनत्रपुमर्थहेतुविधान्तरहस्येवात्रापि निरु-
त्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे तिष्ठन्मूत्रत्वाद्यपि विदुषोऽनुष्ठेयं सिध्यति । सिद्धान्ते बाल्यस्याप्रकृतेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धेरनुष्ठेयत्वात्
नो यथेष्टचेष्टासिद्धिरिति मत्वा प्रसपूर्वकं पूर्वपक्षम्—किं तावदिति । चरणं चारो वदनं वारो भक्षणं भक्षस्ते कामदो

रवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम् । ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम् । न । विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्याद्दोषनिवृत्तेः पशुर्हिंसादिष्विवेति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न । वचनस्य गत्यन्तरसंभवात् । अचिरुद्धे हान्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलष्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता । प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते । ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम् । नच सकलाणां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः संभाव्यते । तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररुद्धेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते । तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति । ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादभिरात्मानमविष्ठापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत् । यथा बालोऽप्ररुद्धेन्द्रियतया न परेषामात्मानमाविष्कर्तुमीहते तद्वत् । एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते । तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—‘यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् । न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेदकश्चित्स ब्राह्मणः । गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् । अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ ‘अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः’ इति चैवमादि ॥ ५० ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥



इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते ॥ तथाभिसंधेयंज्ञादिः क्षीणो विविदिपाजनी ॥ १ ॥

असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा ॥ श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्भामदेवोद्भवादिपि ॥ २ ॥

रत्नप्रभावाख्या

स कामचारवादभक्षणस्तस्य भावस्तत्तेत्यर्थः । यथोपपादं यथासंभवं मूत्रादि यस्य तद्भावस्तत्त्वं बाल्यविधिवलत्पातित्यशास्त्रमन्यविषयमिति भावः । ‘यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति’ इत्यादिशौचभिक्षादिनियमविधिशालाविरुद्धस्य भावशुद्धाख्यबाल्यस्य विधिसंभवाच्च यथेष्टचेष्टाविधिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रधानविरोधित्वाच्च न तद्विधिरित्याह—प्रधानेति । भावशुद्धेर्विद्योपकारकत्वेनान्वयादनाविष्कुर्वन्भवेदिति बाल्यविध्यर्थ इति सूत्रयोजना ॥ ५० ॥ ऐहिकमपि संन्यासादिबाल्यान्तं साधनजातमुक्त्वा तत्साध्यविद्याजन्म विचार्यत इति संगतिं वदन् साधनस्य

भामतीव्याख्या

विधानात्समस्तबालचर्यायां च प्रधानविरोधप्रसङ्गाद्यत्तदनुगुणमप्रौढेन्द्रियत्वादि भावशुद्धिरूपं तदेव विधीयते । एवं च शास्त्रान्तरावाधेनाप्युपपत्तौ न शास्त्रान्तरवाधनमन्याय्यं भविष्यतीति ॥ ५० ॥ ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।

आनन्दगिरियव्याख्या

यस्य स तथा तस्य भावस्तत्ता । यथोपपादं यथासंभवं यत्र कापि मूत्रं च पुरीषं चास्येति तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वम् । तत्र लोकप्रसिद्धं हेतुमाह—प्रसिद्धेति । शास्त्रान्तरविरोधादयुक्तमुक्तविधबाल्यस्य विधेयत्वमिति शङ्कते—नन्वेति । आदिशब्देन शिष्टाहो गृह्यते । सामान्यशास्त्रसंकोचो विशेषविधेः स्यादित्याह—नेत्यादिना । सामान्यविधेर्विशेषविधिना संकोचे दृष्टान्तमाह—पश्चितीति । विदुषो यथेष्टचेष्टायामपि न दोषोऽस्तीति प्राप्तमनूय सिद्धान्तमाह—एवमिति । विदुषो यथेष्टचेष्टा न विधेया शास्त्रान्तरविरोधादिति प्रतिजानीते—नेति । सामान्यशास्त्रस्योक्तः संकोचो बाल्येन तिष्ठासेदितिवचनादित्याशङ्क्याह—वचनस्येति । सामान्यप्रवृत्तविधिशालाविरुद्धेऽर्थे संभवति तद्विरुद्धार्थकल्पनायोगाच्च कामचारादि विधेयमित्युक्तमेव ध्येयं—अचिरुद्धे हीति । इतश्च कामचारादि न विधेयमित्याह—प्रधानेति । किं तत्प्रधानं यदङ्गत्वेन बाल्यादि विधीयते तदाह—ज्ञानेति । उक्तप्रमाणोपकारित्वाभावाच्च कामचारादि विधेयमित्युक्तम् । तद्विरोधित्वाच्च तदविधेयमित्याह—नचेति । किं तर्हि विधेयं बाल्यं तदाह—तस्यादिति । इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः । उक्तेऽर्थे सूत्रमादाय योजयति—तदाहेति । कथं यथोक्तेऽर्थे बाल्यशब्दः प्रयुज्यते, तन्माह—यथेति । अन्वयादिति पदं व्याकरोति—एवं हीति । अप्ररुद्धेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धिलक्षणबाल्यस्य प्रधानोपकारित्वे मानमाह—तथाचेति । कुलीनत्वप्रकटनं सर्वं तद्वैपरीत्यमसत्त्वम् । शास्त्रार्थज्ञानराहित्यमश्रुतत्वं तद्वैपरीत्यं बहुश्रुतत्वम् । सदाचारनिवृत्तत्वं सुवृत्तत्वं दुराचारनिवृत्तत्वं दुर्वृत्तत्वमिति भेदः । तत्किमिदानीं ब्रह्मधीयोग्यस्य सुसुक्ष्मोर्नस्येव किंचिदनुष्ठेयं, तत्राह—गृहेति । चक्षुरिन्द्रियपारवश्यं निरसितुमन्धवदित्युक्तम् । रसनादिपारवश्यं निरस्यति—जडवदिति । ज्ञानेन्द्रियपारवश्यं परिहृत्य श्रवणादिरसकमेन्द्रियपारवश्यं परिहरति—मूकवदिति । धर्मध्वजित्वाप्रकटनमव्यक्तलिङ्गत्वम् । तदेवं सुसुक्ष्मपरतत्सर्वेन्द्रियस्य श्रवणादिरसमोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानमवश्यंभावीति भावः ॥ ५० ॥ बाल्यान्तमुच्चावचं विद्याहेतुमुक्त्वा तत्फलं विद्याजन्मकालं निरूपयति—ऐहिकमिति । उक्तहेत्वधीनधीजन्मविषये कारीयादिकले चित्रादिकले चोभयोपलब्धेऽनुवादपूर्वकं संशयमाह—सर्वेति । श्रवण-

‘सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्’ (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितं तत्फलं विद्या सिध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिध्यत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् । इहैवेति । किं कारणम् । श्रवणादिपूर्विका हि विद्या । नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते । समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसंधायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते । यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्धियायाः । तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति । एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति । एतदुक्तं भवति यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियत उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदैहैव विद्योत्पद्यते यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदामुच्यते । उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति । यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते । यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति । शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति । साधनवीर्यविशेषात्स्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति

रत्नप्रभाव्याख्या

दिधा फलसंभवात्तसंशयमाह—**सर्वेत्यादिना ।** कारीरीष्टिवदैहिकफलत्वनियमः श्रवणादीनामिति पूर्वपक्षमाह—**किंताय-
दिति ।** नन्वामुष्मिकफलकयज्ञादिसाध्यविद्यायाः कथमैहिकत्वनियम इत्यत आह—**यज्ञादीन्यपीति ।** शुद्धिद्वारा यज्ञा-
दिभिः श्रवणादिषु साक्षाद्विद्याहेतुषु घटितेषु विद्याविलम्बो न युक्तः । दृश्यते च विलम्बः । अतः श्रवणादेर्विद्याहेतुत्व-
मसिद्धमिति पूर्वपक्षे फलम् । प्रतिबन्धकवशाद्विलम्बेऽपि हेतुत्वसिद्धिरिति सिद्धान्ते फलं मत्वा चित्रादिवदनित्यतः फल श्रवणा-
दिकमिति सिद्धान्तयति—**एवमिति ।** ननु प्रारब्धकर्मविशेषेण श्रवणादिफलप्रतिबन्धः किमिति कियते श्रवणादिनैव कर्म-
विपाकप्रतिबन्धः किं न स्यादित्यत आह—**उपस्थितचिपाकत्वं चेति ।** देशादिमहिम्ना कर्माणि विपर्यन्त इत्यर्थः ।
तेन श्रवणादिकमेव किमिति न विपर्यन्तते, तत्राह—**यानि चेति ।** विपाचकत्वं फलान्मुद्वह्यहेतुत्वम् । ननु तर्हि श्रवणादिविपा-
चकदेशादिकं कीदृशमित्यत आह—**शास्त्रमपीति ।** फलबलाद्देशादिज्ञानमिति भावः । तथापि कर्मणैव श्रवणादिप्रतिबन्धो न
वैपरीत्यमित्यत्र को हेतुस्तमाह—**साधनेति ।** प्रतिबन्धकत्वशक्तिरपि फलबलाज्जातव्येति भावः । प्रतिबन्धकराज्ञाये श्रीतं

भामतीव्याख्या

संगतिमाह—सर्वोपेक्षा चेति । किं श्रवणादिभिर्देव वा जन्मनि विद्या साप्यते उतानियम इह वामुत्र वेति । यद्यपि कर्माणि यज्ञादीन्यनियतफलाणि तेषां च विद्योत्पादसाधनत्वेन विद्योत्पादस्यानियमः प्रतिभाति । तथाच गर्भस्थस्य वामदेव-स्यात्मप्रतिबोधश्रवणात्, 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परं गतिम्' इति च स्मरणादामुष्मिकत्वमप्यवगम्यते । तथापि यज्ञादीनां प्रमेयानामप्रमाणत्वाच्चूच्यणदेश्च प्रमाणत्वात्तेषामिव साक्षाद्विद्यासाधनत्वम् । यज्ञादीनां सत्त्वगुणधामानेन वा विद्योत्पादकश्रवणादि-लक्षणप्रमाणप्रवृत्तिविश्लेषणमेव वा विद्यासाधनत्वम् । श्रवणादीनां त्वनपेक्षानामेव विद्योत्पादकत्वम् । नच प्रमाणेषु प्रत्ययानाः

आनन्दगिरीयव्याख्या

प्रतिबन्धप्रतिबन्धशून्या विशिष्टीप्रसवभूमिरित्युक्तेरत्र पदादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रवणादीनां विशेषाथर्वनियमामिद्विः । मित्राज्ये प्रतिबन्धाभावापेक्षया तेषां तन्त्रियमसिद्धिरित्युपेत्य प्रप्रभूतकमेहि कत्वनियमं पूर्वपक्षमाह—**किमिति** । फल्देविधौपलभ्यौ तन्त्रियमे नास्ति हेतुरिति शङ्कते—**किमिति** । तत्र कारणादह—**श्रवणादीति** । विश्वादिद्वन्द्वग्रापि धीदन्तुर्वै श्रवणादः स्यादित्याशङ्क्याह—**नचेति** । कथं तर्हि तेषु प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां कारीर्यादित्युक्त्यमाह—**समान इति** । श्रवणादीनां यद्युग्रादिद्वन्द्वग्राप्येवकार्यत्वात् न तन्त्रियकुम्भोपलभ्या चक्षुस्मूलोनाभाववज्जमान्तरीयविधायै श्रवणादिषु प्रवृत्त्येवोपादुल्लभ्यमानमनुपादुल्लभ्येत्यर्थः न विधासामन्तरीयधनानांकारीर्यादिवत्तुल्यजन्मन्येव विधाजन्येत्यर्थः । यज्ञादीनां जन्मा-तरीयकल्याणां धीदेतुस्य विविदपराशरीयकल्याण-मान्तरे धीजन्मेत्याशङ्क्याह—**यजेति** । तेषां धीमुद्धया श्रवणादिधृक्कल्यादित्युक्ते तेषु विधायार्थं वा याम्येयिकत्वनिश्चयः उच्यते । श्रवणादीनां कारीर्यादित्युक्त्वे फलितमाह—**तस्मादिति** । श्रवणादिषु कृतेष्वपि न चेदन्तर्धाः स्यात्तयामन्तदुपायवर्तमानं प्राप्नोत्युप-विश्रावदनियतफलधीसाधनमिति सिद्धान्तमाह—**एवमिति** । कृतेष्वपि श्रवणादिष्वत्र विधानमुच्ये कारीर्यादिव प्रनिष्क्रान्ते वा पोषकल्याणयो वा तेषां मनियतं स्यादित्याशङ्क्याह—**एतदिति** । कृतेष्वपि श्रवणादिष्वत्र विधानमुच्ये कारीर्यादिव प्रनिष्क्रान्ते वा पोषकल्याणयो वा तेषां कल्पनीयः प्रतिबन्धहीना हि सामग्री कार्यहेतुर्न स्यात्तत्वा तद्वेतुत्वहर्निशः यथे । उपस्थितविषयाश्रवणादिनिष्ठान्तरमप्य एव प्रनि-वन्धमाशङ्क्याह—**उपस्थितेति** । तैरेव देशादिभिर्विधायैव श्रवणादि कर्म क्रियन्ति न विषयत्वेन, तत्राह—**यानांति** । गोप्राथम्य-कर्मणो ज्ञानार्थस्य च श्रवणादेर्देशकालनिमित्तैककल्याणभावे हेतुमाह—**यत इति** । कर्मणा श्रवणादीनां प्रतिकल्पने तन्त्र्यो विधोत्व-चिदादि शास्त्रं स्यादित्येत्याशङ्क्याह—**शास्त्रमिति** । तथापि कर्मण एव प्रतिबन्धकत्वेन न श्रवणादीनामिति कुतो नियमः, तत्राह—**साधनेति** । यत्पिह विधाभावे कारीर्यादिवत्प्रतिबन्ध-सत्त्वकल्पनेन पिय आमुषिकत्वकल्पनमुत्तमिहैव मे विधा स्यादित्यभि-

तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति । न चाविशेषेण विद्यायामभिसंधिर्नोत्पद्यत इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसंधेर्निरङ्कुशत्वात् । श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षये-
वोत्पद्यते । तथाच श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—‘श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्रय्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्रयो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः’ (गी० २।७) इति । गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचिता-
त्साधनाज्जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति । नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किञ्चित्साधनं संभाव्यते । स्मृतावपि—‘अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति’ (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्ठो
भगवान्वासुदेवः ‘नहि कल्याणकृत्कश्चिद्गतिं तात गच्छति’ (गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुन-
स्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले संभूतिं चाभिधायानन्तरम् ‘तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्’ (गी० ६।४३) इत्यादिना ‘अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्’ (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति । तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्ष-
यापेक्षयेति स्थितम् ॥ ५१ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥



मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद्ब्रह्मलोकवत् ॥ स्वर्गवच्च दृग्भेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ॥ १ ॥

ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् ॥ अत एकविधा मुक्तिर्वैधसो मनुजस्य वा ॥ २ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

स्मार्तं च लिङ्गमाह—तथाचेत्यादिना । शृण्वन्तोऽपि न विद्युरित्युक्तेः प्रतिबन्धसिद्धिः । आत्मनो यथावद्वक्ताप्याश्रयः
अद्भुतवत् कश्चिदेव भवति । तिष्ठतु लब्धा साक्षात्कारवान्, परोक्षतो ज्ञाताप्याश्रयः । कुशलेनाचार्येणानुशिष्टोऽपीत्यर्थः ॥ ५१ ॥
असति प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धे श्रवणादिनेहैव विद्योदयः यज्ञादिभिः संचितपापप्रतिबन्धस्य निरस्तत्वात् । सति तु भोगेन तन्निरा-
सादमुत्रेति विद्याया ऐहिकामुष्मिकत्वविशेषनियम उक्तस्तद्वत्तत्फलेऽपि मोक्षे कश्चिदुत्कर्षादिविशेषः स्यादित्यत आह—एवं-
मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः । मुक्तिरत्र विषयः । तस्यां विद्यावद्विशेषनियमोऽस्ति न वेति फल

भाष्यटीका

प्रमातर ऐहिकमपि चिरभाविनं प्रमोत्पादं कामयन्ते किंतु तादात्विकमेव प्रागेव तु पारलौकिकम् । नहि कुम्भदिदृशुश्रुषी
समुन्मीलयति कालान्तरीयाय कुम्भदर्शनाय किंतु तादात्विकाय । तस्मादैहिक एव विद्योत्पादो नानियतकालः । श्रुतिस्मृती च पार-
लौकिकं विद्योत्पादं स्तुत्या ब्रूतः । इत्थंभूतानि नाम श्रवणादीन्यावश्यकफलानि यत्कालान्तरेपि विद्यामुत्पादयतीति । एवं प्राप्त
उच्यते—यत् एवात्र विद्योत्पादे श्रवणादिभिः कर्तव्ये यज्ञादीनां सत्त्वशुद्धिद्वारेण वा विप्रोपशमद्वारा बोधयोगोऽत एव तेषां
यज्ञादीनां कर्मान्तरप्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्यामनियतफलत्वेन तदपेक्षाणां श्रवणादीनामप्यनियतफलत्वं न्याय्यमनपहतविधानां श्रवणा-
दीनामनुत्पादकत्वादविशुद्धसत्त्वाद्वा पुनः प्रत्यनुत्पादकत्वात् । तथाच तेषां यज्ञाद्यपेक्षाणां तेषां चानियतफलत्वेन श्रवणादीनामप्यनियत-
फलत्वं युक्तमेवं श्रुतिस्मृतिप्रतिबन्धो न स्तुतिमात्रत्वेन व्याख्येयो भविष्यति । पुरुषाश्च विद्यार्थिनः साधनसामर्थ्यानुसारेण तदनुकूलमेव
कामयिष्यन्ते तदिदमुक्तम्—अभिसंधेर्निरङ्कुशत्वादिति ॥ ५१ ॥ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदव-

आनन्दमिरीयव्याख्या

संश्लिष्टेति, तत्राह—नचेति । दृश्यमानसंसारदुःखस्यानेकजन्मगामित्वं जानतो यदा कदाचिदनर्थनिवृत्तिः स्यादित्यभिप्रे-
साधनसामर्थ्यानुसारेण संभावितत्वादित्याह—अभिसंधेरिति । यत्तु श्रवणादीनां चक्षुरादिवदृष्टफलत्वमिति, तत्राह—श्रवणादीति ।
तेषां विधानाददृष्टद्वारापि साधनत्वमवघातवदवगतं यज्ञादीनामनियतकालफलानां ज्ञानसाधनत्वविशेषः विद्योत्पत्तेरनियतत्वमित्यर्थः ।
यत्तु यज्ञादीनां घटकत्वाददृष्टेतेषु श्रवणादिषु विद्याऽवश्यंभाविनीति तत्र प्रतिबन्धसत्त्वस्य श्रौतलिङ्गसिद्धत्वान्नैवमित्याह—तथाचेति ।
आत्मनः श्रवणमपि दुष्करं बहूनामित्याह—श्रवणायेति । कथंचन श्रवणेऽपि तत्फलं ज्ञानं दुर्लभमित्याह—शृण्वन्तोऽपीति ।
तत्र हेतुः—आश्रय इति । यथावदस्यात्मनो वक्ताश्रयोऽद्भुतवत्कश्चिदेव संभवति । सम्यगाचार्येसिद्धावपि तच्छ्रवा लब्धा साक्षा-
त्कताऽस्याश्रयः । तिष्ठतु साक्षात्कारः कुशलेनाचार्येणानुशिष्टोऽपि साक्षात्परोक्षतो ज्ञाताप्याश्रय एवेत्यर्थः । संप्रत्यमुष्मिकत्वे-
भियो लिङ्गमाह—गर्भस्थ इति । कयानुपपत्त्या श्रुतिरिममर्थं दर्शयति, तत्राह—नहीति । जन्मान्तरसंचितं साधनं जन्मा-
न्तरेऽपि धियं साधयतीत्यत्र स्मृतिमाह—स्मृताविति । श्रवणादीनां पौष्कल्येऽपि श्रुतिस्मृतिलिङ्गात्पश्चादिकल्पविद्यादिवदनियतका-
लस्वसिद्धेर्नानैकान्तिकफलत्वं तेषामित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ५१ ॥ विद्यारूपे फले कालोत्कर्षापकर्षकृतो विशेषनियमो द-
र्शितः । संप्रति विद्याफले मोक्षे कस्यचिदपि विशेषनियमस्याभावं दर्शयति—एवमिति । विद्याफलं मुक्तिर्विषयः सा किं विद्या-

न तु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति । विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत् । नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति । सगुणास्तु तु विद्यासु—‘मनोमयः प्राणशरीरः’ (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्भापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथासं फलभेदनियमः कर्मफलवत् । तथाच लिङ्गदर्शनम्—‘तं यथा यथोपासते तदेव भवति’ इति । नैवं निर्गुणायां विद्यायां गुणाभावात् । तथाच स्मृतिः—‘नहि गतिरधिकास्ति कस्य चित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्’ इति तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ५२ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

ज्ञाने विलम्ब उक्तो न तारतम्यमित्यर्थः । तर्हि सत्यपि ज्ञाने मुक्तौ विलम्बः किं न स्यादित्यत आह—नत्विति । वारम्बादिप्रतिबन्धादीपोत्पत्तिविलम्बेऽप्युत्पन्ने तमोनिवृत्तिविलम्बादर्शनात्सति ज्ञाने नाज्ञाननिवृत्तौ विलम्ब इति भावः । किंच कर्मणामुपासनानां च गुणभेदेन तारतम्यात्फलतारतम्यं युक्तम् । निर्गुणविद्यायास्तत्वेकरूपत्वात्तत्फलैकरूपमित्याह—विद्याभेदेत्यादिना । स्मृतौ कस्यचिर्निर्गुणविद इत्यर्थः । तस्माद्विद्यासमकालैव मुक्तिरिति सिद्धम् ॥ ५२ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्कृतौ शारीरकव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभाटीकायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

भामतीव्याख्या

हेति । नच सवासननिःशेषकर्मशयप्रस्थयो विद्याजन्म विशेषवान्, येन तद्विशेषान्मोक्षो विशेषवान्भवेत् । नच साविशेषः शेषादिप्रस्थयो मोक्षाय कल्पते । नच विराचिरोत्पादादुत्पादावन्तरेण विद्यायामपि रूपतो भेदः कश्चिदुपलक्ष्यते तस्या अपेक्षरूपत्वेन श्रुतेः । सगुणयास्तु विद्यायास्तत्तद्गुणावापोद्भापभ्यां तत्कार्यस्य फलस्योत्कर्षनिकर्षौ युज्येते । न चान विद्यात्वं सामान्यतोऽष्ट भवति । आगमतत्प्रभवयुक्तिबाधितत्वेन कालालयापदिष्टत्वात् । तस्मात्तस्या मुच्यवस्थाया ऐकरूप्यावधृतेर्मुक्तिनिर्गुणस्य फलस्याविशेषो युक्त इति ॥ ५२ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

भानन्दगिरियन्त्राख्या

विद्योत्पत्तिनान्तरीयकत्वेनाविद्यानिवृत्तिरूपाया मुक्तेरावदयकत्वादित्यर्थः । मुक्तेर्निर्विशेषत्वे हेतुन्तरमाह—विद्येति । एकरूपत्वादालम्बस्तदाकारविद्यायां विशेषाभावादनेकरूपफलोत्पादकत्वायोगात्तत्फले विशेषासिद्धिरित्यर्थः । विद्यायां भेदाभावे प्रपञ्चयति—नहीति । सगुणविद्यावदात्मविद्याया भेदः स्यादित्याशङ्क्य विषयभेदात्तत्र भेदेऽपि नात्र विषयभेदोऽस्तीत्याह—सगुणास्त्विति । तत्र फलभेदे मानमाह—तथाचेति । दार्शनिको विशेषमाह—नैवमिति । तत्त्वविद्याविशेषे गुणाभावे स्थितिमाह—तथाचेति । कस्यचित् निर्गुणविद्यावतः पुरुषस्य गतिः फलमिति यावत् । तत्र न्यूनाधिकभावाभावे हेतुमाह—सति हीति । पुनरुक्तेरर्थवत्त्वमाह—तदवस्थेति । तदेवं मुक्तेर्निरतिशयवान्न कर्मसाध्यतेति युक्तं पुरुषार्थाधिकरणमिति भावः ॥ ५२ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचाराख्यश्चतुर्थः पादः ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये साधनाख्यस्तृतीयोऽध्यायः ॥



ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् ।



रत्नप्रभा-भामती-न्यायनिर्णयव्याख्यात्रयोपेतम् ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

आवृत्तिसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥



अवगाथाः सकृत्कार्या आवर्त्ता वा सकृद्यतः ॥ शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥ १ ॥

आवर्त्ता दर्शनान्ताले तण्डुलान्तावघातवत् ॥ दृष्टेऽत्र संभवत्यर्थं नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥ २ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् । अथेह चतुर्थे फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किञ्चिन्तयिष्यते । प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।१।६) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः

रत्नप्रभाव्याख्या

यज्ज्ञानाज्जीवतो मुक्तिरुत्कान्तिगतिवर्जिता । लभ्यते तत्परं ब्रह्म रामनामासि निर्भयम् ॥ १ ॥

ॐ । आवृत्तिसकृदुपदेशात् । साधनं निरूप्य फलं निरूप्य इत्यध्याययोर्हेतुफलभावं संगतिमाह—तृतीय इति । अलप्रसङ्गेनोक्तान्तिरचिरादिमार्गश्च विचार्यते इत्याह—प्रसङ्गेति । पूर्वं साक्षादेव श्रुत्युक्तं संन्यासादि साधनं चिन्तितं, प्रति फलार्थापत्तिगम्यमादृष्ट्यादिकमघाश्लेषाधिकरणात्प्राक् चिन्त्यते, तदारभ्य जीवन्मुक्तिस्ततो द्वितीयपादे उत्कान्ति-तृतीये अचिरादिमार्गस्य गन्तव्यस्य च निर्णयश्चतुर्थे ज्ञानोपासनयोः फलनिर्णय इति पादार्थविवेकः । आद्याधिकरणस्य विद्यासिद्धिमाधनं विषयमनूय द्वेधातुष्ठानदर्शनात्संशयमाह—आत्मा वा इति । श्रौतात्मधीमाधनफलविचारात्मकत्वात्सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राभ्यायसंगतय उक्ताः । तत्तत्पदार्थसंबन्धात्तत्तत्पादसङ्गतिः । मोक्षे विनोपाभाववच्छ्रवणादावावृत्तिविशेषो

भामतीव्याख्या

नाभ्यर्थो इह सन्तः स्वयं प्रवृत्ता न चेतरे शक्याः । मत्सरपित्तनिबन्धनमचिकित्स्यमरोचकं येनाम् ॥ १ ॥

शङ्के संप्रति निर्विशङ्कमधुना स्वाराज्यसौख्यं बह्वेन्द्रः सान्द्रतपःस्थितेषु कथमयुद्धेगमभ्येय्यति ।

यद्वाचरपतिमिश्रनिर्मितमितव्याख्यानमात्रसफुटद्वेदान्तार्थविवेकवञ्चितभवाः स्वर्गेऽप्यपी निरुपृष्टाः ॥ २ ॥

आवृत्तिसकृदुपदेशात् । साधनातुष्ठानपूर्वकत्वात्फलसिद्धेर्विषयक्रमेण विपथिणोरपि तद्विभागयोः क्रममाह—तृती-
ऽध्याय इति । मुक्तिरक्षणस्य फलस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्तदर्थानि दर्शनश्रवणमनननिदिध्यामनानि चोद्यमानान्यदृष्टार्थानि
विद्विधानमनुष्ठेयानि न तु ततोऽधिकमावर्तनीयानि प्रमाणाभावात् । यत्र पुनः सकृदुपदेश उपामीतेत्यादिषु तत्र सकृदेव प्रयोगः
याजादिवदिति प्राप्त उच्यते । यद्यपि मुक्तिरदृष्टचरी तथापि समाप्तानां विद्योच्छेदेनात्मनः स्वरूपावस्थानलक्षणयास्तस्याः श्रुति-

आनन्दगिरियव्याख्या

पूर्वाध्यायान्तिमाधिकरणे मोक्षे प्रतिनियमाभावो दर्शितः । संप्रति मोक्षोपपत्तिविद्यासाधनेषु श्रवणादिवाच्यतुष्ठानप्रतिनियमं
शेयनि—आवृत्तीति । पूर्वोत्तराध्याययोः संबन्धं हेतुहेतुमद्भावं वक्तुं तार्किकमर्थमनुवर्तन—तृतीय इति । साधनविचारशेषो-
नाय प्रायेणेत्युक्तम् । साधनाधीनत्वात्फलसिद्धेस्तद्विचारयोरपि युक्तं पार्वोपार्थमित्याद्यवसानमाह—अथेति । यत् तद्विचारविचारिवन-
नयाः शङ्क्य फलोक्तिप्रसङ्गेन तदुक्तिरपि भविष्यतीत्याह—प्रसङ्गेति । अध्यायसंबन्धमुक्त्वा तद्विद्यमाधिकरणात्प्राक्कनाधिकरणानां
तत्पथं दर्शयन्नवान्तरसंबन्धमाह—प्रथममिति । साक्षादेव श्रुत्युक्तं साधनं चिन्तनम् । अधुना फलावोपपत्तिरन्वयमाह—आमेति । साध-
नस्य तदर्थोपपत्त्यायता च तच्चिन्ता फलाध्याये संगतैवेति भावः । प्रथमाधिकरणस्य विषयमनूय संशयमाह—आमेति । साध-

वाक्यं सकृद्वृत्त्यमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तद्देवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात् । अथोच्येत न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति । तथाऽप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव । साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेषविषयम् । यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्वात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते न विशेषमनुभवति यथा स एव शूली । विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदार्थावृत्तिरिति चेत् । न । असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसंभवात् । नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते । तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्यते यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः । नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तृणाम् । अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु । नतु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति ।

रत्नप्रभाष्याख्या

कावपीत्यर्थः । वाक्ययुक्तिभ्यां परोक्षज्ञाने जातेऽप्यपरोक्षज्ञानार्थमावृत्तिरिति शङ्कते—अथापि स्यादिति । तयोः परोक्षज्ञानहेतुत्वस्वाभावादावृत्तावपि न साक्षात्कारः स्यादिति परिहरति—नासकृदपीति । यदि तयोः साक्षात्कारसामर्थ्यं यदि वा परोक्षज्ञानसामर्थ्यमुभयथाप्यावृत्त्यनपेक्षेत्याह—तस्मादिति । प्रमातृवैचित्र्यादप्यावृत्त्यनियम इत्याह—नचेति । प्रमेयस्यानंशत्वाच्च तथेत्याह—अपिचेति । द्विविधो ह्यधिकारी स्यात्कश्चिज्ज्ञानान्तराभ्यासाच्चिरत्समत्तासंभावनादिप्रतिबन्धः कश्चित् प्रतिबन्धवानिति । तत्राद्यं प्रत्यावृत्तेरानर्थक्यमिष्टं, द्वितीयस्य तु प्रतिबन्धनिरासाय तदपेक्षेति

भामतीव्याख्या

तथा सहावृत्तेरविरोधात् । विरोधे वा तस्य नित्यत्वान्नाविधोदीयेत कुत एव तु तेन सहावृत्तैत । तस्मात्तन्निवृत्त्ये आगन्तुकस्तसाश्चकार एषितव्यः । तथाच प्रत्ययानुवृत्तिरर्थवती । आश्लेषा सर्वपूर्वोक्ताश्लेषेण प्रत्यवतिष्ठते—न । आवृत्तावपीति । न खलु व्योतिष्ठेः मवाक्यार्थप्रत्ययः शतशोऽप्यावर्तमानः साक्षात्कारप्रमाणं स्वविषये जनयति । उत्पन्नस्यापि तादृशो दृष्टव्यभिचारत्वेन प्रातिभवात् । ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारम् । पुनः शङ्कते—न केवलं वाक्यमिति । आश्लेषा दूषयति—तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमिति । वाक्यं चेत्युक्त्यपेक्षं साक्षात्काराय प्रभवति तथा सति कृतमावृत्त्या । सकृत्प्रवृत्तस्यैव तस्य सोपान्तिकस्य यावत्कर्तव्यकरणादिति । पुनः शङ्कते—अथापि स्यादिति । न युक्तिवाक्ये साक्षात्कारफले प्रत्यक्षस्यैव प्रमाणस्य तत्फलत्वात् । ते तु परोक्षार्थावगाहिनी सामान्यमात्रमभिनिविशेते न तु विशेषं साक्षात्कुरुत इति तद्विशेषसाक्षात्कारायावृत्तिरुपास्यते । सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्यसेविता सती दृढभूमिर्विशेषसाक्षात्काराय प्रभवति कामिनीभावेनैव स्नेहस्य पुंस इति । आश्लेषाह—न । असकृदपीति । स खल्वयं साक्षात्कारः शास्त्रयुक्तियोनिर्वा स्याद्भावनामात्रयोनिर्वा । न तावत्परोक्षाभासविज्ञानफले शास्त्रयुक्ती साक्षात्कारलक्षणं प्रत्यक्षप्रमाणफलं प्रसोतुमर्हतः । न खलु कुटजबीजाद्व्याकुलो जायते । नच भावनाप्रकर्षपर्यन्तजमपरोक्षावभासमपि ज्ञानं प्रमाणं व्यभिचारादित्युक्तम् । आश्लेषा स्वपक्षमुपसंहरति—तस्माद्यदीति । आश्लेषाश्लेषान्तरमाह—नच सकृत्प्रवृत्ते इति । कश्चित्खलु शुद्धसत्त्वो गर्भस्थ इव वाग्देवः श्रुत्वा च मत्वा च क्षणमवधाय जीवात्मनो ब्रह्मात्मतामनुभवति । ततोऽप्यावृत्तिरनर्थिकेति । अतश्चावृत्तिरनर्थिका यन्निरासस्य ग्रहणमग्रहणं वा न तु व्यक्ताव्यक्तत्वे सामान्यविशेषवत्पराग्राहिनिरित्येत

आनन्दगिरीव्याख्या

दिवाक्यं न स्वाधे साक्षात्कारक्षममित्यर्थः । युक्तिप्रसंख्यानसहितं वाक्यं स्वाधे साक्षात्कारं जनयेदित्याह—अथेति । युक्तिसाधित्यमुपेत्यावृत्तिं प्रत्याह—तथापीति । आवृत्तेरर्थवत्त्वं समर्थयमानः स्वयूष्यश्चोदयति—अथापीति । तदेव दृष्टान्ते स्पष्टयति—यथेति । शूलविशेषस्यानुभावयोग्यत्वादेवमित्याह—यथेति । अस्तु प्रस्तुतेऽपि सामान्यधीरे किं विशेषधीरेत्याह—विशेषेति । स नहि भावनाजन्यो वा शास्त्रयुक्तिजन्यो वा नाद्यस्तस्यामानजन्यत्वेनाविधाध्वंसित्वायोगादिति मत्वा द्वितीयं प्रत्याह—नेति । प्रत्यक्षातिरिक्तस्य न साक्षात्कारहेतुतेत्यर्थः । किंच युक्तिवाक्ये साक्षात्कारक्षमे तदक्षमे वा समर्थे चेदावृत्त्यानर्थक्यम् । द्वितीयं निराह—नहीति । सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्यावृत्त्यानर्थक्यमुपसंहरति—तस्मादिति । शास्त्रयुक्तोः साक्षात्कारहेतुत्वोपागमेऽपि व्यर्थोऽवृत्तिरित्याह—नचेति । मानस्वभावानुसारेणावृत्त्यानर्थक्यमुक्त्या भेदस्वभावानुसारेण यथापि तद्वर्णनमाह—अपिचेति । यं कंचिदधिकारिणं प्रति श्रवणाद्यावृत्त्यानर्थक्यं चोचते सर्वानेव वा प्रतीति विकल्पयति—अथेति ।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभूयितुं शक्यतात् । यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः । तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति । तथाच 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम् । ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्यतीति । नैष दोषः । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः । अपिच तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे । तत्पदेन च प्रकृतं सङ्गोक्षितुं जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।१।२८) 'अदृष्टं द्रष्टुं' (बृ० ३।८।११) 'अविज्ञातं विज्ञातुं' (बृ० ३।८।११) 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम् । तत्राज्ञादिशाब्दैर्जन्माद्यो भावविकारा निवर्तिताः । अस्थूलादिशाब्दैश्च सौल्यादयो द्रव्यधर्माः । विज्ञानादिशाब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम् । एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभावत्वात्को ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभिमुक्तानां प्रसिद्धः । तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा धोता देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः । तत्र येपामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्य-

रत्नप्रभाख्या

समाधत्ते—अत्रोच्यत इति । आवृत्तेः प्रतिबन्धनिरासार्थत्वे लिङ्गमाह—तथाहीति । यथा षड्जादिस्वरभेदसाक्षात्कारशक्तमपि श्रोत्रमभ्यासमपेक्षते तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारशक्तं वाक्यं तदपेक्षमित्यनुभवमाश्रित्याह—नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । तत्त्वंपदलक्ष्यार्थस्य दुर्बोधत्वादज्ञानप्रयुक्तसंशयादिप्रतिबन्धसंभवात्तदुसायादुनिरेप्येति वाच्यलक्ष्यविवेकपूर्वकमाह—अपिचेत्यादिना । यदुक्तमनंशत्वात्प्रमेयस्यावृत्त्यानर्थक्यमिति, तत्राह—यद्यपीति । आरो-

भामतीव्याख्या

आह—अपि चानेकांशेति । समाधत्ते—अत्रोच्यते भवेदावृत्त्यानर्थक्यमिति । अयमभिसन्धिः—सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः साक्षादागमयुक्तिकलमपि तु युक्त्यागमयुक्तज्ञानाहितसंस्कारसचिव चित्तमेव ब्रह्मणि साक्षात्कारवती वृद्धिवृत्तिः समाधत्ते । सा च नानुमानितवह्निसाक्षात्कारवत्प्राप्तिभवेनाप्रमाणं तदानीं वह्निस्त्रलक्षणस्य परोक्षत्वात्तदानीं तु ब्रह्मस्वरूपशोभाधिरूपितस्य जीवस्यापरोक्षत्वम् । नहि शुद्धबुद्धत्वादयो वस्तुतस्ततोऽतिरिच्यन्ते । जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धादिभ्यो ब्रह्मणि गम्यते । नच तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते । तस्माद्यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारः सचिवेन श्रोत्रेण पञ्चादिस्वरप्राप्तमूर्च्छनाभेदमध्यक्षेणश्नते एवं वेदान्तार्थज्ञानाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मस्वभावभूतःकरणेनेति । यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेवेति । श्रुत्वा मत्वा क्षणमवधाय प्राग्भवीयाभ्यासजातसंस्कारादित्यर्थः । यस्तु न शक्नोतीति । प्राग्भवीयब्रह्माभ्यासरहित इत्यर्थः । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यत्र परोक्षप्रतिभासिनि वाक्यार्थोऽपि व्यक्ताव्यक्तव्यतारतम्यं तत्र भवनोत्तरकालमाध्यासनाभ्यासनिर्कर्षप्रकर्षक्रमजननि प्रत्ययप्रवाहे साक्षात्कारावर्था व्यक्तितास्तस्य प्रति केव कथंति भावः । तदं भवनोत्तरकालमाध्यासनाभ्यासनिर्कर्षप्रकर्षक्रमजननि प्रत्ययप्रवाहे साक्षात्कारावर्था व्यक्तितास्तस्य प्रति केव कथंति भावः । तदं वाक्यमात्रस्यार्थोऽपि न द्रागित्येव प्रत्यय इत्युक्तम् । तत्त्वमसीति तु वाक्यमत्यन्तदुर्ग्रहपदार्थं न पदार्थज्ञानपूर्वकं ग्राह्यं ज्ञानं द्रागित्येव प्रवर्तते । किंतु विलम्बिततमपदार्थज्ञानमतिविलम्बनेत्याह—अपिच तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्येति ।

आनन्दगिरियव्याख्या

आयमस्मीकरोति—भवेदिति । ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वाद्वाक्यस्य परोक्षबोधित्वे प्रामाण्ययोगादमपि त्रित्वविशेषादिप्रतिबन्धं न स्यात्परोक्षबोधित्वमेवेत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—यस्त्विति । असंभावनादिप्रतिबन्धं तत्रित्वव्ययमावृत्तिरर्थवतीत्यर्थः । नत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तथाहीति । सूत्रकृतापि लिङ्गमस्मीकृतमित्याह—तथाचेति । पूर्ववादी स्रोक्तं स्मारयति—नन्विति । अनुभवानुसंगेण परिहरति—नेत्यादिना । कथमावृत्तैरर्थवत्त्वं दृष्टं येन नानुपपत्तिः, तत्राह—दृश्यन्ते हीति । वाक्यार्थज्ञानस्य पदार्थधीपूर्वकत्वात्पदार्थबोध—दुर्बोधत्वादावृत्त्या क्रमेणैव धीरिति हेत्वन्तरमाह—अपिचेति । नत्र तत्त्वपदार्थव्ययमाह—तदिति । तस्यैव लक्ष्यमर्थमाह—सत्यमिति । अत्रमित्यादिवाक्यस्यार्थमाह—तत्रेति । अस्थूलादिवाक्यस्यार्थमाह—अस्थूलादीति । सत्यज्ञानादिवाक्यस्यापुनरुक्तमर्थमाह—विज्ञानादीति । श्रौते तदर्थं विद्वदनुभवमपि प्रमाणार्थं—एव इति । तत्त्वार्थं वाच्यं लक्ष्यं च सप्रमाणमुक्त्वा त्वंपदार्थमपि विभज्य दर्शयति—तथेति । अवधारितो योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु यः प्राणेन प्राणिनीत्यादिनिर्दिष्टः । स्वानामेतौ पदार्थौ तथापि कथमावृत्तैरर्थवत्त्वं, तत्राह—तत्रेति । यत्तु मेवस्वानंशत्वादावृत्त्यानर्थक्यमिति, तत्राह—यद्यपीति । आरोपित-

यप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वा-
क्यार्थस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः । यद्यपि च प्रतिप-
त्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बहुंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं
तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः । तत्तु पूर्वरूप-
मेवात्मप्रतिपत्तेः । येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिब-
न्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सङ्कटुकमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थ-
क्यमिष्टमेव । सङ्कटुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्यु-
पमस्यते । सत्यमेवं युज्येत यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत् । बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्र-
तिपत्तिः । अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत् । न । देहाद्यभिमानवदुःखि-
त्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दृश्यमाने वाऽहं छिद्ये दृश्य
इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः । तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य
इत्यध्यारोपो दृष्टः । तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात् । देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरूपलभ्य-
मानत्वाद्दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः । चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति यद्दे-

रक्तप्रभाष्याख्या

पितांशनिरासाय न मे देहो नेन्द्रियमित्यभ्यासो युक्त इत्यर्थः । वाक्यार्थज्ञाने सति कथमभ्यासनिमित्तः, प्रमाणज्ञानस्याभ्या-
सायोगाज्ज्ञानिनः श्रवणादिनियमायोगाच्चैत्यत आह—तत्त्विति । ज्ञानात्प्रागेव श्रवणादिव्यापारनियमनं कियत इत्यर्थः ।
अधिकं शङ्कितुमुक्तमनुवदति—येषामिति । अधिकं शङ्कते—सत्यमिति । दुःखित्वप्रत्यक्षविरोधाद्वाक्यार्थैक्यधीनोदितो-
त्यर्थः । प्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वादविरोध इत्याह—नेत्यादिना । दुःखादयो नात्मधर्माः दृश्यत्वाद्देहादिवत्, नाभ्यात्मस्वरूपाः
आत्मनि सत्यप्यननुवृत्तित्वाद्यतिरेकेण चैतन्यवदित्यर्थः । निर्दुःखे विदात्मनि दुःखादिधियो भ्रान्तित्वाद्वाक्यार्थानुभवे

भामतीव्याख्या

स्यादेतत् । पदार्थसंसर्गात्मा वाक्यार्थः पदार्थज्ञानक्रमेण तदधीननिरूपणीयतया क्रमवत्प्रतीतिर्युज्यते । ब्रह्म तु निरंशत्वेनासं-
ष्टनानात्वपदार्थकमिति कस्यानुक्रमेण क्रमवती प्रतीतिरिति सङ्कदेव तद्बोधेत न वा गृह्येतेत्युक्तमित्यत आह—यद्यपि च
प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंश इति । निरंशोऽयमपरोक्षोऽस्यात्मा तत्तद्देहाद्यारोपव्युदासाभ्यामंशवानिवात्यन्तपरोक्ष इव ।
ततश्च वाक्यार्थतया क्रमवत्प्रत्यय उपपद्यते । तत्किमियमेव वाक्यजनिता प्रतीतिरात्मनि तथाच न साक्षात्प्रतीतिरात्मन्यनागत-
फलत्वादस्या इत्यत आह—तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः साक्षात्कारवत्याः । एतदुक्तं भवति—वाक्यार्थश्रवण-
मननोत्तरकाला विशेषणत्रयवती भावना ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पत इति वाक्यार्थप्रतीतिः साक्षात्कारस्य पूर्वरूपमिति । श-
ङ्कते—सत्यमेवमिति । समारोपो हि तत्त्वप्रत्ययेनापोद्यते न तत्त्वप्रत्ययः । दुःखित्वादित्यल्यश्चात्मनि सर्वेषां सर्वदोषाद्य-
इत्यबाधितत्वात्समीचीन इति बलवान्न शक्योऽपनेतुमित्यर्थः । निराकरोति—न । देहाद्यभिमानवदिति । नहि सर्वेषां सर्वदोषा-
द्यत इत्येतावता तात्त्विकत्वम् । देहात्माभिमानस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात्सोऽपि सर्वेषां सर्वदोषाद्यत । उक्तं चास्य तत्र तत्रोपपत्त्या
बाधनमेवं दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि तथा । नहि नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्यात्मन उपजनापायधर्माणो दुःखशोकदय आत्मानो भवितुम्
ईति । नापि धर्माः, तेषां ततोऽत्यन्तभिन्नानां तद्वर्त्मत्वानुपपत्तेः, नहि गौरवस्य धर्मः संबन्धस्यापि व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यां सं-
न्धासंबन्धाभ्यां च विचारासहत्वात् । भेदाभेदयोश्च परस्परविरोधेनैकत्रासंभवात् । इति सर्वमेतदुपपादितं द्वितीयाध्याये । तदिदमुक्तं—
देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरूपलभ्यमानत्वादिति । इतश्च दुःखित्वादीनां न तादात्म्यमित्याह—सुषुप्तादिषु

आनन्दगिरीव्याख्या

व्यावर्त्यशब्दादुल्यात्मकमवत्त्वं प्रतिपत्तेरर्थवदित्यर्थः । तत्त्वमसिवाक्यादहंशक्तेति वाक्यार्थज्ञाने सति कथं क्रमपेक्षेत्वाशङ्काह—
तत्त्विति । क्रमेण जातं पूर्वज्ञानमात्मसाक्षात्कारात्पूर्वकालमेव ततोऽसंभावनादिनिराससहितवाक्योत्पत्तितत्त्वसाक्षात्कारे नास्तेनानु-
पेक्षेत्यर्थः । मन्दमध्यमौ प्रति साक्षात्कारात्पूर्वं श्रवणाद्यावृत्तेरर्थवत्त्वमुक्तम् । इदानीमुक्तं प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमुक्तं विवृणोति—
येषामिति । उत्पन्नाऽपि धीरावृत्तिमपेक्षते फलायेत्याशङ्क्याह—सङ्कदिति । उत्पन्ने ज्ञाने यदावृत्त्यानर्थक्यं तदङ्गीकुर्वन्नाह—
सत्यमिति । वाक्यादीदृशी धीः स्यादित्याशङ्क्याध्यक्षादिविरोधान्मैवमित्याह—बलवतीति । सा वाक्यीयविवेकोच्छेद्यत्वाज्ज्ञानि-
त्याशङ्क्याह—अत इति । दुःखित्वादिप्रत्ययस्य सर्वदा सर्वेषामुत्पद्यमानस्य बलवत्त्वादेव विषोच्छेद्यत्वायोगात् भ्रान्तिर्नैव । तत्र
विषयापि देहात्माभिमानस्य भ्रान्तित्वादुःखित्वाद्यभिमानस्यापि युक्तिबाधितस्य भ्रान्तिवसिद्धेर्नैवमित्याह—नेत्यादिना । उक्तं दृष्टं
प्रत्यक्षदृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति—प्रत्यक्षं हीति । दुःखादयस्तत्त्वतो नात्मधर्मो वेद्यत्वासंसर्गवदिति दाष्टान्तिकमाह—तथेति । न-
भिचारित्वाच्च दुःखादीनां रूपादिवत्त्वतो नात्मधर्मतेत्याह—सुषुप्तेति । तर्हि चैतन्यमपि न स्वरूपमननुवृत्त्यादुःखादिभि-

तत्र पश्यति पश्यन्वै तत्र पश्यति' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना । तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैक-
चैतन्यात्मकोऽहमित्येव आत्मानुभवः । न चैवमात्मानमनुभवतः किञ्चिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते ।
तथाच श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४।३।२२) इत्यात्म-
विदः कर्तव्याभावं दर्शयति । स्मृतिरपि—'यस्त्वात्मारतिरेव स्यादात्मतुष्टश्च मानवः । आत्म-
न्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' (गी० ३।१७) इति । यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जा-
यते तं प्रत्यनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमः । तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्र-
वर्तयेत् । नहि वरघाताय कन्यामुद्गाहयन्ति । नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं
कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते । यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्
वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थं स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याभ्युपेयते । तस्मा-
त्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशोऽप्यावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥



ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाथवा ॥ अन्यत्वेन विजानीयादुःखदुःखिरोधनः ॥ १ ॥

औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् ॥ गृह्यत्वेन महावाक्यैः स्वहिताप्याह्वयन्ति च ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

न विरुध्यत इत्याह—तस्मादिति । अनुभवे जातेऽप्यावृत्त्याद्यनुष्ठानं किं न स्यादित्यत आह—न चैवमिति । रतिः
कामः आत्मकामतया तृप्तिर्विषयतृष्णाक्षयः तेन संतोषे आत्मानन्दानुभव इति भेदः । नन्वावृत्तौ नियोगात्प्रवृत्तिर्वाच्या तथा
च नियुक्तवबुद्धेरकर्त्रात्मधीनं स्यादित्यत आह—तत्रापीति । आवृत्त्यभ्युपगमेऽप्यकर्ताहमित्यनुभवत्प्रच्याव्य गुरुरन्तो वा
नियोगान्न प्रवर्तयेदुक्तदोषादित्यर्थः । कथं तर्हि प्रवृत्तिरित्यत आह—यस्त्विति । अप्रतिभानादसंभावनादिनेत्यर्थः । शिष्य-
बुद्ध्यनुसारेण श्रोतव्यादिवचोभिः प्रधानसिद्ध्यर्थमावृत्त्यादौ प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ २ ॥ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।
पूर्वैरध्यानादेरावृत्तिरुक्ता तामुपजीव्य तत्त्वज्ञानार्थं ध्यानावृत्तिकाले किमहं ब्रह्मेति ध्यातव्यमुत मत्स्वामीश्वर इत्येक्यभेद-

आमनीव्याख्या

चेति । स्यादेतत् । कस्मादनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमो यावता द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादिभित्त्वमसिवाक्यविषयादन्यविषयावृत्ति-
निर्वाहस्य इत्यत आह—तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थादिति । आपा या अरं द्रष्टव्य इत्याद्यामविषये दर्शनं निधी-
यते । नच तत्त्वमसिवाक्यविषयादन्यदात्मदर्शनमात्रात् येनोपक्रम्यते येन चोपसंहियते स वाक्यार्थः । सदेव सोम्येदमिति
चोपक्रम्य तत्त्वमसीत्युपसंहृत इति स एव वाक्यार्थः । तदितः प्रच्याव्यावृत्तिमन्यत्र विदधानः प्रधानमद्वेन विहन्ति । वरो हि कर्म-
णामिप्रेयमाणत्वात्संप्रदानं प्रधानम् । तमुद्दिष्टं कर्मणाङ्गेन न विहन्तीति । ननु विप्रधानान्नाङ्गाकस्य न भूतार्थप्रधानत्वं भूत-
स्त्वर्थस्तदङ्गतया प्रत्याप्यते । यथाहुः 'चोदना हि भूतं भवन्तम्' इत्यादि शारं वाक्यं व्याख्याणाः—'कार्यमर्थमवगमयन्ती चो-
दना तच्छेषतया भूतादिकमवगमयति' इत्याशङ्क्याह—नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहमिति । यथा तावद्भूतार्थपर्यवसिता
वेदात्मना कार्याविधिनिष्ठास्तथोपापादितं 'तनु समन्वयात्' इत्यत्र । प्रत्युत विविदिष्ठये मन्त्रिबुद्धप्रत्ययोपादान्मुक्तिविदन्त्वमेवास्ते-
लभ्युक्त्यमात्रमनोक्तमिति ॥ २ ॥ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । यद्यपि तत्त्वमसीत्याद्याः श्रतयः संसारिणः

आनन्दगिरियव्याख्या

त्याशङ्क्याह—चैतन्यस्येति । दुःखित्वादिर्धामिध्यामिमानश्चैतन्यमेवाव्यभिचारिस्वरूपमिति स्थितं कथितमाह—तस्मादिति । यथो-
क्तानुभवे वाक्यादविरुद्धेऽपि किमत्यावृत्तिर्नश्यते, तत्राह—नचेति । तस्मादनुभवत्कृतकृत्यत्वेत्यत्र मानमाह—तथाचेति ।
रतिरासक्तिस्तत्कलं तृप्तिस्त्वैरपि कलं संतोष इति भेदः । यत्तु साक्षात्कारात्पूर्वमावृत्तेरर्थवच्चमुक्तं तदवगमविषयता निगमयति—
यस्येति । द्रागिति श्रुतिः । नियोगबलाद्वाच्यं प्रवृत्तेर्नियोगार्थावृत्तिर्नानुभवार्थेत्याशङ्क्याह—तत्रापीति । अहं ब्रह्मासीतिप्रत्ययाप्र-
च्याव्य नावृत्तौ पुरुषं प्रवर्तयेत्प्रधानविरोधात् । अकर्त्रात्मानुभवाय हि श्रवणादिविनिर्णयं नियोगार्थेत्यर्थः । प्रधानविरोधायोगं दृष्टा-
न्तमाह—नहीति । नियोगार्थमावृत्त्युपगमेऽपि तस्मादेवाकर्त्रात्मधीसिद्धेन नव्यादितिख्याशङ्क्याह—नियुक्तस्येति । नियोगान्नो-
क्तिर कुतः श्रोतव्यादिवाक्यैः श्रवणाद्यावृत्तिसिद्धिः, तत्राह—यस्त्विति । अप्रतिभानादसंभावनादिप्रतिबन्धादिनि यावत् । भिरीकारो-
ऽसंभावनाविरोधेनावगममाह—वेदोपासीतेत्यावृत्तिर्वाचोयुक्तिः । आदिशब्देन श्रोतव्यादिवाक्यं गृह्यते । अहंशोभासनं पुरुषं श्रवणादिषु
च सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारकलेश्चावृत्त्यानुष्ठानमिवधिकरणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । अपरब्रह्माविषयप्रत्ययं स्वरूपावृत्तिर्वाचोयुक्तिर्येः
॥ २ ॥ श्रवणमनननिदिध्यासनादिसाधनान्मावृत्त्यानुष्ठेयानीत्युक्तम् । तत्र निदिध्यासनकाले कथं प्रत्यावृत्तिः, तत्राह—आत्मेति
रिति । यद्यपि शब्दादेव प्रमित इत्यादिषु जीवब्रह्मैक्यं श्रुतिभिरुक्तं तथापि नामागम विरुद्धार्थात्तदुपचरितविषयत्वमाशङ्क्यात्र

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति प्रहीतव्यः किं वा मदन्य इत्येतद्विचारयति । कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति । उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभव इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते किं तावत्प्राप्तं नाहमिति प्राह्यः । न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते प्रहीतुं विपरीतगुणो वापहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन । अपहतपाप्मादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः । ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः । ततः शास्त्रानर्थक्यम् । संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव । प्रत्यक्षादिविरोधश्च । अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिवर्शनमिति चेत्काममेवं भवतु । न तु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः । तथाहि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—‘त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमस्मि देवते’ इति । तथान्येऽपि ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इत्येवमाद्य आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । प्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि ‘एष त आत्मा सर्वोन्तरः’ (बृ० ३।४।१) ‘एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ (बृ० ३।४।३) ‘तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि । यदुक्तं प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्य-

रत्नप्रभाष्याख्या

मानाभ्यां संशयमाह—य इति । शब्दादेव प्रमित इत्यादावयमात्मा ब्रह्मेत्याद्यभेदश्रुतिभिरैक्यनिर्णयात्संशयमाक्षिपति—**कथमिति** । भेदश्रुत्यनुग्रहाद्भेदप्रत्यक्षादिप्राबल्यमालम्ब्य संशय इत्याह—**उच्यत इति** । अभेदश्रुतीनां गौणत्वमुख्यत्वे उभयत्र फलं, यद्यप्ययं प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारा द्वितीयाभ्यायसंगतस्तथाप्यैक्यश्रुतेरविरुद्धत्वनिश्चयस्य समाधानतरङ्गत्वादिह संगतिः । विरुद्धयोरैक्यदृष्टिरसिद्धेत्याह—**नाहमिति** । किंच किमीश्वरस्य जीवमात्रत्वमैक्यं जीवस्येश्वरमात्रत्वं वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**ईश्वरस्य चेत्यादिना** । एकत्वश्रुतिप्रामाण्यायैक्यध्यानं कार्यमिति शङ्कते—**अन्यत्वेऽपीति** । एकत्वध्यानमसद्विधमेव । एकत्वं तु नास्तीत्याह—**काममिति** । अभेदश्रुतीनां फलवदपूर्वार्थतात्पर्येण गौणत्वायोगाद्भेदश्रुतीनां कल्पितभेदानुवादित्वात्प्रत्यक्षादेरपि तद्विषयत्वाद्भिम्बप्रतिबिम्बयोरिव विरुद्धधर्माणां मिथ्यात्वान्मुख्यमैक्यमिति सिद्धान्तयति—**एवमित्यादिना** । ईश्वरस्य जीवत्वं न प्रतिपाद्यं येनेश्वराभावः स्यात्किंतु जीवस्येश्वरत्वम् । न चैवमधिकार्यभावः । एकत्व-

भामतीव्याख्या

परमात्मभावं प्रतिपादयन्ति तथापि तयोरपहतपाप्मत्वानपहतपाप्मत्वादिलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण नानात्वस्य विनिश्चयाच्छुद्धेश्च तत्त्वमसीत्याद्याया ‘मनो ब्रह्म’ ‘आदित्यो ब्रह्म’ इत्यादिवत्प्रतीकोपदेशपरतयाप्युपपत्तेः प्रतीकोपदेश एवायम् । नच यथा समारोपितं सर्वत्वमनूय रज्जुत्वं पुरोवर्तिनो द्रव्यस्य विधीयत एवं प्रकाशात्मनो जीवभावमनूय परमात्मत्वं विधीयत इति युक्तम् । युक्तं हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये द्राघीयसि सामान्यरूपेणालोचिते विशेषरूपेणागृहीते विशेषान्तरसमारोपणम् । इह तु प्रकाशात्मनो निर्विशेषसामान्यस्यापराधीन-प्रकाशस्य नागृहीतमस्ति किंचिद्रूपमिति कस्य विशेषस्याग्रहे किं विशेषान्तरं समारोप्यताम् । तस्माद्ब्रह्मणो जीवभावरोपात्म-

आनन्दगिरीव्याख्या

समाधीयते । विरोधसमाधेरविरोधाध्यायसंगतत्वेऽपि महावाक्यार्थविरोधसमाधेः समाधानतरङ्गत्वादिह संगतिरिति मत्वा विरोधे-
क्तिपूर्वकमुभयथाप्रसिद्धेः संशयमाह—**य इति** । संशयाभावादधिकरणमाक्षिपति—**कथमिति** । आत्मशब्दस्य मुख्यार्थेत्वे सत्यभेद-
सिद्धिस्तत्सिद्धौ च तस्य मुख्यार्थत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयान्मानान्तरविरोधाच्च तन्मुख्यार्थत्वासिद्धेस्तदालम्बनेन संशयानाक्षेपादधिक-
रणमारभ्यमित्याह—**उच्यत इति** । अत्र च विरोधपरिहारफले समाप्त्युपयोगितया प्रासङ्गिके । ध्यानावस्थायां प्रत्यक्षत्वेन ब्रह्म-
तिपश्यनुष्ठानोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रुतीनामैक्यगोचराणामुपचरितार्थत्वम् । सिद्धान्ते तासां मुख्यार्थत्वं फलीत्याह-
यवान्मिमृश्य पूर्वपक्षं गृह्णाति—**किमिति** । द्वा सुपर्णेत्यादिभेदश्रुतेरुपास्योपासकादिभावभेदलिङ्गश्च भेद इत्यर्थः । युक्तो भेदमाह—
नहीति । तयोर्विरुद्धगुणत्वमसिद्धमित्याह—**अपहृतेति** । किं चाभेदेऽपि किमीश्वरस्य जीवात्मता किं वा जीवस्येश्वर-
त्वेति विकल्प्याद्यं दूषयति—**ईश्वरस्येति** । द्वितीयं प्रत्याह—**संसारिणोऽपीति** । अहं सुखीत्याद्यनुभवेन विरुद्धत्वभावलादभेदे-
तत्तद्विनिर्मुक्त्यनुमानेन च विरोधान्न तयोरैक्यमित्याह—**प्रत्यक्षादीति** । एकत्वोपदेशानां तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य आत्मे-
तद्रतिमाह—**अन्यत्वेऽपीत्यादिना** । तादात्म्यदर्शनान्नीकारे नास्ति विप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याह—**न त्विति** । एकत्वश्रुतीनां प्राप्त-
चरितार्थत्वमनूय सिद्धान्तयति—**एवमिति** । सिद्धान्तसूत्रं योजयति—**आत्मेत्येवेति** । तत्र मानमाह—**तथाहीति** । आत्मनो-
पगमान्तराणि दर्शयति—**तथेति** । आदिशब्देन तयोऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमित्यादयो गृह्णाते । सूत्रावयवमवशिष्टं व्याचष्टे—
प्राहयन्तीति । परोक्तमनूय दूषयति—**यदुक्तमित्यादिना** । एकत्वश्रुतीनामपूर्वार्थत्वफलवत्त्वाभ्यां तात्पर्यासिद्धेर्मुख्यश्रुतिभे-

सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः । तस्मादात्मैवेवैश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

न प्रतीके नहि सः ॥ ४ ॥



प्रतीकेऽहंहरिति न वा ब्रह्माविभवेत् । जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराहंहरितिष्यते ॥ १ ॥ *

प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मेक्यबीक्षणो न । अवीक्षणे तु भिन्नत्वाच्चास्महंहरित्योग्यता ॥ २ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति’ (छा० ३।१।८।९) तथा ‘आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः’ (छा० ३।१९।१) ‘स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते’ (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वध्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति । किं तावत्प्राप्तं तेष्वध्यात्मग्रह एव युक्तः । कस्मात् । ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात् । नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत् । यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति । तदसत् । प्रतीकाभावप्रसङ्गात् । विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्म-

रत्नप्रभाष्याख्या

न प्रतीके नहि सः । उभयथा ध्यानसंभवात्संशयः । यथा ब्रह्मण्यभेदसत्त्वाद्दहंग्रह उक्त एवं प्रतीकेष्वपि ब्रह्मविकारत जीवाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वाजीवाभेदसत्त्वेनाहंग्रहः कार्य इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः । अत्र प्रतीकोपासीतानामहंग्रहोपास्तिभिरविशेषः सिद्धान्ते तु विशेषसिद्धिरिति फलम् । एतदारभ्याधिकरणत्रयस्य प्रासङ्गिकी पादसंज्ञतिः, ब्रह्मैक्यध्यानप्रसङ्गागतत्वादि विवेकः । किं प्रतीकेष्वात्मत्वानुभवबलाद्दहंग्रह उत वस्तुतो जीवाभेदसत्त्वात् । नाद्य इत्याह—नहि स इति । नानुभवतो त्यर्थः । द्वितीयमप्यसिद्धथा दूषयति—यत्पुनरिति । विकारस्य ब्रह्मणा स्वरूपैक्यायोगाद्वाधेनैक्यं वाच्यं प्रती

भामतीव्याख्या

अन्येऽप्याहुः—‘यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वदा’ इति । अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥ ३ ॥ न प्रतीके नहि सः यथा हि शास्त्रोक्तं शुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मात्मत्वेनैव जीवेनोपास्यतेऽहं ब्रह्मास्मि तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्यादिषु तत्त्वस्य हेतोर्भावात्मनो ब्रह्मरूपेण तात्त्विकत्वाद्वितीयमिति श्रुतेश्च । जीवात्मानश्चाविद्यादर्पणा यथा ब्रह्मप्रतिबिम्बकास्तथा यत्र यत्र मनो ब्रह्मादित्यो ब्रह्मेत्यादिषु ब्रह्मदृष्टेरुपदेशस्तत्र सर्वत्राहं मन इत्यादि ब्रह्मणो मुख्यमात्मत्वमिति । उपपन्नं च मनःप्रभृतीनां ब्रह्मविकारत्वेन तादात्म्यम् । घटशरावोदधन्नादीनामिव मृद्विकाराणां मृदात्मकत्वम् । तथाच तादृशानां प्रतीकोपदेशानां क्वचिदस्यचिद्विकारस्य प्रविलयावगमनाद्भेदप्रपञ्चप्रविलयपरत्वमेवेति प्राप्त उच्यते—न तावदहं ब्रह्मेत्यादिभिर्यथाहङ्कारास्पदस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते एवं मनो ब्रह्मेत्यादिभिरहङ्कारास्पदत्वं मनःप्रभृतीनां, किंत्वेनां ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वम् । अहङ्कारास्पदस्य ब्रह्मतया ब्रह्मत्वेनोपासनीयेषु मनःप्रभृतिष्वप्यहङ्कारास्पदत्वेनोपासनमिति चेत् । न । एवमादिष्वहमित्यश्रवणात् । ब्रह्मात्मतया त्वहङ्कारास्पदत्वकल्पने तत्प्रतिबिम्बस्येव तद्विकारान्तरस्याप्याकाशादर्थनःप्रभृतिपूपासनप्रसङ्गः । तस्माद्यस्य यन्मात्रात्मतोपासनं सिद्धिं तस्य तन्मात्रात्मतयैव प्रतिपत्तव्यं ‘यावद्वचनं वाचनिकम्’ इतिन्यायात् । नाधिकमप्याहर्तव्यमतिप्रसङ्गात् । नच सर्वस्य वाक्यवातस्य प्रपञ्चस्य विलयः प्रयोजनम् । तदर्थत्वे हि मन इति प्रतीकग्रहणमनर्थकं विश्वमिति वाच्यं यथा सर्वं तत्त्विदं ब्रह्मेति । नच सर्वोपलक्षणार्थं मनोग्रहणं युक्तम् । मुख्यार्थसंभवे लक्षणाया अयोगात् । आदित्यो ब्रह्मेत्यादीनां चानर्थक्यपत्तेः । नह्युपासकः प्रतीकानीति । अनुभवाद्वा प्रतीकानां मनःप्रभृतीनामात्मत्वेनाकलनं श्रुतेर्वा, न त्वेतदुभयमस्तीत्यर्थः । प्रतीकाभावप्रसङ्गादिति । ननु यथावच्छिन्नस्याहङ्कारास्पदस्यानवच्छिन्नब्रह्मात्मतया भवत्वभाव एवं प्रतीकानां

आनन्दगिरिव्याख्या

सिद्धे मुख्यार्थत्वे फलितमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३ ॥ आत्मत्वमतिरीश्वरे कार्येत्युक्तम् । इदानीं प्रतीकविशेषणस्यापीश्वरात्मत्वाच्चद्वारा प्रतीकेष्वात्मत्वधीरिति प्राप्ते प्रत्याह—न प्रतीक इति । प्रतीकोपासनान्युदाहृत्योपास्तिपूषयथादृष्टेः संशयमाह—मन इत्यादिना । जीवब्रह्माभेदं पूर्वोक्तमुपजीव्य ब्रह्मदृष्टिभाक्षु प्रतीकेषु ब्रह्माभिन्नजीवदृष्टिरहमिति कौयेति प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । अत्र प्रासङ्गिकाहंमतिनिरासेन प्रतीकोपास्तिषु प्रयोगभेदोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रतीकोपासीतानामहंग्रहोपास्तिभिरविशेषः, सिद्धान्ते विशेषः सिध्यतीत्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षे हेतुं पृच्छति—कस्मादिति । प्रतीकेष्वात्मत्वग्रहे तेषामात्मत्वोपपत्तिहेतुमाह—ब्रह्मण इति । तस्यात्मत्वेऽपि तेषां कथमात्मत्वं, तत्राह—प्रतीकानामिति । ब्रह्मधीतुक्तानि प्रतीकान्यहमिति ग्राह्याणि ब्रह्माभिन्नत्वात्तद्विलयर्थः । द्विविधोपास्तिष्वविशेषः प्राप्ते सिद्धान्तमाह—एवमिति । न प्रतीकेष्वात्ममतिं कुत्रादैश्वर्येदनाभावे सति स्वतो भिन्नत्वादुद्गीथादिवत्याह—नेत्यादिना । यत्पु ब्रह्मरूपत्वाद्दहमिति ग्राह्याणीति तत्र किमात्मत्वानुभवादाल्लेखं ग्राह्याणि किं वा मामान्तरसिद्धत्वात् । नाद्य इत्याह—नहीति । द्वितीयमनूय दूषयति—यदिति । प्रसङ्गमेव प्रकटयति—विकारोति ।

त्वमेवाधितं भवति । स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा । नच ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशोऽन्तर्भावः कल्प्यः । कर्तृत्वाद्यनिराकरणात् । कर्तृत्वादिसर्वसंसार-धर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः । तदनिराकरणेन चोपासनविधानम् । अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते । नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति । सुवर्णात्मत्वेनैव तु ब्रह्मात्मत्वेनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अतो न प्रतीकेष्वाम्त्वमदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥



४ अधिकरणम्

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन्ब्रह्मधीरुत ॥ अन्यदृष्टोपासनीयं ब्रह्मात्र फलवत्ततः ॥ १ ॥

उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्यान्वयित्वम् ॥ अन्योपासत्वा फलं दत्ते ब्रह्मातिशयाद्युपासित्वम् ॥ २ ॥

तेष्वेवोदाहरणेऽन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः किंवा ब्रह्मदृष्टिरावि-
त्यादिष्विति । कुतः संशयः—सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात् । अत्र हि ब्रह्मशब्दस्या-
दित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते । आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद्ब्रह्मेत्यादिसमान-

रत्नप्रभाभ्याख्या

धावे चोपासतिविधिर्न स्यादित्यर्थः । किंच कर्तृत्वाद्यभाधेनोपासतिविधिप्रवृत्तिर्वाच्या बाधे तदयोगात् । तथाच बाधमूलब्रह्म-
व्यज्ञानं द्वारीकृत्य प्रतीकेष्वहंग्रहोपास्तिकल्पना न युक्ता, बाधविरोधादित्याह—नच ब्रह्मण इति । अतो जीवप्रतीकयोः
रूपभेदाहंग्रहे विध्यश्रवणाच्च नाहंग्रह इति फलितमाह—अतश्चेति । यथा रुचकस्वस्तिकयोः सुवर्णात्मनैक्येऽपि मिथो-
नैक्यं तथा जीवप्रतीकयोः ब्रह्मात्मनैक्येऽपि भेदः समः । यदिच धर्मव्यतिरेकेण तयोरभावनिश्चयादस्त्वैक्यं तदोपा-
नोच्छेद उक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । एकविषयत्वं संगतिः । प्रश्नपूर्वकं संशयबीजमाह—कुत इत्या-
देना । सामानाधिकरण्यं धृतं तत्र तावन्मुख्यं, ब्रह्मविकारयोग्यत्वात्तदोपासनादयोगात् । नापि प्रकृतिविकारभावनिवन्धनं,
अक्यस्य विकारभावेन ब्रह्मपरत्वापत्तात् । न चेष्टापत्तिः । नाम ब्रह्मेत्युपासीतेति विधिभूतिविरोधान्, परिमितनामप्रधानार्थक्या-
पाताच्च । ब्रह्मपरत्वे सर्वं ब्रह्मेति वक्तव्यत्वात् । अतः परिशेषादध्यास एव सामानाधिकरण्यकारणम्, अध्यासे च नियामका-

भामतीभ्याख्या

मपि भविष्यतीत्यत आह—स्वरूपोपमर्दे च नामादीनामिति । इह हि प्रतीकान्यद्ब्रह्मास्पदत्वेनोपास्यतया प्रधानत्वेन
विधिस्तितानि । न तु तत्त्वमसीत्यादावहङ्कारास्पदमुपास्यमवगम्यते । किंतु सर्पत्वावृत्त्यादेन रज्जुतत्त्वज्ञानेन इत्याहङ्कारास्पदस्यापि
नश्य प्रविलयोऽवगम्यते । किमतो यद्येवम् । एतदतो भवति—प्रधानीभूतानां न प्रतीकानामुच्छेदो युक्तो नच तदुच्छेदे विधे-
यस्याप्युपपत्तिरिति । अपिच नच ब्रह्मण आत्मत्वादिति । ननुपासनविधानानि जीवात्मनो ब्रह्मत्वमात्रप्रतिपादनपर-
त्त्वमस्यादिसंदर्भैरेकवाक्यभावमापद्यते येन तदेकवाक्यतया ब्रह्मदृष्ट्युपदेशोऽन्तर्भावः कल्पेत मित्रप्रकरणत्वात् । तथाच तत्र यथा-
लोकप्रतीतिव्यवस्थितो जीवः कर्ता भोक्ता च संसारी न ब्रह्मेति कथं तस्य ब्रह्मात्मनया ब्रह्मदृष्ट्युपदेशोऽन्तर्भावोऽप्युपपत्तिरिति ।
अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादिति । यद्युपासको जीवात्मा न ब्रह्मविकारः, प्रतीकानि तु मनःप्रभृतीनि ब्रह्मवि-
कारस्तथाप्यवच्छिन्नतया जीवात्मनः प्रतीकैः साम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । यद्यपि सामानाधिकरण्यमुपभ-
यापि घटते तथापि ब्रह्मणः सर्वोपध्वतया फलप्रसवसामर्थ्येन फलवत्त्वात्प्राप्त्येन तदेवादित्यादिदृष्टिभिः संस्कर्तव्यमित्यादित्यादिदृष्टयो

आनन्दगिरियव्याख्या

तथापि को दोषः, तत्राह—स्वरूपेति । वस्तुतस्तेन विकाररूपेण नामादीनां ब्रह्मत्वयोर्जातीयत्वेन जीवस्य भगवोक्तिरस्य-
तीकत्वत्वेन तेषामपि ब्रह्मत्वोक्तावात्मनाभावोपासतिविधिर्न स्यादित्यर्थः । यन् ब्रह्मत्वे स्यात्तत्त्वमिति, तत्राह—नचेति ।
प्रतीकोपदेशेषु कथं कर्तृत्वाद्यनिराकरणं तदाह—कर्तृत्वादीति । तन्निराकरणे तद्विधिरिव न स्यादिति भावः । प्रतीकानां जीवस्य
च परिच्छिन्नतया साम्यं गृहीत्वा फलितमाह—अतश्चेति । सत्यपि भूतव्यत्वे किमिति जीवस्य नेपु विविचशादहंशब्दो न स्यात्,
तत्राह—नहीति । स्वरूपेणैक्याभावेऽपि रुचकस्वस्तिकयोः सुवर्णात्मनैक्यवदितिहासि ब्रह्मात्मनैक्यादहंशब्दः स्यादित्यादिशब्दा-
सुवर्णेति । विकाररूपतिरस्कारेणैक्ये न प्रतीकतेत्युक्तमित्यर्थः । रुचकस्वस्तिकयोरपि मिथोऽन्तर्भावोऽनोनुष्ठानमुपासनात्मकत्वकल्पना-
द्वेत सिध्यतीति सिद्धवत्कृत्योपसंहरति—अत इति ॥ ४ ॥ अहंशब्दोपासनैविव प्रतीकोपासनेऽहंशब्दोपासनात्प्रधानं नैस्तुक्तम् ।
इदानीं प्रतीकोपासनेष्वेव क किदृष्टिरध्यस्ततामिति सिद्धिदानं तत्राह—ब्रह्मदृष्टिरिति । एकविषयत्वेनाधिकरणयोः संगतिं म-
त्त्वानो विषयसंशयौ दर्शयति—तेष्वेवेति । प्रश्नपूर्वकं संशयबीजमाह—कुत इति । उक्तमेव व्यक्तिकर्तुं सामानाधिकरण्यभियं-
गावर्शयति—अत्रेति । तथापि यथाकथंचिदस्य सामानाधिकरण्यस्य संभवं कुतः संशयानां ह्यहंशब्दस्य सोऽयमिति तदेकवचन-

विभक्तिनिर्देशात् । न चात्राज्ञसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते । अर्थान्तरवचनत्वाद्ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम् । नहि भवति गौरश्च इति सामानाधिकरण्यम् । ननु प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिष्वसामानाधिकरण्यं स्यात् । नेत्युच्यते । विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात् । ततश्च प्रतीकाभाषप्रसङ्गमवोचाम । परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्तत्त्वोपासनाधिकारो बाध्यते । परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम् । तस्माद्ब्रह्मणोऽग्निर्ब्रह्मानर इत्यादिवदन्यत्रान्यदृष्टव्यासे सति क किं दृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः । तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम् । अथवादित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम् । एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्थादा । तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति । कस्मात् । उत्कर्षात् । एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति । उत्कृष्टदृष्टेस्त्वध्यासात् । तथाच लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति । उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः । यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि । स चानुसर्तव्यः । विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात् । नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षे नीयमानः श्रेयसे स्यात् । ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गो नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति । अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात् । संदिग्धे तु तस्मिन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते । तेन

रत्नप्रभाव्याख्या

भावात्संशय इत्यर्थः । उत्कृष्टनिकृष्टयोर्निकृष्टमप्युपास्यं फलवत्त्वादिति न्यायो नियामक इत्यरुचेराह—अथवेति । अत्र विकारदृष्टिभिर्ब्रह्मोपास्तिसिद्धिः फलं, सिद्धान्ते तु विकारदृष्ट्या ब्रह्मण उपास्यत्वे निकर्षप्राप्तौ सत्यां फलवत्त्वासिद्धेर्विकारमात्मन्याख्या

ब्रह्मण्येव कर्तव्या न तु ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिषु । न चैवंविधेष्वधृते शास्त्रार्थे निकृष्टदृष्टिर्नोऽन्येन इति लौकिको न्यायोऽपवादय प्रभवत्यागमविरोधेन तस्यैवापोदितत्वादिति पूर्वपक्षसंश्लेषः । सत्यं सर्वोध्यक्षतया फलदातृत्वेन ब्रह्मण एव सर्वत्र वास्तवं प्राधान्यं तथापि शब्दगलानुरोधेन कचित्कर्मण एव प्राधान्यमवसीयते । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादौ । अत्र हि सर्वत्र यागाद्याराधिता देवतैव फलं प्रयच्छतीति स्थापितं तथापि शब्दतः कर्मणः करणत्वागमने फलवत्त्वप्रतीतिः प्राधान्यम् । कचिद्व्यस्य यथा ग्रीहीन्प्रोक्षतीत्यादौ । तदुक्तं—'यैस्तु द्रव्यं संचिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयते' इति । तदिह यद्यपि सर्वोध्यक्षतया वस्तुतो ब्रह्मैव फलं प्रयच्छति तथापि शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्याऽऽदित्यादौ प्रतीक उपास्यमाने ब्रह्म फलम् कल्पते इत्यभिवदति किंवादित्यादिबुद्ध्या ब्रह्मैव विषयीकृतं फलायेत्युभयथापि ब्रह्मणः सर्वोध्यक्षस्य फलदानोपपत्तेः शास्त्रार्थसंदेहे लोकानुसारेणो निश्चीयते । तदिदमुक्तम्—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यादिति । न केवलं लौकिको न्यायो

आनन्दगिरीयव्याख्या

मित्तं वा प्रकृतिविकारस्वनिमित्तं वा समारोपकृतं वा तदिति विकल्प्यां दूयति—नचेति । भिन्नार्थशब्देषु तदभावमुदाहरति—नहीति । द्वितीयमादत्ते—नन्विति । उपास्तिविरोधान्नैवमित्याह—नेतीति । प्रविलयपरमेव वाक्यं नोपास्तिपरमिलाशङ्कोपासीतेतिष्ठतिविरोधान्नैवमित्याह—परमात्मेति । प्रपञ्चप्रविलयद्वारा परमात्मपरत्वे वाक्यस्य कतिपयादित्यादिग्रहणमनर्थकम् । नच सर्वोपलक्षणार्थं तद्ब्रह्मं मुख्यसंभवे लक्षणायोगादित्याह—परिमितेति । पक्षद्वयायोगात्परिशिष्टे तृतीये पूर्वोक्तः संशयः स्यादित्युपसंहरति—तस्मादिति । प्रासङ्गिकप्रकृतप्रतीकोपासनेषु स्वतन्त्रपुमर्थहेतुषु ब्रह्मदृष्ट्यानुष्ठानेनत्वा पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे लौकिकन्यायविरोधः । सिद्धान्ते तदविरोधः सिध्यतीत्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षयति—तत्रेति । यथात्यन्तिकभेदो नामादिष्वहंशब्दाभावे हेतुकत्वात्ता ताभ्येव ब्रह्मधीनियामकं न किंचिदुद्धं तस्मादनियम इत्यर्थः । उत्कृष्टनिकृष्टयोरुत्कृष्टमेवोपास्यं फलविशेषवत्त्वाद्वाजादिवदित्या शङ्क्य साक्षात्पूर्वपक्षमाह—अथवेति । आदित्यादिशब्दानां प्रथमश्रुतानामनुरोधेन चरमश्रुतं ब्रह्मपदं नेतव्यमिति चेन्न । तथा सति फलभावापातादित्याह—ब्रह्मेति । पक्षद्वयेऽपि फलितमाह—तस्मादिति । आदित्यादिदृष्ट्या ब्रह्मोपास्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति । नियमहेतुं प्रश्नपूर्वकमाह—कस्मादिति । हेत्वर्थं विवृणोति—एवमिति । उत्कृष्टनिकृष्टयोरुत्कृष्टस्य दृष्टव्यत्वादित्यादिदृष्ट्या ब्रह्मोपास्यमित्युक्तमाशङ्क्याह—तथाचेति । किं तदनुसारेणेत्येवाशङ्क्याह—स चेति । प्रसङ्गमेव दृष्टान्तेन स्वरूपयति—नहीति । ब्रह्मण एव फलमत इतिन्यायात्फलदातृत्वात्तस्यैवादित्यादिधीभिरुपास्यतेति शङ्कते—नन्विति । किञ्च शास्त्रं स्वत एव प्रामाण्यात् लौकिकन्यायापेक्षेत्याह—नचेति । ब्रह्मण एव फलदातृत्वेऽपि शास्त्रमादित्यादौ प्रतीके ब्रह्मधिया ध्येयं तत्फलमिति वा ब्रवीत्यादित्यादिधिया ब्रह्मण्युपासे वेति शास्त्रार्थसंदेहे लोकानुसारेण निर्धारणमित्याह—अत्रेति । लौकिकन्यायस्य निषेधहेतुत्वे । विपक्षे दोषमाह—तेनेति । न केवलं लौकिकन्यायो निश्चायकः किं त्वादित्यादिशब्दानां प्रथमश्रुतत्वेन मुख्यार्थत्वमप्येव

चोत्कृष्टदृष्टयोपास्ये शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निरुद्धदृष्टिमध्यस्थत्ववेयादिति निरूप्यते । प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद्गृहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासंभवाद्ब्रह्मदृष्टिविधानार्थ-
तैवावतिष्ठते । इतिपरत्वादिपि ब्रह्मशब्दस्यैव एवार्थो न्याय्यः । तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्यु-
पासीत' 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान् ।
ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु
रजतप्रतीतिलक्षणार्थः । प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति न तु तत्र रजतमस्ति । एवमत्राप्यादित्या-
दीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते । वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिवृत्तेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया
व्याप्यमानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३।१९।४) 'यो वाचं
ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।२।२) 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।३।३) इति च । यत्तु ब्रह्मो-
पासनमेवात्रादरणीयं फलत्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवोपास्यत्वावग-
मात् । फलं त्वतिध्यायुपासन इव आदित्यायुपासनेऽपि ब्रह्मेव वास्यति सर्वोभयशक्तवात् । व-
र्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यत्र । ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्र-
तीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्णवादीनाम् ॥ ५ ॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥



आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत ॥ नोरकपौ ब्रह्मखरेन द्वयोस्तेनेष्टिङ्गी मतिः ॥ १ ॥

आदित्यादिधियाङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले ॥ युज्यतेऽतिसायनरमाद्रेष्वर्कादिदृष्टयः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाभ्याख्या

एवोत्कृष्टब्रह्मदृष्टयोपास्या इति फलम् । किंच लौकिकन्यायाविरुद्धार्थसंभवे विरुद्धार्थो न प्राप्यः प्रत्यवायप्रसङ्गात् । किंच प्रथम-
श्रुतानामादित्यादिपदानामसंजातविरोधितया मुख्यार्थत्वग्रहो न्याय्यः । ब्रह्मशब्दे च दृष्टिलक्षणाग्रहः, तथा चादित्यादयो ब्रह्म-
दृष्टयोपास्या इत्येव वाक्यार्थ इत्याह—**प्राथम्याच्चेति** । ब्रह्मशब्दस्यैव दृष्ट्यर्थत्वे हेत्वन्तरमाह—**इतिपरत्वादिति** ।
इतिशब्दविरास्कः शब्दः समभिव्याहृतकियालक्षक इति लोके प्रसिद्धमित्यर्थः । द्वितीयाश्रुतेश्चादित्यादीनामेवोपास्तिकर्मत्वमि-
त्याह—**वाक्यशेषोऽपीति** । उत्कृष्टमेवोपास्यमिति न्यायमुक्तमनुवदति—**यत्तूक्तमिति** । द्वितीयेतिश्रुतिभ्यां लौकि-
कन्यायाच्चौक्तन्यायबाध इत्याह—**तदिति** । ब्रह्मणोऽनुपास्यत्वे कथं फलदानत्वं, तत्राह—**फलं त्विति** । किंच
यद्दृष्टया विकारस्योत्कर्षः तस्य ब्रह्मणो विशेषणत्वेऽप्युपास्यत्वं नास्तीत्याह—**ईदृशं चेति** ॥ ५ ॥ **आदित्यादि** ।

भामतीभ्याख्या

निश्चये हेतुरपि तु आदित्यादिशब्दानां प्राथम्येन मुख्यार्थत्वमपीत्याह—**प्राथम्याच्चेति** । इतिपरत्वमपि ब्रह्मशब्दस्यामुमेव
न्यायमवगमयति । तथाहि—स्वरसवृत्त्या आदित्यादिशब्दा यथा स्वार्थे वर्तन्ते तथा ब्रह्मशब्दोऽपि स्वायं वर्तयति यदि स्वायंरूपस्य
विवक्षितः स्यात्, तथाचेतिपरत्वमनर्थकं तस्मादितिना स्वार्थात्प्रव्याप्य ब्रह्मपदं ज्ञानपरं स्वरूपपरं वा कर्तव्यम् । नच ब्रह्मपदमा-
दित्यादिपदार्थ इति, प्रतीतिपर एवायमितिपरः शब्दो यथा गौरिति मे गवयोऽभवदिति । तथाच आदित्यादयो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्या
इत्यर्थो भवतीत्याह—**इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्येति** । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ५ ॥ **आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उप-**

भानन्दगिरीयव्याख्या

त्याह—**प्राथम्यादिति** । ब्रह्मशब्दस्य धीपरत्वे युक्त्यन्तरमाह—**इतिपरत्वादिति** । नत्येतिपरत्वेनैव रक्तोरपि—**तथाहि** ।
आदित्यादिशब्देषु वैलक्षण्यमाह—**शुद्धानिति** । अस्तु ब्रह्मशब्दस्येतिपरत्वमादित्यादिशब्दानां च शुद्ध्यं तथापि कथं दृष्टिपरत्वा-
धेपरत्वव्यवस्थेत्याह—**ततश्चेति** । रजतशब्दस्यापि शुक्तिशब्दपरत्वव्यवस्थेर्चेदिति शब्दयोगो न्ययः स्यादित्यर्थः । प्रतीतिर्हेतुस्य
निरालम्बनत्वायोगादस्यैव रजतमपीत्याह—**प्रत्येत्येवेति** । प्रतीतिराभामान्वात्र योग्यमात्रमनमस्तीत्यर्थः । नोक्तमिदमर्थं
प्रकृते योजयति—**एवमिति** । किं चादित्यादीनां द्वितीयाश्रुत्योपास्तिकर्मत्वेन प्राधान्यमिदं ब्रह्मशब्दस्य धीपरत्वमेवेत्याह—
वाक्येति । उत्कृष्टनिरुद्धयोरुत्कृष्टमेवोपास्यं फलविशेषपरत्वाद्वाजादिवदित्युक्तमनुवदति—**यस्त्विति** । आदित्यादीनामेवोपास्यत्वार्थकदि-
तीयाश्रुतिकिरुद्धमनुमानमित्याह—**तदिति** । कथं तर्हि फलमिदिरित्याह—**हेतोरन्यवासिद्धिमाह—फलं त्विति** । यमेत्येव फल-
दत्ताकुतो ब्रह्मणस्तथात्वं, तत्राह—**वर्णितं चेति** । द्वितीयेतिशब्दश्चित्त्यामुत्कृष्टदृष्ट्या निरुद्धमुपास्यमितिन्यायानुगृहीताभ्यामुक्तानु-
मानभङ्गादसंजातविरोधित्वेन प्रथमश्रुता आदित्यादय एव चरमश्रुततया संजातविरोधात्प्रत्ययमात्रपरब्रह्मशब्देनापितमद्दृष्टिविशिष्टा
विशेषणतयोपास्यब्रह्मसामर्थ्यलक्षकविशेषा ध्येया भवन्तीति भावः । कथं तर्हि ब्रह्मोपासनमिति प्रसिद्धिः, तत्राह—**ईदृशं चेति**

‘य एषासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत’ (छा० २।३।१) लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत’ (छा० २।२।१) ‘वाचि सप्तविधं सामोपासीत’ (छा० २।८।१) ‘इयमेवर्गग्निः साम’ (छा० १।६।१) इत्येवमादिष्वङ्गावच्छेदेषूपपासनेषु संशयः । किमादित्यादिपूरीथादिदृष्टयो विधीयन्ते किंवोद्गीथादिष्वेवादित्यादिदृष्टय इति । तत्रानियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम् । नह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते ‘ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वाद्विगुणयोगाश्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति । अथवा नियमेनोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येः रन् । कस्मात् । कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः । उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति । तथाच ‘इयमेवर्गग्निः साम’ (छा० १।६।१) इत्यत्र ‘तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम’ (छा० १।६।१) इत्यृकशब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निं तच्च पृथिव्यध्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम् । क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणान्नाजशब्द उपचर्यते न राजनि क्षतशब्दः । अपिच ‘लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत’ (छा० २।२।१) इत्यधिकरणनिर्देश-

रत्नप्रभाष्याख्या

पृथिव्यन्तरीक्षादित्यसंज्ञेषु लोकेषु हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारनिधनैरंशैः पञ्चांशं साम, तैरेवादिरिति उपद्रव इति च भक्तिद्वयाधिकैः सप्तांशं सामेति भेदः । अत्र विशेषाज्ञानात्संशयः । पूर्ववदुत्कर्षानवधारणादनियम इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । सिद्धरूपादित्यादिभ्यः कर्मरूपोद्गीथादीनां फलसंनिकर्षेणोत्कर्षाद्ब्रह्मवद्विशेषणत्वे नियम इति दृष्टान्तेन मुख्यं पूर्वपक्षमाह—अथवेति । तत्तत्पक्षसिद्धिरेव पूर्वोत्तरपक्षफलं मन्तव्यम् । किंचानङ्गेष्वेवाङ्गादृष्टिरित्यत्र तेष्वावाचिपदप्रयोगो लिङ्गमाह—तथाचेयमेवेति । तदेतदश्याख्यं साम एतस्यां पृथिवीरूपायामृच्यधूढमुपस्थितमित्यर्थः । ऋचि सामवत्पृथिव्यामग्निर्दृश्यते, अतः साम्यात्पृथिव्येवर्गग्निः सामेति ध्यानं विहितं, तत्र यदि ऋक्सामात्मकयोः कर्माङ्गयोः पृथिव्यग्निदृष्टिः स्यात्, तदा पृथिव्यध्योर्ऋक्सामपदप्रयोगो न स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—क्षत्तरीति । अतः प्रयोगान्वयानुपपत्त्या पृथिव्यध्योर्ऋक्सामदृष्टिरित्यर्थः । विषयसप्तम्या चैवमेवेत्याह—अपिचेति । गायत्रिसंज्ञं साम । किंच पूर्वा-

भासतीत्याख्या

पत्तेः । अथवा नियमेनोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्निति । सत्स्वि आदित्यादिषु फलानुत्पादादुपनिमतः कर्मण एव फलदर्शनात्कर्मैव फलवत् । तथा चादित्यादिमतिभिरेवोद्गीथादिकर्माणि विषयीकियेरस्तत् आदित्यादिदृष्टिभिः कर्मरूपाण्यभिपूरेत् । एवंच कर्मरूपैवसत्कल्पेषु कुतः फलमुपपद्येत । आदित्यादिषु पुनरुद्गीथादिदृष्टोद्गीथादिउद्गोपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलाय कल्पियन्त इति । अतएव च पृथिव्यध्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोग उपपन्नो यतः पृथिव्यामृष्टिदृष्टिरित्यस्तौ च सामदृष्टिः । साग्निं पुनरग्निदृष्टौ ऋचि च पृथिवीदृष्टौ विपरीतं भवेत् । तस्मादप्येतदेव युक्तमित्याह—तथाचयमेवेति । उपपत्त्यन्तरमाह—अपिच लोकेष्विति । एवं स्वत्वधिकरणनिर्देशो विषयत्वप्रतिपादनपर उपपद्यते यदि लोकेषु सामदृष्टिरित्य-

आनन्दगिर्याख्या

॥ ५ ॥ पूर्ववदुत्कर्षविशेषानवधारणादनियमेन वा गीतित्वेन क्रियारूपोद्गीथादीनां फलसंनिकर्षेणोत्कर्षोपादित्यादिषु तदृष्टिकरणे प्रथमनिर्दिष्टानामादित्यादिषु ब्रह्मदृष्टिवाप्राथमिकादित्यादिपूरीथादिदृष्टिकरणे वा प्राप्ते प्रत्याह—आदित्यादीति । अज्ञाश्रितोपासनाभ्यादाह्य विशेषानुपलब्ध्या संशयमाह—य एवेत्यादिना । पृथिव्यन्तरीक्षादित्यसंज्ञकेषु लोकेषु हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारनिधनरूपं पञ्चप्रकारं सामोपास्यं लोकदृष्ट्या तदुपास्यमित्यर्थः । वाचि सप्तविधमिति हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारोपद्रवनिधनरूपं सप्तप्रकारं साम वाच्युपास्यं वाङ्मृष्ट्या सामोपास्यमित्यर्थः । प्रासङ्गिकात्वावच्छेदोपासनेषु स्वतन्त्रफलेष्वनङ्गदृष्ट्यानुष्ठाननिष्पन्नात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दृष्टिकरणस्य फलवत्त्वम् । सिद्धान्तेऽपि तदविशदं सिध्यतीति स्वीकृत्य पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्युक्तं व्यनक्ति—नहीति । वैधर्म्यदृष्टान्तं स्पष्टयति—ब्रह्मेति । अज्ञानङ्गयोरेपि कस्यचिद्विशेषो गम्यतामित्याशङ्क्याह—न त्विति । कर्मरूपाणामुद्गीथादीनामुत्कर्षभानमुख्येण साक्षात्पूर्वपक्षमाह—अथवेति । नियमहेतुं पृच्छति—कस्मादिति । उद्गीथादिकर्माङ्गानां क्रियासमवायात्फलसाधनतयोरुत्कृष्टत्वादिति हेतुमाह—कमेति । किंच सिद्धरूपादित्यादिना चेतोद्गीथादयो दृष्टास्तदा न फलहेतवः । यदा तद्गीथादिदृष्ट्यादित्यादयो दृष्टास्तदा तेषामपि फलहेतुत्वं स्यादित्याह—उद्गीथुदीति । अनङ्गेष्वेवाङ्गात्मकतत्त्वव्यत्यर्थं पृथिव्यध्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगादपि भातीत्याह—तथाचेति । तदेतदश्याख्यं सामेतस्यां पृथिवीरूपान्वायामृच्यधूढमुपस्थितमिति यावत् । उक्तमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—क्षत्तरीति । ऋचि पृथिवीदृष्टिः साग्निं चाग्निदृष्टिरिष्टा चेष्टा प्रयोगवैपरीत्यं स्यात्तस्मात्पृथिव्यध्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगानुपपत्त्या तत्र कर्माङ्गभूतवर्त्तमानाध्याससिद्धिरित्यर्थः । इतश्चानङ्गेष्वङ्गाणां

ब्रह्मलोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते । 'एतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।१।१) इति चैतदेवं दर्शयति । प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यादिषु । प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकाराव्यः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिश्रुतिषु । अतोऽनङ्गेष्ववादित्यादिविषयमतिनिक्षेप इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषुद्वीथादिषु क्षिप्येरन् । कुतः—उपपत्तेः । उपपद्यते ह्येवमपूर्वसंनिकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषुद्वीथादिषु कर्मसमृद्धिः । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति । भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् 'य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु । तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसंनिकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत् । फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्वीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः । आदित्यादिप्राबलिक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु । अपिच 'ओमित्येतदक्षरमुद्वीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यातं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्वीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति । यत्कृतमुद्वीथादिमति-

रत्नप्रभाख्या

धिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्येवमित्याह—प्रथमेति । अनङ्गबुद्ध्याङ्गान्युपास्यानीति सिद्धान्तयति—एवमिति । उपास्तीनां हि कर्मसमृद्धिः फलं श्रूयते, सा च तामिरङ्गेयु संस्क्रियमाणेषूपपद्यते, अङ्गानां समुच्चयानुसृतकर्मपूर्वजनकत्वादित्यर्थः । ननु यत्रोपास्तीनां प्रकृतकर्मापूर्वसंनिकृष्टाङ्गद्वारापेक्षं फलं धृतं तत्र फलोपपत्तयेऽङ्गानामुपास्यत्वं भवतु तदनपेक्षलोकादिफलेषु तूपासनेषु कथमुपास्यविवेक इति शङ्कते—भवत्विति । यथा स्वतन्त्रपञ्चकलस्यापि गोदोहनस्य अङ्गद्वारापेक्षयैव फलमिष्टं तद्वद्भोकादिफलेषूपपासनेष्वपि कर्मापूर्वाङ्गद्वारैव फलकल्पना युक्ता, कर्माधिकृतस्यैवाङ्गाश्रितोपासनेष्वधिकारात्, अतोऽङ्गानामेवोपास्यत्वमिति समापत्ते—तेष्वपीति । उत्कर्षानवधारणादनियम इत्युक्तं निरस्यति—फलात्मेति । उपक्रमबलाच्चाङ्गमुपास्यमित्याह—अपिचेति । रसतमत्वादिगुणगुपसंख्यानमित्यर्थः । द्वितीयं पूर्वपक्षं दूषयति—यत्कृतमित्या-

भामतीव्याख्या

स्येत नान्यथेति । पूर्वाधिकरणराद्धान्तोपपत्तिमत्रैवार्थे ब्रूते—प्रथमनिर्दिष्टेषु चेति । सिद्धान्तमत्र प्रक्रमते—आदित्यादिमतय एवेति । यदुद्वीथादिमतय आदित्यादिषु शिष्येरन्तत आदित्यादीनां स्वयमकार्यत्वादुद्वीथादिमतेस्तत्र वेद्यर्थे प्रसज्येत । नद्यादित्यादिभिः किंचित्क्रियते यद्विद्यया वीर्यवत्तरं भवेदादित्यादिमत्या विद्ययोद्वीथादिमतेषु कार्येषु यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवतीत्यादित्यादिमतीनामुपपद्यते उद्वीथादिषु संस्कारकत्वेनोपयोगः । चोदयति—भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवमिति । यत्र हि कर्मणः फलं तत्रैवं भवतु यत्र तु गुणात्फलं तत्र गुणस्य सिद्धत्वेनाकार्यत्वात्करोतीत्येव नास्तीत्यत्र विद्यायाः क उपयोग इत्यर्थः । परिहरति—तेष्वपीति । न तावदुपः सिद्धस्वभावः कार्याय फलाय पर्याप्तः, मा भूत्प्रकृतकर्मानिर्देशिनो यत्किंचिदित्यर्थः । फलोत्पादः, तस्मात्प्रकृतापूर्वसंनिवेशिनः फलोत्पाद इति तस्य क्रियमाणत्वेन विद्यया वीर्यवत्तरतोपपत्तिरिति । फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामिति । यद्यपि ब्रह्मविकारत्वेनादित्योद्वीथयोरविशेषस्तथापि फलात्मकत्वेनादित्यादीनामस्युद्वीथादिभ्यो विशेष इत्यर्थः । द्वितीयानिर्देशादुद्वीथादीनां प्राधान्यमित्याह—अपि चोमितीति । स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवच्योपपत्तेः ।

आनन्दगिरियव्याख्या

कर्तव्येत्याह—अपिचेति । सप्तम्या लोकानां सामधीपत्यवनिर्देशादित्याह—अधिकरणेति । अन्यत्रापि सप्तमीश्रुतेरनङ्गेष्वधी-भांतीत्याह—एतदिति । पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यनङ्गेष्वङ्गदृष्टिः शिष्टेत्याह—प्रथमेति । आदित्यादुद्वीथादिभिरापास्य फलवत्त्वसिद्धिरिति प्राप्तमनूय सिद्धान्तयति—एवमिति । अनङ्गेष्वङ्गमतिरुक्ता तथा नान्यथा नियमो निर्वाजत्वादयुक्त इति शङ्कते—कुत इति । नियमहेतुमवतार्य व्याकरोति—उपपत्तेरिति । यथा प्रोक्षणादिना व्रीह्यादिषु संस्करणे कर्मापूर्वमुपपद्यते तथा प्रकृतकर्मापूर्वसंनिधानादुद्वीथीनामादित्यादिमतिमितेषु संस्क्रियमाणेषु कर्मसमृद्धिरुपपद्यते तथा च कर्मसमृद्धिफलोपपत्तेरनङ्गेष्वनङ्गमतिनिक्षेप इत्यर्थः । कर्मसमृद्धिरुपास्तित्वमित्येतदेवासिद्धिमित्याशङ्क्याह—यदेवेति । यत्र कर्मसमृद्धिः फलं श्रूयते तत्रानङ्गेष्वनङ्गमतिनिक्षेपोऽस्त्यादित्यादिमतिनिक्षेपसंस्कृतानामङ्गानां कर्मातिशयहेतुत्वात्स्वतन्त्रफलेषु पुनरुपासनेषु कथं मतिनिक्षेपः स्यादिति विवेको नास्तीति शङ्कते—भवत्विति । स्वतन्त्रफलेष्वपि तेषु प्रकृतकर्माङ्गव्यापाराश्रयेणाङ्गेष्वेव मतिकरणात्फलकल्पना युक्ता कर्माधिकृतस्यैव तदङ्गसंरूपेषूपपासनेष्वधिकारात् । यथाधिकृताधिकारेषु गोदोहनादिषु स्वतन्त्रफलेष्वपि प्रकृतकर्माङ्गावगम्येनैव फलमिष्टं तथैवापीति परिहरति—तेष्वपीति । यत्त्वादित्यादीनामुद्वीथादीनां चोक्तपर्वविशेषानवधारणमिति, तत्राह—फलेति । तदेव शङ्कयति—आदित्यादीति । उपक्रमानुसारादित्यादिष्वुद्वीथादिषु कार्येत्याह—अपिचेति । द्वितीयां पूर्वपक्षोपपत्तिमनुमाय दूषयति—यदित्यादिना ।

भिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति । तदयुक्तम् । स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः । आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुपग्राह्यादीनां कर्मात्मकत्वानुपायात् । 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योऽङ्गकसामशब्दप्रयोगः । लक्षणा च यथासंभवं संनिवृत्तेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसंबन्धेन प्रवर्तते । तत्र यद्यप्युक्तसामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसिद्धयोऽङ्गकसामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयोरेवैव ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसंबन्धादिति निश्चीयते । क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्वाजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते । 'इयमेवर्क' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति । पृथिव्या हृक्त्वेऽवधार्यमाण इयमुगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात् । 'य एवं विद्वान्ताम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव

रत्नप्रभाभ्याख्या

दिना । कर्मभूयं कर्मात्मकत्वं प्राप्येत्यर्थः । सिद्धादित्याद्यात्मना कर्मणां दृष्टौ कर्मत्वहानिः स्यादित्यत आह—आदित्यादिभावेनेति । माणवकेऽग्निदृष्टिवदुद्ग्राह्यादिधादित्यादिधियां गौणत्वात् कर्मत्वाभिभावकत्वमित्यङ्गेष्वनङ्गत्वं विरुद्धेत्याशयः । प्रयोगानुपपत्तिमुक्तां निरस्यति—तदेतदिति । लक्षणाबीजं संबन्धमाह—लक्षणा चेति गङ्गायां घोष इत्यत्र संनिवृत्तसंयोगसंबन्धेन तीरलक्षणा, अग्निर्माणवक इत्यत्राग्निनिष्ठशुचित्वादिगुणवत्त्वरूपपरम्परां न्धेन लक्षणा दृष्टा, तथा चात्र ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिपक्षेऽपि ऋक्सामपदाभ्यां स्वाद्याचार्ये द्रष्टव्यताव्यपरम्परा बन्धेन पृथिव्यलक्षणा युक्त्यर्थः । ननु प्रतीकवाचिपदस्य ध्येये अर्थे लक्षणा न युक्ता, क्षत्तृपदस्य राज्यप्रयोगात् शङ्कते—तत्र यद्यपीति । तथापि ऋक्सामसंबन्धात्पृथिव्यग्न्योरेवैतस्यामृच्यध्यूढं सामेत्येव ऋक्सामपदप्रयोग इत्यन्य ननु मुख्यार्थ एव न कुतो गृह्यते, तत्राह—प्रसिद्धयोरिति । तस्मादच्यध्यूढं सामेति मुख्ययोः पृथगुक्तेस्तदेतस्मात् त्रापि तयोर्भेदे पुनरुक्तिः स्यात्, अतः प्रतीकाभेददृष्ट्या पृथिव्यग्न्योः प्रतीकसंनिधानात्तयोरेव प्रतीकपदप्रयोगः कुत दभेददार्ढ्यायेत्यर्थः । तर्हि क्षत्तृशब्दोऽपि राजनि स्यादित्यत आह—क्षत्रिति । स्थितप्रयोगस्य निमित्तं किमपि वाच्यं न निमित्तमस्तीति प्रयोग आपाय इति भावः । क्षता सूतः, तस्य कार्यं रथचर्यादि यदा राजेव करोति तदा क्षत्तृशब्द राजन्यव्यस्तीत्यक्षरार्थः । ऋगादावेव पृथिव्यादिदृष्टिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—इयमिति । सप्तम्या लोकानामुपास्यत्सु

भामतीभ्याख्या

ननु कं सिद्धरूपैरादित्यादिभिरध्यस्तैः साध्यभूतत्वमभिभूतं कर्मणामित्यत आह—आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामिति भवेदेतदेवं यद्युपासेन कर्मरूपमभिभूयेत । अपि तु माणवक इवाग्निदृष्टिः केनचित्तीव्रत्वादिना गुणेन गौण्यनभिभूतमाणवकत्वात् हापि । नदीयं शुक्तिकायां रजतधीरिव वह्निधीरेन माणवकत्वमभिभवेत् । किंतु गौणी । तथेयमपुद्ग्रीथादावित्येवमिति भावः । तदेतस्यामृच्यध्यूढं सामेति त्विति । अन्यथापि लक्षणोपपत्तौ न ऋक्सामेत्युपासकत्वेना पृथिव्यग्निरित्यर्थः । अक्षरन्यासालोचनया तु विपरीतमेवेत्याह—इयमेवर्किति । 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' इति द्वितीयानि

आनन्दगिरीयभ्याख्या

कर्मभूयं भूत्वा कर्मभावमनुभूयेति यावत् । सिद्धरूपैरादित्यादिभिरध्यस्तैः साध्यरूपत्वं कर्मणोऽभिभूयेतेत्याशङ्क्याह—आदित्यादीति । माणवकेऽग्निधीवदुद्ग्राह्यादिधादित्यादिधियां गौणत्वादनभिभवादङ्गेष्वनङ्गधीरविरुद्धेत्यर्थः । यत् पृथिव्यग्न्योऽङ्गकसामशब्दप्रयोगानुपपत्त्या पृथिव्यादावुपास्येति, तत्राह—तदेतदिति । तदृष्टिमन्तरेणापि लक्षणोपपत्तौ पृथिव्यादावुपास्येति न कर्तव्य इत्यर्थः । संबन्धाभावे कथं लक्षणेत्याशङ्क्याह—लक्षणा चेति । शोणो धावतीत्यत्र गुणवाचिशोणशब्देन गुणी वक्ष्यते इति संनिवृत्ता लक्षणा अग्निधीतेऽनुवाकमित्यत्राग्निशब्दस्तीव्रत्वादिगुणं लक्षयित्वा माणवकं लक्षयतीति विप्रकृष्टा । नहि साह देवाग्निशब्दार्थस्य माणवकसंबन्धोऽस्तीत्यर्थः । लक्षणाद्वैध्व्येऽपि प्रकृते किं जातं तदाह—तत्रेति । ऋक्सामयोः पृथिव्यग्न्योः संनिवृत्तास्तवसंबन्धाभावेऽपि विप्रकृष्टेन पृथिव्यग्निसिद्धिसंबन्धेन तयोः संबन्धाच्छब्दाभ्यां तल्लक्षणा युक्त्यर्थः । तथापि तयोरेव पृथिव्यग्न्योरेव तदेतदस्यामृच्यध्यूढं सामेत्युक्तसामशब्दप्रयोग इति योजना । मुख्यासंभवे हेतुमाह—प्रसिद्धयोरिति ऋच्यध्यूढं हि सामेति प्रसिद्धयोः पृथगुक्तेस्तदेतस्यामित्यत्रापि तयोरेवोक्तौ पौनरुक्त्यात्पृथिव्यग्न्योश्चाध्यस्तः ऋक्सामसंनिधानादङ्गकमशब्दोऽल्लक्षणाया पृथिव्यग्न्यर्थेत्यर्थः । क्वचि पृथिवीधीः सास्त्रि चाग्निधीरित्येतावता संबन्धेन पृथिव्यग्न्योऽङ्गकसामशब्दप्रयोगो न गणिको नोपपद्यते क्षत्तृरिति राजनीकरणेऽपि राजनि क्षत्तृशब्दप्रयोगादर्शनादित्युक्तमित्याशङ्क्याह—क्षत्रिति । यदा राजपि क्षत्तृस्य रथनयनादि कर्माचरति तदा तत्र क्षत्तृशब्दो लक्षणाया प्रयुज्यत एव । नच सति निमित्ते प्रयोगस्यावश्यकत्वं पृथिव्यादित्येव व्यभिचारादिति भावः । ऋगादावेव पृथिव्यादिधीरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—इयमेवर्किति । पतदेव व्यतिरेकद्वारा स्मोरयति—पृथिव्येति । ऋगनुवादेन पृथिवीत्वं विधेयमित्यवधारणसामर्थ्यादधिगतमित्यर्थः । इतश्चाङ्गेष्वनङ्गधीरित्याह—य एवमिति । यत्त्वभिभूयतेऽङ्गेषु सादुपास्यवित्यवयवं लोकानामिति, तत्राह—तथेति । यदि सामधीर्लोकेष्वारोप्येत तदा सामेतिपुनरुक्त्यर्थे द्वितीयाश्रयः कोऽपि

विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम् । तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साध्येव तेऽध्यस्येन्द्रितीयानिर्देशेन अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः । एतेन 'एतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोक्तम्' (छा० २।१।१) इत्यादि व्याख्यातम् । यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।१।१) इति तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २।१।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।२।१) इति च साम एवोपास्यत्वोपक्रमात्तत्सन्नेवादित्याद्यध्यासः । एतस्मादेव च साम उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥ ६ ॥

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥



६ अधिकरणम्

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तापुत विद्यते ॥ न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽमो नियमो नहि ॥ १ ॥

शयनोत्थानगमनैर्विशेषस्यानिवारणात् ॥ धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

निरस्यति—तथा लोकेष्विति । सामात्मना लोकानुपासीतिति द्वितीयासप्तम्योर्भङ्गस्त्वया कार्यस्ततो वरं लोकात्मना सामोपासीतिति सप्तमीमात्रभङ्ग इत्यर्थः । एतेनेति एकविभक्तिभङ्गलाघवेन प्राणात्मना गायत्रं सामोपास्यमिति व्याख्यातमित्यर्थः । ननु विभक्तिसाम्ये कथं निर्णयस्तत्राह—यत्रापीति । 'साम उपासनं साधु' इत्युपक्रम्य पृथिवी हिंकार इत्यादिना हिंकारादिपञ्चावयवस्य साम उपासनमुक्त्वा 'इति तु पञ्चविधस्योपासनम्' इत्युपसंहृत्य, अथेति सप्तविधस्य साम उपासनं प्रक्रम्य प्रपञ्चितमतः साम एवोपास्यत्वमित्यर्थः । यदुक्तं प्राथम्यात्पृथिव्यादेरुपास्यत्वमिति, तत्राह—एतस्मादेवेति । यद्यपि हिंकारोद्देशेन पृथिवीत्वविधेरुद्देशस्य प्रथमनिर्देशो वाच्यस्तथाप्युक्तन्यायबलात्प्रत्ययो प्राप्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥

भामतीव्याख्या

शास्त्राग्राह्यत्वं वगम्यते । तत्र यदि सामधीरप्यस्येत ततो न सामानुपास्येत् अपि तु लोकाः पृथिव्यादयः । तथाच द्वितीयार्थं परिलज्ज्य तृतीयार्थः परिकल्प्येत सन्नेति । लोकेष्विति सप्तमी द्वितीयार्थं कथंचिन्नोयते । अगरे गावो वास्यन्तां प्रावारे कुमुदानीतिवत् । तेनोक्तन्यायादुरोधेन सप्तम्याश्रोमयथाप्यवश्यं कल्पनीयार्थत्वात्वरं यथाश्रुतद्वितीयाथानुरोधाय तृतीयार्थं सप्तमी व्याख्यातव्या । लोकपृथिव्यादिबुद्ध्या पञ्चविधं हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनप्रकारं सामोपासीतेति निर्णायते । ननु यत्रोभयत्रापि द्वितीयानिर्देशो यथा खल्वमुमेमादित्यं सप्तविधं हिंकारप्रस्तावोकारोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनप्रकारं सामोपासीतिति, तत्र को विनिगमनायां तुरित्यत आह—तत्रापीति । तत्रापि समस्तस्य सप्तविधस्य साम उपासनमिति साम उपास्यत्वश्रुतेः साध्विति पञ्चविधस्य । साधुत्वं तस्य धर्मत्वम् । तथाच श्रुतिः—'साधुकारो साधुर्भवति' इति । हिंकारानुवादेन पृथिवीदृष्टिविधाने हिंकारः पृथिवीति प्राप्तं विनिर्णयति निर्देशः पृथिवी हिंकारः ॥ ६ ॥ आसीनः संभवात् । कर्माङ्गसंबन्धिषु यत्र हि निष्ठतः कर्म चोदितं तत्र तत्संबन्धोपास-

आनन्दगिरियव्याख्या

लोकेष्विति च सप्तमी द्वितीयार्थं कथंचिन्नेत्या तथा सत्तुभयत्रापि सप्तम्याः कल्प्यार्थत्वात्कल्पनापवाधयाश्रुतद्वितीयाथानुरोधाय तृतीयार्थं सप्तमी व्याख्येयम् । तेन पृथिव्यादिलोकबुद्ध्या हिंकारादिसामोपास्यम् । ततः सप्तमी पूर्वपक्षे द्वितीयाथो मिद्वानं तृतीयैत्युभयथा भङ्गनीया । पूर्वपक्षे तु सामगतद्वितीयाभङ्गोऽधिक इत्यर्थः । पृथिव्याद्यात्मना हिंकारादिस्वात्मनोपदेशेन गायत्रस्यापि शास्त्रमनोपास्यत्वमुक्तमित्यतिदिशति—एतेनेति । यत्र द्वितीयासप्तम्यां तत्रास्तु शुनिद्वयभङ्गोपास्यपरिहारायर्थात्तद्विधः । यत्र तृतीया द्वितीया तत्रान्यतरश्रुतिमात्रभङ्गस्य पूर्वपक्षसिद्धान्तवोरतुल्यत्वात्कथं नियममिद्विरित्याशङ्क्याह—यत्रापीति । छांदोग्ये हि मस्तस्य सप्तविधस्य पञ्चविधस्य च सामो ध्यानं साधुगुणकमित्युपक्रम्य लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीतेति पृथिवी हिंकारोऽपि तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो बौर्निधनमित्यादिना पञ्चविधस्य सामो ध्यानमुक्त्वेति तु पञ्चविधस्येत्युपसंहृत्याह—तत्रापीति । यत्पूर्वोपाधिकरणन्यायेन प्रथमश्रुते चरमश्रुतमध्यस्यत इति तत्राह—एतस्मादिति । हिंकारोद्देशेन पृथिवीत्वविधाने हिंकारः इवेति निर्देशो युक्तस्तस्य वैपरीत्येऽपि सामोऽधिकारादवेयत्वावगमादेरुप हिंकारादिष्वनङ्गपृथिव्यादिदृष्टिः कार्यत्यर्थः । प्रथमश्रुत्यनङ्गत्वं तत्र नैयमिति न्यायोऽपि द्वितीयाश्रुत्या नाथो दुर्बलत्वादिति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति ॥ ६ ॥ अङ्गाश्रितोपासने आसीनकर्मतानियमाभाववदितरोपासनास्वपि तन्नियमाभावमाशङ्क्याह—आसीन इति । विपर्य परिदिनन्ति—कर्मति । आदिपदेन

कर्माङ्गसंबन्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वाभासनादिविस्ता नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वा-
द्विज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्ततेतौ नियमेना-
सीन एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति । एवं प्राप्ते
ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति । कुतः—संभवात् । उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं
न च तद्गच्छतो धावतो वा संभवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात् । तिष्ठतोऽपि देहधारणे
व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति । शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयेत । आसी-
नस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति संभवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठि-
तदृष्टिष्वेकविषयाक्षिसचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति ।
आसीनश्चानायासो भवति । तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादे
भवति तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी०
६।११) इत्यादिना । अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

रक्तप्रभाष्याख्या

आसीनः संभवात् । कर्मण उचितेतेनोपविष्टेन वानेकधानुष्ठानदर्शनात्संशयः, कर्माङ्गाश्रितोपासनानामासननियमानपेक्षा
णामनुष्ठानप्रकार उक्तस्तद्वदङ्गानाश्रितोपासनेष्वनियम इति पूर्वपक्षयति—तत्रेति । अत्रासनाभ्यासासिद्धिः, सिद्धान्ते
मनोदेहयोर्भिन्नत्वेऽपि देहचाञ्चल्ये मनसोऽनवस्थानस्य अनुभवसिद्धत्वात्मनोव्यापारेषुपासनेषु देहस्थैर्योग्यमासननियमापेक्षेति
फलभेदः तिष्ठत उचिततस्य ॥ ७ ॥ किंच ध्यातार आसीना एव स्युः ध्यायतिशब्दाहर्त्वाद्वाकादिवदित्याह—ध्यानाच्चेति ॥ ८ ॥ अत्रैव
श्रौतं दृष्टान्तमाह—अचलत्वं चेति ॥ ९ ॥ बाह्यस्य शरीरस्य चासनस्य स्मरणान्नियम इत्याह—स्मरन्ति चेति ॥ १० ॥

भामतीध्याख्या

नापि तिष्ठतैव कर्तव्या । यत्र त्वासीनस्य तत्रोपासनाप्यासीनेनैवेति । नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वात्प्रमाणतन्त्रत्वाच्च । प्रमा-
णतन्त्रा च वस्तुव्यवस्था प्रमाणं च... नापेक्षत इति तत्राप्यनियमः(?) । यन्महता प्रयत्नेन विनोपासितुमशक्यं यथा प्रतीकादि, यथा
वा सम्यग्दर्शनमपि तत्त्वमस्यादि, तत्रैषा चिन्ता । तत्र चोदकशास्त्राभावादनियमे प्राप्ते यथा शक्यत इत्युपबन्धादासीनस्यैव सिद्धम् ।
ननु यस्यामवस्थायां ध्यायतिरुपचर्यते प्रयुज्यते किमसौ तदा तिष्ठतो न भवति न भवतीत्याह । आसीनश्चाविद्यमानायासो

आनन्दगिरीयध्याख्या

स्थितिशयने गृह्यते । सम्यग्दर्शनशब्देन श्रवणाद्यभ्यासवासितमनःसङ्कृतवाक्यकृतसाक्षात्कारो निरुच्यते । 'अङ्गोपासनेभ्यः सम्य-
ग्दर्शनाच्चातिरिक्तान्युपासनानि विषयीकृत्यानेकधानुष्ठानदृष्टेः संशयमाह—इतरेष्विति । शास्त्रेषु प्रस्तुतोपासनेष्वनुष्ठानविशेष-
न्तया पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे कर्माङ्गानाश्रितोपासनेषु देहिकनियमासिद्धिः । सिद्धान्ते ध्यानस्य मनोव्यापारत्वेऽपि देहानवस्थाने
मनोनवस्थानात्तेषु तन्त्रियमासिद्धिरिति मत्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । मनोदेहयोर्भिन्नत्वात्मनोव्यापारमुपासनं प्रति देहव्यापारानु-
पकारित्वादासीनेन तिष्ठता वा यथाकथंचिदनुष्ठेयानि प्रकृतान्युपासनानीत्यर्थः । अनङ्गाश्रितोपासनानां व्यापकत्वं चिदनुष्ठानमिति
पक्षमन्यु सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रश्नपूर्वकं नियामकमाह—कुत इति । संभवं वक्तुमुपासनशब्दार्थमाह—उपासनमिति ।
तथापि कथं तदासीनस्यैवेति नियम्यते, तत्राह—नचेति । तर्हि तिष्ठतो भविष्यति विक्षेपाभावात्, तत्राह—तिष्ठतोऽपीति ।
तर्हि शयानस्य देहधारणव्यापाराभावादुपासनं स्थानेत्याह—शयानश्चेति । देहेऽनवस्थिते मनोनवस्थितेरध्यक्षात्वादासीनस्यैव
सनमनुष्ठेयमिति परिशेषसिद्धमर्थमाह—आसीनस्य त्विति ॥ ७ ॥ इत्युपासनमासीनकर्मत्वाह—ध्यानाच्चेति । सूत्रं तिष्ठतो-
अपिचेति । उपास्तिध्यायत्योरेकार्थत्वेऽपि प्रकृते किं जातं तदाह—ध्यायतिश्चेति । अथ ध्यायतिर्व्यस्यं प्रयुज्यते तस्मात्
तिष्ठतोऽपि संभवति नेत्याह—आसीनश्चेति । लौकिकं लिङ्गमुपसंहरति—तस्यादिति ॥ ८ ॥ तत्रैव वैदिकं लिङ्गाह-
अचलत्वं चेति । सूत्रं विभजते—अपिचेति ॥ ९ ॥ आसनविधानानुपपत्त्याऽऽप्युपासनस्यासीनकर्मत्वेत्याह—स्मरन्तीति ।
बाह्यासनविषयत्वेन सूत्रं योजयति—स्मरन्त्यपीति । शरीरासनविधानविषयत्वेनापि तदेव योजयति—अत इति । उपासनस्य

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥



दिग्देशकालनियमो विद्यतेऽथ न विद्यते ॥ विद्यते वैदिकत्वेन कर्मत्वेत्यस्य दर्शनात् ॥ १ ॥

एकाग्रस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते ॥ मनोऽनुकूल इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥ २ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति धेति । प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादि-
नियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव
नियमः । यत्रैवात्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत
प्राचीदिकपूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात् । एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात् ।
ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—‘समे शुचौ शर्करायह्निवालुककविर्वर्जिते शब्दजलाभयादि-
भिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्’ (श्वे० २।१०) इति यथेति ।
उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः । सति त्वेतस्मिन्तद्वेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भू-
त्वाचार्य आचष्टे । ‘मनोऽनुकूले’ इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥ ११ ॥

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥



उपासीनां यावद्विष्टमावृत्तिः स्यादुत्तामृतिः ॥ उपास्त्यर्थाभिनिपत्येत्तौवद्विष्टं न तृपति ॥ १ ॥

अन्यप्रलयतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये ॥ आमुखावर्तनं न्यायं सदात्तज्ञावयवकृतम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्या

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । तेष्वेवाङ्गानाश्रितोपासनेषु प्राच्यादिदिशि तीर्थादिदेशे प्रदोषादिकाले नियमोऽस्ति न वे
भयथासंभवात्संशयः । एकविषयत्वं संगतिरुपासीनां विहितत्वाद्यागादिवदस्ति दिगादिनियम इति पूर्वपक्षः । अत्र दिगा
द्वादरः फलं सिद्धान्ते त्वनादरः । ध्येये चित्तैकाग्र्यस्य प्राधान्यात्प्राधानाक्षिप्तदेशादिप्रहणस्योचितत्वादिविवेकः । अर्थलक्ष
एवेति । ऐकाग्र्यफललक्षण एवेत्यर्थः । प्राचीनप्रवणे प्राग्देशे निग्रस्थाने वैश्वदेवं कुर्यादिति वदत्र दिगादिविशे
न श्रूयते अतोऽनुमानमप्रयोजकमिति भावः । विशेषाश्रवणमसिद्धमिति शङ्कते—ननु विशेषमपीति । शर्कराः सूक्ष्म
पाणाः । जलाश्रयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम् । चक्षुःपीडनो मशकः । वाचनिकं समवेशादिनियममज्ञौक्यं चित्तैकाग्र्यविरुद्धे
देशादिगतेषु प्राचीनप्रवणत्वादिविष्वनादर इति सुहृद्भावेन सूत्रकृदुपदिशति । देशाद्याग्रहे चित्तविक्षेपात्समाधिभङ्गः स्यात्स मा

भामतीव्याख्या

भवतीति । अतिरोहितार्थमितरत् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । समे शुचौ शर्करा
ह्निवालुकाविर्वर्जित इत्यादिवचनाभियमं सिद्धे दिग्देशादिनियममवाचनिकमपि प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेतितिवैदिकारम्भसामान्यात्
चित्कश्चिदाशङ्कते । तमनुग्रहीतुमाचार्यः सुहृद्भावेनैव तदाह स्म । यत्रैकाग्रता मनस्तत्त्वेन भावनां प्रयोजयेत् । अविशेषात् । नह
शास्ति वैश्वदेवादिवद्वचनं विशेषकं तस्मादिति ॥ ११ ॥ आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् । अधिकरणविषयं विवेचयति—

आनन्दगिरीयव्याख्या

सीनकर्मत्वादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥ अनङ्गाश्रितोपासनेष्वासननियमवदिगादिनियमोऽपि स्यादित्याशङ्क्याह—यत्रेति । अनङ्गाश्रितोपासना
विषयस्तेषु दिगादिनियमोऽस्त्युत नेति विहितेषु दिष्टादृष्टा संशयमाह—दिगिति । अङ्गोपास्त्यतिरिक्तोपास्त्यु शास्त्रीयारंभे
दिगादिनियमं विनाऽनुष्ठानक्रमचिन्तनात्प्रादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दिगादिनियमादेतेषु चित्तैकाग्र्यभङ्गतरणानुष्ठानम् । सिद्धान्ते दिगादि
ध्यास्थामावेऽपि प्रधानानुगुण्यदनुष्ठानमिलङ्गीकृत्यानुष्ठानानि नियतत्रिदेशकालानि चोदनाश्रवणत्वादेव वैश्वदेवत्याशयेन पूर्वपक्ष
यति—प्राग्देशेति । प्रदोषादिकालं प्राच्यादिदिशि तीर्थादिदेशे प्रकृतोपासनानुष्ठानमिति प्राप्तं सिद्धान्तयति—तस्मिति । चोदनादि
वशेनोक्तोपासनेषु न देशादिनियमः किन्तुप्राये चित्तैकाग्र्यलक्षणार्थाक्षिप्त एव तत्रियम इत्युक्तं विवृणोति—यत्रेति । यत्र चो
दनालक्षणत्वादित्यनुमानं तत्र श्रुतदेशादिमत्त्वमुपाधिरिति वदत्रविशेषादिति व्याचष्टे—प्राचीनेति । प्राचीनप्रवणे प्राग्देशादिदेशे
वैश्वदेवेन यागविशेषेण यजेतेत्यादिवदत्र विशेषो न श्रूयते । ऐकाग्र्यं हि ध्यानं प्रत्यन्तरङ्गं तस्मिन्मध्याह्नादावपि संभवति प्रदोषा-
पेक्षायां शेषविवादादनियम इत्यर्थः । ध्यानान्तरङ्गमैकाग्र्यमपि नियतदिगाद्यपेक्षमित्याशङ्क्य हेतोर्भांतरमाह—एकाग्रताया इति । विशे-
पाश्रवणमसिद्धमिति शङ्कते—नन्वेति । शर्कराः सूक्ष्मपापाणाः । जलाश्रयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम् । चक्षुःपीडनो मशकः । यथा वृत्ति-
सिद्धौ वितोषस्तथान्योऽपि कालादिविशेषो ध्याने स्यादित्यर्थः । वाचनिकं नियमं संख्ये दिगादिनियमनिरसनमित्याह—उच्यते इति ।
तद्वत्तेष्विति । तच्छब्देन श्रौतो विशिष्टो देशो गृह्यते तस्मिन्गता विशेषास्तु प्राचीनप्रवणादयस्तत्रियमे कदाचिदेकाग्रतायोगेनोपासनायो-
गात्प्रधानविरोधात्तदनियमः श्रेयानित्यर्थः । नियमादनियमो युक्तः श्रेयानुगुण्यादित्यत्र गुणकारमन्ममाह—इति सुहृदिति । उक्ता-
ऽपि हि श्रुतिरसाकमनुकूलेवेत्याह—मन इति ॥ ११ ॥ देशाद्यविधानात्तदपेक्षावदङ्गोपास्त्यत्वादेहभातादावृत्तेरविधानात्तदपेक्षे-

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वावर्तयेति स्थितमाद्येऽधिकरणे । तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्यु-
पासनानि ताम्यवघातादिवक्तार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम् । त्रिह्रि सस्यग्-
दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किञ्चिच्छासितुं शक्यम् । अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्र-
स्याविषयत्वात् । यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमाव-
त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति । किं तावत्प्राप्तम् । कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजे-
दावृत्तिविशिष्टयोपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्य-
यम् । अन्यप्रत्ययवशाद्दृष्टफलप्राप्तेः । कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि
तदनु रूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाल आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवावचक्का-
मति' 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति' 'प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति'
इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । तृणजलूकानिदर्शनाच्च । प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्य-
त्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन् । तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वा-
प्रायणादावृत्तिः । तथाच श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माह्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि

रत्नप्रभाष्याख्या

दिति ॥ ११ ॥ आप्रायणात् । व्यवहितेनास्य संबन्धमाह—आवृत्तिरिति । अनियोज्ये ब्रह्माण्यात्मत्वप्रतिपत्तिर्यस्य तस्य
विदुष इत्यर्थः । अहंप्रहोपासनेष्वनुष्ठानस्योभयथादृष्टेः संशयमाह—यानि पुनरिति । यथा दिगादिनियमस्याविधेरेनादरलु-
दामरणमुपास्यावृत्तेः अविधानादनियम इति पूर्वपक्षः । मरणपर्यन्तमावृत्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति । उपास्तीनां
कर्मणां चान्त्यकाले प्राप्तव्यफलस्कृतिद्वारा फलहेतुत्वे मानमाह—सविज्ञान इति । भावनामयं विज्ञानं फलस्फुरणं तेन
सहितः सविज्ञानो विज्ञानस्फुरितफलं विज्ञानमित्यर्थः । यस्मिंल्लोके चित्तं संकलोऽस्येति यच्चित्तस्तेन संकल्पितेन लोकेन सह
फलस्कृत्त्यनन्तरं मनः प्राणे लीयते इति यावत् । तेज उदानः आत्मा जीवः । जलौकादृष्टान्तश्रुतेश्च भाविकल-
स्कृतिरस्तीत्यर्थः । अस्त्वदमन्यफलं विज्ञानं कर्मणामिवाहृष्टादोपास्तीनां ततः कुत आमरणमावृत्तिरित्यत आह—प्रत्यया-

भामतीव्याख्या

तत्र यानि तावदिति । अविद्यमाननियोज्या या ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिस्तस्याः । शास्त्रं हि नियोज्यस्य कार्यरूपनियोगसंबन्धम-
वबोधयति तस्यैव कर्मण्येत्थ्यलक्षणमधिकारं तच्चैतदुभयमतीन्द्रियत्वाद्भवति शास्त्रलक्षणं प्रमाणान्तराप्राप्ये शास्त्रस्यावैक्यत्वाद्ब्रह्म-
त्मत्वप्रतीतेस्तु जीवन्मुक्तेन दृष्टत्वात्तास्तीह तिरोहितमिव किञ्चनेति किमत्र शास्त्रं करिष्यति । नन्वेवमप्यभ्युदयफलानुपासनानि
तत्र नियोज्यनियोगलक्षणस्य च कर्मणि स्वामितालक्षणस्य च संबन्धस्यातीन्द्रियत्वात्तत्र सकृत्करणेदेव शास्त्रार्थसमाप्तेः प्राप्ताया-
मुपासनपददेवनीयावृत्तिमात्रमेव कृतवत् उपरमः प्राप्तस्तावतैव कृतशस्त्रार्थत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते—सविज्ञानो भवतीत्यादिश्रु-
तेर्यत्र स्वर्गादिफलानामपि कर्मणां प्रायणकाले स्वर्गादिविज्ञानापेक्षकत्वं तत्र केव कथातीन्द्रियफलानुपासनानाम् । तानि खलु आ-
प्रायणं तत्तदुपास्यगोचरबुद्धिप्रवाहवाहितया दृष्टेनैव रूपेण प्रायणसमये तद्बुद्धिं भाविष्यन्ति । किमत्र फलवत्प्रायणसमये
बुद्धबाधेपेन नहि दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पना युक्ता । तस्मादाप्रायणं प्रवृत्ता वृत्तिरिति । तदिदमुक्तम्—प्रत्ययास्त्वेते इति ।

आनन्दगिरीव्याख्या

त्याशङ्क्याह—आ प्रायणादिति । व्यवहितेन संबन्धार्थं वृत्तं कीर्तयति—आवृत्तिरिति । संप्रति संबन्धं वदन्विषयं विवेचयति—
तत्रेति । सम्यग्ज्ञाने जातेऽपि मुख्यार्थमावृत्तिरामरणात्कार्येत्याशङ्क्याह—नहीति । नियोज्यस्याधिकारिणोऽभावामुक्तेश्च सम्यग्भी-
नान्तरीयकत्वादावृत्तिरनर्थिकेत्यर्थः । उक्तहेत्वभावादनुष्ठानस्योभयथावृष्टेरहंश्रुतादिप्राप्तौ संशयमाह—यानीति । शास्त्रीयाहंप्रहो-
सनेषु स्वतन्त्रफलहेतुषु यावज्जीवमनुष्ठानमिति चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे सर्वोपासनेष्वावृत्तेरविशेषः । सिद्धान्ते प्रकृत्यु-
विशेष इत्युपेक्ष विमृश्य पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । सर्वोपासनेष्वावृत्तौ विशेषो नेति प्राप्ते प्रकृतोपासनेष्वावरणादावृत्तिः कार्येति
सिद्धान्तमाह—एवमिति । उपास्यापरोक्ष्ये दृष्टफले सिद्धे तद्वारा दृष्टफलस्यापि सिद्धेरवघातादिवदामरणादनुष्ठानमित्याह—
अन्येति । अन्यप्रत्ययतिरेकेणैवोपासनानां फलप्राप्तियोगात् तदर्थेनावृत्तिरित्याशङ्क्याह—कर्माणीति । किमत्र प्रमाणं तदाह—
सविज्ञान इति । विज्ञानेन भोक्तव्यफलविषयभावनामयेन सहितो त्रिवमाणो भोक्ता सविज्ञानः । सविज्ञानं विज्ञानेन सति
फलम् । यस्मिन्विषये चित्तमस्य स यच्चित्तस्तेन विषयेण दृष्टमिष्यतेन सह तेज उदानस्तेजोदेवताकत्वादाला भोक्ता । त्रिवमाणस्य
भोक्तृज्ञानवत्त्वे दृष्टान्तश्रुतिरपि प्रमाणमित्याह—तृणेति । यत्राप्रत्ययात्मकानामपि कर्मणामन्यप्रत्ययाक्षेपेण फलजनकत्वं तत्र प्रत्ययात्म-
कानामुपासनानां किं वक्तव्यमित्यर्थः । तर्हि कर्मैवदृष्टद्वाराऽन्यप्रत्ययापेक्षोपासनानां स्यान्नेत्याह—प्रत्ययास्त्विति । तेषां आ-
वाहिकतया दृष्टद्वारेणाक्षेपकत्वसंभवे नादृष्टकल्पनेति भावः । सर्वभावनानां स्वावान्तरजातीयनिरपेक्षतया भावनात्मकोपासनानां न
भाववान्तरापेक्षकत्वं स्वरूपसंनिधानेनैव चादृष्टफलोपयोगितेति मत्त्वोपसंहरति—तस्मादिति । तथापि दृष्टमित्येतद्व्याचष्टे—तथाचेति ।

प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति । स्मृतिरपि—‘यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमे-
वेति कौन्तेय सदा तज्ज्ञावभावितः’ (गी० ८।६) इति ‘प्रयाणकाले मनसाऽचलेन’ (गी०
८।१०) इति च । ‘सोऽन्तवेलायामेतन्नयं प्रतिपद्येत’ इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं
श्रावयति ॥ १२ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥



ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः ॥ अनाज्ञ इति शाल्लेषु घोषाल्लेषोऽस्य विद्यते ॥ १ ॥
अकर्तृत्वमिधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते ॥ अश्लेषनाशावस्तुकावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥ २ ॥

गतस्तृतीयशेषः । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते । ब्रह्माधिगमे सति तद्विप-
रीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् । फलार्थत्वात्कर्मणः फलम-
वत्त्वा न संभाव्यते क्षयः । फलदार्ढ्यिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव
फलोपभोगमपवृज्येत श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च ‘नहि कर्म क्षीयते’ इति । नन्वेवं
सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति । नैव दोषः । प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेरुह-

रक्तप्रभाख्या

स्त्विति । उपास्तिप्रत्ययानां धारावाहिकतया स्वरूपानिष्ठतिरेवान्त्यं विज्ञानं, नत्वदृष्टद्वारकमन्यदपेक्षितं सर्वभावानामेव
स्वसमानजातीयद्वारानपेक्षतया प्रत्ययानां प्रत्ययान्तरापेक्षायोगात्, कर्मणां तु दृष्टद्वारान्त्यधीफलत्वानुपपत्तेः अदृष्टद्वारकल्पनेति
भावः । क्रतुर्ध्यानम् । उपासक एतन्नयम् ‘अक्षितमसि’ ‘अच्युतमसि’ ‘प्राणसंशितमसि’ इति मन्त्रत्रयं मरणकालेऽपि
स्मरेदित्यर्थः ॥ १२ ॥ यथोपासकानां यावज्जीवं कर्तव्यमस्ति न तथात्मविदामिति कर्मक्षयलक्षणां जीवन्मुक्तिमाह—
तदधिगम इति । ज्ञानसाधनेषु फलाधिक्यार्थं फलाभ्यायेऽपि साधनविचारः कृतः, संप्रति फलाभ्यायस्था फलचिन्ता
क्रियत इत्याह—गत इति । कर्मणां फलान्तत्वात्तज्ज्ञाननाशयत्वशास्त्राच्च संशयः, पूर्वपक्षे ज्ञानिनोऽपि संवितपापभोगा-
नन्तरं मुक्तिः, सिद्धान्ते तु ज्ञानसमकालं पापनाशाजीवन्मुक्तिरिति फलम् । न हि स्यादित्यादिनिषेधश्रुत्या दुरितादृष्टस्य
दुःखदायिनी शक्तिरधिगता ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म’ इति च स्मरन्ति । अतः फलान्तमेव पापं न मध्ये नश्यतीति पूर्वपक्षः ।
ननु तर्हि तन्नाशार्थं प्रायश्चित्तविधिर्न स्यादिति चेत् । न । यथा आहिताग्नेरुद्वाहे निमित्ते सति ‘अग्नये क्षामवते पुरोडाश-
मष्टाकपालं निर्वपेत्’ इति इष्टिविधिस्तद्वद्गोपे निमित्तमात्रे सति प्रायश्चित्तविधेर्दोषनाशार्थत्वासिद्धेः । ननु विषम उपन्यासः,

भामतीव्याख्या

तथाच श्रुतिः सर्वातीन्द्रियविषया—‘स यथाक्रतुरमाल्लोकान्’ इति तावत्क्रतुर्द्वारं लोकं प्रेत्याभिर्ममवति’ इति । क्रतुः
संकल्पविशेषः । स्मृतयश्चोदाहृता इति ॥ १२ ॥ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।
गतस्तृतीयशेषः साधनगोचरो विचारः । इदानीमेतदध्यायगतफलविषया चिन्ता प्रतन्यते । तत्र तावत्प्रथममिदं विचार्यते किं
ब्रह्माधिगमे ब्रह्मज्ञाने सति ब्रह्मज्ञानफलान्मोक्षाद्विपरीतफलं दुरितं बन्धनफलं क्षीयते न क्षीयते इति संशयः । किं तावत्प्राप्तं,
शास्त्रेण हि फलाय यद्विहितं प्रतिषिद्धं चानर्थपरिहारायाश्चमेषादि ब्रह्महत्यादि चापूसावान्तरव्यापारं किं तदपूर्वमुपरतेऽपि कर्म-

आनन्दगिरिव्याख्या

उपासकः सर्वनामार्थः । क्रतुः संकल्पविशेषः । अस्माल्लोकान् इति यावत् । स्मार्तदर्शनमाश्रित्यापि गुत्रान-
यं यं योजयति—स्मृतिरिति । तत्रैव श्रौतदर्शनान्तरमाह—सोऽन्तेति । पूर्ववदुपासकः संवेनाशोक्तः । अक्षितमस्यच्युतमसि
प्राणसंशितमसीति मन्त्रत्रयं स्मरेदित्यनुष्ठेयं मरणकालेपि दर्शयन्ती श्रुतिविज्ञानावृत्तिं सूचयन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥ यथोपासकानां
कर्तव्यमस्ति न तथा ब्रह्मविद्यायां कर्तव्यं किंचिदप्यस्ति तदुपपत्तिमात्रेणाप्युपासक्यादित्याह—तदधिगम इति । साधनानुष्ठाने
यत्नाधिक्यार्थं फलाभ्यायेऽपि साधनसंबद्धमनुष्ठानक्रमं विचार्य फलाभ्यायस्थां फलचिन्तामेवावतारयति—गत इति । दुरितमधिकृत्य
तस्य फलावसानत्वप्रतीतेर्ज्ञानात्क्षयप्रतीतिश्च संशयमाह—ब्रह्मेति । तद्विपरीतफलं बन्धनसाधनमित्यर्थः । अत्र साक्षादेव श्रौतब्रह्मा-
मयिषो दुरितक्षयफलोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दुरितफलभोगमपेक्ष्य ब्रह्मविद्यो मोक्षहेतुत्वम् । सिद्धान्तं स्मृत्युक्तिनान्तरिय-
त्वेन तस्यास्तद्धेतुत्वमित्युक्त्या प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । फलनाशत्वाददृष्टस्य फलदानं विना नाशो नास्तीत्यर्थः । फला-
न्तत्वं कर्मस्य सिद्धं, तत्राह—फलेति । ‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ ‘न कलत्रं भक्षयेत्’ इत्यादिनिषेधानुपपत्त्या दुरितस्यानिष्टकलत्वं
सिद्धमित्यर्थः । उक्तमेव स्फोरयति—यदीति । तदित्यनिष्टकर्मोक्तिः । ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि’ इतिरग्रेणैव फल-
गोपं विना न नाशो दुरितस्येत्याह—स्मरन्तीति । भोगादृते कर्म न क्षीयते चेत्प्रायश्चित्तविधानसंबन्धमिति शङ्कते—नन्वेति ।
विधीनां दोषनिर्हेरणार्थत्वाभावात्तन्मैवमित्याह—नेति । यथा यस्याहिताग्नेरुद्वाहे निमित्ते प्राप्ते गृहदाहवत्यादिनामावधिकारिणि ‘अ-

दाहेष्ट्यादिवत् । अपिच प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता न त्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति । नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यमोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात् । नेत्युच्यते । देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवष्यति । तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरध-योरन्तरेष्विनाशौ भवतः उत्तरस्यान्तरेः पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् । तद्व्यपदेशात् । तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो व्यपदि-शति—‘यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते’ (छा० ४।१४।३) इति । तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—‘तद्यथेपीकातुलमग्नौ प्रोतं प्रदूयतेवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते’ (छा० ५।२४।३) इति । अयमपरः कर्मक्षयव्यप-वेशो भवति—‘भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हे पराचरे’ (मु० २।२।८) इति । यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति । नैष दोषः । नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे विद्यत एव सा सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः । शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रि-यते न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि । नहि कर्म क्षीयत इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं न भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति । इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना तस्य क्षयः ‘सर्वे पाप्मानं तरति’

रत्नप्रसाध्याख्या

युक्तं गृहदाहस्य सिद्धत्वादयोग्यत्वाच्चाफलतया निमित्तमात्रत्वं दोषवान्प्रायश्चित्तं कुर्यादित्यत्र तु मलिनः स्नायादितिवहो-षपदस्य निवृत्तिद्वारा फलपरत्वसंभवात् ‘तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते’ इति प्रायश्चित्तात्पापनिवृत्तिश्रुतेः श्रुतं प्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकत्वमित्यत आह—अपिचेति । ज्ञानस्य दोषनाशार्थतया विधानं नास्ति ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि’ इत्यादिज्ञानस्तावकमात्रत्वादित्यर्थः । कर्मभोगानन्तरं देशकालान्तरे मोक्षो भविष्यति शास्त्रप्राप्त्यादित्याह—नेत्यु-च्यत इति । ज्ञानात्कर्मक्षयस्यापूर्वत्वान्मानान्तरविरुद्धत्वाच्च तत्परानेकवाक्यानां स्तावकत्वायोगात्तस्यास्तित्वमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । पापक्रियातोऽपूर्वानुत्पत्तिरक्षेपः । सगुणब्रह्मविद्यायां व्यपदेशमुक्त्वा निर्गुणायां तमाह—अयमपर इति । परोक्तं दूषयति—यदुक्तमित्यादिना । विधिनिषेधशास्त्रं ‘नाभुक्तं क्षीयते’ इत्यादि, स्मृतिश्च कर्मणः

आमतीत्याख्या

प्यत्र सुखदुःखोपभोगात्प्राज्ञाविरन्तुमर्हति । स हि तस्य विनाशहेतुस्तदभावे कथं विनश्येदिति । तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गाद् शास्त्रव्याकोपचेति । अदत्तफलं चेत्कर्मापूर्वं विनश्यति कर्मण एव फलप्रसवसामर्थ्यबोधकशास्त्रमप्रमाणं भवेत् । नच प्रायश्चित्त-मिव ब्रह्मज्ञानमदत्तफलान्यपि कर्मापूर्वाणि शिणोतीति साम्प्रतम् । प्रायश्चित्तानामपि तदप्रक्षयहेतुत्वात् तद्विधानस्य चैनसिनराधि-कारिप्राप्तिमात्रेणोपपत्ताउपात्तदुरितनिवर्हणफलाक्षेपकत्वायोगात् । अत एव स्मरन्ति नाभुक्तं क्षीयते कर्मेति । यदि पुनरोपेक्षितोपा-

आनन्दगिरीयव्याख्या

भये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्बपेत्’ इति क्षामवतीष्टिविधीयते तथा पापसंबन्धनि नरे प्राप्ते ‘ब्रह्महा द्वादशवार्षिकं चरेत्’ इत्यादिप्रायश्चित्तानि विधीयन्ते । तस्माद्ब्रह्महेत्यादिविशेषणमधिकारिव्यावृत्तिपरं न फलपरमित्यर्थः । गृहदाहेष्ट्यादिवदित्यादिपदेन भिन्ने जुहोति स्क्वे जुहोतीत्यादिनैमित्तिकग्रहणं युक्तम् । गृहदाहादेर्निष्पन्नत्वेन निष्पादयितुमशक्यत्वादधिकारिव्यावृत्त्यर्थः दुरि-तनिवृत्तस्तु कर्तुं योग्यत्वादिष्टसाधनत्वबोधी प्रायश्चित्तविधिस्तत्फलः स्यादित्याशङ्क्य प्रायश्चित्तानां दोषनिवृत्तिफलत्वमुपैत्य प्रकृते वैष-म्यमाह—अपिचेति । मोक्षशास्त्रप्राप्त्यानुपपत्त्या विषया दुरितनिवृत्तिरिष्टव्येति शङ्कते—नन्विदिति । दुरितफलभोगानन्तरं शास्त्रा-माण्यादेव मोक्षसिद्धेर्न तच्छास्त्रविरोधोऽस्तीत्याह—नेतीति । ब्रह्मज्ञानस्य प्रायश्चित्तेभ्यो वैषम्ये दुरितानिवर्तकत्वेऽपि मोक्षशास्त्रा-विरोधे च फलितमाह—तस्माच्चेति । न ब्रह्मविद्या दुरितनिवर्हणहेतुरिति प्राप्तमनुष्य सिद्धान्तप्रवृत्तवर्तके प्रतिष्ठां व्याकरोति—एवमिति । विभागहेतुं प्रश्नपूर्वकमादत्ते—कस्मादिति । उत्तराक्षेपविषयत्वेन हेतुं व्याचष्टे—तथाहीति । निषिद्धानाचरणान्नं दुरिताक्षेपवचनमिति शङ्कानिरासार्थं विशिनष्टि—संभाव्यमानेति । पूर्वस्य कर्मणो नाशेपि हेतुं योजयति—तथेति । सगुणविद्याया-मक्षेपविनाशवचनमुदाहृत्य निर्गुणविद्यायामुदाहरति—अयमिति । कर्मैषवस्यापि तत्क्षयवचनमुपलक्षणम् । एवं सिद्धान्तमुपपन्नं परोक्तमनुवदति—यदुक्तमिति । ज्ञानात्कर्मदाहादिपक्षे शास्त्रविरोधं प्रत्याह—नेत्यादिना । कर्मणो नास्ति फलदाने शक्तिरिति साधने वा शास्त्रविरोधः सत्यामेव तस्यां भोगं विना तन्निवृत्तिसाधने वेति विकल्प्याच्च दूषयति—नहीति । द्वितीयं प्रत्याह—सा र्व्विति । कथं तर्हि शास्त्रविरोधसममधिः, तत्राह—शक्तीति । यत्तु ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म’ इत्यादिरष्ट्येन भोगादृते कर्मक्षये-ऽस्तीति, तत्राह—नहीति । अपवादस्ताहि केनोत्सर्गस्य स्यादिति, तत्राह—इष्यत इति । आदिशब्देन पूर्वव प्र-

‘तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद’ इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः । यत्फलं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति । तदसत् । दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः । यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तबोधोपक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति । अत्र ब्रूमः—सगुणानु तावद्विद्यासु विद्यत एष विधानम् । तासु च वाक्यदोष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते तयोश्चाविवक्षकारणं नास्तीत्यतः पाप्मग्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते । निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्तत्कर्मप्रदाहसिद्धिः । अश्लेष इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति । अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तावपि प्रविलीयन्त इत्याह विनाश इति । पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि

रत्नप्रभाष्याख्यम्

फलशक्तौ प्रमाणमतः सत्त्वस्यापि कुतश्चिन्नाशाश्रीकारेण शास्त्रविरोध इत्यर्थः । तत्त्वज्ञानमात्मन्यशेषकुरितनाशकं तन्मूलाभ्यासबाधकत्वात्सप्रसुरितमूलकर्तृत्वाभ्यासबाधकजाप्रद्वोधवदित्याह—तथाप्यकर्त्रात्मयोधादिति । ध्रुताथमेव युच्यता प्रथयति—अश्रेय इति चेति । मूलाभ्यासानुत्पत्तेः पापस्याश्लेषः, तन्नाशास्तद्विनाश इत्यर्थः । अभ्यासाभावे विद्वदनुभ-

भामतीय्याख्या

तात्मा प्रायश्चित्तविधिर्न नियोज्यविशेषप्रतिष्ठभ्रमात्रेण निर्जुनेतीत्यपेक्षिताकाङ्क्षायां दोषसंयोगेन श्रवणात्तत्तिर्हण्यफलः कल्पेत । तथापि ब्रह्मज्ञानस्य तत्संयोगेनाश्रवणाच्च दुरितनिर्बहणसामर्थ्ये प्रमाणमस्ति मोक्षवत् । तस्यापि स्वर्गादिकल्पवद्देशकालनिमित्तापेक्षोपपत्तेः । शास्त्रप्रामाण्यात्संभविष्यत्साववस्था यस्याप्युपभोगेन समस्तकर्मश्रये ब्रह्मज्ञानं मोक्षं प्रसोष्यति । योगदर्शने वा दिवि भुव्यन्तरिद्वे बहूनि शरीरेन्द्रियाणि निर्माय फलान्युपभुञ्ज्यर्द्धेन योगसामर्थ्येन योगी कर्माणि श्रपयित्वा मोक्षी संपत्स्यते । स्थिते चैत-
स्मिन्नर्थे न्यायबलाद्यथा पुष्करपलाश इत्यादिव्यपदेशो ब्रह्मविद्यास्तुतिमात्रपरतया व्याख्येय इति प्राप्त उच्यते—व्याख्यायैतैव
व्यपदेशो यदि कर्मविधिविरोधः स्याच्च त्वयमस्ति । शास्त्रं हि फलोत्पादनसामर्थ्यमात्रं कर्मणामवगमयति न तु कुतश्चिदागन्तु-
काक्षिमित्ततः प्रायश्चित्तादेस्तदप्रतिबन्धमपि । तस्य तत्रौदासीन्यात् । यदि शास्त्रवैधित्यफलप्रसवसामर्थ्यमप्रतिबद्धमागन्तुकेन केन-
चित् कर्मणा ततस्तत्फलं प्रसूत एवेति न शास्त्रव्याघातः । नाभुक्तं कर्म क्षीयत इति च स्मरणमप्रतिबद्धसामर्थ्यकर्ममिप्रायम् ।
दोषश्रयोद्देशेन चापरविद्यानामस्ति प्रायश्चित्तवद्विधानमैश्वर्यफलानामप्युभयसंयोगाविशेषात् । यथापि निर्गुणायां परविद्यायां दोषो-
द्देशो नास्ति तत्रापि तत्स्वभावालोचनादव तत्पश्यप्रसवसामर्थ्यमवसीयते । नहि तत्त्वमसिवाकार्यपरिभवनभुवा प्रसरूपाजेन
निर्मृष्टनिखिलकर्तृभोक्तृत्वादिविभ्रमो जीवः फलोपभोगेन युज्यते । नहि रज्ज्वां भुजङ्गसारोपनिबन्धना भयकम्पादयः सति रज्जु-
तत्त्वसाक्षात्कारे प्रभवति, किंतु संस्कारशेषार्त्तिकचित्कालमनुवृत्ता अपि निवर्तते एव । अमुमेवार्थमनुवृत्ततो यथा पुष्करपलाश
इत्यादयो व्यपदेशाः समवेतार्थाः सन्तो न स्तुतिमात्रतया कश्चिद्व्याख्यानमर्हति । ननुक्तं संभविष्यति सावस्था जीवात्मनो
यस्यां पर्यायेणोपभोगाद्वा योगर्द्धः प्रभावतो युगपन्नैकविधकायनिर्माणेनापर्यायेणोपभोगाद्वा जन्तुः कर्माणि श्रपयित्वा मोक्षी भंगमयत
इत्यत आह—एवमेव च मोक्ष उपपद्यत इति । अनादिकालप्रवृत्ता हि कर्माणिना अनित्यकालविपाकाः क्रमवता तावद्भोगेन

आनन्दगिरीयव्याख्या

विशेष्यते। ‘हानिनः सर्वपापानि शीर्यन्ते नात्र संशयः। क्रीडन्नपि न जिव्येन पापैर्नानाविधैरपि’ इत्याद्याः गृह्यतः। प्रायश्चित्तानां न पापक्षयेहेतुत्वं गृहादाहेत्यादिव्रैमित्तिकत्वेन फलान्तरयोगादित्युक्तमनुवदति—**यस्त्विति**। यथा मन्थिनः स्नायादिभिर्युक्तं भोजनफलं मलनिवृत्तिगन्ध्यते तथा ब्रह्मा दादशवार्षिकं व्रतं चरेदित्युक्ते ब्रह्महत्यानिवृत्तिव्रतफलं प्रतीयते तेन दृष्ट्यामेतादृश्यकल्पना न युकेत्याह—**तदसद्विति**। प्रायश्चित्तानां पापनिवृत्तिकल्लेखेऽपि विषया न तथात्वं तद्वञ्जित्युद्देशेन तस्या विश्वभावादित्युक्तम्—**मुद्रवति—यदिति**। दोषप्रत्योद्देशेन सगुणविधासु वा विषयभावो निर्गुणविधायां वेति विकल्पयति—**अत्रेति**। प्रथमं प्राह—**सगुणास्त्विति**। तासां वैश्वफलत्वाच्च पापप्रत्योद्देशेन विधिरीत्याद्यङ्गाह—**तास्त्विति**। विधिमित्तविचारतुर्विधं पाप्मादिनिवृत्ति-
क्षतिरीत्याद्यङ्गाह—**तयोश्चेति**। उभयसंयोगित्वेन विधाविधिंसंभवादिलब्धं। पाप्मदाहार्दिष्टेन स्तुत्यर्थेनाभावे पाल्निमाह—**अत इति**। द्वितीये विश्वभावनुसंगे विधास्त्वभावादेव पापक्षयफलत्वाह—**निर्गुणासां त्विति**। निवृत्तभावात्मन्येवोद्देशेन निवृत्तिवर्तकं उचितकर्तृत्वादिबाधकत्वात्प्रमुद्रितकर्तृत्वादिबाधकतया तत्कालीनदुरितबाधकाग्रदोषवधिति भावः। संबन्धादि दुरितनिवर्तकरय
उचितकर्तृत्वादिबाधकत्वात्प्रमुद्रितकर्तृत्वादिबाधकतया तत्कालीनदुरितबाधकाग्रदोषवधिति भावः। संबन्धादि दुरितनिवर्तकरय
क्रियत्वादाहाच्छेषविभागोक्तिर्युक्तेत्याह द्वाशाश्रेतोकेर्गीतमाह—**अश्रेष्ठ इति**। सर्वमपि व्यापारं कार्यकरणमघाताश्रयं पश्यन्ब्रि-
जेत्यन्वत्तामसदीर्घकृत्यैव स्वयं न मन्यते। नच परकृत्यपणेन लिख्यते स्वयमित्यर्थः। विधौपसेरूपं कर्तृत्वभिमाना-
भावेऽपि प्राग्भावात्कार्यं कर्मनिमित्तादिसाध्यं दाहोक्तिरुपपन्नयति—**अतिक्रांतेष्त्विति**। विधाधीनं कर्मेनाद्यं विधावरमुत्सवा-

मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव । अपिच नैवात्र विधेः-
तत्त्वं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति । कथं होकस्य स्वहृदयप्रत्ययं
ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत । श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव
निरुच्यते । तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥



नश्यन्नो वाग्निहोत्रादि निष्कं कर्म विनश्यति ॥ यतोऽयं वस्तुमाहिमा न कश्चित्प्रतिहन्यते ॥ १ ॥

अनुषक्तकलांशस्य नाशोऽप्यन्यो न नश्यति ॥ विद्यायामुपयुक्तत्वाद्वाक्यरूपेण कर्मवत् ॥ २ ॥

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिविष्टः सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रति-
वक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति । तुशब्द आशङ्कामपनुदति यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि
तत्तत्कार्यायैव भवति ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः । कुतः—‘तमेतं वेदानुवच-
नेन ब्राह्मणा चिविदिषन्ति यज्ञेन दानेन’ (बृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात् । ननु ज्ञानकर्मणो-

रत्नप्रभाव्याख्या

शिष्यान्प्रति जीवन्मुक्तौ स्त्वानुभवमाह—अपिच नैवेति ॥ १५ ॥ अग्निहोत्रादि तु । नित्यं नैमित्तिकं कर्म ज्ञाना-
नश्यति न वेति संदेहे उभे पुण्यपापे तरतीत्यविशेषश्रुतेर्नश्यतीत्याशङ्क्योत्तरस्याऽपीत्युक्तातिदेशस्य नित्याद्यतिरिक्तकाम्य-
पुण्यविषयत्वेनात्रापवादो सिद्धान्तयति—**पुण्यस्येत्यादिना** । अत्र पूर्वपक्षे ज्ञानार्थं नित्यायनुष्ठानार्गादिः पङ्कशालनस्यायात्,
मिद्धान्ते तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्तन्मिदिरिति विवेकः । अत्र भाष्ये ज्ञानकर्मणोः शास्त्रादिकार्यत्वं परमतेनोक्त्या साक्षात्पारम्प-
र्याभ्यां मोक्षहेतुत्वं स्वमतमुक्तमिति मन्तव्यम् । अत एवेति ज्ञानादुभे कर्माभावात्पूर्वकर्मविषयमित्यर्थः । निर्गुणविद्यायाः

भामतीव्याख्या

तान् प्रत्याह—अपिच नैवात्र विवदितव्यमिति । स्थितप्रज्ञश्च न साधकस्तस्योत्तरोत्तरप्राप्त्यनोन्मेषेण पूर्वप्रत्ययानवस्थित-
त्वात् । निरतिशयस्तु स्थितप्रज्ञः । स च सिद्ध एव । नच ज्ञानकार्या भयकम्पादयः, ज्ञानमापादनुपादात् । सर्पावच्छेदो
हि तस्य भयकम्पादिहेतुः । स चास्य निर्वचनीय इति कुतो वस्तुमतः कार्योपादः । नच कार्यमपि भयकम्पादि वस्तुम् ।
तस्यापि विचारसहस्रैर्नानिर्वच्यतात् । अनिर्वच्यत्वाच्चानिर्वच्योत्पत्ता नानुपपत्तिः । यादृशो हि यज्ञस्तादृशो बलिरिति सर्ववदातम्
॥ १५ ॥ **अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥** यदि पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशो हन्त नित्यमप्यग्निहोत्रादि न कर्तव्यं
योगमाश्रुषुणा । तस्यापीतरपुण्यवद्विषया विनाशान् । प्रक्षालनादि पङ्कस्य द्वादशदर्शनं वरमिति न्यायान् । नच विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेनेति मोक्षलक्षणैककार्यतया विद्याकर्मणोरविरोधः । सहामभवेनैककार्यत्वाभवात् । नन्वतमाभानं निरुद्धो विगलि-
ताखिलकर्तृभोक्तृत्वादिप्रपञ्चविभ्रमस्य पूर्वोत्तरे नित्ये क्रियान्न्ये पुण्यं सभवतः । तस्माद्विविदिषन्ति यज्ञेनेति वर्तमानापदेशो
ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञादीनां वा स्तुतिमात्रं न तु मोक्षमाणस्य मुक्तिसाधनं यज्ञादिविधिरिति प्राप्त उच्यते—सत्यं न विषयैककार्यत्वं
कर्मणां परस्परविरोधेन सहासंभवात् । विशेषादकतया तु कर्मणामारादृष्टकारकाणामस्तु मोक्षोपयोगः । नच कर्मणां विषया विरुध्य-
मानानां न विद्याकारणत्वं, स्वकारणविरोधिनां कार्याणां बहुलमुपलब्धेः । तथाच विशालश्रृणकार्योपायतया कार्यविनाशयाना-
मपि कर्मणामुपादानमर्थवत् । तदभावे तत्कार्यस्यानुत्पादेन मोक्षस्यासंभवात् । एवंच विविदिषन्ति यज्ञेनेति यज्ञमाधनस्य विद्याया
अपूर्वमर्थं प्रापयतः पञ्चमकारस्य नात्यन्तपरोक्षवृत्तितया ज्ञानस्तुत्यर्थतया कथंचिद्व्याख्यानां भविष्यति । तदनुगाममपिनोक्तं

आनन्दगिरीयव्याख्या

जीवन्मुक्तिमुक्त्वा शिष्यान्प्रत्याह—अपिचेति । जीवन्मुक्तिः सप्तम्यर्थः । विवादायोगे हेतुमाह—**कथं हीति** । प्रमाणवत्त्वादपि
जीवन्मुक्तिः स्वीकार्येत्याह—**श्रुतीति** । उक्तमुत्सर्गापवादमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १५ ॥ नित्यान्वयकर्मद्वयस्यारभ्यकर्मभेदवाच-
सुक्त्वाऽनारब्धकर्मस्वपि केतुचित्तदपवादं दर्शयति—**अग्निहोत्रादीति** । दृष्टमन्तीनेनपूर्वकर्मधिकरणस्य तापयर्थमाह—**पुण्यस्येति** ।
अग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिककर्मणि विषयः । तेषामितरवज्ज्ञानेनारंभविनाशो स्यात् न वेति मांयारणश्रुतीर्विदिराश्रुतेष्व भगवत् **मुहु-**
तशब्दस्य सर्वपुण्यविषयत्वादग्निहोत्रादीनामपि पुण्यान्तरवदिनाशयत्वात्पङ्कशालनस्यायापानादादृष्टुणादि तानि नानुष्ठेयानीनि प्रापय-
सिद्धान्तयति—**इत्याशङ्क्येति** । अत्र च भ्रमविद्यासामर्थ्यात् नित्यनैमित्तिकनिर्गुणत्वेणां तदुत्पत्त्यर्थत्वादिन्यापवादिशो पादादि-
संगतिः । पूर्वपक्षे लौकिकन्यायादादृष्टोपरि नित्यायनुष्ठानम । सिद्धान्ते तदनवनारादपूर्वं ज्ञानोत्पत्त्येनानुष्ठानभोग्यामित्यादिप्रत्य-
यस्य व्याचष्टे—**तुशब्द इति** । धोनाश्यानामपि कर्मणामनुष्ठानस्य विशेषव्यर्थत्वेनाप पङ्कशालनस्यायानवकाशात्पूर्वं ज्ञानादनुष्ठेया-
व्यभिहोत्रादीनीति सिद्धान्तप्रतिज्ञां विभूतेति—**यदेति** । अग्निहोत्राणनुष्ठानस्य विशेषव्यर्थत्वे प्रमाणं पृच्छन्ति—**कुत इति** । तत्र
विविदिषावाक्यं प्रमाणयति—**तमेतमिति** । कर्मणां विशेषव्यर्थत्वेऽपि न तथैककार्यतयेति शङ्कते—**नन्वेति** । परमतेन परिह-

र्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः । नैष दोषः । ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडम-
न्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात् । तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः । नन्वना-
रभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते । नैष दोषः । आरादुपकारकत्वात्कर्मणः । ज्ञानस्यैव
हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते । अत एव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यै-
कत्वाभिधानम् । नहि ब्रह्मविद् आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति । अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रति-
पत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेः संभवत्यागाम्यप्यग्नि-
होत्रादि । तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः ॥ १६ ॥ किंविषयं
पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दाय-
मुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति । अत उत्तरं पठति—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एव
विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति । तस्या एव चेदमघवद-
श्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति । तथाजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्य-
नुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिवादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥



किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत ॥ केवलं वा प्रशस्तत्वात्सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥ १ ॥

केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् ॥ इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥ २ ॥

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपा-
त्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन
ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति । तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गव्यापश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति । 'य
एवं विद्वान्यजति' 'य एवं विद्वान्जुहोति' 'य एवं विद्वान्छंसति' 'य एवं विद्वान्गायति' 'तस्मादेवं-
विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४।१।७।१०) 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद'

रत्नप्रभाष्याख्या

कर्मसाहित्यं तृप्तिं प्रति भोजनस्य लाङ्गलेनेव दर्शितं, संप्रति सगुणविद्यापरत्वेन सूत्रस्याञ्जस्यमाह—सगुणास्त्विति ॥ १९ ॥
उत्तरसूत्रार्थं गृह्णाति—किमित्यादिना । यत्प्रारब्धादन्यत्कार्यं पुण्यं पापं च तदेव विद्वत्सुहृद्विषयोः स्वसमानज-
तीयं कर्म जनयति स्वयं च ज्ञानात्रयतीति भावः ॥ १७ ॥ यदेव विद्ययेति हि । उक्तनित्यादिकं विषयमुपजीव्य संबन्ध-

भासतीत्याख्या

—ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते । यत एव न विद्योदयसमये कर्मास्ति नापि
परस्तादपि तु प्रवेष्टव्यं विद्याया अत एव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम् । एतदेव स्फोरयति—नहि ब्रह्म-
विद् इति ॥ १६ ॥ सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति—किंविषयं पुनरिदमिति । अस्योत्तरं सूत्रम्—अतोऽन्यापि
ह्येकेषामुभयोः । काम्यकर्मविषयमश्लेषविनाशवचनं शास्त्रान्तरीयवचनं च तस्य पुत्रा दायमुपयन्तीति ॥ १७ ॥ यदेव
विद्ययेति हि । अस्ति विद्यासंयुक्तं यज्ञादि य एवं विद्वान्जेतेत्यादिकम् । अस्ति च केवलम् । तत्र यथा ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्याद-

आनन्दगिरीयव्याख्या

रति—नेत्यादिना । स्वमतं दर्शयितुं शङ्कयति—नन्विति । स्वमतेन समाधत्ते—नेत्यादिना । आरादुपकारकत्वं स्फोरयति
—ज्ञानस्येति । किंविषयमिदं कार्यैकत्ववचनं तदाह—अत इति । यतो विद्याकाले परस्तादा कर्म नास्ति प्रागेव तदस्ति-
स्वमत एवेति यावत् । धीकाले परस्तादा कर्मासत्त्वं स्फुटयति—नहीति । निर्गुणविद्याविषयत्वं सूत्रस्योपेत्य लाङ्गलभोजनयोर्जी-
वनहेतुतावद्दीकर्मणोः साक्षात्पारम्पर्याभ्यां मोक्षहेतुत्वमुक्तम् । संप्रति सगुणविद्याविषयत्वं सूत्रस्य सामञ्जस्यमभिप्रेत्याह—सगुणा-
स्त्विति । तथापि तस्य कुतो विद्यासंगतिः, तत्राह—तस्यापीति । सगुणविद्याफले नित्यकर्मणां साक्षादुपयोगाभिप्रायमिदं सूत्रमि-
त्यर्थः ॥ १६ ॥ सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति—किमिति । काम्यकर्मविषयं वचनद्वयमिति सूत्रमवतारयति—अत इति । तदङ्ग-
राणि व्याकरोति—अत इत्यादिना । उक्तेऽर्थे दाढ्यार्थमाचार्यान्तरसंबादं दर्शयति—तथेति ॥ १७ ॥ पूर्वोक्ताग्निहोत्रादिष्वेव
ज्ञावचनोपास्तिसाहित्यानिर्णयं निरूपयति—यदेवेति । वृत्तं कीर्तयति—समधिगतमिति । विचारविषयं दर्शयति—तत्रेति । अ-
संविद्यासंयुक्तत्वे प्रमाणमाह—य एवमिति । नित्यमग्निहोत्रादिकर्म विषयीकृत्य संशयमाह—तत्रेदमिति । प्रश्नपूर्वकं संशय-

(छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलमप्यस्ति । तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणति । कुतः—संशयः—‘तमेतमात्मानं यक्षेन विविदिषन्ति’ इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात् । विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात् । किं तावत्प्राप्तं विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते न विद्याहीनम् । विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात् । ‘यद्दहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । ‘बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि’ (गी० २।३९) ‘दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय’ (गी० २।४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—यदेव विद्ययेति हि । सत्यमेतत् । विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनब्राह्मणात् । तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम् । कस्मात्—‘तमेतमात्मानं यक्षेन विविदिषन्ति’ इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात् । ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम् । नैतदेवम् । विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम् । न तु ‘यक्षेन विविदिषन्ति’ इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् । तथाहि श्रुतिः—‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ (छा० १।१।१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं वृथाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति । कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तद्यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम् । तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासान्मर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं

रत्नप्रभाध्याख्या

अंशयमुक्ता पूर्वपक्षमाह—विद्यासंयुक्तमेवेति । अत्र पूर्वपक्षे कर्माग्निहोत्रादिहीनकर्मणो ज्ञानार्थत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तस्मिन्नेति भेदः । भवतु विद्याविशिष्टस्य कर्मणो ज्ञानं प्रति शीघ्रकारित्वाह्वयः कश्चिदतिशयो विद्यासामर्थ्यात् । नैतावता केवलस्य वैयर्थ्यं विविदिषाश्रुतिविरोधात् । नच तत्र श्रुतां यज्ञादिशब्दानां विद्योपेतकमपरतया संकोचो युक्तः । हि

भामतीध्याख्या

युक्तं विदुषे ब्राह्मणाय दद्यात् ब्राह्मणवृत्ताय मूर्त्ययेति विशेषप्रतिबन्धः तत्कस्य हेतोस्तस्यातिशयवत्त्वात् । एवं विद्यारहितायज्ञादेर्विद्यासहितमतिशयवदिति तस्यैव परविद्यासाधनत्वमुपात्तदुरितक्षयद्वारा नेतरस्य । तस्माद्विविदिषति यज्ञेनेत्यतिशयप्रयुक्तमपि विद्यासहितं यज्ञादावुपसंहर्तव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते—यदेव विद्यया करोति तदेवास्य वीर्यवत्तरमिति तत्त्ववैयर्थ्यादविद्यारहितस्य वीर्यवत्तामात्रमवगम्यते । नच सर्वथाऽकिंचित्करस्य तदुपपत्त्यं । तस्मादस्यस्यापि कयापि भावया परविद्योपादोपयोग इति विद्यार-

आनन्दगिरीयव्याख्या

कारणमाह—कुत इति । श्रोतब्रह्मधीहेतुतया प्रकृतमित्यकर्मस्वज्ञाश्रितविद्यासंयोगानियमवादादत्र प्राप्तजिगीषा पादादिमंगलिः । पूर्वपक्षे केवलकर्मणो मोक्षान्वयासिद्धिः । सिद्धान्ते तस्यापि पारम्पर्यात्तस्मिन्निहितमत्वा विद्युत्त्वं पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति । अविशेषतो यक्षेनेत्यादिश्रुतेरुभयस्यापि कर्मणो विद्याङ्गत्वेत्याशङ्क्य ब्राह्मणाय दद्यादित्युक्तं विदुषो न नदीनायेति विशेषलाभवद्विद्यापत्त्याह—नेत्यादिना । विद्यासहितस्य कर्मणो वैशिष्ट्ये मानमाह—यद्दहरिति । श्रोतवैयर्थ्यात् मृगमिमुक्तव्यति—बुद्धयेति । केवलस्याग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वाभावात्तन्मोक्षान्वयो नेति प्राप्तमनूय सिद्धान्तयानं—एवमिति । किं विद्यायुक्तस्य कर्मणो विद्याहीनादन्तरङ्गत्वमुच्यते किंवा केवलं कर्म विद्याहेतुत्वेन नेति । तत्राद्यमङ्गीकरोति—सत्यमिति । द्वितीयं दूषयति—तथापीति । तत्र प्रश्नपूर्वकं श्रुतिविरोधं हेतुमाह—कस्यादिति । उक्तमर्थमाक्षेपसमाधिभ्यां साधयति—नन्वित्यादिना । केवलस्य कर्मणो विद्यासंयुक्तत्वं किं न स्यात्, तत्राह—न त्विति । विविदिषन्ति यक्षेनेत्यतिशयप्रयुक्तमपि विद्यामदिये यज्ञादावुपसंहर्तव्यमित्याशङ्क्य त्रया केवलस्यापि कर्मणो वीर्यवत्त्वाभ्यनुपगानामैवमिति सूत्रव्याख्यापूर्वकमाह—तथाहीनि । वीर्यवत्त्वप्रतीतिरपि कुतो विद्यासाधनत्वमित्याशङ्क्याकिंचित्करस्य वीर्यवत्त्वायोगादित्याह—कर्मणश्चेति । कर्मणां पारम्पर्येन मोक्षान्वये दर्शयितुमुपपन्नमिति—तस्मान्न त्विति । विद्युरादेराश्रमक्रमैस्त्वधिकारात्तदीर्घं जप्यादि विद्यासाधनमिन्नतरा चापीत्युक्तम् । इह तु विद्योपेतं कर्मसु दातव्यं

श्रवणमननश्रद्धातात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥



बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युत्तमि मुक् ॥ विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥ १ ॥
प्रारब्धं भोग्येदेव न तु विद्यां विलोपयेत् ॥ सुप्तबुद्धवदभेदतादवस्थ्याकुतो न मुक् ॥ २ ॥

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः । इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्स्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तते । न । निमित्ताभावात् । उपभोगशेषक्षपणं हि तन्नानुवृत्तिनिमित्तं न च तादृशमत्र किंचिदस्ति । नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते । न । तस्य दग्धबीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपात उपभोगान्तरमारभते तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन 'दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

यतः । 'यदेव विद्यया' इति श्रुतिः केवलस्याऽपि वीर्यवत्त्वं गमयतीति सिद्धान्तग्रन्थार्थः ॥ १८ ॥ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते । तत्त्वविदत्र विषयः, स किं प्रारब्धक्षयानन्तरं संसरत्युत नेति निमित्तभावाभावाभ्यां संशये सिद्धान्तमुपक्रमते—अनारब्धेति । अनारब्धकर्मणः क्षयोक्तावारब्धस्य कथं क्षय इत्याकाङ्क्षायामस्योत्थानात्सङ्गतिः । पूर्वपक्षे विदेहकैवल्यासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । देहपातोत्तरमपि तत्त्ववित्तसंसरति संसारयोग्यत्वाद्यथा देहपातात्पूर्वमित्यनारब्धाधिकरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—नन्विति । भोगनिमित्तकर्माभावाद्धेतुसिद्धिः । यत्तु संचितं कर्मान्तरं तत्र निमित्तं फलस्य, दग्धमूलत्वात् । अविद्यादयो हि क्लेशाः कर्मणस्तत्फलस्य च मूलम् । तदुक्तं योगशास्त्रे 'क्लेशमूलः कर्माशयः सति मूले तद्विपाकः' इति । तच्च मूलं ज्ञानाग्निना दग्धमिति कुतः पुनः संसारस्तस्माद्देहपाते कैवल्यमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ भाष्यरत्नप्रभायां चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

भामनीव्याख्या

हितमपि यज्ञादि परविद्यार्थिनाऽऽशुभ्रयमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते । अनारब्धकार्य इत्यस्य नञः फलं भोगेन निवृत्तिं दर्शयत्यनेन सूत्रेण । अस्य तूपपादनं पुरस्तादपकृत्य कृतमिति नेह कियते पुनरुक्तिभयात् ॥ १९ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामल्यां चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

आनन्दगिरियव्याख्या

तस्यागेन केवलकर्मकारिणो न विद्या सेत्स्यतीत्याशङ्क्य समाहितमिति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥ अनारब्धकार्यमज्ञोत्रादि विद्यायुक्तं केवलं च तद्वेतुत्वान्न क्षीयते ज्ञानेनेत्युक्तम् । इदानीमारब्धकार्ययोः शुभाशुभयोर्ज्ञानादनिवृत्तयोर्निवृत्तिप्रकारमाह—भोगेनेति । निर्गुणब्रह्मविद्विषयः । स किं देहपातादूर्ध्वमपि संसारवात्रवेति तन्निमित्तभावाभावाभ्यां संदेहे पूर्वपक्षमग्रे दर्शयित्वाशौ वृत्तानुयतेन सूत्रतात्पर्यमाह—अनारब्धेति । अत्र श्रौतब्रह्मविद्यावतो भोगेनारब्धकर्मनिवृत्तौ ब्रह्मभावस्यावश्यंभावोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्मविदोऽपि न मुक्तिः । सिद्धान्ते तस्य साऽवश्यंभाविनी सत्यां सामर्थ्यां कार्यप्रोक्त्यात् । अनारब्धकार्य एवेत्यत्र नवारब्धकर्म निवृत्तेर्व्यावर्तितं तस्य फलं भोगेन क्षयलक्षणमनुना दर्शयतीत्युक्तम् । इदानीं निर्गुणब्रह्मविद्यानारब्धकर्मक्षयानन्तरमपि संसारी संसारसंबन्धयोग्यत्वात्पूर्वकालीनब्रह्मविद्यानिवृत्यनुमानेन पूर्वपक्षमाह—नन्विति । भोगनिमित्तकर्मवत्त्वमुपाधिरिति परिहरति—नेत्यादिना । तदेव स्फुटयति—उपभोगेति । तत्रेति प्राक्कालीनब्रह्मविदुक्तिः । देहपातोत्तरकालीनेऽपि ब्रह्मविदि भोगनिमित्तं किञ्चिद्विष्यतीति साधनव्याप्तिमाशङ्क्याह—नचेति । अनारब्धं कर्म जन्मान्तरारम्भकमिति कुतः साधनव्याप्तिरिति शङ्कते—नन्विति । तस्य ज्ञानेन प्रतिबद्धशक्तित्वामैवमित्याह—न तस्येति । किं तस्य बीजं तदाह—मिथ्येति । केन तर्हि तस्य दाहः स्यात् दर्शयति—तच्चेति । अथ संपत्स्य इत्यादिश्रुतिवाधानाद्बीजाभावस्य च विद्वदनुभवसिद्धत्वात् पूर्वं कर्मानुमेयमिति भावः । प्रारब्धकर्मफलभोगादूर्ध्वं मोक्षेऽपि तत्कर्मजन्यानेकदेहसंभवाच्च च विद्याप्रमोषपक्षेस्तत्कृतकर्मणामक्षेपाभावेन मुक्त्यभावमाशङ्क्याधिकारिणां देहान्तरे ज्ञानाप्रमोषस्यागमिकत्वादसदादीनामथ संपत्स्य इति श्रुतिसिद्धत्वादारब्धभोगानन्तरं मुक्तिरवश्यंभाविनीत्यधिकरणार्थमुपसंहरति—इत्यत इति । साधनानुष्ठानक्रमो निर्गुणविद्याफलं चोक्तमिति पादार्थमुपसंहर्तुमितीत्युक्तम् ॥ १९ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थस्याध्यायस्य जीवन्मुक्तिनिरूपणाख्यः प्रथमः पादः ॥

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥



वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः ॥ श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपविलयस्ततः ॥ १ ॥

न लीयतेऽनुपादाने कार्यं वृत्तिस्तु लीयते ॥ वङ्गिवृत्तेर्जले शान्तेर्वाङ्मनसो वृत्तिलक्षकः ॥ २ ॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुक्ता-
न्तिक्रममन्वाचष्टे । समाना हि विद्वद्विदुषोरुक्तातिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्रायणविषया श्रुतिः
'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देव-
तायाम्' (छा० ६।८।६) इति । किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि संपत्तिरुच्यत उत
वाग्वृत्तेरिति विशयः । तत्र वागेव तन्वाङ्मनसि संपद्यत इति प्राप्तम् । तथाहि श्रुतिरनुगृहीता
भवति । इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याख्या न लक्षणा । तस्माद्वाच
एवायं मनसि प्रलय इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति । कथं वाग्वृत्तिरिति
व्याख्यायते यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति । सत्यमेतत् । पठिष्यति तु परस्तात् 'अवि-
भागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति । तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते ।

रत्नप्रभाव्याख्या

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । ज्ञानफलोक्त्यनन्तरमुपासनफलं ब्रह्मलोकस्थं वक्तव्यं तच्चाचिरादिमार्गप्राप्त्यं, मार्गप्राप्ति-
श्रोतृक्रान्तिसाध्या तस्मादुपासितफलक्षितोत्क्रान्तिपादस्यास्त्यध्यायसंगतिः । युक्तं चास्य पूर्वपादानन्तर्यं ज्ञानफलोक्त्यनन्तरं
वक्तव्योपास्तिकफलेनाक्षिप्तत्वादित्याह—अथेति । ज्ञानिन इवोपासकस्याप्युत्क्रान्तिर्नैतत् आह—समानेति । विद्वानुपासकः,
तस्यानुपासकवदुत्क्रान्तिरस्ति, अज्ञत्वादिति वक्ष्यत इत्यर्थः । प्रयतो त्रियमाणस्येत्यर्थः । वाक्पदस्य करणभावव्युत्पत्तिभ्यां
करणतद्वृत्त्योर्लयाभानात्संशयः । पूर्वपक्षे करणानां स्वरूपलयान्मृतमात्रस्य मुक्तिः, सिद्धान्ते तु संसारसिद्धिः । अनुपादाने
मनसि वाचस्तत्त्वलयायोगेन व्यापारमात्रोपशमादिति विवेकः । सूत्रे वृत्तिपदाध्याहारः कथमिति शङ्कते—कथमिति ।
उत्तरत्र हि सूत्रकृतत्वविद इन्द्रियाणां स्वरूपलयं वक्ष्यति तद्वलादिहाध्याहार उन्नितः । अज्ञस्यापि इन्द्रियलयसाम्ये वक्ष्य-

भामतीव्याख्या

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । अथास्मिन् फलविचाररक्षणं वाङ्मनसि संपद्यत इत्यादिविचारोऽसंगत इत्यत आह—
अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये इति । अपरविद्याफलप्राप्तये देवयानमार्गार्थत्वादुत्क्रान्तेस्तद्वतो विचारः पारम्पर्येण भवति
फलविचार इति नासंगत इत्यर्थः । नन्वयमुत्क्रान्तिक्रमो विदुषो नोपपद्यते 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्येव समवनीयन्ते' इति श्रव-
णात्कथमस्य विद्याधिकार इत्यत आह—समाना हि विद्वद्विदुषोरिति । विषयमाह—अस्तीति । विमृशति—
किमिहेति । विशयः संशयः । पूर्वपक्षमाह—तत्र वागेवेति । श्रुतिलक्षणाविशये संशये । सिद्धान्तपूर्वं पूरयित्वा पठति—
वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यते इति । वृत्त्यध्याहारप्रयोजनं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमिति । उत्तराधिकरणपर्यलोचनेनैवं पूरित-

आनन्दगिरियव्याख्या

पूर्वपादान्तिमाधिकरणे निर्गुणब्रह्मसंपत्तिरुक्ता संप्रति सगुणब्रह्मसंपत्तिं निरूपयिष्यन्नुत्क्रान्तौ वागादीनां मनसि वृत्तिलयं दर्श-
यति—वागिति । सगुणविद्याफलस्य ब्राह्मलौकिकस्याचिरादिगतिप्राप्त्यस्यानुत्क्राम्य प्राप्त्ययोगात्तदर्थमुत्क्रान्तिरूपेण व्यापिब्रह्माम-
भावे निर्गुणविद्याफले तन्निषेधार्थं चेत्यभिप्रेत्य पादस्याध्यायसंगतिमाह—अथेति निर्गुणधीकरोक्त्या नन्तयमयशब्दार्थः । विदुषो
नोत्क्रान्तिरप्येव समवनीयन्त इति श्रुतेस्तत्किमुत्क्रान्तिचिन्तयेत्याशङ्क्याह—समानेति । विद्वानपरब्रह्मविदुक्तः । पदार्थं संश्लिष्या-
धाधिकरणस्य विषयमाह—अस्तीति । प्रयतः प्रयाणं कुर्वत उच्चिक्रमिषोरिति यावत् । वाङ्मनसि संपद्यत इत्यत्र वाचमधिकृत्य
करणव्युत्पत्त्या स्वरूपसंपत्तिप्रतीतिर्भावव्युत्पत्त्या च स्ववृत्तिसंपत्तिवित्तेः संशयमाह—किमिहेति । श्रौतसगुणब्रह्मधीकलार्थगत्यु-
पयुक्तोत्क्रान्त्येकदेशनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे कारणे कार्यलयनियमासिद्धिः । सिद्धान्ते लौकिकपरीक्षकाभीष्टनियमसिद्धिरिति
मत्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । तत्र वाक्शब्दश्रुतिं हेतुं करोति—तथाहीति । वृत्तिगदाचक्रशब्दस्य वृत्तिमात्रपरत्वे दोषमाह—
इतरथेति । लक्षणापि शब्दवृत्तिवादविरुद्धत्वाशङ्क्याह—श्रुतीति । श्रुत्यनुसारिणमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रकृतावेव विका-
रलय इति नियमाभावं प्राप्तमनूय सिद्धान्तसर्वं पूरयित्वा पठति—एवमिति । अध्याहारमसहमानः शङ्कते—कथमिति ।
उत्तराधिकरणालोचनया विवक्षितमध्याहारं साधयति—मयमिति । वृत्तिमलयस्य वक्ष्यमाणत्वेऽपि प्रकृते किं जातं तदाह—

तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परैव विशिष्यादविभाग इति । तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षा । वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंहारिते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः । कस्मात् । दर्शनात् । दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम् । न तु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते । ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम् । नेत्याह । अतत्प्रकृतित्वात् । यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य । नच मनसो वागुत्पद्यत इति किंचन प्रमाणमस्ति । वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते । पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति । कथं तस्मास्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि संपद्यत इति । अत आह शब्दाच्चेति । शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

‘तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः’ (प्रश्न ३।९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि संपत्तिः श्रूयते । तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलयासंभवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते । सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्रहणं वाङ्मनसि संपद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

रत्नप्रभाष्यारूपा

माणविशेषोक्त्ययोगादिति समाध्यर्थः । प्रकृतावेव विकारलय इति न्यायविरुद्धार्थं श्रुतिरपि न ब्रूत इति सिद्धान्तयति—अतत्प्रकृतित्वादिति । न्यायस्य निरवकाशत्वाद्वलीयस्त्वं शब्दस्य तूक्तिर्वागिति व्युत्पत्त्या लक्षणया वा सावकाशत्वमिति द्योतयितुं शब्दाच्चेत्युक्तम् ॥ १ ॥ वाच्युक्तं न्यायं चक्षुरादिष्वतिशयि—अत एवेति । उपशान्तदेहौष्ण्यस्तस्मादुत्कमणाद्ध्वं पुनर्भवं प्रतिपद्यत इति श्रुत्यर्थः । इन्द्रियशब्दस्य श्रुतिस्थस्य वृत्तिपरतयोपपत्तेः । सर्वेन्द्रियवृत्तिलयश्चेदिष्टतर्हि वाङ्म-

भासतीत्याख्या

मित्यर्थः । तत्त्वस्य धर्मिणो वाचः प्रलयविवक्षायां विह सर्वत्रैव परैव चाविभागसाम्यात्किं परैव विशिष्यादविभाग इति न तत्रापि । तस्मादिहाविभागेनाविशिषतोऽत्र वृत्त्युपसंहारमात्रविवक्षा सूत्रकारस्येति गम्यते । सिद्धान्तहेतुं प्रश्नपूर्वकमाह—कस्मादिति । सत्यामेव मनोवृत्तौ वाग्वृत्तेरुपसंहारदर्शनात् । वाचस्तूपसंहारमदृष्टं नागमोऽपि गमयितुमर्हति । आगमप्रभववृत्तिविरोधाच्च । आगमो हि दृष्टानुसारतः प्रकृतौ विकाराणां लयमाह । नच वाचः प्रकृतिर्मनो येनास्मिन्नियं लीयते । तस्माद्वृत्तिवृत्तिमतोरभेदविवक्षया वाक्यं तद्वृत्तौ व्याख्येयम् । संभवति च वाग्वृत्तेर्वागप्रकृतावपि मनसि लयः । तथा तत्र तत्र दर्शनादित्याह—वृत्त्युद्भवाभिभवाविति ॥ १ ॥ अत एव च सर्वाण्यनु । यत एव प्रकृतिविकारभावाभावात्मनसि न स्वरूपलयो वाचोऽपि तु वृत्तिलयः, अत एव च सर्वेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां सत्येव सवृत्तिके मनसि वृत्तेरनुगतिलयो न स्वरूपलयः । वाचस्तु

आनन्दगिरीयव्याख्या

तस्मादिति । विपक्षे दोषमाह—तच्चेति । तत्त्वस्य धर्मिणो वाचः प्रलयविवक्षायामिह तत्र चाविभागसाम्यात्परैवाविभागविशेषोपपन्नमयुक्तमित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यसिद्धमर्थमुपसंहारति—तस्मादिति । सूत्रस्याभीष्टमर्थं संक्षिपति—वागिति । सिद्धान्तहेतुं प्रश्नपूर्वकमवतार्य व्याचष्टे । कस्मादिति । वृत्तिमुपसंहारेऽपि तुल्यं दर्शनमित्याशङ्क्य लौकिकमागमिकं वा तदिति विकल्पार्थं प्रत्याह—न त्विति । द्वितीयमालम्ब्ये—नन्विति । आगमस्यापि दृष्टानुसारतत्प्रकृतौ विकारलयोक्तिर्परत्वाद्वाचश्च मनोविकारत्वाभावात्तत्र लयायोगाद्वृत्तिवृत्तिमतोरभेदधिया वाचशब्दो वृत्तावेवेत्याह—नेत्याहेति । तदेव विवृणोति—यस्येति । वागपि तर्हि मनसो विकारोऽस्तु न मानाभावादित्याह—नचेति । वृत्तेरप्यतत्प्रकृतित्वात्कुतो मनसि लयः, तत्राह—वृत्तीति । दर्शनं विशदयति—पार्थिवेभ्य इति । श्रुतिलक्षणाविशये श्रुतिन्यायेत्युक्तं स्मारयति—कथमिति । मुख्यार्थायोगादुपचारसिद्धिरिति सूत्रावयवमाशय व्याकरोति—अत इति ॥ १ ॥ वाचि दर्शितं न्यायं चक्षुरादिष्वतिशयि—अत एवेति । यतः प्रकृतिविकारभावाभावाद्वा स्वरूपलयो वाचोऽपि तु वृत्तिलयोऽत्र एव सवृत्तिके मनसि सत्येव सर्वाणीन्द्रियाणि तदनुवर्तन्ते न तु तत्र स्वरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । सूत्राक्षराणि व्याचष्टे—तस्मादिति । उत्कमणाद्ध्वमिति यावत् । उपशान्तमौष्ण्यलिङ्गं तेजोऽस्येति तथोक्तः । पुनर्भवं प्रतिपद्यत इति शेषः । तत्रापि सर्वाणीन्द्रियाणि वृत्तिद्वारेणैव मनोऽनुवर्तन्त इति संबन्धः । अत एवेत्युक्तं हेतुं सद्दृष्टान्तं स्पष्टयति—वाच इवेति । यत्राविशेषेण सर्वेन्द्रियाणां मनसि वृत्त्युपसंहारो विवक्षितस्तर्हि किमित्याद्ये सूत्रे वाचः पृथग्रहणं, तत्राह—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥



मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयते स्वयं यतः ॥ कारणाद्बोद्धव्याः प्राणो हेतुर्मेनः प्रति ॥ १ ॥
साक्षात्स्वहेतौ लीयते कार्यं प्राणादिके न तु ॥ गौणः प्राणादिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥ २ ॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि संपद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति । अथ यदुत्तरवाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत उत वृत्तिसंपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम् । श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतिकत्वोपपत्तेश्च । तथाहि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यव्योनिं च प्राणम् । 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तद्वत्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदव्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयत इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथा हि सुषुप्तोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते । नच मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति । अतत्प्रकृतित्वात् । ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम् । नैतत्सारम् । न हीदृशेन प्राणादिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे संपद्यते इति । एवमपि ह्यत्र मनः संपद्येतासु चान्नमत्स्वेव च प्राणः । न ह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्यो

रत्नप्रभावाक्या

नसीति पृथक्सूत्रं किमर्थमित्यत आह—सर्वेषां करणानामिति ॥ २ ॥ तन्मनः प्राण उत्तरात् । वाक्यक्रमादर्थक्रमाच्चधिकरणक्रमः । श्रुतिन्यायाभ्यां संशयः पूर्वं प्रबलन्यायविरोधाद्वागिति श्रुतेर्बाधः कृतः । इह त्ववधारकप्राणस्य अन्नात्मकमनःप्रकृतित्वेन प्रकृतौ विकारलय इति न्यायानुग्रहात् मनःश्रुतिर्बाधेति पूर्वपक्षफलं पूर्ववत्, सिद्धान्तस्त्वन्नयोः प्रकृतिविकृतिभावेऽपि न तद्विकारयोः प्राणमनसोस्तद्भावो हिमघटयोरपि तद्भावप्रसङ्गादतो न्यायविरोधात्पूर्ववच्च्युतिर्बाधेति विवेकः । आगृहीता बाह्येन्द्रियवृत्तयो येन तत्तथा लीनेन्द्रियवृत्तिकं मनोऽपि वृत्तिलयेनैव प्राणे लीयत इत्यर्थः । एवमपीति । प्राणस्याविविकारत्वपक्षेऽपीत्यर्थः । तस्मादिति प्राणस्य साक्षान्मनःप्रकृतित्वाभावान्मनःशब्दो वृत्ति

भामतीव्याख्या

पृथक् ग्रहणं पूर्वसूत्रे उदाहरणापेक्षं न तु तदेवेह विवक्षितमित्यर्थः ॥ २ ॥ तन्मनः प्राण उत्तरात् । यदि स्वप्रकृतौ विकारस्य लयस्ततो मनः प्राणे संपद्यते इत्यत्र मनःस्वरूपस्यैव प्राणे संपत्त्या भवितव्यम् । तथा हि मन इति नोपचारतो व्याख्यानं भविष्यति । संभवति हि प्रकृतिविकारभावः प्राणमनसोः । अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यन्नात्मतामाह मनसः श्रुतिरापोमयः प्राण इति च प्राणस्यावात्मताम् । प्रकृतिविकारयोस्तादात्म्यात् । तथाच प्राणो मनसः प्रकृतिरिति मनसो वृत्तिमतः प्राणे लय इति प्राप्तेऽभिधीयते—सत्यम्, आपोऽन्नमसृजन्त इति श्रुतेरन्नयोः प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते । न तु तद्विकारयोः प्राणमनसोः । स्वयोनिप्राणादिक्या तु मिथो विकारयोः प्रकृतिविकारभावाभ्युपगमे संकरादतिप्रसङ्गः स्यात् । तस्माद्यो यस्य साक्षाद्विकारस्तस्य तत्र लय इत्यवस्थासु लयो न त्वविविकारे प्राणेऽन्नविकारस्य मनसः । तथा चात्रापि मनोवृत्तेर्वृत्तिमति प्राणे लयो न तु वृत्तिमतो मनसः

आनन्दगिरियव्याख्या

सर्वेषामिति ॥ २ ॥ इन्द्रियवृत्तिलयाधारस्य मनसो वृत्तिलयाधारं निरूपयति—तन्मन इति । वृत्तमनूथाधिकरणस्य विषयमाह—समधिगतमिति । तस्मिन्नपि वाक्ये सवृत्तिकं मनोऽधिकृत्य व्युत्पत्तिद्वैविध्यसिद्ध्या संशयमाह—किमिति । पूर्ववाक्यं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः । अत्रापि पूर्ववत्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रुत्यर्थसिद्धिः । सिद्धान्ते तदयोगालङ्घनास्वीकरणमिति मन्वानो मनःशब्दश्रुत्या पूर्वपक्षयति—वृत्तिरिति । वाक्यशब्दवन्मनःशब्दस्यैव चारिक्तत्वाभावात् शङ्क्य बाधकाभावात् मुख्यार्थत्वमेवेत्याह—तदिति । प्राणप्रकृतिकत्वे मनसो न मानमित्याशङ्क्याह—तथाहीति । अन्नमनसोरप्राणयोश्च प्रकृतिविकृतिभावेऽपि कथं प्राणमनसोस्तथात्वं, तत्राह—अपक्षेति । अन्नयोः प्रकृतिविकृतिभवात्कार्ययोरपि प्राणमनसोः प्रकृतितादात्म्यद्वारा प्रकृतिविकृतित्वसिद्ध्या प्राणे वृत्तिमतो मनसो लय इति फलितमाह—अतश्चेति । प्राणे लीयते मनः सवृत्तिकमिति प्राप्तमनूय सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याकरोति—एवमिति । आगृहीताः सर्वतः स्वात्मन्युपसंहृता बाह्येन्द्रियाणां वृत्तयो येन तन्मनस्तथा । दर्शनादिति पूर्वोक्त्युक्तिमत्र हेतुत्वेन संगृह्णाति—तथाहीति । मनःशब्दश्रुत्या स्वरूपसंपत्तिरेवेति किं न स्यादित्याशङ्क्याह—नचेति । उक्तं स्मारयित्वा निरस्यति—नन्विहत्यादिना । स्वकारणद्वारा विकारयोरन्योन्यं प्रकृतिविकारत्वे घटादेरपि शरावादिप्रकृतित्वप्रसक्तिरित्यसारत्वमेव साधयति—नहीति । प्राणादिकार्यकारणतोपगमेऽपि यो यस्य साक्षाद्विकारस्तत्रैव तस्य लयो युक्त इत्याह—एवमपीति । प्राणाकारपरिणतानामपि मनःसंस्थितान्नाकारेण परिणामात्प्राणमनसोरपि साक्षात्प्रकृतिविकृतित्वमस्तीत्याशङ्क्याह—नहीति । तयोः साक्षाद-

ऽङ्गो मनो जायत इति किञ्चन प्रमाणमस्ति तस्मात् मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः । वृत्त्यप्य-
येऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपपत्त्यादिति दर्शितम् ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥



असोभतेषु जीवे वा लभ्ये भूतेषु तद्भूतेः ॥ स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति कश्चित् ॥ १ ॥

एवमेवेममात्मानं प्राणा गन्तीति च भूतेः ॥ जीवे लीत्वा सहेतेन पुनर्भूतेषु लीयते ॥ २ ॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्ते-
जसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्चरा-
ध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया
अन्याय्यत्वादिति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्या-
कर्मपूर्वप्रक्षोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः—तदु-
पगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी
भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमु-
त्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति
तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इति ।
'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्मपीतकरणग्रामस्य गण-
स्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः ।

रत्नप्रभाष्याख्या

लक्षयतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । उक्तन्यायसिद्धं प्राणस्यापि वृत्तिलयमुपजीव्य 'प्राणस्तेजसि'
इति श्रुतेरुपगमादिश्रुतेष्व संशयमुक्त्वा जीवे लयं विनापि उपगमादिसंभव इति पूर्वपक्षयति—स्थितमित्यादिना ।
अत्र तेजःशब्दस्य मुख्यत्वं, सिद्धान्ते तु भूतोपहितजीवलक्षकत्वमिति मत्वा सूत्रं योजयति—स प्रकृत इत्यादिना ।
अज्ञानकर्मवासनोपाधिक इत्यर्थः । तं जीवं प्रति प्राणानामुपगमानुगमनावस्थानश्रुतिभ्य इति हेत्वर्थः । यथा यात्रेच्छावन्तं रा-
जानं भृत्या उपगच्छन्त्येवमेव परलोकं जिगमिषुं जीवं सर्वे प्राणा आभिमुख्येनान्यन्तीत्युपगमः धृतः । तमुत्क्रामन्तमित्यनुगमनं
श्रुतम् । जीवे प्राणावस्थानश्रुतिमाह—सविज्ञान इति । जीवस्य प्रासव्यफलवगमाय हि विज्ञानसाहित्यश्रुत्या मुख्यप्राणसहि-
तकरणानां जीवे स्थितिर्भातीत्यर्थः ॥ ४ ॥ यद्यपि प्राणस्य तेजस्यव्यवधानेन लयः श्रुतस्तथाप्युभयश्रुत्यनुग्रहाय प्राणो जीवे

आमसीत्याख्या

इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । प्राणस्तेजसीति तेजःशब्दस्य भूतविशेषवचनत्वाद्भिन्नानात्मनि चाप्रसिद्धेः
प्राणस्य जीवात्मन्युपगमानुगमावस्थानश्रुतीनां च तेजोद्वारेणान्युपपत्तेः । तेजसि समापन्नवृत्तिः खलु प्राणः । तेजस्तु जीवात्मनि समाप-
वृत्तिः । तद्वारा जीवात्मसमापन्नवृत्तिः प्राण इत्युपपद्यते । तस्मात्तेजस्येव प्राणवृत्तिप्रविलय इति प्राप्तेऽभिधीयते—स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षे वि-
ज्ञानात्मन्यवतिष्ठते तत्तन्त्रवृत्तिर्भवति । कुतः—उपगमानुगमावस्थानेभ्यो हेतुभ्यः । तत्रोपगमश्रुतिमाह—एवमेवेममात्मानमिति ।
अनुगमनश्रुतिमाह—तमुत्क्रामन्तमिति । अवस्थानश्रुतिमाह—सविज्ञानो भवतीति चेति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं
पञ्चवृत्तिप्राणसहित इन्द्रियग्रामस्तेन सहावतिष्ठत इति सविज्ञानः । चोदयति—ननु प्राणस्तेजसीति श्रूयत इति । अधिकावा-

आमन्दगिरीयव्याख्या

प्रकृतिविकृतिष्वे फलितमाह—तस्मादिति । कथं तर्हि मनःशब्दोपपत्तिः, तत्राह—वृत्तिसिद्धिः ॥ ३ ॥ यस्मिन्प्राणे मनसो वृत्तिर-
यस्तस्यापि वृत्तिलयाधारं निरूपयति—सोऽध्यक्ष इति । वक्ष्यमाणपूर्वपक्षोपयोगित्वेन वृत्तं कीर्तयति—स्थितमिति । संप्रति वि-
योक्तृपूर्वकमुभयद्वयलक्ष्येः संशयमाह—इदमिति । पादादिसंगतयस्तु पूर्ववत् । फलभेदोऽपि तथेति स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति—
तत्रेति । प्राणस्य तेजःप्रकृतिकत्वाभावेऽपि तेजसि वृत्तिलयस्योक्तन्यायेन शक्यशङ्क्यत्वात्तेजःशब्दस्य च भूतविशेषवाचिनो जीवे
प्रसिद्ध्यभावात्प्राणस्य जीवात्मन्युपगमानुगमनावस्थानश्रुतीनां च तेजोद्वाराऽपि तस्मिन्नुपगममादियोगादुपपत्तेस्तेजस्येव प्राणवृत्ति-
लय इत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमादाय योजयति—एवमिति । परिशुद्धं चिदाहुं व्यावर्तयति—अविद्येति । पूर्वोक्तन्यायेन स्वरू-
पलयं व्यवच्छिन्नमिति—तदिति । प्रश्नपूर्वकं हेतुनवतारयति—कुत इति । तत्रोपगमनं वृत्तितो व्याकरोति—एवमिति । यथा
राजः प्रयाणाभिप्रायमात्रेण सर्वे भृत्याः समागच्छन्त्येवमिति योजना । एतदिति क्रियाविशेषणम् । आदिशब्दगृहीतमनुगमनं
श्रुत्या विशदयति—विशेषेणेति । आदिशब्दोपात्तमवस्थानमपि श्रुत्या व्याचष्टे—सविज्ञान इति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं
करणजातं तेन पञ्चवृत्तिप्राणसहितेन सह तिष्ठतीति यावत् । अव्यवधानेन तेजःप्राप्तिश्रुत्या विरोधं शङ्कते—अविद्येति । उभय-

यते । नैष दोषः । अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥ कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणसंप्लुकोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेः । ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंप्लुक्तस्याध्यक्षस्य । नैष दोषः । सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽप्युपसंख्यातत्वात् । योऽपि हि सुषान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि सुषान्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम् । तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसंप्लुक्तस्याध्यक्षस्यैवैतस्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥ कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति । अत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सवेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३) इति । तस्मात्ख्यातम् 'ज्यात्मकत्वानु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः 'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या । स्मृतिरपि—

रत्नप्रभाख्याख्या

लीयते, जीवद्वारा च तदुपाधिषु तेजआदिभूतेष्विति श्रुत्यर्थरफुटीकरणार्थं सूत्रं गृह्णाति—कथं तर्हीति । न च लयं विनापि जीवं प्रत्युपगमादिसंभवात्तेजःश्रुतिर्मुख्यास्त्विति वाच्यं, जीवं प्रत्यागम्य प्राणस्य निर्व्यापारत्वेन स्थितेरेवात्र लयत्वादिति भावः । भूतेषु जीवस्थितिः किंबलाख्यायात् । इत्याशङ्क्य 'सोऽध्यक्षे' इति सूत्रोदाहृतश्रुतिबलादित्याह—**नन्वित्यादिना** । प्राणस्य जीवद्वारा भूतप्राप्तौ दृष्टान्तमाह—**योऽपि हीति ॥ ५ ॥** स्थूलदेहारम्भाय पञ्चकृतभूतान्यावद्यकानीति रंह्यधिकरणे व्याख्यातम् । अण्व्यः सूक्ष्माः, मीयन्त इति मात्राः परिच्छिन्नाः, प्राञ्चोक्षादविनाशिभ्यः,

भामतीव्याख्या

पोऽशब्दार्थव्याख्यानम् । परिहरति—**नैष दोष इति** । यद्यपि प्राणस्तेजसीत्यतस्तेजसि प्राणवृत्तिलयः प्रतीयते । तथापि सर्वशालाप्रत्ययत्वेन विद्यानां श्रुत्यन्तरालोचनया विज्ञानात्मनि लयोऽवगम्यते । न च तेजसस्तत्रापि लय इति साम्प्रतम् । तस्यानिष्ठाकाशक्रमेण परमात्मनि तत्त्वलयावगमात् । तस्मात्तेजोप्रहणेनोपलक्ष्यते तेजःसहचरितदेहबीजभूतपञ्चभूतसूक्ष्मपरिचाराध्यक्षो जीवात्मा तस्मिन् प्राणवृत्तिरप्येतीति । चोदयति—**ननु चेयं श्रुतिरिति** । तेजःसहचरितानि भूतान्युपलक्ष्यन्तां तेजःशब्देनाध्यक्षे तु किमायातं तस्य तदसाहचर्योदित्यर्थः । परिहरति—**सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्यापीति** । यदा ह्ययं प्राणोऽन्तरालेऽध्यक्षप्राप्याध्यक्षसंपर्कवशादेव तेजःप्रभृतीनि भूतसूक्ष्माणि प्राप्नोति तदोपपद्यते प्राणस्तेजसीति । अत्रैव दृष्टान्तमाह—**योऽपि सुषादिति ॥ ४ ॥ ५ ॥** सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति—**कथं तेजःसहचरितेष्विति । नैकस्मिन्दर्शयतो हि** । अत्र भाष्यकारोऽनुमानदर्शनमाह—**कार्यस्य शरीरस्येति** । स्थूलशरीरातुरूपमनुमेयं सूक्ष्ममपि शरीरं पञ्चात्मकमित्यर्थः । दर्शयत इति सूत्रावयवं व्याचष्टे—**दर्शयतश्चैतमर्थमिति** । प्रश्नप्रतिवचनाभिप्रायं द्विवचनं श्रुतिस्मृत्यभिप्रायं वा । अण्व्यो मात्राः

आनन्दगिरियव्याख्या

श्रुत्यनुग्रहाय जीवे प्रलीयते तेन सह प्राणस्य तेजसि लयः स्यादित्याह—**नेत्यादिना ॥ ४ ॥** सूत्रान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—**कथमिति** । प्राणस्य जीवद्वारा तेजःसंपत्तिरिति सूत्रयोजनया दर्शयति—**स इति** । न च प्राणस्य तेजोद्वारा जीवसंपत्तिस्तेजसो भूतद्वयद्वारा परस्मिन्नेव संपत्तिरिष्टत्वात् । तेजोप्रहणेनोपलक्षितेषु भूतेषु जीवस्य प्राणेन सह लयः स्यादित्यभिप्रेत्याह—**तेज इति** । तेजःशब्देन भूतान्युपलक्षयितुं शक्यन्ते साहचर्यान् जीवस्तदभावादतो न प्राणस्य जीवे लय इति शङ्कते—**नन्विति** । मानान्तरालोचनया जीवस्योपसंभवे न तेजःशब्देनेति परिहरति—**नेत्यादिना** । यदापि प्राणोऽन्तराले जीवं प्राप्य पुनस्तेजः संपद्यते तदापि प्राणस्तेजसीति श्रुतिवपञ्चलेतद्वृष्टान्तेन साधयति—**योऽपि हीति** । श्रुत्यर्थमुक्तमुपसंहरति—**तस्मादिति ॥ ५ ॥** सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति—**कथमिति** । लक्षणया भूतान्तराश्रयणमयुक्तं युक्त्यभावादिति भावः । युक्तिपरं सूत्रमवतारयति—**अत इति** । तत्र प्रतिज्ञां विमजते—**नैकस्मिन्निति** । स्थूलदेहस्य पञ्चात्मत्ववृष्टेस्तत्कारणं सूक्ष्मशरीरमपि पञ्चात्मकमनुमेयमित्युक्तेऽप्युक्तिमाह—**कार्यस्येति** । सूक्ष्मस्य पञ्चात्मकत्वे मानं नृवाणः सूत्रावयवं व्याचष्टे—**दर्शयतश्चेति** । ननु देहान्तरप्रेप्सवेलायामग्निरेव परिवेष्टितत्वं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामधिगम्यते न भूतसूक्ष्मपञ्चकपरिवेष्टितत्वं, तत्राह—**तदिति** । सूत्रावयवस्यान्तरमाह—**श्रुतीति** । अण्व्यः सूक्ष्मा मीयन्त इति मात्राः प्राञ्चोक्षादविनाशिभ्यो दशार्थानां पदानां भूतानामित्यर्थः । जीवस्य भू-

‘अण्ड्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । तामिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः’ इत्याद्या । ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेक्षावेलायां ‘कायं तदा पुरुषो भवति (बृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—‘तौ ह यदूचतुः कर्म है व तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म है व तत्प्रशशंसतुः’ (बृ० ३।२।१३) इति । अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोका । इह पुनर्भूतोपादानाद्देहास्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

समाना चास्त्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥



शान्त्यशोक्तान्तरसमा समा वा नहि सा समा ॥ मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषयमव्ययः ॥ १ ॥
आस्त्युपक्रमं जन्म वर्तमानमंतः समा ॥ पश्चात्तु फलवैयर्थ्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ॥ २ ॥

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वद्विदुषोः समाना किंवा विशेषवतीति विद्यायानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा होषा । पुनर्भवाय च भूताभ्याश्रीयन्ते । नच विदुषः पुनर्भवः संभवति । ‘अमृतत्वं हि विद्वानश्रुते’ इति स्थितिः । तस्माद्विदुष एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समानानाद्विदुष एवैषा भवेत् । न । स्वापादिविद्ययाप्राप्तानुकीर्तनात् । तथाहि ‘यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम’ ‘अशिशिषति नाम’ ‘पिपासति नाम’ (छा० ६।८।१, ३, ५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपाद-

रत्नप्रभाष्याख्या

दशार्धानां पञ्चानां भूतानां सूक्ष्मभागा इति यावत् । जीवस्य भूताश्रयत्वं कर्माश्रयत्वभूतिविरुद्धमित्याशङ्क्य कर्म निमित्तत्वेनाश्रयः, भूतानि तु देहोपादानत्वेनेत्युभयविरुद्धमित्याह—ननु चेत्यादिना । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागौ यज्जीवाधारमूचतुस्तत्कर्मैति श्रुतेर्वचनम् ॥ ६ ॥ एवं बाह्येन्द्रियाणां मनसि प्रथमं वृत्तिलयलाभात्ततो मनोवृत्तेः प्राणे लयः प्राणवृत्तेर्भूतोपहितजीवे लय इत्युत्क्रान्तिव्यवस्थोका । साच सर्वप्राणिषु तुल्येत्याह—समाना चानुपोष्य । ‘पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि’ इत्यविशेषश्रुतेः ‘विद्यायामृतमश्रुते’ इति श्रुतेश्च संशयमाह—सेयमिति । विद्यायानानां संदिहानानामित्यर्थः । पूर्वपक्षे सगुणब्रह्मविदसंनिधित्वमुत्क्रान्तिर्विशेषः साध्यते । ततोऽनूत्क्रान्त उपासको सुक्लिमश्च इति फलं, सिद्धान्ते तूत्क्रान्तो ब्रह्मलोकभागीति फलभेदः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य समाधत्ते—ननु विद्येत्यादिना । विद्यायामृतमिति श्रुतिर्निर्गुणविद्यावत्परा । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति प्रतिषेधोऽपि तद्विषयः । अतः सगुणविदोऽप्यनूत्क्रान्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति ।

भामतीव्याख्या

सूक्ष्मा दशार्धानां पञ्चभूतानामिति । श्रुत्यन्तरविरोधं चोदयति—ननु चोपसंहृतेषु वागादिष्विति । कर्माश्रयतेति प्रतीयते न भूताश्रयतेत्यर्थः । परिहरति—अत्रोच्यत इति । ग्रहा इन्द्रियाणि अतिग्रहास्तद्विषयाः । कर्मणां प्रयोजकत्वेनाश्रयत्वं भूतानां तूपादानत्वेनेत्यविरोधः । प्रशंसाशब्दोऽपि कर्मणां प्रयोजकतया प्रकृष्टमाश्रयत्वं ब्रूते सति निकृष्ट आश्रयान्तरे तदुपपत्तेरित्याह—प्रशंसाशब्दादपि तत्रेति ॥ ६ ॥ समाना चास्त्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य । अत्रामृतत्वप्राप्तिश्रुतेः परविद्यावत्तं प्रत्येतदिति मन्वानस्य पूर्वः पक्षः । विद्यायानानां संदिहानानां पुंसां । चोदयति—ननु विद्याप्रकरण इति । परिहरति—न स्वापादिवदिति । परविद्ययैवामृतत्वप्राप्त्यवस्थामारूपातुं तत्सधर्माश्च तद्विधर्माश्चान्या अयवस्थास्तदनुगुणतया-

आनन्दगिरियव्याख्या

ताश्रयत्वं श्रुत्यन्तरविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागौ । जीवाधारभूतकर्मणां बन्धप्रयोजकत्वेनाश्रयत्वं भूतानां देहोपादानत्वेनेत्यविरोधमाह—अत्रेति । कर्म है वत्ववधारणश्रुत्या वारितमाश्रयान्तरमित्याशङ्क्याह—प्रशंसतेति । सोऽपि कर्मणां प्रकृष्टाश्रयत्वं वदन्निकृष्टाश्रयान्तरसत्त्वं सूचयतीत्यर्थः । कर्मणां भूतानां चाश्रयत्वसंभवे फलितमाह—तस्मादिति ॥ ६ ॥ उक्तोक्तान्तरेपरविद्यान्ययमन्वाचष्टे—समाना चेति । उत्क्रान्तिर्विषयस्तत्र विद्याऽमृतमश्रुत इति हृतेरस्य सोम्य पुरुषस्येति विशेषश्रुतेः संशयमाह—सेयमिति । विद्यायानानां संदिहानानामित्यर्थः । श्रौतापरविद्यासु फलप्राप्त्युपयोगित्वेनोत्क्रान्त्यन्वयोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विदुषो देहादनुत्क्रान्तस्य मोक्षसिद्धिः । सिद्धान्ते तस्यापीतरवत्तत्सादृश्यान्तरेप्रतिबन्धेन तत्सिद्धिरित्यङ्गीकृत्य विषयामृतमश्रुत इति सगुणोपासकानामप्यमृतत्वफलावगमात्सगुणब्रह्मविदो नैवोत्क्रान्तिरिति पूर्वपक्षयति—विशेषेति । अविदुष एवोत्क्रान्तिरिति विशेषवत्त्वमेव दर्शयति—भूतेति । पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति । वस्तुतत्त्वप्रतिपादनाय लोकसिद्धधर्माणामनूयमानत्वात् प्रकरणं विद्वद्विषयमिति समाधत्ते—नेत्यादिना । वृष्टान्तं विवृणोति—यथेति । दाष्टान्तिकं विमजते—एवमिति । उत्क्रान्तेर्विद्व-

नानुगुण्येन न तु विदुषो विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते । एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकी-
र्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपाद-
यितुम् । प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्रान्तिः' (बृ० ४।३।६) इति । तस्माद्-
विदुष एवैवेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वद्विदुषोरास्यु-
पक्रमान्नवितुमर्हति । अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्र-
युक्तो देहप्रहणमनुभवितुं संसरति । विद्वान्स्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते । तदेतदास्य-
त्युपक्रमो वेति । अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासाम-
र्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते संभवति तत्र स्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च । नहि निराश्रयाणां प्रा-
णानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥ ७ ॥

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥



स्वरूपेणाथ दृष्ट्या वा भूतानां त्रिलयः परे ॥ स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ॥ १ ॥

आत्मज्ञस्य तत्त्वावेऽपि दुर्यैवान्यस्य तल्लयः ॥ न चेत्कस्यापि जीवस्य न त्याज्यमान्तरं कश्चिद् ॥ २ ॥

'तेजःपरस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्याच्चथाप्रकृतं तेजः साध्यश्च संप्राणं
सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी

रत्नप्रभाव्याख्या

सृतिमार्गस्तस्योपक्रमोऽचिः प्राप्तिस्ततः प्राक्कना उत्क्रान्तिस्तुल्या, तत उपासको मूर्धन्यनाडीद्वाराऽर्चिरादिमार्गं प्राप्नोति नान्य
इति विशेषः । यत्तु दहरोपासकस्य मृतत्वं श्रुतं 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति तदापेक्षिकमेव न मुख्यं 'यं कामं काम-
यते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति' इति भोगश्रवणादित्याह—अनुपोष्य चेदमिति । उप दाह इति धातोर्दिदं रूपम्
॥ ७ ॥ तदाऽपीतेः । पूर्वोदाहृतोत्क्रान्तिवाक्यशेषं व्याख्याय लिङ्गाश्रयपक्षभूतानां किमात्यन्तिको ब्रह्मण लय उतानात्य-
न्तिक इति लयस्योभयथादर्शनात्संशयमाह—कीदृशी पुनरियमिति । पूर्वोपापेक्षिकममृतत्वमित्युक्तं तदयुक्तमित्याक्षे-

भामतीव्याख्या

ख्यायन्ते । साधर्म्यवैधर्म्यां हि स्फुटतरः प्रतिपिपादयिषि ते वस्तुनि प्रत्ययो भवतीति । न तु विदुषः सकाशाद्विशेषवन्तोऽवि-
द्वान्ते विधीयन्ते येन विद्याप्रकरणव्याघातो भवेदपि तु विद्यां प्रतिपादयितुं लोकसिद्धानां तदनुगुणतया तेषामनुवाद इति । एवं
प्राप्तेऽभिधीयते—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वद्विदुषोः । कुतः—आस्युपक्रममात् । सृतिः
सरणं देवयानिन पथा कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिरासुतेराकार्यैब्रह्मलोकप्राप्तेः । अयं विद्योपक्रम आरम्भः प्रयत्न इति यावत् ।
तस्मादेतदुक्तं भवति—नेयं परा विद्या यतो नाडीद्वारमाश्रयते । अपि त्वपरविशेषम् । न चास्यामात्यन्तिकः क्लेशप्रदाहो यतो न
तत्रोत्क्रान्तिर्भवेत् । तस्मादपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकमाभूतसंश्रवस्थानममृतत्वं प्रेप्सते पुरुषार्थाय संभवत्येव उत्क्रान्तिर्भेदवान्
स्युपक्रमोपदेशः । उपपूर्वादुष दाह इत्यस्मादुपोष्येति प्रयोगः ॥ ७ ॥ तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् । सिद्धां कृत्वा
बीजभावावशेषां परमात्मसंपत्तिं विद्वद्विदुषोरुत्क्रान्तिः समर्थिता । सैव संप्रति चिन्त्यते । किमात्मनि तेजःप्रभृतीनां भूतसू-
क्ष्माणां तत्त्वप्रविच्छेद एव संपत्तिराहोस्विद्बीजभावावशेषेति । यदि पूर्वः पक्षः, नोत्क्रान्तिः । अथोत्तरः, ततः सेति । तत्राप्रकृतो

आनन्दगिरियव्याख्या

दिष्यत्वाभावे हेतुन्तरमाह—प्रतिषिद्धेति । विशेषवत्स्वरूपोत्क्रान्तिरुक्तमुपसंहरति—तस्मादिति । सृतेर्मार्गस्योपक्रमादवाक्यमिणां सगु-
णोपासकानां च तुल्यैवोत्क्रान्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति । अस्य सोम्येत्याद्यविशेषश्रुतेर्विद्वद्विदुषोः साधारणी चेदुत्क्रान्तिस्तर्हि
तथोर्विशेषोपाभावाद्दिष्टावैयर्थ्यं, तत्राह—अविद्वानिति । अवाङ्नाडीभिरविद्वान्पितृलोकं लोकान्तरं वा स्वकर्मोत्सारेण प्रतिपद्यते विद्वान्-
न्युत्तमूर्धन्यया नाड्या ब्रह्मलोकमिति विशेषस्ततोऽतिरिक्तः । सृतिः सरणं देवयानो मार्गस्तदुपक्रमानुस्योत्क्रान्तिरित्युक्तेऽर्थे सूत्रावयवं
पातयति—तदेतदिति । अवशिष्टसूत्रावयवव्याख्यां शङ्कामाह—नन्विति । सूत्रावयवमुत्तरत्वेनावतार्यं व्याकरोति—अत्रेति ।
मनसैतात्कामान्प्रयत्नमन्ते स एकधा भवतीत्यादिश्रुतेर्चिरादिमार्गमनेन सेन्द्रियस्य फलभोगप्रतिपादनादिन्द्रियाणां च निराश्र-
याणां गमनायोगाज्जीवस्यापि तदाश्रयभूताश्रयस्य गतिरवगतेत्याह—नहीति । अपरविद्यास्वरूपत्वमपेक्षिकमिति स्थिते तत्रोत्क्रान्त्य-
न्वयो युक्त इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ७ ॥ उत्क्रान्तिकाले या सत्संपत्तिस्तत्स्वरूपं निरूपयति—तदाऽपीतेरिति ।
उदाहरणवाक्यस्यार्थोक्तिपूर्वकमधिकरणस्य विषयं दर्शयति—तेज इति । बीजभावावशेषां सत्संपत्तिं सिद्धवत्कृत्य विदुषोऽप्युत्क्रान्ति-
रुक्ता संप्रति संपत्तिरुभयथादृष्टेरात्यन्तिकी सत्संपत्तिरनात्यन्तिकी वेति संशयमाह—कीदृशीति । उत्क्रान्तिकालीनसत्संपत्तेः श्रुतायाः

पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम् । तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम् । तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदि भूतसूक्ष्मं भोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतेरा संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (क० ५।७) इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत । तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तञ्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विसंस्तितुमर्हति । तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतनभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः । स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः । अत एव च देहाभिगच्छन्नाश्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वाच्चास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन वाहादिनिमित्तेनेतरसूक्ष्मं शरीरमुपपद्यते १०

रत्नप्रभाष्याख्या

पातसंगतिः । पूर्वपक्षे मृतमात्रस्य मुक्तिसिद्धिः, सिद्धान्ते तु कर्मविद्याशास्त्रबलात्सावशेषलयसिद्धिरिति विवेकः ॥ ८ ॥ ननु लिङ्गात्मकस्य तेजसः कथं सूक्ष्मतमनाडीद्वारा गतिः कुतो वा केनचिन्मूर्तेन प्रतिघातो नास्ति कुतो वा न दृश्यत इत्यत आह—सूक्ष्ममिति ॥ ९ ॥ प्रमाणसौक्ष्म्यादतिरनुद्गतस्पर्शरूपवस्वरूपस्वच्छत्वादप्रतिघातानुपलब्धी इत्यर्थः ॥ १० ॥

आमतीष्याख्या

न विकारतत्त्वप्रविलयो यथा मनसि न वागादीनाम् । सर्वस्य च जनिमतः प्रकृतिः परा देवतेति तत्त्वप्रलय एवात्यन्तिकः स्यात्तेजःप्रभृतीनामिति प्राप्तमभिधीयते—'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' इत्यविधावतः संसारमुपदिशति श्रुतिः सेयमात्यन्तिके तत्त्वलये नोपपद्यते । नच प्रायणस्यैवैष महिमा विद्वांसमविद्वांसं वा प्रतीति सांप्रतमित्याह—अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवेति । विधिशास्त्रं योतिष्ठोमादिविषयमनर्थकं प्रायणादेवात्यन्तिकप्रलये पुनर्भावाभावात् । मोक्षशास्त्रं चाप्रायणलभ्याप्रायणादेव जन्तुमात्रस्य मोक्षप्राप्तः । न केवलं शास्त्रानर्थक्यमयुक्तञ्च प्रायणमात्रमोक्ष इत्याह—मिथ्याज्ञानेति । नासति निदानप्रशमे प्रशमस्तद्वतो युज्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अथेतर्भूतसहितं तेजो जीवस्याश्रयभूतमुक्तमदेहादेहान्तरं वा संचरकस्मादस्माभिर्न निरीक्ष्यते । तदि महत्त्वाद्दानेकद्रव्यत्वाद्वा रूपवदुपलब्धव्यम् । कस्माज्मूर्तान्तरं प्रतिबध्यत इति शङ्कामपाकर्तुमिदं सूत्रम्—सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः । चकारो भिन्नक्रमः । न केवलमापीतेस्तदवतिष्ठते । तच्च सूक्ष्मं स्वरूपतः परिमाणतश्च स्वरूपमेव हि तस्य तादृशमदृश्यम् । यथा चाक्षुषस्य तेजसो महतोऽपि अदृष्टवशादनुद्गतरूपस्पर्शी हि तत् । परिमाणतः सौक्ष्म्यं यतो नोपलभ्यते यथा त्रसरेणवो जालसूर्यमरीचिम्योऽन्यत्र प्रमाणतस्तथोपलब्धिरिति व्याचष्टे—तथाहि नाडीनिष्क्रमण इति । आदिग्रहणेन चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य इति संगृहीतम् । अप्रतिघाते हेतुमाह—स्वच्छत्वाच्चेति । एतदपि हि सूक्ष्मत्वेनैव संगृहीतम् । यथा हि काचाश्रपटलं स्वच्छस्वभावस्य न तेजसः प्रतिघातकम् । एवं सर्वमेव वस्तुजातमस्येति ॥ ९ ॥ नोपमर्देनातः । अत एव च स्वच्छतालम्ब-

आमन्दगिरीयव्याख्या

सावशेषत्वसाधनारपादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे देहादुत्क्रान्तस्यापुनरावृत्तिः । सिद्धान्ते तस्यापि ज्ञानहीनस्य पुनरावृत्तिरिति विवक्षित्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । पूर्वोक्तात्प्रकृतित्वहेतोरभावादिति हेतुमाह—तत्प्रकृतिस्त्वेति । उपपत्तिमेव दर्शयति—सर्वस्त्वेति । विमता सत्संपत्तिरात्यन्तिक्यन्तकालीनसत्संपत्तिर्त्वाद्ब्रह्मविदः सत्संपत्तिवदित्युपसंहरति—तस्मादिति । सिद्धान्तसूत्रमादाय व्याकुर्वन्मुक्तानुमानस्य श्रुतिविरोधमाह—एवमिति । उक्तान्तिकालीनसत्संपत्तेरात्यन्तिकत्वे दोषान्तरमाह—अन्यथेति । इष्टाप्तिमाशङ्क्य देहान्तरभोगाय कर्मविषयमुपपत्तिरित्यनुमानस्य बाधकान्तरमाह—तत्रेति । ज्ञानविषयमुपपत्त्यापि बाधितमनुमानमिति मत्वा त्रूते—मिथेति । युक्तितोऽपि बाधितं तदित्याह—मिथ्येति । निदाननाशातिरेकेण निदानिनाशो नात्यन्तिको युक्त इत्यर्थः । यत्तत्प्रकृतिवोपपत्तेरिति, तत्राह—तस्मादिति । श्रुतार्थापत्त्युक्तिविरोधस्तच्छब्दार्थः ॥ ८ ॥ ननु यथासंसारविमोक्षात्तेजआदिभूतसूक्ष्ममुक्तलक्षणमवतिष्ठते किमिति तर्हि देहाभिगच्छद्दसाभिर्नोपलभ्यते किमिति वा मूर्तान्तरेण प्रतिदृश्यते, तत्राह—सूक्ष्ममिति । स्वरूपसौक्ष्म्यसमुच्चयार्थक्षकार इत्यङ्गीकृत्य व्याचष्टे—तच्चेति । उपलब्धेरित्येतन्माकरोति—तथाहीति । परिमाणतः सौक्ष्म्याङ्गीकारे लाभं दर्शयति—तत्रेति । स्वरूपतस्तदङ्गीकारे लाभमाह—स्वच्छत्वादिति । उभयविधत्वादेवानुपलब्धिरपि सिद्धेत्याह—अत इति ॥ ९ ॥ सौक्ष्म्यकृतं लाभान्तरमाह—नोपमर्देनेति । तदेव विदुषोति—अत एवेति ॥ १० ॥ सूक्ष्मदेहस्तद्भावे मान-

प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥



भामतीष्याख्या।

आनन्दगिरीयव्याख्या

[illegible]

धिकृतो देही संबध्यते न देहः । न तस्मादुच्छिन्नमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥ सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

न तदस्ति यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देहापादानत्वादिति । यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समान्नातृणां स्पष्ट उपलभ्यते । तथा हि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कयामत्रैव समवनीयन्त इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्रयत्याभ्यायत्याभ्यातो मृतः शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्रयनादीनि समामनन्ति । देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः । तत्सामान्यात् न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः । यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः । येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्संबन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा

रत्नप्रभाष्याख्या

तत्र माध्यंदिनशाखायां तस्मादित्यपादानत्वरूपविशेष उक्तो ग्राह्यस्तथाच जीवात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधो भाति न देहात्तच्छब्देन देहस्यानुकेतस्साञ्ज्ञानिनोऽप्युत्क्रान्तिरस्तीति ज्ञानवैयर्थ्यमिति पूर्वपक्षफलम् । सिद्धान्ते तत्सार्थक्यमाह—**स्पष्टो हीति** । अत्र पुरुषशब्दाच्यो देह एवास्मादित्युत्क्रान्त्यवधिरुच्यते । सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्य पुरुषस्योच्छ्रयनादिधर्मकस्य जीवत्वायोगादित्यर्थः । उच्छ्रयति बाह्यवायुपूरणाद्वर्धते, आभ्यायति आर्द्रभेरीवच्छब्दं करोतीत्यर्थः । येषां पञ्चमीपाठस्तेषु यद्यपि देहिनः प्राधान्यं तथापि देहदेहिनोरभेदात्तस्मादिति देहं परामृश्य तदपादन एवोत्क्रान्तिप्रतिषेधः इति व्याख्येयम् । तत्सामान्यादुक्तश्रुत्यास्य पाठस्यैकार्थत्वादिति योजना । इदानीं काण्वपाठास्यानुगुण्यमाह—**येषां तु षष्ठीपाठ इति**

आमलीव्याख्या

प्राणाः सूक्ष्मं शरीरमुत्क्रामन्त्यपि तु तत्सहितः क्षेत्रज्ञ एवोत्क्रामतीति गम्यते । स पुनरतिक्रम्य ब्रह्मनाडया संसारमण्डलं हिरण्यगर्भपर्यन्तं सलिलो जीवः परस्मिन्ब्रह्मणि लीयते तस्मात्परामपि देवतां विदुष उत्क्रान्तिरत एव मार्गश्रुतयः, स्मृतिश्च सुप्रशोभकस्यादित्यमण्डलप्रस्थानं दर्शयतीति प्राप्तम् ॥ १२ ॥ एवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—**स्पष्टो ह्येकेषाम्** । नायं देहापादानस्य प्रतिषेधः अपितु देहापादानस्य । तथा हि—आर्तभागप्रश्नोत्तरे ह्येकस्मिन्पक्षे संसारिण एव जीवात्मनोऽनुत्क्रान्तिं परिगृह्य न तर्ह्ययमृतः प्राणानामनुत्क्रान्तेरिति स्वयमाशङ्क्य प्राणानां प्रविलयं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धयर्थमुत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्रयनाभ्याने भुवन्यस्योच्छ्रयनाभ्याने तस्य तदवधित्वमाह । शरीरस्य च ते इति शरीरमेव तदपादानं गम्यते । नन्वेवमप्यस्त्वविदुषः संसारिणो विदुषस्तु किमायातमित्यत आह—**तत्सामान्यादिति** । ननु तदा सर्वनाम्ना प्रधानतया देही परामृष्टः तत्कथमत्र देहावगतिरित्यत आह—**अभेदोपचारेण** । देहदेहिनोर्देहिपरामर्शना सर्वनाम्ना देह एव परामृष्ट इति पञ्चमीपाठे व्याख्येयम् । षष्ठीपाठे तु नोपचा इत्याह—**येषां तु षष्ठीति** । अपिच प्राप्तिपूर्वः प्रतिषेधो भवति नाप्राप्ते । अविदुषो हि देहादुत्क्रामणं दृष्टमिति विदुषोऽपि

आमन्दगिरिव्याख्या

वयार्थः स्यादित्यपेक्षायामाह—**न तस्मादिति** ॥ १२ ॥ तथापि प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य सप्राणस्य क्षेत्रज्ञस्य शरीरादुत्क्रान्तिं सिद्धेत्याह—**सप्राणस्येति** । परब्रह्मविदोऽपि गत्युत्क्रान्तीं स्तामिति । प्राप्तमनूष सिद्धान्तयति—**एवमिति** । सूत्रं हेतुत्वेन व्याख्यातं बहिरेव प्रतिज्ञामाह—**नैतदिति** । तत्र हेतुतया सूत्रं योजयति—**यन्न इति** । उपलभ्यमभिनयति—**तथाहीति** । उदस्मात्प्राण उत्क्रामन्तीत्यत्रोत्क्रान्त्यवधिमस्त्वमादित्युक्तं सशब्देन परामृश्योच्छ्रयनादिधर्मोक्तस्योच्छ्रयनाभ्याने तस्यैवोत्क्रान्त्यवधित्वं देहस्येति । अथोच्छ्रयनादिधर्मजातं देहिनोऽस्तु तेन तस्यैवोत्क्रान्त्यवधित्वं नेत्याह—**देहस्येति** । काण्वश्रुतौ निषिध्यमानोत्क्रान्तेर्देहापादानत्वेऽपि माध्यंदिनश्रुतौ देहिन एव तदपादानत्वं तस्यैव प्राधान्यादित्याशङ्क्याह—**तदिति** । विधाप्रकरणत्वसामान्याद्ब्रह्मविदो देहापादानोत्क्रान्तिनिषेधः शाखाद्वयेऽपि नुस्य इत्यर्थः । तच्छब्देन सर्वनाम्ना देहिनः प्रधानतया परामृष्टत्वात्कुतोऽत्र देहधीरित्याशङ्क्याह—**अभेदेति** । प्राधान्यादेहिनस्तच्छब्दादेरेवऽपि देहदेहीनोरभेदोपचारादेहिपरामर्शसर्वनाम्ना देहस्यैव परामर्शात्तस्मादेवोत्क्रान्तिरत्र निषिद्धेति । पञ्चमीपाठे व्याख्येयमित्यर्थः । माध्यंदिनपाठस्य सिद्धान्तानुगुण्यमुक्त्वा काण्वपाठास्यापि तदानुगुण्यमाह—**येषां र्विति** । न तस्यैवापादानापेक्षायाम् चक्षुषो वा मूर्ध्नो वेति देशांशानामुत्क्रान्त्यपादानत्वेन प्रकृतानामिह संबन्धप्राप्तोत्क्रान्तिनिषेधपरत्वाच्च वाक्यस्य न तस्य प्राणा देशांशेभ्यः सकाशादुत्क्रामन्तीति वाक्यविपरिणामादन्यथा वा प्राप्तनिषेधापातात्संबन्धसामान्यार्थवर्ध्याच्च प्राणेन रक्षन्प्राणमय इत्यादिकर्तृकरणोपाधुपहितत्वप्रकृतसंबन्धविशेषपर्यवसानादन्यशास्त्रात्पादानसंबन्धविशेषाभावात्तस्य कारणे

भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः । अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्ना वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य-
स्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२)
इत्येवमविद्वद्विषयं सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति तु कामयमानः' (बृ०
४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं
यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्रा-
प्त्योर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय । नच ब्रह्मविदः
सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वापपद्यते निमित्ताभावात् । 'अत्र ब्रह्म
समश्नुते' इति चञ्चलौतीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।
देवा अपि मार्गे मुखान्त्यपदस्य पदैषिणः' इति । ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य
स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याद्भूतो भो इति प्र-
तिशुश्राव' इति । न । सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति
द्रष्टव्यम् । सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात् । न ह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः । तथा
च तत्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः । दर्शयित्वा प्रभावं स्वं
सर्वभूतगतोऽभवत्' इति । तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः । गतिश्रुतीनां तु विषयमुप-
रिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

तानि परे तथाह्याह ॥ १५ ॥



अस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा ॥ गताः कला इति श्रुत्वा स्वस्वहेतुषु तट्टयः ॥ १ ॥
नयन्निधलयसाम्योक्तविद्वद्व्याख्या लयः परे ॥ अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

संबन्धविशेषाकाङ्क्षायां भोक्ता प्राणानां भोगोपकरणत्वविशेषोऽत्रैव प्राणमयो मनोमयः इति पूर्वश्रुत्युक्तो ग्राह्यः । न शाखान्त-
रस्थमादानान्तं ग्राह्यं जीवादुत्क्रान्तेरप्राप्तायाः प्रतिषेधयोगात् । अतो विद्वत्संबन्धप्राणानामुत्क्रान्त्युपादानापेक्षायां चक्षुष्टो वा
मूर्ध्ना वेत्युक्तदेहप्रदेशा एव ग्राह्याः । तथाचायमर्थः—तस्य विदुषो भोगोपकरणात्मकाः प्राणाः देहप्रदेशेभ्यो नोत्क्रामन्तीति । एवं च
प्राप्तेऽप्युत्क्रान्तिनिषेधार्थत्वं वाक्यस्येति सर्वं चतुरस्रम् । अपिचेति स्पष्टार्थम् । सम्यगात्मभावेन भूतानि पश्यतः अपदस्य प्रा-
प्यपदरहितस्य पदैषिणो देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति तदभावादिति स्मृतियोजना । स्मृत्यन्तरविरोधं
शङ्कते—ननु गतिरपीति । सगुणविद्याबलेनैवा गतिरिति परिहरति—सशरीरस्येति । ननु तर्हि 'तयोर्ध्वमायत्रमृतत्व-
मेति' 'स एवैतान्ब्रह्म गमयति' इत्यादिश्रुतीनां का गतिः, तत्राह—गतीति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तानि परे तथाह्याह । पूर्वत्र

भामतीव्याख्या

तत्सामान्यादेहादुत्क्रमणे प्राप्ते प्रतिषेध उपपद्यते न तु प्राणानां जीवावधिकं क्वचिदुत्क्रमणं दृष्टं येन तन्निषिध्यते । अपिचा-
द्वैतपरिभावनाभुवा प्रसंख्यनेन निर्मृष्टनिविलप्रपञ्चावभासजातस्य गन्तव्याभावादेव नास्ति गतिरित्याह—नच ब्रह्मविद इति ।
अपदस्य हि ब्रह्मविदो मार्गे पदैषिणोऽपि देवा इति योजना । चोदयति—ननु गतिरपीति । परिहरति—सशरीरस्यैवायं
योगबलेन । अपरविद्याबलेनेति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तानि परे तथाह्याह ।

आनन्दगिरियव्याख्या

पाथिभूताः प्राणा देहावयवेष्वो नोत्क्रामन्तीति वाक्यार्थः । इतश्च विद्वदुत्क्रान्तिनिषेधपरं वाक्यमित्याह—अपिचेति ।
व्यपदेशसामर्थ्यसिद्धमुपसंहरति—तस्मादिति । न केवलं मानाभावादेव गत्युत्क्रान्त्यभावः किंतु युक्त्यभावादपीत्याह—नचेति ।
उपपत्त्यवयवे हेतुमाह—निमित्तेति । गमनस्य कर्मकरणादिकारकासंभवादित्यर्थः । तयोः सत्त्वे मानं नास्तीत्युक्तं तदसत्त्वे मानम-
स्तीत्याह—अत्रेति ॥ १३ ॥ 'नोत्क्रामन्ति मुनेः प्राणा व्यापी सर्वगतो हि सः । तेन व्याप्तमिदं सर्वं कुत उत्क्रम्य यास्यति' इति-
स्मृतेरपि ब्रह्मविदो नोत्क्रान्तिर्गतिर्बेत्याह—स्मर्यते चेति । सर्वं व्याचष्टे—स्मर्यतेऽपीति । अपदस्य प्राप्यपदशून्यस्य ब्रह्मविदः
पदैषिणो देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति । तदभावादिति योजना । स्मृत्यन्तरविरोधं शङ्कते—नन्वेति । अपरवि-
द्याबलेनैवा गतिरित्याह—नेति । तत्र नियामकमाह—सर्वेति । आदिशब्देनानुगमनादि गृह्यते । तथापि कथं सशरीरस्य गतिः-
तत्राह—नहीति । उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—तथात्रेति । स्मृत्यनुग्रहलब्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । तयोर्ध्वमायत्र,
मृतत्वमेति स एतान्ब्रह्म गमयतीत्यादिगतिश्रुतीनां तर्हि का गतिः, तत्राह—गतीति ॥ १४ ॥ परब्रह्मविदो ब्रह्मणि परस्मिन्मा-

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रली-
यन्ते । कस्मात् । तथाह्याह श्रुतिः—‘एवमेवास्व परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः
पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति’ (प्रश्न० ६।५) इति । ननु ‘गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः’
(मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह
स्व । न । सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति ।
इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति । त-
स्माददोषः ॥ १५ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥



तद्वयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाध्यात्मनि ॥ शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥ १ ॥

नामरूपविभेदोक्तोक्तिः शेषेणैव तद्वयः ॥ अज्ञे जन्मान्तर्गतं तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥ २ ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति । तत्र प्रल-
यसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति । कुतः—वचनात् । तथा
हि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति—‘भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो

रजप्रभाभ्याख्या

गतिनिषेधेन विद्वत्कलानां प्राणादीनामत्रैव लय उक्तः । तमुपजीव्य स किं तत्तत्कलाप्रकृतिषु पृथिव्यादिषु स्यादुत परमात्मनीं
श्रुतिद्वयदर्शनात्संशयः कार्यः । तत्र साक्षात्प्रकृतौ विकारलय इति न्यायानुगृहीतया ‘गताः कलाः’ इति श्रुत्या पूर्वपक्षमा
षड्भेदादीं सिद्धान्तमाह—तानीति । यथा नयः समुद्रं प्राप्य लीयन्ते एवमेवास्व परितः सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टुरिमाः प्राणश-
्रद्धायाः पुरुषायणाः पुरुषे कल्पिताः पुरुषमेव ज्ञेयं प्राप्य लयं गच्छन्तीत्यर्थः । मनःप्राणयोरेकीकरणेन कलानां पञ्चदश
त्वम् । प्रतिष्ठा इति द्वितीयावहुवचनम् । स्वस्य प्रकृतेः पृथिव्याद्या इत्यर्थः । वस्तुगत्या विद्वद्दृष्ट्या परमात्मनि कलाल-
येऽपि लोकदृष्ट्या प्रतिष्ठासु लयोक्तिरविरुद्धा । तथाच कलाः स्वप्रकृतिषु विलाप्य ताभिः सह पुरुषे लीयन्ते इति श्रुतिद्वयता-
त्पर्यम् ॥ १५ ॥ अविभागो वचनात् । उक्तलयमुपजीव्य लयस्य द्वेधादर्शनात्संशयमाह—स पुनरिति

भामतीव्याख्या

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाण्येकादश सूक्ष्माणि च भूतानि पञ्च । ब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनीति
आरम्भबीजं निर्मशमाह—ननु गताः कला इति । प्राणमनसोरैकप्रकृतित्वं विवक्षित्वा पञ्चदशत्वमुक्तम् । अत्र श्रुत्योर्विषय-
व्यवस्थया विप्रतिपत्त्यभावमाह—सा खल्विति । व्यवहारो लौकिकः । सांयव्यवहारिकप्रमाणपेक्षेयं श्रुतिः । न तात्त्विकप्रमाण-
पेक्षा । इतरा तु ‘एवमेवास्व परिद्रष्टुः’ इत्यादिका विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा तात्त्विकप्रमाणपेक्षा । तस्माद्विषयभेदादविप्रतिपत्तिः श्रुत्योर्वि-
॥ १५ ॥ अविभागो वचनात् । निमित्तापाये नैमित्तिकस्यात्यन्तिकापायः । अविद्यानिमित्तश्च विभागो नाविद्यायां विषय-
आनन्दगिरीव्याख्या

णानां प्रलयो दर्शितस्तदयुक्तं तेषां पृथिव्यादिषु लयश्रवणादित्याशङ्क्याह—तानीति । विद्वत्कलाप्रलियो विषयः स किं पृथि-
व्यादिषु किंवा परस्मिन्नात्मनीति श्रुतिद्वयोपलब्धेः संदेहे श्रौतविद्याफलभूतकलाविलयो ब्रह्मण्येवेत्युच्यता पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे
प्रकृतावेव विकृतिरित्यसिद्धिः । सिद्धान्ते व्यवहारतस्तथात्वेऽपि तत्त्वतो ब्रह्मणि कलाविलयोपपत्तिरिति मन्वानः सिद्धान्तमाह—
तानीति । उक्तार्थे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—कस्मादिति । यथा नयः समुद्रं प्राप्य प्रलीयन्त एवमेवास्व जीवस्य परितः समन्तात्स-
र्वतोऽनवच्छिन्नप्रलयब्रह्मद्रष्टुरिमाः स्नानुभवगम्याः प्राणश्रद्धायाः षोडशसंख्याकाः कलाः पुरुषायणास्तदाश्रयास्तमेव पुरुषं प्राप्य बाह्य-
विषयसङ्कलागेन तस्मिन्निष्ठाय विलयमासादयन्तीति श्रुत्यर्थः । अस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षमाह—नन्विति । मनःप्राणयोरेकीकरणेन
कलानां पञ्चदशत्वं, प्रतिष्ठाशब्देन पृथिव्यादीनि तत्त्वानि कलाकारणान्युच्यन्ते । तथाच प्रकृतावेव विकारलय इति न्यायानुगृही-
तश्रुत्या भूतेषु विद्वत्कलाविलय इत्यर्थः । वस्तुस्थित्या परस्मिन्नात्मनि कलालयेऽपि व्यवहारदृष्ट्या पृथिव्यादिषु तदुक्तिरविरुद्धा ते-
विलीय तैः सह परस्मिन्नात्मनि कलानां विलयसिद्धेश्च श्रुतिद्वयमविरुद्धमित्याह—न सा खल्विति । विद्वद्विद्वद्दृष्ट्या श्रुतिद्वे-
प्रवृत्ते फलितमाह—तस्मादिति ॥ १५ ॥ पृथिव्यादिद्वारा ब्रह्मण्युक्तस्य विद्वत्कलाविलयस्य निरवशेषत्वमाह—अविभाग इति
प्रकृतमेव विद्वत्कलाविलयमधिकृत्य लयस्योभयथादृष्ट्या संशयमाह—स पुनरिति । अत्र श्रौतधीकलभूतविद्वत्कलाविलयस्य नि-
वशेषत्वनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मोक्षसिद्धिः । सिद्धान्ते तत्तद्विरुद्धिरेव पूर्वपक्षयति—तत्रेति । विदुषो ब्रह्मणि
कलाविलयः सावशेषः, ब्रह्मणि कलाविलयत्वादुक्तान्तिकालीनकलाविलयवदित्यर्थः । श्रुतियुक्तिविरुद्धमनुमानमिति सिद्धान्तयति—
ब्रवीतीति । तत्र श्रुतिविरोधं प्रश्नद्वारा दर्शयति—कुत इति । नदीसमुद्रव्यायेन पुरुषे कला विलीयन्ते तासां च कलानां नामरूपे

भवति' (प्र० ६।५) इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वो-
पपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

**तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्म-
तियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥**



अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः ॥ हृत्प्रचोतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ॥ १ ॥

मूर्धन्ययैव नाभ्यासौ त्रजेन्नाडीविचिन्तनात् ॥ विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात् ॥ २ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता । संप्रति त्वपरविद्याविषयमेव चिन्तामनुवर्तयति ।
समाना चास्त्युपक्रमद्विद्वद्विदुषोऽत्क्रान्तिरित्युक्तं तमिदानीं सत्युपक्रमं दर्शयति । तस्यो-
पसंहतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः
समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः । तदग्रज्वलनपूर्विका चक्षुरादिस्थानापा-
दाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्कामति
चक्षुष्टो वा मूर्धो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति । सा किमनियमेनैव विद्व-
द्विदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्रा-
प्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वद्विदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव

रत्नप्रभाभ्याख्या

मुक्तयसिद्धिस्तिसिद्धिश्चेत्युभयत्र फलम् । अवशेषो मूलकारणे शक्त्यात्मना स्थितिः पुनर्जन्मयोग्यतेति यावत् । विमतः कलालयः
सावशेषः, कलालयत्वात्सुषुप्तिवदिति पूर्वपक्षः । विमतो निरवशेषः, विद्याकृतत्वाद्वज्ज्वा विद्यया सर्पलयवदिति युक्त्युपेत-
ध्रुवा सिद्धान्तयति—**ब्रवीतीति** । नामरूपे शक्त्यात्मके अपि भिद्येते इत्यर्थः ॥ १६ ॥ **तदोकोग्रज्वलनम्** ।
स्मृतेर्मार्गस्योपक्रमो नाडीप्रवेशनियमस्तं वक्तुं सूत्रभागव्याख्याद्वाराऽधिकरणविषयमाह—**तस्येति** । स मुमुर्षुस्तेजोमात्रा
इन्द्रियाणि । तस्य हृदयस्याग्रं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं भाविकलस्फुरणं प्रद्योताख्यम् । चक्षुष्टो वेत्यनियमश्रुतेस्तयोर्ध्वमायन्निति
विशेषश्रुतेश्च संशयः—किमुपासकोऽप्यनुपासकवद्येन केनचिद्द्वारेण निर्गच्छति उत मूर्धन्यनाज्यैवेति । अत्र पूर्वपक्षे विद्याकृ-
तातिशयासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । वचनादविभागवदनियम इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**आचष्ट इति** ।
येन केनचिन्मार्गेण निर्गतस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तौ विद्याशेषत्वेन मार्गानुस्मृतिविधेः केवलदृष्टार्थत्वं स्यादतोऽन्यहं स्मृतेनैव

भामतीभ्याख्या

समृलघातमपहृतायां सावशेषो भवितुमर्हति । तथापि प्रविलयसामान्यात् सावशेषताशङ्कामतिमन्दापनेतुमिदं सूत्रम् ॥ १६ ॥
**तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शता-
धिकया** । अपरविद्याविदोऽविदुषश्चोत्क्रान्तिकृता । तत्र किं विद्वानविद्वान्निशेषेण मूर्धादिभ्य उत्क्रामत्याहो विद्वान्मूर्धस्थाना-
देव, अपरे तु स्थानान्तरेभ्य इति । अत्र विद्यासामर्थ्यमपश्यतः पूर्वपक्षः । तस्योपसंहतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञा-
नात्मन ओक आयतनं हृदयं तस्याग्रं तस्य ज्वलनं यत्तत्प्रकाशितद्वारो विनिष्क्रमद्वारो विद्वान्मूर्धस्थानादेव निष्कामति नान्येभ्यश्चक्षु-
रादिस्थानेभ्यः । कुतः—विद्यासामर्थ्यात् हार्दविद्यासामर्थ्यात् । उक्तुष्टस्थानप्रतिलम्भाय हि हार्दविद्योपदेशः । मूर्धस्थानादनिष्क्रमणे च

आनन्दगिरीयव्याख्या

शक्त्यात्मके अपि भिद्येते विदीर्येते पुरुषमात्रमवशिष्यते स च विद्वानकलः कलाविरहितः सन्नश्रुतो भवति पूर्णरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः ।
श्रुतिविरोधमनुमानस्योक्त्वा युक्तिविरोधमाह—**अविद्येति** । अनुमाननिरासफलमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १६ ॥ विद्वत्कलानां
वचनादविभागापत्तिवदपरब्रह्मविदामपि चक्षुष्टो वा मूर्धो वेत्यविशेषवचनात्थया कथाचित्राख्या प्राणनिष्क्रमणमिति प्राप्ते प्रत्याह—
तदोकोग्रज्वलनमिति । वृत्तानुवादपूर्वकुत्तराधिकरणानां तात्पर्यमाह—**समाप्तेति** । संप्रत्यस्याधिकरणस्य वृत्तमनूय तात्पर्य-
माह—**समाना चेति** । सूत्रभागव्याख्याद्वाराधिकरणस्य विषयमाह—**तस्येति** । हृदयमायतनमित्यत्र मानगाह—**स इति** ।
अस्तु हृदयं जीवस्यालम्बनं तथापि किं स्यादित्याशङ्क्योक्तम्—**तदग्रेति** । अदृष्टाक्षिप्तं प्रतिपत्तव्यज्ञानं प्रद्योतः । चक्षुष्टो वेति
द्वारानियमश्रुतेस्तयोर्ध्वमायन्नतत्त्वमेतीतिविशेषश्रुतेश्च संशयमाह—**सा किमिति** । उपासकानुपासकयोरनियमेन येन केनचिद्द्वारेणो-
त्क्रान्तिरथवापासकानामस्ति द्वारनियम इति विमर्शार्थः । अत्र चापरब्रह्मविदां फलोत्क्रान्तेर्द्वारनियमोक्त्या पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे ध्यानकृतातिशयशक्त्यत्वं सिद्धान्ते तत्कृतातिशयसिद्धिरिति सिद्धवत्कृत्य पूर्वपक्षमाह—**श्रुतीति** । चक्षुष्टोवेत्याद्यविशेषश्रुतेर्यतः
कुतश्चिद्वद्भावात्कामनोति प्राप्तमनूय सिद्धान्तमाह—**आचष्ट इति** । तेन प्रद्योतेन प्रकाशितद्वारवत्त्वे चोत्क्रान्तेरिति शेषः । तस्य
विदुषोऽविदुषश्चोच्चिक्रमिषोरोको हृदयमायतनं तस्याग्रज्वलनं प्रद्योतसंज्ञितमादौ भवति तेन प्रकाशितद्वारो विद्वानविद्वान्चोत्क्रान्तो

विद्याभिष्कामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे । कुतः—विद्यासामर्थ्यात् । यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत । तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात् । तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबन्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तथैव प्रतिष्ठत इति युक्तम् । तस्माद्दद्यालयेन ब्रह्मणा सृपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्कामतीतराभिरितरे । तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—‘शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्कुल्या उत्क्रमणे भवन्ति’ (छा० ८।६।६) इति ॥ १७ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥



अहम्येव मृतो रश्मिं याति निश्चयि वा निशि । सूर्यरश्मिरभावेन मृतोऽहम्येव यातिस्तम् ॥ १ ॥

यावदेहं रश्मिनाच्छोयोऽंगो ग्रीष्मक्षपास्वपि । देहदाहाच्छ्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्चयि यावसी ॥ २ ॥

अस्ति हार्दविद्या—‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम्’ (छा० ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता । तत्प्रक्रियायाम् ‘अथ या एता हृदयस्य नाड्यः’ (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् ‘अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते’ (छा० ८।६।५) इति । पुनश्चोक्तम् ‘तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति’ (छा० ८।६।६) इति । तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्कामन् रश्म्यनुसारी निष्कामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा स्त्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद् रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

रश्म्यनुसारीत्याख्या

मार्गेण गमनं युक्तमिति भावः । हार्दं ब्रह्म । विष्वङ् नानाविधा अन्या नाड्योऽन्येषामित्यर्थः । सुषुप्ताख्या नाडी हृदया निर्गता दक्षिणाक्षितालुकण्ठान्तस्तननासिकामध्यभित्तिद्वारा ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्ता सूर्यरश्मिभिरिकीकृता ब्रह्मलोकमार्गो उपासकस्येति स्थितम् ॥ १७ ॥ रश्म्यनुसारी । प्रकरणशोधनपूर्वकमुपासकस्य रश्म्यनुसारित्वं विषयमाह—अस्तीत्यादिना । अथ प्रारब्धान्ते एतदुत्क्रमणं यदा स्यादथ तदा एतैरेव नाडीसंबन्धै रश्मिभिरुत्क्रामतीत्यर्थः । अत्र संबन्धस्य कालविशेषाश्रवणाद्वात्रौ रश्म्यभावाच्च संशयमाह—तत्किमिति । पूर्वोक्तनाडीसंबन्धरश्मीनामत्रोपजीव्यत्वात्संगतिः । पूर्वपक्षे रात्रौ मृतस्य रश्मिप्राप्त्यर्थं सूर्योदयप्रतीक्षास्ति, सिद्धान्ते नास्तीति मत्वा सिद्धान्तं प्रतिजानीते—अविशेषेणेति ॥ १८ ॥

आमलीत्याख्या

नोत्कृष्टदेशप्राप्तिः । अथ स्थानान्तरेभ्योऽप्युत्क्रामन्कस्माच्छोकमुत्कृष्टं न प्राप्नोतीत्यत आह—तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । हार्दविद्याशेषभूता हि मूर्धन्या नाडी गल्यै उपदिष्टा । तदनुशीलेनेन खल्वयं जीवो हार्देन सृपासितेन ब्रह्मणानुगृहीतस्तस्यानुस्मरंस्त्वावमापन्नो मूर्धन्ययैव शताधिकया नाड्या निष्कामति । हृदयादुद्गता हि ब्रह्मनाडी भास्वरा तालुमूलं भित्त्वा मूर्धानमेव रश्मिभिरिकीभूता आदित्यमण्डलमनुप्रविष्टा तामनुशीलयतस्तथैवान्तकाले निर्गमनं भवतीति ॥ १७ ॥ रश्म्यनुसारी । रात्रावहनि चाविशेषेण रश्म्यनुसारी सत्त्वादित्यमण्डलं प्राप्नोतीति सिद्धान्तपक्षप्रतिज्ञा ॥ १८ ॥ पूर्वपक्षमाशङ्कते सूत्रावयवेन—

आनन्दगिरिव्याख्या

यद्यपीष्यते तथापि तयोस्तत्काल्युपादानव्यवस्थायां हेतुं पृच्छति—कुत इति । तत्र सौत्रं हेतुमवतार्य व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—विद्येति । स्थानान्तरेभ्योऽपि निष्कामन्नुत्कृष्टं फलमाप्नुयादित्याशङ्क्य सूत्रावयवं व्याचष्टे—तच्छेषेति । स्थानान्तरेभ्यो निर्गच्छतामपि विशिष्टलोकासौ विशिष्टगतिचिन्तनविधानवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । फलितोक्तिपरत्वेनावशिष्टं सूत्रभागं व्याचष्टे—तस्मादिति । उक्तं व्यवस्थायां स्मृतिमाह—तथाहीति ॥ १७ ॥ नाडीद्वारा, निष्कान्तस्य यदिदं रश्म्यनुसारित्वं तन्निशायामपि तुल्यमित्याह—रश्मीति । प्रकरणशोधनपूर्वकं विषयमाह—अस्तीति । प्रथमोऽथशब्दो दहरविशेषक्रमार्थो द्वितीयो रश्मिनाडीसंबन्धप्रदर्शनप्रारम्भार्थस्तृतीयस्त्वारंभकमेवासनानन्तर्यार्थः । एतदिति क्रियाविशेषणम् । चतुर्थोऽथशब्दस्तदेत्यर्थः । यत्रेति कालस्योक्तत्वात्प्रकरणशुद्धिर्लभ्यं निगमयति—तस्मादिति । मूर्धन्यनाड्या निर्गच्छतः सगुणब्रह्मविद्यो रश्म्यनुसारित्वं किमहन्येव किं वाहनि रात्रौ चेति रश्मिनाडीयोगस्य कालविशेषाद्युक्ते रात्रौ रश्म्यभावावगममात्रं संशयमाह—तदिति । अत्र चापरब्रह्मविदां फलाप्तये ब्रह्मनाड्या गच्छतां रश्म्यनुसारित्वस्याविशेषादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे रात्रौ प्रेतानामहरागमनमपेक्ष्य फलप्राप्तिः । सिद्धान्ते स यावत्क्षिप्येदित्यादिभ्यस्तदेव तत्प्राप्तिरित्युपेत्य सिद्धान्तं प्रतिजानीते—अविशेषेति ॥ १८ ॥ सूत्रावयवेन पूर्वपक्षवित्या तदवयवेन परिहरति—

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावदेहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसंबन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात् । नाडीरश्मिसंबन्धविच्छेदादिति चेन्न । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावदेहभावित्वात् । यावदेहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—अमुष्मादादित्याप्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सुप्ताः (छा० ८।६।२) इति । निदाघसमये च निशाखपि किरणानुवृत्तिरूपलभ्यते प्रतापादिकार्यदर्शनात् । स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्त्वन्तरजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु । 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति । यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत् । न ह्येतद्विशिष्टाधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति । अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमते पाक्षिकफला विद्येत्यनुवृत्तिरेव तस्यां स्यात् । मृत्युकालानियमात् । अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत । अहरागमेऽप्यस्य कदाचिद्वरश्मिसंबन्धाहं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात् । 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।९) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति । तस्मात्तद्विशेषणैवेदं रात्रिदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाख्या

पूर्वपक्षबीजमुपन्यस्य दूषयति—निशीत्यादिना । शिरा नाड्यः प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति सुप्ताः संबद्धाः । श्रुतसंबन्धस्य रात्रौ सत्वे युक्तिमाह—निदाघेति । तर्हि हेमन्तादिं रात्रिष्वौष्ण्योपलब्धिः स्यादित्यत आह—स्तोकेति । सविता रात्रावप्यहर्दधातीति धारणाभिधानं स्तोकरश्म्यनुवृत्त्यभिप्रायमेवेत्यर्थः । किंच यदि रात्रौ मृतस्य रश्मियोगं विनैवोर्ध्वगतिः स्यात्तादा रश्मिश्रुतेर्दिवामृतविषयतया संकोचः स्यादूर्ध्वगत्यभावे च विद्यायामप्रवृत्तिः स्यात् । नच प्रतीक्षयोर्ध्वगतिरिति वाच्यं, रश्म्युदयात्प्राग्देहदाहे आदित्यप्रतीक्षावैयर्थ्यापातादप्रतीक्षाश्रुतिविरोधाच्च । तस्माद्यदाकदाचिन्मृतस्य रश्मिप्राप्त्या भ्रूदिति ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ एवं दक्षिणायने मृतो विद्वान्विद्याफलमाप्नोति न वेति विद्याया नित्यवत्फलश्रुतेस्तत्प्राय-

भामतीव्याख्या

निशि नेति चेत् । सूत्रवयवान्तरेण निराकरोति—**न संबन्धस्य यावदेहभावित्वाद्दर्शयति च ।** यावदेहभावि हि शिराकिरणसंपर्कः प्रमाणान्तराप्रतीयते । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिरप्यशेषण । अमुष्मादादित्याप्रतायन्ते रश्मयस्त आसु नाडीषु सुप्ता भवन्ति य आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते विस्तार्यन्ते ते रश्मयोऽमुष्मिन्नादित्ये सुप्ताः । **प्रतापादिकार्यदर्शनादिति ।** आदिग्रहणेन चन्द्रापः संगृह्यन्ते । चन्द्रमसा खल्वम्पयेन संबध्यमानानां सूरिणां भासां चन्द्रिकात्वम् । तस्मादप्यस्ति निशि सौर्यरश्मिप्रचार इति । ये त्वाहुः—सं यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छेदिति निरपेक्षश्रवणाद्वात्रौ प्रेतो नास्ति रश्म्यपेक्षेति । तान्प्रत्याह—**यदि च रात्रौ प्रेत इति । न ह्येतद्विशिष्टाधीयतेऽप्येतारः ।** ये तु मन्यन्ते विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधेन नोर्ध्वमाक्रमत इति तान्प्रत्याह—**अथ तु विद्वानपीति ।** नित्यवत्फलसंबन्धेन विहिता विद्या न पाक्षिकफला युक्तेति । ये तु रात्रौ प्रेतस्य विदुषोऽहरपेक्षां सूर्यमण्डलप्राप्तिमाचक्षते तन्मतमाशङ्क्याह—**अथापि रात्राविति ।** यावत्तावदुपबन्धेनानपेक्षा गतिः श्रुता । न

आनन्दगिरियव्याख्या

निशीति । तत्र पूर्वपक्षं विवृणोति—**अस्तीति ।** सिद्धान्तमवतार्य व्याचष्टे—**नेत्यादिना ।** शिरा नाड्यः । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावदेहभावित्वे प्रमाणोक्तिपरं सूत्रभागमादाय विभजते—**दर्शयतीति ।** प्रतायन्ते विस्तीर्यन्ते सुप्ता गताः । नाडीरश्मिसंबन्धस्य श्रौतत्वेऽपि कुतो यावदेहभावित्वमित्याशङ्क्य युक्तिं दर्शयति—**निदाघेति ।** चन्द्रगतप्रकाशान्यथानुपपत्त्या रात्रावस्ति सूर्यरश्मिरहितवक्तुमादिपदम् । नहि चन्द्रमसः, यव प्रकाशस्तस्याम्पत्यत्वात्तदयोगात् । तर्हि शिशिरादिष्वपि रात्रिषु किरणानुवृत्तिरूपलभ्यतेत्याशङ्क्याह—**स्तोकेति ।** यद्रात्रौ तापो दृश्यते तदहरेव रात्रौ सविता दधातीति धारणाभिधानं स्तोकरश्म्यनुवृत्त्यभिप्रायमित्युक्तेऽर्थे ह्यल्पन्तरमाह—**अहरेर्नेति ।** स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छतीति नैरपेक्ष्यश्रुते रात्रौ प्रेतस्य न रश्म्यपेक्षेत्याशङ्क्याह—**यदीति ।** दिवा मरणविषयमेतदित्याशङ्क्याह—**नहीति ।** तर्हि रश्म्यनुसारित्वश्रुतेरर्थवत्त्वाव विदुषो रात्रौ प्रेतस्य फलसंबन्धो नास्ति, तत्राह—**अथ र्वेति ।** नित्यवत्फलसंबन्धेन विधानाच्च पाक्षिकफलतेत्यर्थः । तर्हि विदुषो मरणमहन्त्येवेति नियमादुक्तदोषनिवृत्तिः तत्राह—**मृत्युकाळेति ।** रात्रौ मृतस्यापि तर्हि सूर्योदयपर्यन्तप्रतीक्षा स्यात्, तत्राह—**अथापीति ।** आदिशब्देन गतीदिगृह्यते । यावत्तावदुपबन्धेन नैरपेक्ष्यश्रुतिविरोधाच्च न प्रतीक्षाकल्पनेत्याह—**स यावदिति ।** अपरविद्याविदो रश्म्यनुसारित्वस्याविशेषमुपसंहरति—**तस्मादिति ॥ १९ ॥** पूर्वोक्तिरेव युक्तिभी रात्राविव दक्षिणायनेऽपि मृतस्य फलाप्तिरिति शिष्टेत्याह—**अतमेति ।**

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥



अयने दक्षिणे सूत्रा धीफलं नैवधैति वा ॥ नैत्युत्तरायणाध्वोक्तैर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥ १ ॥

आतिवाहिकदेवोक्तैर्वरुणाद्यैः प्रतीक्षणात् ॥ कलैकान्त्याच्च विधायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥ २ ॥

अत एव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विधाया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि त्रियमाणो विद्वान्प्राप्तोत्येव विधाफलम् । उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धिर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्बुद्धेः मासांस्तान्' (छा० ४।१।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति । प्राशस्त्यप्रसिद्धिरिविद्वद्विषया । भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युतात्पर्यापनार्थं च । श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४) इति ॥ २० ॥ ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८।२३) इति कालप्राधान्येनोपकम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्तं चैते ॥ २१ ॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मार्तं चैते योगसांख्ये न श्रौते ।

रत्नप्रभाख्याख्या

प्राशस्त्यशास्त्राच्च संदेहे पूर्वोक्तहेतुनिदिशति—अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । पूर्वपक्षमाशङ्कयापनुदति—उत्तरायणेत्यादिना । अज्ञानामुत्तरायणे देवान्मरणं चेत्प्राशस्त्यमित्यभिज्ञाभिवचनरूपाचारपरिपालनार्थं भीष्मस्य प्रतीक्षा । षण्मासानिति श्रुतिस्तुत्तरायणदेवतापरेति वक्ष्यते । तथाच देवतायाः सदा सत्त्वाद्विधया दक्षिणायनकालेऽपि तत्प्राप्तिरविरुद्धेति भावः ॥ २० ॥ स्मृतिबलकालप्राधान्यं शङ्कते—ननु चेति । श्रौतदहराद्युपासकस्यास्माभिः कालानपेक्षोक्ता, स्मार्तयोगिनां तु कालोपेक्षा स्मृतावुच्यत इत्यविरोधमाह—योगिन इति । योगी दहराद्युपासक एव स्मृत्युक्तः किं न स्यादित्यत आह—स्मार्तं चेति । भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म योगः 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च' इति ।

आमर्तीयव्याख्या

चापेक्षा शक्यावगमा उपबन्धविरोधादिति ॥ १९ ॥ अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । अतएवेत्युक्तहेतुपरामर्श इत्याह—अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरिति । पूर्वपक्षबीजमाह—उत्तरायणमरणप्राशस्त्य इति । अपनोदमाह—प्राशस्त्यप्रसिद्धिरिति । अतःपदपरामृष्टहेतुबलद्विविधो मरणं प्राशस्त्यमुत्तरायणे विदुषस्तुभयत्राप्यविशेषो विधासाधार्योदिति । विदुषोऽपि च भीष्मस्योत्तरायणप्रतीक्षणमविदुष आचारं प्राहयति 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायात् । आपूर्यमाणपक्षादित्याद्या च श्रुतिर्न कालविशेषप्रतिपत्त्यर्थी, अपि त्वातिवाहिकीर्देवताः प्रतिपादयतीति वक्ष्यति । तस्मादविरोधः ॥ २० ॥ सूत्रान्तरावतरणाय चोदयति—ननु च यत्र काले त्विति । काल एवात्र प्राधान्येनोच्यते न त्वातिवाहिकी देवतेत्यर्थः । योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्तं चैते । स्मार्तामुपासनां प्रत्ययं स्मार्तः कालभेदविनियोगः प्रत्यासत्तेः न तु श्रौतौ प्रतीत्यर्थः । अत्र यदि स्मृतौ कालभेद-

आनन्दगिरियव्याख्या

दक्षिणायने मृतो विद्वान्विषयः स किं विधाफलं नाप्नोत्युत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धिर्नैत्यवत्फलसंबन्धेन विधाया विधानाच्च संदेहे दक्षिणायनेऽपि मृतस्य ब्रह्मविदो विधाफलमवश्यंभावीति साधनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दक्षिणायने मृतस्य फलाभावाद्दुत्तरायणमरणार्थं प्रयतितव्यम् । सिद्धान्ते हेत्वसिद्धेस्तादृक्प्रयत्नो नातीव फलवानित्यभिप्रेत्य सिद्धान्तमाह—अत इति । पूर्वाधिकरणन्यायेन सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह—उत्तरायणेति । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यो दक्षिणायने मृतस्य विदुषो नास्ति फलान्तिरिति पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तमाह—इतीमामिति । अपनोदप्रकारमाह—प्राशस्त्येति । यत्तु भीष्मस्य प्रतीक्षादर्शनादिति, तत्राह—भीष्मस्येति । उत्तरायणमरणं प्राशस्त्यमित्यविदुषामभिज्ञाभिवचनरूपो व्यवहारस्तत्पालनद्वारा सदाचारे तात्पर्यवैधित्यं तस्य कालप्रतीक्षणमित्यर्थः । तत्प्रतिपालनस्य गत्यन्तरमाह—पित्रिति । उत्तरायणस्य मार्गपर्वत्वेनापेक्षणीयत्वं श्रुतिमित्युक्तं तत्कुतो दक्षिणायने मृतो विद्वान्विधाफलमाप्नुयादित्याशङ्क्याह—श्रुतेस्त्विति । नहि कालवादिनी श्रुतिः किं त्वातिवाहिकदेवतार्थेत्यर्थः ॥ २० ॥ काल एवात्र प्राधान्येनोच्यते नातिवाहिकी देवतेति स्मृतिमाश्रित्य शङ्कते—नन्वेति । तदुत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति—अत्रेति । स्मार्तमुपासनां प्रत्ययं कालभेदविनियोगः स्मार्तोऽभ्युपगम्यते प्रत्यासत्तेरिति व्याचष्टे—योगिन इति । योगी दहराद्युपासक एव किं न स्यात्, तत्राह—स्मार्तं चेति । नित्यमग्निहोत्रादीश्वराराधनरूपेण यदनुष्ठीयते स योगः 'अनाश्रितः कर्मफलम्' इत्यादिस्मृतेः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारणापूर्वकोऽकर्तृत्वानुभवः सांख्यमिति भेदः । श्रौतदहराद्युपास्तीनां स्मृत्यविषयत्वे

अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः । ननु—‘अग्निर्ज्योतिहरः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्’ । ‘धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्’ (गी० ८।२४२-५) इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायते स्मृतावपीति । उच्यते—‘तं कालं वक्ष्यामि’ (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः । यदा पुनः स्मृतावप्यश्याद्या देवता एवातिवाहिकयो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाव्याख्या

इति स्मृतेः । धारणापूर्वकोऽकर्तृत्वानुभवः सांख्यं, ‘इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्’ इति स्मृतेः । ननु श्रुतिस्मृत्योर्मित्रार्थत्वमुक्तं प्रत्यभिज्ञाविरोधादिति शङ्कते—नन्वग्निरिति । कालाग्रहिणं प्रति मित्रार्थत्वमुक्तम् । यदि तु श्रौतार्थ-प्रत्यभिज्ञया कालशब्दो देवतापरस्तर्ह्येकार्थमेवेति समाध्यर्थः । तस्माद्विद्यासामर्थ्यात्सर्वदैव दिष्टंगतस्य उपासकस्य फलप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ २१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां चतुर्थध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भामतीव्याख्या

विधिः श्रुतौ चाभिच्योतिरादिविधिस्तत्राग्न्यादीनामातिवाहिकतया विषयव्यवस्थया विरोधाभाव उक्तः । अथ तु प्रत्यभिज्ञानं तथापि पञ्चकाल इत्यत्रापि कालाभिधानद्वारेणातिवाहिक्य एव देवता उक्ता इत्यविरोध एवेति ॥ २१ ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभाष्यविभागे भामत्यां चतुर्थध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

आनन्दगिरियव्याख्या

हलितमाह—अत इति । श्रुतिस्मृत्योर्मित्रार्थत्वं प्रत्यभिज्ञाविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति । कालभेदविधिपरत्वमङ्गीकृत्य विषयव्यवस्थोक्ता प्रत्यभिज्ञानेन कालाभिधानद्वारा देवतौ कौ श्रुतिस्मृत्योरेकार्थत्वमेवेति कुतो विरोधशङ्केत्याह—उच्यते इति । तदेवं दक्षिणायने ऋतस्यापि विदुषो विद्याफलमवश्यंभावीलधिकरणार्थमुपसहर्तुमितीत्युक्तम् ॥ २१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये चतुर्थध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थध्यायस्योत्क्रान्तिगतिनिरूपणाख्यो द्वितीयः पादः ॥



चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥



नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वाचिरादिकः ॥ नानाविधः स्वादिषासु वर्णनोदन्यगम्यथा ॥ १ ॥

एक एवाचिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्त्यर्थकः ॥ यतः पञ्चाभि विद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥ २ ॥

आसृत्युपक्रमात्समानोक्तान्तिरित्युक्तम् । सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा भूयते । नाडीरश्मिसं-
न्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभि-
संभवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६।२।१५) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासीद्याग्निलोकमागच्छति'
(कौ० १।३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१)
इत्यपरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चापरा । तत्र संशयः—
किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः किं वैकैवानेकविशेषणेति । तत्र प्राप्तं तावद्विन्ना एताः सृतय
इति । भिन्नप्रकरणत्वात् । भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपिच 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा०
८।६।५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत । त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्ता-
वदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति । तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति । एवं प्रा-

रक्षप्रभाष्याख्या

एवमुक्तान्तिं निरूप्य तत्साध्यं मार्गं गन्तव्यं च निरूपयितुं पादमारभते—अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । उक्तानुवाद-
पूर्वकमाद्याधिकरणस्य विषयं मार्गमाह—आसृतीति । विरजा विरजसः निष्पापा इत्यर्थः । श्रुतिविप्रतिपत्त्या संशयः ।
पूर्वं यदाकदाचिन्मृतस्यापि फलप्राप्तिरुक्ता तद्वद्येन केनचिन्मार्गेण गतिरिति पूर्वपक्षफलं विकल्पः, सिद्धान्ते मार्गैक्य-
मिति विवेकः । उपासनाभेदात्तच्छेषत्वेन ध्येयानां मार्गाणां भेदः, एवकाराच्च । किंच मार्गभेदे सत्यस्मादयं मार्गस्व-
रथा प्रापक इति युक्तं न मार्गैक्य इत्यर्थः । उपासनाभेदेऽप्युपास्यब्रह्मैक्यवन्मार्गैक्यमविरुद्धमिति सिद्धान्तयति—एवमिति ।

भामतीभाष्याख्या

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । भिन्नप्रकरणस्थत्वाद्विन्नोपासनयोगतः । अनपेक्षा मिथो मार्गास्वरान्तोऽवधूतरपि ॥ गन्तव्यमेकं
नगरं प्रति वक्त्रेणाध्वना गतिमपेक्ष्य क्रजुनाध्वना गतिस्वरवाती कल्प्यते । एकमार्गत्वे तु कमपरमपेक्ष्य त्वरा स्यात् । अथ तैरेव
रश्मिभिरित्यवधारणं नोपपद्यते पन्थान्तरेण निवर्तनीयस्याभावात्तस्मात्परानपेक्षा एवैते पन्थान एकब्रह्मलोकप्राप्त्युपाया श्रीहियवाविव
विकल्पेरभिति प्राप्ते प्रयुच्यते—एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वसंगमसंभवात् । गौरवाच्चेन नानात्वं प्रत्यभिज्ञानलिङ्गतः ॥ सर्वा हि पन्था
नगरादिकमेकं गन्तव्यं प्रापयति नाभागः । तत्र किमेते रश्म्यहर्वायुसूर्योद्गोऽध्वनः पर्वानः सन्तोऽध्वनैकेन युज्यन्ते, आहो यथा-
यथमध्वानमपि भिन्दन्तीति संदेहेऽभेदेऽप्यध्वनो भागभेदोपपत्तेर्न भागिभेदकल्पनोचिता, गौरवप्रसङ्गात् । एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च
विशेषणविशेष्यभावोपपत्तेर्नानैकाध्वकल्पना । अथैतैरेव रश्मिभिरित्यवधारणं न तावदर्थान्तरनिवृत्त्यर्थं तत्प्रापकैरेव वाक्यान्तैरै-
रोधात्, तस्मादन्यानपेक्षामस्यावधारयतीति वक्तव्यम् । न चैकं वाक्यमप्राप्तमध्वानं प्रापयति तस्य चानपेक्षां प्रतिपादयतीत्य-
र्थद्वयाय पर्याप्तं, तस्माद्विधिसामर्थ्यप्राप्तमयोगव्यवच्छेदमेवकारोऽनुवदतीति युक्तम् । त्वरावचनं चेति । न स्वत्वेकस्मिन्नेव गन्तव्ये

आनन्दगिरियव्याख्या

अपरविद्याफलाय देवयानं पन्थानमवतारयितुं तदङ्गभूतोक्तान्तिश्चिन्तिता । संप्रत्यक्षिन्नं पन्थानमेव वक्तुं पादान्तरमारभ्यते । तत्र
पूर्वाधिकरणे प्रायणकालानियमादिषाफलस्य चावश्यकत्वाप्रतीक्षणस्य चायुक्तैर्दक्षिणापनेऽपि सृतस्य विदुषो विद्याफलासिद्धीत्युक्तम् ।
प्रायणकालवत्प्रयतो गतिरनियतेत्याशङ्क्य परिहरति—अर्चिरादिनेति । वृत्तमनूष्य प्रकृतोत्तरमार्गमधिकरणस्य विषयत्वेनोदाहरति—
आसृतीति । श्रुत्यन्तरेषु भिन्नासु सृतिष्विति यावत् । संशयहेतुं श्रुतिविप्रतिपत्तिं वक्तुमनेकपैत्युक्तम् । अथेत्युक्तान्त्यान्तरयौक्तिः ।
विरजा विरजतो रजःशब्दितब्रह्मलोकासिधिवेधविधुरा इति यावत् । उक्तं देवयानं पन्थानमधिकृत्य श्रुतिविप्रतिपत्तिं सूचितां हेतुः
कृत्य संशयमाह—तत्रेति । अत्रापरविद्याफलासिद्धेर्हेतुमार्गैक्योक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मार्गबहुत्वे विकल्पः सिद्धान्ते तद्वै-
विकल्पशङ्कैव नेत्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयति—तत्रेति । सतीनां मिथो भिन्नत्वे हेतुमाह—भिन्नेति । नानाप्रकरणस्थत्वेऽपि विद्याव-
देकत्वं किं न स्यात्, तत्राह—भिन्नेति । प्रतिप्रकरणं विद्याभेदाद्वितीयेदानीमपि तद्वृणत्वेन चिन्त्यानां गुणिभेदाद्भेदः स्वादिष्यः ।
गतिभेदे हेत्वन्तरमाह—अपिचेति । किंच वक्राध्वना गतिमपेक्षयावक्रेण गतिस्वरवाती कल्प्यत एकत्वे तु किमपेक्ष्य त्वरा स्यात्-
स्याद्वितीयेदसिद्धिरित्याह—स्वरिति । मार्गभेदे केनाध्वना ब्रह्मलोकासिरित्याशङ्क्य समुच्चयायोगाद्रीक्षादिवदिकल्पः स्वादिति म-
त्वाह—तस्मादिति । उपासिभेदेऽप्युपास्यब्रह्मैक्यवद्गुणभूतगलैक्यसिद्धेरार्चिरादिरैक्ये गतिरित्याह—एवमिति । तत्र प्रतिज्ञा विभजते

तेऽभिवध्महे—अचिरादिनेति । सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरचिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे ।
कुतः—तत्प्रथितेः । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम् । तथाहि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'ये-
ऽचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यचिरादिका
सृतिः श्राव्यते । स्यादेतत् । यासु विद्यासु न काचिद्वतिरुच्यते तास्वियमचिरादिकोपतिष्ठतां
यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यचिराद्याश्रयणमिति । अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यन्त-
मिन्ना एवैताः सृतयः स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी कचित्केन-
चिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः । सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोप-
पत्तेः । प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्वतिविशेषणानामप्यु-
पसंहारः । विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथाहि
'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५) 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः'
(बृ० ५।१०।१) 'सा या ब्रह्मणो जितिर्मा व्युष्टिस्तां जिति जयति तां व्युष्टिं व्यश्रुते' (कौषी०
१।४) 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं
फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते । यस्वेतैरेवेत्यवधारणमचिराद्याश्रयणे न स्यादिति । नैष
दोषः । रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य । न ह्येक एवशब्दो रश्मीश्च प्रापयितुमर्हत्यचिरादींश्च व्या-
वर्तयितुम् । तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम् । त्वरावचनं त्वचिराद्यपेक्षायामपि
गन्तव्यान्तरापेक्षया शैथ्यार्थत्वान्नोपरुध्यते । यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति । अपिच 'अ-

रत्नप्रभाख्या

तस्य मार्गस्य प्रसिद्धत्वादिति हेत्वर्थः । ये चेत्यविशेषधृतिरश्रुतगतिविद्याविषयेति मार्गभेदं शङ्कते—स्यादेतदिति ।
एकस्यैव मार्गस्यानेकान्यभ्यादीनि विशेषणानीत्युक्ते लाघवात् मार्गभेदः प्रत्यभिज्ञानाच्चेति समाध्यर्थः । गन्तव्यैक्यं विवृ-
णोति—तथाहीति । परावतो दीर्घायुषो हिरण्यगर्भस्य परा दीर्घाः समाः संवत्सरान्वसन्ति कार्यब्रह्मणो या जितिः
सर्वत्र जयः, व्युष्टिर्व्योप्तिस्तां लभते इत्यर्थः । एवं गन्तव्यैक्यवत्प्रत्यभिज्ञया मार्गैक्यनित्यताप्रकरणभेदोऽप्रयोजक इत्युक्तं
संप्रत्येवकारत्वावचनयोगेतिमाह—यत्स्वित्यादिना । रात्रौ स्पष्टरश्म्यभावाद्विदुषो रश्म्ययोगप्राप्तौ तस्मिन्सायमेव-
कारो नान्यव्यावृत्त्यर्थः । यथा लौकिकमार्गं विलम्बस्तथा अचिरादौ नेति त्वरावचनोपपत्तिरित्यर्थः । मार्गैक्ये लिङ्गमाह—
अपिचेति । शुभमार्गबाहुल्ये तृतीयस्थानोक्तिर्न स्यादिति भावः । उत्तरमार्गैक्येऽप्यचिरादिनेति विशेषणे को हेतुरित्यत

भामतीव्याख्या

पथिर्भेदमपेक्ष्य त्वराऽवकल्प्यते किंतु गन्तव्यभेदादपि तदुपपत्तिः । यथा कश्मीरेभ्यो मथुरां श्वित्रं याति चैत्र इति तथेहा-
आनन्दगिरियव्याख्या

—सर्वं इति । नानाविधाध्वसु श्रुतेषु कारणमवधारणे वक्तव्यमिति पृच्छति—कुत इति । हेतुमवतार्य व्याचष्टे—तदिति ।
पञ्चाग्निविद्यामेव तेऽचिषमभिसंभवन्तीत्यचिरादिगतेः श्रुतत्वात्कुतः सर्वेषामिति विशेषणं, तत्राह—तथाहीति । साधारणश्रुतेरश्रु-
तगतिकधीविषयत्वाद्विद्यान्तराणां स्वाधिकारस्थगतिनिरपेक्षाणां नाचिरादिगतिसंगतिरिति शङ्कते—स्यादिति । एकत्वेऽपि पथोऽनेकप-
थैर्युक्तत्वयोगाद्गतेरेव न भेदो गौरवादित्याह—अत्रेति । एकदेशप्रत्यभिज्ञानादपि गतेरेक्यं सर्वत्रेत्याह—सर्वत्रेति । यत्तु भिन्नप्र-
करणत्वाद्भिन्ना गतय इति तत्र प्रकरणभेदमात्रादेव गतिभेदो विद्याभेदाद्वा नाद्य इत्याह—प्रकरणेति । नहि द्वितीय इत्याह—
विद्येति । तद्वेदेऽपि वेद्यब्रह्मैक्यवद्गुणभूतगलैक्यमविरुद्धमित्यर्थः । गन्तव्याभेदं विवृणोति—तथाहीति । ते ब्रह्मविदो नानाभोगदे-
शभाजि ब्रह्मलोके परावतो ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य पराः समाः प्रकृष्टान्संवत्सरान्वसन्ति यावदाशुब्रह्मणस्तावत्तत्र तिष्ठन्तीत्यर्थः ।
तस्मिन्निति ब्रह्मलोको गृह्यते । शाश्वतीः समा नित्यान्संवत्सरान्वसतीति पूर्ववत् । ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य या जितिः सर्वलोकजयो
या च व्युष्टिर्व्योप्तिस्तां लभते समानेदेहतां प्राप्तः सन्नित्यर्थः । कस्येतत्फलं, तत्राह—तद्य इति । तत्तत्राधिकृतानां मध्ये ये
केचिद्ब्रह्मचर्यादिसापनेन ब्रह्मोपासते ते पुनरेतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मणाधिष्ठितं लभन्त इत्यर्थः । उक्तश्रुतीनां तापर्थ्यमाह—तत्र तत्रेति ।
परोक्तमनूष प्रत्याह—यत्स्विति । रात्रौ स्पष्टरश्म्यदृष्टेस्तदनुसारित्वाभावे तत्र नृतस्य प्राप्ते सोऽप्येतैरेव रश्मिभिरित्ययोगव्यव-
च्छेदार्थमवधारणं नान्ययोगव्यवच्छेदादित्यर्थः । अन्ययोगव्यवच्छेदकत्वमपि वचनस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याह—नहीति ।
एकस्यैक्यस्याप्राप्तमार्गप्रापकत्वं तस्य निरपेक्षत्वप्रतिपादकत्वं चायुक्तं वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः । उभयार्थत्वयोगे फलितमाह—
तस्मादिति । विधिसामर्थ्यप्राप्तमयोगव्यवच्छेदमेवकारोऽनुवदतीत्यर्थः । यत्तु त्वरावचनं पीडितं स्यादिति, तत्राह—स्वरेति । अचि-
रादिमार्गस्यैक्येऽपि कुतश्चिद्व्यत्यतो गन्तव्यादनेनोपायेन सत्यलोकं ह्यति गच्छतीति गन्तव्यभेदापेक्षया वचनं युक्तमित्यर्थः । देवया-
नमार्गैक्ये हेत्वन्तरमाह—अपिचेति । मार्गभेदे स्थानान्तरस्यापि योगात्तृतीयस्थानोक्तिर्न स्यादित्यर्थः । पितृयागातिरिक्तमार्गैक्येऽपि

थैतयोः पथोर्न कतरेणचव' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयप्रधानां कष्टं तृतीयं स्थानमाच-
क्षाणां पितृयाण्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति । भूयांस्यर्चिरादि-
सृतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र । भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चि-
रादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ १ ॥

वायुमन्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥



२ अधिकरणम्

संनिवेशयितुं वायुराशक्योऽपि शक्यते ॥ न शक्यो वायुलोकस्य शुतक्रमविषर्जनात् ॥ १ ॥
वायुच्छिद्रादिनिष्क्रम्य स आदित्यं प्रजोदति ॥ श्रुतेरर्वाग्रवेवांशुर्देवलोकस्ततोऽप्यर्चः ॥ २ ॥

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृ-
त्वाचार्यो प्रथयति । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स घृ-
णलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौपीतकिनां देव-
यानः पन्थाः पठ्यते । तत्रार्चिराग्निलोकशब्दौ तावदेकार्यौ ज्वलनघचनत्वादिति नात्र संनिवेश-
क्रमः क्वचिदन्वेष्ट्यः । वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन्स्थाने निवेशयितव्य इति ।
उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरहृ आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्बुद्बुद्धेति
मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१, २) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमा-
दित्यादौञ्च वायुमभिसंभवन्ति । कस्मात् । अविशेषविशेषाभ्याम् । तथाहि—'स वायुलोकम्'

रक्तप्रभावाख्या

आह—भूयांसीति ॥ १ ॥ उक्तं मार्गस्यैक्यमुपजीव्य पर्वक्रममाह—वायुमन्दात् । अर्चिरादिष्वस्मादयमनन्तर इति
क्रमेण विशेषणविशेष्यभाव उच्यत इत्यधिकरणस्य तात्पर्यमुक्त्वा विषयमाह—स एतमिति । अत्राभ्यनन्तरं पठितो वायु-
विषयः । स किं अर्चिरात्मकाग्रेनन्तरमुत संवत्सरात्पर इति पाठाद्वक्ष्यमाणविशेषश्रुतेश्च संशये सिद्धान्तमेवोप-
मते—उच्यत इति । पुरुषः उपासकोऽस्माह्लोकादेहात्प्रैति निर्गच्छति तस्मै प्राप्ताय पुरुषाय स वायुस्तत्र स्वात्मि

भामतीव्याख्या

प्यन्यतः कुतश्चिद्वन्तव्यादनेनोपायेन ब्रह्मलोकं श्रिप्तं प्रयातीति । भूयांस्यर्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाणीति । अयमर्थः—एक-
त्वाप्राप्तव्यस्य ब्रह्मलोकस्याल्पपर्वणा मार्गेण तत्प्राप्तौ संभवन्त्यां बहुमार्गोपदेशो व्यर्थः प्रसज्यते । तत्र चेतनस्याप्रवृत्तेः । तस्माद्-
यसां पर्वणामविरोधेनाल्पानां तदनुप्रवेश एव युक्त इति ॥ १ ॥ वायुमन्दादविशेषविशेषाभ्याम् । श्रुत्याद्यभावे पाठस्य
कर्म प्रति नियन्तृता । ऊर्ध्वक्रमणमात्रे च श्रुता वायोर्निमित्ता ॥ 'स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य सं-
तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते' इति हि वायुनिमित्तमूर्ध्वक्रमणं श्रुतं न तु वायुनिमित्तमादित्यगमनं 'स आदित्यं गच्छति' इत्यादित्यगमन-
मात्रप्रतीतिः । नच तेनेत्यनन्तरश्रुतोर्ध्वक्रमणक्रियासंबन्धि निराकाङ्क्षमादित्यगमनक्रिययापि संबन्धमर्हति । न चादित्यागमनस्य तेनेति
विना काचिदनुपपत्तिर्येनान्यसंबन्धमप्यनुपपद्यते । तत्राग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमित्यादिसंदर्भगतस्य पाठस्य क्वचिन्नियामक-

आनन्दगिरीयव्याख्या

किमित्यर्चिरादिनेति विशेषणमित्याशङ्क्याह—भूयांसीति । अल्पपर्वणा मार्गेण गन्तव्यप्राप्तिसंभवे बहुपर्वणामोपदेशो व्यर्थः स्यादे-
क्षावतस्तत्राप्रवृत्तेः । अतो भूयसां पर्वणामनुरोधेनाल्पीयसां तदनुप्रवेश एव युक्तो बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः । मार्गेणे
जघन्यविकल्पशङ्कापि नेति वक्तुमपीत्युक्तम् ॥ १ ॥ सर्वत्रार्चिरादिमार्गपर्वप्रत्यभिज्ञानाद्वैक्यमुक्तम् । संप्रत्येतं देवयानं पन्थानमापद्या-
ग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमित्यत्रार्चिरात्मकास्थानान्तरप्रत्यभिज्ञानादर्चिषोऽनन्तरं निवेशनीयो वायुरित्याशङ्क्याह—वायुमिति ।
इतरेतरविशेषणविशेष्यत्वेनोपसंहारोऽर्चिरादीनामुक्तः स कीदृश इति विचारयति—केनेति । मार्गपर्वणां विशेषणविशेष्यत्वे सिद्धे योग्यत्वा
स्वयमेव संनिवेशविशेषसिद्धेरनर्थकं तन्निरूपणमित्याशङ्क्याह—सुहृदिति । संनिवेशविशेषणविशिष्टं विशेषणविशेष्यत्वं तदेतदित्यु-
क्तम् । संक्षेपतोऽधिकरणस्य तात्पर्यमुक्त्वा विषयमाह—स इति । तत्र प्रथमश्रुतमग्निलोकमतिक्रम्य किमिति वायोः संनिवेशो
विचार्यते, तत्राह—तत्रैति । असंदिग्धमंशमुक्त्वा संदिग्धमंशमाह—वायुस्थिति । अर्चिषोऽनन्तरमग्निलोकं वायुलोकमिति पाठ-
क्रमबलाद्वायुर्निवेशयितव्यः किंवा वक्ष्यमाणन्यायेन संवत्सरदेवलोकयोः परस्तादादित्यस्य चावोगिति संशयात्स एव विचारविषय
इत्यर्थः । अत्र चापरविधाफलार्थं मार्गपर्वणां संनिवेशविशेषचिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे पाठानुक्रमस्यानुसरणं 'सिद्धान्ते
त्वर्थक्रमात्तस्य बाध्यतेति मनवानो वायोरादित्यादव्यवहितपूर्वत्वेन संनिवेशं सिद्धान्तमाह—उच्यत इति । पाठक्रमादग्रेनन्तरं नि-
वेशनीयो वायुरिति शङ्कते—कस्मादिति । सूत्रपदेनोत्तरमाह—अविशेषेति । विशेषदर्शनस्यैव स्थानविशेषसंनिवेशहेतुत्वोप-
वायोर्चिरादिके पथि सामान्यप्राप्तावविशेषोक्तिरपि हेतुरिति मत्वा व्याचष्टे—तथाहीति । कौपीतकिश्रुतेर्वाजसनेयिश्रुतिः शुक्-

(कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माह्लोकात्मैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति । एतस्मादादित्याद्यायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादद्वितीयोऽन्तराले वायुनिवेशयितव्यः । कस्मात्पुनरग्रेः परत्वदर्शनाद्विशेषाद्विषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते । नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः । ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति । उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते एतमेतं चागच्छतीति । इतरत्र पुनर्वायुप्रसूतेन रथचक्रमात्रेण चिद्वेदोऽर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः । तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति । वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समाप्नन्ति । तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसंभवयुः । वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः । तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ । तत्रापि माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाख्या

विजिहीते छिद्रं करोति, तेन वायुदत्तेन रथचक्रछिद्रमुल्लेखेन द्वारेणोर्ध्वमादित्यं गच्छतीति श्रुत्यर्थः । इदानीं पूर्वपक्षमाह—कस्मात्पुनरिति । पाठबलाद्विषोऽनन्तरं वायुरित्यर्थः । कौषीतकिनां पाठमात्रं, न क्रमविशेषवाची कश्चिच्छब्दोऽस्ति । काण्वानां तु तेनेत्यूर्ध्वमिति च शब्दाभ्यां क्रमनिश्चयात्पाठबाध इति सिद्धान्तार्थः । अस्त्वर्चिरादिमार्गे छान्दोग्यस्थे संवत्सरपाठाद्वायोऽन्तरत्वं, वाजिश्रुतिस्थे तु संवत्सरस्याश्रुतेः कथमब्दात्परो वायुरित्यत आह—वाजैति । तर्हि—देवलोकाद्वायुमिति सूत्रं स्यादित्यत आह—वायुमब्दादिति त्विति । संवत्सरस्य मासावयवित्वात्मासानन्तर्यं संवत्सरात्परो देवलोकस्ततः परो वायुर्वायोः पर आदित्य इति श्रुतिद्वये क्रमो निष्पन्नः । तेनेति तृतीयाश्रुत्या वायोरादित्यपूर्वत्वावगमा-

भामतीव्याख्या

त्वेन कृत्स्नसामर्थ्यादभियाववरुणक्रमनियामकश्रुत्याद्यभावादिति प्राप्ते प्रयुज्यते—ऊर्ध्वशब्दो न लोकस्य कस्यचित्प्रतिपादकः । तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम् । भवेदेतदेवं यदूर्ध्वशब्दात्कश्चिद्लोकभेदः प्रतीयेत स तूपरिदेशमात्रवाची लो-कभेदाद्विनाऽपर्यवर्त्यल्लोकभेदाच्चिनादित्यपदेनादित्ये व्यवस्थाप्यते । तथा चादित्यलोकगमनमेव वायुनिमित्तमिति श्रौतक्रमनियमे, पाठः पदार्थमात्रप्रदर्शनार्थो न तु क्रमाय प्रभवति श्रुतिनिरोधादिति सिद्धम् । वाजसनेयिनां संवत्सरलोको न पठ्यते छान्दोग्यानां देवलोको न पठ्यते तत्रोभयानुरोधादुभयपदे माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोकः । नहि मासो देवलोकेन संबध्यते किंतु संवत्सरेण । तस्मात्तयोः परस्परसंबन्धान्मासात्परम्यत्वाच्च संवत्सरस्य मासानन्तर्यं स्थिते देवलोकः संवत्सरस्य परस्ताद्भवति । तत्रादित्यानन्तर्याय वायोः संवत्सरादित्यस्य स्थाने देवलोकाद्वायुमिति पठितव्यम् । वायुमब्दादिति तु सूत्रमात्रपि वाचकमेव । तथापि संवत्सरात्पराश्रमादित्यादौर्ध्वं वायुमभिसंभवतीति छान्दोग्यपाठमात्रापेक्षयोक्तं, तदिदमाह—वायुमब्दादिति त्विति ।

आनन्दगिरियव्याख्या

न्तरम् । पुरुषो ध्याता लोको देहः । प्रैतील्यत्र तदेति द्रष्टव्यं यदेत्युपक्रमात् । तस्मै प्राप्तयोपासकाय वायुस्तत्र स्वात्मनि विजिहीते द्वारं प्रयच्छतीति यावत् । वायुप्रतद्रापरिमार्णं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । विशेषोक्तिकर्त्तुं निगमयति—एतस्मादिति । सिद्धान्तेनोपक्रमस्य पूर्वपक्षमाह—कस्मादिति । पाठक्रमाद्विषोऽनन्तरं निवेशनीयो वायुरित्यर्थः । वायुप्रसूतमार्गेणोर्ध्वमादित्यमाक्रमत इत्यूर्ध्वत्वश्रुतेर्द्विषवचनत्वेऽप्यर्थक्रमधोत्वत्तेनेति च वायुप्रतत्रथचक्रपरिमितावकाशस्योर्ध्वक्रमणं प्रति हेतुत्वसिद्धेर्वायोऽपि तत्र भित्तलद्रष्टृत्वं शब्दश्रुतिभिर्द्राधैक्रमेण पाठक्रमो बाधत इत्याह—नेत्यादिना । उक्तमेवार्थं विवृण्ववाशङ्कते—नन्विति । तत्र सिद्धान्ती स्वाभिप्रायमाह—उच्यते इति । तर्हि वाक्यस्य वैयर्थ्यं नेत्याह—पदार्थेति । स्वरूपविधिपरमेतद्वचनं न क्रमपरमित्यर्थः । वाजसनेयिभिरात्रापि क्रमवाचिशब्दो नास्तीत्याशङ्क्याह—इतरत्रेति । कौषीतकिवाक्योक्तस्य वायोऽछान्दोग्योपदिष्टाचिरादिमार्गे निवेश-सूक्तमुपसंहरति—तस्मादिति । वाजसनेयिनां संवत्सराश्रवणात्कथं वायुमब्दादिति सूत्रं, तत्राह—वाजसनेयिनस्त्विति । तर्हि देवलोकाद्वायुलोकमिति वक्तव्यमित्याशङ्क्य छान्दोग्याभिप्रायेणैतदुक्तमित्याह—वायुमिति । क्रमस्तर्हि कः स्यादित्याशङ्क्योभयश्रुत्यालोचनया क्रमं दर्शयति—छान्दोग्येति । तर्हि कथमेकवाक्यत्वं, तत्राह—तत्रेति । तर्हि देवलोकस्य प्राथम्यं संवत्सरस्य पाश्चात्यं किं न स्यात्, तत्राह—तत्रापि । संवत्सरस्य मासात्परम्यत्वात्मासानन्तर्यं स्थिते देवलोकः संवत्सरस्य परस्ताद्भवत्यादित्यानन्तर्याय देवलोकादपि वायुरपरिष्टाद्भवत्येव । सूत्रे तु संवत्सरादेवलोकं प्राप्य वायुमभिसंभवतीति विवक्षितं वायुशब्दस्य देवलोको-

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥



वरुणादेः संनिवेशो नास्ति तत्रापि विद्यते ॥ नास्ति वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ॥ १ ॥

विद्युत्संबन्धिषट्स्थिरीरस्याधिपतित्वतः ॥ वरुणो विद्यतस्तर्ह्येतत्त इन्द्रप्रजापती ॥ २ ॥

‘आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्’ (छा० ४।१।५।) इत्यस्या विद्युत उपरिष्ठात्स वरुण-
लोकमित्ययं वरुणः संबध्यते । अस्ति हि संबन्धो विद्युद्वरुणयोः । यदा हि विशाला विद्युतस्ती-
व्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति । विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा’
(छा० ७।१।११) इति च ब्राह्मणम् । अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । वरुणाद-
धीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च । आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव नि-
वेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्बिद्युच्चान्याऽर्चिरादौ वर्तन्ति ॥ ३ ॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥



मार्गचिह्नं भोगभूवां नेतारो वार्षिरादयः ॥ आधौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्यालोकशब्दतः ॥ १ ॥

अन्ते गमयतीत्युक्तेनंतरलेपु चेदृशः ॥ निर्वेशोऽस्वयं लोकाख्या तन्निवासिजनामन्ति ॥ २ ॥

तेष्वेवाचिरादिवु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तूणामिति ।

रत्नप्रभाष्याख्या

दिति, सूत्रे तु वायुपदं देवलोकपूर्वकवायुपरमिति स्थितम् ॥ २ ॥ एवं कौपीतकिमिरम्यनन्तरं पठितस्य वायोः स्थानमुक्त्वा
वाय्वनन्तरं पठितस्य वरुणस्याचिरादिमार्गं स्थानमाह—तडितोऽधिवरुणः संबन्धात् । पठितो वरुणादिमार्गपर्वत्वेन
संबध्यते न वेति संदेहेऽर्चिषोऽहरित्यादि पञ्चम्याऽर्चिरादीनां क्रमेण मार्गपर्वतया बद्धत्वाद्वायोरेव स्थानविशेषश्रुत्यभा-
वादलब्धस्थानो वरुणादिर्न संबध्यत इति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—आदित्यादिति । अपां विद्युत्कार्यत्वेन संबन्धे मानमाह—
विद्योतत इति । वरुणस्याब्दारा विद्युत्संबन्धात् ‘आगन्तुकानामन्ते निवेशः’ इति न्यायाच्च विद्युदानन्तर्ये सति यथापाठ-
मिन्द्रप्रजापत्योः क्रम इत्यर्थः ॥ ३ ॥ एवमचिरादीनां क्रमं निरूप्य स्वरूपं निरूपयति—आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

भामतीव्याख्या

॥ २ ॥ तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् । तडितोऽर्चिराधेऽध्वन्यपतितस्तडितः परः । तत्संबन्धान्त्येन्द्रादिरपतेः पर इत्यते ॥
आगन्तूनां निवेशोऽन्ते स्थानाभावात्प्रसाधितः । तथा चन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्यतेः परः ॥ ३ ॥ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।
मार्गचिह्नसारूपत्वाच्चिह्नान्येवाचिरादयः । भर्तुर्भोगभुवो वा स्थूलोक्तत्वाच्चातिवाहिकाः ॥ अचिरादिशब्दा हि ज्वलनादावर्तन्तेपु

आनन्दगिरियव्याख्या

पलक्षणार्थत्वात् । अतः श्रुतित्रयवशादेवलोकसहितवायोः संवत्सरादित्यान्तरालवर्तित्वमित्यर्थः ॥ २ ॥ वायोः संनिवेशो दर्शिते तदनन्-
तरपठितवरुणादिसंनिवेशं दर्शयति—तडितोऽधि वरुण इति । स वरुणलोकमित्यादिना श्रुतो वरुणादिर्बिषयः स किमचिरादिमार्गपर्व-
त्वेन न संबध्यते किंवा संबध्यत इति तस्य तत्र संनिवेशस्थानासंभवसंभवाभ्यां संदेहे स वायुलोकं स वरुणलोकमिति वरुण-
दीनां पाठक्रमेण वायोरुध्वेनादित्यात्प्रागुध्वंश्रुतिसिद्धार्थक्रमविरोधेन निवेशासिद्धेर्विद्युत्परिष्ठादमानवपुरूपस्यैव नेतृत्वश्रवणाद्वरुण-
दीनामनुपयोगाश्रित्वेन स्थानान्तरादृष्टेः तेषां मार्गपर्वत्वेन संबन्धो नास्तीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—आदित्यादिति । विद्युतोऽनन्तरं
वरुणसंनिवेशो सूत्रोक्तं हेतुमाह—अस्तीति । तत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—यदेति । विद्युदुद्भवानन्तरं वृष्टेर्दृष्टत्वात्कारणभा-
वस्तयोरस्तीत्यर्थः । तत्रैव श्रुति संवादयति—विद्योतत इति । अपां विद्युद्योगेऽपि वरुणस्य किमायातं तदाह—अपां चेति ।
वायोरनन्तरमधीतस्यापि वरुणस्य विद्युदानन्तर्यवदिन्द्रप्रजापत्योर्वरुणानन्तरमधीतयोरपि स्थानान्तरं वाच्यमित्याशङ्क्याह—वरुणाच्चेति ।
तर्हि तयोर्मार्गपर्वत्वेन संगतिरेव मा भूदित्याशङ्क्याह—पाठेति । आगन्तूनामन्ते निवेश इतिन्यायाच्चासाधारणस्थानादीनां व-
रुणादीनां तडिदानन्तर्यमुक्तमित्याह—आगन्तुकत्वादिति । यथा दर्शपूर्णमासिकविकृतौ नक्षत्रेष्टौ सोऽत्र जुहोत्यग्रे स्वाहा कृत्ति-
काभ्यः स्वाहत्यादीनामुपशोमानां प्रधानशब्दगृहीतप्रकृतनारिष्टहोमान्ते प्रयोगो निरूपितस्तथाचिरादिमार्गेऽपि स्थानाभावेनागन्तूना-
मन्ते निवेशः स्यादिति भावः । कथं विद्युतोऽन्यत्वं नहि तदन्यत्ववाची शब्दोऽस्तीत्याशङ्क्य विद्युदानन्तरं पूर्वोत्तरस्यानुक्ते-
रन्यत्वमित्याह—विद्युच्चेति । वरुणादीनामुपयोगसंबन्धान्तेन सह नेतृत्वसंभवादिति वक्ष्यते । अत्र च विद्याफलार्थे पथि वरुणादीनां
संनिवेशोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे वरुणादिपाठस्यादृष्टार्थत्वं सिद्धान्ते वरुणादीनां स्थानान्तराभावेऽप्यागन्तूनामन्ते निवेशात्पाठस्य
दृष्टार्थत्वेति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥ अचिरादीनां क्रमं निरूप्य स्वरूपं निरूपयति—आतिवाहिका इति । विषयोक्तिपूर्वकश्रुतिसाम्यालोक-
शब्दादतिनेतृत्वलिङ्गाच्च संशयमाह—तेष्वेवेति । अत्र च विद्याफलप्राप्त्यर्थमचिरादावध्वनि प्रवृत्तस्य विद्युषो गमयितृत्वचिन्तनात्पादादि-

तत्र मार्गलक्षणभूता अचिरादय इति तावत्प्राप्तम् । तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथा हि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह आपुर्यमाणपक्षमित्याद्याह । अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथाहि—लोकशब्देनाश्यादीननुषङ्गाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते—'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च । तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नातिवाहिका अचिरादयः । अचेतनत्वाद्यप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चे-
तना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानातिवाहयन्तीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—
आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति । कुतः—तल्लिङ्गात् । तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरु-
षोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१।५) इति सिद्धवद्भ्रमयितृत्वं दर्शयति । तद्व-
चनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत् । न । प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य । यद्यचिराद्विषु
पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥
ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैष दोषः ।

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदचिरादिमार्गास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अचिरादीनामप्यचेतन-

रत्नप्रभाख्याख्या

चिह्ननिर्देशाभ्याम्लोकशब्दादनेतृत्वलिङ्गाच्च संशयः । आयपक्षद्वयं पूर्वपक्षः । अचिरादयो विद्युदन्ताश्चेतना नेतारश्चामानवपुरु-
षेण नेत्रा सह पठितत्वादिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । यथाश्रुत्यमानवस्यास्तु नेतृत्वं नाचिरादीनामिति शङ्कते
—तद्वचनमिति । पुरुषस्यामानवत्वं नेतृत्वं चेत्युभयपरत्वे वाक्यभेदः स्यादतोऽचिरादिपदैर्नेतार एव मानवाः प्रकृताः
प्रकरणबलाद्विद्युदनन्तरं मानवस्य नेतुः प्राप्ती प्रकरणप्राप्तनेतृत्वानुवादेनामानवत्वमेकमेव प्रतिपाद्यत इति वक्तव्यमि-
त्याह—नेति । नेतृप्रकरणानङ्गीकारे त्वमानवः पुरुषो गमयतीति वाक्यं भिद्येत अमानवत्ववन्नेतृत्वस्याप्यप्राप्तेरिति भावः ।
नेतृत्वानुवादलिङ्गस्यानुवादकन्यायपरं सूत्रं गृह्णाति—नन्विति ॥ ४ ॥ यद्यनेतारोऽचेतना एवाचिरादयस्तर्हि मार्गात्-

भामतीव्याख्या

निरुद्धवृत्तयो लोके । न चैषां त्वावधिकानामिव नियमवती संवहनस्वरूपा स्वतन्त्रक्रिया बुद्धिपूर्वा संभवत्यचेतनानाम् । तस्माद्भो-
कशब्दाप्यत्वाद्भूतार्ज्जुनामनो भोगभूमय एवेति मन्यामहे । अपि चाचिष इत्यस्मादपादानं प्रतीयते । न हेतुनिर्गुणे हेतोः पक्षमी दृश्यते
कचित् ॥ जाज्याद्वद् इत्यादिषु गुणवचनेषु जाज्यादिषु हेतुपक्षमी दृष्टा । न चाचिरादिशब्दा गुणवाचिनो येन पक्षस्या तेषां वहनं
प्रति हेतुत्वमुच्यते । अपादानत्वं चाचेतनत्वप्यस्तीति नातिवाहिकाः । न चामानवस्य पुरुषस्य विद्युदादिषु बोद्धृत्वदर्शनादचिरादीना-
मपि बोद्धृत्वमुच्येयम् । यावद्वचनं हि वाचनिकं न तदवाच्ये संचारयितुमुचितम् । अपि चाचिरादीनां बोद्धृत्वे विद्युदादीनामपि
बोद्धृत्वान्नामानवः पुरुषो बोद्धा श्रूयते । यतः श्रूयते ततोऽवगच्छामो विद्युदादिवच्चाचिरादीनां बोद्धृत्वमिति । तस्माद्भोगभूमय एवाचि-
रादयो नातिवाहिका इति प्राप्ते प्रत्युच्यते—संपिण्डिकरणानां हि सूक्ष्मदेहवतां गर्ता । न स्वातन्त्र्यं न चाश्याया नेतारोऽचेतनास्तु

आनन्दगिरीयव्याख्या

गतिः । पूर्वपक्षे निर्देशस्य लोकश्रुतेर्वा मुख्यत्वं सिद्धान्ते न्यायवलिङ्गस्येवङ्गीकृत्य पूर्वपक्षमाह—तत्रेति । उक्तेऽर्थे निर्देशसाम्यं
हेतुमाह—तदिति । उक्तमेव हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । पूर्वपक्षान्तरमाह—अथवेति । कथं लोकशब्दप्रयोगोऽप्यचि-
रादीनां भोगभूमित्वं, तत्राह—लोकेति । मार्गपर्वणां भोगभूमित्वे श्रुतिमपि दर्शयति—तथाचेति । अहोरात्रप्रभृतिषु लोकश-
ब्देषु भोगायतनेषु ते कर्मिणो ज्ञानिनश्च सक्तिं भोगमनुभवन्तीति यावत् । पक्षद्वयेऽपि फलितमाह—तस्मादिति । अचिरा-
दिशब्दानामचेतनत्वव्यवहारिषु रूढत्वादपि न तेषामातिवाहिकतेत्याह—अचेतनत्वादिति । तदेव व्यतिरेकदृष्टान्तेन स्फोरयति—
चेतना हीति । सिद्धान्तसूत्रमादाय प्रतिज्ञां विभजते—एवमिति । तत्र हेतुं प्रश्नपूर्वकमादाय व्याचष्टे—कुत इति । अमान-
वपुरुषस्य विद्युदादावातिवाहिकत्वदृष्टेरचिरादीनामपि तद्वेषेयमित्यर्थः । यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायाच्च तेषामातिवाहिकत्वसाधक-
मेतदिति शङ्कते—तदिति । उभयपरत्वे वाक्यभेदः स्यादिति भावः । प्राप्तगमयितुमानवपुरुषानुवादेनाप्राप्तमानवत्वादित्वाद्वाक्य-
स्योभयपरत्वेन वाक्यभेदप्रसङ्गात्पूर्वेषामपि मानवपुरुषतया गमयितृत्वं ग्राह्यमित्याह—नेति । उक्तमेव प्रपञ्चयति—यदीति ॥ ४ ॥
लिङ्गस्यानुवादकन्यायाभावे गमकत्वासिद्धिरिति शङ्कते—नन्विति । न्यायोक्तिपरं सूत्रमवतारयति—नेति । चेतनस्य यल्लहीनस्योर्ध्व-
तिश्चेतनान्तराधीनेति लौकिकन्यायेन यल्लहीनानां गन्तूणां गमयितारोऽचिरादयश्चेतनाः स्फुरिति सूत्रयोजनया भूते—ये तावदिति ।

त्वाद्वातव्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति ग-
म्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्छितादयः संपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति । अनव-
स्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः । नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसंभव उप-
पद्यते । नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात् । ध्रुवस्वाचु देवतात्मनां नायं दोषो भवति ।
अर्चिरादिशब्दता चैवामर्चिराद्यभिमानानुपपद्यते 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१।५।५।१०।१)
इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते अर्चिषा हेतुनाऽहमभिसंभवति । अहो हेतु-
नापूर्यमाणपक्षमिति । तथाच लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते ।
गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिहं ततः कृष्णगुप्तमिति । अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसं-
भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति संबन्धमात्रमुक्तं न संबन्धविशेषः कश्चित् । उपसंहारे तु 'स
एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१।५।६) इति संबन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन
स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसंभवः ।
लोकशब्दस्थनुपभुजानेष्वपि गन्तॄषु गमयितुं शक्यते । अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमि-
त्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयि-
तव्यम् ॥ ५ ॥ कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः । विद्युतो ह्यधि वरु-

रत्नप्रभाष्याकथा

द्रष्टोरुभयोरपि व्यामोहादज्ञत्वाद्ध्वंगतिर्न स्यादतः स्वयं प्रयत्नश्चैतनान्तरेण नेय इति लौकिकन्यायानुग्रहात्तत्सिद्धेर्ने-
त्वसिद्धेरुक्तं न्यायोपेतमिति सूत्रार्थः । पूर्वपक्षद्वयं दूषयति—अनवस्थितत्वादित्यादिना । अर्चिरादीनामस्थि-
रत्वाद्वाद्यादौ मृतस्य प्रतीक्षा नास्तीत्युक्तत्वाच्च न मार्गचिह्नत्वं भोग्यत्वं वा, देवतात्वे त्वस्थिरत्वदोषो नास्तीत्यर्थः ।
यत्तुपदेशस्वारस्याच्चिह्नत्वं भातीति, तत्राह—अर्चिषोऽहरिति । चिह्नत्वनेतृत्वसंशयाच्च वाक्यशेषाभिप्रेय इत्याह—
अपिचेति । यदुक्तं लोकशब्दाद्भोग्यत्वमिति तत्रेत्याह—संपिण्डितेति । सूत्रान्तरं गृह्णाति—कथं पुनरिति ॥ ५ ॥

आमसीत्याकथा

ते ॥ ईदृशी हि नियमवती गतिः स्वयं वा प्रेशावतोऽप्रेक्षावतो वा प्रेशावत्प्रयुक्तस्य । न तावद्विगलितस्थूलकलेवराः सूक्ष्म-
देहवन्तः संपिण्डितकरणग्राभा उक्तान्तिमन्तो जीवात्मानो मत्तमूर्छितवत्स्वयं प्रेशावन्तो यदेवं स्वातन्त्र्येण गच्छेयुस्तद्यर्चिराद-
योऽपि मार्गचिह्नानि वा शमीकारस्करादिवद्भोगभूमयो वा सुमेरुशैलेलावृत्तादिवदुभयथाप्यचेतनतया न नयनं प्रत्येषामस्ति स्वात-
न्त्र्यम् । न चैतेभ्योऽन्यस्य चेतनस्य नेतुः कल्पना सति श्रुतानां चैतन्यसंभवे । नच परमेश्वर एवास्तु नेतेति युक्तम् । तस्यात्यन्त-
साधारणतया लोकपालमहादीनामर्कचित्करत्वात् । तस्माद्यवस्थित एव परमेश्वरस्य सर्वोध्यक्षत्वे यथा यथास्वं लोकपालादीनां
स्वातन्त्र्यमेवमिहाप्यर्चिरादीनामातिवाहिकत्वमेव दर्शनानुसारच्छब्दार्थ इति युक्तम् । इममेवार्थममानवपुरुषातिवाहनलक्षणं
लिङ्गमुपोद्वलयतीत्युक्तम् । अनवस्थितत्वादर्चिरादीनामिति । अवस्थितं हि मार्गचिह्नं भवत्यव्यभिचारान्नानवस्थितं व्यभि-
चारादिति । अर्चिष इति च हेतौ पक्षमी नापादाने । गुणत्वं चाश्रिततया । नच वैशेषिकपरिभाषया नियम आस्थेयो लोकवि-
रोधात् । अपिच तेऽर्चिरभिसंभवन्तीति संबन्धमात्रमुक्तमिति । सामान्यवचने शब्दे विशेषाकाङ्क्षिणि स्फुटम् । यद्विशेषपदं तेन

आनन्दगिरौयव्याकथा

उभयोर्मार्गतद्भ्रमोव्यामोहादज्ञत्वात्तत्सिद्धेर्गमयितुसिद्धेर्न न्यायहीनं लिङ्गमित्युक्त्वा न्यायमेव स्फुटयति—लोकेऽपीति । पूर्वपक्षद्वय-
योगे हेत्वन्तरमाह—अनवस्थितत्वादिति । अहःशुक्लपक्षोत्तरायणानां कालान्तरेषु मार्गचिह्नभोगभूमिष्वेव न संभाव्येते तदा तेषां
ममावादिति हेतुं साधयति—नहीति । तर्हि तदागमनं प्रतीक्ष्य रात्र्यादौ प्रेतो गमिष्यति नेत्याह—नचेति । अनवस्थितत्वा-
विशेषादातिवाहिकत्वमपि कुतस्तेषामित्याशङ्क्याह—ध्रुवस्वादिति । अर्चिरादिशब्दानामप्यचेतनेषु रूढेर्न तेषां देवतावाचितेत्याशङ्क्याह—
अर्चिरादीति । न चाभिमतव्याहारादिदंभावे तदेवतानामनवस्थानमिति वाच्यम् । ऐश्वर्ययोगात्सामानेकविग्रहग्रहणयोगात् ।
अतो देवदत्तादिशब्दवदर्थतथेतनेषु मुख्यतेत्यर्थः । जाड्याद्वद्व इत्यादौ गुणवचनेषु जाड्यादिषु पञ्चमीदर्शनादर्चिरादीनां च गुणव-
चनत्वाभावाद्गहनं प्रत्यर्चिरादीनां हेतुत्वानवगमादचिष इत्यस्यादपादानत्वप्रतीतेर्नातिवाहिकत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह—अर्चिष इति ।
तार्किकप्रक्रियासिद्धगुणत्वाभावेऽप्याश्रितत्वेन तत्सिद्धेर्हेतावेवा पञ्चमीत्यर्थः । उक्तेऽर्थे लौकिकव्यपदेशं दर्शयति—तथाचेति ।
इतश्चार्चिरादिशब्दानां गमयितुविषयतेत्याह—अपिचेति । सामान्यवचने शब्दे विशेषापेक्षिणि वृष्टे विशेषशब्देन तैत्तिमानं
नियन्तव्यमितिन्यायादतिवाह्यातिवाहकसंबन्धसिद्धिरिति हेत्वन्तरमेव स्फुटयति—उपक्रमेऽपीति । यत्तु भोगभूमित्वमर्चिरादीनामुक्तं
तदूषयति—संपिण्डितेति । लोकशब्दाद्भोगभूमित्वमुक्तं प्रत्याह—लोकेति । गन्तॄणां भोक्तृत्वाभावेऽपि वाक्यं शक्यं नेतुमिति फलि-
तमाह—अत इति ॥ ५ ॥ सूत्रान्तरमवतारयितुं शङ्कते—कथमिति । का पुनरुपपत्तिः, तत्राह—विद्युतो हीति । आतिवाहि-

णादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति ।
अत उत्तरं पठति—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिव्राह्मणा
ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् । 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एव ब्रह्मलोकं गमयति' इति
तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनु-
प्राहका इत्यवगन्तव्यम् । तस्मात्साधूकमातिवाहिका देवतात्मानोऽचिरादय इति ॥ ६ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥



परं ब्रह्माद्यं वा कार्यमुदङ्गमार्गेण गम्यते ॥ मुख्यरवाद्वैद्युतत्वोक्तगम्यते परमेव तत् ॥ १ ॥

कार्यं स्याद्विधियोग्यत्वात्परस्मिन्त्वदसंभवात् ॥ सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत् ॥ २ ॥

**'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहो-
स्विन्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः । ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव**

रत्नप्रभाभ्याख्या

अमानवो विद्युल्लोकमागतो वैद्युतस्तेनेत्यर्थः । श्रुतौ तु वैद्युताल्लोकादित्यर्थः । श्रुत्या वरुणादीनां नेतृत्वाभावेऽप्यनुप्राह-
कत्वेन मार्गान्तर्भाव इति भावः ॥ ६ ॥ एवं मार्गं निरूप्य गन्तव्यं चिन्तयति—**कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।**
परं ब्रह्म गन्तव्यमिति पूर्वपक्षे मार्गस्य मुक्त्यर्थता कार्यं ब्रह्मेति सिद्धान्ते भोगार्थेति मत्वा प्रथमं सिद्धान्तमाह—**तत्र
कार्यमेवेति ।** सर्वगतस्यापि प्रदेशान्तरविशिष्टत्वेनाकाशस्य गन्तव्यत्वं दृष्टं, ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्षात् कथमपि गन्तव्यत्वेत्यर्थः ।

भामतीभ्याख्या

तत्सामान्यं नियम्यते ॥ यथा ब्राह्मणमानय भोजयितव्य इति तद्विशेषादेश्यायां यदा तत्संनिधावुपनिपतति पदं कण्ठादि(?) तदा तेनैत-
न्नियम्यते एवमिहापीति ॥ ४ ॥ ५ ॥ **वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।** विद्युल्लोकमागतोऽमानवः पुरुषो वैद्युतस्तेनैव न
तु वरुणादिना स्वयमुद्यते । तच्छ्रुतेस्तस्यैव स्वयं बोद्धव्यश्रुतेः । वरुणादयस्तु तत्साहाय्यं के वर्तमाना वोढारो भवन्तीति च वैषम्यं
न बोद्धव्ये इति सर्वमवदातम् ॥ ६ ॥ पाठक्रमादर्धक्रमो बलवानिति यथार्थक्रमं पठ्यन्ते सूत्राणि—**परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।**
स एतान् ब्रह्म गमयतीति विचिकित्स्यते । किं परं ब्रह्म गमयत्याहोस्विदपरं कार्यं ब्रह्मेति । मुख्यत्वाद्वैद्युतप्राप्तेः परप्रकरणादपि ।
गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवाचिरादिना ॥ ब्रह्म गमयतीत्यत्र हि नपुंसकं ब्रह्मपदं परस्मिन्नेव ब्रह्मणि निरूढत्वादनपेक्षतया मुख्य-
मिति सति संभवे न कार्यं ब्रह्मणि गुणकल्पनया व्याख्यातुमुचितम् । अपि चाभूतत्वकलावर्तिर्न कार्यब्रह्मप्राप्तेः युज्यते । तस्य
कार्यत्वेन मरणधर्मवत्त्वात् । किंच तत्र तत्र परमेव ब्रह्म प्रकृत्य प्रजापतिसत्त्वप्रतिपत्त्यादय उच्यमाना नापरब्रह्मविषया भवितु-
मर्हेति प्रकरणविरोधात् । नच परस्मिन्सर्वगते गतिर्नोपपद्यते प्राप्तत्वादिनि युक्तम् । प्राप्तेः हि प्राप्तिकला गतिर्दृश्यते । यथैक-
स्मिन्प्रोधपादपे मूलादग्रमप्राप्तं मूलं गच्छतः शालामृगस्यैकेनैव न्यप्रोधपादपेन निरन्तरं संयोगविभागा भवन्ति । न चैते तद-
वयवविषया न तु न्यप्रोधविषया इति साम्प्रतं तथा सति न शालामृगो न्यप्रोधेन युज्यते । न्यप्रोधवयवस्य तदवयवयोगात् ।
एवं दृश्यमानानामपि तदवयवानां न योगस्तदवयवयोगात्तदन्तेन क्रमेण तदवयवेषु परमाणुषु व्यवतिष्ठते । ते चातीन्द्रिया
इति कस्मिन् नामायमनुभवपद्धतिमप्यास्तां संयोगतपस्वी । तस्मादकामेनाप्यनुभवानुरोधेन प्राप्त एव प्राप्तिकलावगतिरेषितव्या ।
तद्ब्रह्म प्राप्तमपि प्राप्तिकलायावगतेर्गोचरो भविष्यति । ब्रह्मलोकेष्विति च बहुवचनमेकस्मिन्पि प्रयोगसाधुतामात्रेण गमयितव्यम् ।
लोकशब्दश्चालोकेन प्रकाशे वर्तयितव्यो न तु सन्निवेशवति देशविशेषे । तस्मात् परब्रह्मप्राप्त्यर्थं गत्युपदेशसामर्थ्यादयमर्थो भवति ।
यथा विद्याकर्मवशादचिरादिना गतस्य सत्यलोकमतिक्रम्य परं जगत्कारणं ब्रह्म लोकमालोकं स्वयं प्रकाशकमिति यावत् । प्राप्तस्य
तत्रैव लिङ्गं प्रलीयते न तु गतिमेवंभूतां विना लिङ्गप्रविलय इति । अत एव श्रुतिः—पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ।
तदनेनाभिसन्धिना परं ब्रह्म गमयत्यमानव इति मेने जैमिनिराचार्यः । **कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।** तत्त्वदर्शी
बादरिर्ददर्श—कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्राप्ती गतिः । प्राप्तेर्ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥ तत्त्वमसिवाक्यार्थाश्चाकारात्प्राक्किल

आनन्दगिरीयव्याख्या

कत्वमपि नियतं नेत्युक्ते प्रत्याह—**अत इति ।** वरुणादिषु वचनादपवादमस्तीकृत्य विभजते—**तत इति ।** किं तर्हि तैरित्याश-
ङ्काह—**वरुणादयस्त्रिष्विति ।** तेषां स्वयमवाहकत्वेऽपि तत्साहाय्यकरणेन तथावाच्युक्तार्थाचिरादिशब्दानां गमयितृत्वमित्युप-
पत्तिरिति—**तस्मादिति ॥ ६ ॥** गतिनिरूपणानन्तरं गन्तव्यं निरूपयति—**कार्यमिति ।** ब्रह्म विषयीकृत्य संशयमाह—**स इति ।**

दिषु । अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात् । तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥ ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति । अत्रोच्यते—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते । परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥ ननु कार्यप्राप्तावनावृत्ति श्रवणं न घटते । नहि परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति । दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्ते नावर्तन्ते' (छा० ४।१।५।६) इति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६ क० ६।१६) इति चेत् । अत्र ब्रूमः—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । न ह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥ कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं वादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति । स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

परं जैमिनिमुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१।५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः—मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरं मुख्यगौणयोश्च

रत्नप्रभाव्याख्या

गन्तव्यत्वान्यायोपेतबहुवचनायनेकश्रुत्यनुग्रहाय । न चानावृत्तिलिङ्गात्परस्य गन्तव्यता, क्रममुक्त्या लिङ्गस्यान्यथासिद्धेरिति भावः ॥ ८ ॥ प्रतिसंचरो महाप्रलयः, तस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भस्यान्ते समष्टिलिङ्गशरीररूपविकारावसाने ब्रह्मलोकनिवासिनः कृतात्मानः शुद्धधियस्तत्रोत्पन्नसम्यग्धिषः सर्वे ब्रह्मणा मुच्यमानेन सह परं पदं प्रविशन्तीति योजना । एवं सिद्धान्तमुक्त्वा तेन निरस्तं पूर्वपक्षमाह—**कं पुनरित्यादिना ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥** दहरविद्यायां कठवल्लीषु परब्रह्मप्रक-

भामतीव्याख्या

विशुद्धोपाधिसंबन्धमिति । मनोमयत्वादयः कल्पनाः कार्योः कार्यत्वादविशुद्धा अपि श्रेयोहेतुत्वाद्विशुद्धाः । प्रतिसंचरो

आनन्दगिरीयव्याख्या

गतिरिति हेत्वन्तरमाह—**आधिकरणेति ।** सूत्रोक्तहेतूनां फलितं निगमयति—**तस्मादिति ॥ ८ ॥** ब्रह्मशब्दश्रुतिविरोधं शङ्कते—**नन्विति ।** वृद्धव्यवहारे प्रयोगप्रत्ययाभ्यां ब्रह्मशब्दस्य परापरब्रह्मणोः शब्दं मुख्यत्वं तुल्यमित्याशङ्क्यानवच्छिन्नतयार्थतो मुख्यत्वं परस्वेवेत्याह—**समस्तस्येति ।** सूत्रेण परिहरति—**अत्रेति ।** मुख्यायार्थयोगे यौगिकतयापि ब्रह्मपदं नेयमिति मत्वा व्याकष्टे—**तुशब्द इति ।** अविरोधं साधयति—**परमेवेति ।** विशुद्धोपाधिसंबन्धं सात्त्विकोपाधिविशिष्टमिति यावत् ॥ ९ ॥ ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थग्रहे बहुतरकार्यलिङ्गभङ्गवत्कार्यग्रहेऽपि तुल्यानावृत्तिश्रुत्यनुपपत्तिरिति शङ्कते—**नन्विति ।** तत्र हेतुः—**नहीति ।** मा भूद्विरादिना गच्छतामनावृत्तिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्रस्य श्रुतत्वादित्याशङ्क्याह—**दर्शयतीति ।** क्रममुख्यमिष्टप्राप्त्यनावृत्तिश्रवणमिति सूत्रेण प्रत्याह—**अत्रेति ।** सूत्राक्षराणि योजयति—**कार्येति ।** साक्षादेव ब्रह्मापत्यानावृत्तिसिद्धौ किमिति परम्पराश्रयणं, तत्राह—**नहीति ॥ १० ॥** क्रममुक्तौ स्मृतिं प्रमाणयति—**स्मृतेश्चेति ।** तामेवोदाहरति—**स्मृतिरिति ।** प्रतिसंचरो महाप्रलयस्तस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भस्यान्तोऽधिकारावसानं तदा कृतात्मानः शुद्धधियो ब्रह्मलोकनिवासिनस्तत्रोत्पन्नसम्यग्धिषः सर्वे ब्रह्मणा मुच्यमानेन सह परं पदं प्रविशन्तीति योजना । सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति ॥ ११ ॥** उत्तरसूत्राण्याकाङ्क्षापूर्वकमवतारयति—**कमिति ।** ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थत्वमाश्रित्य परस्मै ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमाह—**परमिति ।** तत्र प्रतिष्ठां विभजते—**जैमिनिस्त्विति ।** उक्तिशुक्तसैव आशङ्काद्वाङ्मौरीरवमर्कित्विकारमिति शङ्कते—**कुत इति ।** सौत्रं हेतुमाह—**मुख्यत्वादिति ।** गौणस्यापि मुख्यवद्ब्रह्मशब्दालम्बनत्वं

मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

‘तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति’ (छा० ८।६।६। क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति । अमृतत्वं च परस्मिन्नब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये विनाशित्वात्कार्यस्य । ‘अथ यत्रान्यत्पश्यति-तद्वत्त्वं तन्मर्त्यम्’ (छा० ७।२४।१) इति प्रवचनात् । परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते । नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्’ (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

नच कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अपिच ‘प्रजापतेः सभां वेदम् प्रपद्ये’ (छा० ८।१४।१) इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः । ‘नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म’ (छा० ८।१४।१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । ‘यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्’ (छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात् । ‘न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः’ (श्वेता० ४।१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः । सा चेयं वेदमप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता ‘तद्व-पराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्यमयम्’ (छा० ८।५।३) इत्यत्र । पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते । तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्चतय इति पक्षान्तरम् । तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः । तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं न तु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो द्वितीयः पूर्वपक्षः । न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिद्व्याख्यापयिता विद्यते ।

रत्नप्रभाष्याख्या

रणे च तयोर्ध्वमायन्निति गतिर्दिशिता ॥ १३ ॥ एवं ब्रह्मश्रुत्यमृतत्वलिङ्गाभ्यां प्रकरणाच्च परविषया गतिरित्युक्तं, संप्रति प्रजापतेः सभां वेदम् प्राप्नुयामिति उपासकस्य मरणकाले कार्यप्राप्तिसंकल्पश्रुतेन परं गन्तव्यमिति शङ्का निरस्यति—**नच कार्ये इति** । परस्य प्रकृतत्वात्, यशःपदस्य परमात्मनामत्वप्रसिद्ध्या यशःपदेनात्मोक्तिः । यश आत्मा ब्राह्मणनामहं भवामि, तथा राज्ञां यशो विशां यश इति सार्वोत्थमलिङ्गाच्च परप्राप्तिसंकल्प एवायमित्यर्थः । अस्तु वेदमप्रतिपत्तीच्छा परब्रह्मविषया तथापि सा कथं गतिपूर्विका स्यादित्यत आह—**सा चेति** । तत्तत्र ब्रह्मलोके विद्याविहीनेनापराजिता पूरति ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुणा विमितं निर्मितं हिरण्यमयं वेदमास्ति तत्प्रतिपद्यते विद्वानिति दहरविद्यायां गतिपूर्विका वेदमप्राप्तिरुक्ता । तेन परब्रह्मण्यपि वेदमप्रतिपत्तिशब्दसामान्याद्वृत्तिपूर्वकत्वं तस्याः सिध्यतीत्यर्थः । किंच पद गताविति धातुपाठाद्वेदम प्रपद्ये इत्यत्र मार्गापेक्षा भातीत्याह—**पदेरपीति** । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति** । आद्य एव सिद्धान्तपक्ष इति दृढीकर्तुमुपसंक्रमते—**ताविति** । ब्रह्मशब्दमुख्यत्वादिहेतूनामाभासत्वं स्फुटयति—**नहीति** ।

आनन्दगिरीयव्याख्या

मिष्टमविशेषादित्याशङ्क्याह—**मुख्येति** ॥ १२ ॥ इत्थं मुख्यमेव ब्रह्म गन्तव्यमित्याह—**दर्शनाच्चेति** । दर्शनं विभजते—**तथेति** । आपेक्षिकं तत्पक्षान्तरेऽपि स्यादित्याशङ्क्य मुख्यसंभवे नैवमित्याह—**अमृतत्वं चेति** । कार्यस्य नाशित्वे मानमाह—**अथेति** । परस्मिन्न युक्ता गतिरित्युक्तमित्याशङ्क्याह—**परेति** । कथमेतज्ज्ञातमित्याशङ्क्य प्रकरणसामर्थ्यादित्याह—**नहीति** ॥ १३ ॥ ब्रह्मश्रुतेरमृतत्वश्रुतिलिङ्गाच्चोर्ध्वमायन्नितिप्रकरणाच्च परविषया गतिरित्युक्तम् । संप्रति प्रजापतेः सभां वेदम् प्रपद्ये प्राप्नुयामिति मरणकाले यः प्रतिपत्त्यभिसंधिः प्राप्तिसंकल्पः स कार्यगोचर इति तस्यैव गन्तव्यतेत्याशङ्क्याह—**नचेति** । तद्विद्युतोति—**अपिचेति** । परस्यैव गन्तव्यत्वे हेत्वन्तरमाह—**यशोऽहमिति** । आत्मा यशःशब्दार्थः । ब्राह्मणानामहमात्मा भवामि यशो राज्ञां यशो विशां मिति सर्वात्मत्वोक्तेरपि न परिच्छिन्नकार्योपत्तिरित्यर्थः । यशःशब्देन विश्रुतत्वमुक्तं नात्मेत्याशङ्क्याह—**नेति** । अस्त्वधिकारब्रह्मविषयैव वेदमप्रतिपत्त्यादिसंकल्पना तथापि कथं सा गतिपूर्विका वेदमप्रतिपत्तेः श्रुतिमात्रत्वादित्याशङ्क्याह—**सा चेति** । तत्तत्र ब्रह्मलोके केनापि ब्रह्मचर्यादिहीनेन न पराजितेत्यपराजिता पूरस्य ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुणा निर्मितं हिरण्यमयं वेदम् चास्ति तत्प्रपद्यते विद्वानिति दहरविद्यायां गतिपूर्विका वेदमप्रतिपत्तिरुक्ता तेन परब्रह्मण्यपि वेदमप्रतिपत्तिसामान्याद्वृत्तिपूर्वकत्वं तस्याः सिध्यतीत्यर्थः । किंच पद गताविति श्रुतेरपि वेदमप्रतिपत्तेर्मार्गापेक्षा भातीत्याह—**पदेरिति** । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति** । परं जैमिनिरित्यादिसिद्धान्तसूत्रान्युत्तरसूत्रत्वात्पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणीत्याशङ्क्य व्यवस्थार्थं पातनिकां करोति—**ताविति** । तथापि कथं व्यवस्थेत्याशङ्क्याह—**तत्रेति** । द्वितीये पक्षे ब्रह्मशब्दस्य मुख्याधेलाभात्तत्वेनोत्तरपक्षत्वमित्याशङ्क्याह—**नहीति** । यत्तु प्रकरणसाम-

परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।६) इतिवत् । 'प्रजापतेः सर्वां वेदं प्रपद्ये' (छा० ८।१।४।१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते । सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदवकल्पते । तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः । केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुसूयमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति तदनुपपन्नं गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः । यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२।५।२) 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते । नहि गतमेव गम्यते । अन्यो ह्यन्यद्रच्छतीति प्रसिद्धं लोके । ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा । यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवी देशान्तरद्वारेण गच्छतीति । तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद्रन्तव्यता स्यादिति । न । प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्व-

रत्नप्रभाख्याख्या

गन्तव्यत्वस्य ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनदेः संकल्पादेव गन्धादिदिव्यभोगश्रुतेश्च परब्रह्मण्यसंभवान्मुख्यायत्यागः इत्यर्थः । यद्यप्येतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्मेत्यादिश्रुतिषु प्रयोगसाम्याद्ब्रह्मशब्द उभयत्र रूढतया मुख्य एव तथापि पूर्णं परस्मिन्नवयवार्थस्य निरतिशयमहत्त्वस्य लाभादपरब्रह्मण्यमुख्य इत्यङ्गीकृतमिति मन्तव्यम् । यदुक्तं कठवल्लीषु प्रकरणबलाद्भूतिः परविषयेति, तत्राह—**परेति** । यथा विद्यासंबद्धसुषुप्तास्तुत्यर्थं तदसंबद्धनाञ्चन्तरकीर्तनं तथा परविद्यास्तुत्यर्थं तत्प्रकरणेऽप्यपरविद्याश्रयगतिकीर्तनं युज्यते, गतिं विनापि हि परविद्या निरतिशयफला तस्यां त्वपरविद्याफलं गतिसाध्यमन्तर्भवतीति स्तुतिलाभादित्यर्थः । यदप्युक्तं प्राप्तिप्रकरणेऽपि प्रकृतपरविषय इति तत्रेत्याह—**प्रजापतेरिति** । प्रजापतिसर्वावेदमभुतिभिस्तत्संघातात्मकवाक्येन च प्रकरणं बाध्यं, यशोऽहमिति सार्वभौम्यं तूपासनार्थमपरब्रह्मण्युपयुज्यत इत्यर्थः । स्वपक्षमुक्त्वा परमतं दूषयति—**केचिदित्यादिना** । सर्वगतस्य स्वात्मभूतस्यापि ब्रह्मणः संसारदेशादेशान्तरेण तत्कालात्कालान्तरेण विशिष्टतया गन्तव्यत्वं स्यादिति पृथिवीवयोदृष्टान्ताभ्यां शङ्कते—**नन्विति** । यत्नं विनैव प्राप्तमनन्यत्वम्, अवस्थातद्वतोरभेदात्स्वात्मभूतत्वम् । ननु युक्तं भूवयसोः प्राप्तयोरपि देशान्तरकालान्तरविशिष्टत्वेन गन्तव्यत्वं तयोर्गन्तुमि-
श्रत्वात्, ब्रह्मणस्तु गन्त्रभिन्नस्य कथं गन्तव्यत्वं तत्राह—**सर्वशक्तीति** । या प्राप्ता भूः सा न गन्तव्या यच्च गन्तव्यं

भामतीव्याख्या

महाप्रलयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः प्रतिपत्तिर्गतिः पदेर्गल्यत्वात् । अभिसंधिस्तत्पर्यम् । यस्य ब्रह्मणो नामाभिधानं यश इति । **पूर्ववाक्यविच्छेदेनेति** । श्रुतिवाक्ये बलीयसी प्रकरणात् । **सगुणेऽपि च ब्रह्मणीति** । प्रशंसार्थमित्यर्थः । चोदयति—**ननु गतस्यापि पारमार्थिकी गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्येति** । न्यप्रोधवानरदृष्टान्त उपपादितः । परिहरति—**न** । **प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मण इति** । अयमभिसंधिः—यथातथा न्यप्रोधावयवी परिणामवानुपननापायधर्मभिः कर्मजैः संयोगविभागेः

आनन्दगिरियव्याख्या

थ्योत्परविषयत्वं गतेरिति, त आह—**परेति** । यथा ब्रह्मनाडीगतिप्रशंसार्थं नाञ्चन्तराणि विद्यासंसर्गशून्यान्वेव तत्प्रकरणेऽनुकीर्त्यन्ते तथा दह्रादिविद्याश्रयगतिनिमित्तफलानुकीर्तनं परविद्याधिकारेऽपि युज्यते तस्या गतिराहिल्येऽपि तत्पूर्वफलस्य तथैव सिद्धिर्मेहतीयं विद्या निरतिशयैश्वर्यहेतुत्वादिति स्तुतिप्रकर्षसंभवमित्यर्थः । यत्तु कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिर्नास्तीति, तत्राह—**प्रेतेति** । श्रुतिवाक्याभ्यां प्रकरणं हेयमिति भावः । यत्तु सर्वात्मत्वानुक्रमणात्परविषयत्वं प्रतिपत्त्यभिसंधेरिति, तत्राह—**सगुणेऽपीति** । प्रशंसार्थमुपासत्यर्थं वा तदनुक्रमणमित्यर्थः । परविषयगत्ययोगे फलितमाह—**तस्यादिति** । पक्षान्तरमनुभाष्य दूषयति—**केचिदित्यादिना** । ब्रह्मणो गन्तव्यत्वानुपपत्तिमुपपादैर्यत—**यदिति** । यदुक्तविशेषणं परब्रह्म तस्य कदाचिदपि न गन्तव्येति संबन्धः । तस्य सर्वगतत्वे मानमाह—**आकाशवदिति** । सर्वान्तरेऽपि श्रुतिमाह—**यदिति** । सर्वात्मकत्वेऽपि श्रुतिमाह—**आत्मैवेति** । अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—**नहीति** । गतेरर्कित्त्वरत्वादित्यर्थः । प्राप्ते प्राप्तिफला गतिरयुक्तेत्येवमतिरेकेण स्फुटयति—**अन्यो हीति** । स्वरूपेण प्राप्तस्यपि ब्रह्मणो विकारापत्तितया गन्तव्यतासिद्धिरिति दृष्टान्तेन शङ्कते—**नन्विति** । सर्वगतस्यानुक्ता गन्तव्यतेत्युक्तं प्रत्याह—**तथेति** । अनन्यत्वं साधनसाध्यत्वं विना प्राप्तत्वम् । यत्तु प्रत्यगात्मत्वाद्ब्रह्मणो न गन्तव्येति तत्राह—**स्वात्मेति** । एकस्यैव ब्रह्मणो गन्तुगन्तव्यता सिध्यतीत्यत्र हेतुमाह—**सर्वेति** । तथापि ग्रामादिवन्न गन्तव्यतेत्याशङ्क्याह—**कथंचिदिति** । वैषम्यं दर्शयन्नाह—**नेत्यादिना** । ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे मानमाह—**निष्कलमित्यादिना** । 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्याद्या स्मृतिः । न्यायस्तु वि-

मदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकलादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते । येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात् । भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता । जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत् । न । विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् । उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत् । न । तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति । कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति । उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात् । न ह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) 'अभयं वै जनकं प्राप्नोऽसि' (बृ० ४।२।४) 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।९।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवाददर्शनात् । विकारानृताभिसेध्यवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति । अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते । नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्य-

रत्नप्रभाष्याख्या

देशान्तरं तत्त्वप्राप्तमिति कुतः प्राप्तस्य गन्तव्यता वयसोऽपि कालान्तरेऽभिव्यक्तिमात्रं न गन्तव्यत्वमिति वस्तुगतिः । अङ्गीकृत्य विशिष्टभूवयसोर्गन्तव्यतां परब्रह्मणो देशकालवैशिष्ट्याभावात् कथंचिदपि गन्तव्यतेत्याह—नेत्यादिना । 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्याद्या रमृतिर्हृदयविशेषस्य दृशि कल्पितत्वाद्गृहात्मनोनिर्विशेषतेति न्यायः । सगुणमेव ब्रह्म सूत्रात्मापेक्षया परं गन्तव्यं, निर्विशेषं तु नास्त्येवेति शङ्कते—जगदुत्पत्तीति । किं निर्विशेषस्यासत्त्वं मानाभावात्सविशेषश्रुतिविरोधाद्वा । नाय इत्याह—नेति । द्वितीयं शङ्कते—उत्पत्त्यादीति । सविशेषश्रुतीनां निर्विशेषश्रुतिशेषत्वात् विरोध इत्याह—नेति । निर्विशेषश्रुतीनामेव सविशेषश्रुतिशेषत्वं किं न स्यादित्याह—कस्मादिति । तासां स्वायं फलवत्त्वेन निराकाङ्क्षत्वाच्छेषिता विशेषश्रुतीनां त्वफलत्वान्निषेध्यविशेषसमर्पणादिद्वारेण शेषत्वं फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायः-

भामतीव्याख्या

संयुज्यतामयं पुनः परमात्मा निरस्तनिखिलभेदप्रपञ्चः कूटस्थनित्यो न न्यग्रोधवत्संयोगविभागभाणं भवितुमर्हति । काव्यनिकर्त-योगविभागस्तु काव्यनिकर्तैव कार्यब्रह्मलोकस्योपपद्यते न परस्य । शङ्कते—जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरिति । ननुत्पत्त्यादिहेतुभावेऽपरिणामिनः संभवति तस्मात्परिणामीति । तथाच भाविकमस्योपपद्यते गन्तव्यत्वमित्यर्थः । निराकरोति—न । विशेषनिराकरणश्रुतीनामिति । विशेषनिराकरणं समस्तशोकादिदुःखसमनतया पुरुषार्थफलवत् । अफलं तूत्पत्त्यादिविधानम् । तस्मात्फलवतः संनिधावाग्रायमानं तदर्थमेवोच्यत इत्युपपत्तिः । तद्विजिज्ञासत्वेति च श्रुतिः । तस्माच्छ्रुत्युपपत्तिर्या निरस्तसमस्तविशेषब्रह्मप्रतिपादनपरोऽयमाग्रायो न तूत्पत्त्यादिप्रतिपादनपरः । तस्मात् गतिस्तात्त्विकी । अपि चेयं गतिर्न विचार

आनन्दगिरायव्याख्या

शेषाणां तद्गुणनिविष्टत्वेन दृश्यत्वासिद्धिरंशतः स्वदृश्यत्वापाताच्च तद्दृश्यत्वं विना तत्सिद्धिर्जडत्वात्स्वतःसिद्धत्वे चात्मानतिरेकात्-सात्तस्य निर्विशेषतेति । देशकालादीत्यादिशब्देनावस्थावयवादि गृह्यते । निर्विशेषत्वे फलितमाह—येनेति । येन सविशेषत्वेन भूप्रदेशादिदृष्टान्तेन ब्रह्मणो गन्तव्यता न तथा तस्य सविशेषतेति योजना । दृष्टान्तेऽपि कथं गतस्यैव गन्तव्यतेत्याह—भूवयसो-स्थितिः । अवस्थादीत्यादिशब्देनावयवपरिणामादिग्रहः । सर्वशक्तिवाचकं ब्रह्मणो विशेषवत्त्वेन गन्तव्यत्वमित्युक्तं सारयति—जगदिति । अपरिणामिनोऽकारकत्वात्कारणत्वाय परिणामित्वं कार्यप्रतियोगिशक्तिमत्त्वं चास्तीति कुतो गन्तव्यत्वासिद्धिरित्यर्थः । विशेषनिराकरणस्य निःशेषशोकादिनिरासफलत्वादुत्पत्त्यादिविधानस्य चाफलत्वात्फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिन्यायात् ब्रह्मणः सविशेषतेति दूषयति—नेत्यादिना । उक्तमेवार्थं चोद्यसमाधिभ्यां विवृण्वन्नादौ चोद्यं दर्शयति—उत्पत्त्यादीति । तासामनन्यार्थत्वमित्याह—मिल्याह—नेति । एकत्वपरत्वमुपपादयति—मृदादीति । शेषशेषित्वे नियामकाभावमादाय शङ्कते—कस्मादिति । नियामकं दर्शयति—उच्यत इति । फलवत्तया निराकाङ्क्षं स्फोरयति—नहीति । एकत्वज्ञाने सर्वाकाङ्क्षाशान्तिरित्यत्र श्रुतीराह—तत्रेत्यादिना । श्रौते विद्याफले विद्वदनुभवमनुकूलयति—तथैवेति । द्वैतस्य निष्प्रमानत्वादपि न प्रतिपाद्यतेत्याह—विकारेति । विशेषनिषेधश्रुतीनां निराकाङ्क्षान्नोत्पादकत्वे फलितमाह—अतो नेति । तुल्यमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि तथाविधधीजनकत्वमित्याह—नैव-

मस्ति । प्रत्यक्षं तु तासांमन्यार्थत्वं समनुगम्यते । तथाहि 'तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदकं सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्यमिदं विशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म' (तै० ३।१।१) इति च । एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वाभावेनैकशक्तियोगो ब्रह्मणः । अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति । तद्व्याख्यातं । 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१३) इत्यत्र । गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वान्यो वा ततः स्यात् । अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः । यद्येवं ततः किं स्यात् । उच्यते । यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वात् पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते । एकदेशैकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः । विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यं विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात् । नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः । विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद्ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवकृत्तम् । अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः । सोऽणुर्यापी मध्यमपरिमाणो वा

रत्नप्रभाख्याख्या

दियाह—उच्यत इत्यादिना । न केवलं न्यायाच्छेषता किंतु श्रुत्यापीत्याह—प्रत्यक्षं त्विति । तत्र मूलकारणे ब्रह्मण्येतच्छुद्धं जगदात्मकं कार्यमुत्पन्नमित्युपक्रम्य तेन शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छेत्युपसंहारे सत एव ज्ञेयत्वमुक्तं छान्दोग्ये । तथा तैत्तिरीयकेऽपि जगज्जन्माद्यनुवादेन ब्रह्मण एव ज्ञेयत्वं दर्शितमतः सृष्टिश्रुतीनां श्रुत्यैव निर्विशेषधीशेषता भातीयर्थः । एवं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वाच्च गन्तव्यतेति फलितमाह—एवमिति । स्पष्टनिषेधाच्च परस्य न गन्तव्यतेत्याह—न तस्येति । एवं गन्तव्यालोचनया गतिं निरस्य गन्तालोचनयापि निरस्यति—गतिकल्पनायां चेत्यादिना । भेदाभेदेन द्वौ कल्पावत्यन्तभेदस्तृतीयः कल्पः । नन्वत्यन्ताभेदकल्पः किमिति नोक्तः, तत्राह—अत्यन्तेति । कल्पत्रये किं दूषणमिति पृच्छति—यद्येवमिति । कल्पद्वयेऽपि दोषान्तरमाह—विकारावयवपक्षयोश्चेति । विकारावयवरूपजीवविशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थिरत्वाजीवानां गत्यागती न स्याताम् । नह्यचलातिस्थूलपाषाणस्थयोर्मण्डूकपाषाणावयवयोश्चलनमस्तीत्यर्थः । अस्माकं त्वज्ञानात्कल्पितोपाधिभिर्गत्यागतिविभ्रम इति भावः । तृतीयकल्पमनूय विकल्प्य दूषयति—अथेत्यादिना ।

भामतीव्याख्या

सहेत इत्याह—गतिकल्पनायां चेति । अन्यानन्यत्वाश्रयावयवविकारपक्षो । अन्यो घाल्यन्तम् । अथ कस्मादात्यन्तिकमनन्यत्वं न कल्प्यत इत्यत आह—अत्यन्ततादात्म्य इति । मृदात्मतया हि स्वभावेन घटादयो भावात्तद्विकारा व्याप्ताः, तदभावे न भवन्ति शिंशेव वृक्षत्वाभाव इति । विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः सह विकारावयवैश्च स्थिरत्वाच्चलत्वाद्ब्रह्मणः संसारलक्षणं गमनं विकारावयवयोरनुपपन्नम् । नहि स्थिरात्मकमस्थिरं भवति । अन्यानन्यत्वे अपि चैकस्य विरोधादसंभवन्तीति भावः । अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः । तथाच ब्रह्मण्यसंसारस्य जीवस्य संसारः कल्पत इति । एतद्विकल्प्य दूषयति—सोऽणुरिति ।

आनन्दगिरियव्याख्या

मिति । न केवलं युक्तिमात्रेणोत्पत्त्यादिश्रुतीनामन्यार्थत्वं किंतु श्रुतिसामर्थ्यादपीत्याह—प्रत्यक्षं त्विति । तत्र छन्दोगश्रुत्या तासां मन्यार्थत्वं स्फुटयति—तथाहीति । तत्रेति मूलकारणोक्तिः । एतच्छुद्धं जगदात्मकं कार्यमुत्पत्तितमुत्पन्नमिति यावत् । तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छेति सत एवोत्तरत्र कार्यलिङ्गेन ज्ञेयत्वोक्तेस्तत्तेजोऽसृजतेत्यादिश्रुतीनां तच्छेषत्वं सिद्धमित्यर्थः । तैत्तिरीयश्रुत्यापि जन्मादिश्रुतीनामैक्यधीशेषत्वमाह—यत इति । तासामन्यपरत्वे फलितमाह—एवमिति । ब्रह्मणोऽनेकशक्तिमत्त्वाभावेऽपि न परविषया गतिरित्यत्र किमायातं तदाह—अतश्चेति । इतश्च परविषये न गतिरित्याह—न तस्येति । न तस्मादिति माध्यंदिनश्रुत्या निषेधश्रुतेरन्यार्थत्वमाशङ्क्योक्तं सारयति—तदिति । गन्तव्यरूपालोचनया गतिरित्युक्तेत्युक्तम् । अथुना गन्तृरूपालोचनयापि सा न युक्तेति वक्तुं विकल्पयति—गतीति । अन्यानन्यत्वमाश्रित्याद्यौ विकल्पावत्यन्तभेदमाश्रित्यान्य इति भेदः । आत्यन्तिकमनन्यत्वं किमिति न विकल्प्यते, तत्राह—अत्यन्तेति । कल्पत्रयेऽपि दोषजिज्ञासया पृच्छति—यदीति । पक्षत्रयेऽपि दोषमाह—उच्यत इति । आद्यमनूय प्रत्याह—यदीति । प्रथमपक्षस्योत्थानमेव नास्तीत्याह—एकदेशेति । उक्तदोषस्याह्नित्यं निराह—विकारेति । नित्यप्राप्तत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नहीति । विपक्षे दोषमाह—परित्यागे वेति । पक्षद्वयेऽपि दोषान्तरमाह—विकारेति । ब्रह्म सविकारं सावयवं चेष्टं तस्य सह विकारैरवयवैश्च निश्चलत्वात्कुतो जीवानां संसारगमनरूपं चलनं न हि स्थिरात्मनामस्थिरत्वं युक्तमन्यानन्यत्वं च विरुद्धत्वाच्चोपगन्तुं शक्यमित्यर्थः । तृतीयमनुवदति—अथेति । तं त्रेधा विकल्प्य दूषयति—सोऽणुरित्यादिना । अनित्यत्वप्रसङ्गो घटद्विषय तथानुवदति त्रेधा । पक्षद्वयानुपपत्तिं तर्कपादे वित्यत्पादे चोक्तां स्मार-

भविष्यतीति । व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः । मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः । अणुत्वे कृत्स्न-
शरीरत्वेद्वेदानुपपत्तिः । प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण गुरस्तात् । परस्माच्च-
न्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः । विकारावयवपक्षयोरपि
समानोऽयं दोषः । विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत् । न । मुख्यैकत्वानुप-
पत्तेः । सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्गोक्षप्रसङ्गः । संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः । निवृत्तौ वा स्वरूपनाश-
प्रसङ्गः । ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमाच्च । यत्तु कैश्चिज्जलप्यते नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठी-
यन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये सांप्रत-
देहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसं-
धानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैववृत्तस्य सेत्स्यतीति ।
तदसत् । प्रमाणाभावात् । न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थार्थं समाचरेदिति ।
स्वमनीषया त्वेतत्कर्तितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावाच्च भविष्यतीति । न
चैतत्कर्तयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात् । बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानी-
ष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते । तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवात्का-
निचिल्लुब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषा-

रत्नप्रभाष्याख्या

अभेदश्रुतिविरोधरूपो दोषो मम नास्तीति भेदाभेदनीत्याह—विकारावयवयोरिति । भिन्नयोरभेदो मुख्यो न युक्तो विरो-
धादिति परिहरति—नेति । किंच पक्षत्रयमप्ययुक्तं संसारित्वस्य तात्त्विकजीवभावस्य नाशे तात्त्विकजीवस्वरूपनाशप्रसङ्गात् ।
नचास्माभिरिव त्वया ब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तात्त्विकरूपमङ्गीकृतं यदस्य संसारनाशेऽपि न नश्यदित्याह—सर्वेष्वेति । ननु
किं ब्रह्मत्वेन, संसाराभावः किल मोक्षः स च कर्माभावमात्रेण सेत्स्यतीति कर्मजडानां मतमुद्राव्य निरस्यति—यत्स्वित्या-
दिना । तदिति । एवंवृत्तं मोक्षहेतुरित्यस्मिन्नर्थे मानाभावादित्यर्थः । तर्क एव मानमित्यत आह—न चैतत्कर्तयितु-
मिति । ननु तवाप्येतत्कर्मात्रमेकस्मिन्नन्यनेकविरुद्धफलानां कर्मणां भोगायोगादस्यवशिष्टं कर्म जन्मान्तरस्य निमि-

भाष्यटीकाख्या

मध्यमपरिमाणत्व इति । मध्यमपरिमाणानां घटादीनामनित्यत्वदर्शनात् । न । मुख्यैकत्वेति । भेदाभेदयोर्विरोधि-
नोरेकत्वासंभवाद्बुद्धिपददेशभेदादभेदः । अयुतसिद्धतयोपचारेणाभिन्नमुच्यत इत्यमुख्यमस्यैकत्वमित्यर्थः । अपिच जीवानां ब्रह्मावयवत्वप-
रिणामाल्यन्तर्भेदपक्षे तात्त्विकी संसारितेति मुक्तौ स्वभावहानाज्जीवानां विनाशप्रसङ्गः । ब्रह्मविवर्तित्वे तु ब्रह्मैवैषां स्वभावः प्रति-
निष्ठानामिव बिम्बं तच्चाविनाशीति न जीवविनाश इत्याह—सर्वेष्वेतेष्वेति । मतान्तरमुपन्यस्यति दूषयितुम्—यत्तु कै-
श्चिज्जलप्यते विनैव ब्रह्मज्ञानं नित्यनैमित्तिकानीति । यथा हि कफनिमित्तो ज्वर उपात्तस्य कफस्य विशेषणादिभिः
प्रश्नये कफान्तरौत्पत्तिनिमित्ततद्वादिवर्जने प्रशान्तोऽपि न पुनर्भवति । एवं कर्मनिमित्तो बन्ध उपात्तानां कर्मणामुपभोगावयव-
प्रशान्त्यति । कर्मान्तराणां च बन्धहेतूनामननुष्ठानात्कारणाभावे कार्यानुपपत्तेर्वन्धाभावात्स्वभावसिद्धो मोक्ष आरोग्यमिव । उपात्तदुरि-
तनिवर्हणाय च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानादुरितनिमित्तप्रत्यवायो न भवति । प्रत्यवायानुत्पत्तौ च स्वस्थत्वान्तो न निषिद्धान्याचरेदिति ।
तदेतदूषयति—तदसत् । प्रमाणाभावादिति । शास्त्रं खल्वस्मिन्प्रमाणं तच्च मोक्षमाणस्यात्मज्ञानमेवोपदिशति नतृक्ताचारम् ।
न चात्रोपपत्तिः प्रभवति संसारस्यानादितया कर्माशयस्याप्यसंख्येयस्यानियतविपाककालस्य भोगेनोच्छेत्तुमशक्यत्वादित्याह—न चै-

आनन्दगिरियच्याख्या

यति—प्रतिषिद्धे चेति । अन्यत्वपक्षे श्रुतिविरोधं दोषान्तरमाह—परस्मादिति । पूर्वोक्तेऽपि पक्षद्वये श्रुतिविरोधस्य तुल्यत्वमाह—
विकारोति । तयोस्तद्वतोऽन्यत्ववदनन्यत्वस्यापि भावान्नति शङ्कते—विकारेति । भेदाभेदयोर्विरोधि-
नोरेकत्वासंभवाद्बुद्धिपददेशभेदादभेदः । अयुतसिद्धतयोपचारेणाभिन्नमुच्यत इत्यमुख्यमस्यैकत्वमित्यर्थः । अपिच जीवानां ब्रह्मावयवत्वप-
रिणामाल्यन्तर्भेदपक्षे तात्त्विकी संसारितेति मुक्तौ स्वभावहानाज्जीवानां विनाशप्रसङ्गः । ब्रह्मविवर्तित्वे तु ब्रह्मैवैषां स्वभावः प्रति-
निष्ठानामिव बिम्बं तच्चाविनाशीति न जीवविनाश इत्याह—सर्वेष्वेतेष्वेति । मतान्तरमुपन्यस्यति दूषयितुम्—यत्तु कै-
श्चिज्जलप्यते विनैव ब्रह्मज्ञानं नित्यनैमित्तिकानीति । यथा हि कफनिमित्तो ज्वर उपात्तस्य कफस्य विशेषणादिभिः
प्रश्नये कफान्तरौत्पत्तिनिमित्ततद्वादिवर्जने प्रशान्तोऽपि न पुनर्भवति । एवं कर्मनिमित्तो बन्ध उपात्तानां कर्मणामुपभोगावयव-
प्रशान्त्यति । कर्मान्तराणां च बन्धहेतूनामननुष्ठानात्कारणाभावे कार्यानुपपत्तेर्वन्धाभावात्स्वभावसिद्धो मोक्ष आरोग्यमिव । उपात्तदुरि-
तनिवर्हणाय च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानादुरितनिमित्तप्रत्यवायो न भवति । प्रत्यवायानुत्पत्तौ च स्वस्थत्वान्तो न निषिद्धान्याचरेदिति ।
तदेतदूषयति—तदसत् । प्रमाणाभावादिति । शास्त्रं खल्वस्मिन्प्रमाणं तच्च मोक्षमाणस्यात्मज्ञानमेवोपदिशति नतृक्ताचारम् ।
न चात्रोपपत्तिः प्रभवति संसारस्यानादितया कर्माशयस्याप्यसंख्येयस्यानियतविपाककालस्य भोगेनोच्छेत्तुमशक्यत्वादित्याह—न चै-

अनन्दगिरियच्याख्या

यति—प्रतिषिद्धे चेति । अन्यत्वपक्षे श्रुतिविरोधं दोषान्तरमाह—परस्मादिति । पूर्वोक्तेऽपि पक्षद्वये श्रुतिविरोधस्य तुल्यत्वमाह—

मवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवाच्च यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम् । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति । तन्न विरोधाभावात् । सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति । नच जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः । शुद्धिरूपत्वाविशेषात् । दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवतु क्षपणं न तु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः । दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात् । नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादितः संभवात् । स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाग्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धानूपपद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्थोऽनूपपद्यन्ते' इति । न चासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम् । सुनिपुणानामपि सूस्मापराधदर्शनात् । संशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव । न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम् । अद्वैतौघवत्स्वभाव-

रत्नप्रभाख्याख्या

तमित्याशङ्क्य तत्र मानमाह—कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्चेति । सन्वनारब्धफलानि पुण्यपापानि तेषां नित्याद्यनुष्ठानेन श्रयान् जन्मान्तरमिति शङ्कते—स्यादेतदिति । पुण्येन पुण्यस्य न नाशः अविरोधादन्याऽऽतिप्रसङ्गात् । पापस्यापि सर्वात्मना पुण्यानाशत्वे मानं नास्तीति संचितपुण्यापापाभ्यां जन्मान्तरं दुर्वारमित्याह—तन्नेत्यादिना । कियमाणनित्यादिनापि जन्मयात्, कर्मणा पितृलोक इत्यविशेषश्रुतेः, सृष्टेश्चेत्याह—नच नित्येति । प्रत्यवायनिरासार्थं नित्याद्याचारे सत्यनु पश्चात्फलान्तरं निष्पद्यत इत्यत्र दृष्टान्तः । तद्यथेति । निर्मिते आरोपिते सतीत्यर्थः । तथापि काम्यादिकर्मसत्तानिश्चयोऽस्त्यत आह—संशयितव्यं त्विति । ज्ञानं विना देहपाते मोक्ष एवेति निश्चयाभावात्स्वल्पक्ष क्षतिरिति भावः । ब्रह्मभेन्नस्य जीवस्य कर्तृत्वादिसंभावस्य मोक्षाशापि न युक्तेत्याह—नचेति । कर्तृत्वादिरूपं कार्यं न स्वभावः किंतु तत्त्व-

भामतीव्याख्या

उत्तर्कयितुमपीति । चोदयति—स्यादेतदिति । नित्येति । परिहरति—तन्न विरोधाभावादिति । यदि हि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि सुकृतमपि दृष्टकृतमिव निर्वहेयुस्ततः काम्यकर्मोपदेशा दत्तजलाजलयः प्रसज्येरन् । नह्यस्ति कश्चिच्चातुर्वर्ण्यं वातुराश्रम्ये वा यो न नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि करोति । तस्मान्नेषां सुकृतविरोधितेति । अभ्युच्चयमात्रमाह—नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानादिति । न चासति सम्यग्दर्शने इति । सम्यग्दर्शां हि विरक्तः काम्यनिषिद्धे वर्जयन्नपि समादादुपनिषति तेनैव सम्यग्दर्शनेन क्षपयति । ज्ञानपरिपाके च न करोत्येव अज्ञस्तु निरुणोऽपि प्रमादात्करोति । कृते च न अपयितुं क्षमत इति विशेषः । न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्व इति । कर्तृत्वभोक्तृत्वे समाश्रितक्रियाभोगे ते वेदात्मनः स्वभाववधारिते न त्वारोपिते ततो न शक्यावपनेतुम् । नहि स्वभावाद्भावोऽवरोपयितुं शक्यो भावस्य विनाशप्रसङ्गात् । नच भोगोऽपि सत्स्वभावः शक्योऽस्तत्कर्तुं, नो खलु नीलमनीलं शक्यं शक्रेणापि कर्तुं तदिदमुक्तं—स्वभावस्यापरि-

आनन्दगिरियव्याख्या

नेन क्षपणसंभवात्मोक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य कृतात्ययेऽनुशयवानित्यत्रैकमविकल्पं दूषितमिति मत्वाह—कर्मति । अनारब्धफलानामपि कर्मणां नित्यनैमित्तिकेभ्यो निवृत्तेरुक्तचरितस्य मुक्तिरिति शङ्कते—स्यादेतदिति । किं तानि सुकृतानामपि क्षेपकाण्याहो दुरितानामभेदं विवरुप्याह निरस्यति—नेत्यादिना । तेषां सुकृतविरोधित्वे काम्यकर्मोपदेशवैयर्थ्यं तेषामपि तैर्विनाशादिति मन्वानो विरोधं वेवृणोति—सतीति । द्वितीयमङ्गीकरोति—दुरितानां त्विति । तर्हि तन्निवृत्ते तावत्तैव देहान्तराभावाद्युक्तैरेक्यधीवैयर्थ्यं नेत्याह—न त्विति । केवलसुकृतप्रबन्धं शरीरं नास्त्यग्रियस्यापि दुरितफलस्य तत्र दर्शनादित्याशङ्क्याह—दुश्चरितस्येति । किंच सुमुखभिरनुष्ठेत्तनित्यनैमित्तिकवशादपि देहान्तरसंभवान्नोक्तचरितस्य सुकलाशास्तीत्याह—नचेति । तेषामानुषङ्गिकफलत्वं संभावितमपि न समितमित्याशङ्क्याह—स्मरतीति । निर्मिते आरोपिते सतीति यावत् । किंच काम्यनिषिद्धकर्मशेषवशादपि देहान्तरसिद्धेर्नोक्तचरितस्य मुक्तिरित्याह—नचेति । अस्मादीनां स्थूलधियां सम्यग्रिषयं विना सर्वात्मना काम्याद्यवर्जनेपि ज्ञानादशेषकाम्यादिवर्जनसिद्धिरित्याशङ्क्याह—सुनिपुणानामिति । प्रमादो भवत्येवेत्यनियमान्नो जन्मान्तरमित्याशङ्क्याह—संशयितव्यमिति । निमित्तसद्भावेऽपि नैश्चयाभावे जन्मान्तरमनिश्चितमसिद्धमेव स्यादित्याशङ्क्याह—तथापीति । तस्य दुर्ज्ञानत्वे जन्मान्तराभावस्यापि तथात्वात्स्वल्पक्ष-सेद्धिरित्यर्थः । किं चात्मनि कर्तृत्वादि स्वाभाविकमारोपितं वाधेऽपि तत्कार्यं तच्छक्तिर्वा स्वभावः । प्रथमे तस्मिन्निवृत्ते स्थिते वा उक्तिः । नाथः । स्वभावस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । न न्तितीयो व्याघातादित्याह—नचेति । द्वितीयं शङ्कते—स्यादिति । किं शक्तेरस्ति

स्यापरिहार्यत्वात् । स्यादेतत् । कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्यत्वस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति । तच्च न । शक्तिसद्भावे कार्यप्रसक्तस्य दुर्निवारत्वात् । अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि । अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति । तच्च न । निमित्तानामपि शकिलक्षणेन संबन्धेन नित्यसंबद्धत्वात् । तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति । श्रुतिश्च—‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’ (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति । परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवचनदुपपत्तेः । शास्त्रं च ‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तद्वितर इतरं पश्यति’ (बृ० २।४।१४; ४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ (बृ० २।४।१४; ४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं एतद्ब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वाच्च कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या । किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति । उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति । तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्ब्रह्मनरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ (छा० ४।१।०।५) इति ‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम्’ (छा० ८।१।१) इति च तत्रापि वामनीत्वादितिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति गतिः । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः ‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति’ (बृ० ४।४।६) इति । ‘ब्रह्मविदामोति परम्’ (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्यामोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलया-

रजप्रभाष्याख्या

किरिति शङ्कते—स्यादेतदिति । कार्यगम्यायाः शक्तेः कार्यस्यात्यन्तानुत्पादे सत्त्वमयुक्तमतः शक्तिसत्त्वे तद्विषयस्य कार्यस्यादृष्टदेशकालादिनिमित्तानां चात्मना शक्तिद्वारा नित्यसंबद्धत्वान्मोक्षो न स्यादिति परिहरति—**तच्छेत्यादिना** । मोक्षसिद्धयर्थं जीवस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे संसारानुपपत्तिमाशङ्क्याज्ञानादुपपत्तिमसकृदुक्तां स्मारयति—**परस्मादित्यादिना** । प्रासङ्गिकं परिहृत्य परमं प्रकृतमुपसंहरति—**तदेवमिति** । ननु परविद्यायामप्यामोतिपदेन गतिः श्रुतेत्यत आह—**ब्रह्मविदामोतीति** ।

भामतीध्याख्या

ह्यर्थत्वादिति । समारोपितस्य त्वनिर्वचनीयस्य तत्त्वभावस्य शक्यस्तत्त्वज्ञानेनावरोधः कर्तुं सर्पस्येव रज्जुतत्त्वज्ञानेनेति भावः । भावमिममविद्वान्परिचोदयति—**स्यादेतत् । कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमिति** । अप्रकाशितभावो यथोक्तमेव समाधत्ते—**तच्च नेति** । कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्निमित्तसंबन्धस्य च शक्तिद्वारेण नित्यत्वाद्भवित्यति कदाचिदंशं समुदाचरो यतः सुखदुःखे भोज्येते इति संभावनातः कुतः केवल्यनिश्चय इत्यर्थः । भूयोनिरस्तमपि मतिद्रष्टिन्ने पुनरुपन्यस्य दूषयति—**परस्मादनन्यत्वेऽपीति** । शेष-

आनन्दगिरियध्याख्या

कार्यारम्भकत्वमुत न । आद्येऽपि सा निरपेक्षा कार्यमारभते सापेक्षा वा । नाद्य इत्याह—**तच्च नेति** । कल्पान्तरमुत्थापयति—**अथापीति** । अदृष्टादिनिमित्ताभावादुपभोगलक्षणोऽनर्थो नास्तीत्यर्थः । कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्निमित्तसंबन्धस्यात्मनोऽदृष्टादिनिमित्तैः संबन्धस्य च शक्तिद्वारा सदातनत्वात्काचित्तस्या भोगारम्भकत्वसंभवाच्च मुक्तिरित्याह—**तच्छेति** । सा चेत्कार्यं नारभते तर्हि तस्या असत्त्वमेव कार्यैकगम्यत्वादिति मत्वा शक्तेर्भावं कार्यस्य वा स्वाभाविकत्वनिरासमुपसंहरति—**तस्मादिति** । आत्मनि कर्तृत्वादिरारोपितत्वे ज्ञानादेव तन्निवृत्तेर्न कर्मसाध्या मुक्तिरित्युपेक्ष्य ज्ञानमात्रायत्ता सत्यत्र मानमाह—**श्रुतिश्चेति** । प्रासङ्गिके पुरमते पराकृते मोक्षसिद्धये जीवस्य ब्रह्मात्मत्वोपगमेऽपि तुल्याऽनुपपत्तिरिति शङ्कते—**परस्मादिति** । तत्त्वज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा व्यवहाराभावो नाद्यः स्वप्नबुदुपपत्तेरित्याह—**न प्रागिति** । तत्रैव शास्त्रानुमतिमाह—**शास्त्रं चेति** । अप्रबुद्धविषय इतिच्छेदः । द्वितीये प्रसङ्गसेष्टां शास्त्रावष्टम्भेनाच्छेद—**पुनरिति** । प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रकृतं निगमयति—**तदेवमिति** । परमतं निराकृत्य पूर्वोक्तं स्वमतं प्रशपूर्वकं विवृणोति—**किमित्यादिना** । गतिश्रुतीनां सगुणधीविषयत्वं विशदयति—**तथाहीति** । ब्रह्म प्रकृत्यापि गतेरुक्तेस्तस्या युक्तं परविषयत्वमित्याशङ्क्याह—**यत्रापि** । सगुणविषयविषये गतिश्रुतिमुक्त्वा परविषयविषये तदभावमाह—**नेति** । ब्रह्मत्वाविशेषात्तत्रापि गतिरेषैवेत्याशङ्क्याह—**यथेति** । आमोतेर्गत्यर्थत्वात्परविषयाधिकारेऽपि गतिश्रुतिरस्तीत्याशङ्क्याह—**ब्रह्मविदिति** । ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सर्वान्तरत्वं सर्वात्मत्वमित्यादिवर्णितो न्यायः । आमोतिस्तर्हि परविषये कथमित्याशङ्क्याह—**स्वरूपेति** । इतश्च परविषयं नास्ति

पेक्षयाऽभिधीयते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम् । अपिच पर-
विषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं तावद्ब्रह्म-
विदो न गत्युत्तया क्रियते । स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः ।
नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपप-
द्यते । तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना
गतिश्रुतयः परस्मिन्ब्रह्मारोप्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति । बाढं द्वे 'एतद्वै सत्यकाम
परं चापरं च ब्रह्म यदौकारः' (ब्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपर-
मिति । उच्यते । यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्प-
रम् । तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राण-
शरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम् । नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत ।
'न । अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात् । तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सं-
निधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादि जगदैश्वर्यल-
क्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति । अनिवर्तितत्वाद्ब्रह्मविद्यायाः । तस्य च देशविशेषावबद्ध-
त्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम् । सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्यु-
पाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्य 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९) इत्यत्र । तस्मात्
'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः । 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२)
इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

अप्रतीकालम्बनाश्रयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥



प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नयति वा न वा ॥ अविशेषश्रुतेरेतान्ब्रह्मोपासकवक्ष्येत् ॥ १ ॥

ब्रह्मकतोरभावेन प्रतीकार्हेफलभवात् ॥ न तावन्नयति पञ्चाभिषिदो नयति तच्छ्रुतेः ॥ २ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति । इदमिदानीं संदिह्यते किं सर्वान्विकारालम्बनान-

रत्नप्रभाख्याख्या

वैफल्याच्च गतेर्न परविषयत्वमित्याह—अपिचेति । अनुचिन्तनपक्षं प्रत्याह—नच नित्यसिद्धेति । कथं तर्हि कैश्चि-
त्परविषयत्वं गतेरुक्तमित्याशङ्क्य श्रान्त्येत्याह—तत्र परापरेति । प्रश्नपूर्वकं परापरब्रह्मविभागं वदन्नपरब्रह्मणि गतेरर्थवत्त्व-
माह—किं द्वे इत्यादिना । व्यापिनो जीवस्य कथं गतिस्तत्राह—सर्वगतत्वेऽपीति ॥ १४ ॥ एवं गन्तव्यं निरूप्य
गन्तुमिर्धारयति—अप्रतीकेति । 'स एवैवान् ब्रह्म गमयति' इत्यविशेषश्रुतेः तत्कतुन्यायाच्च संशयमाह—इदमिति ।

भामतीव्याख्या

मतिरोहितार्थम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ अप्रतीकालम्बनाश्रयतीति बादरायण उभ-
यथा दोषात्तत्क्रतुश्च । अब्रह्मकतवो यान्ति यथा पञ्चाभिविषया । ब्रह्मलोकं प्रयात्यन्ति प्रतीकोपासकास्तथा ॥ सन्ति हि मनो

आनन्दगिरियव्याख्या

गतिरित्याह—अपिचेति । तदेव दर्शयितुं विकल्पयति—परेति । प्ररोचनपक्षं प्रत्याह—तत्रेति । स्वसंवेद्यत्वे हेतुमाह—
अव्यवहितेनेति । स्वापादिव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—विद्येति । अनुचिन्तनपक्षं प्रतिक्षिपति—नचेति । पक्षद्वयनिरासफलं दर्शयति—
तस्मादिति । कथं तर्हि केषांचिदाचार्याणां परविषयत्वोपगमो गतिरित्याशङ्क्य सूक्ष्मदृष्टिशून्यत्वादित्याह—तत्रेति । अपसिद्धान्तं
शङ्कते—किमिति । सांपाधिकनिरुपाधिकत्वेन ब्रह्मणो भेदः, छुतिवैरूप्यात्तेन नापरादान्तापत्तिरित्याह—बाधमिति । परापरविभागं
प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किमित्यादिना । उक्तमेवापसिद्धान्तपरिहारं चोद्यद्वारा स्फोरयति—नन्वित्यादिना । परापरविभागस्य
मिथ्यात्वे किं स्यादित्याशङ्क्यापरब्रह्मणो गन्तव्यत्वाच्च तदुपास्तिकलमाह—तस्येति । अपरब्रह्मोपासनस्योक्तफलत्वेऽपि कथं तद्विषये
गतिरित्यशङ्क्याह—तस्य चेति । तस्य गन्तव्यत्वेऽपि गन्तुत्वमात्मनो विमुत्वाद्युक्तमित्याशङ्क्याह—सर्वेति । अनिर्वचनीया गतिरनिर्वच-
नीयसगुणब्रह्मविषयैर्बोधितेति भावः । परविषये गत्यभावादपरविषये तदुपपत्तेरसदुक्तैव पूर्वोत्तरपक्षव्यवस्थेत्युपसंहरति—तस्मा-
दिति ॥ १४ ॥ गन्तव्यविशेषोक्त्यनन्तरं गन्तुविशेषोक्त्यर्थमाह—अप्रतीकालम्बनानिति । संबन्धं वक्तुं दृष्टं कीर्तयति—
स्थितमिति । अमानवपुरुषं विषयीकृत्याविशेषश्रुतेस्तत्क्रतुत्वेनागमनमानाच्च संशयमाह—इदमिति । विद्याफलार्थं देवयाने पथि

विशेषणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कश्चिदेवेति । किं तावत्प्राप्तं सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथाहि—‘अनियमः सर्वांसामि’ (ब्र० सू० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषणैवैषां विद्यान्तरेष्ववतारितेति । एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिदोषोऽस्ति । अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः । तत्क्रतुभ्यास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्दृश्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्रूयते ‘तं यथा यथोपासते तदेव भवति’ इति श्रुतेः । न तु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वाद्युपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते यथा पञ्चामिषिद्यायाम् ‘स एनान्ब्रह्म गमयति’ (छा० ४।१।५) इति भवतु यत्रैवमाहव्याद-

रत्नप्रभाष्याख्या

अनियमाधिकरणे तत्त्वविदोऽन्यत्र सर्वोपासकानां मार्गोपसंहार उक्तः, इदानीमप्रतीकोपासकानामेव मार्गो न सर्वेषां विकारोपासकानामित्युभयथाभावोक्तौ पूर्वोक्तविरोधः स्यात्, तस्मादुपासकमात्रस्योत्तरमार्गसिद्धिरिति पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तुभयथाभावसिद्धिः । अदोषादिति सूत्रे पदच्छेदः, अविरोधादित्यर्थः । अनियमः सर्वांसामिति सूत्रे सर्वशब्दस्य प्रतीकोपासकान्यपरत्वादिति भावः । यद्यपि प्रतीकध्यायिनां पितृयाणतृतीयस्थानयोरप्रवेशादचिरादिमार्गो वाच्यस्तथापि तेषां विद्युत्यर्थन्तमेव गमनमस्तु न ब्रह्मप्राप्तिर्ब्रह्मक्रतुत्वाभावात् । यो यत् ध्यायति स तत्प्राप्नोति हि तत्क्रतुन्यायः श्रुतिमूलः । प्रतीकेषु च नामादिषु ध्येयेषु ब्रह्मणो गुणत्वात्, न ब्रह्मध्यायित्वमस्ति । अस्य च न्यायस्य पञ्चामिषिद्यायामाहव्यादात्प्रत्य-

भामतीव्याख्या

ब्रह्मेत्युपासीतेत्याद्याः प्रतीकविषया विद्याः । तद्वन्तोऽप्यचिरादिमार्गेण कार्यब्रह्मोपासका इव गन्तुमर्हन्ति ‘अनियमः सर्वांसाम्’ इत्यविशेषण विद्यान्तरेष्वपि गतेरवधारणात् । न चैषां परब्रह्मविदामिव गत्यसंभव इति । नच ब्रह्मक्रतव एव ब्रह्मलोकभाजो नातत्क्रतव इत्यपेक्षान्तः । अतत्क्रतूनामपि पञ्चामिषिदां तत्प्राप्तिः । न चेते न ब्रह्मक्रतवो मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादौ सर्वत्र ब्रह्मानुगमेन तत्क्रतुत्वस्यापि संभवात् । फलविशेषस्य ब्रह्मलोकप्रासावप्युपपत्तेः, तस्य सावयवतयोत्कर्षनिकर्षसंभवादिति प्राप्ते प्रयुज्यते—उत्तरोत्तरभूयस्त्वादब्रह्मक्रतुभावतः । प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नामानवो नयेत् ॥ भवतु पञ्चामिषिद्यायामब्रह्मक्रतूनामपि ब्रह्मलोकनयनं, वचनात् । किमिव हि वचनं न कुर्यात् नास्ति वचनस्यातिभार इह तु तदभावात् । ‘तं यथायथोपासते तदेव भवति’ इति श्रुतेर्तैत्तिग्व्याख्यासति विशेषवचनेऽपवादो युज्यते । नच प्रतीकोपासको ब्रह्मोपास्ते सत्यपि ब्रह्मेत्यनुगमे । किंतु नामादिविशेषं ब्रह्मरूपतया । तथा स्वल्पं नामादितत्त्वो न ब्रह्मतत्त्वः । आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे प्रक्षेपः प्रतीक इति हि वृद्धाः । ब्रह्माश्रयश्च प्रत्ययो नामादिषु प्रक्षिप्त इति नामतत्त्वः । तस्माच्च तदुपासको ब्रह्मक्रतुः किंतु नामादिक्रतुः । नच ब्रह्मक्रतुत्वे नामाद्युपासकानामविशेषादुत्तरोत्तरोत्कर्षः संभवी । नच ब्रह्मक्रतुस्तदवयवक्रतुर्येन तदवयवोपेक्षयोत्कर्षो वर्ण्येत । तस्मात्प्रतीकालम्बनान्विदुषो वज्रयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनाद्यत्यमानवो ब्रह्मलोकम् । न ह्येवमुभयथाभाव उभयथार्थत्वे कश्चित्प्रतीकालम्बनाच्च नयति वि-

आनन्दगिरीयव्याख्या

गन्तुविशेषोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे सर्वेषूप्रासनेष्वनियमन्यायादिकारालम्बनेषु विशेषासिद्धिः । सिद्धान्ते प्रतीकोपासनातिरिक्तेषु तत्क्रतुन्यायादिशेषसिद्धिरिति मत्वा विशुद्धय पूर्वपक्षयति—किं तावदिति । परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्रेति कार्यब्रह्मोक्तिः । तत्र गुणोपसंहारस्थानियमाधिकरणन्यायं हेतुत्वेन सारयति—तथाहीति । प्रतीकालम्बनानामपि पितृयाणतृतीयस्थानासंबन्धित्वात्प्रतीकविशेषत्वेन ब्रह्मणोऽपि तैथ्यादितत्त्वाच्च वै के चेत्तादिवक्तव्येन च तेषां ग्रहादेतान्ब्रह्म गमयतीत्येतच्छब्देन तेषामपि परामर्शसिद्धेर्विद्यान्तरेषु च गतेरवतारितत्वादिविशेषणैवामानवः पुरुष यतान्स्वर्गानेव विकारालम्बनान्ब्रह्मलोकं नयतीति प्राप्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षमनुभाष्य सिद्धान्तप्रतिष्ठापनवतार्य व्याकरोति—एवमिति । आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे प्रक्षेपो हि प्रतीको यथा ‘नाम ब्रह्म’ इत्यादौ नामादिषु ब्रह्माश्रयस्य प्रत्ययस्य प्रक्षेपः । तदालम्बनाः प्रतीकालम्बनास्तान्विहाय विकारालम्बनान्सुगुणविधावतः सर्वानिति यावत् । यत्स्वनियमन्यायादिविशेषण सर्वेषां विकारालम्बनानामेषा गतिरिति तदुभयभूयथाऽदोषादित्येतद्व्याचष्टे—नहीति । प्रतीकालम्बनान्न नयति विकारालम्बनान्सु नयतीत्युभयथात्वोपगमे सत्यनियमः सर्वांसामिति न्यायस्य न कश्चिदोषः सर्वशब्दस्य प्रतीकालम्बनातिरिक्तविषयत्वसिद्धेरित्यर्थः । तत्क्रतुत्वेति पदं पदान्तराध्याहारेण व्याकरोति—तत्क्रतुरिति । तस्य हेतुत्वं साधयति—यो हीति । तत्र मानमाह—तमिति । प्रतीकालम्बनैरपि तद्विशेषणत्वेन ब्रह्म ध्यातमित्युक्तमित्याशङ्क्याह—न त्विति । ब्रह्मदृष्ट्या नामादीनामेव प्रतीकानां प्राधान्येनानुचित्तान्न प्रतीकालम्बनानां ब्रह्मक्रतुत्वमित्यर्थः । तत्क्रतुस्तद्भवतीति न्यायस्य व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । न्यायस्यैतत्समिकत्वेऽपि विशेषवचनादपवादः, तत्राह—भवतिविति । आहव्यादः साक्षादपवादकः ॥ १५ ॥ इतोऽपि प्रतीकोपास-

उपलभ्यते तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्कृतुन्यायेन ब्रह्मकृतनामेव तत्प्राप्तिर्नैतरेषामिति ग-
म्यते ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वसात्पूर्वसात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—
'यावज्जानो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) 'वाग्वाव ज्ञानो भूयसी'
(छा० ७।२।१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२) 'मनो वाव
वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चायं फलविशेषः प्रतीकतत्त्वाद्युपासनानामुप-
पद्यते । ब्रह्मतत्त्वात्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मान्न प्रतीकालम्बनाना-
मितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छास्त्रीरक्षमीमांसाभाष्ये चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाख्याख्या

क्षवचनाद्वाप इष्ट इति सूत्रभाष्यार्थः ॥ १५ ॥ किंच प्रतीकतारतम्येन फलतारतम्यभ्रुतेन प्रतीकध्यायिनां ब्रह्मप्रा-
प्तिरित्याह—विशेषं चेति । तस्मादसति वचने ब्रह्मध्यायिन एव ब्रह्मगन्तार इति सिद्धम् ॥ १६ ॥ इति श्रीमत्परमहंस-
परिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्कृतौ भाष्यरत्नप्रभायां चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भामतीव्याख्या

कारालम्बनान्विदुषस्तु नयतीत्यभ्युपगमे कश्चिदोपोऽस्ति 'अनियमः सर्वोत्तमः' इत्यस्य न्यायस्येति सर्वमवदातम् ॥ १५ ॥ इति श्रीवाच-
स्पतिमिश्रविरचिते भगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

आनन्दगिरीयव्याख्या

नानां न ब्रह्मगतिरित्याह—विशेषं चेति । उत्कर्षोपकर्षवत्त्वात्फलस्य प्रतीकोपासनानां नैकरूपब्रह्मकृतत्वं तत्प्राप्तिर्वा हेतुपचयापचया-
तिरेकेण फले तदयोगादिति व्याचष्टे—नामादिष्विति । फलविशेषोपलम्भेऽपि किमित्युपासनानां प्रतीकतत्त्वं, तत्राह—स चेति ।
प्रतीकानामुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यर्थः । विपक्षे फलविशेषदृष्टेरक्षित्वमाह—ब्रह्मेति । प्रतीकालम्बनातिरिक्तानां विकारालम्बनानां ब्रह्म-
लोकगतिरिति स्थिते फलितमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ १६ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदा-
नन्दनानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायस्य सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानाख्यस्तृतीयः पादः ॥



इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माज्ज्ञौतिकं ज्योतिः शक्यं प्रदीतुम् । प्रकृतद्वानामप्रकृतप्र-
क्रियाप्रसङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६)
इति । प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्वर्शनात्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥



मुक्तरूपाद्ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वाप्य भिद्यते ॥ संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृविशोक्तः ॥ १ ॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति ॥ ब्रह्मत्वोक्तेराभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपपाद्यते ॥ २ ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युत्पा-
भागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात्
'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं
व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते । कुतः—दृष्टत्वात् । तथाहि 'तत्त्वमसि'
(छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'न तु
तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्वविभागनैव
परमात्मानं दर्शयन्ति । यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्कृतुन्यायात् । 'यथोदकं शुद्धे शुद्ध-
मासिकं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैव-
मादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्वविभागमेव दर्शयन्ति । नदीसमुद्रादिनिर्देशनानि
च । भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते । स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१)
इति 'आत्मरतिरात्मकीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥



क्रमेण गुणद्वयास्य सविशेषाविशेषते ॥ विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोक्तयोः ॥ १ ॥
मुक्तामुक्तदशोभेदाद्व्यवस्थासंभवे सति ॥ अविरुद्धं बौगपद्यमश्रुतं क्रमरूपमन्य ॥ २ ॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपे-

रत्नप्रमाण्याक्या

मुक्तः किं न स्यादित्यत आह—न चानतिवृत्त इति ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्टत्वात् । स्वरूपस्थितमुक्तमुपजीव्य
वादिभिवादात् ब्रह्मभेदाभेदसंशये सत्यत्यन्तभेदं पूर्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तमाह—यस्येति ॥ ४ ॥ ब्राह्मेण जैमिनिः । उक्तं
ब्रह्मस्वरूपमुपजीव्य स किं सत्येन सर्वज्ञत्वादिधर्मेण युक्तिरिति उत धर्मस्य शशशृङ्गवदत्यन्तासत्त्वाच्चिन्मात्रात्मना तिष्ठति

भामतीव्याख्या

त्वमिति प्राप्ते प्रत्युच्यते—ज्योतिरुपसंपद्य मुख्यत्वं भौतिकं यद्यपि स्थितम् । तथापि प्रकृमाद्वाक्यादात्मन्येवान्न युज्यते ॥ परं
ज्योतिरिति हि परपदसमभिव्याहारात्परत्वस्य चानपेक्षस्य ब्रह्मण्येव प्रवृत्तेज्योतिरिति चापरे किंचिदपेक्ष्य परत्वात्परं ज्योतिरिति वाक्या-
दारम्भैवात्र गम्यते । प्रकरणं चोक्तम् । यत् संपद्य निष्पद्यत इति तन्मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत् । तस्माज्ज्योतिरुपसंपन्नो मुक्त
इति सूक्तम् ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्टत्वात् । यद्यपि जीवात्मा ब्रह्मणो न भिन्न इति तत्र तत्रोपपादितं तथापि स तत्र पर्य-
तीत्याधारापेयभावव्यपदेशस्य संपन्नसंपत्तव्यभावव्यपदेशस्य च समाधानार्थमाह ॥ ४ ॥ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।

आनन्दगिरीव्याख्या

विनेति यावत् । प्रकरणादपि प्रयोगाभावे कथमात्मार्थो ज्योतिःशब्दः, तत्राह—ज्योतिःशब्द इति । अक्षपेक्षितं न्यायं पूर्वोक्तं
सूत्रयन्पुनरुक्तिं प्रत्याह—प्रपञ्चितं चेति ॥ ३ ॥ विदुषः स्वरूपेऽवस्थितस्यापि वैशेषिकादिब्रह्मणोऽत्यन्ताभेदवादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे जीव-
भेदेति । विषयोकिपूर्वकं वादिविप्रतिपत्तेः संशयमाह—परमिति । अत्र मुक्तस्य ब्रह्मणोऽत्यन्ताभेदवादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे जीव-
भेदयोरात्यन्तिकमन्यत्वं, सिद्धान्ते तयोरात्यन्तिकमभिन्नत्वमङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयति—इति वीक्षायामिति । सिद्धान्तसम्मतार्थं
व्याचष्टे—इति यस्येति । दृष्टत्वमेव स्फुटयति—तथाहीति । परमात्मन्येकत्वेन दृष्टत्वे फलितमाह—यथेति । फलावस्थावादिवा-
क्येऽविभागस्य दृष्टत्वादपि मुक्तस्य परस्मादात्यन्तिकभेदमिति व्याख्यान्तरमाह—यथेति । उक्तभेदनिर्देशस्य तर्हि का गतिः, तत्राह
—भेदेति । उपचारे गतिरित्यत्र तथाप्यत्र दृष्टत्वं हेतुमाह—स इति ॥ ४ ॥ ब्रह्मात्मता प्राप्तस्यापि जीवस्य संप्रपञ्च्यं चोद

णेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते स्वमस्य रूपं ब्राह्मणपहतपाप्मत्वादिसत्यसं-
कल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो
मन्यते । कुतः—उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथाहि—‘य आत्माऽपहतपाप्मा’ (छा०
८।७।१) इत्यादिना ‘सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकता-
मात्मनो बोधयति । तथा ‘स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्ममाणः’ (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमा-
वेदयति । ‘तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ (छा० ७।२।५।२) इति च । ‘सर्वज्ञः सर्वेश्वरः’
इत्यादिव्यपदेशाच्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवेति । पाप्मादि-
‘निवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते । चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्प-
‘स्युर्युक्ता । तथाच श्रुतिः—‘एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव’ (बृ०
४।५।१३) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि घन्तुस्वरूपेणैव

रत्नप्रभाख्या

किं वा वस्तुतश्चिन्मात्रोऽपि जीवान्तरव्यवहारदृष्ट्या कल्पितसर्वज्ञत्वादिमानिति मुनिविप्रतिपत्तेः संशये सत्यायं पूर्वपक्षमाह
—अधुनेत्यादिना । तत्पक्षसिद्धिरेव फलं द्रष्टव्यम् । सोन्वेष्टव्य इतिविध्यर्थ उद्देशो य आत्मेत्यादिपन्यासशब्दार्थः ।
आदिपदाद्विधिव्यपदेशग्रहः । तत्राज्ञातज्ञापको विधिस्तमाह—तथा स तत्रेति । सर्वज्ञ इत्यादिलु व्यपदेशोऽयं हि नोद्देशः
विध्यभावाच्चापि विधिः सिद्धवन्निरास्यति । ॥ ५ ॥ सत्यत्वादिधर्माणां सत्यत्वं दृश्यन्नत्यन्तासत्त्वपक्षमाह—चिति
तन्मात्रेणेति । चित्तिश्चैतन्यं, शब्दज्ञानाद्यो विकल्पोऽसम्प्रत्ययस्तज्जाः अत्यन्तासन्त इति यावत् । अस्तवभावधर्माणामसत्त्वं
भावधर्माणां तु सत्त्वमित्याशङ्क्य तेषामप्यौपाधिकत्वादसत्त्वमित्याह—सत्यकामेति । चिन्मात्रे मुक्ते जक्षणादिश्रुतिः कथं

भामतीव्याख्या

उपन्यास उद्देशो ज्ञातस्य यथा य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिः । तथाऽज्ञातज्ञापनं विधिः । यथा स तत्र पर्येति जक्षद्रममाण इति, तस्य
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्येतदज्ञातज्ञापनं विधिः । सर्वज्ञः सर्वेश्वर इति व्यपदेशः । नायमुद्देशो विधेयान्तराभावात् । नापि
विधिरप्रतिपाद्यत्वात् । सिद्धवन्निरास्यत्वात् । तन्निर्वचनसामर्थ्यादयमर्थः प्रतीयते—त एते उपन्यासादयः । एतेभ्यो हेतुभ्यः । भावाभावा-
त्मके रूपैर्भाविक्तेः परमेश्वरः । मुक्तः संपद्यते स्वैरित्याह स्म किल जैमिनिः ॥ न च चित्सत्त्वभावस्यात्मनोऽभावात्मानोऽपहतपाप्मत्वा-
दयो भावात्मानश्च सर्वज्ञत्वादयो धर्मा अद्वैतं मन्ति । नो खलु धर्मिणो धर्मा भिद्यन्ते, मा भूद्वाश्वद्वर्मिधर्मभावाभाव इति जैमिनि-
राचार्य उवाच ॥ ५ ॥ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः । अनेकाकारतैकस्य नेकत्वसिद्धता भवेत् । परस्पर-
विरोधेन न भेदाभेदसंभवः ॥ न ह्येकस्यात्मनः पारमार्थिकानेकधर्मसंभवः । ते चेदात्मनो भिद्यन्ते द्वैतापत्तेर्द्वैतश्रुतयो व्यावर्तेत ।
अथ न भिद्यन्ते तत एकस्मादात्मनोऽभेदान्मिथोऽपि न भिद्येत् । आत्मरूपवत् । आत्मरूपं वा भिद्येत । भिन्नेभ्योऽनन्यत्वा-
शीलपीतरूपवत् । न च धर्मिण आत्मनो न भिद्यन्ते मिथस्तु भिद्यन्त इति साम्प्रतम् । धर्म्यभेदेन तदनन्यत्वेन तेषामप्यभेदप्रसङ्गात् ।
भेदे वा धर्मिणोऽपि भेदप्रसङ्गादित्युक्तम् । भेदोभेदै च परस्परविरोधादेकत्राभावाच्च संभवत इत्युपपादितं प्रथमे सूत्रे । अभाव-
पाणमद्वैताविहन्तृत्वेऽपि तस्य पाप्मादेः काल्पनिकतया तदधीननिरूपणतया तेषामपि काल्पनिकत्वमिति न तात्त्विकी तद्वर्जता
स्थित्ये । एतेन सत्यकामसर्वज्ञत्वश्रुत्यादयोऽप्यौपाधिका व्याख्याताः । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेनाव्यपदेशेन चैतन्यमात्रमाभिनि-
ष्यमानस्य मुक्तावात्मनोऽर्थशून्यैरेवापहतपाप्मसत्यकामादिशब्दैर्व्यपदेश इत्यौडुलोमिर्नेने । तदिदमुक्तं—शब्दविकल्पजा

आनन्दगिरियव्याख्या

यति—ब्राह्मेणेति । वृत्तं कीर्तयति—स्थितमिति । विषयसंशयौ दर्शयति—अधुनेति । येन च ब्रह्मरूपेण मुक्तस्यावस्थानं तत्किं
सप्रपञ्चमेव किंवा निष्प्रपञ्चमेवाव नोभयरूपमिति विप्रतिपत्तेः संशये ब्रह्मणो मुक्तोपसृप्यस्य दृष्टिद्वयमात्रित्योभयरूपत्वोक्त्या पादादि-
संगतिः । पूर्वपक्षे सप्रपञ्चत्वश्रुतीनां वा निष्प्रपञ्चत्वश्रुतीनां वा मुख्यार्थत्वसिद्धिः । सिद्धान्ते द्विविधश्रुतीनां दृष्टिद्वयावष्टम्भान्मुख्यार्थत्वो-
पपत्तिरित्युपेक्ष पूर्वपक्षयति—अभिधीयत इति । उपन्यासेन ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वसिद्धिं विवृणोति—तथाहीति । उपन्यासो नामोद्देशः
स चाप्यत्र ज्ञातस्यान्विधानायानुवादः । आदिशब्दार्थे विधिं दर्शयति—तथेति । अज्ञातज्ञापनं विधिः । आदिशब्देनोक्तं व्यपदेशमाह—
सर्वज्ञ इति । विधेयान्तरहितत्वेनानुद्देश्यस्याप्रतिपाद्यत्वेनाविधेयस्य च सिद्धवन्निरास्यत्वं व्यपदेशः ॥ ५ ॥ पूर्वपक्षान्तरमाह—
चितितन्मात्रेणेति । उपन्यासादिना नानासत्त्वे दर्शिते कथंचिदेकरसत्वमित्याशङ्क्याह—यद्यपीति । कथं विकल्पमात्रत्वमित्याशङ्क्य
काल्पनिकत्वात्पाप्मादेस्तत्त्विकरूपाणां तेषामपि राहोः शिर इतिवत्काल्पनिकत्वमेवेत्याह—पाप्मादीति । किं तर्हि तस्य वास्तवरूपं
तदाह—चैतन्यमिति । तत्र मानमाह—तथाचेति । सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिवन्नेतुमशक्यत्वात्कुतो ब्रह्मणश्चैतन्यमात्रत्वेत्या-

धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अत्येति । तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः । अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र । अत एव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत् । नहि मुख्यान्वेव रतिश्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसङ्गेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मणस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥



४ अधिकरणम्

भोग्यसुखावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा ॥ आशामोदकवैयम्बाहेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥ १ ॥

संकल्पादेव पितर इति श्रुत्यावधारणात् ॥ संकल्प एव हेतुः स्याद्विषयं बाहुचित्तनात् ॥ २ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति । तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्नित्तान्तरापेक्षता युक्ता । यथा लोकेऽसदादीनां संकल्पाद्व्यवहारादिविषयश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि

रत्नप्रभाष्याख्या

तत्राह—अत एव चेति । सर्वधर्मनिषेधादेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ धर्माणां सत्यत्वमत्यन्तासत्त्वं चेति पक्षद्वयमयुक्तम् । अद्वैतश्रुतीनां सर्वज्ञत्वादिभूतिव्यवहारयोश्च बाधापातादतस्तृतीयपक्षः श्रेयानिति सिद्धान्तयति—**एवमपीति** । अत्र केचिन्मुह्यन्ति—अखण्डचिन्मात्रज्ञानान्मुक्तस्याज्ञानाभावात्कुत आज्ञानिकधर्मयोग इति, ते इत्थं बोधनीयाः । ये ईश्वरधर्मास्त एव चिदात्मनि मुक्ते जीवान्तरैर्व्यवहियन्ते इति । नच मूलाविद्यैक्यात्तन्नाशे कुतो जीवान्तरमिति वाच्यं, न वयं तन्नाशे जीवान्तरव्यवहारं ब्रूमः, किंतु तदंशानां शरीरव्याप्यात्मिकशरीरद्वयाभिमानिनो मुक्तावशान्तरोपाधिका जीवा व्यवहृता इति वदामः । तर्हि नानाविद्यापक्ष एव कुतो नाद्रियते जीवभेदस्यावश्यकत्वादिति चेत् । न । प्रकृतिनानात्वं प्रतिजीवं प्रपञ्चभेद इत्याद्यप्रामाणिकानेकार्थगौरवादिति सर्ववृद्धसंमत एकाविद्यापक्ष एव श्रेयान्, अंशभेदेन च बन्धमुक्तिव्यवस्थेति संक्षेपः ॥ ७ ॥ एवं परविद्याफलमुक्तमिदानीमपरविद्याफलं प्रपञ्चयति—**संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः** । एवकारस्यायोगान्ययोग-

भामतीव्याख्या

एवैते अपहृतपाप्मत्वादयो न तु सांख्यवहारिका अपीति ॥ ६ ॥ **एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः** । तदेतदतिशोण्डीयमौडुलोमेन मृष्यते । बादरायण आचार्यो मृष्यन्नपि हि तन्मतम् ॥ **एवमपीत्यौडुलोमिमतमुज्जोति** । शोण्डीयं तु न सहत इत्याह—**व्यवहारापेक्षयेति** । एतदुक्तं भवति—सत्यं तात्त्विकानन्दचैतन्यमात्र एवात्मा, अपहृतपाप्मसत्यकामत्वादयस्त्वापधिकतयाऽतात्त्विका अपि व्यावहारिकप्रमाणोपनीततया लोकसिद्धा नात्यन्तास्ततो येन तच्छब्दा राहोः शिर इति वदवास्तवा इत्यर्थः ॥ ७ ॥ **संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः** । यत्नानपेक्षः संकल्पो लोके वस्तुप्रसाधनः । न दृष्टः सोऽत्र यत्नस्य लाघवाद्वाधवारितः ॥ लोके हि कंचिदर्थं चिकीर्षुः प्रयतते प्रयतमानः समीहते समीहानस्तमर्थमाप्नोतीति क्रमो दृष्टः । न त्विच्छान्तरमे-

आनन्दगिरीव्याख्या

शङ्काह—**सत्येति** । उपाधीनामपि तदभेदाद्वास्तवमेव धर्मत्वमित्याशङ्क्याह—**अवेकेति** । उपन्यासत्वेव विधिव्यपदेशयोगेतिमाह—**अस इति** । अनेकाकारत्वस्य निषिद्धत्वादेवेति यावत् । दृष्टान्तेऽपि मुख्यत्वमाशङ्कोक्तम्—**नहीति** । उपन्यासादीनामन्यथासिद्धत्वे श्रुतिसिद्धमर्थमुपमंरति—**तस्मादिति** ॥ ६ ॥ सिद्धान्तयति—**एवमपीति** । चिन्मात्रस्यापि सतो ब्रह्मणस्तत्त्वात्तत्त्वविभागाद्विधात्वसिद्धिरिति सूत्रार्थं विवृणोति—**एवमित्यादिना** ॥ ७ ॥ पूर्वाधिकरणेषु परविद्याफलमभिधायापरविद्याफलं प्रपञ्चयितुमनुपेक्ष्य मते—**संकल्पादिति** । विषयं वक्तुं बाधयमुदाहरति—**हार्देति** । एवकारस्यायोगान्ययोगव्यवच्छेदसाधारणतया संकल्पं विच्छेदयितुं लोकवृत्तानुसारि संशयमाह—**तत्रेति** । अत्र च सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मभूतस्य विभूतिनिर्माणसाधननिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे लोकवृत्तानुसारि चरणं सिद्धान्ते श्रुतिवृत्तानुसारि चरणमित्यभिप्रेत्यावधारणश्रुत्या संकल्पस्य निरपेक्षत्वसिद्ध्या पूर्वपक्षानुत्थानमाशङ्क्याह—**तत्रेति** । लोकवदित्युक्तं विवृणोति—**यथेति** । मुक्तस्य पित्रादिभोगहेतुसंपत्तिः संकल्पातिरिक्तयत्नादिसापेक्षा भोगहेतुसंपत्तिवत्त्वदसद्विभोग-

स्यात् । एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । संकल्पादेवेति तु राक्ष इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरस्वामिनीं सुलभामपेक्ष्योच्यते । नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलत्पित्रादिसमुत्थानमिति । कुतः—तच्छ्रुतेः । ‘संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति’ (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु न तु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमिति । प्राक्तत्संपर्सेन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतोदृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्वैर्योपपत्तिः । प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

‘अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्यतधिपतिर्विद्वान्भवति नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः । न हि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति । श्रुतिश्चैतद्विशयति—

रत्नप्रभाख्याख्या

व्यवच्छेदसाधारण्यात्संशयः, ब्रह्मलोकं गतस्योपासकस्य संकल्पो यन्नान्तरसापेक्षः, भोगसामग्रीसंकल्पत्वादस्मादिसंकल्पवत् । न चैवकारविरोधः संकल्पेन सामग्र्या अयोगव्यवच्छेदेन सौलभ्यार्थत्वात्, यन्नानङ्गीकारे भोगपुष्टयसिद्धेरेति पूर्वपक्षार्थः । अत्र लोकवृत्तानुसर्गं फलं, सिद्धान्ते तु विद्याबलेन संकल्पस्यैव भोगपुष्टिकरत्वसिद्धिरिति भेदः । किंच यदि भोगसंकल्पानन्तरमपि यन्नान्तरसाध्यनिमित्तापेक्षा स्यात्तर्हि निमित्तप्राप्तेः प्राग्जातसंकल्पस्य बन्धत्वं स्याद्भोगे विलम्बात्ततः सत्यसंकल्पश्रुतेर्न यन्नान्तरापेक्षेत्याह—निमित्तान्तरमपि त्विति ॥ ८ ॥ नन्वीश्वराधीनस्य विदुषः कथं संकल्पमात्राद्भोगसिद्धिस्तत्राह—अत एवेति । ईश्वरधर्म एव विदुष्याविभूत इति न संकल्पभङ्ग इति भावः ॥ ९ ॥ एवकारवन्मनसेति विशेषणान्य-

भामतीव्याख्या

वास्येय्यमाणमुपतिष्ठते । तेन श्रुत्यापि लोकवृत्तमनुस्यूमानया विदुषस्तादृश एव क्रमोऽनुमन्तव्यः । अवधारणं तु संकल्पादेवेति लौकिकं यत्नगौरवमपेक्ष्य विद्याप्रभावतो विदुषो यत्नलाघवात् । यज्जु तदसंकल्पमिति । स्यादेतत् । यथा मनोरथमात्रोपस्थापिता स्त्री स्नेहानां चरमपातुविसर्गहेतुरेवं पित्रादयोऽन्यस्य संकल्पोपस्थापिताः कल्पियन्ते स्वकार्यायैत्यत आह—नच संकल्पमात्रसमुत्थाना इति । सन्ति हि खलु कानिचिद्वस्तुस्वरूपसाध्यानि कार्याणि यथा स्त्रीवस्तुसाध्यानि दन्तश्चतमणिमालादीनि । कानिचित्तु ज्ञानसाध्यानि यथोक्तचरमपातुविसर्गोपहर्षादीनि । तत्र मनोरथमात्रोपनीते पित्रादौ भवन्तु तज्ज्ञानमात्रसाध्यानि कार्याणि नतु तत्साध्यानि भवितुमर्हन्ति । नहि स्नेहस्य रोमहर्षादिवद्भवन्ति स्त्रीवस्तुसाध्या मणिमालादयस्तदिदमुक्तं पुष्कलं भोगमिति प्राप्तेऽभिधीयते—पित्रादीनां समुत्थानं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः । न चानुमानबाधोऽत्र श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥ प्रमाणान्तरानपेक्षा हि श्रुतिः स्वार्थं गोचरयन्ती न प्रमाणान्तरेण शक्या बाधितुम् । अनुमानमेव तु स्तोत्रादाय पञ्चधर्मत्वादिवन्मानान्तराबाधितविषयत्वं स्वसामग्रीमध्यपातेनापेक्षमाणं सामग्रीलङ्घनेन तद्विरुद्धया श्रुत्या बाध्यते । अत एव नरशिरःकपालादिशौचानुमानमागमबाधितविषयतया नोपपद्यते । तस्माद्विद्याप्र-

आनन्दगिरियव्याख्या

हेतुसंपत्तिवदिति मत्वा दाष्टान्तिकमाह—एवमिति । अनुमानफलमाह—एवं दृष्टेति । लोकवृत्तानुसारेण श्रुतेर्यैवत्वसिद्धावेव तद्विपरीतं न कल्पमिह त्ववधारणस्य तदनुसारेण सत्यर्थवत्त्वमेव न स्यादित्याशङ्क्याह—संकल्पादिति । पित्रादेः संकल्पमात्रजन्यत्वे मनोरथविजृम्भितस्त्रीपुत्रादिवदर्थक्रियासामर्थ्याभावादपि संकल्पतिरिक्तसाधनापेक्षा वक्तव्येत्याह—नचेति । मनोरथनिमित्तादपि हर्षादिकार्यं दृष्टमित्याशङ्क्य ज्ञानमात्रसाध्यकार्यसत्त्वेऽपि ज्ञेयवस्तुसाध्यं कार्यं तत्र नास्तीत्याह—पुष्कलमिति । संकल्पस्य यत्नादिसापेक्षस्यैव पित्रादिनिर्माणहेतुत्वेतत्तदनुसारेण सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याकरोति—एवमिति । संकल्पस्य यत्नसापेक्षत्वेऽनुमानस्योक्तत्वाच्च तस्य केवलस्य पित्राणुद्भवहेतुतेति शङ्कते—कुत इति । श्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमनुमानमित्याह—तच्छ्रुतेरिति । किंच निमित्तान्तरमपि संकल्पायत्तं वा यन्नान्तरसाध्यं वा, तत्राद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति—निमित्तान्तरमिति । तस्य यत्नाद्यपेक्षस्य संकल्पापेक्षया विलम्बितोत्पत्तिकत्वात्प्राकटुपत्तेर्विदुषो भोगसंकल्पत्वं स्यात्ततश्च द्वितीयस्यायुक्तत्वाह—प्रागिति । यत् लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षेति, तत्राह—नचेति । यदपि मनोरथविजृम्भितवदतिचञ्चलत्वाच्च भोगमाधनत्वं संकल्पप्रसूतानां पित्रादीनामिति, तत्राह—संकल्पेति । अस्मादिसंकल्पितेष्वदृष्टं स्वैर्यं कथं मुक्तसंकल्पितेषु कल्प्यते, तत्राह—प्राकृतेति ॥ ८ ॥ विदुषः सत्यसंकल्पत्वे लाभान्तरमाह—अत इति । उपासितुरीश्वराधीनो भोगो न संकल्पमात्राद्भवितुमलमित्याशङ्क्य सूत्रं व्याकरोति—अत एवेति । सत्यसंकल्पत्वेऽपि कथमीश्वराधीनत्वं विदुषो नेष्यते, तत्राह—नहीति । ईश्वरप्रसादाद्भोगः स्यादित्यपि प्रार्थयमानो-ज्जो इत्यत इत्याशङ्क्याह—सत्यामिति । विदुषोऽनन्याधीनमैश्वर्यमस्तीत्यत्र मानमाह—श्रुतिश्चेति । विद्यानुवादद्वारा तत्फल-

‘अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’
(छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥



व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भाषाभावी तनोयंतः ॥ विकृष्टौ तेन पुंभेदादुभौ स्वातां व्यवस्थितौ ॥ १ ॥

एकस्मिन्नपि पुंस्त्वतावैच्छिकौ कालभेदतः ॥ अविरोधात्स्वप्नाप्रज्ञागोचरव्युत्पत्तेरिति ॥ २ ॥

‘संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति’ (छा० ८।२।१) इत्यादि श्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् । एवं ह्याहास्त्रायः ‘मनसैतान्कामान्पश्यन्मते’ (छा० ८।१२।५) ‘य एते ब्रह्मलोके’ (छा० ८।१३।१) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते । यतः ‘स एकधा भवति त्रिधा भवति’ (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति । न ह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात् । यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभाववि-

रत्नप्रभाष्याख्या

योगव्यवच्छेदादेहाद्यभाव इति पूर्वपक्षयति—अभावं बादरिराह ह्येवम् । अत्रापि वादिविवादासंशयः, तत्र देहादयो न सन्त्येव सदा सन्त्येवेति च पक्षद्वयं पूर्वपक्षः । कालभेदेनेच्छया सन्ति न सन्ति चेति सिद्धान्तपक्षो द्रष्टव्यः । फलं तु

भामतीव्याख्या

भावाद्विदुषां संकल्पमात्रादेव पित्राद्युपस्थानमिति सांप्रतम् । तथाहुरागमिनः—को हि योगप्रभावाद्देहादय इव समुद्रं पिवति स इव दण्डकारण्यं सृजति । तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ अभावं बादरिराह ह्येवम् । अन्ययोगव्यवच्छिन्न्या मनसेति विशेषणात् । देहेन्द्रियवियोगः स्याद्विदुषो बादरेर्मतम् ॥ अनेकधाभावश्चर्द्धिप्रभावभुवो मनोभेदाद्वा स्तुतिमात्रं वा कथंचिद्भूमविद्यायां निर्गुणायां तदसंभवादसतापि हि गुणेन स्तुतिर्भवत्येवेति ॥ १० ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समञ्जसः । न चार्थसंभवे युक्तं स्तुतिमात्रमनर्थकम् ॥ नहि मनोमात्रभेदे स्फुटतरोऽनेकधाभावो यथा शरीरेन्द्रियभेदे । अत एव सौभरेरभिनिर्मितविधिदेहस्यापयोगेण मान्यातृकन्याभिः पञ्चाशता विहारः पौराणिकैः स्मर्यते । न चार्थसंभवे स्तुतिमात्रमनर्थकमवकल्पते । संभवति चार्थार्थवत्त्वम् । यद्यपि निर्गुणायामिदं भौमविद्यायां पठ्यते तथापि तस्याः पुरस्तादनेन

आनन्दगिरियव्याख्या

व्याख्यानार्थोऽथशब्दः ॥ ९ ॥ विदुषो ब्रह्मीभूतस्य सप्रपञ्चत्वनिष्प्रपञ्चत्वव्योवहारिकतास्त्विकताभ्यां व्यवस्थामुक्त्वा संकल्पतिरिक्तसाधनभावाभावयोरैकोपाधावापाततो विरोधात्लोकसिद्धपदपदार्थापेक्षायाः श्रुतेर्लौकिकादनुमानाद्वा इति पूर्वपक्षयित्वा पदपदार्थधीमात्रेण श्रुतेरपेक्षायामपि वाक्यार्थबोधने तदभावाद्विमतो यत्नाद्यनपेक्षसंकल्पजन्यो योगजन्यसाम्यमष्टदृष्टत्वादगस्त्यकृतसमुद्रपानवदित्यनुमानात् गृहीतश्चला बाधितत्वादनमानस्य संकल्पमात्रसिद्धया विदुषो भोगहेतुसिद्धिरित्युक्तम् । संप्रत्यवधारणादन्ययोगव्यवच्छेदेन संकल्पस्यैव पित्रादिसाधनत्ववदिहापि मनसेति विशेषणस्यान्ययोगव्यवच्छेदकत्वेनावधारणार्थत्वाद्विदुषो देहाद्यभाव इति पूर्वपक्षयति—अभावमिति । मनसः सद्भावोऽपि किमिति विदुषो न विचार्यते, तत्राह—संकल्पादेवेति । शरीरेन्द्रियाणि विषयस्तानि किं विषावतो युक्तस्य सन्ति किंवा न सन्त्याहो सन्ति च न सन्ति चेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयमाह—शरीरेति । अत्र सगुणब्रह्मविदः संकल्पादेव देहादिभावाभावयोरुक्त्या ब्रह्मधीफलविभूतेरुक्तेरस्ति पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विशेषणश्रुतेरनेकधाभावश्रुतेर्वा मुख्यार्थत्वसिद्धिः । सिद्धान्ते द्वयोरपि श्रुतौर्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादेव मुख्यार्थत्वोपपत्तिरित्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयत्नं योजयति—तत्रेति । सत्यापि विप्रतिपत्तावभावनियमासिद्धिरिति शङ्कते—कस्मादिति । विशेषणश्रुत्या परिहरति—एवं हीति । पक्षान्तरेऽपि विशेषणमयोगव्यवच्छेदकत्वेन युक्तमित्याशङ्क्याह—यदीति । अन्ययोगव्यवच्छेदाय मनसेतिविशेषणाद्वाभेन पश्यतीत्यादाविषेतरव्यावृत्तिर्गम्यते । अयोगव्यवच्छेदं तु न तथा विशेषणमर्थवदित्यर्थः । विशेषणफलमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ १० ॥ पूर्वपक्षान्तरमाह—भावमिति । सूत्राक्षराणि योजयति—जैमिनिस्त्विति । विकल्पाभ्युपगमनं मनोभेदादेव किं न स्यादित्याशङ्क्याह—नहीति । देहभेदाभावे मनोभेदस्यापि दुर्भेगत्वात् तद्वेदकृतं विकल्पाभ्युपगमनमित्यर्थः । निर्गुणविद्याधिकारे पाठाद्विकल्पाभ्युपगमनं स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याह—यद्यपीति । देहे प्रियादिभोगहीने

कल्पः पठ्यते तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥ ११ ॥ उच्यते—

द्वादशाहबहुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति । सत्यसंकल्पत्वात् । संकल्पवैचित्र्याच्च । द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति । उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यबहुपपत्तेः ॥ १३ ॥

यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाख्या

तत्तच्छ्रुतेर्मुक्त्यत्वमिति विवेकः ॥ १० ॥ ११ ॥ द्वादशाहवदिति । य एवंविद्भासः सत्रमुपयन्ति इत्युपायिचोदनागम्यत्वश्रुतेर्द्वादशाहस्य सत्रत्वं, आसतेति चोपयन्तीति वा चोदितत्वं सत्रलक्षणमिति स्थितिः । तथा द्वादशाहेन प्रजाकामं याजये-

भामतीव्याख्या

सगुणावस्थागतनैश्वर्येण निर्गुणैव विद्या स्तूयते । न चान्ययोगव्यवच्छेदेनैव विशेषणम् । अयोगव्यवच्छेदेनापि विशेषणात् । यथा चैत्रो धनुर्धरः । तस्मान्मनःशरीरेन्द्रिययोग ऐश्वर्यशालिनं नियमेनेति मेने जेमितिः ॥ ११ ॥ द्वादशाहबहुभयविधं बादरायणोऽतः । मनसेति केवलमनोविषयां च स एकधा भवति विधा भवतीति शरीरेन्द्रियभेदविषयां च श्रुतिमुपलम्भ्या नियमवादी खलु बादरायणो नियमवादी पूर्वयोर्न सहते । द्विविधश्रुत्यनुरोधात् । न चायोगव्यवच्छेदेनैवविषेषु विशेषणमवकल्प्यते । कामेषु हि रमणं समनस्केन्द्रियेण शरीरेण पुरुषाणां सिद्धमेवेति नास्ति शङ्का मनोयोगस्येति तद्व्यवच्छेदो व्यर्थः । सिद्धस्य तु मनोयोगस्य तदन्यपरिसंख्यानेनार्थवत्त्वमवकल्पते । तस्माद्दामेनाक्षणा पश्यतीति तद्वान्ययोगव्यवच्छेद इति संप्रतम् । द्वादशाहवदिति । द्वादशाहस्य सत्रत्वमास-नोपायिचोदने । अहीनत्वं च यजतिचोदने सति गम्यते । द्वादशाहमुद्रिकामा उपेयुस्तिष्युपायिचोदनेन य एवं विद्भासः सत्रमुपयन्तीति च द्वादशाहस्य सत्रत्वं बहुकर्तृकस्य गम्यते । एवं तस्यैव द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति यजतिचोदनेन नियतकर्तृपरिमाणत्वेन द्विरात्रेण यजेतस्यादिवदहीनत्वमपि गम्यत इति । संप्रति शरीरेन्द्रियाभावेन मनोमात्रेण विदुषः स्वप्नवत्स्वप्नो भोगो भवति । कुतः—उपपत्तेः । मनसेतानिति श्रुतेः । यदि पुनः सुषुप्तवदभोगो भवेत् तेषां श्रुतिरुपपद्येत । नच सशरीरवदुपभोगः शरीराद्युपादानवैयर्थ्यात् । सशरीरस्य तु पुष्कलो भोगः । इहायुपपत्तेरित्यनुपज्जनीयम् । तदिदमुक्तं सूत्राभ्याम् तन्वभावे संध्यबहुप-

आनन्दगिरियव्याख्या

निर्गुणज्ञाने स्तुतित्वेनानेकधात्वस्यान्वयेऽपि विशिष्टभोगसंसर्गयोग्ये दहराद्युपासने फलत्वेनान्वय इत्यर्थः । नच मनसेति विशेषणमन्ययोगव्यावर्तकं देहादि व्यवच्छिन्नत्वात् युक्तं चैत्रो धनुर्धर इति वदयोगव्यवच्छेदेनापि तद्योगादिति भावः ॥ ११ ॥ सिद्धान्तयति—उच्यत इति । सूत्रं व्याचष्टे—बादरायण इति । मनसेति विशेषणसामर्थ्यादेकधा भवति विधा भवतीत्यादिविकल्पापमनसामर्थ्या-श्रुत्यतः शब्दार्थं स्फुटयति—उभयेति । सशरीरत्वमशरीरत्वं चैकस्यैव विरुद्धमित्याशङ्क्य कालभेदादविरोधं दर्शयति—यदा स्थितिः । इति शब्दोभयविधत्वमिति पूर्वेण संबन्धः । विदुषः संकल्पासुसारि कार्यमित्यत्र हेतुमाह—सत्येति । कार्यवैचित्र्ये हेतुः—संकल्पेति । धनुर्धरत्वादि हि विशेषणं पाक्षिकप्राप्तविशेषपदयोगव्यवच्छेदकं युक्तं नहि चैत्रो धनुर्धरान् एवावतिष्ठते । प्रकृते तु मनसेतानि-त्यादौ कामभोगेषु मनसो नित्यप्राप्तत्वात्तदनुवादेनान्ययोगनिवृत्त्यर्थेतेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमवतार्य व्याचष्टे—द्वादशाहवदिति । तस्य बहुकर्तृकतया सत्रत्वे नियतकर्तृकतयाऽहीनत्वे च हेतुमाह—उभयेति । द्वादशाहो हि यजमानबहुत्वादासनोपायनोपदेशाच्च सत्रं य एवं विद्भासः सत्रमुपयन्तीत्युपायनचोदानदर्शनात्सप्तदशवारश्रुतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरभिलासनचोदनायाश्च द्वादशाहविकारे दृष्टत्वादास-नोपायनचोदनयोर्मन्यतरत्वस्य सत्रलक्षणत्वाद्वद्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति यजतिचोदानदर्शनाभियतकर्तृकत्वावगमाच्च द्विरात्रवद-हीनत्वं चास्य गम्यते । तथेदमपि विदुषः सशरीरत्वमशरीरत्वं च द्विविधश्रुतिसिद्धं विचित्रसंकल्पनिबन्धनमविरुद्धमित्यर्थः ॥ १२ ॥ विदुषो देहाद्यसत्त्वमयुक्तं भोगाभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—तन्वभाव इति । स्वप्ने देहाभावेऽपि तत्र संनिकर्षस्य ज्ञानहेतुता मनः-स्थितिमात्रहेतुत्वेनान्यथासिद्धत्वाद्योगिनश्च विद्यासामर्थ्यादेव मनोवस्थानादिति मत्वाह—संध्यवदिति । सूत्राक्षराणि व्याकरोति—यदेत्यादिना । विदुषो देहादेरभावे मनसेति विशेषणोपपत्तिं हेतूकरोति—एवं हीति ॥ १३ ॥ तर्हि देहाद्युपादानमनर्थकं, तत्राह—भावं इति । पुष्कलभोगसिद्धयर्थे देहाद्यादानमिति मनवानः सूत्रं योजयति—भावे पुनरिति ॥ १४ ॥ संकल्पाधीनमनेकदेह-

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥



निरात्मनोऽनेकदेहाः सारमका वा निरात्मकाः ॥ अभेदादारममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तमानाः ॥ १ ॥

एकस्यान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ॥ आत्ममित्यद्वयच्छिन्नैः सारमकाः स्फुटिष्यन्तः ॥ २ ॥

‘आयं जैमिनिर्विकल्पामननात्’ (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधा-
भावादिव्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुणान्णापि सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्य-
स्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा । तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि
शरीराणि निरात्मकानीति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीप एकोऽनेकप्र-
दीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात् । एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य स-
र्वानि शरीराण्याविशति । कुतः, तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—‘स एकधा भ-
वति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा’ (छा० ७।२६।२) इत्यादि । नैतद्दारुण्योपमाभ्यु-

रत्नप्रभाव्याख्या

दिति यजतिचोदनादर्शनाभियतकर्तृकत्वावगमेन द्विरात्रादिवदहीनत्वं चेत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ प्रदीपवदावेशः
संकल्पमात्राभिर्मितदेहानुपजीव्य तेषूभयथादर्शनात्संशयमाह—भावमिति । अनादिलिङ्गशरीरस्यैकस्मिन्नेव शरीरे भाव-
निर्मितानेकदेहेषु भोगासिद्धिः पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सूत्रं व्याचष्टे—यथेत्यादिना । स एकधा त्रिध-
पञ्चधेयादिभूत्या विदुष एवानेकधाभाव उक्तः । विद्वान्सु न देहो नापि चिन्मात्रः । किंतु लिङ्गोपहितात्मा । नच तस्य लिङ्गभे-
दविनाऽनेकत्वं संभवति । अतः श्रुतिबलदेकस्यैवानादिलिङ्गस्यानेकदेहेषु प्रवेशेन भेद एष्टव्यः । यद्यपि मूलप्रदीपस-
र्वान्तरूपपञ्चदीपानां चाल्यन्तेभेदोऽस्ति लिङ्गस्य तु देहभेदकृतो भेदो न स्वतः, स्वतो लिङ्गभेदे तदुपहितजीवभेदानुसं-
धानानुपपत्तेः । आगन्तुकानेकलिङ्गसृष्टावसत्कार्यवादापाताच्च । तथापि प्रदीपवत्त्रयैक्येन व्यक्तित्वैक्यारोपात् दृष्टान्तदार्ष्ट-
ान्तिकयोः साम्यं द्रष्टव्यम् । तथाच यथा प्रदीपोऽनेकवर्तिषु प्रविशति एवं विद्यायोगबलाद्विद्वलिङ्गस्य व्यापित्वादानेकदेहेषु युगप-
दावेश इति सूत्रार्थः । विदुषोऽनेकधात्वं श्रुतमन्यथा न घटते इत्याह—नैतदिति । इतश्च सात्मकत्वमित्याह—

भामतीव्याख्या

पत्तेः । भावे जाग्रद्वत् । इति ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति । वस्तुतः परमात्मनोऽभि-
न्नोऽप्ययं विज्ञानात्माऽनाद्यविद्याकल्पितप्रादेशिकान्तःकरणवच्छेदेनानादिजीवभावमापन्नः प्रादेशिकः सन्न देहान्तराणि स्वभावनिरमिता-
न्यपि नानाप्रादेशवर्तीति सान्तःकरणो युगपदवेष्टुमर्हति । न वात्मान्तरं स्रष्टुमपि । सृज्यमानस्य सद्रूपिरेकेनात्मत्वादात्मत्वे वा कर्तृकर्म-
भावाभावाद्भेदाश्रयत्वादस्य । नाप्यन्तःकरणान्तरं तत्र सृजति सृज्यमानस्य तदुपाधिवाभावात् । अनादिना स्वस्वन्तःकरणेनैतत्पत्तिकना-
यमवरुद्धे । नेदानीन्तनेनान्तःकरणेनोपाधितया संबद्धमर्हति । तस्माद्यथा दारुण्यं तत्प्रयोक्ता चेतनेनाधिष्ठितं सत्तद्विच्छामनुरूप्यते ।
एवं निर्माणशरीराण्यपि सेन्द्रियाणीति प्राप्ते प्रत्यभिधीयते—शरीरत्वं न जातु स्याद्भोगाधिष्ठानतां विना । स त्रिधेति शरी-
रत्वमुक्तं च तद्विभौ ॥ स त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधेत्यादिका श्रुतिर्विदुषो नानाभावमाचक्षणा भिन्नशरीरेन्द्रियोपाधि-
संबन्धेऽवकल्पते नादेहेतु(भूत)भेदे । नहि यन्त्राणि भिन्नानि निर्माय बाह्ययन्त्रबाहो नानात्वेनापदिश्यते । भोगाधिष्ठानत्वं च शरीरत्वं
नाभोगाधिष्ठानेषु यन्त्रेष्विव युज्यते । तस्माद्देहान्तराणि सृजति । न वानेनाधिष्ठितानि देहपक्षे वर्तन्ते । नच सर्वगतस्य वस्तुतो
विगलितप्रायाविद्यस्य विदुषः पृथग्जनस्यैवापत्तिकान्तःकरणवश्यता येन तदौत्पत्तिकमन्तःकरणमागन्तुकान्तःकरणान्तरसंबन्धमस्य

आनन्दगिरियव्याख्या

निर्माणमफलं निरात्मकेषु देहभेदेषु भोगायोगादित्याशङ्क्याह—प्रदीपवदिति । वृत्तानुवादपूर्वकं मुक्तस्योक्तानि सांक्षिपिकानि
शरीराणि विषयीकृत्योभयथोपलब्धेः संदेहमाह—भावमिति । तत्रेति मुक्तोक्तिः । मुक्तस्यापरविद्याफलभूतस्य सांक्षिपिकेषु प्रवेश-
प्रकारोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे भोक्तुरेकत्वादेकत्रैव भोगासिद्धिः । सिद्धान्ते भोक्तुरेक्येऽपि स्वेच्छया तस्यानेकत्र भोगोपपत्तिरिति
मत्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । आत्मनो विभुत्वेऽपि मनस्येव चैतन्यव्यक्तस्तदवच्छेदकैकदेशावस्थितस्य देहान्तरावेशायोगादन्तःकरणान्तरो-
पादानेऽपि तस्यानाद्यन्तःकरणावच्छिन्नस्य पुनरागन्तुकान्तःकरणावच्छेदासंभवात्संभवे च जीवभेदाद्भोगानुसंभानप्रसङ्गादेकसादि-
तराणि निरात्मकानीति प्राप्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तसूत्रमवतारयति—एवमिति । तत्र दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति ।
दीपार्दानां भिन्नत्वेऽपि दीपत्वस्यैकत्वमेकवर्तिवर्तिदीपेषूपचर्य भिन्नवर्तिवर्तिनां दीपानां भिन्नतेति दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमावेशश-
ब्दितं दर्शयति—एवमिति । तत्र हेतुत्वेनावशिष्टं सूत्रावयवं व्याचष्टे—तथाहीति । यथा दारुण्यं चैतन्यशून्यमपि चेतनेच्छा-
मनुरूप्यते तथा निर्माणशरीराणि सेन्द्रियाणीति कस्मान्नान्युपगम्यते तेन निरात्मकत्वमेव शरीरान्तराणामित्याशङ्क्याह—नैत-
दिति । यत्रबाह्यकस्य हि यन्त्राणि भिन्नानि निर्माय बाह्यतोऽपि नानात्वेन व्यपदेशाभावादिदृष्टं तथा व्यपदेशात्तत्तद्देहा-

पगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे । नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः संभवति । यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति । नैष दोषः । एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात्संभवति । सृष्टेषु च तेषूपधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं यीक्ष्यते । एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥ कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५) 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४।३।३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वाप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः । संपत्तिः कैवल्यम् 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः । तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचिकैवल्यावस्थाम् । कथमवगम्यते यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१४) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९। माण्डू० ५)

रत्नप्रभाख्याख्या

नच निरात्मकानामिति । यदनादि मन एकदेहस्थं तदनुसारीणि देहान्तरस्थानि मनांसि भवन्ति तदवस्थानां तन्मिष्यत्वसंभवादिति । अत्र योगशास्त्रसंमतिमाह—**एषैवेति** । निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राप्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिह भगवत्पतञ्जलिना सूत्रितम् । योगिनोऽभिमानमात्रान्निर्माणचित्तानि निर्माणदेहेषु भवन्ति, तेषां नियामकमनादित्तमिष्यत्यर्थः ॥ १५ ॥ उत्तरसूत्रव्याख्येशङ्कामाह—**कथं पुनरिति** । सलिलवत्सलिलः, स्वच्छ इत्यर्थः । न तु तद्वितीयमस्तीति क्वचित्सुषुप्तिमधिकृत्योक्तं 'तत्केन कम्' इत्यादि कचिन्मुक्तिं, प्रकृत्योक्तम् । एवं विशेषज्ञानाभाववचनं सुषुप्तिमुक्त्यन्यतरापेक्षं सगुणोपासकस्य भोगोक्तौ न विरुध्यते भिन्नविषयत्वादित्याह—**स्वाप्ययेति** । तत्रैव श्रुतौ तदधिकारवशात्सुषुप्त्यादिप्रकरणबलात् उक्तवचनानामन्यतरापेक्षात्वमाविष्कृतं हि यतस्ततोऽवगम्यत इत्यर्थः । अत्र समुत्थानादिवाक्यं मुक्तिविषयं यत्र सुर

भामतीव्याख्या

वारयेत् । तस्माद्विद्वान् सर्वस्य वशी सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः सेन्द्रियमनांसि शरीराणि निर्माय तानि चैकपदे प्रविश्य तत्तदिन्द्रियमन्तःकरणैस्तेषु लोकेषु मुक्तो विहरतीति सांप्रतम् । प्रदीपवदिति तु निदर्शनं प्रदीपैक्यं प्रदीपव्यक्तिरूपचर्यते भिन्नवर्तिवर्तिनीन भिन्नव्यक्तीनां भेदात् । एवं विद्वाजीवात्मा देहभेदेऽप्येक इति परामर्शार्थः । **एकमनोनुवर्तीनी**त्येकाभिप्रायवर्तीनीत्यर्थः ॥ १५ । संपन्नः केवलो मुक्त इत्युच्यते । न चैतस्येत्यभावसंभवः श्रुतिविरोधादित्युक्तमर्थजातमाक्षिपति—**कथं पुनर्मुक्तस्येति** । **सलिल इति** । सलिलमिव सलिलः सलिलप्रातिपदिकात्सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्युपमानादाचारे किपि कृते पचाद्यधि च कृते रूपम् । एतदुक्तं भवति—यथा सलिलमग्नेर्निधौ प्रक्षिप्तं तदेकीभावमुपयाति । एवं द्रष्टापि ब्रह्मणेति । अत्रोत्तरं सूत्रम्—**स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** । आह काश्चिच्छ्रुतयः सुषुप्तिमपेक्ष्य काश्चित् संपातं तदधिकारात् । ऐश्वर्यश्रुतयस्तु सगुणविद्यावि

आनन्दगिरीयव्याख्या

ध्यवच्छेदो भातीत्यर्थः । तर्हि निर्माणदेहेष्वात्मान्तराणि सृजति विद्वानित्याशङ्क्याह—**नापीति** । जीवान्तरावेशेऽपि नैतदवकल्पत इति संबन्धः । एकस्यानेकभावावश्रुतिविरोधादननुसंधानप्रसङ्गाच्चैत्यर्थः । शरीरान्तराणां निरात्मकत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—**नचेति** । आत्मानभिष्टितानामचेदुक्तानां प्रवृत्त्ययोगाद्भोगाभावप्रसङ्गाच्च शरीरान्तरेषु न निरात्मकत्वमित्यर्थः । पूर्वपक्षवीजमनुभाषते—**यदिति** । स्वतन्त्राणादिमनोभेदे सत्येव जीवभेदादिकमनःसंकल्पसमुत्थानात्तदायत्तानां मनसां भेदेऽपि जीवभेदाभावात्तत्तदुपाधिव्यक्तचैतन्यो विद्वानैश्वर्यभागित्युपगमे न किंचिदवयमिति परिहरति—**नेत्यादिना** । एकमनोनुवर्तनमेकाभिप्रायाविरोधित्वम् । उक्तेऽर्थे योगशास्त्रसंमतिमाह—**एषैवेति** । निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रं प्रवृत्तिभेदप्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामित्यादिनैषैव प्रक्रियोक्त्यर्थः ॥ १५ ॥ मुक्तस्य यथोक्तमैश्वर्यं विशेषज्ञाननिषेधकश्रुतिविरुद्धमिति शङ्कते—**कथमिति** । शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति—**अत इति** । प्रतिज्ञां व्याचष्टे—**स्वाप्यय इति** । उक्तमेव व्यक्तीकर्तुं विभजते—**क्वचिदिति** । तत्केन कमित्यादिकं वाक्यं कचिदित्युच्यते द्वितीयस्तु कचिच्छब्दः सलिलादिवाक्यगोचरः । हेतुभागमाकाङ्क्षाद्वारा व्याकरोति—**कथमित्यादिना** । तत्रैत्युक्तवाक्यप्रकरणोक्तिः । तदधिकारः सुषुप्तिमोक्षयोरन्यतरस्यै प्रकरणम् । तत् समुत्थानवाक्यं यत्र सुप्तवाक्यं स्वापाधिकारविषयम् । यत्र त्वत्वेति मोक्षाधि-

इत्यादिश्रुतिभ्यः । सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्सर्गादिवदवस्थान्तरं यन्नैतदैश्वर्यमुपवर्ष्यते । तस्माद्वदोषः ॥ १६ ॥

जगद्ध्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥



जगत्सृष्ट्वत्सत्त्वेनां योगिनामथ नास्ति वा ॥ अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यान्वयग्रहात् ॥ १ ॥

सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् ॥ स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यान्वयग्रहात् ॥ २ ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसैश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वि-
त्सावग्रहमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् । निरङ्कुशमैवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वारा-
ज्यम्' (तै० १।६।२) 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३) 'तेषां सर्वेषु लोकेषु काम-
चारो भवति' (छा० ७।२।५।२; ८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति । एवं प्राप्ते पठति—जगद्ध्यापार-
वर्जमिति । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति ।
जगद्ध्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवैश्वरस्य । कुतः—तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर
एव हीश्वरो जगद्ध्यापारेऽधिकृतः । तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात् । नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च ।

रत्नप्रभाष्याख्या

इति सुसिद्धविषयमिति विभागः ॥ १६ ॥ जगद्ध्यापारवर्जम् । संकल्पादेवेत्यादिनोक्तैश्वर्यस्य जगत्सृष्ट्यादिव्यतिरिक्तविषय-
त्वेनात्रापवादात्संगतिः । उभयथा दर्शनात्संशयः । ईश्वरनानात्वं पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते तु विद्यायोगिनामीश्वरनियम्यत्वादे-
कस्य नित्यसिद्धस्यैश्वरस्यैव जगत्कर्तृत्वसिद्धिरिति विवेकः । प्रलयात्सर्गसमये यस्यैक्षणपूर्वं कर्तृत्वं श्रुती प्रकृतं तस्यैव निय-
न्तृत्वाद्विर्जगद्ध्यापारः । नष्टोपासकानां देहं विनेक्षणं संभवति । किंचेश्वरस्य नित्यसिद्धत्वाच्छब्दैकसमधिगम्यत्वाच्च जगत्सृष्ट्वं
युक्तं, न तु तत्प्रसादलब्धसिद्धीनां जीवानामित्याह—नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्चेति । किंच विदुषां समप्राधान्ये सिधौ

भामतीव्याख्या

पाकावस्थापेक्षा मुच्यमभिधानं तु तदवस्थासत्तेर्यथाऽऽरुणदर्शने संध्यायां दिवसाभिधानम् ॥ १६ ॥ जगद्ध्यापारवर्जं प्रकर-
णादसंनिहितत्वाच्च । स्वाराज्यकामचारदिश्रुतिभ्यः स्यान्निरङ्कुशः । स्वकार्ये ईश्वराधीनसिद्धिरप्यत्र साधकः । 'आप्नोति स्वाराज्यं'
'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादिश्रुतिभ्यो विदुषः परब्रह्मण इवान्यान्धीनत्वमैश्वर्यमवगम्यते ।
नन्वस्य ब्रह्मोपासनालब्धमैश्वर्यं कथं ब्रह्माधीनं न तु स्वभावः । नहि कारणाधीनजन्मानो भावाः स्वकार्ये स्वकारणमपेक्षन्ते । किं
त्वत्र ते स्वतन्त्रा एव । यथाहुः—मृत्पिण्डपण्डककादि घटो जन्मन्यपेक्षते । उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षानं विद्यते ॥ नच विदुषां
परमेश्वराधीनैश्वर्यसिद्धित्वात्तद्वर्तमानैश्वर्यं येन लौकिका इव राजानो महाराजाधीनाः स्वव्यापारे विद्वांसः परमेश्वराधीना भवेयुः । न खलु
यदधीनोत्पादं यस्य रूपं तत्तद्व्यापारं भवतीति कश्चिन्नियमः । तत्समानां तदधिकानां च दर्शनात्तथा ह्यन्तेवासी शुर्वधीनविद्यः तत्त-
मस्तदधिको वा दृश्यते । दुष्टसामन्ताश्च पार्थिवाधीनैश्वर्याः पार्थिवान्त्पर्धमानास्तान्विजयमाना वा दृश्यन्ते । तदिह निरतिशयै-
श्वर्यत्वात् परमेश्वरस्य मा नाम भूवन्विद्वांसस्ततोऽधिकास्तत्समास्तु भविष्यन्ति । तथाच न तदधीनाः । नहि समप्रधानभावानामस्ति
मिथोऽपेक्षा । तदेते स्वतन्त्राः सन्तस्तस्यापारे जगत्सर्जनेऽपि प्रवर्तैरिति प्राप्ते प्रत्यभिधीयते—नित्यत्वादनपेक्षत्वात् श्रुतेस्तत्प्रक-

आनन्दगिरियव्याख्या

कारविषयमिति भेदः । विशेषज्ञानाभावाभिधानं सुप्तिमुक्लोरन्यतराभिप्रायेणेत्युक्तम् । इदानीमैश्वर्याभिधानस्य सगुणविद्याविषयत्वेन
मिश्रगोचरत्वाच्च विरोधाशङ्केत्याह—सगुणेति । कथं तर्हि सगुणविद्याफले मुक्तिशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य संध्यायां दिवाशब्दवत्प्रला-
सत्तिमात्रेणेति मत्वाह—तस्मादिति ॥ १६ ॥ मनोदेहसर्गादावुत्सर्गतो यदैश्वर्यमुपासितुरुक्तं तस्य जगत्सर्गेऽप्रमाणादपवादं दर्श-
यति—जगदिति । अपरब्रह्मणा सायुज्यं गतानामैश्वर्यं विषयीकृत्य तस्योभयथादृष्ट्या संशयमाह—ये सगुणेति । सगुणब्रह्म-
विद्याफलभूतैश्वर्यस्य निरतिशयत्वनिवारणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्वादैश्वर्यस्य निरङ्कुशत्वादीश्वर्येदादनेकमत्या जगदुत्पत्त्यादि-
व्यवस्थाऽसिद्धिः । सिद्धान्ते तद्देवाभावात्परमेश्वराधीनतया जगदुत्पादिव्यवस्थापपत्तिरितिभिप्रेत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षयति—किं ताव-
दिति । श्रुतीनां श्रुतार्थग्रहेण पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तयति—एवमिति । तत्र प्रतिज्ञां विमज्जे—जगदिति । तत्र हेतुद्वयं प्रश्न-
पूर्वकमाह—कुत इति । ईश्वरस्य नित्यसिद्धस्यैव जगदुत्पत्त्यादिव्यापार इत्यत्र प्रकरणादिति हेतुं विवृणोति—पर इति ।
प्रलयादुत्थानकाले सर्वस्य जगतो यः कर्ता तस्यैव स्थित्यादावपि कर्तृत्वोक्तैरन्यस्य चादिसर्गे कर्तृत्वाभावादीश्वरस्यैव जगद्ध्यापारे
संनिधिरित्याह—तमेवेति । किंच परस्यैव नित्यत्वेन स्वदेवत्वपेक्षणस्य कृत्स्नशक्तित्वाज्जगत्सर्जनं प्रति कल्प्यसामर्थ्यत्वाच्च विदु-
षामीश्वरविषयैव जगत्सृष्टिरेष्टव्या । किंच पौर्वापर्यालोचनायामीश्वरस्यैव जगत्सर्गः शब्दाद्वगम्यते । जन्मादिसूत्रमारभ्य चेतुदुपपा-
दितम् । ततोऽद्वितीयप्रतिज्ञा सिद्धेवेत्याह—नित्येति । ईश्वरस्य जगद्ध्यापारे संनिधियुक्त्वा विदुषां तत्रासंनिधिमात्रप्रतिज्ञासिद्धयर्थ-

तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते । तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेवं चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात् । अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत ततः परमेश्वराकृततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निर्घटप्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । नायं दोषः । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव आनन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुस्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह । एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाख्या

विरोधः । एकं प्रत्यन्येषां गुणत्वे त्वेक एवेश्वर इत्याह—समनस्कत्वादिति ॥ १७ ॥ अधिकारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकः, स चासौ मण्डलस्थश्च तस्य प्राप्यत्वोक्तेरित्यर्थः । मनसस्पतिः सूर्यमण्डलान्तःस्थः परमात्मा 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्' इति श्रुतेः । तथाच यदि पूर्वं निरङ्कुशं स्वाराज्यमुक्तं स्यात्तर्हि ईश्वरस्यापे प्राप्यतां न ब्रूयात् । अतो भोगे स्वाराज्यं न जगज्जन्मादिष्विति भावः । वाक्पतित्वादिकमपीश्वराधीनमित्याह—तदनुसारेणेति । उक्तन्यायं कामचारादिवाक्येष्वतिदिशति—एवमिति ॥ १८ ॥ जगद्व्यापार उपासकप्राप्यः तदुपास्यनिष्ठत्वात्संकल्पसिद्ध्यादिवदित्याशङ्क्योपास्यस्थनिर्गुणस्वरूपे व्यभिचारात्माह—विकारावर्ति चेति ॥ १९ ॥ निर्गुणस्वरूपे प्रमाणमाह—दर्शयतश्चेति । यथा

भामतीव्याख्या

मादपि । ऐकमत्याच्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रत्वा ॥ जगत्सर्गलक्षणं हि कार्यं कारणैकस्वभावस्यैव हि भवतु आहो कार्यकारणस्वभावस्य । तत्रोभयस्वभावस्य स्वोत्पत्तौ मूलकारणपेशस्य पूर्वसिद्धः परमेश्वर एव कारणमन्युपेतव्य इति स एवैकोऽस्तु जगत्कारणम् । तस्यैव नित्यत्वेन स्वकारणानपेशस्य कुलसामर्थ्यात् । कल्पसामर्थ्यास्तु जगत्सर्जनं प्रति विद्वांसः । नच जगत्सष्टृत्वमेवां श्रूयते । श्रूयते तत्रभवतः परमेश्वरस्यैव । तमेव प्रकृत्य सर्वासां तच्छ्रुतीनां प्रवृत्तेः । अपिच समप्रधानानां हि न नियमवदैकमत्यं दृष्टमिति यदेकः सिसृक्षति तदैवेतरः संजिहीर्षंतीत्यपर्यायेण सृष्टिसंहारो स्याताम् । न चोभयोरपीश्वरत्वं व्याघातात् । एकस्य तु तदाधिपत्ये तदभिप्रायादुरोपिनां सर्वेषामैकमत्योपपत्तेरदोषः । तत्रागन्तुकानां कारणाधीनजन्मैश्वर्याणां गृह्यमाणविशेषतयाऽसमत्वाच्चित्तैश्वर्यशालिनः स एव तेषामधीश इति तन्त्रा विद्वांस इति परमेश्वरव्यापारस्य सर्गसंहारस्य नेशते ॥ १७ ॥ पूर्वपक्षिणोऽनुशयवीजमाशङ्क्य निराकरोति—प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । यतः परमेश्वराधीनमैश्वर्यं तस्मात्ततो न्यूनमणिमादिमानं स्वाराज्यं न तु जगत्सष्टृत्वम् । उक्ताध्यायात् ॥ १८ ॥ विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ।

आनन्दगिरीयव्याख्या

समर्थयते—तदन्वेषणेति । श्रूयते तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यादाविति शेषः । सृष्ट्युत्तरभाविनामुपासकानां सृष्टिकाले सत्त्वाभावात्पूर्वकल्पसिद्धानां प्रलयकाले मुक्तवान्न सृष्ट्वादि तेषां क्षिप्तमित्यर्थः । इत्थं विदुषां न निरङ्कुशैश्वर्यमित्याह—समनस्कत्वादिति । किं विदुषां समप्रधानत्वमाहो गुणप्रधानत्वम् । आद्ये समप्रधानानां नियमनैकमत्यादर्शनादेकस्य सिसृक्षायामपरस्य संजिहीर्षासंभवादप्योयमेव सर्गसंहारौ स्याताम् । अपरया द्वयोरपि नेश्वरत्वं कार्यविधातादित्यर्थः । द्वितीयमनुभाष्य दूषयति—अथेत्यादिह । एकामिप्रायानुवर्तितायामन्येषामागन्तुकैश्वर्याणामगृह्यमाणविशेषतया कस्यचित्प्राधान्यायोगादनागन्तुकैश्वर्यपरमेश्वरत्वमित्वितरेषामेवमित्यर्थः ॥ १७ ॥ पूर्वपक्षबीजमनूष्य दूषयति—प्रत्यक्षेति । अनुवादभागं व्याकरोति—अथेति । परिहारमवतारयति—अत्रेति । नञर्थमुक्त्वा हेतुमवतार्य व्याचष्टे—नेत्यादिना । अधिकारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकसत्त्वाद् हेतुमाह—यदिति । यस्मात्कारणात्स्वाराज्यप्राप्त्यनन्तरमाहोति मनसस्पतिमिति । यदि पूर्वमेव निरङ्कुशं स्वाराज्यमुक्तं तर्हि पश्चाद्रीश्वरप्राप्तिवचनं न स्वात्तस्माद्भोगे स्वाराज्यं न तु जगतः सृष्ट्वादावित्यर्थः । विवक्षितार्थसिद्धये वाक्यार्थं कथयति—यो हीति । विदुषामीश्वराधीनमैश्वर्यं स्वाराज्यमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तदनुसारेणेति । परमेश्वराधीनमणिमादिलक्षणमैश्वर्यं विदुषां स्वाराज्यं न तु जगतः सृष्ट्वादीत्युक्तमर्थं तेषां सर्वेषु लोकेष्वित्यादिवाक्येषु संचारयति—एवमिति ॥ १८ ॥ निरतिशयैश्वर्यवीजोपासकास्तदात्मतां प्राप्ताः सातिशयैश्वर्यवन्तो नन्तीत्युक्तं तदात्मत्वविरोधादित्याशङ्क्य त्रैक्येऽपि सगुणप्राप्तानां निर्गुणप्रा-

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितुमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहात्म्यायः 'तावानस्य महिमा ततो ज्ञायायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः । नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमस्तत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त एव सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृतिः । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० ५।१५। श्वेता० ६।१४। मुण्ड० २।२।१०) इति । 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १।५।६) इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्येवं हृद्विदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति' तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोक्तं जयति' (बृ० १।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥ नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवस्त्वमैश्वर्यस्य

रक्षणमात्राख्या

ज्ञानाभावाविगुणं न प्राप्तं तथा ध्यानाभावाज्जगत्सृष्ट्वादिति न प्राप्यते । ध्यानाभावश्च विध्यभावादिति भावः ॥ २० ॥ तमुपासकं ब्रह्मलोकगतमाह हिरण्यगर्भः मया खल्विमा आपो अमृतरूपा मीयन्ते भुज्यन्ते तवाप्यसौ लोकोऽमृतोदकलक्षण इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरमाह—स यथेति । भोगसाम्ये स दृष्टान्तो यथेत्यर्थः । तेनो इत्युशब्दोऽप्यर्थः । सलोकताम-

भामतीव्याख्या

एतावानस्य महिमेति विकारवर्ति रूपमुक्तम् । ततो ज्यायांश्चेति निर्विकारं रूपम् । तथा पादोऽस्य विश्वा भूतानीति विकारवर्ति रूपं त्रिपादस्यामृतं दिवीति निर्विकारमाह रूपम् ॥ १९ ॥ दर्शयतश्चापरं श्रुतिस्मृती निर्विकारमेव रूपं भगवतस्ते च पठिते । एतदुक्तं भवति—यदि ब्रूषं सगुणे ब्रह्मण्युपास्यमाने यथा तदगुणस्य निरवग्रहत्वमपि वस्तुतोऽस्तीति निरवग्रहत्वं विदुषा प्राप्तव्यमिति तदनेन व्यभिचार्यते । यथा सविकारे ब्रह्मण्युपास्यमाने वस्तुतः स्थितमपि निर्विकाररूपं न प्राप्यते तत्कस्य हेतोः, अतत्क्रतुत्वादुपासकस्य । तथा तदगुणोपासनया वस्तुतः स्थितमपि निरवग्रहत्वं नाप्यते । तत्त्वोपासनाद् पुरुषक्रतुत्वात् । उपासकस्य तदक्रतुत्वं च निरवग्रहत्वस्योपासनविध्यगोचरत्वाद्विध्यधीनत्वाच्चोपासनाद् पुरुषत्वात्तद्व्याभावात्स्वातन्त्र्ये वा प्रातिभत्वप्रसङ्गादिति ॥ २० ॥ **भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च** । न केवलं स्वाराज्यस्येश्वराधीनतयाऽजगत्सर्जनम्, साक्षाद्भोगमात्रेण तेन परमेश्वरेण साम्याभिधानादपि व्यपदेशलिङ्गादिति । भूतान्यवन्ति प्रीणयन्तीति भोजयन्तीति यावत् । सूत्रान्तरावतारणाय शङ्कते—**नन्वेवं सति सातिशयत्वादिति** । सह परमेश्वरस्यातिशयेन वर्तते इति विदुष एश्वर्यं सातिशयम् । यच्च कार्यं सातिशयं तच्च यथा लौकिकमैश्वर्यम् । तदनेन कार्यत्वम्-

आनन्दगिरियव्याख्या

प्लवभाववदेतद्युक्तमिति वक्तुं ब्रह्मणो द्वैरूप्यमाह—**विकारावर्तीति** । तत्र प्रतिष्ठाविभागं व्याचष्टे—**विकारेति** । चकारसूचितमर्थमाह—**नेति** । हेतुभागं व्याचष्टे—**तथाहीति** । तत्र प्रथमतृतीयपादाभ्यां विकारावर्ति रूपमुच्यते द्वितीयचतुर्थपादाभ्यां विकारावर्ति ब्रह्मणो रूपमुक्तमिति भेदः । अस्तु ब्रह्मणो विकारावर्ति रूपं तथापि किं स्यात्, तत्राह—**नचेति** । वस्तुतस्तथात्वेऽपि यथोपासनमेव तत्प्राप्तिरुपासनं च विध्यधीनं निरवग्रहमहत्त्वादिधर्मस्य चोपास्यगोचरत्वादुपासितस्याप्राप्तिरिति फलितमाह—**अतश्चेति** । ॥ १९ ॥ **विकारावर्ति रूपमस्तीत्यत्रैव श्रुतिस्मृती प्रमाणयति—दर्शयतश्चेति** । प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुमाने प्रत्याचक्षणाः सूत्राक्षराणि योजयति—**दर्शयतश्चेत्यादिना** । उक्तेऽर्थे सुलभानि श्रुतिस्मृतिवचनानीति मनवानो वाक्यार्थमाह—**तदेवमिति** ॥ २० ॥ अपरं ज्ञाविदां विश्वसृष्ट्वाद्यभावे हेत्वन्तरमाह—**भोगमात्रेति** । न केवलं स्वाराज्यस्य परमेश्वरायस्तथा विदुषां जगत्पापराहित्यं किंतु तेन भोगमात्रेण साम्योक्तिलिङ्गादपीत्यर्थः । चकारार्थमाह—**इतश्चेति** । हेत्वन्तरमेवावशिष्टसूत्राक्षरयोजनया स्पष्टयति—**यस्मादिति** । तं ब्रह्मलोकगतमुपासकं हिरण्यगर्भः स्वसमीपमुपागतं सानुनयमाह मया खल्वपि एवामृतमम्यो मीयन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते तवाप्यसावग्रहमृतोदकलक्षणो लोको भोग्यो यथासुखं भुज्यतामित्याह—**तमाहेति** । उपासकस्योपास्यदेवतया भोगमात्रसाम्यं श्रुतं तत्रमाह—**सं यथेति** । सशब्दो दृष्टान्तपरः । अवन्ति भजन्ते । तत्रैव वाक्यान्तरमाह—**तेनेति** । उशब्दोऽप्यर्थः । सलोकताम-

स्यास्ततश्चेषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्वादरायण आचार्यः पठति—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

नाडीरश्मिसप्तन्वितेनाचिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्च ह वै ष्यध्वर्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरं मदीयं सरो यस्मिन्न-
श्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिन्नश्च प्रभुविमितं हिरण्यमयं वैश्व यश्चानेकधा
मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते । कुतः ।
'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६। कठ० ६।१६) 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५)
'पतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१।५।६) 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा०
८।१।५।१) 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१।५।१) इत्यादिशब्देभ्यः । अन्तवर्षेऽपित्वैश्वर्यस्य
यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र ।

रत्नप्रभाख्या

पील्यन्वयः । सायुज्यं समानदेहत्वं क्रमेण मुक्तिर्वा ॥ २१ ॥ शास्त्रसमाप्तिं सूचयन्सूत्रकारं पूजयति—भगवानिति ।
भगवत्त्वं सर्वज्ञत्वम् । सूत्रद्वारा शिष्याणामाचारे स्थापनादाचार्यत्वम् । वादरायणपथेन बदरिकाश्रमवासोक्त्या नित्यसर्वज्ञस्य
परमगुरोर्नारायणस्य प्रसादद्योतनात्तत्पणीतशास्त्रे निरवयतां द्योतयति । सगुणविद्यायाः सातिशयफलत्वेऽपि ततो निर्गुणवि-
द्ययानावृत्तिरित्याह—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् । ये ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ते तं प्राप्य नावर्तन्ते इति सं-
बन्धः । लोकं विशिनष्टि—यस्मिन्निति । इतोऽस्मात्पृथिवीलोकात्तृतीयस्यां दिवि यो ब्रह्मलोकस्तस्मिन्नर इति ष्य इति
चार्णवतुल्यौ सुधाहृदावित्यर्थः । ऐरमन्नमयं, मदीयं मदकरं सरः, सोमसवनः अमृतवर्षा । यद्यपि तेषामिह न पुनरावृत्तिरिमं
मानवमिति च श्रुतिष्विहमेवमिति विशेषणादस्मिन्कल्पे ब्रह्मलोक गतानां कल्पान्तरे आवृत्तिर्भाति, तथापीश्वरोपास्तिं विना पञ्चा-
ग्निविद्याश्रमेषदृढब्रह्मचर्यादिसाधनैर्गतास्तेषां तत्त्वज्ञाननियमाभावादावृत्तिः स्यात्, ये तु दहरादीश्वरोपास्त्या गतास्तेषां
सगुणविद्याफलक्षयेऽपि निरवप्रहेश्वरानुग्रहलब्धात्मज्ञानान्मुक्तिरिति नियम इत्यभिप्रेत्याह—अन्तवर्षेऽपि त्विति । नन्वत्र
सूत्रकृता सगुणविदामेवानावृत्तिक्रम उक्तो न निर्गुणविदां तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य तेषामावृत्तिशङ्काभावादित्याह—सम्य-

भामतीव्याख्या

क्तम् । तथाच कार्यत्वादन्तवत्प्राप्तमिति तच्च न युक्तमानन्त्येन तद्विदुषां तत्र प्रवृत्तेरिति ॥ २१ ॥ अत उत्तरं पठति—अना-
वृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् । किमचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तानामेश्वर्यस्यान्तवत्त्वं त्वया साध्यते । आहोस्विच्चन्द्रलो-
कादिव ब्रह्मलोकादेतल्लोकप्राप्तिर्मुक्तेरन्तवत्त्वम् । तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे सिद्धसाधनम् । उत्तरत्र तु श्रुतिस्मृतिविरोधः । तद्विधानां च

आनन्दगिरीयव्याख्या

पीति संबध्यते । प्रकृतेनोपासनेनोपास्याया देवतायाः सायुज्यं तेन समानदेहतां समानलोकतां च भावनाविशेषादामोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥
विदुषां निरकुशैश्चर्याभावे दोषमाशङ्कते—नन्विति । सह परमेश्वरस्यैश्वर्येणातिशयेन वर्तत इति सातिशयं विदुषामैश्वर्यं तथाच
परमेश्वराधीनत्वाद्धौकिकैश्चर्यवत्कार्यं कार्यत्वाच्चातवदित्यर्थः । विद्वदैश्चर्यस्यान्तवत्त्वं का क्षतिरित्याशङ्क्य विदुषां मुक्तता न स्यादित्याह—
ततश्चेति । एतदुत्तरत्वेनोत्तरसूत्रं सूत्रकारं पूजयन्नवतारयति—अत इति । भगवानित्यनेन सर्वज्ञत्वादिसंपत्तिरुक्ता । आचार्य-
शब्देन शास्त्रार्थबहुलीकरणं सदाचारे शिष्याणां स्थापनं स्वयं तदाचरणं चेत्यत्र नैपुण्यमुक्तमिति भेदः । यत्तु सातिशयत्वेन का-
शैर्त्वं ततश्चातवत्त्वमित्यनुमानं तत्र किमैश्वर्यस्यान्तवत्त्वमात्रं साध्यं किंवा मुख्यभावो भिदुषामिति विकल्प्याये सिद्धसाध्यत्वं मत्वा
द्वितीयं क्रममुक्तिवादिश्रुतिविरोधमाह—अनावृत्तिरिति । सूत्रस्य प्रतिज्ञापदं व्याचष्टे—नाडीति । अचिरादिपदोक्तदेवयानं पन्थानं
सारयितुं विशेषणद्वयम् । ये ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ते तं प्राप्य भुक्तभोगास्ततो नावर्तन्ते इति संबन्धः । कानि तानि शास्त्रोक्तानि
विशेषणानीत्युक्ते यथाशास्त्रं तान्यनुक्रामति—यस्मिन्निति । इतो लोकात्पृथिवीशब्दितात्तृतीयस्यां दिवि यो ब्रह्मलोकस्तस्मिन्नरण्यसंज्ञौ
दावर्णवित्यर्थः । तस्मिन्नेवायन्नमयं हर्षकरं च सरोऽस्तीत्याह—यस्मिन्नैरमिति । सोमसवन इत्यत्र सोमशब्दोऽमृतवचनः । कर्म-
शानशून्यानां दुष्प्रापत्वमपराजितत्वम् । ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्थेति यावत् । प्रभुशब्दोऽपि हिरण्यगर्भमेवाधिकरोति । उक्तविशेषणवति
ब्रह्मलोके मानमाह—यश्चेति । चन्द्रलोकादिवेति बन्धव्योदाहरणम् । प्रतिज्ञामेवं व्याख्याय मोक्षहेतुमाकाङ्क्षापूर्वकं व्याख्याति—
कुत इत्यादिना । ननु दर्शितानामनावृत्तिश्रुतीनामर्थवादत्वादविरोधे प्रामाण्यमिति नानुमानापवाधने सामर्थ्यमिममिहेति च वि-
शेषणात्कल्पान्तरे भवत्यावृत्तिरिति, तथाह—अन्तवर्षेऽपीति । ये तावद्वर्षेरेतसः स्वाश्रमधर्ममात्रनिष्ठा ब्रह्मचर्येण ब्रह्मलोकम-
धिरूढास्तेषामन्तरेण विधां बन्धव्यसंसिद्धेरित्येवावृत्तिः । ये तु सगुणोपासकास्तेषामेश्वर्यस्य कल्पमात्रसायित्वेऽपि क्रममुक्तिविवक्ष-
याऽनावृत्तिरित्युल्लेख्यः । सगुणब्रह्मविदामेवानावृत्तिरत्र प्रतिपाद्यते न निर्गुणब्रह्मविदां तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य तेभ्यमावृत्तिशङ्का-

सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः । तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥ इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ ॥ समाप्तमिदं ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् ॥

रत्नप्रभाष्याख्या

गिति । तदाश्रयणेनेति । सगुणविदामावृत्तिप्राप्तौ सम्यग्दर्शनाश्रयणेनैवानावृत्तिः साधिता, अतः स्वत एव सम्यग्दर्शनामावृत्तिशङ्का नेति किमु वाच्यमित्यर्थः । यत्राध्यायसमाप्तिस्तत्र पदमात्रस्याभ्यासो दर्शितः, इह सूत्रस्यैवाभ्यासाच्छास्त्रसमाप्तिर्योक्तइत्याह—अनावृत्तिः शब्दादिति । एवं समन्वयोक्त्या ब्रह्मात्मैक्यस्य वेदान्तप्रमाणकत्वमवधारयितुं वाक्यार्थज्ञाने स्मृतितर्कादिसर्वप्रकारविरोधः परिहृतः, साधनसंपत्तिश्च दर्शिता, तस्माद्विवेकादिसाधनसंपन्नस्य श्रवणाद्यावृत्तिनिरस्तसमस्तप्रतिबन्धस्याखण्डात्मसंबोधात्समूलबन्धध्वंसे सत्याविर्भूतनिष्कलङ्कानन्तस्वप्रकृशचिदानन्दात्मनावस्थानमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

नानाविधग्रन्थजातं वीक्ष्य सम्यग्यथामति । शारीरकस्य भाष्यस्य कृता व्याख्या सतां मुदे ॥ १ ॥

अन्तर्यामी जगत्साक्षी सर्वकर्ता रघुद्रुहः । अतोऽत्र दोषोऽशङ्क्यः स्यादेव हेवेतिशासनात् ॥ २ ॥

वक्षस्यक्षोश्च पार्श्वे करतलयुगले कौस्तुभाभां दयां च सीतां कोदण्डदीक्षामभयवरयुतां वीक्ष्य रामाङ्गसज्जः ।

खस्याः क स्यादित्यर्थे हृदि कृतमनना भाष्यरत्नप्रभाष्या, स्वात्मानन्दैकलुब्धा रघुवरचरणाम्भोजयुग्मं प्रपन्ना ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्कृतौ शारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभाष्यां चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

भामतीव्याख्या

क्रममुक्तिप्रतिपादनादिति । तत्त्वमसिवाक्यार्थैकोपासनापरान् प्रत्याह—सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसामिति । द्विधाऽविद्या तमः । निरुपाधिब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्त्वदर्शनम् । न चैतन्निर्वाणं स्वरूपावस्थानलक्षणं कार्यं येनानित्यं स्यादित्याह—नित्यसिद्धेति ॥ २२ ॥

भङ्क्त्वा वायसुरेन्द्रवृन्दमखिलाविद्योपधानातिगं येनास्त्रायपयोनिधेनयपथा ब्रह्मामृतं प्राप्यते ।

सोऽयं शाङ्करभाष्यजातविषयो वाचस्पतेः सादरं संदर्भः परिभाष्यतां सुमतयः स्वार्थेषु को मत्सरः ॥ १ ॥

अज्ञानसागरं तीर्त्वा ब्रह्मतत्त्वमभीप्सताम् । नीतिनां कर्णधारेण मयाऽपूरि मनोरथः ॥ २ ॥

यस्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वविन्दुभिः । यस्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः ॥ ३ ॥

समचैष महत्पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया । समर्पितमर्थैतेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥ ४ ॥

नृपान्तराणां मनसायगम्यां श्रुष्टेप्रमात्रेण चकार कीर्तिम् । कार्तेस्वरासारसुपूरितार्थसायैः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥ ५ ॥

नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं नच पारयन्ति । तस्मिन्महीपे मङ्गीयकीर्तौ श्रीमद्भृङ्गोऽकारि मया निबन्धः ॥ ६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शंकरभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

आनन्दगिरियव्याख्या

भावादित्याह—सम्यगिति । सगुणब्रह्मविदामपि ब्रह्मलोकगतानां तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनप्रसादादेव मुक्तिरिति स्थिते सम्यग्दर्शनामनावृत्तिः सुतरां सिध्यतीति कैमुतिकन्यायमाह—तदाश्रयणेनेति । उपासकानामीश्वरायत्तमेश्वर्यं न निरतिशयमित्यधिकरणार्थमुपसंहृतुमितीत्युक्तम् । सूत्राभ्यासस्य प्रयोजनमाह—अनावृत्तिः शब्दादिति । यत्राध्यायपरिसमाप्तिरेव तत्र पदस्यैवाभ्यासो दृष्टः प्रकृते सूत्रस्यैवाभ्यासाच्चतुर्लक्षणस्य वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य समन्वयाविरोधसाधनफलानां साकल्येनोक्तवाद्भक्तव्यानवशेषारपिसमापनमुचितमिति भावः ॥ २२ ॥

व्याख्याऽसंख्यातकैककचचयरयस्वस्तदुस्तकेशङ्का शङ्काव्याजप्रकारप्रसरणसमता वस्तुतत्त्वं श्रयन्ती ।

श्रुदानन्दः इन्द्रियुगमस्मृतिभरनिश्चयप्रौढगाढोक्तिरूढानन्दज्ञानप्रणीता जगति मुदमिव सद्भिर्या संविधत्ताम् ॥ १ ॥

सन्त्येव बहुलानीह व्याख्यानानि महाधियाम् । व्याख्या तथापि सौख्येन व्याख्यानाय मया कृता ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृते श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्यविभागे न्यायनिर्णये चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थस्याध्यायस्य ब्रह्ममप्ति—ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणाख्यश्चतुर्थः पादः ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये फलाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

इति चैवमाद्या । न चाविद्यादिक्लेशदाहं सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते । न ह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेशोरिव वेगक्षयाच्चिदृतिः । “तस्य तावदेव चिरम्” [छा० ६ । १४ । २] इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । न च ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता । तथा च श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति “तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्” [बृ० १ । ४ । १०] इति । ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः । ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः केवलं प्राप्नुयुपपद्यते—

“ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्”

त्वात्कुतो निःशेषकर्मक्षयस्तत्राऽऽह । न चेति । नाशपुष्कलहेतुयोगे नाशैकदेशस्यार्थक्रियाभावे दृष्टान्तमाह । न हीति । तर्हि प्रारब्धमपि कर्म नाशहेतुसंनिध्यान्नश्येदिति कुतो वसिष्ठादेर्देहधारणेत्याशङ्क्याऽऽह । प्रवृत्तेति । यथा मुक्तस्येवोर्बलवत्प्रतिबन्धकाभावे मध्ये न क्षयस्तथा प्रवृत्तफलस्यापि कर्मणो मध्ये नास्ति क्षयः । जातेऽपि ज्ञाने मोक्षस्य देहपातावधिकरणादारब्धकर्मोपादानाज्ञाननिवर्तने तस्यासामर्थ्यात् । अतः श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यादनारब्धमेव कर्म नश्यति न त्कारब्धमित्यर्थः । अप्रवृत्तफलकर्मनिवृत्तावपि प्रवृत्तफलस्य कर्मणो न भोगाद्वे निवृत्तिरिति स्थिते ज्ञानिनोऽपि देहान्तरं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वं चाविरुद्धमित्युक्तमुपसंहरति । तस्मादिति । कर्मज्ञानाधिकृतानां मनुष्याणामेव तर्हि मोक्षो नान्येषां तदभावादित्याशङ्क्याऽऽह । तथा चेति । किंचाऽऽधिकारिकेषु केषुचिदमुक्त्या ज्ञानस्यानैकान्तिकफलत्वं किंवा सर्वेषु तेष्वपि विकल्प्याऽऽद्ये पूर्वोक्तसमाधिं सिद्धवत्कृत्य द्वितीयं प्रत्याह । ज्ञानान्तरेऽपि । तेषां ज्ञानाभावादेवामुक्तिरित्यर्थः । ऐश्वर्यभेदस्त्वादिशब्दार्थः । तर्हि तेषामैश्वर्यासक्तानां न कदाचिन्मुक्तिस्तत्राऽऽह । ते पश्चादिति । निर्विण्णा विरक्ताः । तेषां क्रममुक्तौ मानमाह । ब्रह्मणेति । प्रतिसंचरो महाप्रलयः कृतात्मानः संस्कृतान्तःकर-

१ ट. 'स्य क' । २ ड. ज. अ. 'पातक्षे' । ३ ट. 'था भु' । ४ ड. अ. 'द्यो दे' । ५ ड. 'णां म' । ६ ड. अ. 'निष्ठाय कै' । ७ ड. अ. 'ल्यं ययुरि' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ३३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९०७

इति स्मरणात् । प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानु-
पपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का भवेद्वा
न वेति । अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् “ यत्साक्षादपरोक्षाद्भ्रम ”
[बृ० ३ । ४ । १] इति श्रुतेः “ तत्त्वमसि ” [छा० ६ ।
८ । ७] इति सिद्धवदुपदेशात् । न हि “ तत्त्वमसि ” [छा०
६ । ८ । ७] इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं
परिणेतुं शक्यः । “ तद्वैततत्त्वमसि नृषामिदं देवः प्रतिपेदेऽहं ममुर-
भवं सूर्यश्च ” [बृ० १ । ४ । १०] इति च सम्पददर्शनका-
लमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति । तस्मादेकान्तिकी विदुषः
केवल्यसिद्धिः ॥ ३२ ॥ (१९)

अक्षरधियां त्वरोधः सामान्यतद्वावाभ्यामौप-
सदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥ (२०)

वाजसनेयके श्रूयते “ एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवद-
न्त्यस्थूलमनप्वहस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम् ” [बृ० ३ । ८ । ८]

णाज्ञानिनः । ज्ञानस्य नियतफलत्वे हेत्वन्तरमाह । प्रत्यक्षेति । भुजिवद्विद्योऽन्वय-
व्यतिरेकसिद्धफलत्वाच्च फलाभावशङ्केत्यर्थः । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति ।
कर्मैति । ज्ञानफले तुल्यमनुभवानारूढत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । अनुभवेति । तत्कथ-
मित्यपेक्षायां प्रत्यक्षवस्तुविषयत्वादित्याह । यदिति । परिनिष्पन्नवस्तुविषयत्वाच्च
ज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वेत्याह । तत्त्वमसि । उपरिख्यत्वाद्वाह्यभावस्यासिद्धं ज्ञानस्य
परिनिष्पन्नविषयत्वंमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । वर्तमानापदेशस्य भविष्यद-
र्थत्वा मृतशब्दाध्याहारश्चायुक्त इत्यर्थः । इतश्च ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वेत्याह । तद्वैति ।
अव्यवहिते क्रियाहेतौ शर्तुर्विधानात्पुष्कलहेतुत्वं सर्वात्मत्वं प्रति सम्यग्विषयः सिद्ध-
मित्यर्थः । श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धैर्मथमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ३२ ॥ (१९)

आविकारिकाणामारब्धकर्मवशाद्देहान्तरारम्भसिद्धेर्न कर्मान्तरनिमित्तत्वेत्युक्तम् । तथे-
हापि तत्तत्प्रकरणार्थवनिषेधैरवोपलक्षणतया सर्वदेवनिषेधसिद्धेर्न शास्त्रान्तरीयनिषे-
धानां तत्रैव ब्रह्मप्रमितिहेतुत्वेत्याशङ्क्याऽऽह । अक्षरेति । विषयं वक्तुं वाक्यमुदाहरति ।
वाजसनेयक इति । अन्यत्रापि त्यदृश्येऽनारम्भ इत्यादाविति यावत् । निषेधमुखेन

१ क. भ. स्यादपि कदाचिदा । २ क. 'ले तु तु' । ३ ड. शतविधा । ४ ख. 'सिद्धं
कर्मोप' । ५ क. 'द्वम्' । ६ ग. 'रिणा' । ७ क. ख. 'धीननि' । ८ क. ख. 'क्षणार्थ' । ९ ड.
द. 'त्र ब्राह्मणि' ।

इत्यादि । तथाऽऽथर्वणे भूयते “अथ परा यया तद-
क्षरमधिगम्यते यत्तदद्वेष्ट्यमश्रद्धमगोत्रमवर्णम्” [मुण्ड० १। १।
६] इत्यादि । तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं
परं ब्रह्म आव्यते । तत्र च कचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रति-
षिध्यन्ते । तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र
प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्भवस्थाप्राप्तावुच्यते ।
अक्षरेविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः
सामान्यतद्वावाभ्याम् । समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो
ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः । तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्य-
भिज्ञायते । तत्र किमन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः । तथा
च “आनन्दादयः प्रधानस्य” [ब्र० सू० ३। ३। ११]
इत्यत्र व्याख्यातम् । तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तिता-

ब्रह्मवादितत्तद्वाक्यस्थापनरुक्तशब्दान्विषयत्वेन परिशिष्टे । तत्रेति । तानधिकृत्य
न्यायसंभवोपकारासंभवाभ्यां संशयमाह । तासामिति । बुद्धिग्रहणं तत्पूर्वकशब्दो-
पलक्षणार्थम् । विधैक्येऽपि शरीरानुपसंहारवदनुपसंहारो निषेधशब्दानामिति पूर्व-
पक्षयति । श्रुतीति । तत्र श्रुतानामेव निषेधशब्दानामुपलक्षणत्वेनाशेषद्वैतनिषेधद्वारा
निर्विशेषब्रह्मोक्तिसामर्थ्यादित्यर्थः । अपुनरुक्तनिषेधशब्दोपसंहारोक्तिद्वारा वाक्या-
र्थधीहेतुवादात्पादादिसंभवेति । पूर्वपक्षे श्रुतेरेव निषेधैरुपलक्षणतया सर्वनिषेधे निर्वि-
शेषब्रह्मप्रमित्या लाघवम् । सिद्धान्ते लक्षणैकदेशपरिशेषौ परिहृत्य निर्विशेषब्रह्मप्र-
मितिनैराकाराह्वयमिति मत्वा सिद्धान्तयति । उच्यत इति । अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषे-
धधियोऽक्षरस्य विषय इत्यर्थेकं सूत्रपदं व्याचष्टे । अक्षरेति । तत्र हेतुमवधार्य विभ-
जते । सामान्येति । आरोपितविशेषनिरासेन ब्रह्मोक्तेस्तत्र तत्र कुर्यत्वाद्ब्रह्मणश्च
प्रतिपाद्यस्य सर्वत्रैक्येन प्रत्यभिज्ञानात्तद्योगिनां शब्दप्रत्ययानामुपसंहार इत्यर्थः ।
श्रुतकतिपयनिषेधैरेव सर्वनिषेधोपलक्षणात्किमुपसंहारेणेत्याशङ्क्याऽऽह । तत्रेति ।
अन्यत्रेति शाखाभेदोक्तिः । अनुपसंहारश्चेदश्रुतद्वैतनिषेधाय तत्र तत्र कतिपयानि-
षेधशब्दानां लक्षणा द्वैतैकदेशशेषो वा स्यात्ततो वरं द्वैतनिषेधात्कृत्वा शब्दोपसंहारेणै-
कवाक्यत्वमित्यर्थः । तत्रानुग्राहकन्यायं दर्शयति । तथा चेति । तर्हि पुनराकिरे-
त्याशङ्क्य भावाभावधर्मविषयतया परिहरति । तत्रेति । तथाऽपि न्यायसाम्यात्-

१ ट. तथाऽन्यं । २ ज. 'रं ब्रं' । ३ क. ड. झ. 'त्र कं' । ४ ट. 'गातु व्यक्' । ५ ड. ज.
'रथियस्तु' । ६ ड. झ. च हि स' । ७ क. ड. ज. झ. ट. किमित्यन्यं । ८ घ. ड. भुता । ९ ठ.
ड. 'रकिद्वा' । १० क. 'गतयः' । पुं । ११ ठ. ड. 'षप्र' । १२ झ. 'रथि' । १३ झ. 'सर्वे सू०'
ठ. ड. 'त्यत्र सू०' । १४ क. झ. 'नो शब्द' ।

नीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः ।
 औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनी-
 धूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् “अग्नेर्वैर्होत्रं
 वेरध्वरम्” इत्येवमादीनामुद्रातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसं-
 बन्धो भवति । अध्वर्युर्कर्तुं कत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतश्च
 त्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र कचि-
 दप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे
 काण्डे “गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः”

दवस्थं पौनरुक्त्यं तन्त्राऽऽह । प्रपञ्चेति । ब्रह्मस्वरूपत्वादानन्वाद्युपसंहारेऽपि
 निषेधानामनात्मत्वान्निषेध्यानन्त्येनाऽऽनन्त्याच्चैकत्रोपसंहारायोगात्किंचिन्निषेधेनान्यल-
 क्षणायां च श्रुतेनैव सिद्धेरुपसंहारानर्थक्यान्निषेधोपसंहारसिद्धिरित्याशङ्क्य निषेधाना-
 मनात्मत्वेऽप्यात्मलक्षणतया तत्प्रमित्यर्थं सार्वत्रिकत्वान्निषेध्यद्वैतस्य भूतभौतिकत्वादि-
 रूपस्य मितत्वेन तत्रापि मितिसिद्धेरुपसंहारः स्यादित्यभिप्रेत्योक्तम् । प्रपञ्चार्थश्चेति ।
 शास्त्रान्तरोक्तानामपि प्रधानयोगिनामुपसंहार इत्यत्र दृष्टान्तमाह । औपसदवदिति ।
 निदर्शनं विवृणोति । यथेति । जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेण यजेतेत्युत्पन्ने जामद-
 ग्न्येऽहीने पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति तैत्तिरीये पुरोडाशयुक्तांसूपसत्तत्त्वष्टिपूपादिष्टासु
 पुरोडाशप्रदानमन्त्राणामुद्रातृवेदोत्पन्नानामुद्रात्रा प्रयोगे प्राप्तेऽध्वर्युप्रदानके पुरोडाशे विनि-
 योगात्तस्य चोत्पत्त्यपेक्षायाः प्राधान्यात्तदनुरोधेनाध्वर्युणैव तेषां प्रयोगो नोद्गात्रेत्यर्थः ।
 उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति । एवमिति । अत्रैवोदाहरणान्तरविवक्षया तार्त्त्विकं
 सूत्रमुदाहरति । तदुक्तमिति । याजुर्वेदिकेऽग्न्याधाने य एवं विद्वानग्निमावत् इति
 श्रुतेस्तदङ्गत्वेन य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति य एवं विद्वान्यज्ञायज्ञीयं गायति य
 एवं विद्वान्वाग्देव्यं गायतीति तत्रैव सामगानं श्रुतं तत्र किमेतानि वारवन्तीयादीनि
 सामवेदोत्पन्नत्वात्तत्रोत्पन्नोच्चैस्त्वेन स्वरेणाधाने प्रयोक्तव्यानि किंवा यत्र विनियु-
 ज्यन्ते तत्रोत्पन्नोपांशुत्वेनेति संदेहे सत्युत्पत्तिविधिनैवापेक्षितोपायत्वात्मना विहित-
 त्वादङ्गानां तस्यैव प्राथम्यात्तन्निमित्तोच्चैःस्वरे प्राप्ते प्रत्याह । गुणेति । उत्पत्तिवि-
 धिर्गुणो विनियोगविधिर्मुख्यस्तयोर्व्यतिक्रमो विरोध उत्पत्तिविध्यालोचनयोच्चैस्त्वं
 विनियोगविध्यालोचनयोपांशुत्वमिति तस्मिन्व्यतिक्रमे सति मुख्येन प्रधानेन विनियु-
 ज्यमानेन रूपेण वारवन्तीयादेर्वेदस्य संयोगो ग्राह्यो नोत्पद्यमानत्वेन गुणेनेति प्रति-
 शायां हेतुमाह । तदर्थत्वादिति । उत्पद्यमानस्य विनियुज्यमानार्थत्वाद्यद्यपि साम-

[जे० सू० ३ । ३ । ८] इत्यत्र ॥ ३३ ॥ (२०)

इयदामननात् ॥ ३४ ॥ (२१)

“ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति” [मुण्ड०
३ । १ । १ । श्वे० ४ । ६] इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्र-
माथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कठाः “ऋतं पिबन्तो
सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परोर्ध्वे । छायातपो
ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्रयो ये च त्रिणाधिकेताः ” [कठ०
३ । १] इति । किमत्र विचैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः ।
किं तावत्प्रामं विद्यानानात्वमिति । कुतः । विशेषदर्शनात् । द्वा
सुपर्णेत्यत्र द्वेकस्य भोक्तृत्वं दृश्यत एकस्य चाभोक्तृत्वं दृश्यते ।
ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते तद्वेद्यरूपं भिद्य-

वेदे सामानि विहितानि तथाऽपि तद्वाक्यानां तदुत्पत्तिमात्रपरत्वं विनियोगस्य बाहु-
वैदिकवाक्यैरेव प्राप्तेस्तत्र एव समीहितार्थप्रतिबलभात्तदर्थान्येवोत्पत्तिवाक्यानीति
तस्यैव स्वरस्यार्थसंस्पर्शिनो ग्रहणमित्यर्थः । उदाहरणान्तरं तु समानन्यायतया दर्श-
नमिति न शोभरविरोधः ॥ ३३ ॥ (२०)

प्रतिपाद्यब्रह्मप्रत्यभिज्ञानाज्ज्ञानैक्येऽक्षरवियामुपसंहारवत्प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेदः
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । इयदिति । गुहां प्रविष्टावित्यत्र सिद्धार्थमपि वाक्यमुपसंहारानु-
पसंहारप्रसङ्गात्पुनरुदाहरति । द्वा सुपर्णेति । तथाविधमेव काठकवाक्यमपि पठति ।
तथेति । मन्त्रद्वयं विषयकृत्य प्रतिपादनप्रकारभेदाद्विद्याभेदभानात्प्रतिपाद्यासंसार्य-
दृष्टेस्तदैक्यदृष्टेश्च संशयमाह । किमिति । मन्त्रद्वयेऽपि विचैक्योक्त्या वाक्यार्थधीहो-
रेवोक्तत्वात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते तदुपसंहार इत्यङ्गीकृत्य
विमृश्य पूर्वपक्षमाह । किं तावदिति । अर्थैक्यदृष्टेर्न विद्यानानात्वमिति शङ्कते ।
कुत इति । रूपभेददृष्टेरर्थैक्यधीरसिद्धेत्याह । विशेषेति । तदेव विवृणोति । द्वा सुप-
र्णेति । भोक्तृभोक्तृद्वौ सुपर्णेत्यत्र वेद्यतां भोक्तृरेवान्यत्रेति वेद्यभेदाद्विद्याभेदः । न
च च्छत्रिन्यायेन पिबन्ताविति लक्षणा मुख्यसंभवे तदयोगात् । न च वाक्यशेषाल्लक्ष-
णोपक्रमस्य मुख्यलक्षणिकग्रहणविषये मुख्यबलत्वाभावादेव संशयानुपपत्तेः । न च
प्रकरणं लक्षणाबीजं वाक्येन बाधादिति मत्वोपसंहरति । तादिति । मन्त्रयोर्विद्यानाना-

१ क. ज. 'राद्वे' । छा' । २ क. ड. ज. ज. ट. 'कृत्यम्' । ऋ' । ३ क. 'क. ज. 'त्यत्र
तुभ' । ४ क. ज. 'कृत्यं' । ५ क. 'शवर' । ६ क. 'पायाद्वे' । ७ क. स. 'हारम्' । ८ क.
क. 'क्यमिति प' । ९ क. ड. 'दृष्टे' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ३४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९११

मानं विद्यां भिन्नादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति । कुतः ।
यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरित्युत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यं रूप-
मभिन्नमामनन्ति । ननु दर्शितो रूपभेदः । नेत्युच्यते । उभावप्येतौ
मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो नार्थान्तरम् । “द्वा सुपर्णा”
इत्यत्र तावत् “अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति” इत्यशनायाद्यतीतः
परमात्मा प्रतिपाद्यते । वाक्यशेषेऽपि च स एवं प्रतिपाद्यमानो
दृश्यते । “ जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशंमस्य महिमानम् ”
[श्वे० ४ । ७] इति । “ ऋतं पिबन्तौ ” इत्यत्र तु जीवे
पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्माऽपि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन
पिबतीत्युपचर्यते । परमात्मप्रकरणं ह्येतत् “ अन्यत्र धर्माद-
न्यत्राधर्मात् ” [कठ० २ । १४] इत्युपक्रमात् । तद्विषय
एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति “ यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म
यत्परम् ” [कठ० ३ । २] इति । “ गुहां प्रविष्टावात्मानौ
हि ” [ब्र० सू० १ । २ । ११] इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम् । तस्मा-
न्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम् । अपि च त्रिष्वप्येतेषु

त्वमनुपसंहारश्चेति पक्षमनूद्य बहिरेव सिद्धान्तमाह । एवमिति । वत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुत्वेन
सूत्रं योजयति । कुत इति । इत्युत्तापरिच्छिन्नमित्येतदेव व्याचष्टे । द्वित्वेति । रूपभे-
दाद्विद्याभेदं स्मारयति । नन्विति । रूपभेदासिद्ध्या प्रत्याह । नेति । अर्थान्तरश-
ब्देन जीवो गृह्यते । जीवानुवादेन तद्याथाथं परमात्मैतत्त्वं प्रतिपाद्यमित्येतदाथर्वणा-
दिमन्त्रे साधयति । द्वा सुपर्णेति । तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति । वाक्येति । तमेव दर्शयति ।
तथाऽपि काठके भोक्त्रोरेवोक्तेर्नेश्वरार्थतेत्याशङ्क्याऽऽह । ऋतमिति । मन्त्रद्वयेऽपि
द्वित्वसंख्यादृष्टेरुभयोस्तुल्यतां विना च द्वित्वसंख्यायोगाच्चेतनस्य जीवस्य परमात्मैव
चेतनत्वात्तुल्य इति पिबन्त्वावित्यस्य लक्षणा बलादायावीत्यर्थः । किंच प्रकरणादपि
परमात्मैवात्र भावीत्याह । परमात्मैति । उपक्रमवदुपसंहारोऽपि तद्विषय एवेत्याह ।
तदिति । अत्रापि त्वपिशब्दादाथर्वणिकाद्वाक्यं दृष्टान्त्यते । उपक्रमोपसंहारैकरू-
प्यान्मध्यमपि तथा नेयमिति भावः । सिद्धार्थत्वाच्च मन्त्रद्वयस्य परविषयतेत्याह ।
गुहामिति । मन्त्रद्वयस्य परमात्मैकार्थत्वाद्गुह्याभेदाद्विद्याभेदो नेति निगमयति । तस्मा-
दिति । न केवलं मन्त्रद्वयमेव परविषयं किंतु तत्संनिध्यान्नातं सर्वमपि भ्रज्यावमि-
त्याह । अपि चेति । आथर्वणिकश्वेताश्वतरकाठकविवक्षया त्रिष्वित्युक्तम् । किमिति

१ क. ज. ट. भिन्नादि । २ क. ड. ज. अ. वेद्यम् । ३ ड. अ. 'याती' । ४ क. ड. ज.
अ. ट. 'मन्' । ५ ड. अ. 'पि तस्माह' । ६ ट. ड. 'तत्त्वं प्र' । ७ ट. 'द्वयमे' ।

वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते तादात्म्यवि-
वक्ष्यैव जीवोपादानं नार्थान्तरविवक्षया । न च परमात्मविद्यायां
भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योमः ।
तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥ (२१)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

“ यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः ” [बृ० ३ ।
४ । १] इत्येवं द्विरुपेस्तकेहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेपिनः
समामनन्ति । तत्र संशयः । विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं
वेति । विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम् । अभ्याससामर्थ्यात् ।
अन्यथा ह्येनूनो नतिरिक्तार्थे द्विराज्ञानमनर्थकमेव स्यात् । तस्मा-
द्यथाऽभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद इत्येवं प्राप्ते प्रत्याह ।

तर्हि जीवोपादानं तदाह । तादात्म्येति । ऐक्यं वक्तुं जीवोऽनूद्यत इत्यर्थः । तद-
नुवादेन परप्रतिपार्दनेऽपि कुतो विद्यैक्यं तत्राऽऽह । न चेति । प्रागेव मन्त्रद्वयस्य
सिद्धार्थत्वे किमनेनाधिकरणेनेत्याशङ्क्याऽऽह । तस्मादिति । गुणोपसंहारप्रस्तावे
मन्त्रद्वयविवरणं कुत्रोपयुक्तं तत्राऽऽह । तस्माच्चेति ॥ ३४ ॥ (२१)

मन्त्रयोरर्थाभेदोक्तिर्प्रसङ्गेन ब्राह्मणयोरपि तुल्यार्थतामाह । अन्तरेति । बृहदार-
ण्यके पाञ्चमिकं ब्राह्मणद्वयमुदाहरति । यदिति । घटादि संवित्कर्मत्वेनापरोक्षं ब्रह्म
तु साक्षादपरोक्षं तदेव प्रत्यगात्मेत्याह । य इति । स च सर्वान्तरो ब्रह्मणि सिद्धस्य
सर्वान्तरत्वस्याऽऽत्मनि स्थितस्य चापरोक्षत्वस्य ब्रह्मणि संकीर्तनादुभयोरैक्यमित्यर्थः ।
तन्मे व्याचक्ष्येति शेषः । ब्राह्मणद्वयं विषयीकृत्याभ्यासात्सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च
संशयमाह । तत्रेति । पिबन्तावित्यस्य लाक्षणिकत्वं गृहीत्वा मन्त्रयोर्भोक्त्रभोक्तृपरत्वे-
नाऽऽत्मैक्याद्विद्यैक्यमुक्तम् । इह त्वर्थैक्येऽपि न विद्यैक्यमभ्यासादिति पूर्वपक्षमाह ।
विद्येति । हेतुं व्यतिरेकतः स्फोरयति । अन्यथेति । एकस्यैव पुनःश्रुतिरविशेषाद-
नर्थकं हि स्यादिति न्यायाद्यजत्यभ्यासे पूर्वकर्मभेदवद्विद्याभेद इत्युपसंहरति । तस्मा-
दिति । ब्राह्मणयोरेकार्थत्वेन विद्यैक्योक्त्या वाक्यार्थधीहोरेवात्र चिन्तनात्पादादि-
संगतिः । पूर्वपक्षे विद्याभेदाद्गुणानुसंहारः । सिद्धान्ते तदैक्यात्तदुपसंहारासिद्धिरिति
सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तयति । एवमिति । पूर्वसूत्रममननादिति पदमिहानुषक्तमित्य-

१ घ. 'नः' ॥ ३५ ॥ यः साक्षा' । २ क. अ. 'वस्तिक' । ३ क. अ. 'ति । किं तावत्प्राप्तम् ।
वि' । ४ क. अ. 'ति । कुतः । अ' । ५ क. क. अ. ट. 'हान्युना' । ६ क. अ. 'नास्ति' । ७ क. क.
अ. 'कार्थे द्वि' । ८ ठ. क. 'मे कु' । ९ ठ. क. 'स्यैव पु' । १० ठ. 'नर्थ त्वैक स्या' । ११ ठ.
क. 'से क' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ३६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । २१३

अन्तराऽऽज्ञानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति । सर्वान्तरो
हि' स्वाऽऽत्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते प्रत्युच्यते च । न हि
द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरो संभवतः । तदा ह्येकस्याऽऽ-
ज्ञसं सर्वान्तरत्वमवर्कल्पेत । एकस्य तु भूतग्रामवन्नेव सर्वान्त-
रत्वं स्यात् । यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा
अभ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वा-
न्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः । अथ वा भूतग्रामवदिति श्रुत्य-
न्तरं निदर्शयति । यथा—

“एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मो ”

[श्वे० ६ । ११] इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूत-
ग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽज्ञायते । एवमनयोरपि ब्राह्म-
णयोरित्यर्थः । तस्माद्वैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति

चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥ (२२)

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्ति-
रिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । नायं दोषः । उपदेशान्तरव-
दुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके “ स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो ” [छा० ६ । ८ । ७] इति नवकृत्वोऽ-

ङ्गीकृत्य स्वात्मनोऽन्तराज्ञानाविशेषादित्युक्तं तदेव स्फुटयति । सर्वेति । तथाऽपि
कथं ब्राह्मणयोरैक्यार्थं तत्राऽऽह । न हीति । द्वयोः सर्वान्तरत्वायुक्ते रूपैक्यसिद्धे-
र्विद्यैक्यमित्यर्थः । कथं पुनर्द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्तिर्मेनोमयत्वादिवदुपपत्तेस्तत्राऽऽह ।
तदा हीति । भूतग्रामदृष्टान्तं व्याचष्टे । यथेति । तमेवानूय विधान्तरेण व्याकरोति ।
अथ वेति । द्वयोः सर्वान्तरत्वार्थोऽमलभ्यमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ३५ ॥

पूर्वपक्षबीजमनूय दूषयति । अन्यथेति । तत्रानुवादं व्याकरोति । अथेति ।
परिहारमवतारयति । अत्रेति । नञोऽर्थमुक्त्वा दृष्टान्तेनाऽऽज्ञानभेदोपपात्तिं सूत्राव-
यवार्थमाह । नेत्यादिना । तदेव विवृणोति । यथेति । दृष्टान्तोऽपि समग्रो नेति

१ अ. ट. हि स्व आत्मो । २ क. ट. 'ते च प्र' । ३ क. अ. 'रत्वं क' । ४ क. ज. ट.
'कल्पेत् । ५ क. ज. अ. 'था प' । ६ क. 'हे पृ' । ७ क. ज. 'अथ तेजोऽ' । ८ क. ज. ट. 'व
स' । ९ क. दर्शयति । १० क. 'ति । एको । ११ ज. ट. 'त्मा' इत्येतस्मि । १२ क. क. ज. अ.
'यैकत्वादिति' । १३ क. क. ज. अ. 'कृत्व उप' । १४ क. 'योगात्म्य' ।

प्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति । कथं चे
नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति । उपक्रमोपसंहाराभ्या-
मेकार्थतावगमात् । “ भूय एव भा भगवान्विज्ञापयतु ” [छा०
६ । ५ । ४] इति त्रैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषि-
तव्यत्वेनोपक्षेपात् । आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोप-
पत्तेः । एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् “अतोऽन्यदार्तम्” [बृ० ३ ।
४ । २] इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदे-
कार्थविषयो दृश्यते । “ यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ” [बृ० ३ ।
५ । १] इति द्वितीये प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवा-
र्थमुत्तरान्तुकृष्यमाणं दर्शयति । पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरण-
व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः सद्भावः कथ्यते । उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवा-
शनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते । इत्येकार्थतोपपत्तिः । तस्मा-
देका विद्येति ॥ ३६ ॥ (२२)

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥ (२३)

यथा “ तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम् ” इत्यादित्यपुरुषं

शङ्कते । कथं चेति । दृष्टान्ते विधेयक्यं साधयति । उपक्रमेति । ऐकार्थ्येतिद्वौ हेत्व-
न्तरमाह । भूय इति । एकस्यैव भूयःशब्दात्प्रतिपाद्यत्वे पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह ।
आशङ्कान्तरेति । दार्ष्टान्तिकमाह । एवमिति । इहेति ब्राह्मणद्वयोक्तिः । एवकार-
सामर्थ्यादपि विधेयक्यमित्याह । यवेदेति । यत्साक्षादपरोक्षादेव न कदाचिदपि परो-
क्षमित्येवमेवकारो योज्यतामित्याशङ्क्य व्यवहितान्वयमन्यैवमिति मृत्वाऽऽह । पूर्वति ।
कथं तर्हि पौनरुक्त्यादानर्थक्यापत्तिसमाधिस्तत्राऽऽह । पूर्वस्मिन्निति । उपस्त्वपश्चे
कार्यकरणविरहः साध्यते यः प्राणेन प्राणिनीत्यादिनिर्देशात्कहोलपश्चे त्वशनायादि-
विरहो योऽशनायापिपासे शोकं मोहमित्यादिदर्शनात्तथा त्रैकस्यैवाऽऽकारभेदेनैकौ
पौनरुक्त्यं कृतस्त्यमित्याह । इत्येकार्थतेति । ऐकार्थ्ये फलितमाह । तस्मा-
दिति ॥ ३६ ॥ (२२)

तत्त्वमसीत्येकत्वोपदेशस्योपदेशान्तरवादित्यनेन सूत्रावयवेनोदाहृतत्वात्तत्प्रसङ्गेनैकत्व-
वादिवाक्यान्तराणां तात्पर्यमाह । व्यतिहार इति । ऐतरेयकवाक्यं जाबालवाक्यं चोदा-
हरति । तदिति । वाक्यद्वयमधिकृत्य व्यतिहारस्यान्योन्यं विशेषणविशेष्यत्वस्य

१ क. ड. अ. च न न । २ क. ड. अ. 'दो भ' । ३ क. ड. ज. अ. 'ध्यामिकाथ्याव' ।
४ क. 'तिपादयित' । ५. 'तिपत्तव्य' । ५ ड. अ. 'तत्वे' । ६ ज. 'न वाऽत' । ७ क. ज. 'ति ब
दि' । ८ ड. अ. 'येऽपि प्र' । ९ क. ड. ज. अ. 'त्राऽऽह' ।

प्रकृत्येतरेण्यः समामनन्ति । तथा जाबालाः “त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि” इति । तत्र संशयः । किमिह व्यति-
हारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योक्तैकरूपैवेति । एकैकरूपैवेति ताव-
दाह । न ह्यत्राऽऽत्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वाऽन्यत्किंचिच्चिन्त-
यितव्यमस्ति । यदि चैवं चिन्तयितव्यविशेषः परिकल्प्येत संसा-
रिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति । तत्र संसा-
रिणस्तावदीश्वरात्मत्वं उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे
निकर्षः कृतः स्यात् । तस्मादैकरूप्यमेव मैतैः । व्यति-
हारान्नायेस्त्वेकत्वद्वेदीकारार्थ इति । एवं प्राप्ते प्रत्याह ।
व्यतिहारोऽयमध्यानायाऽऽम्नायते । इतरवत् । यथेतरे
गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाऽऽम्नायन्ते तद्वत् ।
तथा हि विशिषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन “त्वमहम-
स्म्यहं च त्वमसि” इति । तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायाम-
र्थवद्भवति । अन्यथा हीदं विशेषेणोभयान्नानमनर्थकं स्यात् ।
एकेनैवं कृतत्वात् । ननुभयान्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने

दृष्टेरुत्कृष्टदृष्टिर्निरुद्धे फलवतीति न्यायाच्च संशयमाह । तत्रेति । उषस्तकहोलयो-
र्विधैक्येऽपि यथाऽऽदरार्थोऽभ्यासस्तथाऽयमपीति मत्वा पूर्वपक्षयति । एकेति । पदा-
न्तराणामर्थान्तरपरत्वस्वारस्यात्कथं मतेरैकरूप्यमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । अन्यो-
न्यात्मत्वमर्थान्तरमित्याशङ्क्याऽऽह । यदीति । अन्योन्यात्मनाऽनुचिन्तनस्यायुक्तत्वे
फलितमाह । तस्मादिति । तर्हि किमर्थं व्यतिहारान्नानं तदाह । व्यतिहारैति ।
व्यतिहारपाठे द्विरूपाया मतेरनुष्ठेयत्वोक्त्या विद्यक्योक्तेर्विक्यार्थधीहेतोरेव चिन्तना-
त्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मतेरैकरूपत्वे लाघवम् । सिद्धान्ते तस्या द्वैक्ये दृढत्वमै-
क्यस्य सिध्यतीति मन्वान् सिद्धान्तयति । एवमिति । व्यतिहारो मिथो विशेषण-
विशेष्यत्वमाध्यानमुभयरूपमतिकरणम् । प्रतिज्ञातमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । इतरव-
दिति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभागौ व्याख्यायुक्तं हेतुं व्याख्याति । तथा हीति । उभय-
रूपोच्चारणेऽपि कथं प्रतिज्ञासिद्धिस्तत्राऽऽह । तच्चेति । तदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽह ।
अन्यथेति । जीवे ब्रह्मधीरेकैव चेत्तदा त्वमहमित्येतावतैव सिद्धेरुभयोच्चारणमनर्थकं
तस्मात्तदर्थवत्त्वानुपपत्त्या मतिरुभयरूपैव कार्येत्यर्थः । उक्तं स्मारयति । नन्विति ।
निर्गुणस्य सगुणत्वोक्तिवदन्योन्यात्मतया ध्यानमात्रस्य विधानान्न वस्तुतो निरुद्धे-

देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः ।
एकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स
एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः किं
तर्हि व्यतिहारैरेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैक-
पेत्येतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथाऽऽ-
ध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुणं ईश्वरः प्रसिध्यति
तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसं-
हर्तव्यो भवेतीति ॥ ३७ ॥ (२३)

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥ (२४)

“स यो हेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म” [बृ० ५ । ४ ।

१] इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधा-

त्याह । नेत्यादिना । ईश्वरे जीवतादात्म्यस्याऽऽरोप्योपास्यत्वान्नेश्वरस्योत्कर्षनिवृत्ति-
रित्यर्थः । वचनादुभयत्रोभयानुचिन्तने मदुक्तमेवाऽऽद्यावमिति शङ्कते । नन्विति ।
किमिह नान्तरीयत्वेनैकत्वमपि दृढीभवतीत्युच्यते किंवा तत्त्वमस्यादिवैतन्तदेवोपादिश्यत
इति तत्राऽऽद्यं प्रत्याह । न वयमिति । न द्वितीयो ध्यानविधिपरत्वाद्वाक्यस्येत्याह ।
किं तर्हीति । इहेत्युदाहरणोक्तिः । एकत्वज्ञानस्यापीह भानात्तत्परत्वं किं न
स्यात्तत्राऽऽह । फलतस्त्विति । अर्थादित्यर्थः । कथमुपास्तिपरत्वेऽर्थादपि तद्दृढीकरणं
तत्राऽऽह । यथेति । अन्यपरस्यापि मानान्तराविरुद्धेऽर्थे स्यान्मानत्वमित्यर्थः । उभ-
योच्चारणसामर्थ्यसिद्धमुपसंहरति । तस्मादिति । व्यतिहारानुचिन्तनकार्थताकीर्तनस्य
पादसंगतिं सूचयति । समाने चेति । यत्र यत्राहं ग्रहेणोपास्तिस्तत्र तत्रेति यावत् ।
उभयरूपमतिकरणे सत्येकत्वमर्थतो दृढीभवतीति वक्तुमिति युक्तम् ॥ ३७ ॥ (२३)

जीवब्रह्मणोरन्योन्यात्मत्वोक्तिभेदाद्विरूपा मतिरनुष्ठेयेत्युक्तम् । संप्रति जयवीमांशो-
कान्दन्ति पाप्मानमिति च फलोक्तिभेदाद्विद्याभेदमाशङ्क्योक्तम् । सैवेति । सत्यवि-
द्यामुदाहरति । स यो हेति । अविशेषेणाधिकारी सर्वनामभ्यामुक्तः । उपास्यमेसिद्धचर्था
हशब्दः । एतदिति बुद्धिस्थमुपास्यं परामृश्यते । तस्य व्यापकत्वमाह । महदिति ।
यक्षं पूज्यं प्रथमजं भौतिकानां मध्ये प्रथमं ज्ञातं सच्च त्वञ्चेति सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं
वेदोपास्ते तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । तदेतदक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरमित्या-
दिना सत्यनामविशिष्टमुपासनमुक्तमित्याह । सनामेति । तत्तत्र ब्रह्मणो हृदयात्मत्वे
सिद्धे यत्तद्ब्रह्म सत्यं हृदयाख्यं सोऽसावादित्य इति योजना । विशेष्यादित्यवशेन स

१ ट. किंतु न्यं । २ क. अ. 'रेणैव द्वि' । ३ क. अ. 'णक ई' । ४ ज. 'तैव्य इति ।
५ क. अ. ट. 'वति । ६ च. 'वत्सदे' । ७ ठ. ड. 'पि दृढी' । ८ क. घ. 'शेषणा' । ९ घ. 'प्रतिसि' ।
१० घ. 'यमत्रा' ।

यानन्तरब्रह्मावते “तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एत-
स्मिन्मण्डले पुरुषो यथायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः” [बृ० ५ । ५ ।
२] इत्यादि । तत्र संशयः । किं द्वे एते सत्यविद्ये किंवैकैवेति ।
द्वे इति तावत्प्राप्तम् । भेदेन हि फलसंयोगो भवति “जयतीमा-
ल्लोकान्” [बृ० ५ । ४ । १] इति पुरस्तात् “इन्ति पाप्मानं
जहाति चै” [बृ० ५ । ५ । ३] इत्युपरिष्ठात् । प्रकृताकर्षणं
तूपास्यैकत्वादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । एकैवेयं सत्यविद्येति ।
कुतः । “तद्यत्तत्सत्यम्” [बृ० ५ । ५ । २] इति
प्रकृताकर्षणात् । ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादु-
पपद्यत इत्युक्तम् । नैतदेवम् । यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तरा-
द्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात् । अत्र तूभयथा संभवे तद्य-
त्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबन्धमेव सत्यमुत्तरत्राऽऽ-
कृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः । यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्वि-

इत्युक्तम् । तस्य मण्डलमात्रत्वं व्यावर्तयति । य एष इति । तस्यैवाऽऽध्यात्मिकत्व-
माह । यश्चेति । वाक्यद्वये श्रुतां सत्यविद्यां विषयीकृत्य फलभेदात्प्रकृताकर्षणाच्च
संशयमाह । तत्रेति । विद्याभेदाभेदनिरूपणद्वारा वाक्यार्थकीर्तित्वेन पादादि-
संगतिः । पूर्वपक्षे गुणव्यवस्था सिद्धान्ते तदव्यवस्थेत्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षयति ।
द्वे इति । सत्यनामाक्षरत्रयविशिष्टादहरहंगुणविशिष्टस्य विलक्षणतया रूपभेदा-
द्विद्याभेद इत्यर्थः । तत्रैव फलसंयोगभेदं हेत्वन्तरमाह । भेदेनेति । तद्यदिति प्रकृ-
ताकर्षणाद्व्यपन्नः सत्यनामाक्षरविशिष्टस्योत्तरत्र स्थानगुणसंबन्धकथनाद्वैक्ये कुर्वो
विद्यानानात्वं तत्राऽऽह । प्रकृतेति । फलभेदस्योक्तत्वान्नित्यकाम्यदर्शपूर्णमासवदनु-
बन्धाभेदेऽपि विद्यानानात्वमिति भावः । विद्याभेदाद्गुणव्यवस्थेति पक्षमनूद्य सैवेति
सूत्रावयवेन सिद्धान्तमाह । एवमिति । तत्र हेतुं हि शब्दसूचितं प्रश्नपूर्वकमाह । कुत इति ।
खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानमिति वद्विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणं स्यादिति शङ्कते ।
नन्विति । तत्र कारणान्तरादपवादाद्विद्याभेदेऽपि प्रकृते तदभावात्तच्छब्देन प्रकृतम-
हादभेदेन प्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमित्याह । नैतदिति । खल्वेतस्येत्यादि यत्रेत्युक्तम् ।
कारणान्तरं फलभेदादि । एतदिति प्रकृताकर्षणमुक्तम् । एवमिति तस्य विधैक्यव्य-
भिचारित्वमिति भेदः । अत्रेति सत्यविद्योच्यते । उभयथा संभवो भेदाभेदाभ्यामुपपत्तिः ।
प्रकृते फलसंयोगभेदो भेदोपपादकोऽस्तीत्युक्तं तत्राऽऽह । यत्पुनरिति । प्रशंसार्थ-

१ ड. ज. ‘संबन्धो भ’ । २ ड. च य एवं वेद ” इ” । ३ ज. ट. ‘यं विद्या स’ । ४ क. ड.
ज. अ. हि । ५ क. ‘प्रह्णभे’ । ६ क. ख. ‘वेक्यं व्य’ । ७ उ. ड. ‘पत्तिः । प्र’ ।

चान्तरमिति । अत्रोच्यते । तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरो-
पदेशस्य स्तावकेमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः । अपि चार्थ-
वादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु
श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्त-
व्यानि भवन्ति । तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन
विशेषेणोपेताऽऽङ्गातेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मि-
न्प्रयोग उपसंहर्तव्याः । केचित्पुनरस्मिन्सूत्रे इदं च
वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यं छान्दोग्ये च “अथ
य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते” [छा० १ ।
६ । ६] “य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते” [छा० ४ । १५ ।
१] इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति
कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छान्दोग्यानामुपसंहार्यान्म-
न्यन्ते । तन्न साधु लक्ष्यते । छान्दोग्ये हि कर्मसंबन्धिन्पुद्गीथ-
व्यपाश्रया विद्या विज्ञायते । तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसं-
बन्धिचिह्नानि भवन्ति “इयमेवर्गमिः साम” [छा० १ । ६ ।
१] इत्युपक्रमे “तस्यर्चं साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः”

वादैकत्वेनास्य फलविधित्वाभावात् फलसंयोगभेदसिद्धिरित्याह । अत्रेति । इदञ्च
फलभेदाद्विद्याभेदो नात्रेत्याह । अपि चेति । विध्युद्देशे फलान्तराश्रुते रात्रिसत्रव-
त्फले कल्प्ये सत्यगृहीतविशेषतया सर्वस्यापि फलस्य तत्संबन्धित्वाकल्पनान्न फलभे-
दाद्विद्याभेदाशङ्केत्याह । अर्थेति । अपवादरहितं हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातं विद्यैक्यमुपसं-
हरति । तस्मादिति । अवशिष्टं सूत्रावयवं व्याकुर्वन्पूर्वापरवाक्यार्थविशेषणान्येकी-
कृत्य ध्यानं कार्यमित्याह । इत्यत इति । परैकीयव्याख्यामुत्थापयति । केचि-
दिति । तदूषयति । तत्रेति । कर्मसंबन्धिनीत्यत्र कर्म ज्योतिष्टोमस्तदङ्गभूतोद्गीथव्यपा-
श्रयत्वमेव विद्याया विशदयति । तत्रेति । उद्गीथशब्दवार्च्यैकसामगेष्णत्वात्परमात्मो-
द्गीथशब्दवाच्य इत्याह । तस्मादिति । अथ य एषोऽन्तरादित्य इत्यस्याऽऽदि-
मध्यावसानेन ऋक्सामयोः कर्माङ्गयोः पृथिव्यादिष्टष्टिष्विष्टयोर्ध्वयत्वदृष्टेरादित्याग्नि-
पुरुषविशिष्टकर्माङ्गेद्गीथध्यानं छान्दोग्येऽभीष्टमित्यर्थः । वाजसनेयकेऽपि कर्माङ्गावबद्धं

१ ड. अ. 'कत्वमि' । २ ट. 'मितीत्य' । ३ ड. अ. 'प्रायत इत्' । ४ ड. ज. अ. 'दं वा' ।
५ क. ज. अ. ट. 'ते' अथ य । ६ क. ज. अ. ट. 'धोऽन्तराक्षि' । ७ क. ड. अ. 'त्रैकेति' ।
८ ड. अ. 'त्यादिग' । ९ ट. हि उद्योतिष्टोमक । १० क. ड. ज. अ. 'धिनीयमुद्गी' । ११ क. घ.
ड. ज. अ. 'पू क' । १२ ठ. ड. 'दत्वे' । १३ ड. 'कीयां व्या' । १४ ठ. ड. 'च्यवाकप्राणकसा' ।
१५ क. 'सानेष्टृकसा' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ३९] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९१९

[छा० १ । ६ । ८] इति मध्ये “ य एवं विद्वान्नाम
गायति ” [छा० १ । ७ । ९] इत्युपसंहारे । नैवं वाजसने-
यके किञ्चित्कर्मसंबन्धि चिह्नमस्ति । तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे
सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥ (२४)

कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥ (२५)

“ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽ-
स्मिन्नन्तराकाशः ” [छा० ८ । १ । १] इति प्रस्तुत्य
च्छन्दोगा अधीयते “ एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-
विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ” [छा०
८ । १ । ५] इत्यादि । तथा वाजसनेयिनः “ स वा एष
महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय
आकाशस्तस्मिञ्शेते सर्वस्य वशी ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यादि ।
तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्व-
मिति । तत्रेदमुच्यते कामादीति सत्यकामादीत्यर्थः । यथा
देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाका-
शस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसने-
यके “ स वा एष महानज आत्मा ” इत्यत्र संबध्येत । यच्च वाज-

मेव ध्यानमिष्टमिति न विद्यानानात्वमित्याशङ्क्याऽऽह । नैवमिति । नित्यकाम्याग्नि-
होत्रयोर्धात्वर्थभेदेऽपि साध्यभेदेन भेदवदुपास्यैक्येऽपि फलभेदेन विद्ययोर्भेदे गुणानुप-
संहार इत्युपसंहरति । तत्रेति ॥ ३८ ॥ (२४)

तद्यत्तसत्यमिति प्रकृताकर्षणाद्रूपभेदाद्गुणोपसंहारश्चेत्कचिदाकाशस्योपास्यत्वं कचि-
त्तदाश्रयस्य ज्ञेयतेति रूपभेदाद्गुणानुपसंहारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । कामादीति ।
सगुणनिर्गुणविद्याविषयं वार्क्यमुदाहरति । अथेति । परावरविद्यागता वशित्वादयः
सत्यकामादयश्च गुणा विषयास्ते किमन्योन्यत्र नोपसंहर्तव्याः किंनोपसंहर्तव्या
इत्युभयत्रोभयेषामुपयोगभावाभावाभ्यां संशये ध्यानैस्तुत्युपयोगित्वेन गुणानामन्योन्य-
त्रोपसंहारोक्त्या वाक्यार्थधीतद्धेतुचिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे कचिदाकाशस्य
ध्येयत्वं कचित्तदाश्रयस्य ज्ञेयतेति विशेषसिद्धिः । सिद्धान्तेऽपि ब्रह्मण एवाऽऽ-
काशशब्दत्वादुक्तविशेषोपपत्तिरित्यङ्गीकृत्य सिद्धान्तमाह । तत्रेति । अवयववाचकेना-
वयवविग्रहे दृष्टान्तमाह । यथेति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह । यदेतदिति ।

सनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र च्छान्दोग्ये “एष आत्माऽ-
पहतपाप्मा” [छा० ८।१।५] इत्यत्र संबध्यते । कुतः । आपत-
नादिसामान्यात् । समानं सुभयत्रापि हृदयमापतनं समानश्च
वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्येव-
मादि बहुसामान्यं दृश्यते । ननु विशेषोऽपि दृश्यते च्छान्दोग्ये
हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण
इति । न । “ दहर उत्तरेभ्यः ” [ब्र० सू० १।३।१४]
इत्यत्र च्छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् ।
अयं त्वत्र विद्यते विशेषः सगुणा हि ब्रह्मविद्या च्छान्दोग्य उपदि-
श्यते “ अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्या-
न्कामान् ” [छा० ८।१।६] इत्यात्मवत्कामानामपि
वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव ब्रह्मोपदिश्यमानं
दृश्यते “ अत उध्वं विमोक्षाय ब्रूहि ” [बृ० ४।३।१४]
“ असङ्गो ह्ययं पुरुषः ” [बृ० ४।३।१५] इत्यादिप्रश्र-
तिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजस-
नेयके संकीर्त्यते । तथा चोपरिष्ठात् “ स एष नेति नेत्यात्मा ”
[बृ० ३।९।२६] इत्यादिना निर्गुणमेवं ब्रह्मोपसं-
हरति । गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोप-

हेतुमुक्तं विवृणोति । समानं हीति । आदिपदेनाऽऽत्मत्वादि गृह्यते । बहुतरसाम्य-
दर्शनादितरेतरगुणोपसंहार इत्यर्थः । अस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षमाह । नान्वीत ।
नायं विशेषस्तत्राप्याकाशस्य ब्रह्मत्वादित्याह । नेत्यादिना । सगुणनिर्गुणतया विद्या-
भेदादपहतपाप्मत्वादीनां वशित्वादीनां चेतरेतरननुपसंहार इत्याशङ्क्याऽऽह । अयं
त्विति । वाजसनेयकेऽपि वशित्वाद्युपदेशे दर्शनाद्ब्रह्म सगुणमेवेत्याशङ्क्याऽऽह ।
स्तुत्यर्थमिति । तत्र निर्णायकत्वेन वाक्यशेषं दर्शयति । तथाचेति । कथं तर्हि
गुणोपसंहारः सूत्रितस्तत्राऽऽह । गुणवतस्त्विति । साम्यबाहुल्याद्ब्रह्मणो ध्येयस्य
स्तूयमानस्येतरेतरत्र संनिधानाच्च कचिदुपास्यत्वाय कचिच्च स्तुतिपौष्कल्यायाऽऽकाङ्क्ष-
क्षितत्वात्तत्तद्गुणसंयोगयोग्यत्वाच्च ब्रह्मणो वशित्वादीनामपहतपाप्मत्वादीनां चेतरेतरत्रो-

१ ज. 'त्वादिगुणजातमुप' । २ क. ज. 'दपि तत्र' । ३ क. ज. झ. ट. 'त' । आ. '। ४ ड.
अ. 'इतरं सा' । ५ ज. 'गुणं परं ब्र' । ६ क. ड. अ. 'व परं ब्र' । ७ क. 'ते' । वि. '। ८ ड. अ.
'अथैव ब्र' । ९ ड. अ. तु तत्स्तुत्य' । १० ज. 'मेवोप' । ११ झ. 'ना चे' । १२ ठ. ड. 'क्षना'
१३ क. 'णजे' ।

संहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥ (२५)

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते “ तद्यद्भक्तं प्रथममा-
गच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय
स्वाहा” [छा० ५ । १९ । १] इत्यादि । तत्र पञ्च प्राणाहुतयो
विहिताः । तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः “य एतदेवं
विद्वानग्निहोत्रं जुहोति” [छा० ५ । २४ । २] इति “यथेह
क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्र-
मुपासते” [छा० ५ । २४ । ५] इति च । तत्रेदं विचार्यते
किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति । तद्यद्भक्त-
मिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भो-
जनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति ताव-

पसंहारः । स्तुतिर्हि दृष्टेन द्वारेण कर्तुं शक्येति सगुणविद्यासु ध्येयत्वेनोक्तानामपि
गुणानां निर्गुणविद्यायां युक्तं स्तुत्यर्थत्वेनान्वयः । ध्येयत्वं त्वपूर्वविध्येकगम्यम् ।
यत्र वशिस्तादयः श्रुता न तत्रैषां ध्येयत्वेन विधानमित्यन्यत्र गतानामपि न ध्येय-
त्वम् । स्तुत्यर्थत्वं तु स्यात्तदपि न शब्दतस्तत्रैषां नयनमपेक्षते, सत्यकामत्वादिसाम-
र्थ्यादेव सर्वेश्वरत्वादिसिद्धिः । अवोऽन्तर्भावमात्रमुपसंहार इति भावः ॥ ३९ ॥ (२५)

उपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थत्वेन गुणलोपवत्पूर्वोऽतिथिभ्य इत्यादिश्रुत्युपपत्तये भोज-
नलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रालोप इति चोदयति । आदरादिति । वैश्वानरविद्यागतं
प्राणाग्निहोत्रं विषयत्वेनोपन्यस्यति । छान्दोग्य इति । स इति वैश्वानरविद्यावि-
दुक्तः । श्रुतितात्पर्यार्थं संगृह्णाति । तत्रेति । संदेहार्थं शब्दान्तरप्रयोगं पूर्वपक्षबीज-
माह । तास्विति । न कश्चिदपि पाप्मा तं स्पृशतीति यच्छब्दस्य संबन्धः । प्राणा-
ग्निहोत्रे यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां संशयमाह । तत्रेति । उपास्तिविचारप्रस्तावेन
तद्गतप्रथमभोजनाश्रितविचारद्वारा वाक्यार्थधीहेतुविचारसंक्रान्तेरस्ति पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे प्रतिनिधिन्यायेन प्राणाग्निहोत्रकार्यताम्रौव्यम् । सिद्धान्ते तदनवतारात्तदनाव-
श्यकत्वमित्याशयेन पूर्वपक्षसूत्रव्यावर्त्या सिद्धान्ताशङ्कामुत्थापयति । तद्यदिति ।
भक्तागमनसंबन्धात्प्राणाग्निहोत्रस्येति संबन्धः । न च होमस्य भक्तागमनप्रयोजकत्वं
भोजनप्रयुक्तभक्तोपजीवित्वादतस्तल्लोपे लोपात्पूर्वपक्षभावादधिकरणमनारभ्यमित्यर्थः ।
सूत्रेण पूर्वपक्षं समाधानोऽविकरणारम्भमुपपादयति । एवमिति । तावच्छब्दः सिद्धा-

१ ड. अ. “इति । २ छ. ट. “ति । त” । ३ ठ. ड. “तिष्ठे” । ४ क. ख. “त्वं तु प” । ठ.
ड. “त्वं प” । ५ ठ. ड. “त्वं स्याद” । ६ ठ. ड. “दिस्तुत्यु” । ७ क. ख. “तोः । स्तुति” ।

दाह । कस्मात् । आदरात् । तथा हि वैश्वानरविद्यायामेव जावालानां श्रुतिः “पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्रीयात् । यथा ह वै स्वय-
महुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत् ” इत्यतिथिभोजनस्य
प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्र
आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथ-
म्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं संहतेति मन्यते । ननु भोजनार्थभक्ता-
गमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः । न । तस्य द्रव्यविशे-
षविधानार्थत्वात् । प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां

न्तशङ्कानिरासार्थः । पूर्वपक्षी प्रश्नपूर्वकं स्वं हेतुमवतारयति । कस्मादिति । आदर-
मेव स्फोरयति । तथा हीति । विध्यपेक्षितमर्थवादं दर्शयति । यथेति । ननु स्वामि-
भोजनस्य प्राथम्याभावोऽत्र निन्द्यते कथमेतावता भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रं न
लुप्यते तत्राऽऽह । या हीति । अतिथिभोजनोत्तरकालविहितमपि स्वामिभोजनमपो-
ह्यातिथिभोजनात्प्रागेव प्राणाग्निहोत्रलक्षणं स्वामिभोजनं प्रतिपादयन्ती श्रुतिस्तस्य
प्राथम्यधर्मलोपमपि न सहते तत्र धर्मिलोपसंहननं तु दूरनिरस्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षाक्षेपं
स्मारयति । नन्विति । तद्यद्भक्तमित्तिवाक्यस्यान्यार्थत्वाद्भोजनलोपेऽपि नास्ति लोपोऽ-
ग्निहोत्रस्येति दूषयति । नेति । तदेव प्रपञ्चयति । प्राकृतं हीति । इहापीति प्राणा-
ग्निहोत्रं सप्तम्यर्थः । कौण्डपायिनामयनवदिति स्थितं भेदलक्षणे “प्रकरणान्तरे प्रयोज-
नान्यत्वम्” [पू० मी० सू० २।३।२४] कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र
नित्याग्निहोत्रे मासगुणो वा विधीयते कर्मान्तरं वेति संदेहे प्रदेष्टुमभेदे सत्यपि नाम्ना
नित्याग्निहोत्रस्य बुद्धिसंनिधापनात्तत्समभिव्याहृताख्यातस्य तत्संनिधापितार्थपरत्वा-
न्नित्याग्निहोत्रानुवादेन मासावीधिरिति प्राप्ते कालस्य पुरुषानिष्पाद्यत्वेनानुपादेयत्वाच्च-
होतीत्याख्यातेन होमानुवादेन मासविधेरयोगात्तदुद्देशेन नित्याग्निहोत्रविधेरपि तद्वत्सं-
निधेरसंभवान्नाम्ना च सिद्धार्थबोधिना पूर्वापरीभूततयाऽऽख्यातेनोक्तस्यानुपस्थापनात्प्रक-
रणभेदे प्रयोजनस्य विधेयभावनाख्यस्यान्यत्वमिति कर्मान्तरविधिरिति तद्धर्मप्राप्ताविति
सप्तमे स्थितम् “उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुताब्धेन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात्” [पू० मी० सू०
७।३।१] मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्रैवाग्निहोत्रशब्दो नित्याग्निहोत्रधर्मानिहाविदिशेन्न
वेति संदेहे गौणत्वाभावादग्निहोत्रशब्दस्य जुहोतिसामानाधिकरण्याविशेषादत्रापि
नामधेयत्वान्नाविदिशेदिति प्राप्ते सिद्धे कर्मभेदेऽनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वादेकत्राग्निहोत्रश-

१ ट. सहत इति । २ ट. ह. ‘कं हे’ । ३ क. ‘मिनो भो’ । ४ ट. ‘ते ता’ । ५ क. ह.
‘नस्य लो’ । ६ अ. ट. ह. ‘यिन’ । ७ अ. प्रवेश । ८ क. तत्संनि’ । ९ ट. ह. ‘नित्याना’ ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ४०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९२३

नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ
सत्यां भक्तद्रव्यतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं तद्यद्भक्तमिति ।
अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्पिवां प्राप्तम् । भोजनलोपेऽप्य-
ग्निहोत्रेऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहो-
त्रस्यानुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

अत उत्तरं पठति—

वदस्य मुख्यत्वादन्यत्र गौणत्वान्नित्याग्निहोत्रे च नामप्रवृत्तिनिमित्तस्याग्निदेवतासंबन्धस्य
भावात्तत्रैव मुख्यत्वात्परशब्दस्य परत्र सादृश्यात्प्रवृत्तिरिति तस्मिद्धव्यर्थं नित्यधर्मान-
विदिशति क्रियाया नित्याग्निहोत्रस्याभिधानं नामधेयमग्निहोत्रपदमुक्तं तत्पर्ययाधिक-
रणे । तस्यान्यत्र श्रवणे विधिप्रदेशो विधेयधर्मातिदेशः स्यादिति सूत्रार्थः । तथाच
यथा कुण्डपायिनामयनगते कर्मणि प्रकरणान्तरान्नैयमिकाग्निहोत्राद्विन्नत्वेन सिद्धे नैय-
मिकाग्निहोत्रवाचकाग्निहोत्रशब्दप्रयोगात्तद्धर्मातिदेशरूपधर्मान्तरप्राप्तिः । तथा नैयमिका-
ग्निहोत्रे पयोधृतादीनां प्रसिद्धत्वात्प्राणाग्निहोत्रे च नित्याग्निहोत्रवाचिशब्दात्तद्धर्माणां
पयःप्रभृतीनां प्राप्तौ भोजनगतभक्तद्रव्यकृताभिधानार्थं तद्यद्भक्तमिति वाक्यमित्यर्थः ।
तथाऽऽपि भोजनार्थभक्तोपजावित्वात्प्राणाग्निहोत्रस्य भोजनलोपेऽलोपः स्यात्तत्राऽऽह ।
अत इति । अन्याधाने पर्वमानेष्टिष्वग्नये पर्वमानाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्व-
पतीत्याद्यासु प्रकृतावाग्निहोत्रहवण्या हविर्निर्वपेदिति विहितो हविर्निर्वपेऽतिदेशेन
प्राप्तौ न चाऽऽधानकालेऽग्निहोत्रमिति कुतोऽग्निहोत्रहवणी येन तन्निर्वापस्य तलोपे
लोपप्राप्तौ दाशमिकं सिद्धान्तमाह । गुणेति । विरुद्धौ हि कार्यद्वारा पदार्थाः प्राप्नु-
वन्ति तेन हविःसंस्कारार्थो निर्वापः प्रथमं प्राप्तस्तद्वारा च तदङ्गमग्निहोत्रहवणी
पश्चात्प्राप्नोति तेनाङ्गस्याग्निहोत्रहवण्या लोपेऽपि मुख्यस्य लोपो नास्तीति प्रकृते
भोजनलोपेऽपि न लुप्यते प्राणाग्निहोत्रमित्यर्थः । प्रतिनिधिन्यायेनेत्यग्निहोत्रादनित्य-
कर्मसु धृतव्रीह्याद्यलभे कर्मात्सर्गे प्राप्ते नित्यानामनित्यानां वाऽऽरब्धानामवश्यकार्य-
त्वात्प्रतिनिहितैः श्रुतैश्च क्रियमाणप्रयोगस्यावशिष्टत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्प्रतिनिधायि
कर्म कर्तव्यमित्यधिकारलक्षणे स्थितम् । तथाच भोजनलोपेऽपि जलादिना केनापि
द्रव्येण प्राणाग्निहोत्रमनुष्ठेयमित्यर्थः ॥ ४० ॥

अङ्गलोपेऽपि प्रधानस्य न लोपोऽस्तीति प्राप्ते सिद्धान्तव्यति । अत इति । तत्र

१ क. ड. ज. अ. 'द्रव्यैकता' । २ क. ड. ज. अ. 'द्विरन्ये' । ३ क. 'न्यस्याभा' । ४ ट.
८. 'प्रत्याख्या' । ५ ख. 'देशे वि' । ६ क. ठ. ड. 'जनाग' । ७ ख. 'वने' । ८ क. ख. 'तेऽपि भो' ।
२-४४

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥ (२६)

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपत्ति-
तात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम् । कस्मात् । तद्वचनात् । तथा
हि “ तच्चद्रक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम् ” [छा० ५ । १९ । १]
इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहु-
तीनां विदधेति । ता अप्रयोजकलक्षणार्पणा आहुतयः सत्यः
कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चात्र प्राकृताग्नि-
होत्रधर्मप्राप्तिरस्ति । कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोतीति
विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्म-
प्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयि-
तुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानापामभ्युद्धरणादयोऽपि
प्राप्येरन् । न चास्ति संभन्धः । अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरण-

प्रतिज्ञां विभजते । उपेति । पूर्वोऽविधिभ्योऽश्रीयादिति श्रुत्या विशिनष्टि । प्रथमेति ।
भोजनाभावे तत्प्रयुक्तद्रव्याभावेऽपि स्वतन्त्रद्रव्येण प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्त्यमिति शङ्कते ।
कस्मादिति । सौत्रं हेतुमादत्ते । तदिति । तद्धोमीयमिति तच्छब्देन प्रकृताकाङ्क्षेण
सोक्तिपर्यवसानार्थं यद्भक्तं प्रथममागच्छेदिति संनिहितं भोजनार्थं भक्तं गमयितव्यमिति न
स्वतन्त्रद्रव्यं प्रयोक्तव्यं तच्छब्दविरोधादिति व्याचष्टे । तथा हीति । सिद्धस्य प्रमितस्यान-
न्तरप्रकृत्यर्थस्य यथा तच्छब्देन परामर्शस्तथा भक्तस्य भोजनार्थमुपनिपातो नामाऽऽ-
गमनं तस्य येस्त्वच्छब्देन परामर्शस्तेन परार्थं भोजनार्थं यद्भक्तं द्रव्यं तेन साध्यतां निर्व-
र्त्यतामिति यावत् । भोजनार्थागतभक्तद्रव्योद्देशेन तद्धोमीयमित्याहुर्विधाने फलित-
माह । ता इति । आहवनीयाभावे होमाभाववदामिक्षार्थे दध्यनयनाभावे वाजिनाभाव-
वच्चोद्देश्याभावे सत्युपादेयस्याप्रवृत्तेर्भोजनार्थद्रव्यलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येत्यर्थः ।
यत्त्वग्निहोत्रशब्दात्तद्धर्मप्राप्तौ भक्तद्रव्यकतागुणविधानार्थं तच्चद्रक्तमित्यादि वाक्यमिति
तत्राऽऽह । न चेति । अर्थवादस्याग्निहोत्रशब्दस्य किञ्चित्सादृश्यमादाय स्तावकत्वेनापि
संभवात् तद्वशात्प्राणाग्निहोत्रे नैयमिकाग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरित्यर्थः । कौण्डपायिनवदि-
त्युक्तं विषययति । कुण्डेति । दार्ष्टान्तिके प्रागुक्तमेव वैषम्यं विशदयति । इहेति ।
प्राणाग्निहोत्रं सप्तम्यर्थः । विपक्षे दोषमाह । तद्धर्ममिति । तेषामपि प्राप्तौ का हानिस्त-
त्राऽऽह । न चेति । असंभवमेव तेषां साधयति । अग्नीति । अग्न्याधारहोमाभावा-

१ क. ड. अ. 'प्राः स' । २ ट. 'त्र प्रकृ' । ३ क. ड. अ. 'ने हि मा' । ४ क. 'व्येण' ।
५ क. ठ. ड. 'तत्र द' । ६ क. यथा तच्छ' । ७ क. ड. यतस्त' । ८ क. क. 'क्षार्थं द' ।

भावाय न चापमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात् । भोजनो-
पनीतद्रव्यसंबन्धाच्चाऽऽस्य एवैष होमः । तथा च जाबालश्रुतिः
पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्रीपादित्यास्याधाराभेदेमां होमनिर्द्दिष्टि दर्श-
यति । अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति
“ उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य-
पचन आस्यमाहवर्णीयः ” [छा० ५ । १८ । २] इति ।
वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या । मुख्याग्नि-
होत्रे वेद्यभावात् । तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात् । भोज-
नेनैव च कृतकालेन संयोगाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः । एवम-
न्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भो-
जनपक्ष एवेते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः ।
यच्चादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । न ह्यस्ति

त्प्राणाग्निहोत्रे नाग्न्युद्धरणसिद्धिरित्यर्थः । अस्तु प्रस्तुतेऽपि तदर्थमेवाग्न्युद्धरणं नेत्याह ।
न चेति । आहुतीनामग्न्याधारत्वाभावे युक्त्यन्तरमाह । भोजनेति । बर्हि किमि-
हाऽऽहुतीनामधिकरणं तदाह । आस्य इति । प्राणाग्निहोत्रे होमधिकरणमास्यमेवेत्यत्र
श्रुत्यन्तरमाह । तथा चेति । आहुतीनामास्याधारत्वे प्राणाग्निहोत्रेऽग्निहोत्रशब्दान्नै-
यमिकाग्निहोत्रधर्माप्राप्तौ च गमकमाह । अत इति । तद्धर्मप्राप्तौ मुख्यानामेव संभवा-
त्संपादनवैयर्थ्यमित्यर्थः । उर एव वेदिरित्यत्रावान्तरविकोषमाह । वेदीति । अत्रेति
प्राणाग्निहोत्रोक्तिः । वेदिकरणस्यापि संपादनार्थमितराङ्गवदिह संकीर्तनं किं न स्यात्त-
त्राऽऽह । मुख्येति । दर्शपूर्णमासवन्मुख्येऽग्निहोत्रे वेदिकरणाभावेऽपि प्रकृते
ध्यानार्था वेदिरुच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह । तदङ्गानां चेति । अग्निहोत्रवदग्न्युद्धर-
णायोगमुक्त्वा कालद्वयावरेभ्योऽपि नास्तीत्याह । भोजनेनेति । अग्न्युद्धरणादावुक्त-
न्यायमविदिशति । एवमिति । आदिशब्देन परिस्तरणादयो गृह्यन्ते । सिद्धान्तसू-
त्रार्थमुपसंहरति । तस्मादिति । धर्मलोपमपि श्रुतिसहमाना सुतरां न सहते धर्मि-
लोपमित्युक्तमनूय दूषयति । यत्त्विति । धर्मलोपाभावपक्षे धर्मोऽपि न लुप्यते न
चैवावता धर्मिणो नित्यतेत्यर्थः । अतिथिभोजनोत्तरकालता स्वामिभोजनस्य श्रुतिस्मृति-
सिद्धा तत्कथं प्राथम्यविधानं तत्राऽऽह । न हीति । प्राणाग्निहोत्राविरिक्तविषयं
स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः । प्राणाग्निहोत्रस्य प्राथम्ये कथमागन्वुक्तत्वं

वचनस्यातिभारः । न त्वनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयेतुम् ।
तस्माद्गोचनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥ (२६)

तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्ग्रथप्र-
तिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥ (२७)

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि “ओमित्येतदक्षरमुद्गी-
थमुपासीत” [छा० १।१।१] इत्येवमादीनि । किं तानि नित्या-
न्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति
विचारयामः । किं तावत्प्राप्तं नित्यानीति । कुतः । प्रयोगवचनपरि-

तत्राऽऽह । न त्विति । अनेन प्राथम्यविधानेनेति यावत् । अस्य प्राणाग्निहोत्रस्ये-
त्यर्थः । तस्य नित्यतां विना प्राथम्यसिद्धेरुक्तत्वादिति भावः । आदरोक्तेरन्यथासिद्धौ
फलितमाह । तस्मादिति । प्रतिनिधिन्यायो नावतरतीति फलितं वक्तुमिती-
त्युक्तम् ॥ ४१ ॥ (२६)

वैश्वानरविद्याङ्गप्राणाहुतीनामनित्यत्वोक्तिप्रसक्त्या कर्माङ्गसङ्गिनामपि ज्ञानानामनि-
त्यत्वमाह । तन्निर्धारणेति । अङ्गावबद्धोपासनानि विषयत्वेनोपन्यस्यति । सन्तीति ।
उभयविधदृष्टान्तदृष्ट्या संशयमाह । किमिति । यथा द्रव्यसंस्कारकर्मसु क्रत्व-
र्थेषु फलश्रुतेरर्थवादत्वादगत्या रात्रिसत्राणां विपरिणामेऽपि प्रकृतेषु क्रतूपकारस्य
सिद्धत्वादिपरिणामायोगात्क्रतूपकारद्वारा पर्णमयीत्वं प्रयाजादिवत्तत्र नित्यमिष्टं तथैवा-
न्यङ्गसङ्गान्युपासनानि कर्मसु नित्यान्येवेत्येको विकल्पः । यथा प्राकृतात्प्रणयनाश्रयो
गोदोहनोपरागः पशुभ्यो विधीयते यथा च कांस्योपरागस्तदाश्रयो ब्रह्मवर्चसफलोऽ-
भिलष्यते बैल्वश्चान्नाद्यफलो यूपाश्रयो दृश्यते तथैवान्युपासनानि कर्मस्वनित्यानीति
विकल्पान्तरम् । अत्र चाङ्गाश्रितोपास्तीनां क्रतुषु नित्यत्वानित्यत्वनिरूपणद्वारा
वाक्यार्थोद्दिष्टनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे यथोक्तोपास्तीनां क्रतुषु पर्णवादिव-
दावश्यकत्वम् । सिद्धान्ते वद्राहित्यमङ्गीकृत्य विमृशति । किमिति । अनित्यभो-
जनाश्रितप्राणाग्निहोत्रानित्यत्ववन्नित्यकर्माङ्गश्रितोपास्तीनां नित्यतेति पूर्वपक्षयति ।
नित्यानीति । क्रतुप्रकरणपाठात्प्रयोगवचनापरिमहादुपास्तीनां नास्ति क्रतुषु नित्य-
तेति शङ्कते । कुत इति । अव्यभिचारिवक्रतुसंबद्धजुहुद्वारा पर्णवादुद्गी-
थादिद्वारेणोपास्तीनामपि क्रतुसंबन्धात्प्रयोगवचनपरिमहादमूषां क्रतुषु नित्यतेत्याह ।
प्रयोगेति । क्रत्वङ्गतामप्रयोगवचनपरिमह्योरन्योन्याश्रयत्वात्प्रकरणान्तरत्वाच्च नोपा-

१ क. अ. ठ. द. फलं । २ क. अ. ठ. द. 'ति क' । ३ ठ. द. 'समित्यङ्गी' । ४ अ. क.
ठ. द. 'रणपा' । ५ क. अ. ठ. द. 'बन्धजु' । ६ ठ. द. 'त्पकारान्त' ।

ग्रहात् । अनारभ्याधीतान्यपि छेतान्युद्गीथादिद्वारेण
 क्रतुसंबन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते । यत्त्वेषां
 स्ववाक्येषु फलश्रवणम् “ आपयिता ह वै कामानां भवति ”
 [छा० । १ । १ । ७] इत्यादि तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवा-
 दमात्रमेवापापश्लोकाश्रवणादिवन्न फलप्रधानम् । तस्माच्चथा यस्य
 पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीत्येवमादीनामप्रक-
 रणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशोत्पकरणपठितवञ्चि-
 त्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । तन्निर्धारणा-
 नियम इति । यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि
 रसतम आग्निः समृद्धिमुख्यप्राण आदित्य इत्येवमादीनि नैतानि
 नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन् । कुतः । तदृष्टेः । तथा ह्यनित्यत्वमेवं-
 जातीयकानां दर्शयति श्रुतिः “ तेन्मेभौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद
 यश्च न वेद ” [छा० १ । १ । १०] इत्यविदुषोऽपि क्रिया-

स्वीनां तत्परिग्रहः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । अनारभ्येति । अङ्गान्तरं पर्णमयीत्वादि ।
 उपास्वीनां फलान्तरश्रुतेरस्ति स्वातन्त्र्यमित्याशङ्क्याऽऽह । यत्त्विति । क्रतुप्रकार-
 द्वारेण व्यवहितफलोपादानादव्यवहितश्रुतफलस्य साध्यत्वविपरिणामः श्रेयानित्यपा-
 पश्लोकश्रुतेरपि फलविधित्वमेवेत्याशङ्क्याऽऽह । नेति । कचिदगत्या विपरिणामेऽपि
 प्रकृते कर्माङ्गत्वं गतिरिति न विपरिणामसिद्धिरित्यर्थः । अङ्गाश्रितोपासनानि
 प्रयोगवचनेन क्रत्वङ्गत्वयोपादेयानि साध्यफलोक्तिशून्यत्वे सति क्रत्वङ्गसङ्गितया
 विहितत्वात्पर्णमयीत्वादिवदिति मत्वोपसंहरति । तस्मादिति । एवमादीनामित्यादि-
 शब्देन यदाऽङ्के चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृक्षे यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्य-
 ज्ञस्य क्रियत इत्यादि गृह्यते । जुह्वादिद्वारेणेत्यत्राऽऽदिपदेन कर्तृग्रहणम् । उद्गी-
 थाद्युपासनानां कर्मसु नित्यत्वादिविदुषो न कर्मेति प्राप्तमनूद्य सिद्धान्तयति । एवमिति ।
 मतिज्ञां विभजते । यानीति । नित्यं पर्णमयीत्वादिवदित्येतदनुमानवो नियमे निवे-
 दिते नानियममतिज्ञेति शङ्कते । कुत इति । तत्र सूत्रपदमवतारयति । तदृष्टेरिति ।
 र्षस्य नियमेस्य दृष्टेरिति व्याचक्षाणः श्रौतैर्लिङ्गैर्विद्यानामनङ्गत्वसाधनैरनुमानं बाध्यमि-
 त्याह । तथाहीति । तेनेत्योकाराख्यमक्षरमुक्तम् । एतदक्षरमुद्गीथावयवभूतमेवं रस-
 तमादिगुणकं यो वेद यश्च न तथा तावुभावपि ज्ञाज्ञौ कर्म कुरुत इति योजना ।

१ क. ड. ज. अ. ‘नेनाज्ञा’ । २ क. ड. ज. अ. ‘त्रमपा’ । ३ ट. ‘वणव’ । ४ ड. लोकं ।
 ५ ड. अ. ‘शास्त्रप्रक’ । ६ ड. अ. ‘मेवैत्र’ । ७ क. ख. ठ. ड. ‘त्वत्पर्य’ । ८ ठ. ड. ‘तस्यानि’ ।
 ९ ठ. ड. ‘मस्याह’ ।

भ्यनुज्ञानात् । प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रा-
दीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् “प्रस्तोत्तर्यां देवता प्रस्तावम-
न्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि” [छा० १ । १० । ९]
“तां चेदविद्वानुद्रास्यसि” [छा० १ । १० । १०] “तां चेद-
विद्वान्प्रतिहरिष्यसि” [छा० १ । १० । ११] इति च । अपि
चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः
फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्धयप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः
कश्चित् “तेनोभौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु
विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवति” [छा० १ । १ । १०] इति । तत्र नाना त्विति
विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तर्पप्रत्यय-
प्रयोगाद्विद्याहीनमपि वीर्यवदिति गम्यते । तच्चानित्यत्वे
विद्याया उपपद्यते । नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्य-
नुज्ञापेत् । सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः । तथा लोकसा-
मादिषु प्रतियोगतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते “ कल्पन्ते

विद्यायाः कर्माङ्गत्वानियमे लिङ्गान्तरमाह । प्रस्तावादीति । तां चेदविद्वान्प्रस्तो-
ष्यसि मूर्धां ते विपतिष्यतीति चाक्रायणेनाऽऽक्षेपकरणादविद्वत्ता प्रस्तोत्रादेः सिद्धे-
त्यर्थः । उद्गीथाद्युपास्तीनां पृथक्फलश्रवणादपि न कर्माङ्गत्वेत्यवशिष्टसूत्रावयवं व्याचष्टे ।
अपिचेति । ज्ञानाभावे कर्मफलप्रतिबन्धे ज्ञानस्य कर्माङ्गता स्यादित्याशङ्क्याऽऽह ।
तदिति । कर्मफलस्य वीर्यवत्तरत्वं ज्ञानफलं तदभावेऽपि वीर्यवदेव कर्म-
त्यर्थः । फलभेदे मानमाह । तेनेति । पूर्वपक्षमुपन्यस्य श्रुतिः स्वयमेव तुल्यत्वेन
निरस्यति । नाना त्विति । भिन्नफलत्वं नानात्वम् । इष्टं हि मणिविक्रये शस्त्रव-
णिजोर्ज्ञानभावामावाभ्यां फलवैलक्षण्यम् । तस्माद्यदेव कर्म विद्यया प्रकृतोद्गीथाद्यर्थया
करोति श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या तथोपनिषदा तत्तद्देवताध्यानेनेत्यर्थः । श्रुतेस्तात्पर्य-
माह । तत्रेति । किं तावता ते सिद्धं तत्राऽऽह । तच्चेति । विद्याहीनस्य कर्मणो वीर्य-
वत्त्वं कर्मणि तदनित्यत्वगमकमिति व्यतिरेकतः स्फुटयति । नित्यत्वे त्विति । अङ्गिमा-
त्रस्य फलं वीर्यवत्त्वमङ्गसहितस्य तु वीर्यवत्तरत्वमित्यनुज्ञोपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह । सर्वेति ।
कर्मसमृद्धयतिरिक्तमपि फलं विद्यायाः श्रुतं ततोऽपि तस्या न कर्माङ्गत्वेत्याह । तथेति ।

१ क. ज. 'पि च प्र' । २ क. ज. ज. ट. 'ति । अ' । ३ क. ज. 'रपः प्रयो' । ४ क. ज.
ज. 'याविही' । ५ क. ड. ज. ज. 'पि कर्म वी' । ६ क. मन्वते । ७ क. ड. ज. ज. 'वदभ्यु' ।

हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चाऽऽवृत्ताश्च” [छा० २।२।६] इत्येवमादीनि ।
न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम् । तथा हि
गुणवाद आपद्येत फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः । प्रयाजा-
दिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति
युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम् । तथाऽनारभ्याधीतेष्वपि पर्णम-
यीत्वादिषु । न हि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्त-
रेण फलसंबन्धोऽवकल्पते । गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्रणय-
नां चाश्रयलामाहुपपन्नः फलविधिः । तथा बैलवादीनामपि

लोकसामादिषु लोकदृष्ट्या सामाद्युपासनेष्विति यावत् । कल्पन्ते भोगाय समर्था भव-
न्त्यस्मै विदुषे लोका भोगभूमयो भूमेरुपरिष्ठातवोऽधस्ताच्च व्यवस्थिता ऊर्ध्वा आवृत्ताश्चे-
त्युक्ताः । आपयित्वा ह वै कामानामित्यादेरर्थवादत्वान्न च फलप्रधानतेत्युद्गीथाद्युपास्तीनां
कर्मसु नित्यत्वोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । अर्थवादमात्रत्वे फलश्रुतेर्विधेयप्रा-
शस्त्यलक्षणयाऽत्यन्तपरोक्षो वृत्तिः स्यात् । फलपरत्वे तु वर्तमानापदेशिनोऽपि
साक्षात्फलप्रतीतेर्मुख्यवादासिद्धिः । ततो मुख्ये संभवति लक्षणाश्रयणमयुक्तमित्याह ।
तथा हीति । तर्हि प्रयाजादिष्वपि फलश्रुतेर्नार्थवादमात्रत्वं तत्राऽऽह । प्रयाजा-
दिष्विति । दर्शपूर्णमासादिप्रकरणस्थत्वेन प्रयाजादीनां तदङ्गत्वान्न पृथक्फलवत्त्वमिति
तत्फलश्रुतेरर्थवादतेत्यर्थः । तर्हि पर्णमयीत्वादिषु प्रकरणाभावात्पृथक्फलवत्त्वसिद्धेर्न
फलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वं तत्राऽऽह । तथेति । किं तेषां साक्षादेव फलवत्त्वं किंवा
ऋतुद्वारेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति । न हीति । द्वितीये ऋतोर्द्वयसाकाङ्क्षत्वा-
त्पर्णमयीत्वस्य च पुमर्थत्वाय तद्योगापेक्षत्वाज्जुहूप्रकृतिद्वयार्पकवाक्यात्ऋतुयोगे
पृथक्फलवत्त्वायोगादुक्तफलश्रुतेरर्थवादतेति भावः । गोदोहनादीनामपि तर्हि द्रव्यत्वा-
त्पर्णमयीत्वादिवत्ऋतुसंबन्धान्न पृथक्फलवत्त्वं तत्राऽऽह । गोदोहनेति । तस्मिन्सी-
देतिमन्त्रप्रदानां साकाङ्क्षत्वेऽपि स्योनं ते सदनमित्यादीनामाकाङ्क्षाभावान्मिथःसंब-
न्धाभाववद्गोदोहनाकाङ्क्षादीनां साकाङ्क्षत्वेऽपि प्रणयनादेश्वमसयूपाद्याश्रयलामादाका-
ङ्क्षाभावाद्वाक्यीयऋतुसंबन्धासिद्धेस्तादर्थ्येनाविधेयत्वाद्युक्तं पृथगेव फलमुद्दिश्य विधा-
नमित्यर्थः । बैलवमन्त्राद्यकामस्य यूपं कुर्यात्त्वादिरे वीर्यकामस्वेत्यादिषु फले विधान-
वत्पर्णमयीत्वादिष्वपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तथेति । बैलवादिदध्यादीनामु-

प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभोदुपपन्नः फलविधिः । न तु पर्णमयीत्वा-
दिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति । वाक्येनैवं तु जुह्वा-
द्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः
स्यात् । उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथा-
द्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते । तस्माच्चथा क्रत्वाश्रया-
ण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्पेवमुद्गीथाद्युपासनानी-
त्यपि द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्यु-
पासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥ (२७)

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ (२८)

वाजसनेयके “ वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे ” [बृ० १ । ५]

पपन्नः फले विधिरिति संबन्धः । तत्र हेतुमाह । प्रकृतेति । तेषु प्रकृतक्रतुसं-
बन्धियूपहोमादिराश्रयोऽस्ति प्रत्यक्षविधिश्रुतेः साक्षात्कर्मिवादयुक्तफलश्रुतेश्च युक्त-
स्तेषां फले विधिरित्यर्थः । पर्णमयीत्वादिषु वैषम्यमाह । न त्विति । एवंविधो
यूपादितुल्यस्तेषामनारभ्याधीतत्वादित्यर्थः । ननु पर्णमयीत्वादीनां विना प्रकरणं
वाक्यादेव फले विधिः स्यान्नेत्याह । वाक्येनेति । पर्णवादीनां जुह्वादिद्वारा क्रत्वा-
श्रयताया वाक्यीयत्वत्तत्र वाक्यवातापर्यकल्पने फलसंबन्धप्रतिप्रदाने च तत्कल्पने
वातापर्यभेदाद्वाक्यभेदापातान्न युक्तस्तेषु फले विधिरित्यर्थः । पर्णमयीत्वादिषु फलश्रु-
तेरर्थवादत्वमुपपाद्योद्गीथाद्युपासनेषु तेभ्यो वैषम्यमाह । उपासनानां त्विति । वासां
व्यापाररूपत्वादव्यापारात्मकपर्णवादिभ्यो वैलक्षण्यात्फलवत्त्वेऽपि च विधानसिद्धेः
स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवद्वाक्यभेदाभावाद्युक्तं फलविधीनामत्यर्थः । प्रस्तुतोपास्तीनां
प्रकरणादिना क्रत्वर्थाश्रिततायाः सिद्धत्वात्तदाश्रयेण गोदोहनादिवद्विशिष्टफलोद्दे-
शेन विधानसंभवे फलितमुपसंहरति । तस्मादिति । उद्गीथादिविधानां पर्णवादि-
वत्कर्माङ्गत्वाभावे लिङ्गान्तरमाह । अत इति । अङ्गत्वाभावादेवेति यावत् । तथाच
विदुष इवाविदुषोऽपि कर्माधिकारोऽस्तीति भावः ॥ ४२ ॥ (२७)

पृथगप्रतिबन्धः फलमिति फलपृथक्त्ववदुपगमनपृथक्त्वमाह । प्रदानवदिति ।
बृहदारण्यके छान्दोग्ये चाधिदैवाध्यात्मभेदेनोक्तौ बायुप्राणावुदाहरति । वाजसनेयके

१ क. 'भात् । न । २ ट. 'व जु' । ३ क. ज. ट. 'ले वि' । म. 'ले च वि' । ४ ज. म.
फलवि' । ५ क. ड. ज. म. ट. 'नान्यपीति इ' । ६ क. ख. ठ. ड. 'बन्धी यू' । ७ क. ड.
'कमिवा' । ८ ठ. ड. 'त्येन वि' । ९ म. 'धानासि' । १० ठ. ड. फले वि' । ११ क. म. 'अणे
गो' । १२ क. म. 'धत्तादि' । १३ ठ. ड. 'यक्ताप्र' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ४३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९३१

२१] इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदै-
वेतमग्न्यादीनां वायुः । तथा छान्दोग्ये “ वायुर्वाव संवर्गः ”
[छा० ४ । ३ । १] इत्यत्राधिदैवेतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽ-
वधारितोऽध्यात्मं वागादीनां प्राणः । तत्र संशयः । पृथगेवेमौ
वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथगेवेति । अपृथगेवेति ताव-
त्प्राप्तं तत्त्वाभेदात् । न ह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं
न्याय्यम् । दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्
“अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्” [ऐत० २ । ४] इत्यारभ्य ।
तथा “ त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः ” [बृ० १ । ५ ।
१३] इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां
दर्शयति । तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा
तत्त्वाभेददर्शनं भवति । कचिच्च “ यः प्राणः स वायुः ” इति
स्पष्टमेव वायुं प्राणं “चैकं करोति” । तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्रा-
ह्मणे “ यतश्चोदेति सूर्यः ” [बृ० १ । ५ । २३] [कठ० ४ । ९]

इत्यादिना । श्रेष्ठत्वमभ्यन्तरेणोत्कृष्टत्वम् । तयोर्भेदाभेदादिवाक्याभ्यां संशयमाह ।
तत्रेति । अत्र वायुप्राणयोरुपगमनविद्योक्त्या वाक्यार्थधीहेतोरेव कथनात्पादादिसं-
गतिः । पूर्वपक्षे विधैक्यात्मवृत्तिर्भेदासिद्धिः । सिद्धान्ते तदैक्येऽपि गुणभेदात्तत्तिसिद्धि-
रिति सिद्धवत्कृत्य पूर्वपक्षयति । अपृथगिति । फलभेदात्कर्माङ्गानां तद्युक्तोपास्तीनां
च नित्यत्वान्नित्यत्वरूपप्रयोगभेदवद्वायुप्राणयोस्तत्त्वाभेदेऽतत्प्राप्तिफलैक्याच्चोपास्तिप्र-
योगैक्यमिति भावः । तत्त्वाभेदेऽपि कथमपृथगनुचिन्तनं तत्राऽऽह । नेति । न खल्वे-
कस्मिन्नग्निहोत्रे प्रयोगभेदोऽस्तीत्यर्थः । तत्त्वभेदे मानमाह । दर्शयतीति । वायुः
प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदिति श्रुतिरत्रोपयुक्ता । आध्यात्मिकप्राणस्याऽऽधिदैवि-
कवायवभेदे लिङ्गमाह । तथेति । अध्यात्ममधिदैवं च तयोस्तत्त्वाभेदे सर्वश्रुतिसंमति-
माह । तथाऽन्यत्रेति । वायुप्राणयोस्तत्त्वाभेदे वाक्यमपि मानमित्याह । कचिच्चेति ।
अथेममेव नाऽऽप्रोन्मृत्युर्योऽयं मध्यमः प्राण इत्युपक्रम्य प्राणाद्वा एष सूर्य उदेती-
त्युपसंहाराच्च तयोरेक्यमित्याह । तथेति । यदि पृथगनुचिन्तनं तयोर्विधित्सितं तर्हि
तदङ्गवोपदेशोऽपि पृथगेव स्यात् । इह च प्राण्यादिति प्राणने प्राप्तेऽपान्यादि-

१ क. ड. अ. “वम” । २ क. ड. अ. “वम” । ३ ड. अ. “रितः “ प्राणो वाव संवर्गः ”
इत्यत्राध्या” । ४ ड. अ. “यः । किं पृ” । ५ ड. ज. ट. “थगेवेमौ” । ६ क. ड. ज. अ. “थगिति” ।
७ ड. अ. “था” अत । ८ क. ड. अ. “दैवं च” । ९ ड. अ. “ति विस्प” । १० ड. अ. “चैकीक” ।
११ क. “दात्प्रा” । १२ ठ. ड. तत्त्वा” ।

इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके “ प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्त-
मेति” [बृ० १ । ५ । २३] इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्श-
यति । “ तस्मादेकमेव ब्रतं चरेत्प्राण्याञ्चैवापान्याच्च ” [बृ०
१ । ५ । २३] इति च प्राणब्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति ।
तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् “ महात्मनश्चतुरो देव एकः कः
सं जगारं भुवनस्य गीपाः ” [छा० ४ । ३ । ६] इत्येकमेव
संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एवैषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषां-
मिति । तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । पृथगेव
वायुप्राणानुपगमन्तव्याविति । कस्मात् । पृथगुपदेशात् । आध्या-
नार्थो ह्यर्थमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽस्त्याध्यानपृथक्त्वेऽ-

त्यपाननमुक्त्वा तस्मिन्प्राप्ते प्राण्यादिति प्राणनवचनेन प्राणापाननिरोधं कुर्यादित्ये-
कमेव ब्रतं दर्शयति । ततश्चापृथगनुचिन्तनमित्याह । तस्मादिति । छान्दे-
ग्यालोचनायामपि तयोः स्वरूपाभेदधीरित्याह । तथेति । वायुं प्राणं च संवर्गे-
गुणकं भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गमेकमेव गमयतीति संबन्धः । महात्मन
इति द्वितीयाबहुवचनम् । चतुरश्वतुःसंख्याकानग्निसूर्योद्भूतकचन्द्रानन्याश्च वाक्चक्षुः-
श्रोत्रमनोलक्षणानेको निरपेक्षः सन्क्रो देवः प्रजापतिर्जगार गीर्णवानुपसंहृतवानिति
यावत् । भेदे मानाभावादपि तयोरैक्यमित्याह । नेति । बहुश्रुत्यालोचनया वायु-
प्राणैक्यसिद्धेस्तदुपास्तरेपि तदधीनत्वादभेदः । न चाध्यात्माधिदैवगुणभेदाद्वेदस्तदभे-
दोक्तेरुत्पन्नोपास्तिसंयोगाद्वेदकत्वायोगान्नो खल्वग्निहोत्रं जुहोतीत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्य
दधितण्डुलादिभेदाद्वेद उत्पद्यमानकर्मयोगिगुणभेदस्यैव भेदकत्वात् । तस्मादुत्पन्नो-
पास्तियोगित्वाद्गुणभेदस्योपास्तभेदाभावात्पृथगनुचिन्तनमित्युपसंहरति । तस्मादिति ।
उक्तं नीत्या विधैक्येऽप्यध्यात्माधिदैवगुणभेदात्प्रवृत्तिभेदः सायंप्रातःकालगुणभेदादे-
कस्मिन्नप्यग्निहोत्रे प्रवृत्तिभेदवदिति सिद्धान्तयति । इवमिति । उपास्त्यैक्यात्प्र-
योगैक्योक्तेन पृथगनुचिन्तनमिति शङ्कते । कस्मादिति । अग्निहोत्रस्येव दधितण्डुलादि-
ध्यानस्य प्रकृते भेदोपदेशात्पृथगनुचिन्तनासिद्धिरित्याह । पृथगिति । तदेव विवृणोति ।
आध्यानेति । तौ वा एतौ संवर्गाविति वाक्यस्योपास्त्यगुणविशिष्टभेदवाचिनो
भेदेनानुचिन्तने तात्पर्याद्वाक्यप्रामाण्याद्वेदेनैव चिन्तनमित्यर्थः । पूर्वपक्षबीजमनुव-

१ ट. 'प्राणापा' । २ क. 'नैकै' । ड. ज. झ. 'नैवै' । ३ क. ड. ज. झ. अ. ट. तो ।
४ क. ज. ट. 'र' इ' । ५ ड. ट. गोप्ता 'इ' । ६ ड. ज. झ. ट. एकैषां । ७ ड. अ. 'षा' ।
त' । ८ ड. ट. 'यमाध्या' । ९ ट. 'न्दोग्ये लो' । १० क. झ. 'स्तरीया' । ११ क. झ.
'ध्यानाः प्रकृ' ।

[अ० ३पा० ३सू० ४३] भानन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९३३

नर्थक एव स्यात् । ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति ।
 नैष दोषः । तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तन-
 भेदोपपत्तेः । श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्य-
 मानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात् । “स यथैषां
 प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः ” [बृ०
 १ । ५ । २२] इति चोपमानोपमेयकरणात् । एतेन व्रतोप-
 न्यासो व्याख्यातः । “ एकमेव व्रतम् ” [बृ० १ । ५ ।
 २३] इति चैवकारो वागादिब्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्वर्थः ।
 भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि “ तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोप-
 येमे ” [बृ० १ । ५ । २१] इति श्रुतेः । न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः
 “ अथातो व्रतमीमांसा ” [बृ० १ । ५ । २१] इति प्रस्तुत्य
 तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । “ एकमेव व्रतं
 चरेत् ” [बृ० १ । ५ । २३] इति चोक्त्वा “ तेनो एतस्यै देव-

दवि । नन्विति । उपास्यतया प्रधानभूतसंवर्गगुणकवायुप्राणधर्मभेदविषयेण वाक्येन
 गुणभूतसमीरणस्वभावैक्यविषयं वाक्यं बाध्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह । नेति । यतश्चोदेवी-
 त्यादिश्लोकोक्तेर्वायुप्राणैक्यासिद्धेरुपास्तेरपि तथात्वादपृथगुपगतिरित्याशङ्क्याऽऽह ।
 श्लोकेति । सूर्योदयास्तमयंयोर्वाय्वधीनत्वात्तदभेदविषया प्राणात्सूर्योदयास्तम-
 यावुक्तौ ततोऽध्यात्माधिदैवविभागोक्तस्य ध्येयभेदस्य निरासे श्लोकस्य न सामर्थ्य-
 मित्यर्थः । इतोऽपि विशिष्टध्येयभेदोऽस्तीत्याह । स यथेति । यत्तु प्राणव्रतेनोपसंहा-
 रादैक्ये सत्यपृथगुपगमनमिति तत्राऽऽह । एतेनेति । श्लोकस्य स्वरूपैक्याभिप्रायत्व-
 वादेन व्रतवचनमपि तत्त्वाभेदाभिप्रायं युक्तमित्यर्थः । एवकारश्रुतेरपृथक्प्रवृत्तिरत्र
 भावीत्याशङ्क्याऽऽह । एकमिति । किमिति वागादिब्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतं साध्यते
 तत्राऽऽह । भग्नैति । वायुव्रतनिवृत्त्यर्थमेवावधारणं किं न स्यात्तत्राऽऽह । नेति । अथे-
 ममेव नाऽऽप्नोदित्यध्यात्मं मुख्यप्राणस्य मृत्युनाऽनाप्तत्वमधिदैवतं चान्यादीनां ज्वल-
 नादिब्रतभङ्गमुक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वमुक्तम् । निम्लोचैत्यन्या देवता न वायुरिति न
 वायुव्रतनिवृत्तिरेवकारार्थ इत्यर्थः । फलोक्तिरपि वायुव्रतनिवृत्त्यभावं दर्शयतीत्याह ।
 एकमिति । तेन व्रतेनापिशब्देन समानार्थः सन्नशब्दः सायुज्यं सलोकता-
 मपीत्युपरि संबध्यते । एतस्या एतस्या देवतायाः सायुज्यं समानदेहतां वा सालोक्यं
 समानलोकतां चोपास्तेस्वारतम्याज्जयति प्राप्नोतीत्यर्थः । अन्यव्रतानुष्ठानादन्याप्राप्तेरत्र

१ ज. ट. “भेदेनाप” । २ ठ. ड. “पपत्तिरि” । ३ ठ. ड. “प्रायमुक्त” । ४ ठ. ड. “तम्” । ५ क.
 ख. ड. “चलन्या” । ६ ठ. ड. “तां वोपा” । ७ ठ. ड. “त्र वा” ।

तायै सायुज्यं सलोकतां जयति ” [बृ० १ । ५ । २३] इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति । देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेप्सितत्वात् । पुरस्तात्प्रयोगाच्च “ तेषां नस्तमिता देवता यद्वायुः ” [बृ० १ । ५ । २२] इति । तथा “ तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेष देवेषु प्राणः प्राणेषु ” [छा० ४ । ३ । ४] इति भेदेन व्यपदिशति “ ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम् ” [छा० ४ । ३ । ८] इति च भेदेनैवोपसंहरति । तस्मात्पृथगेवोपगमनम् । प्रदानवत् । यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रियाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञ इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्पेच्छं वेदृकारमिति । अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सह-

च वायुप्राप्तिर्देशज्ञा तद्वतनिवृत्तिरिति श्रुतिवात्पर्यमाह । वाय्विति । देवताप्राप्तिरेवात्र श्रुता न वायुप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । देवतेति । अन्यादीनपेक्ष्यानवच्छिन्नो देवो वायुस्ते तु तेनैवावच्छिन्ना इति संवर्गगुणो वायुरनवच्छिन्ना देवता तदात्मत्वमप्राऽऽमुषिष्ठमतो देवतामिवायुप्राप्तिरित्यर्थः । न केवलं प्रकरणालोचनया देवता वायुः किं तु साक्षादेव श्रुतेरित्याह । पुरस्तादिति । यत्तु पृथगुपदेशात्पृथगुपनयनमुक्तं वदिदानीं विवृणोति । तथेति । संवर्गभेदेनोपक्रमवद्भेदेनोपसंहारादपि पृथगनुचिन्तनमित्याह । ते वा इति । उपक्रमोपसंहारैकरूप्यफलमुपसंहरति । तस्मादिति । तत्रोदाहरणमवतार्य व्याचष्टे । प्रदानवदिति । त्रयः पुरोडाशा यस्यां सा त्रिपुरोडाशिनी तस्यामुत्पत्तिवाक्यमुदाहरति । इन्द्रायेति । किं तस्यां सह प्रदानं किंवा भेदेनेति संदेहे पूर्वपक्षमाह । सर्वेषामिति । याज्ञिकः खल्वस्यामिष्टौ युगपदेवावदानं कुर्वन्ति तेन सर्वेषां देवताविशेषाणामभिगमयन्प्रापयन्नपर्यायेणैव पुरोडाशानवद्यति तत्तद्वर्णयन्तीत्यत्र हेतुमाह । अष्टं वदृकारमिति । अव्यर्थत्वायेति यावत् । एकार्थं सर्ववोऽवदाने शेषो यागानर्थः स्याद्युगपत्सर्वार्थमवदाने त्ववैयर्थ्यमित्यर्थः । उक्ताद्वाक्यात्सर्वार्थं सहावदानश्रुतेर्देवतायां भेदाभावाच्च तत्रयाणां पुरोडाशानां सहप्रदानं प्राप्तमित्याह । अत इति ।

१ क. अ. 'वता ह्यत्र' । २ क. अ. 'तत्त्व' । ३ क. अ. 'मिष्टयां स' । ४ क. 'त्यच्छं व' । ५ क. 'वषट्का' । ६ क. 'स्ते नु ते' । ७ क. अ. 'मत्र प्राप्तु' । ८ क. अ. '८' । ९ क. 'पगमनम्' । १० क. '८ वषट्का' । ११ क. '८ वट्' । १२ क. '८ वट्' । १३ क. '८ वट्' । १४ क. '८ वट्' । १५ क. '८ वट्' । १६ क. '८ वट्' । १७ क. '८ वट्' । १८ क. '८ वट्' । १९ क. '८ वट्' । २० क. '८ वट्' । २१ क. '८ वट्' । २२ क. '८ वट्' । २३ क. '८ वट्' । २४ क. '८ वट्' । २५ क. '८ वट्' । २६ क. '८ वट्' । २७ क. '८ वट्' । २८ क. '८ वट्' । २९ क. '८ वट्' । ३० क. '८ वट्' । ३१ क. '८ वट्' । ३२ क. '८ वट्' । ३३ क. '८ वट्' । ३४ क. '८ वट्' । ३५ क. '८ वट्' । ३६ क. '८ वट्' । ३७ क. '८ वट्' । ३८ क. '८ वट्' । ३९ क. '८ वट्' । ४० क. '८ वट्' । ४१ क. '८ वट्' । ४२ क. '८ वट्' । ४३ क. '८ वट्' । ४४ क. '८ वट्' । ४५ क. '८ वट्' । ४६ क. '८ वट्' । ४७ क. '८ वट्' । ४८ क. '८ वट्' । ४९ क. '८ वट्' । ५० क. '८ वट्' । ५१ क. '८ वट्' । ५२ क. '८ वट्' । ५३ क. '८ वट्' । ५४ क. '८ वट्' । ५५ क. '८ वट्' । ५६ क. '८ वट्' । ५७ क. '८ वट्' । ५८ क. '८ वट्' । ५९ क. '८ वट्' । ६० क. '८ वट्' । ६१ क. '८ वट्' । ६२ क. '८ वट्' । ६३ क. '८ वट्' । ६४ क. '८ वट्' । ६५ क. '८ वट्' । ६६ क. '८ वट्' । ६७ क. '८ वट्' । ६८ क. '८ वट्' । ६९ क. '८ वट्' । ७० क. '८ वट्' । ७१ क. '८ वट्' । ७२ क. '८ वट्' । ७३ क. '८ वट्' । ७४ क. '८ वट्' । ७५ क. '८ वट्' । ७६ क. '८ वट्' । ७७ क. '८ वट्' । ७८ क. '८ वट्' । ७९ क. '८ वट्' । ८० क. '८ वट्' । ८१ क. '८ वट्' । ८२ क. '८ वट्' । ८३ क. '८ वट्' । ८४ क. '८ वट्' । ८५ क. '८ वट्' । ८६ क. '८ वट्' । ८७ क. '८ वट्' । ८८ क. '८ वट्' । ८९ क. '८ वट्' । ९० क. '८ वट्' । ९१ क. '८ वट्' । ९२ क. '८ वट्' । ९३ क. '८ वट्' । ९४ क. '८ वट्' । ९५ क. '८ वट्' । ९६ क. '८ वट्' । ९७ क. '८ वट्' । ९८ क. '८ वट्' । ९९ क. '८ वट्' । १०० क. '८ वट्' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ४३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९३६

प्रदानाशङ्कायां राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधाना-
च्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति । एवं
तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः । तदुक्तं
संक्षेपे “ नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात् ” इति । तत्र तु
द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति । उप-
क्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतिः ।
विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति । अग्निहोत्र
इव सायंप्रातःकालभेदात् । ईत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्यु-
क्तम् ॥ ४३ ॥ (२८)

सिद्धान्तमाह । राजादीति । उत्पत्तिवाक्य एव राजाधिराजस्वराज-
गुणभेदाद्यन्यासां यथावचनं तैत्तिह्यविशिष्टदेवताभेदात्प्रदानस्य प्रक्षेपस्य पृथक्त्व-
मित्यर्थः । किंच त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ.. प्रथमपुरोडाशप्रदाने या याज्या सा पुनः-
प्रयोगेऽनुवाक्या याऽत्र पूर्वमनुवाक्या सा पश्चाद्याज्येति व्यत्यासमन्वहेत्यनेन
विहितं तत्प्रयोगभेदे युज्यत एकस्या ऋच एकस्मिन्प्रयोगे याज्यानुवाक्यात्वविरोधा-
दित्याह । याज्येति । अध्वर्युणा यजेति प्रेषे कृते होत्रा प्रयुज्यमानो मन्त्रो याज्याऽ-
नुब्रूहीति प्रैषानन्तरं प्रयुज्यमानस्तु मन्त्रोऽनुवाक्येति भेदः । पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां दृष्टान्तं
व्याख्याय दार्ष्टान्तिकमाह । एवंमिति । उक्तेऽर्थे देवताकाण्डस्थमधिकरणं प्रदानभे-
दविषयमुदाहरति । तदुक्तमिति । संकल्पयते कर्मकाण्डस्थमेवावशिष्टं कर्म संक्षिप्यो-
च्यत इति संक्षेपे देवताकाण्डं तस्मिन्नेति यावत् । वाशब्दो देवतैर्कत्वाशङ्काव्यावृ-
त्त्यर्थः । नाना देवतेत्यत्र हेतुमाह । पृथगिति । उत्पत्तिवाक्य एव राजाधिराजादिगुणानां
पृथग्ज्ञानात्तत्तद्गुणविशिष्टदेवतानामपि पृथक्त्वस्य युक्तत्वादित्यर्थः । दृष्टान्ते देवताद्र-
व्यभेदात्कर्मभेदवन्दिहापि वायुः प्राण इतिशब्दादादित्यं चरं सौर्यं चरमित्यादि-
ष्ववादित्यसूर्यादिशब्दभेदादिन्न देवताभेदेन विद्याभेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तत्रेति ।
यत्रोत्पत्तिवाक्यादेव नानाद्रव्यदेवतं कर्म दृष्टं तत्र तद्देवो वैश्वदेव्यामिक्षेत्यादिवत् ।
यत्र तूत्पत्ति एव कर्मैक्यं तत्र देवतादिभेदेऽपि न कर्मभेदोऽग्निहोत्रादिवदेव विद्यै-
क्यमित्यर्थः । तर्हि केन साम्येन प्रदानवदित्युक्तं तत्राऽऽह । विद्येति । अग्निहोत्रे
हि सायमाग्निः प्रजापतिश्च देवता सूर्यः प्रजापतिश्च प्रातरनुष्ठानं चोभयत्रान्यादृशं
तथेहापि ध्यानभेदसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥ (२८)

१ ट. 'दानश' । २ क. झ. 'भ्यामाध्या' । ३ झ. 'त्वमाध्या' । ४ ड. ज. 'इत्यभि' । ५ क.
ठ. तद्गु' । ६ क. ड. या च पू' । ७ ठ. ड. 'कत्वश' । ८ ठ. ड. 'व्यदेव' । ९ झ. ठ. ड. 'वदिह
त्वमिहोत्रादिवदे' ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेपिनोऽग्निरहस्ये “नैव वा इदमग्रे सदासीत्” इत्येतस्मिन्-
ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते’ “तत्षट्त्रिंशत् सहस्राण्यपश्यदा-
त्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः” इत्यादि । तथैव “वाक्चितः
प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः” इति पृथ-
गग्नीनामनन्ति सांपादिकान् । तेषु संशयः । किमेते मनश्चिदा-
दयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका
इति । तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजा-
नीते लिङ्गभूयस्त्वादिति । भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे
केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्गलयन्ति दृश्यन्ते “तद्यत्किंचे-
मानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः” इति

वायुविद्योक्त्यनन्तरं सांपादिकाग्निविद्यास्त्रिन्वामारभते । लिङ्गेति । सांपादिकान-
ग्नीन्क्रियाप्रकरणस्थान्मनश्चिदादीन्विषयत्वेनोपन्यस्यति । वाजसनेपिन इति ।
उत्पत्तेः प्रागिदं सर्वं नैव सदासीन्नाप्यसदित्युपक्रम्य मनसः प्रादुर्भावमुक्त्वा तदात्मा-
नमैक्षतेवीक्षणपूर्वकं तन्मन आत्मनोऽग्नीनपश्यदिति मनोऽधिकृत्य पठन्तीत्यर्थः ।
पुरुषस्याऽऽयुष्टेन ऋषयस्तवर्षान्तर्गतषट्त्रिंशत्सहस्राहोरात्रावाच्छिन्नैर्मनोवाक्प्राणचक्षुः-
श्रोत्रैर्वक्त्रायवृत्तिनिचयैरिष्टकात्वेन भाव्यमानैश्च्रीयमानान्सांपादिकान्मनोऽदन्तीत्याह ।
तदिति । अर्कानर्चनीयान्मनोमयान्मनोवृत्तिभावितत्वाद्वागादिवृत्तिभिरिष्टकात्वेन भावि-
ताभिश्चीयन्त इति वाक्चिदादिनाग्नीनात्मनो वागादयोऽप्यपश्यन्तित्याह । तथैवेति ।
क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वविनियोजकमानदृष्ट्या संशयमाह । तेष्विति । केवलविद्यात्मकत्वं
क्रियानुप्रवेशं विना भावनामयत्वम् । वायुप्राणयोरेकप्रयोगायोगात्प्रयोगभेदेन ध्येयत्वेऽपि
मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगत्वं युक्तमित्याह । तत्रेति । सांपादिकाग्नीनां
केवलविद्यात्मेत्वेन पुरुषार्थत्वसमर्थनद्वारा वाक्यार्थधीदेवोपेवोक्तेरत्र पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे क्रियार्थानामग्नीनां क्रियात्वं सिद्धान्ते पुमर्थानां तेषां केवलविद्यामयत्वमित्य-
ङ्गीकृत्य सिद्धान्तमुपक्रमते । स्वातन्त्र्यमिति । सूत्राक्षराणि योजयति । भूयांसितीति ।
सर्वाण्यपीमानि भूतानि यत्किमपि, मनसा संकल्पयन्ति तेषामेवाग्नीनां सा कृतिः
करणमित्येतत् । प्रकृताग्नीनां स्वातन्त्र्येण भावनामयत्वे लिङ्गं न हि क्रियाङ्गं यत्कि-
ंचित्करणे सिद्ध्यति चोदनैकलभ्यत्वादित्याह । तद्यदिति । एवंविदे स्वपते जाग्र-

१ क. घ. अ. 'ते षट्' । २ घ. 'ट्रिंश' । ३ क. 'स्थान्ति' । ४ ड. 'सदासीदि' । ५ ठ. ड. 'नकाय' । ६ ठ. ड. 'न संभा' । ७ क. ख. षडिति । ८ ठ. ड. 'थपु' । ९ घ. 'तत्त्वत्' ।
१० 'ध्यतीति' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ४५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९३७

“तान्हेतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते” इति
 चैवंजातीयकानि । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तं पूर्व-
 स्मिन्काण्डे “श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां सम-
 वाये पारदोर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्” [जै० सू० ३ । ३ । १३]
 इति ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति । पूर्वस्य
 क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषो-
 पदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः । ननु प्रकरणाच्छिङ्गं बलीयः ।
 सत्यमेवंमेतत् । लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्वलीयो
 भवति । अन्यार्थदर्शनं ह्येतत् । सांपादिकाभिप्रशंसारूपत्वात् ।

तेऽपि तानेतानग्नीन्भूतानि सर्वाणि सर्वदा चिन्वन्तीति लिङ्गान्तरं न हि
 कर्माङ्गं सर्वदा सर्वैरनुष्ठीयते प्रतिनियतदेशकालनिमित्तेषु चोदितत्वादि-
 त्याह । तानिति । कार्यकरणव्यापारैः षट्त्रिंशत्सहस्राहोरात्रावच्छिन्नैरिष्टका-
 त्वेन भावितैरेतैः संपाद्यन्ते । तत्रेष्टकास्वप्निषु च संख्याधिक्यमग्नीनां केवलविद्यात्वे
 लिङ्गम् । न हि क्रियाङ्गत्वे प्रसिद्धसंख्यातिरेकसिद्धिरिति मत्वाऽऽह । एव-
 मिति । प्रकरणादेशं क्रियाङ्गत्वं सिद्धं लिङ्गाच्च स्वातन्त्र्यं तेन संशयः स्यादित्याश-
 ङ्क्याऽऽह । तद्धीति । प्रमाणत्वाविशेषे कुतो बलाबलव्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह ।
 तदपीति ॥ ४४ ॥

सिद्धान्तेनोपक्रम्यायुना पूर्वपक्षंयति । पूर्वैति । पूर्वपक्षं विवृण्वन्नुक्तसिद्धान्त-
 प्रतिज्ञां निषेधति । नैतदिति । संप्रति सहेतुकं पूर्वपक्षं प्रतिजानीते । पूर्वस्येति ।
 इष्टकाभिरग्नींश्चिनुत इत्युक्तक्रियामयान्यधिकारे श्रवणादयमपि सांपादिकाग्न्युपदेश-
 स्वद्विषयो विकल्पोपदेशस्तथाच यथा क्रियाङ्गं क्रियामयोऽग्निस्त्वथा सांपादिकाभिरपि
 तदङ्गं स्यादित्यर्थः । विकल्पाविशेषः प्रकारभेदः । उक्तं सैद्धान्तिकं गतमनुवदति ।
 नन्विति । तेन प्राकरणिकं क्रियाशेषत्वं हित्वा लैङ्गिकं पुमर्थत्वमेष्टव्यमिति शेषः ।
 विध्युद्देशस्थमर्थवादस्थं वा लिङ्गं प्रकरणाद्वलवदिति विकल्प्यऽऽद्यमङ्गीकरोति ।
 सत्यमिति । द्वितीयं दूषयति । लिङ्गमिति । एवंजातीयकं सर्वदा सर्वाणि
 भूतानि चिन्वन्तीत्याद्यर्थवादस्थमिति यावत् । तदेव साधयति । अन्यार्थेति ।

१ क. ज. 'व त' । २ झ. 'दा त्रिवि' । ३ क. झ. विशेषः । ४ स. ठ. 'नि त्रिवि' ।

अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं
न प्रकरणं बाधितमुत्सहते । तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽ-
ग्रयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः । मानसवत् । यथा

न हीदं साधनात्मकं लिङ्गं विध्युद्देशकवाक्यतया तत्परत्वादतो नेदं स्वातन्त्र्येण
प्रमाणकं स्तुतिमात्रत्वादित्यर्थः । अन्यार्थदर्शनानामपि प्रमाणकत्वमाशङ्क्य मूलप्रमाण-
भावे तथाभावेऽपि प्रकृते तदभावान्मैवमित्याह । अन्येति । प्रकृतलिङ्गस्य
प्रकरणाबाधकत्वे फलितमाह । तस्मादिति । एतेन क्रियेति पदं व्याख्यातम् ।
कथमक्रियारूपाणामेतेषां क्रियाशेषत्वं तत्राऽऽह । मानसवदिति । द्वादशाह
श्रूयतेऽनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णावीति । तत्र
किं मानसं द्वादशाहादहरन्तरं किंवा तन्मध्यपातिनो दशमस्याङ्गमिति संदेहे
वाग्वै द्वादशाहो मनो मानसमिति भेदोक्त्या मानसस्य द्वादशाहाद्वेदसिद्धे-
र्द्वादशाहस्य गतरसान्यङ्गानि मानसेनैवाऽऽप्यायन्तीति च मानसेन द्वाद-
शाहस्य स्तुतेः स्तुतिस्तुत्यभावस्य भेदाकाङ्क्षत्वात्पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्ति-
ष्ठन्त इत्युक्त्वा द्वादशाहान्तर्गतानामह्नां पत्नीसंयाजान्तत्वदृष्टेर्मानसस्य च पत्नी-
संयाज्यमानसाय प्रसर्पन्तीति पत्नीसंयाजादुपरिष्ठादेव श्रुतेर्द्वादशाहसंज्ञायाश्च त्रयो-
दशाहेऽपि द्वादशाहसत्त्वेन कथंचिदुपपत्तेर्द्वादशाहादहरन्तरं मानसमिति प्राप्ते मान-
सस्य । त्रयोदशाहत्वे मानाभावाद्द्वादशाहसंज्ञाया गुणवृत्त्या नेतुमयुक्तत्वादङ्गाङ्गि-
भेदेनोक्तिभेदस्य स्तुतिस्तुत्यभावस्य च सिद्धेरह्नां पत्नीसंयाजान्तवायाश्चौत्सर्गि-
कत्वाद्विशेषोक्त्या दशमस्याहो ग्रहणादीनां मानसानां पत्नीसंयाजात्परत्वाविरो-
धादेष वै दशमस्याहो विसर्गो यन्मानसमिति चोक्तेर्विसर्गस्यान्वस्यान्ववतो
धर्मत्वादशमाहरङ्गतावगतेर्दशमेऽहनि मानसाय प्रसर्पन्तीति चाऽऽधारत्वोक्ते-
स्त्वदङ्गमेव मानसं नाहरन्तरमिति राद्धान्वितम् । तदेवं द्वादशाहयोगिनो दश-
मस्याहो मानसमङ्गमिति कर्मभीमांसायामुक्तं तथाऽपि दशरात्रस्य द्वादशाहवि-
कृतित्वात्क्रमेणार्धमेष्वतिदिष्टेषु दशरात्रगंतदर्शमाह्न्यपि द्वादशाहान्तर्गतदशमाह-
रङ्गस्य मानसस्यास्ति प्राप्तिरित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे । यथेति । अविवाक्यमिति
दशमस्याहो नामधेयं विविधानि वाक्यानि यत्र मानसत्वावृत्तिर्जा न सन्ति
तत्तथेति व्युत्पत्तेः । तत्रेदं श्रुतमनया त्वा पात्रेणेत्यादि* त्वां समुद्रमनया
रसया पृथिव्या पात्रेण प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं ध्यानमेयं ग्रहमापाद्याध्वर्युर्गृह्णावीति

१ क. ज. झ. ट. 'था दं' । २ ठ. 'सिद्धर' । ३ ठ. ड. 'त्युक्त्या द्वा' । ४ ड. 'शमेऽह' ।
५ ठ. ड. 'हो मानसमङ्गमिति ना' । ६ क. झ. ठ. ड. 'मयप्र' ।

[भ. ३ पा. ३ सू. ४६।४७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि। ९३९

द्वादशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समु-
द्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणा-
सादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाऽऽम्नायन्ते ।
स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एव भव-
त्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चैवामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलपति “षट्त्रिंशत्सह-
स्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः ” इति ।
सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणैष्टकाचितेन
क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना सांपादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेश-
मेवेषां द्योतयति ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मन-
श्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । तथा हि निर्धार-

वाक्यार्थः । तमिमं सोपैस्करमुपन्यस्यति । पृथिव्यैति । ग्रहणं सोमाधारपात्रस्योपा-
दानमासादनं गृहीतस्य स्वस्थाने स्थापनं ततः सोमस्य होमो हवनं हुतशेषादानमाह-
रणं पश्चाद्वत्विजां तद्भक्षणाय मिथोऽनुज्ञाकरणमुपह्वानं ततोऽवशिष्टस्य सोमस्य भक्ष-
णमित्येतानि मानसान्येवेत्यर्थः । कथमन्यग्रहयोगिनो मानसस्य कल्पनाभेदस्य क्रिया-
नुप्रवेशित्वं तत्राऽऽह । स चेति । उक्तदृष्टान्तादग्निसंबन्धिकल्पनाभेदोऽपि क्रियाधि-
कारमत्क्रियानुप्रवेशीति दार्ष्टान्तिकमाह । एवमिति ॥ ४५ ॥

मनश्चिदाद्यग्नीनां क्रियानुप्रवेशे लिङ्गान्तरमाह । अतिदेशाच्चेति । सूत्रं व्याक-
रोति । अतिदेशश्चेति । तमेव दर्शयति । षडिति । कथं तावता ऋत्विज्ज्ञत्वं तदाह ।
सतीति । क्रियानुप्रवेशमन्तरेणान्यदेव सादृश्यमतिदेशकृतमित्याशङ्क्य तस्य योग्या-
नुपलम्भान्मैवमित्याह । ततश्चेति ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तमाह । विद्यैवेति । परपक्षनिषेधं प्रतिजानीते । तुशब्द इति । सिद्धान्त-
प्रतिज्ञामाह । विद्येति । हेतुं व्याचष्टे । तथा हीति । एवकारश्रुत्या प्रकरणं बाध्य-

यति “ते हैते विद्याचित एव” इति । “विद्यया हेवैत एवंविद-
श्चिता भवन्ति” इति च ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम् । तत्पुरस्ताद्विशितम् “लिङ्गभू-
यस्त्वात्” [ब्र० सू० ३ । ३ । ४४] इत्यत्र ॥ ४८ ॥

नतु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्ये-
त्यप्यास्य तत्प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमित्यत उत्तरं
पठति—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो
बाधितव्यः । श्रुत्योर्देर्बलीयस्त्वात् । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रु-
तिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वात-
न्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् । श्रुतिस्तावत् “ते हैते
विद्याचित एव” इति । तथा लिङ्गम् “सर्वदा सर्वाणि भूतानि
चिन्वन्त्यपि स्वपते” इति । तथा वाक्यमपि “विद्यया हेवैत
एवंविदश्चिता भवन्ति” इति । “विद्याचित एव” इति हि साव-
धारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता
स्यात् । नन्वबाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति ।
नेत्युच्यते । तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयतां स्वरूपसंकी-

मिति भावः । मनश्चिदाद्यग्नीनां विद्यात्मत्वे श्रुतितात्पर्यं वक्तुं श्रुत्याभासं दर्शयन्वा-
क्यमपि समुच्चिनोति । विद्ययेति ॥ ४७ ॥

न श्रुत्यैव प्रकरणं बाध्यं लिङ्गादपीत्याह । दर्शनाच्चेति । तद्विभजते । दृश्यते
चेति । किं तदित्यपेक्षायामाह । तत्पुरस्तादिति ॥ ४८ ॥

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं पूर्वोक्तं चोद्यमनुस्मरयति । नन्विति । तदुत्तरं सूत्रमवतारयति ।
अत इति । न बाध इत्येतद्व्याचष्टे । नैवमिति । हेतुमवतार्य व्याचष्टे । श्रुत्यादीति । तेषां
प्रकरणाद्वलीयस्त्वेऽपि प्रकृते किं जातं वैजाऽऽह । तानि चेति । स्वातन्त्र्यसाधक-
श्रुत्यादिदृष्टिमेव प्रश्नद्वारा स्फुटयति । कथमित्यादिना । तत्र श्रुतिं विवृणोति । विद्येति ।
अवधारणश्रुतेरन्यथासिद्धिं शङ्कते । नन्विति । दूषयति । नेत्युच्यत इति । कृतत्वादभि-

१ क. चैतेषां । २ क. ह. ज. अ. “त्यादिबली” । ३ क. ज. बाधिता । ४ क. म. ट. “ता
विद्यास्व” । ५ ठ. ड. “स्ते प्र” । ६ क. ख. ठ. ड. तदाह ।

तन्नेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत् । स्वरूपमेव शेषामबाह्यसाध-
नमिति । अबाह्यसाधनत्वेऽपि^१ तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां
तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भवति । तथा “ स्वपते जाग्रते
चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति ” इति सातत्य-
दर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते । यथा सांपादिके वाक्प्राणमयेऽ-
ग्निहोत्रे “ प्राणं तदा वाचि जुहोति वाचं तदा प्राणे जुहोति ”
[कौषी० २ । ५] इति चोक्तवोच्यते “ एते अनन्ते अमृते
आहुती जाग्रच्च स्वपञ्च सततं जुहोति ” [कौषी० २ । ५]
इति । तद्वत् । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न
सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत । न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम् ।
यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरूपलभ्यते युक्तं तत्र संकी-
र्तनमात्रस्यार्थवादत्वम् । इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः
संकीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं^२ कल्पनीयम् । तच्च यथासंकीर्त-
नमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव

प्रेतस्याबाह्यसाधनत्वस्य ज्ञातत्वादिति यावत् । स्वरूपसंकीर्तनेन कृतत्वमेव स्फुटयति ।
स्वरूपमिति । विद्याशब्देनैव बाह्यसाधनत्वं व्यञ्जयत्येते चेत्स्वप्नमेवेऽपि किमर्थमवधा-
रणमित्याशङ्क्याऽऽह । अबाह्येति । संप्रत्यवधारणश्रुतिवदेव लिङ्गं व्यनक्ति ।
तथेति । सातत्यं सर्वकालसर्वपुरुषव्यापित्वं तेन हेतुना क्रियानुप्रवेशाभावे दृष्टान्त-
माह । यथेति । तदेति संपादनावस्थोक्तिः । आहुत्योरनन्तत्वमक्षयफलत्वादित्याह ।
अमृते इति । तयोरपि क्रियाङ्गत्वशङ्कां प्रत्याह । जाग्रच्चेति । उक्तदृष्टान्तात्प्रकृता-
ग्नीनां सातत्यदृष्टेर्न क्रियाप्रवेशितेति दार्ष्टान्तिकमाह । तद्वदिति । सातत्यप्रयोगेऽपि
किमित्यग्नीनां क्रियाप्रवेशो न स्यात्तत्राऽऽह । क्रियेति । यत्पुनरर्थवादस्थं लिङ्गं न
प्रकरणबाधकमिति तत्राऽऽह^३ । न चेति । अन्येषां श्रुतिविध्युद्देशानामन्यार्थदर्श-
नानामप्राप्तकत्वेऽपि प्रकृतेषु वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायेन सर्वदा सर्वाणि भूतानि
मदर्थमग्निं चिन्वन्तीति मन्वीतेति विधिः कल्प्यते । अपूर्वार्थत्वादितया भासमानानां
द्योतकत्वमात्राङ्गीकारेण गुणवादाश्रयणायोगादिति मत्वाऽऽह । यत्रेति । उक्तन्यायं

१ ड. अ. 'कमिदम्' । २ ड. अ. 'नत्वमि' । ३ ज. 'त्वे तु' । ४ ड. अ. 'पि मा' । ५ ट.
'याप्र' । ६ क. ड. ज. अ. 'मेतेषां' । ७ ड. अ. 'न्येणैव क' । ८ ड. अ. 'इत्युक्तो' । ९ क. ड.
ज. अ. 'लत्वान्न सा' । १० ड. ज. अ. 'लिङ्गादि' । ११ ड. अ. 'ज्ञानानां वि' । १२ अ. 'तैत्ति' ।
१३ ठ. 'यामु प्र' । १४ क. उक्तं न्या' ।

कल्प्यते । ततश्च सामर्थ्यादिषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः । एतेन “ तच्च-
त्किंचेमानी भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः ”
इत्यादि व्याख्यातम् । तथा वाक्यमपि “ एवंविदे ” इति
पुरुषविशेषसंबन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसंबन्धं मृष्यते । तस्मा-
त्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम् ।
यत्किंवावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबन्नाति “ ते मनसैवाऽऽ-
धीयन्ते मनसा चीर्यन्ते मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुर्वन्मन-
साऽशंसन्यात्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच र्यज्ञियं कर्म
मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमेयमेव क्रियन्ते ” इत्या-
दिना । संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः । न च प्रत्यक्षाः

वाक्यान्तरेऽपि संचारयति । एतेनेति । श्रुतिलिङ्गे विविच्य वाक्यं विविनक्ति ।
तथेति । श्रुतिलिङ्गवाक्येभ्यो भग्नं प्रकरणे फलितमाह । तस्मादिति ॥ ४९ ॥

स्वातन्त्र्ये हेत्वन्तराण्याह । अनुबन्धादिभ्य इति । सूत्रस्य हेत्वन्तरोक्तौ वाच-
र्यमाह । इतश्चेति । तत्रानुबन्धं हेतुं विवृणोति । यदिति । क्रियाङ्गानां मनआदि-
व्यापारेषु संयोजनान्यथानुपपत्त्याऽपि न क्रियाशेषत्वं मनश्चिदादीनामित्यर्थः । तेऽ-
ग्नयो विदुषा मनसैवाऽऽधीयन्ताऽऽधियन्ते छंदसि कालानियमात् । मनसा चीयन्त
इष्टकाश्चीयन्ते । मानसेषु मनश्चित्सग्निषु ग्रहाः पात्राणि विदुषोऽगृह्यन्त गृह्यन्ते ।
मनसैवास्तुवज्जुद्रातृप्रभृतयः स्तुवन्ति । मनसैवाऽशंसन्होत्रादयः शंसन्ति । अन्यदपि
यत्किंचिद्यज्ञेषु पुरुषार्थं क्रियते यच्च यज्ञार्हं क्रत्वर्थं तत्रानुष्ठीयते तत्सर्वमेव मनोमयं
भावनामयं विदुषा मनसैवाक्रियत क्रियत इत्यर्थः । किमर्थमिदमनुबन्धकरणं तदाह ।
संपदिति । उपास्त्यर्थो ह्यनुबन्धस्तथाऽपि मनश्चिदादीनामक्रियाङ्गत्वे किमायावं
तदाह । न चेति । तेषां क्रियाङ्गत्वे साक्षाद्वाऽऽधानादिप्रसिद्धेरनधिका संपदित्यर्थः ।
तर्हि कर्माङ्गयोगादुद्गीथाद्युपासनावदिदमपि क्रियागतमुपासनं स्यान्नेत्याह ।

“ १ क. यतः क्रिया ” । २ झ. “ यन्ते म ” । ३ ड. अ. “ नसैवाऽऽधी ” । ४ क. ड. अ. “ यन्त
म ” । ५ क. “ वत मन ” । ६ ड. अ. “ त्किंचियज्ञे ” । ७ ड. अ. “ त्किंचियज्ञीयं ” । ८ ट. यज्ञीयं । ९ ड.
“ मयं क्रि ” । १० क. ड. अ. “ यमाकि ” । ११ क. ड. अ. “ यत ” इ । १२ क. ड. “ बन्धे ” ।
१३ झ. ठ. ड. “ पा गृह्यन्ते ” ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १४३

क्रियावयवाः सन्तः संपदा लिप्सितव्याः । न चात्रोद्गीथा-
द्युपासनवत्क्रियाङ्गसंबन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैक-
ल्यात् । न ह्यत्र क्रियाङ्गं किंचिदादाय तस्मिन्नदो नामा-
ध्यवसितव्यमिति वदति । षट्त्रिंशोत्सहस्राणि तु मनोवृत्ति-
भेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत् ।
संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्संबन्धिनीषु मनो-
वृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम् । एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चि-
दादीनाम् । आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासंभवं योजयितव्यम् ।
तथा हि “ तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः ” इति क्रिया-
मयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं
दर्शयति । न च सत्येव क्रियासंबन्धे विकल्पः पूर्वणोत्तरेषामिति
शङ्क्यं वक्तुम् । न हि येन व्यापारेणाऽऽहवनीयधारणादिना पूर्वः
क्रियार्यामुपकरोति तेनोत्तर उपेकतुं शक्नुवन्ति । यत्तु पूर्वप-
क्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽति-
देशः प्रवर्तत इति तदस्मत्पक्षेऽग्नित्वसामान्येनातिदेशसंभवा-

न चेति । उपासनं सप्तम्यर्थः । उद्गीथाद्युपास्तिवृत्तिश्रुतिविधिवैपरीत्यमेव
प्रेस्तुतोपास्तिविधौ दर्शयति । न हीति । कथं तर्हीह विधानं तदाह । षडिति ।
मनोवृत्तिभेदेष्वग्नित्वादिरहितेषु तत्कल्पनायां दृष्टान्तमाह । पुरुषेति । कथं
मनोवृत्तिषु संख्याभेदोपादानं तदाह । संख्या चेति । अनुबन्धसामर्थ्यासिद्धेर्मथ-
मुपसंहरति । एवमिति । सौत्रमादिशब्दं योजयति । आदीति । तत्र मनश्चिदादीनां
सावन्व्यप्रापकमातिदेशं विशदयति । तथा हीति । वाक्यवात्पर्यमाह । क्रियेति । ननु
पूर्वणैष्टकाचितेनाग्निना मनश्चिदादीनां विकल्पः स्यादित्युक्तं तेन विकल्पार्थोऽतिदेशो
नाऽऽदरार्थ इति तत्राऽऽह । न चेति । ब्रीहिभिर्यावत्क्रियते यैरपि तावदिति युक्तो
विकल्पः । प्रकृते तु मनश्चिदादीनां तदभावान्नैष्टकाचितेन विकल्पः स्यादित्याह । न
हीति । अतिदेशस्य पूर्वपक्षानुगुण्यात्कथमादिशब्देन ग्रहणमित्याशङ्क्यानुवदति ।
यत्त्विति । अग्नित्वसाम्येनाप्यतिदेशसिद्धेर्न पारिशीष्यमिति दूषयति । तदिति ।

१ ज. ट. न चोद्गी । २ झ. “शितत्व” । ३ क. “माध्यासि” । ४ ड. ज. झ. ट. “ध्यसि” ।
५ क. ड. झ. “शतं तु सह” । ६ ज. ट. “णि म” । ७ ड. झ. शक्यते । ८ क. ड. ज. झ. “या
उप” । ९ क. ड. ज. झ. “क्षेऽप्यग्नि” । १० ट. ड. “स्तिविधिभुतिवै” । ११ क. झ. प्रकृतो ।
१२ ट. ड. “दमु” । १३ झ. “नां नेष्ट” ।

त्प्रत्युक्तम् । अस्ति हि सांपादिकानामप्यग्नीनामग्निवमिति । श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि । एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम् । प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् । यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबन्धमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति । दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजयज्ञत्वाच्च राजसूयस्य । तदुक्तं प्रथमे काण्डे

अग्निवसाम्यसंभवमेव स्फुटयति । अस्तीति । बहुवचनं घटयति । श्रुत्यादीनीति । उक्तहेतुफलं निगमयति । एवमिति । दृष्टान्तमवतार्य व्याचष्टे । प्रज्ञान्तरेति । उक्त-
दृष्टान्तानुसारादनुबन्धाद्युक्तहेतुभ्यो मनश्चिदादीनामपि स्वातन्त्र्यमिति दार्ष्टान्तिक-
माह । एवमिति । सूत्रैविभागव्याख्यासमाप्ताविति शब्दः । मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये
क्रियाप्रकरणपाठासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । दृष्टश्चेति । उत्कर्षे हेतुमाह । वर्णेति ।
तथाऽपि राजसूयाङ्गत्वयोगादुत्कर्षासिद्धिस्तत्राऽऽह । राजेति । राजा स्वाराज्यकामो
राजसूयेन यजेतेत्याख्याऽऽग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणेत्यादिनाऽवेष्टिर्नोमे-
ष्टिरान्नाता । तत्र यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतिमाहुतिं
हुत्वाऽभिषारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं यदि राजन्यस्त्वद्वेन्द्रमिति श्रूयते । तत्र
किं ब्राह्मणादीनां राजसूये प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत वेषामेष यागो
विधीयत इति संदेहे प्रजापालनकण्टकोद्धरणादि राज्यं तस्य कर्ता राजेत्यर्थ-
प्रसिद्धेस्त्रैवर्णिकानामपि तत्कर्तृत्वप्रसिद्ध्या राजशब्दत्वेन राजसूयाधिकारित्वाद्यदि
ब्राह्मणो यजेतेत्याद्याः श्रुतयो निमित्तार्था इति नास्ति प्रकरणादुत्कर्षोऽवेष्टेरिति प्राप्ते
“गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” [पा० सू० ५।१।१२४] इति पाणिनिना गुण-
वचनेभ्यः शुल्कादिशब्देभ्यो ब्राह्मणादिशब्देभ्यश्च कर्मणि व्यञ्जप्रत्ययस्मरणाद्वाङ्मः कर्म
राज्यमिति राजकर्तृयोगाद्राज्यमित्यवगमात्कोऽसौ राजेत्यपेक्षायामर्थेषु तत्प्रसिद्ध्यभा-
वेऽपि म्लेच्छानां क्षत्रियमात्रे राजशब्दप्रयोगान्म्लेच्छप्रसिद्ध्या राजशब्दार्थनिर्णयाद-
ब्राह्मणादौ च पालनादिकर्तारि राजशब्दस्य गौणत्वात्क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकाराद्ब्राह्म-
णवैश्ययोस्तत्राप्राप्ते राजसूयप्रकरणं हित्वा ब्राह्मणादिकर्तृकाणि कर्मान्तराणि विधीयन्त
इति राजसूयप्रकरणादुत्कर्षोऽवेष्टेरिति द्वितीये स्थितम् । तत्र यथा क्षत्रियकर्तृके
राजसूये ब्राह्मणादेरनधिकारादवेष्टे राजसूयप्रकरणादुत्कर्षस्तथा मनश्चिदादी-
नामपि क्रियाप्रकरणादुत्कर्षो लिङ्गादिभिरिति भावः । एकादशेऽपि चिन्तितमेतदि-
त्याह । तदुक्तमिति । राजसूयप्रक्रियायामवेष्टिर्नोमेष्टिरान्नाता आग्नेयोऽष्टाकपालो

१ श्र. 'बन्धवन्धा' । २ ख. ठ. ड. 'त्रभा' । ३ क ख. प्रयोगो । ४ ख. 'जैत्यर्थप्रति' ।
५ ठ. ड. 'त्यार्थसि' । ६ ठ. ड. 'शब्देन' । ७ ठ. ड. 'शब्दान्म्ले' । ८ ठ. ड. 'ष्टि' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५१] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९४५

“क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्” [जै० सू० ११ ।

४ । ७] इति ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्ने हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते । न मानसग्रहसामान्या-
दपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम् । पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्या-
दिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः । न हि किञ्चित्कस्यचित्केन-
चित्सामान्यं न संभवाति । न च तावता यथास्वं वैषम्यं निव-
र्तते । मृत्युवत् । यथा “स एष एष मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले
पुरुषः” इति “अग्निर्वै मृत्युः” [बृ० । ३ । २ । १०] इति
चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसा-
म्प्रापत्तिः । यथा च “असौ वाव लोको गौतमांस्मिन्तस्याऽऽदित्य

हिरण्यं दक्षिणा बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिर्गौति । तत्राऽऽग्नेयादिहविष्वज्ज्ञानां
तन्नेन प्रयोगः किं वाऽऽवृत्त्येति संशये पूर्वपक्षसूत्रमवेष्टौ त्वेकवत्त्रं स्याद्विद्दर्शना-
दिति बार्हस्पत्यं मध्ये निधायेति लिङ्गोपलम्भात्प्रयोगभेदे च मध्ये निधानायोगादेत-
याऽन्नाद्यकाममित्येकवचनाच्चैकतन्त्र्येमवेष्टावेकस्मिन्प्रयोगे लिङ्गानां तन्नेन भावः सकृद-
नुष्ठानमिति पूर्वपक्षं कृत्वाऽन्नाद्यकामप्रयोगेऽवेष्टेरिदं लिङ्गदर्शनादि तेन क्रत्वर्थप्रयोगे
तस्य तु दक्षिर्गौतिभेदाद्देद इत्यङ्गावृत्तिरेवेति राद्धान्विते क्रत्वर्थायामपीष्टाविदं लिङ्ग-
दर्शनाद्यस्वीत्यङ्गानावृत्तिरित्याशङ्कामनूद्य दूषयति । क्रत्वर्थायामिति चेदिति ।
काम्यायामिष्टौ यदि ब्राह्मण इत्यादिना वर्णत्रयसंयोगात्तस्यां च मध्यनिधानादिसि-
द्धेर्न राजकवृत्तक्रत्वर्थेष्टौ तत्प्राप्तिरतोऽङ्गावृत्तिरित्यर्थः । अत्र चैकप्रयोगत्वलिङ्गस्य
क्रत्वर्थेष्टावसंभवं काम्येष्टौ च संभवं वदताऽनेन सूत्रेण काम्येष्टेः क्रत्वर्थेष्टिवैलक्षण्य-
सूचनाद्वारेणार्थात्पकरणादुत्कर्षोऽपि सिध्यतीति क्रियाप्रकरणान्मनश्चिदादीनामुत्कर्षो
भवत्येतदनुगुणमुदाहरणमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५० ॥

परोक्षरितमुदाहरणं विघटयति । नेति । परोक्तमनूद्य तदुत्तरत्वेन सूत्राक्षराणि
व्याचष्टे । यदित्यादिना । मानसेन ग्रहेण सह मनश्चिदादीनां च भावनामयत्वे तुल्ये
कथं श्रुत्यादिभिः स्वातन्त्र्यं तत्राऽऽह । न हीति । सत्यपि सादृश्ये यथास्वं वैषम्यमव्यावृ-
त्तमित्यत्र हृष्टान्तमादाय व्याचष्टे । मृत्युवदिति । न हीत्यादि विभजते । यथा चेति ।

१ क. ड. ज. अ. ‘दिभ्यो हे’ । २ क. ज. भवति । ३ ड. अ. स वा ए’ । ४ क. ज. ‘ष
यु’ । ५ ज. घ. ट. ‘सौ वै लो’ । क. ‘सौ लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽ’ । ६ ड. अ. ‘को गौत’ ।
७ ड. अ. ‘मास्याऽऽ’ । ८ ठ. ड. ‘देन नि’ । ९ ठ. ड. ‘न्यमाचष्ट एक’ । १० घ. ‘णाद्देदा’ ।
११ ठ. ड. ‘ज्ञाष्ट’ । १२ ठ. ड. ‘नां भा’ । १३ ठ. ड. तदाह ।

एव समित्” [छा० ५ । ४ । १] इत्यत्र न समिदादिसामान्या-
ल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं

भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥ (२९)

परस्तादपि “अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितैः” इत्यस्मिन्ननन्तरे
ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते
न शुद्धकर्मज्ञविधित्वम् । तत्र हि—

“विद्याया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।

न सत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्व्रासस्तपस्विनः”

इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्योऽं च प्रशंसन्निदं गम-
यति । तथा पुरस्तादपि “यदेतन्मण्डलं तपति” इत्यस्मिन्ब्राह्मणे
विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते “सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्य-
स्याऽऽत्मा भवति” इति विद्याफलेनैवोपसंहारात् कर्मप्रधानता
तत्सामान्यादिहापि तथात्वम् । भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयि-
तव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनाऽनुबध्यते विद्या न क-
र्माङ्गत्वात् । तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्व-
सिद्धिः ॥ ५२ ॥ (२९)

उक्तदृष्टान्तानुरोधान्मानसग्रहस्य मनश्चिदादीनां च भावनामयत्वाविशेषेऽपि पारत-
न्यस्तावन्नययोः सिद्धिरित्याह । तद्वदिति ॥ ५१ ॥

पूर्वोत्तरब्राह्मणयोर्विद्याप्राधान्यदर्शनात्तन्मध्यपातिनोऽस्यापि तत्प्राधान्यमित्याह ।
परेण चेति । संदिग्धस्य निर्णयो वाक्यशेषादितिन्यायेन सूत्रावयवं व्याकुर्वन्वाक्य-
शेषमनुसंधत्ते । परस्तादिति । उत्तरब्राह्मणस्य विद्याप्राधान्ये गमकमाह । तत्रेति ।
ब्राह्मणस्य विद्याप्राधान्यमेतदित्युक्तम् । उपक्रमतन्त्रेणोपसंहारेणैकस्मिन्वाक्ये भवितव्य-
मितिन्यायेन चकारं व्याकुर्वन्पूर्वमपि ब्राह्मणमनुसंधत्ते । तथेति । तस्य विद्याप्राधान्ये
लिङ्गमाह । सोऽमृत इति । पूर्वोत्तरब्राह्मणयोर्विद्याप्राधान्येऽपि प्रकृतब्राह्मणस्य कर्म-
प्राधान्ये का हानिस्तत्राऽऽह । तदिति । कथं तर्हि विद्यायाः स्वातन्त्र्ये कर्माधिकारे
समाम्नानमित्याशङ्क्य भूयस्त्वादित्यादि व्याचष्टे । भूयांसस्त्विति । श्रुतिलिङ्गादिभिः
सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५२ ॥ (२९)

१ ट. ‘न्यालोक’ । २ ज. ‘तः’ एतस्मिन् । ३ ड. अ. इत्येतस्मिन् । ४ ड. अ. लभ्यते । ५ क.
‘यां प्र’ । ६ क. ड. ज. अ. ‘संभेददर्शय’ । ७ ड. ज. अ. ‘तस्य स्याऽऽ’ । ८ ड. ज. अ. ‘स्माच्च कार’ ।
९ ट. ‘त्वत्वं’ । १० ट. ड. ‘णवि’ ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि १२४७

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

इह देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधि-
कारसिद्धये । न ह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चो-
दना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत । ननु शास्त्रप्र-
मुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्त-
स्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमुक्तम् । सत्यमुक्तं भाष्यकृता न तु तत्राऽऽ-
त्मास्तित्वे सूत्रमस्ति । इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षे-
पपुरःसरं प्रतिष्ठापितम् । इत एव चाऽऽकृष्याऽऽचार्येण शबर-
स्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम् । अत एव च भगवतोपव-
र्षेण प्रथमे तत्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम
इत्युद्धारः कृतः । इह चेदं चोदनालक्षणेष्पूपासनेषु विचार्यमाणे-

मनश्चिदादीनां न पुरुषार्थत्वं पुरुषस्यैव देहातिरिक्तस्याभावादित्याक्षिपति । एक
इति । अधिकरणस्य तात्पर्यमाह । इहेति । तत्समर्थनफलमाह । बन्धेति । साधनानु-
ष्ठानसामर्थ्याद्देहस्यैव स्वर्गापवर्गाधिकारित्वसिद्धौ कृतं व्यतिरेकचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह ।
न हीति । व्यतिरेकविचारस्य पूर्ववन्नेन पौनरुक्त्यं शङ्कते । नन्विति । सूत्रकृता
तत्रातिरिक्तात्मानुक्तेर्न पौनरुक्त्यमित्याह । सत्यमिति । प्रकृते पूर्वमीमांसातो
विशेषमाह । इह त्विति । कथं तर्हि प्रथमे पादे दर्शितमात्मास्तित्वं न हि
भूतभूतं सूत्रं विना भाष्यं युक्तं तत्राऽऽह । इत इति । यज्ञायुधी यज-
मानः स्वर्गं लोकं यातीतिवाक्यस्यातिरिक्तात्माभावादप्रामाण्यमाप्तौ तत्परिहारेण प्रथ-
माध्यायोपयोगितया तदस्तित्वमिदमेवाधिकरणमवष्टभ्योक्तिमिति सूचयति । प्रमा-
नेति । एतस्मादेवाऽऽकृष्य तत्राऽऽत्मास्तित्वमुक्तमित्यत्र वृत्तिकारवचनं गमक-
मित्याह । अत इति । यस्मादत्र सूत्रकारो निरूपयति तस्मादेवेति यावत् ।
आत्मास्तित्वस्यास्मात्पूर्वकाण्डं प्राति नयनमपकर्षस्तस्योद्धारो निवृत्तिरित्यर्थः ।
अथात्रापि प्रथमसूत्रेऽथशब्दोपात्तोऽधिकारी विचारितस्त्वत्कथमिह पुनस्तन्निरू-
पणं तत्राऽऽह । इह चेति । तत्र लोकसिद्धात्मादानेनाधिकारी दर्शितो न
गद्विशेषश्चिन्तितः । प्रकृते तु विधिप्रमाणकेष्पूपासनेषु विचार्यमाणेषु विचार्यते
विशेषतस्तदस्तित्वेत्यास्ति भेद इत्यर्थः । प्रासङ्गिकीमध्यायपादसंगतिमधिकरण-

१ क. ज. ड. अ. ट. 'रिक्त आत्म' । २ ड. अ. एवाऽऽह । ट. एवापह । ३ ट. 'व भ' ।
४ ड. 'के न पी' । ५ ठ. ड. 'स्तित्वमिति चोद्यते न । ६ क. ख. ठ. ड. स्वर्गलो' । ७ ठ. ड. 'ति ।
८ च. ठ. ड. 'सूत्रस्थाय' ।

ष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय । अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमुच्यते । तदस्तित्वाक्षेपोऽर्थमिदमादिमं सूत्रम् । आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढा बुद्धिमुत्पादयति । अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः

स्योक्त्वा श्रुतिशास्त्रसंगतिं सूचयति । कृत्स्नेति । सर्वस्यैवाऽऽन्नायस्य तदर्थं विचारात्मनश्च शास्त्रस्य शेषभूतमधिकरणमतिरिक्तात्माविचारे सर्वस्यास्य दुर्धटत्वादतोऽतिरिक्तस्याऽऽत्मनः शेषत्वं दर्शयितुमेष विचार इत्यर्थः । संगतिचतुष्टयमित्यमुक्त्वा पूर्वोत्तराधिकरणसंगतिमाह । अपि चेति । इतश्चेदमिह संगतमित्यर्थः । अनेन सूत्रेण तन्नोच्यत इत्याशङ्क्याऽऽद्यसूत्रस्यावान्तरसंगतिमाह । तदस्तित्वेति । अतिरिक्तात्मास्तित्वे साध्ये किं तदाक्षेपेणेत्याशङ्क्याऽऽह । आक्षेपेति । इत्याक्षेपस्योपयुक्ततेति शेषः । मनश्चिदादयोऽग्नयो यदर्थाः स पुरुषो विषयः स । क. देहस्त्वदतिरिक्तो वेति विप्रतिपत्तेः संशये पूर्वपक्षयति । अत्रोत । पूर्वपक्षे देहात्मवादसिद्धिः । सिद्धान्ते वैदिकात्मसिद्धिरिति फलभेदः । परिक्षकव्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः । स्वतन्त्रमन्याधारं वा चैतन्यमात्रं वा व्यावर्तते मनुष्योऽहमितिदेहस्याहंपत्ययालम्बनत्ववदतिरिक्तात्मसत्त्वे मानाभावं गृहीत्वाऽऽह । देहेति । चैतन्याधारस्याऽऽत्मत्वाद्भौतिकत्वेनाचेतनस्य कथमात्मत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । सप्रस्तेति । एकैकस्मिन्नविद्यमानं कथं संघाते स्यात्तत्राऽऽह । तेभ्य इति । चैतन्यं संभावयन्त इति संबन्धः । संघातविशेषे कार्यविक्षेपसत्त्वे दृष्टान्तमाह । प्रदेति । यथैकैकस्मात्ताम्बूलादेरदृष्टाऽपि मदशक्तिः संघाते दृश्यते तथेदं ज्ञानमेकैकस्मिन्नदृष्टमपि देहाकारपरिणतभूतेषु संघतेषु भवतीति चाऽऽहुरिति योजना । देहस्यैव भोक्तृत्वे मृतदेहेऽपि भोगः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । चैतन्येति । अग्नि-

१ क. घ. ङ. ज. 'पार्थ चेदमाद्यं सू' । २ क. ङ. ज. झ. 'दयेदिति' । ३ क. 'षु पृ' । ४ क. ज. ट. 'षु स्या' । ५ क. 'र्वस्याऽऽन्ना' । ६ क. झ. 'ययैत' । ७ क. झ. ठ. ड. 'तमिदम' । ८ ड. 'नत्वाद' । ९ झ. 'त्वेन चे' । १० झ. 'स्मिन्विद्य' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९४९

कायः पुरुष इति चाऽऽहुः । न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय
वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति यत्कृतं चैतन्यं देहे
स्यात् । देह एव तु चेतनश्चाऽऽत्मा चेति प्रतिजानते ।
हेतुं चाऽऽचक्षते शरीरे भावादिति । यद्वि यस्मिन्सति
भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मा-
वौष्ण्यप्रकाशौ । प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चाऽऽत्मधर्मत्वेनाभि-
मता आत्मवादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चा-
नुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवि-
तुमर्हन्ति । तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

**व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न
तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ (३०)**

न त्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति । व्यतिरेक
एवास्य देहाद्भवितुमर्हति । तद्भावाभावित्वात् । यदि देहभावे
भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत ततो देहभावेऽप्यभावादत-

संनिधानादयः पिण्डस्यौष्ण्यमिवाऽऽत्मसंनिधेर्देहचैतन्यमित्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः स्वर्गा-
पवर्गान्वयिनोऽभावात् देहस्य चैतन्यवैशिष्ट्यमित्याशङ्क्याऽऽह । नेत्यादिना ।
आत्मा तर्हि कः स्यादित्यपेक्षायामाह । देहेति । सूत्रभागेन प्रविज्ञातेऽर्थे
हेतुमवतार्य व्याचष्टे । यद्वीति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चैतन्यस्य देहधर्मतै-
वेति नातिरिक्तात्मसिद्धिरित्यर्थः । प्राणचेष्टादयः साश्रयाः कार्यत्वात्संभववदित्य-
नुमानात्प्राणाद्याश्रयस्यातिरिक्तात्मनः सिद्धिरित्याशङ्क्यानुमानाप्रामाण्यात्प्रामा-
ण्येऽपि सिद्धसाध्यत्वान्मैवमित्याह । प्राणेति । चेष्टा हिवाहितप्राप्तिपरिहा-
रार्थो व्यापारः । आदिपदेनेच्छाद्वेषादय उक्ताः । तेषां देहधर्मत्वेनादृष्टानां कथं तद्ध-
र्मत्वेत्याशङ्क्याऽऽह । असिद्ध इति । प्रत्यक्षेणातिरिक्तात्मनोऽदृष्टेर्मानान्तरे चासंभवे-
र्गौरोऽहं स्थूलोऽहमिति च देहस्यैवाऽऽत्मत्वेनाध्यक्षत्वात्तदाधारत्वमेव प्राणादीनाभि-
त्यर्थः । देहात्मवादी प्रत्यक्षफलमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५३ ॥

सिद्धान्तसूत्रमवतारयति । एवमिति । तत्र न त्विति पूर्वपक्षनिषेधप्रविज्ञां विभ-
जते । न त्विति । उत्तरपक्षप्रविज्ञां व्याकरोति । व्यतिरेकेति । तत्र हेतुमवतार्य
व्याचष्टे । तदिति । देहभावेऽपि प्राणादीनामभावो मृतावस्थायामास्थेयः । चैतन्या-
दयो न देहस्य विशेषगुणास्तद्भावाभावित्वात् । ये तद्विशेषगुणास्ते न तद्भावाभावित्वे

धर्मत्वंभेदेषां किं न मन्येत । देहधर्मवैलक्षण्यात् । ये हि देह-
धर्मा रूपादयस्ते यावदेहं भवन्ति । प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे
मृतावस्थार्या न भवन्ति । देहधर्माश्च रूपादयः परैरनुपलभ्यन्ते
न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः । अपि च सति हि तावदेहे
जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं न त्वसत्यभावः । पति-
तेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणाऽऽत्मधर्मा अनुवर्त-
न् । संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतीषिष्यते । किमात्मकं च पुन-
रिदं चैतन्यं मन्यते यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्य-
नुयोक्तव्यः । न हि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकापतिकेः किंचि-
त्तत्त्वं प्रेत्येति । यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत् ।
तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्रुवीत स्वात्मनि क्रियाविरो-

यथा रूपादय इत्याह । देहेति । वैलक्षण्यं स्पष्टयन्ष्टान्वस्य साधनाव्यावृत्तिं वाच-
यति । ये हीति । हेत्वसिद्धिप्रत्याह । प्राणेति । तेषां विशेषगुणत्वाभावेऽपि न देह-
मात्रप्रभवत्वं मृतावस्थायामदर्शनात् । अतो देहातिरिक्तस्वदधिष्ठातेति भावः । चैत-
न्यादीनां देहधर्मत्वाभावे हेत्वन्तरमाह । देहेति । विमता न देहधर्माः परैरनुपलभ्य-
मानत्वाद्ये तद्धर्मस्ते परैरनुपलभ्यन्ते यथा रूपादय इत्यर्थः । इतश्च तेषां न देहधर्म-
वेत्याह । अपि चेति । न हि धर्मधर्मित्वमन्वयमात्राद्युक्तमतिप्रसङ्गादतो व्यतिरेकोऽपि
वाच्यः सोऽत्र संदिग्ध इति न धर्मधर्मित्वेत्याह । सतीति । व्यतिरेकसंदेहे हेतुमाह ।
पतितेऽपीति । तत्रापि न प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह । संशयेति । न तावत्तत्वादर्श-
नमभावनिश्चायकं प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यान्मम त्वात्मनो देहान्तरसंचारात्तद्धर्मदृष्टिरिति
संदिह्यते तावन्मात्रेण चैतन्यादीनां देहधर्मत्वासिद्धिरावयोरुभयोरपि निश्चितान्वयादे-
रेव साधकत्वाविवादादिति भावः । उपलब्धिवादीति पदं चोद्यमुखेन व्याख्यातुं
पृच्छति । किमात्मकमिति । तर्हि भूतचतुष्टयातिरिक्तं न वेति विमर्शार्थः । अपैक-
तेऽर्थे कथं प्रश्नः स्यात्तत्राऽऽह । यस्पेति । आद्ये सिद्धान्तविरोधमाह । न हीति ।
धर्मधर्मिणोऽस्वादात्म्याभेदपक्षमालम्बते । यदिति । भूतपरिणामत्वाच्चैतन्यस्य रूपादिव-
द्धूतेभ्योऽर्थान्तरत्वाभावाच्च त्वतिरेकापत्तिरिति भावः । भूतपरिणामत्वं चैतन्यस्य रूपा-
दिवैषम्योक्त्या प्रत्युक्तमिति मन्वानो दोषान्तरमाह । तदिति । उक्तरूपं चेच्चैतन्यं
तर्हि स्वात्मानं प्रति भूतभौतिकानां विषयत्वान्न तद्धर्मत्वेन तदभेदं प्रतिपद्येतेत्यत्र हेतु-
माह । स्वात्मनीति । असिधारा स्वात्मानं छिनत्तीतिवदेकत्र विषयविषयित्वायोगा-

१ क. क. ज. ब. 'मेषां । २ क. ब. भवन्तु । ३ क. क. ज. ब. 'ति ता' । ४ ट. 'ति
कथं' । ५ क. क. ज. ब. 'तिकाः किं' । ६ क. क. ज. ब. प्रतियन्ति । ७ क. क. ट. क.
'प्रस्तुतेऽ' ।

धात् । नै ह्यग्निरुष्णः सन्स्वात्मानं दहति । न हि नटः
शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति । न हि भूतभौतिकधर्मेण
सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन् । न हि रूपा-
दिभिः स्वरूपं परेरूपं वा विषयीक्रियते । विषयीक्रियन्ते तु
बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च यथैवास्या
भूतभौतिकविषयाणां उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यत एवं व्यतिरे-
कोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । उपलब्धिस्वरूप एव च न
आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम् । नित्यत्वं चोपलब्धेरैक-
रूपात् । अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धत्वेन
प्रत्यभिज्ञानात् । स्मृत्याद्युपपत्तेश्च । यत्तूक्तं शरीरे भावाच्छरी-
रधर्म उपलब्धिरिति तद्वर्णिनेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् । अपि च
सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति । न चैता-
वता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति । एवं सति देह उपलब्धि-

दिवि हेत्वर्थः । किंच यो यस्य धर्मः स न तत्साधको यथा रूपादिः । तथाच
चैतन्यस्य भूतभौतिकसाधकत्वादेव तदतिरेकासिद्धिरित्याह । न हीति । रूपादिदृष्टान्तं
स्पष्टयति । न हीति । तर्हि चैतन्यस्यापि साधकत्वं मा भूत्त्राऽऽह । विषयीति ।
सूत्रावयवं फलितपरत्वेन योजयति । अतश्चेति । भवतु तर्हि भूतेभ्योऽतिरिक्तं स्वत-
न्त्रोपलब्धिवस्तथाऽपि कथमात्मसिद्धिस्तत्राऽऽह । उपलब्धीति । क्षणिकत्वात्तस्या
नित्यात्मरूपत्वमयुक्तमित्याशङ्क्याजानतस्तद्वेदाभावाद्विषयोपरागात्तद्धानादसावेवानित्यो
नोपलब्धिरित्याह । नित्यत्वं चेति । किं च स्थूलदेहाभिमानहीनस्य स्वप्ने प्रत्य-
भिज्ञानादतिरिक्तार्त्तसिद्धिरित्याह । अहमिति । स्वप्नेऽपि स्थूलदेहान्तरस्थैवोपलब्धत्व-
मित्याशङ्क्याऽऽह । स्मृत्यादीति । उपलब्धस्मर्त्रोर्भेदे सत्यन्योपलब्धेऽन्यस्य स्मृतिरि-
च्छादयश्च नेति न तयोरेक्यतेत्यर्थः । दूषितमपि दोषान्तरं वक्तुमनुभाषते । यच्चिवति ।
तद्भावाभावविव्याख्यानेन प्रत्याख्यातमेवादित्युक्तं स्मारयति । तदिति । अधिकं दोषं
दर्शयति । अपि चेति । अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ वाच्यौ देहस्य च चैतन्या-
न्वयव्यतिरेकाविधानविषयतयाऽन्यथासिद्धाविवि सद्दृष्टान्तं साधयति । सतिस्त्विति ।
उपकरणत्वमपि देहस्योपलब्धौ न सिध्यतीत्याह । न चेति । उपलब्धिर्न देहजन्या

* एतदादिराधिरोक्ष्यतीत्यन्तो ग्रन्थः क. ज. ट. पुस्तकेषु नोपलभ्यते ।

१ क. ज. ट. 'भिः स्वं रुं' । २ क. 'रस्य रुं' । ३ ट. 'पल' । ४ क. 'वतीति' । ५ ड. अ.
'वं च स' । ६ ड. अ. 'देहभाव' । ७ क. अ. 'क्ता स्वातन्त्र्योप' । ८ ख. 'अवेरन्य' । ९ क. ख.
'इषान्तरं' । १० ठ. ड. 'न व्याख्या' ।

भवेत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति । उपकरण-
त्वमात्रेणापि प्रदीपादिवदेहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं देहस्यो-
पलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नाना-
विधोपलब्धिदर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्म-
नोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥ (३०)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा संप्रति प्रकृतामेवानुवर्तमाने । “ओमि-
त्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत” [छा० १ । १ । १] “लोकेषु पञ्चविधं
सामोपासीत” [छा० २ । २ । १] “उक्थमुक्थमिति वै प्रजा
वदन्ति तदिदमेवोक्थम्” “इयमेव पृथिवी” “अयं वाव लोकः”
[छा० १ । १३ । १] “एषोऽग्निश्चितः” इत्येवमाद्या य उद्गी-
थादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते
तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथ वा सर्वशाखागतेष्विति

तस्मिन्नव्याप्तियमाणेऽपि सत्त्वादर्थान्तरवत् । जागरे तु व्यञ्जकजनकतया कथं चिदुप-
योगमङ्गीकृत्यात्यन्तमित्युक्तम् । स्वप्ने द्रष्टव्यं पश्यामीत्याद्यबाधितव्याध्यक्षस्य स्थूलदे-
हाकारहीनस्य देहातिरिक्तात्मविषयत्वान्न देहात्मवादसिद्धिरिति भावं । अनुमानाद्य-
प्रामाण्यं तु प्रतिज्ञामात्रमिति मत्वोपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५४ ॥ (३०)

देहर्भावे भवतश्चैतन्यस्य तद्भावेऽप्यभाववदुद्गीथादिभावे भवत उपासनस्य तद्भावेऽ-
प्यभावमाशङ्क्याऽऽह । अङ्गेति । अवान्तरसंगतिमाह । समाप्तेति । उद्गीथाद्यङ्गाधि-
वोपासनानि विषय इति तत्तद्वाक्योक्त्या दर्शयति । ओमित्येतदिति । इदं वाक्यं
व्याप्तेत्येतदधिकरणे व्याख्यातम् । लोकेषु पृथिव्यादिषु लोकशब्दो लोकालोकेषु
लाक्षणिकः । पृथिव्यादिदृष्ट्या पञ्चविधं सामोपासीतेत्यर्थः । पृथिवी हिंकारोऽग्निः
प्रस्तावोऽन्वरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रविहारो षौर्निधनमिति । उक्थं कर्माङ्गं शस्त्रमिति
वीप्सया यत्प्रजा वदन्ति तदिदमेव येयं पृथिवीत्युक्ते पृथिवीदृष्टिविधिः । चितोऽग्निः
कर्माङ्गभूतस्वत्रायं लोकदृष्टिरित्यर्थः । उद्गीथादिप्रत्ययानुक्तानधिकृत्य प्रकरणादुद्गीथा-
दिशब्दसाधारण्याच्च संशयमाह । त इति । उद्गीथादीनां सर्वशाखास्त्वैक्यादुपास्ति-

१ क. घ. ङ. ज. झ. “गो ह” । २ क. ङ. ज. झ. “हेऽपि ह्यस्मि” । ३ क. झ. “कीयं क” ।
४ ट. तत्तच्छा । ५ ङ. “रिक्तत्वात्” । ६ ठ. ड. “वेन म” । ७ क. “वया शा” । ८ क.
“शास्त्रेया” ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशंकरभाष्यसमेतानि । ९५३

विशयः । प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानुपादायापमु-
पन्यासः । किं तावत्प्राप्तम् । स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधी-
येरन्निति । कुतः । संनिधानात् । “उद्गीथमुपासीत” [छा०
१ । १ । १] इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां
संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाऽऽकाङ्क्षादिनिवृत्तेः । तद-
तिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति ।
तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति । एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति ।
तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवति-
ष्ठेरन् । अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन् । कुतः । उद्गीथादिश्रुत्य-

व्यवस्थाशङ्काभावादनारभ्यमिदमधिकरणमित्याशङ्क्याऽऽह । प्रतीति । नीचैस्त्वादित्स्व-
रभेदादध्ययनधर्मभेदाच्चोद्गीथादेरपि भेदमङ्गीकृत्य विद्याविचार इत्यर्थः । अत्र हि
श्रौतेन सामान्येन प्राकरणिकस्य विशेषनियमस्य बाधात्सर्वशाखाविहितप्रधानकर्माङ्ग-
त्वेन प्रयुक्तसर्वोद्गीथादिविशेषेषु तदालम्बनोपास्तीनामुपसंहारोक्त्या सर्वशाखाभिरनु-
ष्ठेयत्वोक्तेर्वाक्यार्थधीहोरेव चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षेऽनुष्ठानव्यवस्थसिद्धिः
सिद्धान्ते तदव्यवस्थेत्यास्थाय पूर्वपक्षयितुं विमृशति । किमिति । यथा देहात्मनोर्भे-
दादात्मधर्मा देहे न भवन्त्येकमेकशाखागतोद्गीथधर्माणां भिन्नशाखोद्गीथादौ न प्राप्तिरिति
पूर्वपक्षमाह । स्वशाखेति । विद्याचित एवेत्येवश्रुत्या मनश्चिदादीनां क्रियाप्रकरणभ-
ङ्गेन पुरुषार्थत्ववादिहाप्युद्गीथादिश्रुतेर्बलीयस्त्वात्तया प्रकरणभङ्गान्नास्त्युपास्तीनां व्यव-
स्थेत्याह । कुत इति । उद्गीथादिसामान्यश्रुतेः प्रकरणोपनीतविशेषाकाङ्क्षत्वेनाबाध-
कत्वादुपास्तिव्यवस्था युक्तेति मत्वाऽऽह । संनिधानादिति । प्रकरणं विवृणोति ।
उद्गीथामिति । उद्गीथोक्तचित्याभिनां प्रत्ययालम्बनानां वेदत्रयोक्तप्रधानकर्मस्वङ्गत्वेन
प्रयुक्तानां प्राग्निशाखं स्वरादिभेदेन भेदादुद्गीथादिश्रुतिभिः प्रत्ययालम्बनानामुद्गीथादीनां
सामान्येनोपात्तानां विशेषाकाङ्क्षायां तत्तच्छाखास्थप्रधानकर्माङ्गत्वेन प्रयुक्तोद्गीथादि-
विशेषेषुद्गीथमुपासीतेत्यादिप्रत्ययाः प्रकरणान्नियम्यन्त इत्यर्थः । प्रकरणाद्व्यवस्थायां
यच्छाखास्थं यदुपासनं तत्तच्छाखाभिरेवानुष्ठेयमित्युपसंहरति । तस्मादिति । पूर्व-
पक्षमनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । सूत्राक्षराणि योजयति । तुशब्द इति । हिश-
ब्दोपात्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकमाह । कुत इति । सामान्यप्रवृत्तश्रुतेर्विशेषाकाङ्क्षायां प्रक-
रणाद्विशेषनियमो युक्तः । प्रकृते तूद्गीथादिसामान्येषूपस्थास्त्विसंभवेन विशेषाकाङ्क्षाभावे
औत्सामान्येन प्राकरणिकविशेषनियमबाधात्सर्वशाखास्थप्रधानकर्माङ्गत्वेन विनियुक्तो-

१ क. ड. अ. “भेदमादाया” । २ क. ड. अ. “क्षानि” । ३ ट. “दानका” । ४ ड. अ. परपक्षं ।
५ क. ख. साम्येन । ६ घ. “लम्बोपा” । ७ ख. “युक्तेषूद्गी” ।

विशेषात् । स्वशास्त्राव्यवस्थायां बुद्धीयमुपासीतेति सामान्यश्रु-
तिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना
पीडिता स्यात् । न चैतद्व्याप्यम् । संनिधानांस्तु श्रुतिर्वैलीयसी ।
न च सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते । तस्मात्स्वरादि-
भेदे सत्यप्युद्धीयत्वाद्यविशेषात्सर्वशास्त्रागतेष्वेवोद्धीयादिष्वेवंजा-
तीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥ (३१)

अथ वा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः । कथमन्यशास्त्रागतेषु-
द्धीयादिष्वन्यशास्त्राविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति । मन्त्रादिवदवि-
रोधोपपत्तेः । तथा हि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शास्त्रान्तरो-
त्पन्नानामपि शास्त्रान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । येषामपि हि शास्त्रिनां
कुटरुरसीत्यश्मादानमन्त्रो नाऽऽम्रातस्तेषामप्यसौ विनियोगो
दृश्यते कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति वेति । येषा-
मपि समिदादयः प्रयाजा नाऽऽम्रातास्तेषामपि तेषु गुणविधि-

द्धीयादिविशेषेषु तदालम्बनधियामुपसंहारः स्यादिति हेतुं विवृणोति । स्वेति । प्रकर-
णेन विशेषार्थे सामान्यश्रुत्यबाधेऽपि संकोचे मानाभावात्सामान्यद्वारा सर्वविशेषगामि-
श्रुतेरेकस्मिन्विशेषे नियमनं पीडैवेति मत्वोक्तम् । पीडितेति । त्वत्पक्षे श्रुत्या प्रकर-
णबाधवन्मत्पक्षेऽपि तेन श्रुतिर्बाध्यतामविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह । संनिधानादिति ।
सामान्यस्योपास्यत्वायोगाद्विशेषाकाङ्क्षायां तदर्थकं प्रकरणं कथं श्रुत्या बाध्यमित्या-
शङ्क्याऽऽह । न चेति । तथाऽपि प्रतिवेदं स्वरादिभेदेनोद्धीयादिभेदादुपास्तिव्यवस्थो-
क्तेत्याशङ्क्याऽऽह । तस्मादिति । श्रुतिमावल्यं तच्छब्दार्थः ॥ ५५ ॥

उद्धीयादिश्रुत्यवष्टम्भेन यत्र यत्रोद्धीयादिरेकस्वत्र तत्र सर्वत्रैव कान्तिकस्यापि
प्रत्ययस्यानुवृत्तिरित्युक्तम् । इदानीमुदाहरणेनापीममर्थं समर्थयते । मन्त्रादिवदिति ।
वाशब्दार्थं कथयति । अथ वेत्यादिना । हेतुमवतार्याक्षरार्थमाह । मन्त्रेति । तत्र
मन्त्रोदाहरणं दर्शयति । येषामिति । तण्डुलपेषणार्थं कुटरुरसीत्यश्मादानमन्त्रो येषां
शास्त्रिनां नाऽऽम्रातः कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इत्ययमेव मन्त्रः समाम्नायते तथाऽपि तेषां
प्रयोगसूत्रेण विनियोगे सोऽपि मन्त्रो दृश्यते तेन शास्त्रान्तरोत्पन्नस्य मन्त्रस्य शास्त्रा-
न्तरे संग्रहोऽस्तीत्यर्थः । कर्मणामुदाहरणमाह । येषामपीति । मैत्रायणीयानां समि-

१ क. ड. ज. अ. 'नाद्धि शु' । २ क. ड. ज. अ. 'रोध आश' । ३ ट. 'पि शा' । ४ क.
ड. ज. अ. 'पि च स' । ५ क. 'वक्तो न तत्र तत्र स' । ६ क. 'व काचि' । ७ ठ. ड. 'ति । म' ।
८ ठ. ड. 'णीनां ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । २५५

राज्ञायते “अतबो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः” इति ।
तथा येषामपि “अजोऽग्नीषोमीयः” इति जातिविशेषोपदेशो
नास्ति तेषामपि तद्विषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते “छागस्य वपाया
मेदसोऽनुब्रूहि” इति । तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि “अग्ने-
र्वेहोत्रं वेरध्वरम्” इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो
दृष्टः । तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य “यो जात एव प्रथमो
मनस्वान्” इत्यस्य “अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्” इत्यत्र परि-
ग्रहो दृष्टः । तस्माच्चथाऽऽश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमा-
श्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥ (३१)

धो यजति तनूनपातं यजतीडो यजति बहिर्यजति स्वाहाकारं यजतीति समिदादयः
प्रयाजा नाऽऽन्नास्तास्तथाऽपि तेषु संख्यादिगुणविधिराम्नायते द्वादश मासाः पञ्चर्तव
इत्यत्र हेमन्तशिशिरयोरेकीकरणेन पञ्चर्तवः प्रसिद्धाः । तथा चतुर्वत्पञ्चसंख्याकाः
प्रयाजाः समानत्र समानदेशे होतव्या इति यावत् । तत्र शाखान्तरोत्पन्नकर्मणां
शाखान्तरे संग्रहो दृष्टोऽन्यथा तत्र गुणविध्ययोगादित्यर्थः । गुणोदाहरणमाह ।
तथेति । अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति यजुर्वेदिनामग्नीषोमीयः पशुराम्नायते नाज इति
जातिविशेषस्तेन विशेषाश्रवणाच्चः कश्चित्पशुरालम्बनीय इति प्राप्ते “छागो वा मन्त्रव-
र्णात्” इति सूत्रेण च्छागादेर्होमार्थमनुवाक्यं पठ होतारित्यध्वर्युपैषार्थं लिङ्गस्थ नियम-
कारणस्य भावाच्छागोऽग्नीषोमीयः पशुरिति स्थितम् । अतश्च गुणस्यापि प्रैषमन्त्रलिङ्गा-
दुपसंग्रहो दृष्ट इत्यर्थः । मन्त्राणामुदाहरणान्तरमाह । तथेति । वेदान्तरोत्पन्नामु-
दाहरणध्वर्युवेदावुच्येते । तत्रैवोदाहरणान्तरमाह । तथेति । यो जातो बाल एव
सन्प्रथमो गुणैः श्रेष्ठो मनस्वान्विवेकवान्स जनास इन्द्र इति शेषः । जनासो
जनास्ते संबोध्यन्ते स इन्द्र एवंविध इति यावत् । अध्वर्यवे तत्कर्तृकप्रयोगार्थं सज-
नीयं स जनास इत्येतेनोपलक्षितं सूक्तं शस्यं शंसनीयमित्यर्थः । दृष्टान्तानुवा-
देन दार्ष्टान्तिकं निगमयति । तस्मादिति । शाखान्तरोत्पन्नस्य शाखान्तरे संग्रहवा-
हुर्यं तच्छब्दार्थः ॥ ५६ ॥ (३१)

१ क. अ. ‘द्विशेषविष’ । २ क. छ. ‘वेहो’ । ३ क. अ. इत्यादि । ४ ठ. ड. सिद्धाः । ५ क.
‘अयणा’ । ६ ठ. ड. ‘प्रैषलि’ । ७ क. ख. ‘यं ज’ । ८ क. इत्यन्तेनो । ख. ठ. ड. इत्यनेनो ।
२-४८

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा

हि दर्शयति ॥ ५७ ॥ (३२)

“प्राचीनशाल औपमन्यवः” [छा० ५ । ११ । १] इत्य-
स्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं
श्रूयते । व्यस्तोपासनं तावत् “औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स
इति दिवमेव भगवो राजश्रिति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वा-
नरो यं त्वमात्मानमुपास्ते” [छा० ५ । १२ । १] इत्यादि ।
तथा समस्तोपासनमपि “तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वान-
रस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो
बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ ” [छा० ५ । १८ । २]
इत्यादि । तत्र संशयः । किमिहोभयथाऽप्युपासनं स्याद्य-
स्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति । किं तावत्प्राप्तम् ।
प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात् “तस्मा-
त्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ” [छा० ५ । १२ । १]

उद्गीथाद्युपासनं तत्तदङ्गविशेषालम्बनं नेत्युक्तिप्रसङ्गेन वैश्वानरोपास्तिरपि तत्तदङ्ग-
विशेषालम्बना नेति सांध्यति । भूम्न इति । सैव हीत्यत्र तद्यत्तस्त्यमिति तच्छ-
ब्देन प्रकृतपरामर्शाद्विधैक्यमुक्तम् । अत्र तु तद्वदभेदे हेत्वभावादगतार्थेति मत्वा
व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रौतमुदाहरति । प्राचीनेति । तत्र प्रश्नप्रति-
वचनरूपवाक्येन व्यस्तोपास्तिमुपन्यस्यति । व्यस्तेति । वैश्वानराधिकरणे व्याख्यातं
वाक्यमनुस्मृत्य समस्तोपास्तिं दर्शयति । तथेति । द्विविधामुपास्तिमधिकृत्योभयत्र
विधिफलश्रुतिभ्यामेकवाक्यत्वोपपत्तेश्च संशयमाह । तत्रेति । एकवाक्यतालाभेन सम-
स्तस्यैव वैश्वानरस्योपास्तिरित्युक्त्या वाक्यार्थधीहेतोरैवात्रापि चिन्तनात्पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे वाक्यभेदः सिद्धान्ते तदैक्यमित्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षार्थं विमुञ्चति । किमिति ।
उद्गीथादिश्रुत्या संनिधिं बावित्वोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखासूपसंहारोक्तिवदत्रापि
व्यस्तोपासनस्य विधिफलयोः श्रुतेः समस्तोपास्तिरिति संनिधिप्राप्तं स्तुत्यर्थत्वं श्रुति-
विधेयत्वेति पूर्वपक्षमाह । प्रतीतिः । सुतमित्यभिषवस्य कण्ठनस्य कर्मतापन्नं सोम-
रूपम् । प्रसुतमासुतमित्यवस्थाविशेषापेक्षं तस्यैव विशेषणम् । सोमयागकरणसंपत्ति-
स्तव कुले दृश्यत इति यावत् । आत्मनो वैश्वानरस्येत्यादिवाक्यप्रकरणाभ्यां सम-
स्तोपासनाङ्गत्वेन तदन्तर्भावेऽपि व्यस्तोपासनानामर्थस्य पश्यति प्रियमित्यादिना

१ क. च । २ क. स. ‘रस्योपा’ । ठ. ड. ‘रस्य चोपा’ । ३ स. ‘धि बोधि’ । ४ छ. ठ. ड.
‘मत्यन्तं प’ ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ५७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९५७

इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम् ।
ततोऽभिधीयते भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरो-
पासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्येनास्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितु-
मर्हति न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि । क्रतुवत् । यथा क्रतुषु
दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विव-
क्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम् । नाप्येकदेशाङ्ग-
युक्तस्य प्रधानस्य तद्वत् । कुत एतद्भूमैव ज्यापयानिति । तथा
हि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति । एकवाक्येतावगमात् । एकं
हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते ।
तथा हि प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षड्ऋषयो वैश्वा-
नरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अभ्यर्पति कैकेयं राजानम-
भ्याजमुदित्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरूपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्राव-
यित्वा “ मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच ” [छा० ५ । १२ ।
२] इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति । “ मूर्धा ते
व्यपतिष्यद्यन्मां नाऽऽगमिष्यः ” [छा० ५ । १२ । २]

प्रत्यवयवं विविफलश्रुतेः स्वावक्येणापि विधानं कल्प्यं तेनोभयभोपासनं कार्य-
मिवि भिन्नान्येवैतानि वाक्यानीत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमवधार्य भूम्नो ज्यायस्त्वमिति
प्रविज्ञां व्याचष्टे । तत इति । समस्तोपासनवद्व्यस्तोपासनमपीष्यतां तत्राऽऽह ।
नेति । तत्र दृष्टान्तमादाय विभजते । क्रतुवदिति । सामस्त्येनेत्यौत्सर्गिकोक्तिः ।
प्रयाजादीनां प्रत्येकमप्रयोगेऽपि नित्यादीनां किञ्चिद्गुणवतामपि प्रयोगोऽस्तीत्याशङ्क्य
कौम्येषु नैवमित्याह । नापीति । सर्वाङ्गैरेतकाम्यक्रतोरिष्टत्ववद्वैश्वानरोपासनस्यापि
समस्तस्यैव प्राधान्येनेष्टवेत्याह । तद्वदिति । हेतुं प्रश्नपूर्वकमेव व्याकरोति । कुत इति ।
साक्षान्ज्यायस्त्वोक्तिरदृष्टेत्याशङ्क्याऽऽह । एकेति । वाक्यप्रकरणाभ्यामेकवाक्यत्वं
साधयति । एकं हीति । विहितानामपि व्यस्तोपासनीनां समस्तोपास्त्यन्तर्भावाच्च
पृथक्कार्येवेति मत्वाऽऽह । तथा हीति । व्यस्तोपास्त्यपवादश्रुतेश्च समस्तस्यैवोपास-
नस्य ज्यायस्त्वमित्याह । मूर्धेति । समस्तोपासने वैफल्यान्न तस्य ज्यायस्त्वमित्याश-

१ क. ड. ज. अ. ट. “स्तान्यप्युपा” । २ ड. अ. “क्यत्वाव” । ३ क. “कर्षे” । ४ क. ख. ट. सामान्येने । ५ ठ. ड. कांम्ये । ६ क. ख. “नरस्योपा” ।

इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति । पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य “ स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमस्ति ” [छा० ५। १८। १] इति भूमा-
श्रयमेव फलं दर्शयति । यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्र-
वणं तदेवं सत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम् ।
तथोपास्त इत्यापि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं
न व्यस्तोपासनविधानार्थम् । तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव
श्रेयानिति । केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य
ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनपक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यत
इति कथयन्ति । तदयुक्तम् । एकवाक्येतावगतौ सत्या वाक्य-
भेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । “ मूर्धा ते व्यपतिष्यत् ” [छा०
५। १२। २] इति चैवमादिनिन्दाविरोधात् । स्पष्टे चोप-
संहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्य-
त्वात् । सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणा-
प्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥ (३२)

ङ्ख्याऽऽह । पुनश्चेति । व्यस्तोपासनेऽपि फलश्रवणमस्तीत्युक्तं तत्राऽऽह । यच्चिति ।
व्यस्तोपास्तीनां प्रकरणावाक्याभ्यां समस्तोपास्त्यन्तर्भावेन प्रयाजदर्शपूर्णमासवदेकप्रयो-
गत्वे सिद्धे प्रधानतदङ्गफलानामर्थवाङ्मनानामेकीकरणेन समस्तोपास्तिरेव ज्यायसीत्याह ।
तदिति । प्रत्यवयवमुपास्तिविधि श्रुतेर्व्यस्तोपास्तिर्भातीत्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । तथेति ।
औपमन्यवाद्यवगतरूपानुवादेन समस्तोपास्तिरेवात्र विधित्सितेत्यर्थः । स्वपक्षमुपसं-
रति । तस्मादिति । एकदेशिव्याख्यामनूय दूषयति । केचित्त्विति । किलकारोऽ-
निच्छायाम् । एकवाक्यतामङ्गेन वाक्यभेदं कृत्वा व्यस्तोपासनान्यैपि पृथग्विधीयन्ता-
मित्याशङ्क्याऽऽह । मूर्धेति । यदोमयथोपास्तिः सिद्धान्तस्तदा व्यस्तोपास्तिरेवात्र
समस्तोपास्तिरेव वा पूर्वपक्षः स्यान्नाऽऽह इत्याह । स्पष्टे चेति । द्वितीयश्च त्रैवायुक्तो
वाक्योपक्रमस्य व्यस्तोपास्तिविरोधात्समस्तोपास्तिविध्यर्थं पराभिप्रायानुवादे सिद्धा-
न्तादविशेषादिति भावः । समस्तोपास्तिरेव कार्या न व्यस्तोपास्तिरित्यत्र किमप्यस्य
सौत्रं ज्यायस्त्ववचनं तत्राऽऽह । सौत्रस्येति । समस्तोपास्तेर्भावनवत्त्वोक्त्या व्यस्तोपा-
स्तेर्वाक्यवात्पर्याविषयत्वेनापामाणिकत्वं द्योतयितुं सूत्रे भूम्नो ज्यायस्त्वमुक्तम् । अतः
समस्तोपास्तिरेव कार्येत्येकवाक्यता सिद्धेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ (३२)

१ क. ज. ट. 'सर्वे' । २ क. ड. अ. 'भ्युच्चिनोतीति' । ज. 'भ्युक्षिता' । ३ क. 'ज. कल्पय' ।
४ ड. अ. 'वाक्याव' । ५ क. ज. ट. 'कपय' । ६ ड. ज. 'न्दावचनवि' । ७ ड. अ. ट. 'हारे स' ।
८ ज. ट. 'स्य ज्या' । ९ क. ख. 'पास्ति' । १० ट. ड. 'क्षे वा स' । ११ क. तत्रायु ।

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ (३३)

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ
समस्तस्योपासनं ज्याय इत्युक्तम् । अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि
भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्त्योपाशिष्यन्त इति । अपि च नैव
वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते । वेद्यं हि रूपं विद्याया
द्रव्यदैवतमिव यागस्य । वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यव-
गम्यते “ मनोमयः प्राणशरीरः ” [छा० ३ । १४ । २]
“ कं ब्रह्म स्वं ब्रह्म ” [छा० ४ । १० । ५] “ सत्यकामः
सत्यसंकल्पः ” [छा० ८ । १ । ५] इत्येवमादिषु । तथा “ एक
एव प्राणः ” “ प्राणो वाव संवर्गः ” [छा० ४ । ३ । ३]
“ प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ” [छा० ५ । १ । १] “ प्राणो
ह पिता प्राणो माता ” [छा० ७ । १५ । १] इत्येवमा-
दिषु । वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वम् । श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्नपक्षे
गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम् । तस्मात्स्वपरशास्त्राविहितमेकवेद्यव्य-

भिन्नश्रुतीनामपि सुतेजस्त्वप्रभृतीनां समस्तोपासनं ज्यायश्चेत्तर्हि सर्वोपास्तीनामपि
भिन्नश्रुतीनां समस्तोपासनं ज्यायः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । नानेति । दहरविद्यादि-
ब्रह्मोपासनानि प्राणोपासनानि च वेद्याभेदादभिन्नानि वा शब्दादिभेदादभिन्नानि वेदि-
संदेहे पूर्वन्यायेन पूर्वपक्षयति । पूर्वस्मिन्निति । शाण्डिल्यविद्यादीनामभेदे हेत्वन्तरमाह ।
अपि चेति । तत्र सङ्गच्छन्तं हेतुमाह । वेद्यं हीति । तत्र तत्र श्रुतिषु सत्यसंकल्प-
त्वादिविगुणविशिष्टब्रह्मभेदाद्वेद्याभेदोऽपि नास्तीत्याशङ्क्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात्तदुपासौ
तद्गुणानामपि व्यवस्थानाद्युक्तं वेद्यैक्यमित्याह । वेद्यश्चेति । श्रुतिनानात्वेऽपि तत्त-
दाध्येयगुणश्रुतिभेदेऽपीति यावत् । ब्रह्मोपासनेषु वेद्याभेदेऽपि कथमब्रह्मोपासनेष्वि-
त्याशङ्क्याऽऽह । तथेति । तदेकत्वेऽपि विद्यानानात्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य
रूपाभेदान्मैवमित्याह । वेद्येति । विद्यैक्यं चेदेकत्र विहितयास्तस्या नान्यत्र विधान-
मर्थेदित्याशङ्क्याऽऽह । श्रुतीति । ब्रह्मप्राप्तिफलसंयोगस्योपास्यब्रह्मरूपप्रकृत्यर्थो-
पासनाभ्यां विच्छिन्नप्रत्ययार्थप्रयत्नचोदनायांश्च ब्रह्मविद्यासामूह्यायाश्चैक्याद्विद्यैक्ये
फलितमाह । तस्मादिति । शब्दादिभेदाद्विद्याभेदादित्या वाक्यार्थवैधितोरेवात्रापि चिन्त-
नात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे पूर्ववद्विद्यैक्यम् । सिद्धान्ते तदयोगात्तज्ज्ञानात्वमिति सिद्ध-

१ ड. ज. ट. 'मस्तोपा' । २ क. ड. ज. अ. 'पि च भि' । ३ क. ट. 'मस्तस्यो' । ४ ट.
'ता मा' । ५ ड. अ. 'कत्वं श्रुतम्' । ६ क. 'मस्योपा' । ७ क. 'मस्योपा' । ८ ड. 'पि च । ९
क. अ. 'कल्पदि' । १० ट. ड. 'मवाच्छ' । ११ ट. ड. 'या ब्र' ।

पाश्र्वयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकात्स्नर्यायेति । एवं प्राप्ते प्रति-
पद्यते नानेति । वेद्याभेदेऽप्येवंजातीयका विद्या भिन्ना भवितुम-
र्हति । कुतः । शब्दादिभेदात् । भक्ति हि शब्दभेदः “वेद” “उपा-
सीत” “स क्रतुं कुर्वीत” [छा० ३।१४।१] इत्येवमादिः । शब्दभे-
दश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ताच्छब्दान्तरे कर्मभेदः कृता-
नुबन्धत्वादिति । आदिग्रहणाद्गुणादयोऽपि यथासंभवं भेदहेतवो
योजयितव्याः । ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यज-
तीत्यादिवदर्थभेदः सर्वेषामेवेषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात् । अर्थान्त-
रासंभवाच्च । तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति । नैष दोषः । मनो-
वृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोपपत्तेः । एक-
स्योपीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते ।

वत्कृत्य सिद्धान्तयति । एवमिति । सूत्राक्षराणि योजयति । वेद्येति । रूपाभेदादभेदो-
क्तेर्न विद्यानानात्वमित्याह । कुत इति । सौत्रहेतुमुक्त्वा शब्दभेदं विभजते । शब्दा-
दीति । तद्वेदेऽपि मा भूदुपास्तिनानात्वमित्याशङ्क्याऽऽह । शब्देति । पुरस्तादिति
पूर्वतन्त्रोक्तिः । भिन्नभावार्थविषयः शब्दः शब्दान्तरम् । यथा यजति ददाति जुहोतीति ।
तस्मिन्सति कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वाद्धात्वार्थावच्छेदे । भिन्नधात्वार्थावच्छिन्नतया विधे-
र्भेदादित्यर्थः । शब्दान्तराधिकरणं तु सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणेऽनुक्रान्तम् । सौत्र-
मादिशब्दं व्याकरोति । आदीति । गुणादयोऽपीत्यादिग्रहणेन संयोगरूपसमाख्यादयो
गृह्यन्ते । तत्तत्प्रकरणोक्तगुणजातविशिष्टोपास्यरूपभेदात्प्रतिविद्यं फलभेदान्नामधेयभेदा-
त्कौण्डपायिवत्कृत्स्नोपसंहारस्याशक्यानुष्ठानत्वाच्च विद्यानानात्वमित्यर्थः । सत्यपि शब्द-
भेदेऽनुबन्धभेदाभावाच्च विद्या भिन्नेति शब्दभेदमाक्षिपति । नन्वेति । वेदोपासीते-
त्यादिशब्दानां कजिज्ञानं कचिद्व्यानमित्यर्थभेदमाशङ्क्य ज्ञानस्याविधेयत्वाद्विधीय-
मानमुपासनमेवेत्याह । अर्थान्तरेति । अनुबन्धभेदाभावं फलितमाह । तदिति ।
क्रियात्वाविशेषेऽपि यागदानहोमानामवान्तरभेदवद्वेदोपासीतेत्यादीनां मनोवृत्तित्वा-
विशेषेऽपि तत्तत्प्रकरणेषूत्पत्तिशिष्टतत्तद्गुणविशिष्टवेद्यरूपभेदाद्विशिष्टोपास्यनुबन्धो
भिद्यत इत्याह । नेत्यादिना । गुणानामपि ब्रह्मोपाधौ व्यवस्थानान्नानुबन्धभेद इत्या-
शङ्क्य वस्तुनिष्ठत्वाभावादुपास्तिवाक्यानां तत्तत्फलाय कचित्केनाभिन्नगुणेन विशिष्टब्र-
ह्मोपास्तिविधेरनुबन्धभेदः स्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह । एकस्यापीति । ब्रह्मण्युक्तं न्यायं

१ क. ड. म. ‘दाद्विद्या’ । २ क. ड. म. ‘स्यापि हीश्व’ । ३ क. म. उ. ड. ‘सौत्रं हे’ ।
४ ठ. ‘स्यभे’ । ५ ठ. ड. ‘भिन्नतेति’ ।

तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्याहगुणोऽन्य-
त्रोपासितव्योऽन्याहगुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदोद्विधिभेदे सति
विद्याभेदो विज्ञायते । न चात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति
शक्यं वक्तुम् । विनिर्गमनायां हेत्वभावात् । अनेकत्वाच्च प्रति-
प्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन विधानानुपपत्तेः । न चास्मि-
न्यक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः ।
प्रतिप्रकरणं चेदं कामेनेदमुपासितव्यमिदं कामेन चेदमिति नैरा-
काङ्क्षपावगमात्रैकवाक्यतापत्तिः । न चात्र वैश्वानरविद्यायामिव
समस्तचोदनाऽपराऽस्ति यद्वलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपा-
सनानि भूत्वैकवाक्येतामियुः । वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे
सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रति-
ज्ञायते । तस्मात्सुषूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति । स्थिते चैत-
स्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥५८॥ (३३)

प्राणेऽपि दर्शयति । तथेति । प्रतिप्रकरणं गुणभेदोक्तौ फलितमाह । एवमिति ।
यत्तु श्रुतिनानात्वं गुणान्तरपरमिति तद्वृषयति । न चेति । गुणान्तरविधिपरत्वे
वाऽप्राप्तानेकगुणपरतया वाक्यभेदान्न युक्त्यं व्यवस्थेति दोषान्तरमाह । अनेकत्वाच्चेति ।
विद्यैक्ये सत्येकत्रोक्तानां गुणानामन्यत्रोक्तिरयुक्ता पौनरुक्त्यात् । विद्याभेदे तु नैवं
विद्यान्तरस्यापि तद्गुणत्वाय पुनरुक्तिसंभवादत्रोऽपि विद्यानानात्वमित्याह । न चेति ।
तत्रैव हेत्वन्तरमाह । प्रतीति । सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति सर्वेष्व्वात्मस्वप्नमात्रं
जयतीमात्रोक्तानित्यादिफलसंयोगभेदादाकाङ्क्षाभावादेकवाक्यत्वायोगाद्विद्यानानात्व-
मित्यर्थः । यत्तु पूर्वन्यायेन संमत्तोपास्तेज्यायस्त्वमुक्तं तत्प्रत्याह । न चेति । अत्रेति
शाण्डिल्यादिविद्योक्तिः । यत्तु वेद्यैक्याद्विद्यैक्यमिति तत्राऽऽह । वेद्येति । सर्वगुणा-
नुपसंहृत्य प्रत्ययकर्तुरधिकारिणोऽसंभवान्न विद्यैक्यमित्यर्थः । शब्दादिभेदकृतं विद्याभे-
दमुपसंहरति । तस्मादिति । शब्दादिभेदाद्विद्याभेदे सति कथं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे
विद्यैक्यमुक्तं तत्राऽऽह । स्थिते चेति । शब्दादिभेदाद्विद्याभेदे सिद्धे सति सर्वसाखाग-
तवत्तद्वत्ज्ञानं प्राणज्ञानं च भिन्नेवेति शङ्किते सर्ववेदान्तवर्गं तद्विज्ञानमेकमित्युक्तमतोऽ-
स्याधिकरणस्य पादादावेवाऽऽर्थिकी संगतिरत्र तु प्रसङ्गादुक्तमित्यर्थः ॥५८॥ (३३)

१ घ. 'दाद्वेद्यभे' । २ क. ड. ज. अ. 'गमनहे' । ३ ड. अ. 'न गुणवि' । ४ क. घ. ड.
ज. अ. ट. 'कामत्वाद्' । ५ क. ड. घ. अ. 'क्यतां ययुः' । ६ ज. 'तामीयुः' । ७ क. ज. 'ते त्वेत' ।
८ ठ. ड. 'त्वे चाप्रा' । ९ ठ. ड. नैव । १० क. ख. ठ. 'मस्थोपा' । ११ क. ख. ठ. ड. 'ण्डिल्य-
विद्यादि' । १२ क. ख. ठ. ड. 'दे कं' । १३ ख. ठ. ड. 'न्तगतं' । १४ क. 'गैतत' ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ (३४)

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात् । अथ वा विकल्प एव नियमेनेति । तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किञ्चित्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्श्रित्यताश्रुतिरस्ति । तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः । विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः । तथा हि “भनोमयः प्राणशरीरः” [छा० ३ । १४ । २] “कं ब्रह्म खं ब्रह्म” [छा० ४ । १० । ५] “सत्यकामः सत्यसंकल्पः” [छा० ८ । १ । ५] इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः । समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् । तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प

विद्याभेदमुक्त्वा तदनुष्ठानभेदं वदन्नादावहं ग्रहोपास्वीनामनुष्ठानप्रकारमाह । विकल्प इति । अहं ग्रहोपासनान्यधिकृत्य याथाकाम्यविकल्पयोर्विद्यानानात्वसाम्यादधिकरणसंगतिगर्भं संशयमाह । स्थित इति । अहं ग्रहोपास्तीनां विकल्पेनानुष्ठानोक्त्या वाक्यार्थधीहितेरेवोक्तेरत्र पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे स्वेच्छया प्रवृत्तेरनुष्ठाननियमः । सिद्धान्ते ब्रीह्यादिष्विव तन्नियविरिति मत्वा याथाकाम्येनानुष्ठानमिति पूर्वपक्षयिष्यन्नादौ समुच्चयनियमं निरस्यति । तत्रेति । उपासनानां भिन्नत्वेऽपि समुच्चयनियमे नियमो युक्तो नित्याग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवदिति शङ्कते । नन्विति । उपास्तीनां काम्यत्वान्मैवमित्याह । नेत्यादिना । अग्निहोत्रादिषु समुच्चयस्तत्रेत्युक्तः । नहि किमिति विकल्पनियमो नाऽऽश्रीयते तत्राऽऽह । नापीति । समुच्चयविकल्पयोरनियमयोगादिच्छयाऽन्यतरोऽङ्गीकर्तव्य इत्याह । पारिशेष्यादिति । यथा ब्रीहिभिरेव पुरोडाशे सिद्धे यवा न समुच्चयन्ते कृतकरणत्वप्रसङ्गात् । तथाऽत्रापि ब्रह्मप्राप्तिफलमविशिष्टं तदेकेनैवोपासनेन कृतं चेन्नावकाशः समुच्चयस्येति शङ्कते । नन्विति । तदेवाविशिष्टफलत्वं स्पष्टयति । तथा हीति । काम्यदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिवत्फलभूमार्थिनः समुच्चयः स्यादित्याह । नेत्यादिना । विकल्पसमुच्चयनियमनिवृत्तिफलमुपसं हृत्य सिद्धान्तसूत्रमवतार्य प्रतिज्ञां विभजते । तस्मादित्यादिना । उक्तेऽर्थे प्रश्नः

[अ० ३ पा० ३ सू० ६०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९६३

एवाऽऽसां भवितुमर्हति न समुच्चयः । कस्मात् । अविशिष्टफल-
त्वात् । अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम् । एकेन
चोपासनेन साक्षात्कृत उपोस्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् ।
अपि चासंभवेः । साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतु-
त्वात् । साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः
“ यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति ” [छा० ३ । १४ ।
४] इति “ देवो भूत्वा देवानप्येति ” [बृ० ४ । १ । २]
इति चैवमाद्याः । स्मृतयश्च “ सदा तद्भावभावितः ” [भ०
गी० ८ । ६] इत्येवमाद्याः । तस्मादविशिष्टफलानां विद्या-
नामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन
तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥ (३४)

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेन्न
वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥ (३५)

अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम् । यासु पुनः काम्यासु

वैकं हेतुमादाय व्याचष्टे । कस्मादित्यादिना । ध्येयसाक्षात्कारार्थमेव समुच्चयाङ्गी-
कारे काक्षतिस्त्वचाऽऽह । एकेनेति । अभीष्टफलघातित्वाच्च समुच्चयोऽत्र नास्ती-
त्याह । अपि चेत्ति । उपास्तेरदृष्टद्वारा यागादिवत्फलोपायत्वोपपत्तेरुपास्यसाक्षात्का-
रापेक्षैव नास्तीत्याशङ्क्याहं ग्रहोपास्तीनां साक्षात्कारसाध्यफलं तथाश्रुतेरित्याह ।
साक्षादिति । यस्योपासकस्याद्धा साक्षादुपास्यं स्यान्न विचिकित्सा संशयोऽस्ति
प्राप्नुयामहं फलं न वेति तस्य ब्रह्माप्तिः स्यादित्यर्थः । देवो भूत्वा जीवन्नेव साक्षा-
त्कारेण देवभावमनुभूय पविते देहे देवानप्येति प्राप्नोतीत्यर्थः । न चाविशिष्टफलत्वे
फलभूमार्थिनः समुच्चयानुष्ठानमुपास्यसाक्षात्कारे तन्निमित्तं तत्प्राप्तौ च विशेषाभावादि-
त्याशयेनोपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५९ ॥ (३४)

अहं ग्रहोपास्तीनामनुष्ठानप्रकारमुक्त्वा प्रतीकोपास्तीनां तत्प्रकारमाह । काम्या-
स्तिविति । अनहं ग्रहाण्यकमाङ्गावबद्धानि च मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्येवमादीन्यभ्युदय-
फलान्युपासनानि विषयस्तेषु किं विकल्पप्रियमो याथाकाम्यं चेत्युभयोपपत्त्या संशये
प्रतीकोपास्तीनामुपास्तित्वादहं ग्रहोपास्तिवद्विकल्पान्नियमे प्राप्ते तद्वैपरीत्यमाह । अवि-
शिष्टेति । अत्र प्रतीकोपास्तिषु पूर्ववैपरीत्येनानुष्ठानस्य याथाकाम्योक्त्या वाक्यार्थ-
धीहेतोरेव कथनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रीह्यादिष्विवानुष्ठाननियमसिद्धिः ।
सिद्धान्ते फलवशादतन्निमित्तविरत्यङ्गीकृत्य सूत्राक्षराणि योजयति । यास्तिविति । स

१ ड. अ. ट. 'पास्यवि' । २ ड. अ. 'भव एव सा' । ३ ड. अ. 'इत्येव' । ४ ज. 'क्षात्कारण'
त' । ५ ड. अ. 'फलप्राप्तिरिति' । ६ क. ख. ठ. ड. 'साध्यं फ' ।

विद्यासु “ स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं
रोदिति ” [छा० ३ । १५ । २] “ स यो नाम ब्रह्मे-
त्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्यं यथाकामचारो भवति ”
[छा० ७ । १ । ५] इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनाऽऽ-
त्मनाऽऽत्मीयं फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता
यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्यावि-
शिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥ (३५)

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

कर्माङ्गेषु द्वादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं
ते समुच्चीयेरन्किंवा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव
इत्याह । येथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्येवं प्रत्यया
अपि । आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

यः कश्चिदेवं वायुं दिशां गोत्वेन कल्पितवानां वत्सं वेद नासौ पुत्रमरणनिमित्तं रोदं
रोदनं रोदिति लभते किंतु नित्यमवियुक्तवत्सादिगुणोपासनाज्जीवत्पुत्रो भवतीत्यर्थः ।
अहंग्रहोपास्तिषु साक्षात्कारसाधनत्वमुपाधिरिति मत्वा विशिनष्टि । साक्षादिति ।
विमतान्युपासनानि यत्प्राकाम्येनानुष्ठेयान्यविरुद्धभिन्नफलत्वाच्चित्राज्योतिष्टोमादिवदिति
भावः ॥ ६० ॥ (३५)

प्रतीकोपास्तीनामनुष्ठानक्रममुक्त्वाऽङ्गावबद्धोपास्तीनां क्रमं निरूपयिष्यन्पूर्वपक्ष-
माह । अङ्गेष्विति । अधिकरणस्य विषयं वक्तुमङ्गेष्विति पदं व्याचष्टे । कर्मेति ।
तदाश्रितोपासनानि विषयत्वेन दर्शयति । य इति । अङ्गद्वारा क्रतुसंबन्धात्फलसं-
निकर्षाच्च संशय इत्याह । किं त इति । तन्निर्धारणानियमाधिकरणे पुरुषार्थत्वमङ्गो-
पास्तीनामुक्तमिह सत्यपि पुरुषार्थत्वे समुच्चये मोनं नेत्युच्यते । अङ्गोपास्तीनामङ्गव-
त्समुच्चयनियमः किंवा प्रतीकदृष्टिवद्याथाकाम्यमिति संशयमनूद्य पूर्वोधिकरणवर्धना-
रुच्यनुष्ठानं नेति पूर्वपक्षयति । इति संशय इति । अत्र चाङ्गोपास्तिषु यथारुच्य-
नुष्ठानोक्त्या वाक्यार्थधीसाधनस्यैव चिन्तनत्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे समुच्चयानुष्ठाना-
त्फलबाहुल्यसिद्धिः । सिद्धान्ते समुच्चयस्याप्रामाणिकत्वात्तथाऽनुष्ठाने फलबाहुल्ययो-
गाद्यथारुच्यनुष्ठाने प्रवृत्तिसौकर्यमित्युपेत्य पूर्वपक्षसूत्रं योजयति । यथेति । अङ्गाश्रि-
तोपासनानि नियमेन क्रतौ समुचित्यानुष्ठेयानि नियमेन समुच्चीयमानाङ्गाश्रितत्वात्तदा-
श्रितोपाङ्गवदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

१ ड. अ. 'मेव वा' । २ ड. अ. 'स्य का' । ३ ड. अ. तत्फलं । ४ ड. अ. 'त्वादिति' ।
५ ड. ज. न. 'थेपा' । ६ ख. ट. ड. मानानेत्यु' । ७ क. ख. ठ. ड. 'ष्ठानात्फल' ।

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

यथा वाऽऽश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु शिष्यन्त एवमाश्रिता
अपि प्रत्ययाः । नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोक्तानां तदाश्रयाणां
च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

“ होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्धीतमनुसमाहरति ” [छा० १ ।
५ । ५] इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्योद्गुद्राता स्वकर्म-
ण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदि-
तस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थसंबन्धसामान्यास्तर्ववेदोदित-
प्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तर्मोकारं वेदत्रयसाधारणं श्राव-

इतश्चाङ्गोपास्तीनां समुच्चित्यानुष्ठानमित्याह । शिष्टेश्चेति । शिष्टिः शासनं
विधानं तस्या विशेषाभावादङ्गानां प्रत्ययानां च समुच्चयनियम इत्यर्थः । सूत्रस्याक्षरो-
त्यमर्थमाह । यथा 'वेति । 'तस्यैव तात्पर्यार्थमाह । नेत्यादिना ॥ ६२ ॥

इतश्चोपासनानि समुच्चित्यानुष्ठीयेरन्नित्याह । 'समाहारादिति । समाहरणं समवा-
करणं क्षतस्य संधानं समाहारस्तस्माल्लिङ्गात्समुच्चयो गम्यते प्रत्ययानामिति योजना ।
यः प्रणवो बह्वृचानां स च्छन्दोगानामुद्गीथः । यश्च तेषामुद्गीथः स प्रणवोऽन्येषामिति
प्रणवोद्गीथयोरेकत्वेन यदुपासनमुद्रात्रा कृतं तत्फलवादिवाक्यं सूत्रं व्याकर्तुमनुवदति ।
होतृषदनादिति । होतुः सदनं स्थानं होता यत्रस्थः शंसति तद्धोतृषदनं तेन चै
हौत्रं कर्म लक्ष्यते । ततः सम्यगनुष्ठितादुरुद्धीतं दुष्टं यदुद्गानं स्वरव्यञ्जनादिप्रमादादु-
द्रात्रा कृतं तदप्युद्गातव्यं तेनैक्यविज्ञानेनानुसमाहरति प्रतिसंस्थात्येव क्षतमिव वैद्य
इत्यर्थः । वाक्यस्याभीष्टमर्थं कथयति । प्रणवेति । तथाऽपि प्रकृते किमायातं तदाह ।
इति ब्रुवन्निति । वेदद्वययुक्तप्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानस्येदं फलं ब्रुवाणः सर्ववेदस्थानां
प्रत्ययानां सर्वत्रोपसंहारं समुच्चयं सूचयति । सर्वोपासनेषु वेदान्तरोक्तप्रत्ययस्य वेदा-
न्तरोक्तपदार्थेन संबन्धस्य समानत्वादिति योजना ॥ ६३ ॥

ॐकारस्योपास्यस्य साधारण्यादप्युपासनानां साधारण्यं समुच्चित्यानुष्ठानमिति
हेत्वन्तरमाह । गुणेति । विद्यागुणमित्यस्य व्याख्या विद्याश्रयमिति । विद्योद्गीथविद्या ।

१ क. ज. अ. ट. 'था चाऽऽश्र' । २ ट. 'त्यादुरुद्धा' । ३ क. ख. ट. ड. वेति । ४ क. ख.
ट. ड. बह्वृचां । ५ ख. च होतृकं ।

यति “ तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंस-
त्योमित्युद्गायति” [छा० १।१९] इति च । ततश्चाऽऽश्रयसाधा-
रण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव । अथ वा गुणसाधा-
रण्यश्रुतेश्चेति । यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसा-
धारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः । ते
तुद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः
श्राव्यन्ते । ततश्चाऽऽश्रयसहभावात्प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

न वेति प्रक्षव्यावर्तनम् । न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपास-
नानां भवितुमर्हति । कुतः । तत्सहभावाश्रुतेः । यथा हि त्रिवेद-
विहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रूयते “ ग्रहं वा गृहीत्वा
चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम
गाय होतरेतद्यज ” इत्यादिना । नैवमुपासनानां सहभावश्रुति-
रस्ति । ननु प्रयोगवचन एषां सहभावं प्रापयेत् । नेति ब्रूमः ।
पुरुषार्थत्वादुपासनानाम् । प्रयोगवचनो हि कर्त्तव्यानामुद्गीथा-
दीनां सहभावं प्रापयेत् । उद्गीथाद्युपासनानि कर्त्तव्याश्रयाण्यपि

वेनेत्योकारोक्तिः । त्रयी विद्या वेदत्रयविहितं कर्मैत्यर्थः । अन्वयमुखेन व्याख्यामुपसं-
हरति । ततश्चेति । आश्रयसाधारण्ये सत्याश्रितसाधारण्यमन्वयस्तमेवाऽऽश्रयसाधार-
ण्याभावे सत्याश्रितसाधारण्याभावरूपव्यतिरेकव्याख्यया द्रढयितुं सूत्रमादत्ते । अथ
वेति । व्यतिरेकेण सूत्रं योजयति । यदीति । उद्गीथादीनामपि तर्हि साधारण्यं वा
भूषत्राऽऽह । ते त्विति । गुणेन सहैव गुणिनः प्रत्ययस्याऽऽंगमनं सूच्यत इति
फलितमाह । ततश्चेति ॥ ६४ ॥

यस्मिन्नुपासने यस्याभिरुचिः स तदनुविष्ठति सर्वोपासनसमुच्चये तु न मान-
मिति सिद्धान्तयति । न वेति । तत्र वाकारार्थमाह । नेत्यादिना । नऽपि
व्याचष्टे । न यथेति । प्रश्नपूर्वकमवशिष्टमादाय व्याकरोति । कुत इति । निय-
मेन समुच्चीयमानाङ्गाश्रयत्वादित्युक्त्वाऽनुमानधिया शङ्कते । नन्विति । विमतो-
पासनानि न क्रतौ समुच्चित्यानुष्ठेयान्यङ्गाश्रितत्वे सति भिन्नफलत्वादोद्देशना-
दिबदिति मत्वाऽऽह । नेतीति । उक्तमेव व्यक्तीकरोति । प्रयोगेति ।

१ क. अ. ट. 'वेदीवि' । २ क. ड. अ. 'ति स्तुतम्' । ३ घ. ज. ट. सामानि । ४ क. अ.
एवाऽऽसां स' । ५ क. अ. प्रापयति । ६ क. अ. प्रापयति । ७ क. ड. अ. अ. 'नि तु क' । ८ क.
र. ज. अ. 'त्वङ्गाश्र' ।

[अ० ३ पा० ३ सू० ६६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९६७

गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम “पृथग्द्वयप्रतिबन्धः फलम्”
[ब्र० सू० ३ । ३ । ४२] इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो
विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां उपोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थ-
त्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासन-
सहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात् । न च प्रतिप्रयोगमाश्रयका-
त्स्नर्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम् । अत-
त्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम् । आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काम-
माश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावेन सहभावनियममर्हन्ति
तत्सहभावाश्रुतेरेव । तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥ (३६)

दर्शयति च श्रुतिसहभावं प्रत्ययानाम् “ एवंविद्ध वै ब्रह्मा
यज्ञं यजमानं सर्वाश्रित्विजोऽभिरक्षति ” [छा० ४ । १७ ।
१०] इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि “ सर्वे सर्वविदः ” इति

शिष्टेऽप्युक्तं विघटयति । अयमेवेति । समाहाराद्गुणसाधारण्यं श्रुतेऽप्युक्तं दूषयति ।
परं चेति । यदर्थवादसामर्थ्यं तदन्यतः प्राप्तस्यावद्योतकं न चेहोपासनानां समुच्चये
प्रापकमस्तीत्यर्थः । गुणसाधारण्येत्यादौ व्यतिरेकव्याख्यानं प्रत्याह । न चेति ।
उपासनानामाश्रयमावेऽपि सत्त्वाभावे कथमाश्रयतन्त्रत्वं तत्राऽऽह । आश्रयेति ।
इदमेवाऽऽश्रितानामाश्रयतन्त्रत्वं यदाश्रये सत्येव वृत्तिर्नासतीति । न तु तत्र वृत्तिरेव
नावृत्तिरिति कथमानामनित्यत्वात्तदुपबन्धोपास्तीनामपि तथात्वान्नित्यसंयोगविरोधादि-
त्यर्थः । अङ्गोपास्तीनामङ्गवदसमुच्चये प्रतीकदृष्टिवद्यथारुच्यनुष्ठानमित्युपसंहरति ।
तस्मादिति ॥ ६५ ॥

किंच विदुषा ब्रह्मणाऽन्येषामृत्विजां पाल्यत्वोक्तेरपि न सर्वविज्ञानोपसंहारधी-
रित्याह । दर्शनाच्चेति । सूत्रं विभजते । दर्शयतीति । ऋग्वेदादिविहितान्गुलोपे
व्याहृतिहोमप्रायश्चित्तादिविज्ञानवत्त्वमेवंवित्त्वं ब्रह्मणोऽभीष्टं कथं तावता विवक्षितानु-
पसंहारस्तत्राऽऽह । सर्वेति । अस्ति च तेनेतरेषामृत्विजां पाल्यत्वकीर्तनं तेन प्रत्यया-

१ घ. 'जमाना' । २ ड. अ. शक्यते । ३ क. ड. अ. 'वे स' । ४ ट. 'क्षतिरिति' ।
५ क. 'वैज्ञा' ।

न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत । तस्मा-
द्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥ (३६)

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवा-
नुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांस-
मानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अस्माद्वे-
दान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिध्यतीति बाद-
रायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते शब्दादित्याह ।

नुपसंहारधीरिति शेषः । अनुमानाच्छिद्धान्च सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति । याथा-
काम्यं व्याचष्टे । समुच्चयो विकल्पो वेतीति ॥ ६६ ॥ (३६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञान-
विरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३॥

कर्माङ्गैः सङ्गैर्विद्योक्तिप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमाशङ्क्य परिहरति । पुरुषार्थ-
इति । परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या परिमाणमवधार्य तासां कर्मानपेक्षाणामेव
पुरुषार्थसाधनत्वमवसरमाप्नोति निरूप्यते । तत्र कर्मानपेक्षाणाममूषां का नामेति कर्तव्यता
न हि तां विना कारणतेत्याशङ्क्य यज्ञादयः श्रवणादयः शोभदमादयश्च विद्योत्पत्त्यु-
पयोगिन्य इतिकर्तव्यता निरूप्यन्ते तदभिप्रेत्याऽऽह । अथेति । फलभेदाभेदौ
विना न विद्याभेदाभेदौ न च तौ विना गुणोपसंहारादनुपसंहारी तेन प्रागेव विद्यानां
पुमर्थहेतुत्वे स्थिते प्रथममौपनिषदमात्मज्ञानमधिकृत्य वादिविप्रतिपत्त्या संशयमह ।
औपनिषदमिति । अनेन चाऽऽत्मज्ञानविशेषणेन शौल्लभ्यश्रुतिसंगतिरुच्यते । सिद्धे
फलवत्त्वे स्वतन्त्रमेवेदं फलवदिति साधनादध्यायपादसंगती । पूर्वपक्षे समुच्चयपक्षसिद्धिः ।
सिद्धान्ते केवलस्य ज्ञानस्य केवल्यसाधनत्वेति मत्वा पूर्वपक्षमग्रे दर्शयिष्यन्नादौ
सिद्धान्तमाह । सिद्धान्तेनेति । सूत्रस्थां प्रतिज्ञां योजयति । अस्मादिति । तत्र
प्रमाणं पृच्छति । कुत इति । सूत्रावयवेनोत्तरमाह । शब्दादित्याहेति । प्रमाणं

१ क. संकीर्त्यते । २ क. ड. अ. 'ति । अतोऽस्मा' । ३ ड. 'हृति' । ४ ड. 'हृतिव्यो' ।
५ क. ख. ड. अ. ठ. ड. शमा' । ६ ड. 'इ आत्म' । ७ ड. अ. 'मतिः । पू' । ८ ड. अ. 'त्यस्य
सा' । ९ ड. अ. 'क्षयमा' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९६९

तथा हि “ तरति शोकमात्मवित् ” [छा० ७ । १ । ३]
 “ स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ” [मुण्ड० ३ ।
 २ । ९] “ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ” [तै० २ । १ । १]
 “आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमो-
 क्ष्येऽथ संपत्स्ये” [छा० ६ । १४ । २] इति । “ य आत्माऽ-
 पहतपाप्मा ” [छा० ८ । ७ । १] इत्युपक्रम्य “ स सर्वांश्च
 लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति ”
 [छा० ८ । ७ । १] इति । “ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ”
 [बृ० २ । ४ । ९] इत्युपक्रम्य “ एतावदरे खल्वमृतत्वम् ”
 [बृ० ४ । ५ । १५] इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलायां विद्यायाः
 पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥
 अथात्र प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनाऽऽत्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि ग्रीहिप्रोक्षणादि-
 वद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्धयेव । इत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन

विवृणोति । तथा हीत्यादिना । सगुणब्रह्मज्ञानस्यापि स्वातन्त्र्येण पुनर्हेतुवेति वक्तुं
 वद्विषयां श्रुतिमाह । य आत्मेति । निर्गुणविद्याविषयं वाक्यान्तरमाह । आत्मेति ।
 उक्तश्रुतिषु विद्याफलयोः साध्यसाधनत्वं न भावीत्याशङ्क्य तयोरेकपुरुषसंबन्धसा-
 मर्थ्यादेव तद्विरित्याशयेनाऽऽह । केवलाया इति ॥ १ ॥

पूर्वपक्षमवतारयति । अथेति । सिद्धान्तोक्त्यनन्तरमात्मज्ञाने विषये फलश्रुति-
 मधिकृत्य मीमांसकश्चोदयतीत्यर्थः । पुरुषार्थवाद इत्यत्रार्थग्रहणं तन्नेपोपात्तं तेन
 पुरुषार्थार्थवाद इति द्रष्टव्यम् । तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गकर्तृद्वारा प्रयोगविधिनाऽऽदेयमा-
 दीयमानकर्माङ्गकर्त्राश्रयेण शास्त्रसिद्धत्वाद्यजमानसंस्काराज्जनादिवदिति मत्वा शेष-
 त्वादित्येतद्व्याचष्टे । कर्तृत्वेनेति । तत्त्वज्ञानं प्रयोगविधिनाऽऽदेयं साध्यफलोक्ति-
 शून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्पण्यतीत्यादिवदिति प्रयोगः । स्वतन्त्रफलस्य कथं प्रोक्षणा-
 दिवत्कर्माङ्गत्वेत्याशङ्क्य पुरुषार्थवाद इत्यस्यार्थमाह । इत्यत इति । वेदार्थजिज्ञा-
 सायां तत्त्वनिर्णयार्थं संशयादिप्रतिभासो गुरोरग्रे शिष्येण दर्शनीयो गुरुणा च तन्नि-

१ ड. अ. “नाति” “आ” । २ क. ड. ज. अ. इति चोप । ३ ड. अ. श्रुतिविद्या ।
 ४ ड. अ. “याः केवलायाः पु” । ५ ड. अ. “अ परः प्र” । ६ ड. अ. “नविष” । ७ क. ख. ड. अ.
 “पार्थवादोऽर्थ” । ८ क. ख. ड. अ. “श्रयण” । ९ ड. अ. “यगात्प” ।

आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु “यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं गृणोति । यदाङ्गे चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्गे । यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै” इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः । तद्वत् । कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्याऽऽत्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते । कर्तृद्वारेणै वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसंबन्ध इति चेत् । न । वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः । अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसंबन्धोऽवकल्पते । कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात् । तस्मान्न तद्द्वारेणाऽऽत्मज्ञानस्य क्रतुसंबन्धासद्भिरिति । न । व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात् । न हि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्म-

रासेन तत्त्वमाविष्करणीयमिति शिष्टाचारं दर्शयितुं जैमिनिग्रहणं न प्रतिपक्षतया शिष्यस्य उदयोगात् । फलश्रुतिरर्थवादत्वे सूत्रितं दृष्टान्तं व्याचष्टे । यथेति । पर्णमयीद्रव्ये यजमानस्याञ्जनादिसंस्कारे प्रयाजादिकर्मसु च क्रमेण फलश्रुतीराह । यस्येत्यादिना । सा च फलश्रुतिर्न फलपरा फलवत्कत्वार्थत्वात्पर्णतादेः फलशेषत्वायोगात् । अतः साऽर्थवाद एवेति पर्णमयीत्वाधिकरणे समर्थितम् । तथाऽऽत्मज्ञानेऽपि फलश्रुतिरर्थवाद एव स्यादित्याह । तद्वदिति । विनियोजकमानाभावादात्मवियोऽनङ्गत्वात्तत्र फलश्रुतिर्नार्थवाद इति शङ्कते । कथमिति । प्रकरणादिना क्रत्वसंबन्धेऽपि जुहुद्द्वारा पर्णमयीत्वस्य वाक्यात्क्रतुसंबन्धवदात्मवियोऽपि कर्तृद्वारा वेदान्तवाक्यात्क्रतुसंगतिरिति पूर्ववाद्याह । कर्त्रिति । सिद्धान्ती दूषयति । नेति । तदेव विवृणोति । अव्यभिचारिणेति । जुहुवदात्मज्ञाने कर्तृवाव्यभिचारि द्वारमित्याशङ्क्याऽऽह । कर्तेति । तस्य व्यभिचारित्वे फलितमाह । तस्मादिति । किं देहातिरिक्तात्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं विनियोजकमानावान्निरस्यते किं वाऽपहवपाप्मत्वादिविशेषितासंसार्यात्मविषयौपनिषदज्ञानस्येति विकल्प्याऽऽद्यं पूर्ववादी दूषयति । नेति । तस्य विषयद्वारा तेष्वनुप्रवेशान्न कर्माङ्गत्वं निषेद्धं शक्यमित्यर्थः । लौकिककर्मणोऽपि कर्मत्वाद्वैदिककर्मवत्कर्तृद्वारेणातिरिक्तज्ञानापेक्षेति कर्तुः साधारण्यमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । सर्वथेति व्यतिरेकज्ञानाज्ञानानुरोत्यर्थः ।

१ ट. आशङ्कते । २ क. ज. अ. ‘ण तद्वि’ । ३ क. ड. अ. ‘स्य वाक्यात्क्रतु’ । ४ ड. अ. वाक्यनिनि । ५ ट. ‘कशा’ । ६ ड. ज. अ. ‘रमाविज्ञा’ । ७ ट. ड. ‘तिरर्थ’ ।

[अ० १ पा० ४ सू० २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९७१

सूपयुज्यते । सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः । वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम् । नग्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात् । न । प्रियादिसंस्मृचितस्य संसारिण एवाऽऽत्मनो द्रष्टव्यत्वोपदेशात् । अपहतपाप्मत्वादि विशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति । ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति । सत्यं प्रसाधितं तस्यैव . तु स्थूणानि सननवत्फलद्वारेणाऽऽक्षेपसमाधाने क्रियेते दाढ्याय ॥ २ ॥ .

एहिं वैदिकान्यपि कर्माणि कर्मत्वादितरवन्न व्यतिरेकज्ञानापेक्षाणात्याशङ्क्याऽऽह । वैदिकेष्विति । कारीर्यादिनिवृत्त्यर्थं देहपातेत्यादिविशेषणम् । द्वितीयमोशङ्कते । नन्विति । अनुपयोगित्वाद्विरोधित्वाच्च तस्यै न क्रत्वङ्गत्वेति भावः । क्रत्वपेक्षितं रूपं हित्वाऽन्यदविवक्षितमित्याह । नेत्यादिना । जायादीनामात्मार्थत्वेन प्रियत्वमुक्त्वाऽऽत्मा द्रष्टव्य इति वदता जायादिनां भोग्येन सूचितस्य संसारिणो भोक्तुरेव द्रष्टव्यत्वमिष्टं भोक्तृज्ञानं च कर्मसूपयुक्तमवो भोक्त्रादिरिक्तमात्मरूपं न श्रौतमित्यर्थः । अपहतपाप्मत्वादिविशेषणस्य भोक्तृयुक्तत्वादविरिक्तमात्मरूपमेष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह । अपहतेति । जन्मादिसूत्रमारभ्य तत्र तत्रापप्रश्नब्रह्मात्मपरत्वा वेदान्तानामुक्ता तत्कथमपहतपाप्मत्वादिकीर्तनस्य स्तुत्यर्थेति शङ्कते । नन्विति । अधिकमिति विशेषणादाशङ्कितं द्वैतं वारयति । तदेवेति । संसारिणोऽसंसारिश्चैव रूपमिति व्याहृतिं प्रत्याह । पारमार्थिकमिति । ऐक्ये प्रमाणं पूर्वाक्तं सूचयति । उपनिषत्स्विति । पूर्वपक्षक्षिपं समाधत्ते । सत्यमित्यादिना । फलद्वारेणेत्यात्मज्ञानं वेदान्तानां फलं तत्कत्वर्थं पुरुषार्थं वेति विचारद्वारेणेत्यर्थः । साधितस्यैवाऽऽक्षेपसमाधिभ्यां साधनस्य फलमाह । दाढ्यायेति ॥ २ ॥

१ क. ड. अ. 'स्मविज्ञा' । २ क. 'व्यत्वेनोप' । ३ ट. 'कं ह' । ४ क. ड. ज. अ. 'प्रप्रति' । ५ क. ड. अ. ठ. ड. 'मालम्बते' । ६ ड. ठ. 'स्य क्र' । ७ ड. अ. 'श्वरह' । ८ ड. 'क्षेपक्षं स' । ९ क. ड. अ. 'नां त' । १० ड. अ. 'र्थे ये' ।

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

“जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे” [बृ० ३।१।१] “यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि” [छा० ५।११।५] इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसंबन्धदर्शनानि भवन्ति । तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसंबन्धोऽवगम्यते । केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकापाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः । “अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्” इति न्यायात् ॥३॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

“यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” [छा० १।१।१०] इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥ ४ ॥

किंच जनकादीनां विद्यया सह कर्माचरणदर्शनान्न केवलैव विद्या मोक्षहेतुरतः सहानुष्ठानं विद्यायाः स्वावकाशाभावेन कर्माङ्गत्वे लिङ्गमित्याह । आचारेति । सूत्रं व्याचष्टे । जनको हेति । विदेहानामधिपतिर्जनको नाम राजा बहुदक्षिणसंज्ञेन यज्ञेनाश्वमेधेन वा बहुदक्षिणायुक्तेन पुरा कदाचिदीजे यागं कृतवान् । कैकेयस्य राज्ञो ब्रह्मविदो वाक्यमाह । यक्ष्यमाण इति । विद्यार्थिनः समागतान्माचीनशालादीन्भगवन्त इति संबोध्याहं यक्ष्यमाणोऽस्मि ततश्च कविचिद्दिनान्याध्वमिति राजोक्तवानित्यर्थः । उक्तवाक्यानि विद्यार्थानि न कर्मार्थानीत्याशङ्क्याऽऽह । अन्येति । इतश्च ब्रह्मविदामस्ति कर्मसंगतिरित्याह । तथेति । आदिपदेन व्यासयाज्ञवल्क्यादिसंग्रहः । द्वितीयेन भार्यानुशासनोदि गृह्यते । कर्म कृतं विद्वद्भिरेव कैश्चिदित्येवाववा विद्याशक्तेरपह्नवायोगात्केवलैव सा मुक्तिहेतुरित्याशङ्क्याऽऽह । केवलादिति । अल्पायासमुपायं हित्वा न कोऽपि महायासं तमाद्विष्यत इत्यत्र लौकिकन्यायमाह । अर्के चेदिति । समीपवचनोऽर्कशब्दः ॥ ३ ॥

न केवलं विद्याया लिङ्गादेव कर्माङ्गत्वं किंतु तृतीयाश्रुतेरपीत्याह । तदिति । सूत्रार्थं विवृणोति । यदेवेति ॥ ४ ॥

१ ड. अके । ज. ट. अक्ते । २ ड. अ. “नादयो गृ” । ३ ड. अ. गृह्यन्ते । ४ ड. अ. “क्षि-
तेम्” । ५ ड. अके । ६ ड. “नोऽक्षेय” ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ५।६।७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९७३

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

“ तं विद्याकर्मणी समन्वारभेत्, ” [बृ० ४ । ४ । २]
इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनाच्च स्वातन्त्र्यं
विद्यायाः ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

“ आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणा-
भिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीषानः ” [छा०
८ । १५ । १] इति चैवञ्जातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थवि-
ज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वात-
न्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते
नार्थविज्ञानम् । नैष दोषः । दृष्टार्थत्वाद्देवाध्ययनमर्थावबोधपर्य-
न्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

“ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्य-

इतश्च न स्वतन्त्रा विद्या पुमर्थहेतुरित्याह । समन्वारम्भणादिति । सूत्रं विवृ-
णोति । तमित्यादिना । तं परलोकं व्रजन्तं विद्याकर्मणी समनुगच्छत इति
यावत् ॥ ५ ॥

तदस्वातन्त्र्ये लिङ्गान्तरमाह । तद्वत् इति । तद्व्याकरोति । आचार्येति । तस्य
कुलं गृहमुपनयनं कृत्वा तत्प्राप्त्यनन्तरं गुरोः शुश्रूषारूपं कर्म विधायतिशेषेण
शिष्टेन कालेन यथाविधानं पवित्रपाणित्वप्राप्त्युत्पत्त्यादिविधानमनतिक्रम्य वेदमधीत्या-
नन्तरमभिसमावृत्य व्रतविसर्गं कृत्वा दारानाहृत्य कुटुम्बे गार्हस्थ्ये स्थितः शुचौ देशे
स्वाध्यायाध्ययनं कुर्वन्कर्मन्तराणि च क्विहवानि यथाशक्ति कुर्वाणो ब्रह्मलोकमभिसं-
पद्यत इत्यर्थः । अध्ययनशब्दस्य यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वा शङ्कते । नन्विति । अध्य-
यनविषयवधात्तादिविधिवद्दृष्टार्थत्वादर्थवबोधवान्तो व्यापारोऽस्तीति प्रथमे तन्त्रे समर्थि-
तमित्याह । नेत्यादिना ॥ ६ ॥

इतश्च न स्वतन्त्रा विद्या पुमर्थहेतुरित्याह । नियमाच्चेति । नियमं विभजते ।
कुर्वन्निति । इह देहे शतं समाः शतसंख्याकान्संवत्सरान्यजिजीविषेत्तत्कर्माणि

१ क. ड. अ. “म्भे साहित्यद” । २ क. ड. अ. “नि च य” । ३ क. ड. अ. ड. “राजिजी” ।
४ ड. “वेत्क” ।

येतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ” [ईशा० २] इति । तथा
 “ एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते
 मृत्युना वा ” इत्येवंजातीयकान्धियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया
 इति ॥ ७ ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्वर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तम् “शेषत्वात्पुरुषार्थवादः”
 [ब्र० सू० ३ । ४ । २] इति तन्नोपपद्यते । कस्मात् । अधि-
 कोपदेशात् । यदि संसार्येवाऽऽत्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च
 शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो धर्णिनेन प्रका-
 रेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽ-
 संसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिभ्रमरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशे-
 षणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । न च तद्विज्ञानं
 कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिन्नन्तीति वक्ष्यति
 “ उपमदे च ” [ब्र० सू० ३ । ४ । १६] इत्यत्र । तस्मात्
 “ पुरुषार्थोऽतः शब्दात् ” [ब्र० सू० ३ । ४ । १] इति
 यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वमभ्युत्ति-

कुर्वन्नेवेति नियमविधिः । एवं त्वयि नरे वर्तमाने सत्यक्षुभं कर्म न लिप्यते तेन त्वं न
 लिप्यस इति यावत् । ईतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति यतो न कर्मलेपः
 स्यादित्यर्थः । नियमान्तरमाह । तथेति । जरामर्यं जरामरणावधिकम् । तदेव विश-
 दयति । जरयेति । श्रुत्यादिभिरात्मधियः सिद्धे कर्माङ्गत्वे तत्फलैर्नैव फलवत्त्वमित्युपसं-
 हर्तुमितीत्युक्तम् ॥ ७ ॥

पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तव्यति । एवमिति । सूत्रं योजयति । तुशब्दादिति । पक्ष-
 विपरिवर्तमानमेव पक्षमनूय दर्शयति । यदिति । अनुपपत्तिहेतुं प्रश्नपूर्वकमाह ।
 कस्मादिति । अधिकोपदेशं व्यतिरेकतो दर्शयति । यदीति । यः कर्ता कर्माङ्गं
 नासौ वेदान्तवेद्यो यच्च ब्रह्म तद्वेद्यं न तत्कर्माङ्गमतस्तज्ज्ञानस्य कुतः शेषता कुत-
 स्तरां फलश्रुतेरर्थवादत्वेत्यर्थः । ब्रह्मात्मधीर्न क्रतुप्रयोगविधिनोपादेया तद्विरोधित्वादादी-
 यमानोदितहोमविरोध्यनुदितहोमवादिति मत्वाऽऽह । प्रत्युतेति । बादरायणस्येत्यादि
 व्याचष्टे । तस्मादिति । उक्तात्मज्ञानस्य ऋतुशेषत्वायोगस्तच्छब्दार्थः । “अधिकोप-

म० ३ पा० ४ सू० ८] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९७५

भिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते । तथा हि तमधिकं शारीरादी-
श्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः “यः सर्वज्ञः सर्ववित् ”
[मुण्ड० १ । १ । ९] “भीषाऽस्माद्वातः पवते” [तै० २ ।
८ । १] “महद्भयं वज्रमुद्यतम् ” [कठ० ६ । २]
“एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ” [बृ० ३ । ८ । ९]
“तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ” [छा० ६ ।
२ । ३] इत्येवमाद्याः । यत्तु प्रियादिसंस्मृतिरस्य संसारिण
एवाऽऽत्मनो वेद्यतवाऽनुकर्षणम् “आत्मनस्तु कामाय सर्वं
प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ” [बृ० २ । ४ । ५]
“यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः ” [बृ० ३ ।
४ । १] “य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ” [छा० ८ । ७ ।
४] इत्युपक्रम्य “एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि ”
[छा० ८ । ९ । ३] इति चैवमादि तदपि “अस्य महतो
भूतस्य निःश्वसितमेतच्च हर्षवेदः ” [बृ० २ । ४ । १०]
“योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ” [बृ०
३ । ५ । १] “परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते
स उत्तमः पुरुषः” [छा० ८ । १२ । ३] इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः
सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायां मत्पन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः ।
पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम् । उपाधिकृतं

देशासिद्धिमाशङ्क्य तद्दर्शनादित्यनेन प्रत्याह । तथा हीति । क्रत्वपेक्षितं रूपं
हित्वाऽन्यदात्मरूपमनिष्टमित्युक्तं तत्राऽऽह । यत्त्विति । आत्मनस्तु कामायेत्युपक्र-
म्याऽऽत्मा वा अरे द्रष्टव्य इति वाक्यं ब्रह्मोपदिदिक्षायां सत्यामेव ब्रह्मात्मैक्याभिप्राय-
मित्यत्र वाक्यशेषमाह । अस्येति । यः प्राणेनेत्यादि वाक्यमप्यैक्यपरमित्यत्र वाक्यशेषं
दर्शयति । योऽशनायेति । य एषोऽक्षिणीत्यादिवाक्यमपि तथेत्यस्मिन्नर्थे शेषानुगुण्य-
माह । परमिति । उक्तैः शेषैः संसारिणो यदधिकं ब्रह्म तस्योपदिदिक्षायां सत्यामेव
ब्रह्मणो जीवस्यात्यन्तभेदाभावविद्या द्रष्टव्यादिवाक्यमिति क्रत्वपेक्षितमात्मरूपं वेदा-
न्तेषु विवक्षितमित्युपगमे न कश्चिद्विरोधोऽस्तीति योजना । कुवो जीवब्रह्मैक्यं मिथो
विरोधादित्याशङ्क्य तात्त्विको विरोधो नास्तीत्याह । पारमेश्वरमिति । प्रातिमासि-
कस्तु विरोधस्तत्तात्त्विकाभेदाविरोधीति मत्वाऽऽह । उपाधीति । जीवस्य तात्त्विकं रूपं

१ क. ट. “यः” २ क. ज. “ते । भीषोदेति सूर्यः” । “म” ३ क. ज. “वेदो यजुर्वेदः ।
४ क. ज. “भिसंपद्य” । ५ क. क. ज. “क्षायां नात्यन्तभे” । ६ ट. रूपम् । ७ ट. “तं शा” ।

तु शारीरत्वम् “ तत्त्वमसि ” [छा० ६ । ८ । ७] “ ना-
न्यदतोऽस्ति द्रष्टृ ” [बृ० ३ । ८ । ११] इत्यादिश्रुतिभ्यः ।
सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यंचूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति । अत्र ब्रूमः । तुल्य-
माचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः । तथा हि श्रुतिर्भवति
“ एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयम-
ध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे ” [कौषी० २ । ५] “ ऐतं वै
तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकै-
षणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ” [बृ० ३ । ५ । १]
इत्येवंजातीयका । याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं
दृश्यते “ एतावदरे सख्यमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रव-
त्राज ” [बृ० ४ । ५ । १५] इत्यादिश्रुतिभ्यः । अपि च
“ यक्ष्यमाणो वै भगवन्तौऽहमस्मि ” [छा० ५ । ११ । ५]
इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम् । संभवति च सोपाधि-

ब्रह्मैवेत्यत्र श्रुतिसंवादमाह । तत्त्वमिति । संपदादिविषयं तत्त्वमादिवाक्यं न वस्तुवि-
षयमित्याशङ्क्याऽऽह । सर्वं चेति ॥ ८ ॥

परोक्तं लिङ्गदर्शनं प्रत्याह । तुल्यं त्विति । उक्तमनूद्य सूत्रमुत्तरत्वेन योज-
यति । यदित्यादिना । इवश्च विद्याया न शेषवेत्याह । याज्ञवल्क्येति । आदि-
शब्देन शुकादयो गृह्यन्ते । कथं तेषामकर्मनिष्ठत्वं तदाह । एतावदिति । उभयथा-
लिङ्गदर्शने संशयमाशङ्क्य परकीयलिङ्गानामन्यथासिद्धिं वक्तुमारभते । अपि चेति ।
तत्र यक्ष्यमाण इत्यादिलिङ्गदर्शनस्यान्यथासिद्धिमाह । यक्ष्यमाण इति । तत्रापि
विद्यात्वान्न कर्मसाहित्यमन्यथा ब्रह्मविद्यायामपि तत्प्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽह । संभ-
वतीति । तर्हि वैश्वानरविद्याया न स्वातन्त्र्येण फलवत्त्वं कर्माङ्गत्वाङ्गीकारात्तत्राऽऽह ।

१ ङ. अ. नान्योऽतो* । २ ङ. अ. द्रष्टा ” इत्येवमादि* । ३ क. ज. “तद्वस्तु विस्त” । ४ ङ.
ज. यदुक्त* । ५ ट. एवं चैत* । ६ ठ. ङ. अत्रापि ।

[अ. ३ पा. ४ सू. १०।११] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि। ९७७

कार्या ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम् । न त्वत्रापि कर्माङ्गत्व-
मस्ति । प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥

यत्पुनरुक्तम् “ तच्छ्रुतेः ” [बृ० सू० ३।४।४] इति ।

अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

“ यदेव विद्यायां करोति ” [छा० १।१।१०] इत्येषा
श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया । प्रकृतविद्याभिसंबन्धात् । प्रकृता चोद्गी-
थविद्या “ ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ” [छा० १।१।१]
इत्यत्र ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम् “ तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते ” [बृ० ४।४।
२] इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्यायां लिङ्गमिति तत्प्र-
त्युच्यते । विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्याऽन्यं पुरुषैर्मन्वारभते कर्मा-
न्यमिति । शतवत् । यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य
दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत् । न चेदं समन्वार-
म्भवचनं मुमुक्षुविषयम् “ इति नु कल्पयमानः ” [बृ० ४।

न त्विति । येषां च ब्रह्मविद्यामपि कर्म दृश्यते न तत्तेषां कर्म तद्वि चोदनालक्षणं
तेषां चाहंममाभिमानाभावेन चोदनाभावात्कथंचिदनुवर्तमानमपि तदाभासमात्रमिति
भावः ॥ ९ ॥

परोक्षां श्रुतिमनूद्य तदुत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति । यदिति । तद्विभजते । यदे-
वेति । विद्याशब्दस्य सामान्यविषयस्य विशेषाकाङ्क्षस्य प्राकरणिकविशेषेण चरित्वा-
र्थत्वादिति हेतुमाह । प्रकृतेति । आत्मधियस्तथात्वशङ्कां प्रत्याह । प्रकृता
चेति ॥ १० ॥

परकीयं लिङ्गान्तरं दूषयति । विभागः इति । चोद्यमनूद्योत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे ।
यदपीत्यादिना । सामान्यश्रुतौ कथं विभागः स्यात्तत्र सङ्गोपपत्त्याह । शतवदिति ।
समन्वारम्भवचनस्य मुमुक्षुविषयत्वमुपेत्य कर्मसाहित्येन तल्लिङ्गं विभागादित्युक्तम् ।
इदानीममुमुक्षुविषयत्वादविभागेऽपि न दूषणमित्याह । न चेति । तस्यामुमुक्षुविषयत्वे

१ क. म. “रुषं सम” । २ ट. “षमार” । ३ ड. म. “वे च चो” । ४ ट. ड. “त्र द” । ५ क.
ड. म. “भागोऽपि” ।

४ । ६] इति संसारिविषयत्वोपसंहारात् । “अथाकामयमानः”
[नृ० ४ । ४ । ६] इति च मुमुक्षोः पृथगुपक्रमात् । तत्र संसा-
रिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभावात् ।
कर्माणि विहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात् । एवं सत्य-
विभागेनापीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

यच्चैतत् “तद्वतो विधानात्” [ब० सू० ३ । ४ । ६] इत्यत
उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

“आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य” [छा० ८ । १५ । १] इत्य-
त्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्य-
वस्यामः । नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत । नैष
दोषः । न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वार-
यामः किं तद्यौपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीय-
मानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतत्प्रतिपादयामः ।
यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत एवमेतदपि
द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

हेत्वन्तरमाह । अथेति । संसारिविषये तं विद्येत्यादिवाक्ये विद्याशब्दार्थमाह । तत्रेति ।
उद्गीथादिविषया विहिता विद्या प्रतिषिद्धा च न ब्रह्मादर्शनादिरूपा । तथाभूतकर्मसाह-
चर्यादपि तथाविधैव विद्येत्याह । कर्मापीति । प्रकृते वाक्येऽपि* विद्याकर्मणोरविशे-
षोपादाने हेतुमाह । यथेति । उक्तार्थवाक्यस्य संसारिविषयत्वे फलितमाह । एव-
मिति ॥ ११ ॥

लिङ्गान्तरमनूय सूत्रमादत्ते । यच्चैति । यच्चैतदुक्तमित्यर्थः । सूत्रं विवृणोति ।
आचार्येति । मात्रग्रहणेनार्थज्ञानमात्रं व्यवच्छिन्नमिति मन्वानः शङ्कते । नन्विति ।
अविद्यत्वाद्विद्याहीनत्वादिति यावत् । मात्रग्रहणमात्मज्ञानापेक्षं न कर्मावबोधोपेक्षमि-
त्याह । नेत्यादिना । वेदार्थत्वादात्मनस्त्वज्ञानमपि कर्मावबोधवदधिकारेऽपेक्षितव्यमि-
त्याशङ्क्याऽऽह । यथेति । पूर्वसूत्रव्याख्यासमाप्ताविति शब्दः ॥ १२ ॥

१ ज. “ति मु” । २ ड. अ. “षां वि” । ३ ड. “तं प्रहितं प्र” । ४ क. यदुक्तं तद्व” । ड.
अ. यथोक्तं तद्व” । ५ ज. “त्यर्थ” । ६ ड. अ. “विद्वत्त्वाद” । ७ क. ड. ज. अ. “त्येतावत्प्र” । ८ ड.
अ. “कारिणाऽपे” । ९ ज. “रेऽप्यपे” । १० ड. अ. “विद्वत्त्वाद्धि” । ११ ड. अ. कर्मावबोध” ।

[अ. ३ पा. ४ सू. १३।१५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि। ९७९

यदप्युक्तम् “नियमाच्च” [ब्र० सू० ३।४।७] इत्यत्राभि-
धीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्” [ईशा० २] इत्येवमादिषु
नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति । अविशेषेण निय-
मविधानात् ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि ” [ईशा० २] इत्यत्रापरो विशेष
आरूपायते । यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति
संबध्येत तथाऽपि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्वृष्टव्यम् “न
कर्म लिप्यते नरे” [ईशा० २] इति हि वक्ष्यति । एत-
दुक्तं भवति यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म
लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्ट-
म्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति ।

लिङ्गान्तरमनूद्य सूत्रान्तरमादत्ते । यदपीति । अविद्वद्विषयं नियमविधानमिति
व्याचष्टे । कुर्वन्निति ॥ १३ ॥

विद्वद्विषयत्वमुपेत्य परिहारान्तरमाह । स्तुतय इति । एवं तर्हि प्रकरणमभ्य-
सि वि मत्वां सूत्रं विभजते । कुर्वन्नेवेति । विशेषमेव विशदयति । यद्यपीति ।
स्तुत्यर्थं कर्मानुज्ञानमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति । नेति । तथाऽपि कथं स्तुतिस्त-
त्राऽऽह । एतदिति । एवं कर्म कुर्वत्यपि त्वयि नेतो ब्रह्मभावाद्विद्यागम्या-
दन्यथा संसारापत्तिरस्ति यतो न कर्म लिप्यत इति योजनां गृहीत्वोपसंहरति ।
तदेवमिति ॥ १४ ॥

पूर्वपक्षहेतूनेवमुन्मथ्य स्वपक्षे हेत्वन्तरमाह । कामेति । इतश्च विद्याया न कर्मा-
ङ्गत्वेति चकारार्थमाह । अपि चेति । स्वेच्छातः कर्मसाधनप्रजादित्यागलिङ्गादपि
विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति हेत्वन्तरमेव स्फोरयति । एक इति । येषां नोऽस्माकमय-

१ सू. “नेव क” । २ ड. अ. संबध्येते । ३ ड. अ. “पि पुरुषे विदुषि न । ट. “पि त्वयि वि” ।
४ ड. ड. “वं हि प्र” । ५ क. ख. ड. अ. “पक्षे हे” ।

कामकारणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेपिनाम् “ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः ” [बृ० ४ । ४ । २२] इति । अनुभवाद्ब्रह्ममेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति “ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत् ” [बृ० २ । ४ । १४] इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १६ ॥

मपरोक्षः सन्नात्माऽयं लोकः प्रत्यक्षं फलं ते वयं किं प्रजया करिष्याम इति निश्चिन्त्याग्निहोत्रादि न हुतवन्त इत्यर्थः । मोक्षस्यादृष्टफलत्वात्कथं मुक्तत्विनश्चयात्प्रजादित्यागसिद्धिस्तत्राऽऽह । अनुभवेति । ब्रह्मधीर्न क्रतुप्रयोगविधिनाऽऽदेया ऋत्वङ्गसंबन्धित्वेऽपि फलान्तरयोगित्वादोदोहनमदिति मत्वाऽऽह । अतोऽपीति ॥ १५ ॥

अधिकोपदेशादित्यत्राऽऽत्मनोऽशनायोद्यत्यात्तद्धीर्न कर्माङ्गमित्युक्तम् । इदानीमशेषक्रियादिविभागोपमर्दकत्वादपि न कर्माङ्गमित्याह । उपमर्दं चेति । इतश्चाऽऽत्मधीर्न कर्माङ्गमिति चकारार्थमाह । अपि चेति । हेत्वन्तरं स्फोरयति । कर्मेति । विद्यासामर्थ्यात्प्रपञ्चोपमर्दं फलितमाह । वेदान्तेति । आत्मज्ञानस्याऽऽदीयमानकृत्यङ्गविरोधित्वे फलितं निगमयति । तस्मादिति ॥ १६ ॥

१ ड. 'द्वांसो न । २ ट. 'कां कं' । ३ क. ज. ट. प्रसज्यते । ४ ड. अ. न हुत' । ५ ड. 'यात्य' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० १७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९८१

उर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥ (१)

उर्ध्वरेतःसु चाऽऽश्रमेषु विद्या श्रूयते । न च तत्र कर्मा-
ङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते । कर्माभावात् । न ह्यग्निहोत्रादीनि
वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति । स्यादेतत् । उर्ध्वरेतस आश्र-
मा न श्रूयन्ते वेद इति तदपि नास्ति तेऽपि हि वैदिकेषु
शब्देष्ववगम्यन्ते “ त्रयो धर्मस्कन्धाः ” [छा० २ । २३ ।
१] “ ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ” [छा० ५ ।
१० । १] “ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये ” [मुण्ड० १ ।
२ । ११] “ एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ”
[बृ० ४ । ४ । २२] “ ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ” [जावा० ४]
इत्येवमादिषु । प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृत-
वर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं
विद्यायाः ॥ १७ ॥ (१)

विद्यास्वातन्त्र्ये हेत्वन्तरमाह । उर्ध्वरेतःस्त्विति । विद्याकर्मणी नाङ्गोद्भिभूते मिथो
व्यतिरेकित्वाद्दुर्गमनैश्चिक्रवत्तदिति मत्वा योजयति । उर्ध्वेत्यादिना । तथाऽपि
कथं कर्माङ्गत्वं विद्याया व्यासेध्यते तत्राऽऽह । न चेति । तेषामपि स्नानादि कर्मा-
स्तीत्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । बाधितानुवृत्त्या तत्सद्भावेऽपि वैदिकाग्निहोत्राद्यभा-
वाच्च क्रत्वङ्गता ज्ञानस्येत्यर्थः । शब्दे हीतिसूत्रावयवव्यावर्त्यामाशङ्कामाह । स्यादिति ।
सूत्रावयवेनोत्तरमाह । तदपीति । कर्मानधिकृतान्वादिविषयं पारिव्राज्यमित्याश-
ङ्क्याऽऽह । प्रतिपन्नेति । ऋणापाकरणे श्रुतिस्मृतिभ्यां गृहस्थस्यैवापाकृतवर्णत्रय-
स्यैवोर्ध्वरेतःशब्दित्वमैथुनासम्यचारोपलक्षितं पारिव्राज्यमित्याशङ्क्याऽऽह । अपाकृ-
तेति । साक्षाद्विधिभिरुपविरोधेऽर्थवादश्रुतिस्मृत्योर्बोध्यतेत्यभिप्रेत्योक्तम् । श्रुतीति ।
श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याद्या दर्शितं । स्मृतिस्तु तस्याऽऽश्रमविकल्पमेकं ब्रुवते
यमिच्छेत्तमावसेदित्याद्योदाहार्या । उर्ध्वरेतःस्वाश्रमेषु विद्यायाः सिद्धौ फलितमाह ।
तस्मादिति । तस्याः स्वातन्त्र्येकेवलायाः सिद्धौ मुक्तिफलवेति वक्तुमितीत्युक्तम् ॥ १७ ॥ (१)

१ क० घ. ड. ज. अ. ट. 'तर्णानां चो' । २ क. ख. 'ज्ञाहीभू' । ३ क. घ. 'सेध्येत त' ।
४ ड. अ. 'वात्कत्व' । ५ ख. ड. 'ब्धितं मै' । ६ ड. अ. 'स्तु यस्याऽऽ' । ७ क. ख. ड. अ.
मुक्तिः फलिते' ।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

“त्रयो धर्मस्कन्धाः” [छा० २ । २३ । १] इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावाद्योदाहृतो न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति । यतः परामर्शेषु शब्देष्वश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधिम् । कुतः । न ह्यत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति । अर्थान्तरपरत्वं चैकु प्रत्येकमुपलभ्यते । त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावच्चज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्यचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्याऽऽत्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूपते “ ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति [छा० २ । २३ । २] इति । ननु परामर्शोऽप्याश्रमा गम्यन्त एव । सत्यं गम्यन्ते । स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः । अतश्चप्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति ।

पूर्वाधिकरणवान्तरसूत्रेणाऽऽक्षेपलक्षणां संगतिं विवेक्षन्नाक्षिपति । परामर्शमिति । ऊर्ध्वरेतःशब्दितं पारिव्राज्यं नानुष्ठेयमनुष्ठेयं वेतिभ्रान्तिप्रमाणमूलत्वाभ्यां संदेहे पूर्वपक्षायति । त्रय इति । अत्र शास्त्रीयसम्यग्ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनप्रसङ्गादनुष्ठेयमुच्यत इति स्फुटा पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे^१ परिव्राजके विद्याप्रसिद्धेर्विभ्रमत्वात्तस्या न स्वातन्त्र्यसिद्धिः । सिद्धान्ते तस्यास्त्वत्र प्रामाणिकत्वात्तत्सिद्धिरिति स्वीकृत्य परामर्शं जैमिनिरिति व्याख्याय हेत्वाकाङ्क्षायामचोदनेति हेतुत्वेन व्याचष्टे । कुत इति । पूषा प्रपिष्टभाग इतिवत्कल्प्यतां विधिरित्याशङ्क्य ब्रह्मसंस्थतादिविधिपरत्वाद्वाक्यजातस्य नैवमिति चशब्दार्थमाह । अर्थान्तरेति । तत्र ब्रह्मसंस्थतादिविधिपरत्वं त्रय इत्यादिवाक्यस्य साधयति । त्रय इत्यादिना । अन्यत्र विहितस्यान्यत्र परामर्शान्यत्र विधिकल्पनादिहैव कल्पना लघ्वीत्याशङ्कते । नन्विति । परामर्शस्यानुवादाख्यस्य पुरोवादापेक्षत्वात्तद्वशादाश्रमप्रतीतिमङ्गीकरोति । सत्यमिति । तर्हि तद्विषयश्रुतेरन्यत्राऽऽश्रितत्वाद्गौरवमित्याशङ्क्याऽऽह । स्मृतीति । तयोरपि श्रुतिमूलत्वाद्विधियुक्तश्रुतिकल्पनादिहैव तत्कल्पने लाघवमित्याशङ्क्याऽऽह । अतश्चेति । प्रत्यक्षश्रुतिर्याव-

१ घ. 'वादयो' । २ ट. 'ता नैते' । ३ ड. अ. 'चेतेषां प्र' । ४ क. ड. ज. अ. 'त्यक्षायाः । भु' । ५ ड. अ. 'वक्ष्यता' । ६ क. 'ष्ठेय' । ७ क. ड. अ. 'क्षे पारि' । ८ क. ड. अ. 'पुरावा' । ९ घ. 'अयप्र' । १० घ. 'पि स्मृति' । ११ ठ. ड. 'नेत्यल' ।

अनधिकृतविषया वा । ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परा-
मृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति । सत्यमेवं तथाऽपि तु
गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि
तदस्तित्वम् । तस्मात्स्तुत्यर्थं एवायं परामर्शो न चोदनार्थः ।
अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् “ वीरहा वा
एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते ” “ आचार्याय प्रियं धनमा-
हुत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ” [तै० १ । ११ । १]
“ नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः ” इत्येवमाद्या ।
तथा “ ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ” [छा० ५ । १० । १]
“ तपःश्रद्धे ये ह्युपसन्त्यरण्ये ” [मुण्ड० १ । २ । ११] इति
च देवयानोपदेशो नाऽऽश्रमान्तरोपदेशः । संदिग्धं चाऽऽश्र-
मान्तराभिधानम् “ तप एव द्वितीयः ” [छा० २ । २३ । २]
इत्येवमादिषु । तथा “ एतमेवं प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्र-
जन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इति लोकसंस्तवोऽयं न पारि-

ज्जीवादिश्रुतिः । निरालम्बनत्वात्कथमपि सालम्बनत्वं युक्तमिति कल्पान्तरमाह ।
अनधिकृतेति । येऽन्धादयो नित्यादिकर्मस्वनधिकृतास्तद्विषया । आश्रमान्तरस्मृतयस्त-
दाचाराश्चेत्यर्थः । आश्रमान्तराणां परामर्शोऽपि गार्हस्थ्यवत्प्रामाणिकत्वसिद्धेरनुष्ठेयतेति
शङ्कते । नन्विति । परामर्शसाम्यमङ्गीकरोति । सत्यमिति । तर्हि प्रामाणिकत्वेना-
नुष्ठेयत्वमपि तुल्यं स्यादित्याशङ्क्य न परामर्शमात्राद्गार्हस्थ्यसिद्धिः । अपि तु प्रत्यक्ष-
श्रुतिविधानादिति विशेषमाह । तथाऽपीति । गार्हस्थ्यमेकमेव श्रौतमिति स्थिते ब्रह्मसं-
स्थतास्तुत्यर्थमेव त्रय इत्याद्याश्रमान्तरवचनमित्युपसंहरति । तस्मादिति । निन्ध-
मानत्वाच्चाऽऽश्रमान्तरमननुष्ठेयमित्याह । अपि चेति । तत्र सूत्रावयवं योजयति ।
अपवदतीति । तत्र त्रय इत्यादिवाक्यस्यान्यार्थत्वमुक्त्वा वाक्यान्तरस्यापि तद्वदे-
वार्थान्तरपरत्वमाह । तथेति । तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती-
विवाक्यशेषाद्देवयानोक्तपरं तदित्यर्थः । आश्रमवाचकशब्दामावाच्यान्तरपरत्वमि-
त्याह । संदिग्धं चेति । प्रव्रजन्तीत्याश्रमवाचिशब्ददृष्टेरनुष्ठेयं पारिव्राज्यमित्याश-
ङ्क्याऽऽह । तथेति । एवंविशिष्टोऽयमात्मलोको यदेनं साक्षात्कर्तुमिच्छन्तो दुरनुष्ठे-
यामपि प्रव्रज्यां कुर्वन्तीति स्तुतिर्न तद्विषयो विधिवैर्भानापदेशादित्यर्थः । पूर्वपक्षमा-

१ ड. अ. यो । २ क. ड. ज. अ. ट. 'व त' । ३ ज. ट. 'ति दे' । ४ ड. 'कस्तन्तवोऽ' ।
५ ड. अ. कल्पान्त' । ६ ठ. ड. 'ति । त्रय । ७ ड. अ. 'ति । ते विरजाम' । ८ ड. अ. 'को येनेवं
सा' । ९ ड. अ. 'ति श्रुति' । १० ड. अ. 'मानोप' ।

ब्राज्यविधिः । ननु च ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं ,
पारिव्राज्यविधानं जावालानाम् । सत्यमेवमेतत् । अनपेक्ष्य त्वेतां
श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते । 'वेदे श्रव-
णात् । अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानु-
ष्ठेयमाश्रमान्तरमितीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदेवाऽऽश्र-
मान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः । कुतः ।
साम्यश्रुतेः । 'समा हि गार्हस्थेनाऽऽश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुति-
र्हश्यते " त्रयो धर्मस्कन्धाः " [छा० २ । २३ । १] इत्याद्या ।
यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्त-
रमपीति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीत-

क्षिपति । नन्विति । प्रत्यक्षविधानमङ्गीकरोति । सत्यमिति । तर्हि पूर्वपक्षासिद्धिरि-
त्याशङ्क्य नास्तीदं विधानमिति कृत्वाचिन्वेयमित्याह । अनपेक्ष्येति ॥ १८ ॥

सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याकरोति । अनुष्ठेयमिति । पूर्वपक्षमनुभाष्य तन्निरासप्र-
विज्ञां विवृणोति । वेद इति । तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह । कुत इति । तस्याक्षरार्थ-
माह । समा हीति । तस्यैव तात्पर्यार्थमाह । यथेति । त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्रोर्ध्व-
रेतस आश्रमाः श्रुत्यन्तरप्राप्तिसिद्धा एव परामृश्यन्त एतद्वाक्यपरामृष्टत्वाद्गार्हस्थ्यवदि-
त्यर्थः । परामर्शस्य विधिपूर्वकत्वे दृष्टान्तमाह । यथेति । निवीतं मनुष्याणां प्राची-
नावीतं पितृणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इत्यत्रोपवीतविधिपरे
वाक्ये विध्यन्तरसिद्धयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोर्यथा परामर्शस्तथाऽत्रापीत्यक्षरार्थः ।
निवीतं मनुष्याणामित्यादि दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं तत्रोपवीतं, विधीयत एवेतरयोस्तु विधि-
रर्थवादो वेति संशये सत्यपूर्वार्थलाभान्मनुष्यशब्दस्य च मनुष्यप्राधान्यवचित्वादा-
विषये कर्मणि निवीतं पित्र्ये च प्राचीनावीतमिति प्राप्ते मनुष्याणां क्रियासु सौकर्याय
कण्ठलम्बिवस्त्रधारणस्य वा देहार्धबन्धनस्य वा निवीतस्य प्राप्तत्वात्प्राचीनावीतस्य च
पितृयज्ञे वाक्यान्तरेण प्राप्तेस्तदनुवादेन निवीतमित्यादिरुपवीतं स्तोतुमर्थवाद इति
प्राच्यां मीमांसायां स्थितम् । तथैव परामर्शश्रुतावपि त्रय इत्याद्यायां गार्हस्थ्यवदा-

१ ड. अ. 'नु ब्र' । २ क. ड. अ. वेदेषु । ३ ड. ज. अ. 'मिति हीमां' । ४ ड. अ. समाना ।
५ ठ. ड. 'त्पर्यमा' । ६ ड. अ. 'रसि' । ७ ठ. ड. 'शैवि' । ८ क. ड. अ. ठ. ड. 'वादित्वा' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० १०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । २८५

प्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये । तस्मात्तुल्यम-
नुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाऽऽश्रमान्तरस्य । तथा “ एतमेव प्रव्राजिनो
लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यस्य
वेदानुवचनादिभिः समभिध्याहारः । “ ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप
इत्युपासते ” [छा० ५ । १० । १] इत्यस्य च पञ्चाग्निवि-
द्यया । यच्चूक्तम् “ तप एव द्वितीयः ” [छा० २ । २३ । २]
इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति । नैष दोषः । निश्चय-
कारणसद्भावात् । “ त्रयो धर्मस्कन्धाः ” [छा० २ । २३ । २]
इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम् । न च यज्ञादयो भूयांसो
धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राऽऽश्रमसंबन्धात्रित्वेऽन्तर्भाव-
पितुं शक्यन्ते । तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो
निर्दिष्टो ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽ-
न्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत । “ ये चेमेऽ-
रण्ये ” [छा० ५ । १० । १] इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपो-
भ्यामाश्रमगृहीतिः । तस्मात्परामर्शोऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

श्रमान्तरमपि विहितमेवान्यत्र परामृश्यते तस्य विध्यपेक्षत्वादित्यर्थः । साम्यश्रुतिफ-
लमाह । तस्मादिति । त्रय इत्यत्राऽऽश्रमान्तरस्य गार्हस्थ्येन साम्यश्रुतिरुक्ता
संप्रति पारिव्राज्यवाक्येऽपि साम्यश्रुतिमाह । तथेति । अस्येति पारिव्राज्योक्तिः ।
विधेयसाहित्यादस्यापि विधेयतेत्यर्थः । वाक्यान्तरेऽपि साम्यश्रुतिमाह । ये चेति ।
अस्येति वानप्रस्थोक्तिः । विधेयैषश्चाग्निविद्यया तस्य सहोक्तिरस्ति तेन तद्वदेव वान-
प्रस्थमनुष्ठेयमित्यर्थः । परोक्तिमुद्राव्य प्रत्याह । यत्तित्यादिना । किं तन्निश्चयका-
रणं तदाह । त्रय इति । स्कन्धशब्दस्य समूहवाचित्वेऽपि त्रित्वप्रतिज्ञा स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह । न चेति । यजेत दद्यादित्याद्युत्पत्तिविधिभिन्नाः सन्तो बहवो धर्मा
नाऽऽश्रमसंबन्धमन्तरेण त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते । यद्याश्रमपरः स्कन्धशब्दो न
स्यान्न स्यात्ततो यज्ञादीनां त्रित्वं तेषामभिकर्तृत्वादतः स्कन्धशब्दस्य समूहार्थत्वायोगा-
त्रित्वमेव स्कन्धानामाश्रमवनिश्चायकमित्यर्थः । कथं तर्हि तेषामाश्रमाणां विभागस्त-
त्राऽऽह । तत्रेति । वाक्यान्तरेऽपि निश्चायकं दर्शयति । ये चेति । परोक्तं निरस्य
समतमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ १९ ॥

१ ट. 'वीतिवि' । २ ट. 'ति ध' । ३ ड. ज. अ. हि स्क' । ४ क. ड. अ. 'क्ये सा' ।
५ ड. 'यप्रप' । ६ ट. ड. 'रोक्तमु' । ७ ड. अ. 'यकर' । ८ ड. 'स्यात्' । ९ ड. अ. ठ. ड.
'धिकत्वा' । १० ड. अ. 'र्थयो' ।

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥ (२)

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम् । ननु विधित्वा-
भ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत प्रतीयते चात्रैकवाक्यता
पुण्यलोकफलात्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति ।
सत्यमेतत् । सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्यु-
पगन्तव्योऽपूर्वत्वात् । विध्यन्तरस्यादर्शनात् । विस्पष्टाच्चाऽऽ-
श्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः । धार-
णवत् । यथा, “ अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो
धारयति ” इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधी-

परामर्शमुपेत्यानुष्ठेयत्वमुक्तमिदानीं विधिरेवायमित्याह । विधिर्वैति । प्रतिज्ञां विभजते ।
विधिरिति । स्मृत्याचारयोराश्रमचतुष्टयनिविष्टयोर्भ्रान्तित्वायोगान्मूलकल्पनायां विधि-
युक्तवाक्यकल्पनालक्षणीयस्त्रय इत्यादिष्वाश्रमविधिकल्पनमिति भावः । अल्पफलत्वेनाऽऽ-
श्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थतास्तुतेरेकवाक्यत्वनिश्चयात्तद्भेदेनात्राऽऽश्रमविधिकल्पनमयु-
क्तमिति शङ्कते । नन्विति । एकवाक्यतावीरेव कथं तत्राऽऽह । प्रतीयते चेति ।
एकवाक्यत्वसंभवे तद्भेदो न युक्तिर्मानित्यङ्गीकरोति । सत्यमिति । आश्रमाणां पूर्व-
सिद्धेरभावात्तत्परामर्शेन स्तुतेरयोगादेकवाक्यत्वैवात्रायुक्त्याह । सतीमिति । किंच
विधियुक्तवाक्यान्तरकल्पनायामाश्रमान्तराणां विहितत्वोपगमप्रसक्त्या सपक्षहानात्-
त्कल्पनादिहैवाभीष्टे वाक्ये विधिमात्रकल्पना युक्त्याह । विध्यन्तरस्येति । किंच
मुख्यमाश्रमान्तरप्रत्ययं त्यक्त्वा स्तुतिलक्षणयैकवाक्यत्वकल्पनायोगाद्वाक्यभेदेन विधि-
रेवायमित्याह । विस्पष्टाच्चेति । एकवाक्यताज्ञानेऽपि तत्प्रागेनापूर्वार्थविधौ दृष्टान्त-
माह । धारणवदिति । महापितृयज्ञे दिष्टंगवाग्निहोत्रे च श्रुतं वाक्यमुदाहरति ।
अधस्तादिति । उदाहरणव्याख्योपयोगित्वेन वाक्यस्याभीष्टमर्थमाह । अत्रेति । मरुते
कर्मविशेषे स्तुचि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं प्रति यदा नीयते तदा पित्र्ये होमे तस्य हवि-
षोऽधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदित्येवोधारणस्य विहितत्वाद्गुपरिहीतवच्छेषानुवादवया
तदेकवाक्यत्वसिद्धौवपरिष्ठात्समिद्धारणस्यापूर्वत्वाद्देवे होमे वाक्यभेदं कृत्वा तद्विधीयत

१ ड. अ. 'त्वप्रयो' । २ ड. अ. 'तीमपीति' । ३ ड. अ. 'गमाप्र' । ४ ड. अ. 'क्षणेक' ।
५ क. ड. अ. 'सत्राधो' । ६ क. ख. ड. अ. 'द्वावप्युप' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९८७

यत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात् । तथा चोक्तं शेषलक्षणे " विधिस्तु
धारणेऽपूर्वत्वात् " इति । तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरे-
वेति कल्प्यते । यदाऽपि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदाऽपि
ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यविधेयाऽभ्युपगन्तव्या ।
सा च किं चतुर्ष्वश्रमेषु यस्य कस्य चिदाहोस्वित्परिव्राज-
कस्यैवेति विवेक्तव्यम् । यदि च ब्रह्मेचर्यान्तेष्वाश्रमेषु परामृ-
श्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परा-
मृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वश्रमेषु ब्रह्म-
संस्थो भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः
परिव्राजैव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति । तत्र तपःशब्देन
वैस्वानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राजपीति केचित् ।

इत्यर्थः । उक्तेऽर्थे तार्तीयं सूत्रमुदाहरति । तथेति । उपरि हि देवेभ्यो धारयतीत्य-
त्रोपरिधारणं विधीयते न वेति संदेहे धारयतीतिवर्तमानोपदेशादुपरि हीति हिशब्द-
श्रुतेऽपि परिशिष्यः प्राप्तेर्देविषश्चाभ्यर्हितद्रव्यत्वेन येन केनाऽऽच्छादनमासौ स्तुग्दण्डे
समिधमुपसंगृह्णन्तुद्रवेतीतिवाक्यान्तरप्राप्तसमिन्नियमनादेयमनुवादो न विधिरिति प्राप्ते
स्तुग्दण्डे समिधमुपसंगृह्णेति हविषः प्राग्देशे समिद्धारणस्य प्राप्तत्वेऽपि तस्मादुपरि
तद्धारणस्याप्राप्तेर्भेदकत्वाद्दिशब्दं पञ्चमलकारेण विधिरेवायमित्याह । विधिस्त्विति ।
दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह । तद्वदिति । परामर्शपक्षमेवावलम्ब्याऽऽश्रमाणां परा-
मर्शेऽपि परिव्राज्यस्य विधिरेष्टव्योऽन्यथा स्तुत्ययोगादित्याह । यदेति । ब्रह्मसंस्थ-
तोया यत्स्तुयते तद्धिधीयत इति न्यायाद्विधेयत्वेऽपि परिव्राज्यस्य किं स्यादित्या-
शङ्क्य बद्धर्थं विचारमवतारयति । सा चेति । पक्षद्वयस्य निर्बीजत्वान्नेदं विचार्यमि-
त्याशङ्क्य परामर्शश्रुतौ परिव्राजकोऽपि परामृष्टो न वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य प्रथम-
पक्षमाप्तिमाह । यदीति । परामृष्टत्वाविशेषाच्चतुर्ष्वश्रमेषु यः कश्चिद्ब्रह्मसंस्थो भविष्य-
तीति संबन्धः । ब्रह्मसंस्थोऽनाश्रमो कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्यानाश्रनित्वस्य
निष्पन्नत्वमित्याह । अनाश्रमित्वेति । द्वितीयमनूयं द्वितीयपक्षमाप्तिमाह ।
अथेति । पक्षयोः संभावनया विचारारम्भमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह । तत्रेति ।
परिव्राजकस्यापि यमनियमादितपःसंभवादित्यर्थः । आश्रमाणामेकैकशोऽसाधारणधर्म-

१ क. ज. झ. ट. 'वश्यं वि' । २ अ. ट. 'ह्यचार्यो' । ३ क. ठ. ड. 'मानाप' । झ. 'माना-
ए' । ४ ठ. ड. 'नुवती' । ५ ठ. ड. 'वन्तीति' । ६ ड. अ. 'दनु' । ७ ड. अ. 'ग्देशत' । ८ झ.
'क्ष एव' । ९ क. अ. 'ता यावत्स्तु' । १० ड. अ. 'विचार्यश्रुतो' । ११ ड. अ. 'क्षत्याति' ।
१२ क. ड. अ. 'च चतु' । १३ ड. अ. 'य तत्पक्षव्याप्ति' ।

तदयुक्तमानं हि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहण-
महंति। यथाऽत्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशे-
षणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो
धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात्। तपःशब्दस्य तत्र रूढेः ।
भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलष्येत।
चतुष्टयेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम्।
अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति “त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽ-
मृतत्वभाक्” इति। पृथक्त्वे च भेदव्यपदेशोऽवकल्पते। न ह्येवं
भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति।
भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ
इति। तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्य-

रूपदर्शनायोपक्रमत्तदनुसरिण चोपसंहारस्य युक्तत्वात्तपःशब्देन नोभयग्रहणमिति
दूषयति। तदिति। किं तर्हि युक्तं तदाह। यथेति। कस्तर्हि तपःशब्दार्थस्त-
त्राऽऽह। तपश्चेति। तेषां तत्प्रधानत्वेऽपि तपःशब्दस्य साधारण्यं किं न स्यात्त-
त्राऽऽह। तपःशब्दस्येति। तस्य रूढच्छादौ रूढेरन्यत्र तदभावात्तेन वानप्रस्थ एव
परामृश्यत इत्यर्थः। कथं तर्हि परिव्राजकधर्मेऽपि तपःशब्दप्रयोगस्तत्राऽऽह। भिक्षो-
स्त्विति। इतश्च पूर्वं परिव्राजको नोक्त इत्याह। चतुष्टयेनेति। न हि प्रसिद्धसंख्या-
भेदेषु संख्यान्तराक्तिर्युक्तेत्यर्थः। पृथगुक्तिसामर्थ्यादपि प्रकृताश्रमत्रयातिरिक्तो ब्रह्मसंस्थ
इत्याह। अपि चेति। भेदव्यपदेशोऽपि कथं पृथक्त्वं तत्राऽऽह। पृथक्त्वे चेति।
सर्व एते पुण्यलोका इत्यत्र भिक्षुरपि परामृष्टश्चेत्तस्याब्रह्मसंस्थत्वाभावाद्भूतत्वमेवेति न
पुण्यलोकत्वं विरोधात्। न च तपःशब्देन भिक्षोरपि ग्रहे तद्वर्जनं युक्तमेव इति प्रकृ-
तानां कात्स्न्येन परामर्शात्। तस्माद्वेदोक्त्या पृथक्त्वमेवेत्यर्थः। अपृथक्त्वे भेदोक्ति-
रयुक्तेत्यत्र दृष्टान्तमाह। न हीति। पृथक्त्वे तु तदुक्तिर्युक्तेत्याह। भवतीति। न
चावस्थाभेदापेक्षया दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सिद्धिरपृथक्त्वेऽपीति वाच्यम्। सति
कर्मित्वे मन्दप्रज्ञत्वे च ब्रह्मसंस्थताया महाप्रज्ञत्वस्य चायोगात्पृथक्त्वध्रौव्यादिति मत्वोप-
संहरति। तस्मादिति। किमेष ब्रह्मसंस्थशब्दो यौगिको रूढो वेति विकल्प्याऽऽधे

१ ट. 'था तु ब्र'। २ ज. 'णेनैवं'। ३ ज. 'दिलक्ष'। ४ ट. 'क्षणयैव'। ज. 'क्षणयैव'। ५ ट.
'रामस्यन्त'। ६ क. घ. ड. ज. अ. ट. च व्य'। ७ क. ख. ड. अ. 'क्रमस्तद'। ८ क. ड. अ.
'रेणोप'। ९ ड. अ. 'दौ रच'। १० ड. अ. 'नस्य ब्र'। ११ क. ड. अ. 'क्त्वेऽपि वा'।

[अ० ३ पा० ४ सू० २०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतम् । ९८२

माणः परिव्राजकमृतत्वभाक् । कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रव-
र्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत् । रूढ्यभ्युपगमे
चाऽऽश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते
ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारत्वरूपं तन्नि-
ष्ठत्वमभिधीयते । तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न संभवति । स्वाश्र-
मविहितकर्मनिनुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात् । परिव्राजकस्य तु सर्व-
कर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न संभवत्यननुष्ठाननिमित्तः । शमदमा-
दिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी ब्रह्म-
निष्ठत्वमेव हि तस्य शमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञो-
दीनि चेतरेषां तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः । तथा च “न्यास
इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा । तानि वा एतान्यव-
राणि तपांसि न्यास एवात्यरेच्यत्” [महानारा० २१ । २]

न परिव्राजकमात्रविषयवेति शङ्कते । कथमिति । द्वितीयं निराह । रूढीति । यौगि-
कत्वमुपेत्य परिहरति । अत्रेति । यथोक्तं ब्रह्मसंस्थत्वमन्येषामपि सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह ।
तच्चेति । तुल्यं संन्यासिनोऽपि^१ स्वाश्रमकर्मनिनुष्ठाने प्रत्यवायित्वं तत्कुतोऽस्य ब्रह्मसं-
स्थत्वं तत्राऽऽह । परिव्राजकस्येति । तस्यापि शमदमाद्यनुष्ठेयमिति कुतो ब्रह्म-
संस्थतेत्याशङ्क्याऽऽह । शमेति । तत्र हेतुः । ब्रह्मेति । शमादेर्ब्रह्मसंस्थताङ्गत्वान्न
तद्विरोधित्वेति^२ । गृहस्थादीनामपि ब्रह्मसंस्थितत्वाविरोध्येव स्वाश्रमविहितं कर्मेत्या-
शङ्क्याऽऽह । यज्ञेति । तानि हि रागाद्याक्षिप्तानि न च रागादिमत्वां ब्रह्मसंस्थवेति
भावः । शमदमाद्युपेत्तं ब्रह्मनिष्ठत्वमेव संन्यासिनः स्वाश्रमकर्मेत्युक्तं तदकरणे तस्य प्रत्य-
वायित्वं त्वंपदार्थविवेकायैवेति स्मृतेरित्याह । तदिति । चकारादिवरेषामपि तत्तदा-
श्रमकर्मातिक्रमे प्रत्यवायित्वमकुर्वन्विहितं कर्मेत्यादिस्मृतेरपि सूच्यते । संन्यासिनः सर्व-
कर्मेत्यागेन ब्रह्मसंस्थत्वमेव स्वाश्रमकर्मेत्यत्र मानमाह । तथा चेति । न्यासः संन्यासो
ब्रह्मेति स्तूयते । तत्र हेतुमाह । ब्रह्मा हीति । हिरण्यगर्भो हि श्रुतिस्मृतिषु परोऽ-
भीष्टस्तथाऽपि कथं संन्यासस्तदात्मकस्तेत्राऽऽह । परो हीति । तस्य परत्वे हेतुः ।
ब्रह्मेति । तद्विहेतुत्वात्परो यस्मादेष संन्यासस्तस्माद्ब्रह्मेत्यर्थः । तस्य परत्वं स्फोरयति ।
तानीति । पूर्वोक्तानि संन्यासीनां प्रसिद्धानि तानि ज्ञानहीनान्यवराण्येतानि तपांसि

१ ड. “ब्रह्मेवायम्” । २ ड. “ति ब्र” । ३ ट. “संस्थाया” । ४ क. ड. ज. अ. ट. शमदमा” ।
५ ड. अ. “ज्ञादि चे” । ६ ड. “थोक्तम्” । ७ ड. अ. “पि तस्याऽऽश्र” । ८ क. ख. ड. अ. ट.
९. “संस्थत्वा” । ९ ठ. ड. “स्मृतेरिति सू” । १० ड. अ. ट. ड. “स्तदाह” । ११ ठ. ड. “संन्यासादीनि” ।

“ वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः”

[मुण्ड० ३ । २ । ६ । मंहानारा० १० । ६ । कैवल्य० ३]

इत्याद्याः श्रुतयः । स्मृतयश्च—

“तदुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः”

[भ० सू० ५ । १७] इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति । तस्मात्परिव्राजकस्याऽऽश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति । तदेवं परामर्शोऽपीतरेषामाश्रमाणां परिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतेव । अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमार्चाद्येण विचारः प्रवर्तितः । विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिः श्रुतिः प्रत्यक्षा । “ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा” [जाबा०

निरुद्धत्वहेतुत्वाभ्यास एवैभ्योऽतिरिक्तः श्रेष्ठो ब्रह्मसंस्थताद्वाराऽमृतत्वहेतुत्वादित्यर्थः । तस्य कर्मान्तराभावे वाक्यान्तरमाह । वेदान्तेति । शुद्धबुद्धयो विरक्ताः संन्यासयोगाद्वेदान्तविज्ञानेन मुनिश्चितार्था मुच्यन्त इति वचनात्कर्मान्तराभावः संन्यासिनां मातीत्यर्थः । न कर्मणा न प्रजयेत्याद्या भूयस्यः श्रुत्योऽत्र सन्तीति वक्तुमादिपदम् । तस्मिन्ब्रह्मणि बुद्धिर्भनो येषां ते तथा तदेव ब्रह्माऽऽत्मा स्वरूपं येषां ते तदात्मानः । तत्रैव निश्चयेन स्थितिमाह । तन्निष्ठा इति । विषयान्तरपौरवश्यं व्यावर्तयति । तदिति । यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहायेत्यादिस्मृतिसंग्रहार्थमादिपदम् । उक्तश्रुतिस्मृतितात्पर्यमाह । ब्रह्मेति । ब्रह्मसंस्थशब्दस्य परिव्राजके रूढिमुपेत्योपसंहरति । तस्मादिति । यथा गृहस्थशब्दस्य यौगिकत्वे सत्यतिप्रसङ्गपरिहारायाऽऽश्रमविशेषे रूढत्वेऽपि न गार्हस्थ्यमात्रात्पुण्यलोकप्राप्तिः किंतु यथोक्तान्निष्ठोत्प्रादिकरणात् । तथा परिव्राजकस्यापि ब्रह्मसंस्थस्य वाक्यार्थसाक्षात्कारद्वारेण मुख्यममृतत्वमिति कुतो ज्ञानानर्थक्यमित्यर्थः । एवमेकदेशमतं प्रत्याख्याय ब्रह्मसंस्थशब्दस्य परिव्राजकविषयत्वे स्थिते संस्तवसामर्थ्याद्ब्रह्मसंस्थत्वं परिव्राज्यमितरपरामर्शोऽपि विधेयमिति परमप्रकृतमुपसंहरति । तदेवमिति । शिष्यबुद्धिविकासार्थं परामर्शश्रुतिमाश्रित्य कृत्वा चिन्तया विचारं कृत्वा कृत्वाचिन्तामेवाट्टयति । अनपेक्ष्येति । यदि वेतरथेति

१ क. म. लभ्यत एव । ट. लभेत । २ क. क. ज. 'रपराभुश्य' । ३ क. म. 'लोकप्राप्तिः । ४ क. म. 'द्वारेणैव' । ५ ठ. ट. 'मुद्राय' ।

[अ० १ पा० ४ सू० २१] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९२१

४] इति । न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम् । अवि-
शेषश्रवणात् । पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् “अथ पुनरेव
व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा”

[जाबा० ४] इत्यादिना । ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्रा-
ज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम् । तच्च दर्शयति “अथ परिव्राद्धि
वर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षानो ब्रह्मभूयाप
भवति” [जाबा० ५] इति । तस्मात्सिद्धा उर्ध्वरेतसामाश्रमाः ।
सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥ (२)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

“स एष रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः”

[छा० १ । १ । ३] “इयमेवर्गग्निः साम” [छा० १ ।

ब्रह्मचर्ये स्थितस्यैव पारिव्राज्येच्छा गार्हस्थ्ये च वैराग्यं दैवयोगाद्यदि स्यादित्यर्थः ।
यत्वनधिकृतान्धादिविषयः संन्यासः स्यादिति तत्राऽऽह । न चेति । अविशेष-
श्रुतिरसति बाधके न विशेषे संकोचमर्हतीत्यर्थः । इतश्चेदं वाक्यं नानधिकृतविषय-
मित्याह । पृथगिति । अनधिकृतानां संन्यासस्येति शेषः । व्रती गोदानादिवेदव्रत-
वान् । अव्रती तद्विपरीतः । स्नातको गुरुकुलनिवृत्तिरूपस्नानानन्तरमपि गुरुशुश्रूषा-
परः । तद्विपरीतोऽस्नातकः । उत्सन्नाग्निर्मृतभार्यः पूर्वमेवाग्निपरिग्रहरहितो वा । परिव्र-
जेदिति कर्माधिकारप्रतिपत्तिहीनानामपि संन्यासस्य पृथगुक्तेर्न वाक्यमनधिकृतविषय-
मित्यर्थः । संन्यासविधेरनधिकृतविषयत्वे हेत्वन्तरमाह । ब्रह्मेति । श्रवणादिद्वारा
संन्यासस्य ब्रह्मज्ञानदाढ्यार्थत्वं प्रकरणादिसिद्धं तेन समर्थस्यैवाधिकारस्तस्मिन्नित्यर्थः ।
पारिव्राज्यस्य ब्रह्मधीदाढ्यार्थत्वे श्रुतिं प्रमाणयति । तच्चेति । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय
वत्साक्षात्कारायेत्यर्थः । अन्तर्गमिताधिकरणार्थमुपसंहरति । तस्मादिति । प्रामाणिकत्वं
तच्छब्दार्थः । तेषां प्रमित्वैवानुष्ठीयमानत्वेऽपि प्रकृते किं जातमित्याशङ्क्य प्रथमाधि-
करणार्थं निगमयति । सिद्धं चेति ॥ २० ॥ (२)

अनुष्ठेयसाम्यश्रुतेराश्रमान्तरमनुष्ठेयतया विधेयमित्युक्तम् । संप्रति रसतमत्वादीना-
मङ्गाश्रितत्वेनेयमेव जुहूरित्यादिश्रुतितुल्यतया स्तुत्यर्थत्वमित्याशङ्क्य प्रत्याह ।
स्तुतीति । अधिकरणस्य विषयं वदन्वाक्यानि पठति । स इति । एषां भूतानां

१ क. घ. ट. “नरव्रती व्रती वा स्ना” । २ क. ड. ज. अ. ट. “तस आश्र” । ३ क. ख. ड.
न. ठ. ड. “शेषसं” । ४ क. ख. ड. न. “रूपः स्ना” । घ. “रूपं स्ना” । ५ ख. ठ. ड. “सस्य वि” ।
६ ड. न. “य त” । ७ ड. न. “त्वेऽपि” । ८ क. ख. ड. अ. ठ. ड. “दिस्तुति” ।

६।१] “अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । तदिदमेवो-
क्थमियमेव पृथिवी” इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्रीथादेः
स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था
इति युक्तम् । उद्रीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात् । यथा
“इयमेवं जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः” इत्याद्या
जुह्वादित्यस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत् । नेत्याह । न हि स्तुतिमा-
त्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात् । विध्यर्थतायां ह्यपू-
र्वोऽर्थो विहितो भवति स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेवं स्यात् । विधा-
यकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरूपयु-

पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषय ओषधीनां पुरुषः पुरुषस्य वाग्वाच ऋग्वचः
साम साम्न उद्रीथो रस इत्युपक्रम्य श्रूयते स एष रसानां पृथिव्यादीनां सामान्यानां
भूतेषूच्चरोत्तरं सारत्वेनोक्तानामतिशयेन सारो रसतमः परमः परमात्मप्रतीकत्वात्परस्य
ब्रह्मणोऽयं स्थानं तदर्हवीति परार्थः परब्रह्मवदुपास्य इत्यर्थः । पृथिव्याद्यपेक्षयाऽ-
ष्टमः कोऽसौ यदुद्रीथो य उद्रीथ ओंकार इत्यर्थः । उद्रीथाद्यङ्गावबद्धश्रुतीरधिकृत्य
पर्णमयीत्वादावङ्गसंबन्धे विध्युपलब्धेस्तथाविधेऽपि स्वर्गो लोक इत्यादौ स्तुत्युपलब्धेश्च
संशयमाह । किमिति । अङ्गावबद्धानामपि बुद्धीनां स्तुतित्वाभावाद्विधेयतया स्वात-
न्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वे सत्येनङ्गात्मविद्यः स्वतन्त्रतया फलवत्त्वमुपनिषद्गुणज्ञायाः किं वक्त-
व्यमित्युक्तेरत्र पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे स्तुतित्वादङ्गधीष्वनुष्ठानासिद्धिः । सिद्धान्ते
वासां विधेयत्वात्तत्सिद्धिरित्यङ्गीकृत्य संशयमनूद्य पूर्वपक्षयति । इत्यस्मिन्निति ।
विमताः प्रत्ययाः स्तुतयः कर्माङ्गेषूत्कृष्टपदार्थाध्यासप्रत्ययैरूपत्वात्स्वर्गो लोक आहव-
नीय इत्यादिप्रत्ययवदित्यर्थः । जुहूरियमेव पृथिवीति स्तूयते कूर्मश्चैन्यनगतः सन्ना-
दित्य इत्याहवनीयोऽग्निः स्वर्गो लोक इतिवत्स्तुतिरेवेत्यर्थः । स्तुतिकल्पनाद्विधिक-
ल्पनमेव युक्तमनुष्ठानफलाभावादिति परिहरति । नेत्यादिना । विमताः प्रत्ययां न
कर्माङ्गस्तुतयोऽपूर्वार्थत्वात्कृत्वन्तरवादित्याह । नेति । विमता विधौ न कर्माङ्गस्तु-
तयो विशिष्टफलसंबन्धित्वात्संमतवदित्याह । विधीति । वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादिवदुद्रीथा-
दिश्रुतीनां स्तुत्यर्थत्वेऽपि कस्मादर्थवत्त्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । विधायकस्येति ।
अस्तु तर्हि विधायकशब्दशेषत्वेनैवोद्रीथादिश्रुतीनामपि स्तावकतयाऽर्थवादत्वं तत्र

१ ड. अ. 'थादिस्तु' । २ क. ड. ज. अ. ट. 'सनवि' । ३ ड. अ. 'व पृथिवी जु' । ४ ड.
अ. 'स्वर्गो' । ५ क. ड. ज. अ. ट. न 'स्तु' । ६ ड. अ. 'पूर्वार्थो' । ७ स. 'तिविद्य' । ८ क. ल.
रसानां । ९ क. ख. ड. अ. ठ. 'सरसा' । १० ड. अ. 'शयत्वेन' । ११ ड. अ. 'त्यमन' ।
१२ ड. ड. 'यत्वा' । १३ स. 'श्च जलग' । १४ क. ख. ड. अ. ठ. 'स्वर्गलो' । १५ ठ. ड.
'बन्धात्स' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । २१३

उच्यत इत्युक्तम् “विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां
स्युः” इत्यत्र । प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशा-
न्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानाऽनर्थिकैव स्यात् ।
इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाऽऽम्नातमिति वैषम्यम् ।
तस्माद्विध्यर्था एवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥ (३)

“उद्गीथमुपासीत” [छा० १ । १ । १] “सामोपा-
सीत” [छा० २ । २ । १] “अहमुक्थमस्मीति विद्यात्”
इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयो-
जनतायां व्याहन्पेरन् । तथा च न्यायविदां स्मरणम्—

“कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम् ।

एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्”

वाच्यम् । किमुद्गीथादिप्रत्ययैरुद्गीथादिविधिः स्तुत्यते किंवा तदुपास्तिविधिरिति विक-
ल्प्याऽऽद्यं दूषयति । प्रदेशान्तरेति । उद्गीथादिविवेः कर्मप्रकरणस्थत्वेन व्यवधानाच्च
तेनोद्गीथादिश्रुतीनामेकवाक्यता । विमता विधौ न कर्माङ्गस्तुतयोऽतत्प्रकरणस्थत्वात्क-
त्वन्तरवदिति भावः । परोक्तं दृष्टान्तं विधटयति । इयमेवेति । अनुमानत्रयफलं
निगमयति । तस्मादिति ॥ २१ ॥

न द्वितीय उपास्यविषयार्पणेन विध्यन्वययोगे लक्षणया स्तुत्यर्थत्वायोगादित्याह ।
भावेति । संनिहितविधेर्विषयार्पणेनार्थवत्त्वे रंसतमादिवादानां संभवति तदीयस्तुतिपर-
त्वमपि तत्रायुक्तं स्तुत्यपेक्षया विषयार्पणस्यान्तरङ्गत्वात् । तत्र कर्माङ्गस्तुतिपरत्वं
नेति किमु वक्तव्यमिति मन्वानो व्याचष्टे । उद्गीथमिति । निमग्नणादिष्वपि लिङा-
दिस्मरणात्कथमुपासीतेत्यादिशब्दस्य विविपरतेत्याशङ्क्याऽऽह । तथा चेति ।
धातूनामनेकत्वेऽपि “डुकृञ् करणे” “भू सत्तायाम्” “अस्भुवि” इति त्रीनेव धातून्भाव-
नासामान्यवाचिनः सर्वव्याप्यर्थमुदाहरति । कुर्यादिति । आक्षिप्तकर्तृका भावना कुर्यादि-
त्युक्ता सैवाऽऽक्षिप्तकर्मिका क्रियेतेत्युदाहृता । सैव कर्तव्यमिति धात्वर्थोपसर्जनभूताऽ-
भिहितेति भेदः । भवेदित्यत्रापि भूयेत भवितव्यमित्युदाहार्यम् । भवतेरस्तेऽप्येकार्थ्येऽपि
प्राप्त्याद्यर्थं भवति दृष्टा पृथगरितमुदाहरति । स्यादिति । यथापूर्वमुदाहरणमिहापि
द्रष्टव्यम् । पाठक्रममनुसृत्य पञ्चममित्युक्तम् । एतद्धावैनुगतप्रत्ययैः सर्वभावनानुगत-
श्रेयःसाधनत्वरूपो विधिरुच्यते न तु प्रतिधारतुप्रत्ययं च भावनाभेदोऽस्तीति मत्वाऽऽह ।
एतदिति । कथं तर्हि निमग्नणादिषु लिङादिस्मरणं मिथोविरोधादित्याशङ्क्यो-

१ ट. ‘दिषु वि’ । २ ठ. ड. ‘पेक्षाया’ । ३ झ. ‘नेकार्थत्वे’ । ४ ड. अ. ‘त्युक्त्वा सै’ ।
५ ड. अ. भावः । ६ ठ. ड. ‘त्वर्थानु’ । ७ ड. अ. ‘गतः श्रे’ । ८ ख. ड. अ. ठ. ड. ‘तु प्रतिप्र’ ।

इति लिङ्गार्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति ।
प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते “ आपयिता ह वै कामानां
भवति ” [छा० १ । १ । ७] “ एष ह्येव कामागानस्येष्टे ”
[छा० १ । ७ । ९] “ कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चाऽऽवृ-
त्ताश्च ” [छा० २ । २ । ३] इत्यादीनि । तस्मादप्युपासन-
विधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥ (३)

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

“ अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्या-
यनी च ” [बृ० ४ । ५ । १] “ प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरि-
न्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम ” [कौषी० ३ । १] “ जानश्रु-
तिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस ” [छा०
४ । १ । १] इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वारूप्यानेषु संशयः
किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्य-
र्थानीति । पारिप्लवार्था इमा आरूप्यानश्रुतयः । आरूप्यानसामा-
न्यात् । आरूप्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात् ।

तस्मैतो वेदे विधिपरा लिङ्गादयोऽपवादादन्यथात्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह । लिङ्गादीति ।
उद्गीथादिश्रुतीनां स्तुत्यर्थत्वाभावे हेतुर्वन्तरं चकारसूचितमाह । प्रतीति । फलभेदश्र-
वणमुपसंहरति । तस्मादिति । पूर्वोक्तापूर्वत्वादिसमुच्चयार्थमपीत्युक्तम् ॥ २२ ॥ (३)

उद्गीथादिश्रुतेरुपास्तिविषयार्पकत्वं ज्यायो रसतमत्वादेरित्युक्तम् । अधुनाऽऽरूप्या-
नानामपि विद्यास्तुतेः सकाशात्पारिप्लवशेषत्वं ज्यायोऽनुष्ठानावसानयोगादित्याशङ्क्य
परिहरति । पारिप्लवेति । विषयोक्तिपूर्वकमारूप्यानत्वसाम्याद्विद्यासंनिधेश्च संशयमाह ।
अथेत्यादिना । पारिप्लवप्रयोगो नामाश्वमेवे पुत्रामात्यपरिवृत्ताय राज्ञे पारिप्लवमाच-
क्षीवेत्यादिना नानाविधारूप्यानकथनं विहितम् । अत्र चोपनिषद्भेदात्पारूप्यानानां तादर्थ्य-
निरासेन तत्र तत्र संनिहितत्ववत्प्रपुरुषार्थहेतुविद्यार्थत्वसमर्थनात्पादादिसंगतिः । पूर्व-
पक्षे प्रयोगशेषत्वादारूप्यानानां वेदान्तगतानामपि तद्भावाद्विद्याप्राधान्यासिद्धिः ।
सिद्धान्ते विशेषणादुपनिषदारूप्यानानां व्यवच्छेदात्तेषामप्रयोगशेषत्वाद्विद्याप्रधानत्वसि-
द्धिरपि स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति । पारिप्लवेति । गुरुशिष्यसमाचारप्रदर्शनेन बुद्धिसौ-
कर्यद्वारा च विद्याशेषत्वं सामर्थ्यलिङ्गादासां सिद्धमित्याशङ्क्य पारिप्लवश्रुतिविरोधे
लिङ्गप्रयोजकमित्याह । आरूप्यानीति । यस्याऽऽश्विने शस्यमाने सूर्योऽभ्युदिया-

१ ड. अ. “इत्येवमादी” । २ क. ड. अ. “वैवत्वादि” । ३ ठ. ड. “दिस्तुते” । ४ क. ख.
ड. अ. “दिनानावि” । ५ ड. अ. “विद्याख्या” । ६ ठ. ड. “इतोपाख्या” । ७ ख. “गविशे” । ८ ठ.
ड. “दान्ताना” । ९ ड. अ. “कृते प” । १० ख. “मर्थ्य लि” । ११ ड. अ. “लिङ्गादौ संति” ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९९५

ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात् । मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत् । तन्न । कस्मात् । विशेषितत्वात् । “पारिप्लवमाचक्षीत” इति हि प्रकृत्य “मनुर्वैवस्वतो राजा” इत्येवमादीनि कानिचिदेवाऽऽख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते । आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥ २३ ॥

दपि सर्वा दाशतयोरनुब्रूयादिति सर्वासामृचांमाश्विनग्रहशंसने^१ सर्वश्रुत्या विनियुक्तानामपि प्रातिस्विकविनियोगवदाख्यानानां पारिलवे पारिलवमाचक्षीतेति चोदितानामेतेन लिङ्गेन संनिधेर्वा विद्यायां विनियोगः स्यादित्याशङ्क्य प्रातिस्विकविनियोगस्य समुदायविनियोगस्य च श्रौतत्वेन तुल्यत्वात्प्रकृते च तदभावात्प्रामाण्यमिह । ततश्चेति । आख्यानानां प्रयोगशेषत्वेऽपि सर्वेषां वेदान्तानामतच्छेषत्वाद्युक्तं विद्याप्रधानत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । मन्त्रवदिति । देवस्य त्वेत्यादिमन्त्रे कस्यचिदेव पदस्य समवेतार्थतया प्रयोगशेषत्वे सिद्धे तदेकवाक्यतया पदान्तराणामपि तच्छेषत्वमिष्टम् । तथाऽऽख्यानानां प्रयोगशेषत्वे तदेकवाक्यत्वेन सर्वोपनिषदां तच्छेषत्वान्न विद्याप्रधानत्वेत्यर्थः । सामान्यश्रुतेर्विशेषोक्त्याऽतत्परत्वान्न तथा लिङ्गादिबाधोऽस्तीति सिद्धान्तयति । तन्नेत्यादिना । अभ्यमेवे प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । द्वितीयेऽहनि यमो वैवस्व इति । तृतीयेऽहनि वरुण आदित्य इत्याद्याख्यानविशेषा वाक्यशेषे श्रुतास्तद्बलादुपक्रमस्य संकोचो युक्तः । न चोपक्रमस्य सर्वशब्दादुपसंहारस्था विशेषोक्तिरुपलक्षणापेक्षिते वाच्यम् । आदौ सर्वाण्याख्यानानि पारिलवे शंसतीत्युक्त्वा पारिलवमाचक्षीतेति च विधाय मनुर्वैवस्व इत्यादि पठ्यते । तत्र पुनर्विधानं वाक्यशेषस्थाख्याननियमार्थमन्यथा वैषम्यात् । सर्वशब्दोऽपि वाक्यशेषस्थोपाख्यानमध्यस्थकतिपर्ययोगमात्रेणोपरमं व्यावर्तयितुमित्यर्थवानिति मत्वा सिद्धान्तं विवृणोति । पारिप्लवमिति । यत्त्वाख्यानसामान्यात्पारिलवार्था इमाः श्रुतय इति तत्राऽऽह । आख्यानानेति । विशेषणफलं निगमयति । तस्मादिति ॥ २३ ॥

^१ ड. अ. “चामस्मिन्ग्रह” । २ ड. अ. “ने पूर्व” । ३ ख. ठ. ड. “मेव लि” । ४ ड. अ. “गसिद्धत्वे” । ५ ड. अ. “चिदेव” । ६ ख. ड. “शेषश्रु” । ७ क. ख. ड. अ. ट. ड. “रसवि” । ८ ड. अ. “नमन्य” ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥ (४)

असति च पारिप्लवार्थत्वं आख्यायानां संनिहितविद्याप्रति-
पादनोपयोगितैव न्याय्या । एकवाक्यतोपबन्धात् । तथा हि तत्र
तत्र संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्म-
तिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च । मैत्रेयीब्राह्मणे तावत् “आत्मा वा अरे
द्रष्टव्यः” [बृ० २ । ४ । ५] इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता
दृश्यते प्रातर्हनेऽपि “प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा” इत्याद्यया ज्ञान-
श्रुतिरित्यत्रापि “वायुर्वाव संवर्गः” [छा० ४ । ३ । १]
इत्याद्यया । यथा “स आत्मनो वपामुदस्विदत्” इत्येवमादीनां
कर्मश्रुतिगतानामाख्यायानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत् ।
तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥ (४)

अत एव चाम्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

“पुरुषार्थोऽतः शब्दात्” [ब्र० सू० ३ । ४ । १] इत्ये-

तर्हि कुत्राऽऽख्यायानान्युपयुक्तानीत्याशङ्क्य विशेषणश्रुत्या सर्वश्रुतौ भग्यायां निर्बाधः
संनिधिर्विद्यास्वेवोपनिषदाख्यायानानि नियुञ्जीतेत्याह । तथा चेति । सूत्रार्थं विवृ-
णोति । असतीति । एकवाक्यतोपबन्धं विभजते । तथा हीति । प्ररोचनमनुराग-
जननम् । संनिहितविद्याभिराख्यायानामेकवाक्यताप्रतीतिमुदाहरति । मैत्रेयीति ।
आख्यायानत्वेऽपि पारिप्लवार्थत्वाददर्शनाच्च न तादर्थ्यं प्रकृताख्यायानामित्याह । यथेति ।
उदस्विददुद्धृतवान्होमायेति यावत् । श्रुतिलिङ्गसंनिधिभिर्विद्यार्थत्वे सिद्धे फलितमु-
पसंहरति । तस्मादिति ॥ २४ ॥ (४)

कथानां विद्याशेषत्वे दर्शिते कर्मणामपि तर्हि तच्छेषत्वं तच्छेषत्वाभावेऽपि
स्यादित्याशङ्क्य प्रसङ्गागतं विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह । अत
इति । ब्रह्मविद्या मोक्षे कर्माणीतिकर्तव्यत्वेनापेक्षते न वेति वादिविप्रतिपत्तेः संदेहे
यज्ञेनेति विविदिषायां विनियुक्तयज्ञादीनां विषयसौन्दर्यलभ्यायां तस्यामनन्वयात्-
द्विषयज्ञानसाध्यमोक्षान्वयस्य युक्तत्वादपेक्षत इति पूर्वपक्षे काष्ठैः पचवीत्यत्र पाक-
साधनज्वालाजनककाष्ठानां पाकहेतुत्वदर्शनाज्ज्ञानेच्छाजनकान्तःकरणशुद्धिहेतुत्वेन
यज्ञादीनां ज्ञानेच्छाहेतुत्वसिद्धेः साक्षादेव मोक्षान्वये च यज्ञेनेत्यादिकरणविभक्तिभ-
ङ्गात्पारंपर्यस्यैवोपेयत्वान्नपेक्षत इति सिद्धान्तः । एतदभिप्रेत्य संनिहितस्यातःशब्दप-
रामर्शयोग्यस्याभावादतःपदानुपपत्तिमाशङ्क्य सूत्राक्षराणि योजयति । पुरुषार्थ इति ।

१ ड. अ. 'बन्धनात्' । २ स. ड. अ. ठ. ड. 'नि विनि' । ३ ड. अ. 'हिताभिर्विद्या' । ४ ठ. ड. 'क्तिसङ्ग' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ९९७

तद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते । अत एव च विद्यायाः
पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ
नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविव-
क्षया ॥ २५ ॥ (५) .

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया, अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्र-
मकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति । तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्र-

आद्याधिकरणे यथा विद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुमर्थहेतुत्वमुक्तं तन्न तथैवानूद्यते । तथा
चाऽऽग्नेयादिष्वदर्शनान्न पुरुषार्थहेतुत्वं कर्मपेक्षाविरोधीति निरस्तम् । न चात्र
पादादिसंगतिर्वक्तव्या प्रथमाधिकरणस्यैव तत्फलविषयस्यास्य तस्याः सुगमत्वा-
त्फलमपि पूर्वोत्तरपक्षयोस्तद्वदेत्यभिप्रेत्याऽऽह । आद्यस्येति । स्वार्थसिद्धावेवान-
पेक्षा न तु स्वसिद्धौ तत्र तदपेक्षाऽस्वीत्यनन्तराधिकरणे निर्देष्टुमुपसंहार इति तत्फल-
माह । अधिकेति ॥ २५ ॥ (५)

ब्रह्मविद्या स्वफले न कर्मपेक्षा प्रमात्वात्संभववदित्युक्तम् । तां न स्वोत्पत्तावपि
तदपेक्षा प्रमात्वात्तद्वदेत्याशङ्क्याऽऽह । सर्वेति । अधिकविवक्षयेत्युक्तं व्यक्तीकु-
र्वन्नब्रह्मविद्यामधिकृत्य पूर्वाधिकरणन्यायाद्विविदिषाश्रुतेश्च संशयमाह । इदमिति ।
अत्र च स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतवौपनिषदात्मज्ञानोत्पत्तौ यज्ञादीनां शमादीनां च विविदि-
षावाक्यीयविनियोगोक्तेरस्ति पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे यज्ञादीनां विज्ञानान्वये तत्फ-
लेऽपि तत्प्रसक्त्या समुच्चयसिद्धिः । सिद्धान्ते परंपरया तेषां ज्ञानान्वयेऽपि तत्फला-
न्वये हेत्वभावात्तदसिद्ध्या ज्ञानस्यैव वैद्वेतुतासिद्धिरित्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयति ।
तत्रेति । अपरोक्षधियो मानमात्रायत्तत्वात्प्रामाणिकज्ञानस्य मानहेतुषु सत्सु कर्माद्य-
भावैरानुदयादर्शनात्केवलव्यतिरेकाभावे च यज्ञादीनां हेतुत्वकल्पनायोगाद्विविदिषाश्रु-
तेश्च वर्तमानापदेशित्वाद्द्विनिर्धोजकत्वायोगाज्ज्ञानस्य फलवदुत्पत्तावपि नान्वयस्तेषा-
मिति भावः । विविदिषावाक्ये वर्तमानापदेशेऽपि यस्य पर्णमयीत्यादाविवापूर्वत्वात्प-
ञ्चमलकारेण ब्रह्मानुभवकामो यज्ञादीनि कुर्यादिति विध्युपगमादागमस्य केवलव्यतिरे-
कानपेक्षत्वाद्विषयसौन्दर्यलभ्यायामिच्छायां साक्षादन्वयायोगात्तत्फले ज्ञाने यज्ञाद्यन्व-
यसिद्धेर्यज्ञेनेत्यादिकरणश्रुत्या च तेषामिष्यमाणापरोक्षधीसाधनत्वदृष्टेर्ज्ञानस्य च
मानायत्ततया साक्षाद्यज्ञाद्यसाधनत्वेऽपि तेषां चित्तशुद्ध्या प्रत्यक्षप्रवणतामुत्पाद्याप-

१ ड. अ. विद्या । २ ड. अ. क. 'यस्य' । ३ ड. अ. 'हि तस्योत्प' । ४ ड. अ. तत्तद्वे ।
५ ड. ड. 'न्द्येच्छा' । ६ ड. 'दनन्व' । ७ क. ख. ड. अ. ठ. ड. 'साध्यत्वेऽ' ।

मकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्तं एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति । अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव । ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाऽऽश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति । नेति ब्रूमः । उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षत उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः । तथा हि श्रुतिः “ तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ” [बृ० ४ । ४ । २२] इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति । विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते “ अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ” [छा० ८ । ५ । १] इति । अत्रैव विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते । “ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ” [कठ० २ । १५] इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति । स्मृतिरपि—

“ कषाबपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।

कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते । ” इत्येवमाद्या ।

रोक्षज्ञाने पर्यवसानात्पारंपर्येऽपि पचति काष्ठैरिवित्करणविभक्तिसंभवादुत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मपेक्षाऽस्तीति सिद्धान्तयति । इदमिति । आपातेन पूर्वापरविरोधमतीति शङ्कते । नन्विति । विभागोक्त्या प्रत्याह । नेतीति । उक्तव्यवस्थायां प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह । कुत इति । हेतुं विवृणोति । तथा हीति । नन्वत्र विविदिषासंयोगो यज्ञादीनां ज्ञायते यदि तस्यां विषयसौन्दर्यलभ्यायां तेषामन्वयासौगादिष्यमाणे ज्ञानेऽन्वयोऽभ्युपगम्यते तर्हि ज्ञानस्य मानाधीनत्वात्कर्मणां तत्रान्वयासिद्धेः श्रुतत्यागेन तत्फले मोक्षे किमित्यन्वयो नेष्यते तत्राऽऽह । विविदिषेति । मोक्षहेतुत्वकल्पनायां नास्त्य-कुतः कृतेनेत्यादिविरोधात्परंपरयाऽपि हेतुत्वे बाधाभावाद्बुद्धिशुद्ध्या तदुत्पत्तावेव-न्वयो यज्ञादीनामित्यर्थः । यज्ञादिश्रुतेरिति वाक्यान्तरमपि ग्रहीतव्यमित्याह । अथेति । तत्र यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे विज्ञातं लिङ्गमाह । अत्रेति । तत्रैव लिङ्गा-न्तरमाह । सर्वं इति । परंपरया कर्मणां धीहेतुत्वे स्मृतिमपि दर्शयति । स्मृतिरिति ।

१ क. क. ज. ज. “ न्त इत्येव ” । २ क. क. ज. ज. ट. “ त्र च वि ” । ३ क. अ. “ पि सा ” । ४ ड. अ. “ वीम्योम् ” इ । ५ क. अ. “ किमन्व ” । ६ अ. क. अ. “ विज्ञानं ” ।

[अ० ३ पा० ४ सू० २७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १९९

अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम् । यथा च योग्यतावशेनाश्वो न
लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते । एवमाश्रमकर्माणि
विधेया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्त उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्ग-
तया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥ (६)

यदि कश्चिन्मन्येत यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यो
विध्यभावात् “यज्ञेन विविदिषन्ति” इत्येवंजातीयकौ हि श्रुति-
रनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा । इत्थं महाभागा विद्यां यद्यज्ञा-
दिभिरेतामवाप्तुमिच्छन्तीति । तथाऽपि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्वि-
द्यार्थी “तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठः समाहितो
भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति” [बृ० ४ । ४ । २३]
इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विद्यानाद्विहितानां चाव-
श्यानुष्ठेयत्वात् । नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमा-
नापदेश उपलभ्यते न विधिः । नेति ब्रूमः । तस्मादिति प्रकृत-
प्रशंसापरिग्रहाद्विधिर्विप्रतीतिः । पश्येदिति च माध्यन्दिना विस्प-
ष्टमेव विधिमधीयते । तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षि-

उत्पत्ताविव फलेऽपि ज्ञानस्य कर्मापेक्षा किं न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमादाय
व्याकरोति । अश्ववदित्यादिना ॥ २६ ॥

ज्ञानोत्पत्तौ बहिरङ्गमुक्त्वा तत्रैवान्तरङ्गमुपदिशति । शमदमादीति । अत्र
व्यावर्त्यां शङ्कामाह । यदीति । विद्यास्त्वावक्तव्येनापि संभवत्यर्थवत्त्वे वर्तमानतामङ्गेन
विधिकल्पनमयुक्तं वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अतः शब्दमात्रलभ्या विधेति भावः । एवं
तर्वाभिप्रायेऽपि हेत्वन्तरमवश्यमनुष्ठेयं न शब्दमात्रलभ्या विधेति सूत्रयोजनया परि-
हरति । तथाऽपीति । विविदिषावाक्यतुल्यतया शमादिवाक्यस्य नास्ति विधिपर-
वेति शङ्कते । नन्विति । यस्मादेवमात्मानं विदित्वा पापेन कर्मणा न लिप्यते तस्मा-
देवं विद्यार्थी शमाद्युपेतो भूत्वा विचारयेदिति गम्यते विधिरित्याह । नेतीति । विध्य-
भावे तत्प्रशंसावैयर्थ्यादुक्तविधिसिद्धिरित्यर्थः । काण्वपाठे विधिमुक्त्वा माध्यन्दिनपाठे
विध्यभावशङ्काऽपि नास्तीत्याह । पश्येदिति चेति । विधिफलमाह । तस्मादिति ।

१ क. ज. ‘था यो’ । २ ट. विद्यायाः । ३ ड. अ. ‘तौ त्वपे’ । ४ ड. अ. ‘त न य’ ।
५ ड. अ. ‘वो न्या’ । ६ ड. अ. ‘यास्तुतिप’ । ७ ट. ‘यास्तव’ । ८ ट. ‘धिप्र’ । ९ ट. ‘दिनाः
स्य’ । १० ड. ‘दित्यत्र ह’ । ११ ड. अ. ‘तत्र’ । १२ ड. अ. ‘विचरोदि’ ।

तव्यानि । यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानीति यज्ञादिश्रुतेरेव । ननूक्तं यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरूपलभ्यत इति । सत्यमुक्तं तथाऽपि त्वपूर्वत्वासंयोगस्य विधिः परिकल्प्यते । न ह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्व प्राप्तो येनानूचेत । “तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि ” इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य पौष्णं-पेषणं विकृतौ प्रतीयेत्यादिविवारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः । तथा चोक्तम् “विधिर्वाधारणवत् ” इति । स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम् । तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाऽऽश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि । तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि विविदिषासंयोगात्तु ब्रह्मतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥ २७ ॥ (६)

यज्ञादीनामसाधनत्वशङ्कामापातवतोऽभ्युपेत्य साधनान्तरापेक्षोक्ता । इदानीं तदसाधनत्वशङ्काऽपि न युक्तेत्याह । यज्ञादीनीति । उक्तं स्मारयित्वा परिहरति । नन्वित्यादिना । संयोगस्यापूर्वत्वमेव स्पष्टयति । न हीति । सत्यपि । मंहावाक्यैक्येऽनुष्ठानयोग्यापूर्वार्थविविधिरवान्तरवाक्येन क्रियते न तत्र वाक्यभेदो दोष इत्यत्र पूर्ववत्प्रसंगमविमाह । तस्मादिति । दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं तस्मात्पूषेत्यादि । तत्र पूष्णः पिष्टद्रव्यसंबन्धः सामासिकः । न च पूषा देवता पिष्टभागो द्रव्यं दर्शपूर्णमासयोरस्ति तेन तदेकवाक्यतायोगात्कालत्रयास्पृष्टद्रव्यदेवतासंबन्धस्याविनाभावेन यागविध्युपस्थापकत्वाद्व्यवहारसिद्धये विधिपदमध्याहृत्य प्रकरणादुत्कर्षेण पूषोद्देशेन पिष्टभागः कर्तव्य इति विकृतौ संबन्धः “पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयताचोदनात्प्रकृतौ” [जै० सू० ३ । ३ । ३०] इत्यत्र विचारित इत्यर्थः । अवान्तरवाक्यभेदेन सूत्रकृताऽपि स्मिक्तौ विधिरित्याह । तथा चेति । स्मृत्यनुसारेणाप्यवान्तरवाक्यस्य विधायकत्वं वाच्यमित्याह । स्मृतिष्विति । कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धे फलितमाह । तस्मादिति । यज्ञादीनामपि श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्योऽनुष्ठेयत्वे शमादीनां तेभ्यो विशेषाभावाद्यावद्विद्योदयमविशेषेणानुष्ठानं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तत्रापीति ॥ २७ ॥ (६)

१ क. ड. ज. अ. ‘व्यानि य’ । २ ड. अ. ‘संबन्धः पू’ । ३ क. ड. ज. अ. ट. शमा । ४ ड. अ. बाह्यानीति । ५ ड. अ. ‘क्षोक्त्येदा’ । ६ क. ड. अ. ‘वैवत्त्वमे’ । ७ ड. अ. ‘ष्णः प्रपि’ ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणायामे तददर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणसंवादे श्रूयते 'छन्दोगानाम् "न ह वा एवंविदि किञ्च-
नानन्नं भवति" [छा० ५ । २ । १] इति । तथा वाजसने-
यिनाम् "न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्" [बृ० ६ । १ । १४] इति । सर्वमस्यादनीयमेव भवती-
त्यर्थः । किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत
स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम् । तथा
हि प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्-
दङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरूपदिश्यते । नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यवि-
भागशास्त्रव्याघातः स्यात् । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावा-
द्बाधोपपत्तेः । यथा प्राणिर्हि साप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना
बाधः । यथा च "न कांचनं स्त्रियं परिहरेत्तद्व्रतम्" [छा०
२ । १३ । २] इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वव्यप-
हारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते ।

यज्ञादीनां शमादीनां च विद्यासंनिहितानां तच्छेषतोक्ता तत्प्रसङ्गाद्विद्यासंनिध्यु-
क्तसर्वान्नानुज्ञानस्यापि विद्याशेषतामाशङ्क्य प्रत्याह । सर्वान्नेति । प्राणविदः सर्वो-
न्नानुज्ञानं विषयं वक्तुं शास्त्राद्व्यस्थां श्रुतिमाह । प्राणेति । जगत्वं भक्षितम् । विष-
यवाक्यार्थं संगृह्णाति । सर्वमिति । अपूर्वत्वाद्विध्यश्रुतेश्च संशयमाह । किमिति ।
अत्र प्राणविद्यायाः स्वतन्त्रपुमर्थहेतुवार्क्यार्थज्ञानोपयुक्तायाः स्तुत्यर्थं सर्वान्नानुज्ञान-
कीर्तनमिति कथनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्राणविदो भक्ष्याभक्ष्यविभागासिद्धिः ।
सिद्धान्ते विदुषोऽविदुषश्चानापदि तत्सिद्धिरिति मन्वानः संशयमनूद्य पूर्वपक्षयति ।
विधिरतीति । विधिपक्षेऽनुष्ठानविशेषलाभं हेतुमाह । तथा हीति । सर्वान्नानुज्ञानं
स्वतन्त्रमेव विधीयतामित्याशङ्क्य संनिधिविरोधान्मेवमित्याह । अत इति । सर्वान्नानु-
ज्ञानं प्राणविद्याङ्गं चेत्तर्हि न कलञ्जं भक्षयेदित्यादि शास्त्रं विरुध्यतेति शङ्कते ।
नान्वाति । प्राणविदविरिक्तविषयं तदिति विरोधं परिहरति । नेत्यादिना । उपपत्ति-
मेव कर्मविषयवृष्टान्तेनोदाहरति । यथेति । तत्रैव विद्याविषयं वृष्टान्तमाह ।
यथा चेति । यदुपमश्रयते स हिंकार इत्यादिना ग्राम्यव्यापारगतचेष्टासु हिंकारा-

१ ट. 'ते छन्दो' । २ घ. 'अं परिष्ट' । ३ क. ड. ज. अ. 'न प' । ४ क. ड. ज. अ. ट.
'न सामा' । ५ ट. 'भागे शा' । ६ क. ख. ड. अ. 'द्विधिश्रु' । ७ ड. ज. तत्र । ८ ड. अ. 'पु-
पार्थशा' । ९ ड. अ. इतीति । ठ. ड. इति संशय इति । १० ड. ड. 'नुष्ठानं' ।

एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वाङ्गभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्य-
विभागशास्त्रं बाधयेतेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । नेदं सर्वान्नानुज्ञानं
विधीयत इति । न ह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते “ न ह
वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति ” [छा० ५ । २ । १ ।] इति
वर्तमानापदेशात् । न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेष-
करत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते । अपि च स्वादिमर्यादं
प्राणस्यान्नमित्युक्तत्वेदमुच्यते “ नैवविदेः किञ्चिदनन्नं भवति ”
इति । न च स्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते ।
शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम् । तस्मात्प्राणा-
न्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः । तदर्थयति
“ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये ” इति । एतदुक्तं भवति
प्राणात्यये एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञा-
यते तदर्शनात् । तथा हि श्रुतिश्चाक्रायणस्यैः कष्टा-
यामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति “ मटचीहतेषु कुरुषु ”
[छा० १ । १० । १] इत्यस्मिन्ब्राह्मणे । चाक्रायणः

दिदृष्टिर्विहित्वा सा वामदेव्यविद्या तत्रोपमन्त्रणं संकेतकरणम् । दृष्टान्तयोरर्थं
दार्ष्टान्तिके योजयति । एवमिति । विविदिषावाक्ये वर्तमानापदेशोऽप्यपूर्वत्वा-
त्पञ्चमलकाराङ्गीकारेण विधिकल्पनवन्नं हेत्यादौ वर्तमानापदेशोऽप्यपूर्वत्वाद्वि-
रिति मतमनूद्य सूत्राद्वहिरेव सिद्धान्तमाह । एवमिति । तत्र हेतुमाह । न हीति ।
यस्य पर्णमयित्यादाविव वर्तमानापदेशोऽपि कल्प्यो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह । न
चेति । सामान्यविधिबाधकत्वं श्रुतेविशेषविधेरिष्टं, विशेषकल्पनौ तु सामान्यविधिना
बाध्या कल्पनाया विरोधाभावापेक्षत्वादित्यर्थः । इतश्च स्तुत्यर्थमेवेदं वचो न विधिरि-
त्याह । अपि चेति । आश्वभ्य आ शकुनिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्त्वत्तेऽन्नमिति श्रवणादंश-
क्यविषयो विधिर्न संभवतीत्याह । न चेति । तर्हि वचनवैयर्थ्यमित्याशङ्क्य सर्वं प्राण-
स्यान्नमिति धीस्तुत्यर्थत्वान्नैवमित्याह । शक्यते त्विति । उक्तेऽर्थे सूत्रमादत्ते । तदिति ।
तदक्षराणि व्याकरोति । एतदिति । मटच्योऽशनयः पाषाणवृष्टयो रक्तवर्णाः क्षुद्र-
पक्षिविशेषा वा तैर्हतेषु कुरुषु तद्देशस्थसस्येष्विति यावत् । आख्यायिकार्थमाह ।
चाक्रायण इति । स हि दुर्मिक्षे जाते जाययाऽनुपजातपयोधरादिस्त्रीव्यञ्जनया सह

१ ज. 'क्षयशा' । २ ड. अ. 'विदि कि' । ३ ज. 'किञ्चनान' । ४ ड. 'न्नं मनुष्येदे' । ५ क.
ज. 'ण्षे' । ६ ट. 'क्षणप्र' । ७ ड. अ. 'नापू' । ८ क. ड. अ. 'ल्पनाव' । ९ ठ. ड. 'श्रुतिवि' ।
१० ड. अ. 'ना सा' । ड. 'नाऽत्र सा' । ११ ड. अ. 'उक्तार्थे' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. २५३०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १००३

किल्बिषिरापद्रुत इभ्येन सामिखादितान्कुलमाषांश्चखाद । अनुपानं
तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचक्षे । कारणं चात्रोवाच “ न
वा अजीविष्यमिमान्खादन् ” [छा० १ । १० । ४] इति
“कामो म उदपानम्” [छा० १ । १० । ४] इति च । पुनश्चो-
त्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुलमाषान्भक्ष्यान्भूवेति ।
तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयाति-
शयो लक्ष्यते प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसंधारणायाभक्ष्यमपि भक्षयि-
तव्यमिति । स्वस्थावस्थायां तु तत्र कर्तव्यं विद्यावज्ञाऽपीत्यनु-
पानप्रत्याख्यानाद्गम्यते । तस्मादर्थवादो “ न ह वा एवंविदि ”
[छा० ५ । २ । १] इत्येवमादिः ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

एवं च सत्पाहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यवि-
भागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि चाऽऽपदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चावि-
शेषेण—

देशान्तरं प्रविचक्रमे स कदाचिदिभ्यग्रामे निवसन्निभ्येन सह हस्त्यारोहेण सामिभोजि-
तानर्धभक्षितान्कुलमाषान्कुत्सितमाषान्भक्षितवानित्यर्थः । अनुपानं गृहाणेत्युक्ते सत्यु-
च्छिष्टं मे पीतं स्यादिति प्रविषिष्य किमेतेऽप्युच्छिष्टा नेति परेणोक्ते कारणं चानुपा-
ननिषेधे कथितवानित्याह । अनुपानं त्विति । कुलमाषाश्चेन्न भक्ष्यन्ते जीवनमेव मे न
स्यात्कामः स्वेच्छावृत्ते मे तैटकादिषूदकपानं भविष्यतीत्यर्थः । स्वयं खादित्वा शिष्टा-
ज्जायार्थमाजहार तथा च भर्तृस्वभावज्ञया निहितानुत्तरादिने प्रातरेव भक्षितवानित्याह ।
पुनश्चेति । कुलमाषभक्षणश्रुतेरभिप्रायमाह । तदिति । अनुपाननिषेधश्रुतेस्वात्पर्यमाह ।
स्वस्थेति । सर्वान्नभक्षणस्य निरङ्कुशत्वाभावे फलितमाह । तस्मादिति ॥ २८ ॥

तस्यार्थवादत्वे हेतुत्वन्तरमाह । अबाधाच्चेति । सामान्यशास्त्रविरोधान्न कल्प्यो
विक्षेपविधिरित्युक्तम् । अधुना सामान्यशास्त्रं दर्शयन्सूत्रं योजयति । एवं चेति ।
स्वस्थावस्थायां भक्ष्याभक्ष्यभेदे सतीति यावत् ॥ २९ ॥

आर्षद्वस्थायाभक्ष्यभक्षणानुज्ञाने स्मृतिं संवादयति । अपीति । स्मृतिरपि विद्व-
द्विषयेत्याशङ्क्याऽऽह । अपि चेति । सुरापानमवस्थाद्वयेऽपि न कार्यमित्याह ।

१ ड. अ. 'न स्वामि' । २ क. ज. 'दकपा' । ३ ड. अ. 'न हस्त्या' । ४ ड. अ. 'ण
स्वामि' । ५ क. ख. ड. अ. ट. ड. 'सितान्माषा' । ६ ठ. ड. 'न न' । ७ ड. अ. 'तडागादि' ।
८ ड. 'पयव' ।

“ जीवितात्पयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

ल्लिप्यते न स पापेन पञ्चपत्रमिवाम्भसा ”

इति । तथा “मघं नित्यं ब्राह्मणः” “सुरापस्य ब्राह्मणस्यो-
ष्णामासिञ्चेयुः” “सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्” इति
च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥ (७)

शब्दश्चान्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिमयोजनः कांठ-
कानां संहितायां श्रूयते “तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्” इति ।
सोऽपि “ न ह वा एवंविदि ” [छा० ५ । २ । १] इत्य-
स्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न
विधय इति ॥ ३१ ॥ (७)

विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

“सर्वापेक्षा च” [ब्र० सू० ३ । ४ । २६] इत्यत्राऽऽश्रम-
कर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम् । इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्र-

तथेति । ब्राह्मणो वर्जयेदिति शेषः । जीवितात्ययस्मृत्या सुराऽपि तदत्यये पातव्ये-
त्याशङ्क्याऽऽह । सुरापस्येति । उष्णां सुरामिति शेषः । उष्णामग्निना तप्तमिति
यावत् । मरणान्तिकप्रायश्चित्तदृष्टेस्तत्प्रसङ्गेऽपि सा न पातव्येत्यग्निः । इतश्च सा सदा
न पेयेत्याह । सुरापा इति तत्र हेतुः । अभक्ष्येति । मघमित्यादिस्मृतेस्तात्पर्य-
माह । वर्जनमिति ॥ ३० ॥

स्मृतिप्रामाण्यार्थं तन्मूलश्रुतिमाह । शब्दश्चेति । तस्माद्ब्राह्मणस्य सुरापस्य
मरणान्तिकप्रायश्चित्तदर्शनादिति यावत् । श्रौतनिषेधस्य प्रकृतोपयोगमाह । सोऽपीति ।
श्रुतिस्मृतिसिद्धमर्थमुपसंहरन्नतः शब्दं व्याचष्टे । तस्मादिति ॥ ३१ ॥ (७)

सर्वान्नत्वोक्तिः शास्त्रान्तरविरोधे स्तुतिरित्युक्तम् । एवं विद्यार्थत्वोक्तिर्यज्ञानां स्तुति-
नित्यत्वश्रुतिविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह । विहितत्वाच्चेति । व्यवहितेन संबन्धमाह ।
सर्वापेक्षेति । अग्निहोत्रादिकर्माण्यधिकृत्य विहितत्वाद्भिन्नियुक्तविनियोगोयोगाच्च
संशयमाह । इदानीं त्विति । अत्राग्निहोत्रादीनामुभयथात्वोक्त्या स्वतन्त्रपुमर्थहेतुशा-
स्त्रोत्थात्मविधोषायोपवर्णनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्याहेतुत्वोक्तेः स्तुतिवाद्भि-
दिषावाक्यस्य विवक्षितार्थत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते संयोगपृथक्त्वन्यायात्कर्मणामुभयत्वसं-

१ ड. अ. “युः सुरापास्ये सु” । ज ट. “युः सुरामास्ये सु” । २ ट. “जकः का” । ३ क. ड. ज.
अ. कठानां । ४ ड. अ. “मिन” । ५ क. ख. ड. अ. ठ. ड. “होत्रादीनां” । ६ ख. ड. “गाय” । ७ ड.
अ. “ति तत्रा” । ८ ख. अग्नि । ९ ड. अ. “न्ते यो” ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ३३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १००६

ममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताऽऽहो नेति चिन्त्यते । तत्र “ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यादिनाऽऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्धननुष्ठेयानि । अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्हेषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंपोगविरोधादिति । अस्यां प्राप्नोति । आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्पेव नित्यानि कर्माणि “ यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति ” इत्यादिना विहितत्वात् । न हि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव “ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यादिना । तदुक्तम् “ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत् ” [ब्र० सू० ३ । ४ । २६] इति । न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिव-

भवात्तत्सिद्धिरित्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षमाह । तत्रेति । यावज्जीवश्रुतेरमुमुक्षोरपि तान्यनुष्ठेयान्तीत्याशङ्क्याऽऽह । अथेति । विविदिषाश्रुतेर्विद्यासंयोगोऽपि तेषामवश्यंभावीत्याशङ्क्याऽऽह । नित्येति । आवश्यकत्वाभावाद्विद्याकामनायाः काम्यतया कर्मणामनावश्यकत्वं नित्यतया चाऽऽवश्यकत्वमित्येकत्रैवाऽऽवश्यकत्वानावश्यकत्वे विरुद्धे स्यात् । अतो विद्योपायत्वोक्तिः स्तुतिरेवेत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याकरोति । अस्यामिति । नित्यतया विहितानां विद्यार्थतया विधानं गौरवादयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति ॥ ३२ ॥

उक्तमनुष्ठेयसहकारित्वेन सूत्रमवतारयति । अथेत्यादिना । नित्यत्वेऽपि विद्यासंयुक्तत्वमग्निहोत्रादीनां विविदिषादेष्टव्यमिति व्याचष्टे । विद्येति । विविदिषासंयोगमात्रमत्र श्रुतं कुतो विद्यासंयुक्तत्वं तत्राऽऽह । तदुक्तमिति । सहकारित्वोक्त्या फलं प्रत्येवोपकारित्वमाचार्याभीष्टं कर्मणामित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । शास्त्रीयमन्वयव्यतिरेका-

द्विधाफलविषयं मन्तव्यम् । अविधिलक्षणत्वाद्विधायाः । असा-
ध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि-
स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरं पेक्षते नैवं विद्या ।
तथा चोक्तम् “ अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ” [ब्र० सू० ३ ।
४ । २५] इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्वं एवैषां सहकारित्ववा-
चोयुक्तिः । न चात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः कर्मा-
भेदेऽपि संयोगभेदात् । नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिव्याक्य-
कल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम् । अनित्यस्त्वपरः संयोगः
“ तमेतं वेदानुवचनेन ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यादिवा-
क्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम् । यथैकस्यापि स्वादिरेत्य
नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं
तद्वत् ॥ ३३ ॥

सिद्धं चोपकारकत्वं न चात्रोभयमस्तीत्याह । अविधीति । ब्रह्मधीः स्वकार्ये न चोदि-
तापेक्षाऽचोदितत्वान्मर्दनवदित्यर्थः । ब्रह्मधीः स्वफले नेविकर्तव्यतापेक्षा स्वतोऽसाध्य-
फलत्वात्कूपखननव्यापारवदित्याह । असाध्यत्वादिति । अविधिलक्षणत्वं व्यतिरेको-
दाहरणेन प्रपञ्चयति । विधीति । अङ्गभावस्य ग्राहकग्रहणपूर्वकत्वाद्विधेर्ग्राहकत्वाद्वि-
हितं दर्शपूर्णमासादि प्रयाजादिभिर्ग्राहकगृहीतैरङ्गैर्युज्यते नाविहितं विद्येत्यर्थः ।
तथाऽपि कथमसाध्यफलत्वेन विद्यायां कर्मणामन्वयराहित्यं तदाह । तथा चेति ।
कथं तर्हि सहकारित्ववचनं तदाह । तस्मादिति । सह पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीविव-
त्कर्मसु सत्स्वेव विद्यास्वकार्याय व्याप्तिरित्येव इत्यभिप्रेत्य सहकारित्वोक्तिरित्यर्थः ।
परोक्तमुद्भाव्य प्रत्याह । न चेति । संयोगभेदं विशदयति । नित्यो हीति । तुल्यब-
लश्रुतिद्वयेन पृथगेव संबन्धविधिः संयोगभेदस्तस्मादुभयथात्वमविरुद्धमित्यर्थः । “ एकस्य
तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ” [पू० मी० सू० ४ । ३ । ६] इत्यत्रैतच्चिन्तितमि-
त्युदाहरणेन दर्शयति । यथेति । बैल्वो वा खादिरो वा पालाशो वेत्येको नित्यः
संयोगस्त्वेन क्रत्वर्थस्य खादिरेत्वस्य खादिरे वीर्यकामस्येत्यपरः संयोगोऽनित्यस्त्वेन
पुरुषार्थवेत्येकस्य खादिरेत्वस्योभेयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वं हेतुस्तथा कर्मत्वभेदेऽपि संयो-
गभेदादुभयथात्वमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

१ क. ज. अ. 'रमाकाङ्क्षते' । २ ज. 'उम्' । ३ क. अ. 'पि खदि' । ४ ज. ट. 'रत्वस्य' ।
५ क. अ. 'र्यताऽनि' । ६ क. अ. 'र्यता च त' । ७ ठ. ड. 'रस्य' । ८ ठ. ड. 'रस्यो' । ९ क.
अ. 'भययार्थ' । ठ. ड. 'भयथात्वे' ।

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाऽप्याश्रमेकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्नि-
होत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निव-
र्तयति । कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः । यथा कुण्डपायिनामयने
“ मासमग्निहोत्रं जुह्वति ” इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुप-
दिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः । कुतः । उभयलिङ्गात् ।
श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिलिङ्गं तावत् “ तमेतं वेदा-
नुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इति
सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते न तु
जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेवां रूपमुत्पादयतीति । स्मृतिलिङ्गमपि
“ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ”

[भ० गी० ६ । १] इति विज्ञातकर्तव्यतर्कमेव कर्म विद्यो-
त्पत्त्यर्थं दर्शयति । यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्यां च

ननु प्रकरणान्तरस्थेभ्यो नित्यकर्मभ्यो भिन्नान्येव कर्माणि विविदिषावाक्ये विद्या-
संयुक्तवया विधीयन्ते प्रकरणभेदस्य भेदकत्वात्तत्कथं तस्योभयत्वं तत्राऽऽह । सर्व-
थेति । प्रतिज्ञां व्याचष्टे । सर्वथाऽपीति । एवकारव्यावर्त्यं शङ्कया दर्शयति ।
त एवेतीति । भेदशङ्कानिवृत्तिं व्यतिरेकदृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेति । कुण्डपायि-
नामयनगवाग्निहोत्रस्य प्रकरणभेदात्प्रसिद्धाग्निहोत्रात्कर्मान्तरत्वद्विविदिषन्तीति विद्या-
संयुक्तवया विहितानामपि कर्मणां प्रकरणभेदादेव कर्मान्तरत्वशङ्कायां दृष्टान्ते जुह्व-
तीतिहोमविधिश्रुतेर्मासाख्यकालस्य चानुपादेयत्वेनाविधेयत्वादग्निहोत्रशब्दस्य चाऽऽ-
ख्यातपारतन्त्र्यादारूपावस्य च जुह्वतेः संहितारूपवत्कर्म हित्वा व्यवहितनैयमिका-
ग्निहोत्रपरामर्शत्वायोगादारूपावार्थवाचिनोऽग्निहोत्रशब्दस्यापि कर्मान्तरविषयत्वमेवेति
युक्तम् । विविदिषावाक्ये तु विविदिषामामेव विधिश्रवणात्प्रसिद्धानामेव यज्ञादीनां
यज्ञादिशब्दैरनुवादाद्विद्यासंयोगमात्रं विधीयते । तेषामिति न कर्मान्तरतेत्यर्थः ।
उक्तमेवार्थं प्रश्नद्वारा हेतुमवतार्यं स्फोरयति । कुत इत्यादिना । प्रसिद्धकर्मसु संस्का-
रत्वप्रसिद्धिरपि तेषां चित्तमलनिरासेन ज्ञानोत्पत्तावुमकारकत्वमावेदयन्ती कर्माभेदं सूच-
यतीत्याह । अष्टेति । गर्भाधानादयः सहैवमचारिणोसंयोगान्ताश्चतुर्दश पञ्चमहा-

१ ड. अ. 'मधर्म' । २ क. ड. अ. 'भेदाश' । ३ ज. ट. 'था मा' । ४ ड. ज. अ. जुहोति ।
५ क. ज. ज. ट. न जु । ६ ड. अ. 'मेवैषां' । ७ ट. 'ति निज्ञात' । ८ क. ज. 'तात्मक' । ९ अ.
'था सं' । १० ठ. ड. 'मर्शयो' । ११ ड. अ. 'षाया' । १२ ठ. ड. 'इकर्म' । १३ क. 'णीसहस' ।

संस्कारप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य
स्मृतौ भवति । तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥ (८)

सहकारित्वस्यैवेतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति ।
श्रुतिब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः “ एष ह्यात्मा
न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्देति ” [छा० ८।५।३]
इत्यादिना । तस्माच्चज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासह-
कारीणि चेति स्थितम् ॥ ३५ ॥ (८)

अन्तराचापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसंपद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्ति-
हीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किंवा

यज्ञाः सप्त सोमसंस्थाः सप्त हविःसंस्थाः सप्त पाकसंस्था इति चत्वारिंशत्संस्काराः ।
अनश्रन्संहिताध्ययनं प्रायणं कर्म जप उत्क्रमणं दैहिकं भस्मसमूहनमस्थिसंचयनं
श्राद्धानेत्येवमष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः । कर्मभेदाशङ्कायोगे फलितमाह । तस्मा-
दिति ॥ ३४ ॥

नित्यानि कर्माणि स्वतः पुण्यलोकावाप्तिफलान्यपि ज्ञानकामेनानुष्ठितानि ज्ञानार्था-
नीत्युक्तम् । इदानीं ब्रह्मचर्यादीनामाश्रमकर्मेणां क्लेशतनूकरणेन विद्योदये हेतुत्वेत्यत्र
लिङ्गमाह । अनभिभवं चेति । सूत्रस्य तात्पर्योक्तिपूर्वकमक्षरार्थं कथयति । सहका-
रित्वस्येति । उभयविध्यधीनमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ३५ ॥ (८) .

आश्रमकर्मेणां विद्योपायत्वे सत्यनाश्रमकर्मेणां नैवमिति मन्वानं प्रत्याह । अन्त-
रेति । अनाश्रमिणो विधुरादीन्विषयीकृत्य तेषां कर्मित्वप्रसिद्धेर्निन्दाप्रसिद्धेश्च संशय-
माह । विधुरेति । अत्रानाश्रमकर्मेणामुक्तविद्याहेतुत्वोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे
यथा विधुरकर्मेणां विद्याहेतुत्वासिद्धिस्तथैवाऽऽश्रमकर्मेणामपि विद्याहेतुत्वासिद्धिः ।
सिद्धान्ते त्वाश्रमित्वस्य ज्यायस्त्वैवात्तत्कर्मेणां सुवरां तत्सिद्धिरिति मन्वानः संशयमनूय

१ अ. 'रत्नप्र' । २ क. अ. 'न्दते' । ३ अ. 'स्मान्नु यज्ञा' । ४ क. अ. क. अ. 'संस्थाः' ।
अ. । ५ क. अ. क. अ. 'नीत्यधेये' । ६ क. अ. 'स्त्वत्क' ।

[अ. १ पा. ४ सू. ३ अ. १८] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १००९

नास्तीति संशये नास्तीति तावत्प्राप्तम् । आश्रमकर्मणां विद्या-
हेतुत्वावधारणात् । आश्रमकर्मासंभवाच्चैतेषामिति । एवं प्राप्त
इदमाह । अन्तरा चापि त्वनाश्रमत्वेन वर्तमानोऽपि विद्याया-
मधिक्रियते । कुतः । तद्दृष्टेः । ऐकवाचक्रवीप्रभृतीनामेवंभूताना-
मपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

सर्वतप्रभृतीनां च नम्रचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि
महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे ॥ ३७ ॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का तु खलु प्राप्ति-
रिति साऽभिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसंबन्धिभिर्जपोप-
वासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति । तथा
च स्मृतिः—

पूर्वपक्षमाह । नास्तीत्यादिना । विविदिषावाक्ये यज्ञादिषु प्रत्येकं करणाविमक्तिश्रुते-
राश्रमकर्माभावेऽपि वर्णमात्रधर्माणां दानादीनां संभवाद्विधुरादीनामपि विद्याधिकारः
स्यादित्याशङ्क्य केवलवर्णधर्माणां विद्यासाधनत्वे सत्याश्रमकर्मणां वैयर्थ्यादनाश्रमि-
णामनधिकारो विद्यायामित्याह । आश्रमेति । अनाश्रमकर्मणां न विद्याहेतुवेति पूर्व-
पक्षमनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । प्रविज्ञां व्याकरोति । अनाश्रमत्वेनेति । तद्दृ-
ष्टेरिति व्याचष्टे । ऐक्येति ॥ ३६ ॥

श्रौतान् दृष्टिं शिष्टान् स्मार्तानामपि दर्शयति । अपीति ॥ ३७ ॥

श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धे सिद्धान्तेऽनन्तरसूत्रनिरस्यं चोचमाह । नन्विति । जन्मा-
न्तरकृतादपि कर्मणो रैकादीनां विद्यासंभवाद्दर्शोपाधायुक्तात्कर्मणो विद्येत्यत्र श्रुतिस्मृ-
त्योरनियामकत्वान्नियामकान्तरं वक्तव्यमित्यर्थः । आश्रमधर्मभावेऽपि वर्णधर्मविशेषै-
रनुग्रहीता विद्योदेष्टव्यतीति सूत्रेण समाधत्ते । सेति । अविरुद्धैरनाश्रमत्वाविरोविभि-
रिति यावत् । अत एव पुरुषमात्रसंबन्धिभिरित्युक्तम् । आश्रमधर्मशून्यानां जपादि-
ष्वपि शूद्रादिवन्नाधिकारोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह । तथा चेति । मैत्रो मित्रे भवः

१ ड. अ. 'त्वेनान्तराले व' । २ छ. 'कर्मिणा' । ३ ड. ज. अ. 'पि वि' । ४ ठ. ड.
'मधर्माणां' । ५ क. 'मशू' ।

“ जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ”

इत्यसंभवेदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाऽऽश्रमकर्मभिः संभवत्येव विद्याया अनुग्रहः ।
तथा च स्मृतिः—

“ अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ”

[भ० गी० ६ । ४५] इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कार-
विशेषाननुगृहीतृन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषे-
धाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु । तस्माद्विधुरादी-
नामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥ (९)

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाध-
नम् । श्रुतिस्मृतिसंहृष्टत्वात् । श्रुतिलिङ्गाच्च “तेनैति ब्रह्मवित्पु-
ण्यकृत्तेजसश्च ” [बृ० ४ । ४ । ९] इति ।

सर्वभूताहंसको दयावानित्यर्थः । किंच नैयोगिकफलेषु कर्मत्वान्तर्यस्याचोदितत्वा-
दनियतकालत्वे नैयोगिककर्माभावेऽस्यामुष्मिकैरेव कर्मभिर्विद्या भविष्यतीति सूत्रस्य
व्याख्यानंतरमाह । जन्मान्तरेति । जन्मान्तरसंचितकर्मणां विद्यानुग्राहकत्वे मान-
माह । तथा चेति । अनेकेषु जन्मसु संचितसंस्कारैः सिद्धः सम्यग्धीपरिपाकवानि-
त्यर्थः । यथाऽस्मिन्नन्यधीतवेदो धर्मजिज्ञासाधिकारी तेषांऽस्मिन्नेव जन्मन्याश्रम-
धर्मैरुत्पादितविविदिषो विद्याधिकारी स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । दृष्टार्थेति । अविद्या-
निवृत्तेर्दृष्टफलत्वान्नयमापेक्षाभावाद्विघातकनिषेधस्याभावमात्रेण तत्र पुरुषस्य प्रवृत्तिरि-
त्यर्थः । श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ३८ ॥

वर्णोपाधावुक्तधर्ममात्रादपि विद्योत्पद्यते चेदाश्रमिवमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह । अत-
स्त्विता । विद्यायाश्चिराच्चिरव्यक्तिहेतुतयाऽऽश्रमिवतानाश्रमिवयोर्विशेषाच्च वैयर्थ्य-
मिति मत्वा व्याचष्टे । अत इति । साधनोपचयादचिरेण विद्याहेतुत्वं ज्यायस्त्वम् ।
आश्रमिवस्य ज्यायस्त्वे श्रुतिस्मृत्यनुगृहीतत्वं हेतुमाह । श्रुतीति । श्रुतौ पुण्यकृत्ववि-
शेषेणालिङ्गाच्च श्रेष्ठमाश्रमिवमित्याह । श्रुतीति । तेन ज्ञानमार्गेण ब्रह्मविदेति गच्छति

१ ड. अ. ट. 'भवादा' । २ ड. अ. जपेऽधि' । ३ क. ड. अ. ट. 'द्याया द' । ४ ड. अ.
'दन्धत्वा' । ५ छ. तथा तस्मि' । ६ ठ. ड. 'मकर्मभिः' । ७ अ. 'धर्मोत्पा' । ८ क. ख. ड. अ.
ठ. ड. 'पणलिङ्गा' ।

[अ० ३ पा० ४ सू० ४०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि १०११

“ अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः ।

संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत् ”

इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥ (९)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि

नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥ (१०)

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथं-
चित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः । पूर्वधर्मस्वनुष्ठान-
चिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावा-
दिति । एवं प्राप्त उच्यते । तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य
न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः । निय-
मातद्रूपाभावेभ्यः । तथा हि “ अत्यन्तमात्रमानमाचार्यकुलेऽव-

ब्रह्म प्राप्नोति स च पुण्यं स्वाश्रमोक्तं कर्म करोतीति पुण्यकृदुच्यते । तेजसि परमा-
त्मन्यात्मत्वेन वर्तते इति तेजसः । तत्र पुण्यकृत्स्वविशेषणादाश्रमित्वं ब्रह्मप्राप्तिहेतुतया
श्रेष्ठं सिद्धमित्यर्थः । आश्रमित्वस्य श्रेष्ठत्वे स्मार्तमपि लिङ्गमनुकूलयति । अनाश्र-
मीति ॥ ३९ ॥ (९)

अनाश्रमिणां कर्माणि विद्याहेतुं श्रेदारूढपातितस्य पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य धीपूर्वकं
प्रच्युतस्य कर्म किमु वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह । तद्भूतस्येति । वृत्तानुवादेन विषयं
सूचयति । सन्तीति । तानाश्रमान्प्राप्तस्य धीपूर्वं प्रच्युतस्य कर्म विषय-
स्वार्त्तं विद्याहेतुर्न वेति संशयं सिद्धवत्कृत्य वद्वेतुमाह । तांस्त्विति । कथं-
चिद्रागाद्युद्रेकादित्यर्थः । सा मानवो न वेति संशयार्थः । ऊर्ध्वरेतसां बुद्धिपूर्वं
प्रच्युतानां कर्म यथोक्तविद्याहेतुर्नैत्युक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे पूर्वोक्ताश्रमित्वश्रे-
ष्ठ्यांसिद्धिः । सिद्धान्ते प्रच्युतेरप्रामाणिकत्वात्तत्सिद्धिरिति स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति ।
पूर्वेति । पूर्वाश्रमोक्तौ यागादिधर्मः सुखेन शक्योऽनुष्ठानमिति तच्चिकीर्षया रागद्वेष-
वशेन च प्रत्यवरोहोऽपि प्रामाणिकः स्यात्तथाचानाश्रमिकर्म निन्दितमपि यथा विद्या-
साधनमुक्तं तथा प्रत्यवरूढस्यापि कर्म विद्याहेतुराश्रमावरोहोऽनुष्ठेयस्त्वदारोहावरोह-
योरन्यवरत्वात्तदारोहवदित्यवरोहस्य प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमववायं
व्याकरोति । एवमिति । उत्तराश्रमं प्राप्तस्य पूर्वाश्रमप्राप्तिरप्रामाणिकीत्यत्र प्रश्नपू-
र्वकं हेतुत्रयमाह । कुत इति । तत्र नियमं व्याचष्टे । तथा हीति । अरण्यमित्ये-

१ ड. 'स्य ना' । २ क. ड. अ. 'या रा' । ३ ट. 'दत्' । ४ ठ. ड. 'स्य क' । ५ क. ख.
क. अ. ठ. ड. 'ति विमर्शयः' । ६ ड. अ. ठ. ड. 'भोक्तया' । ७ क. ख. 'न प्र' ।

सादयन् ” [छा० २ । २३ । १] इति “अरण्यमियादिति पदं
ततो न पुनरेयात्” इत्युपनिषदिति ।

“ आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्रुतुणामेकमाश्रमम् ।

आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि ”

इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति । यथा च
“ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् ” [जाबा० ४] “ ब्रह्मचर्या-
देव प्रव्रजेत् ” [जाबा० ४] इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि
वर्चास्युपलभ्यन्ते नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि । न चैवमाचाराः शिष्टा
विद्यन्ते । यत्तु पूर्वधर्मस्वनुष्ठानधिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति
तदसत्

“ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः प्रधर्मात्स्वनुष्ठितात् ”

[भ० गी० ३ । ३५] इति स्मरणात् । न्यायाच्च ।
यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठानं
शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य । न च रागादिवशात्प्रच्युतिः ।
नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात् । जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनि-
बादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदाढ्याय ॥४०॥ (१०)

न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य “ ब्रह्म-

कान्तोपलक्षितमूर्ध्वरेतस्त्वं तदियाद्गच्छेदिति पदं शास्त्रमार्गस्त्वतस्तस्मादरण्यान् पुनरेया-
त्पुनर्नाऽऽगच्छेन्न प्रत्यवरोहेदित्युपनिषद्ब्रह्मस्यमित्यर्थः । स्मर्तेमपि नियमं कथयति ।
आचार्येणेति । उक्तनियमतात्पर्यमाह । एवमिति । अतद्रूपमप्रत्यवरोहं व्याकरोति ।
यथा चेति । अभावं शिष्टाचारामावं व्याचष्टे । न चेति । परोक्तमनुमानमनूय
स्मृतिविरोधेन दूषयति । यच्चिति । इवश्चानुमानमयुक्तमित्याह । न्यायाच्चेति ।
यत्तु रागादिवशात्प्रत्यवरोहणमिति तन्नऽऽह । न चेति । ततो न पुनरित्यादि
नियमशास्त्रम् । अवशिष्टं सूत्रावयवं व्याचष्टे । जैमिनेरिति । अत्रेति प्रामाणिकप्र-
च्युत्यभावोक्तिः । उभयसंप्रतिपत्तिफलमाह । प्रतिपत्तीति ॥ ४० ॥ (१०)

प्रत्यवरोहणमशास्त्रीयमित्युक्तम् । संप्रति प्रमादौत्प्रत्यवरोहे प्रायश्चित्तमस्तीति वक्तुं
पूर्वपक्षमाह । न चेति । ऊर्ध्वरेतसोऽधीर्पूर्वच्युतब्रह्मचर्यं विषयस्तेषां किं नास्ति
प्रायश्चित्तमुतोऽस्तीति प्रायश्चित्ताभावस्मृतेर्महापातकेऽवनुक्तेष्व संशयमाह । यदीति ।

१ क. 'वर्धर्म' । २ क. 'दातप्र' । ३ ठ. 'पूर्व च्यु' । ४ क. 'वर्धप्रच्यु' । ५ क. ठ. क. 'तास्ति प्रा' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ४१] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०१३

चार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्वमालभेत ” इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत
नेति । उच्यते । यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् “अवकी-
र्णिपश्च तद्वाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ” [पू० मी० सू० ६ ।
८ । २१] इति तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति । किं कारणम्—

“आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन श्रुध्येत्स आत्महा”

इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुप-
पत्तेः । उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रा-
यश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

।मादादित्यधीपूर्वच्युतब्रह्मचर्याणामेवोर्ध्वरेतसां प्रायश्चित्तचिन्तेयमिति द्योतयति ।
भवकीर्णेत योनौ रेतः सिन्धेदवकीर्णं योनौ क्षिप्तं रेतोऽस्यास्तीत्यवकीर्णी । प्रमादा-
द्युतब्रह्मचर्याणामूर्ध्वरेतसां कृतप्रायश्चित्तानां कर्मविद्याहेतुरित्युक्त्या पादादिसं-
गतिः । पूर्वपक्षे प्रमादिनामूर्ध्वरेतसामात्यन्तिकोदवःपातात्पुमर्थासिद्धिः । सिद्धान्ते
तेषामपि प्रायश्चित्तेन पतनसमाधानात्तत्सिद्धिरित्युपेत्य पूर्वपक्षमूत्रमवतार्य योजयति ।
उच्यते इति । तदेव पञ्चाध्याये निर्धारितं प्रायश्चित्तमुदाहरति । अवकीर्णीति ।
ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्यत्र पशुहोमार्थमाधानं कर्तव्यं किंवा लौकिकेष्वेवाग्निषु तत्कर्मोप-
संदेहे पूर्वोपकरणे यदाहवनीये जुहोति तेन सूर्योऽस्याभीष्टः प्रीतो भवतीत्याहवनी-
यस्य सर्वहोमार्थत्वादाहवनीये तावदुपनयनहोमाः कार्या इति प्राप्य जावपुत्रोऽ-
ग्नीनादधीवेति कृतदारस्याग्न्याधानविधानादुपनयनकाले दाराभावादाधानस्याप्राप्तकाल-
त्वादाहवनीयाभावालौकिकाग्निपूजनयनहोमा इति राद्धान्विते ब्रह्मचारी यथाऽवकीर्णी-
सैव तस्य भार्या स्यात्ततोऽग्न्याधानमित्यधिकं शङ्कां निराकर्तुमतिदेशाधिकरणभवकीर्णि-
पशुश्चेति यथोपनयनकाले लौकिकाग्नी होमस्तथाऽवकीर्णिपशुश्च तत्रैव होतव्यः ।
आधानस्य पत्नीपरिग्रहोत्तरकालतया पूर्वं प्राप्त्यभावादितरस्याश्च परपरिग्रहभूताया
भार्यात्वकल्पनयाऽऽधाने मानाभावादित्यर्थः । यदधिकारलक्षणे निर्णीतमाधिकारिकं
प्रायश्चित्तं तदपि नैष्ठिकस्य भवितुं नार्हतीति संबन्धः । प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह । किमि-
त्यादिना । किंविषयं तर्हि प्रायश्चित्तवचनं ब्रह्मचारित्वाविशेषादुपकुर्वाणस्यापि तद-
योगात्तत्राऽऽह । उपेति । तादृगित्यप्रतिसमाधेयत्वोक्तिः ॥ ४१ ॥

१ क. अ. स्यादिति । नेत्युच्य । २ ड. अ. 'ति । नेत्युच्य' । ३ ठ. ड. 'न्तेति । ४ ड.
'कायः' । ५ क. ल. ठ. ड. 'धिकाश' । ड. अ. 'धिकश' । ६ क. ड. अ. पूर्वप्रा' । ७ ड. 'अ
परि' ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४२॥ (११)

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते । यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात् । तस्मादुपकुर्वाणं वन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च । अशनवत् । यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनः संस्कारश्चैवमिति । ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते । ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णोत्पेतदविशेषश्रवणं मूलम् । तस्माद्भावो युक्ततरः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे “समा विप्रतिपत्तिः स्यात्”

सिद्धान्तयति । उपपूर्वमिति । उपपदं पूर्वं यस्य पतनस्य तदुपपूर्वमिति व्याकरोति । अपि त्विति । प्रायश्चित्ताभावं व्यावर्तयितुमपीति प्रयुक्तम् । एवकारार्थमाह । नेति । नैष्ठिकव्रतलोपस्योपपातकत्वेऽपि प्रायश्चित्तसत्त्वे किं जातमित्याशङ्क्योपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं स्यादिति सूत्रावयवं व्याकुर्वन्नाह । तस्मादिति । उक्तमर्थं दृष्टान्तमवतार्य स्पष्टयति । अशनवदिति । प्रायश्चित्तं न पश्यामीति स्मरणात्कथं तद्भावधीरित्याशङ्क्याऽऽह । ये हीति । प्रायश्चित्तं नास्तीति स्मरणाभावाच्च पश्यामीति दर्शनाभावमात्रस्मरणेऽदित्यर्थः । भाववादिनामपि तुल्या मूलानुपलब्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । ये त्विति । ननु न पश्यामीति स्मरणस्य प्रायश्चित्तनिषेधार्थत्वमनुमाय तदर्थश्रुतिकल्पनाच्चद्विरोधे सामान्यश्रुत्या प्रायश्चित्तसत्ता नाभ्युपगम्यते तत्राऽऽह । तस्मादिति । यावद्दर्शनाभावस्मरणस्य प्रायश्चित्तनिषेधार्थत्वकल्पनया तदर्थो श्रुतिरनुमीयते तावद्विशेषप्रवृत्ता प्रायश्चित्तं श्रुतिर्गम्यतीति न स्मृत्या प्रायश्चित्ताभावधीरिति भावः । उक्तेऽर्थे यववराहशिकरणसंमतिमाह । तदुक्तमिति । यवमयश्चरुर्वाराही उपानहावित्यत्र यववराहशब्दाभ्यां प्रियंगुरुष्णशकुनिग्रहो वा दीर्घशूकैसूकरग्रहो वेति संदेहे पूर्वपक्षमाह । समेति । केचिदीर्घशूके यवशब्दं प्रयुज्यते प्रियंगुषु चापरे वराहशब्दमपि सूकरे केचिदाहुः रुष्णशकुनौ चान्ये तेन प्रयोगसाम्यात्समा तुल्या विकल्पेन प्रतिपत्तिः स्यादित्यर्थः । सिद्धान्तमाह ।

१ क. ड. ज. अ. विशीर्यते । २ क. ज. ट. 'णकव' । ३ क. अ. 'तभा' । ४ क. अ. 'क्षिताभा' । ५ क. अ. 'न्ति न ते' । ६ क. अ. 'षां मू' । ७ क. अ. प्रत्युक्तं । ८ क. अ. 'ति भवणा' । ९ क. अ. 'दर्थशु' । १० क. अ. 'दतिशे' । ११ क. अ. 'वृष्ट्या प्रा' । १२ क. अ. 'कशुक' । १३ क. अ. 'शूक' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ४२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०१५

[पू० मी० सू० १ । ३ । ७] “ शास्त्रस्था वा तन्निमित्त-
त्वात् ” [पू० मी० सू० १ । ३ । ८] इति । प्रायश्चित्ता-
भावस्मरणं त्वेवं सति यन्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यात-
व्यम् । एवं भिक्षुवैस्नानसयोरपि वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं
द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत् । भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोम-

शास्त्रस्था वेति । वाशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । या शास्त्रमूला धीः सैव ग्राह्या शास्त्रनि-
मित्तत्वात्तद्वर्मादिज्ञानस्य । शास्त्रं च यदौ वाऽन्या ओषधयो म्लायन्त्यथैवे मोदमाना-
स्तिष्ठन्ति वराहं गावोऽनुधावन्तीति च यववराहशब्दयोर्दीर्घशूकसूकरविषयम् । तस्मा-
द्धीसाम्याभावाद्विकल्पासिद्धेर्या शास्त्रमूला प्रसिद्धिः सैव ग्राह्येति प्रथमेऽसिद्धम् ।
तथाऽत्रापि शास्त्रमूलत्वात्प्रायश्चित्तभावेऽपि सिद्धेस्तत्सर्वमुक्तमित्यर्थः । प्रायश्चित्तं न
पश्यामीति स्मृतेस्तर्हि का गतिस्तत्राऽऽह । प्रायश्चित्तेति । एवं सति सामान्यश्रुत्या
प्रायश्चित्तसत्त्वे निश्चिते सतीत्यर्थः । यदि कथंचिन्नैष्ठिकस्य ब्रह्मचर्यं लुप्येत तदा न
प्रायश्चित्तं दृश्यते तेन नैष्ठिकेन ब्रह्मचर्यं यत्नवता भाव्यमिति तद्विषययत्नस्याप्रमादेन
सदाकार्यत्वरूपं गौरवमुत्पादयितुं प्रायश्चित्ताभावस्मरणमित्यर्थः । नैष्ठिके हि दर्शितव्या-
यमिदरयोरतिदिशति । एवमिति । विशेषतोऽपि प्रायश्चित्तविधेस्तयोरस्ति प्रामादिके
व्रतलोपे प्रायश्चित्तमित्याह । वानप्रस्थ इति । दीक्षाभेदे व्रतलोपे प्रमादतो ब्रह्मचर्य-
भङ्गे कृच्छ्रं चरित्वा महाकक्षं बहुतृणकाष्ठं देशं वर्धयेदिति संबन्धः । कृच्छ्रं विशि-
नष्टि । द्वादशेति । दिनत्रयमेकवारभोजनं दिनत्रयं रात्रिभोजनं दिनत्रयमयाचिवं
दिनत्रयमुपवासकरणमित्येवंरूपमित्यर्थः । परिव्राजकेऽपि प्रमादतो व्रतलोपे तुल्यं
कृच्छ्रानुष्ठानमित्याह । भिक्षुरिति । सोमस्य यज्ञाङ्गत्वात्तदभिवृद्धिमनादृत्य महाकक्षं
वर्धयेदित्याह । सोमेति ।

“सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।

पुनः स पूजो भवति पङ्क्तिपावन एव च ॥

मनोवाक्कायजान्दोषाञ्ज्ञानोत्थांश्च प्रमादजात् ।

सर्वान्दहति योगाग्निस्तूल्यं राशिमिवानलः ॥

उपपत्तिकसंघेषु पातकेषु महत्सु च ।

प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥

१ क. 'रवापाद' । २ ड. अ. 'दा चान्या' । ठ. 'दाऽन्या' । ३ क. ख. ड. अ. ठ. ड. 'मेऽ-
ध्याये सि' । ४ ड. अ. 'क्षिताभा' । ५ ड. अ. 'वसि' । ६ ड. अ. ठ. ड. 'स्तत्त्वं युक्त' । ७ ड.
अ. 'यस्य य' । ८ क. ड. अ. 'र्थः । पारि' । ९ ड. 'ध्यायेभि' । १० ठ. ड. 'पानज्ञा' । ११ ठ. ड.
'नोत्थानप्रमा' । १२ ड. अ. 'पातेषु सर्वेषु पा' । १३ ख. ठ. ड. 'तेषु सर्वेषु पा' ।

वृद्धिर्जनं स्वशास्त्रसंस्कारश्चेत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्त-
व्यम् ॥ ४२ ॥ (११)

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥ (१२)

यच्छूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवन् महापातकं यदि बोधपा-
तकमुभयथाऽपि शिष्टेस्ते बहिष्कर्तव्याः—

“आकूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत्स आत्महा ” इति

“आकूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् ।

उद्धृष्टं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ”

इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः । शिष्टाचाराच्च । न हि
यन्नाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाऽऽचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥ (१२)

नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ”

इत्यादि परिब्राजकविषयं शास्त्रं तेनाभिहितः संस्कारो ध्यानादिः स च कर्तव्यो
भिक्षुणेत्याह । स्वशास्त्रेति । ऊर्ध्वरेतसां प्रमादच्छ्रुतब्रह्मचर्याणां कृतप्रायश्चित्तानाम-
धिकारोऽस्ति विद्यायामिति भावः ॥ ४२ ॥ (११)

कृतप्रायश्चित्तानामपि तेषां शिष्टाव्यवहार्यत्वमाह । बहिस्त्विति । कृतप्रायश्चित्तैः
सह शिष्टाचाररूपं कर्म विषयस्वार्त्तिकं विद्याङ्गं किंवा नेति संज्ञये प्रागुक्तप्रायश्चित्ते-
नैव तेषां व्यवहार्यतासिद्धेरङ्गमिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह । यदीति । प्रतिज्ञार्थमुक्त्वा
हेतुद्वयं व्याकरोति । आकूढ इत्यादिना । दुश्चरित्वाचरणकृतमेनो लोकद्वयेऽपि कर्तु-
रशुद्धिमादधाति । तत्र प्रायश्चित्तेन लोकद्वयेऽपि कस्यचिदशुद्धिरपनीयते कस्यचिदु-
पारलौकिकाशुद्धिरपाक्रियत ऐहिकाशुद्धिरनुवर्तते । उक्तं हि—

“बालघ्नाश्च कृतघ्नाश्च विशुद्धानपि धर्मवः ।

शरणागतहन्तृश्च संहिन्तृश्च न संवेदय”

इति । तथेहापि “आकूढो नैष्ठिकम्” इत्यादिस्मृतिविक्रान्दाचाराच्च पस्त्रोकाशु-
द्धेरपनीयत्वेऽप्यव्यवहार्यत्वावगमान्न तैर्व्यवहाररूपाचारस्य विद्याङ्गत्वम् । तदेवमुक्ता-
चारस्योक्तविद्यानङ्गत्वाभिधानात्प्रासङ्गिकीपादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे “बालघ्नाश्च”
इत्यादिस्मृतिविरोधः । सिद्धान्ते तदानुगुण्यमिति भावः ॥ ४३ ॥ (१२)

१ क. ड. ज. अ. ट. ‘नृत्तं’ । २ क. ड. ट. ‘यक्ष्म’ । ३ क. घ. अ. ‘दि बोध’ । ४ घ.
‘तैः शि’ । ५ क. ख. ड. अ. ‘विस्मैव’ । ६ ख. ‘चित्पार’ । ७ ख. ‘किञ्चय’ ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

अङ्गेषुपासनेषु संशयः । किं त्रानि यजमानकर्माण्याहोस्वि-
हत्विर्कर्मणीति । किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति । कुतः ।
फलश्रुतेः । फलं हि श्रूयते “वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं
विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते” [छा० २ । ३ । २]
इत्यादि । तच्च स्वामिगाभि न्याय्यम् । तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधि-
कृतत्वात् । अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य । फलं च कर्त-
रुपासनानां श्रूयते “वर्षत्यस्मै य उपास्ते” इत्यादि । नन्व-
त्विजोऽपि फलं दृष्टम् “आत्मने वा यजमानाग्र वा यं कामं कामयते

अन्यस्मिन्पापकारिणि तेन व्यवहारादन्यस्य त्वपकारवदन्यस्मिन्नुपास्तिकर्तरि तेन
व्यवहारात्फललक्षणोपकारमन्ययजमानस्य दर्शयन्पूर्वपक्षयति । स्वामिन इति । कर्मा-
ङ्गसङ्गिन्युपासनानि विषयस्तेषुभयकर्तृकेत्वधिया संशयमाह । अङ्गेष्विति । शास्त्री-
याङ्गाश्रितोपास्तीनां स्वतन्त्रफलानामृत्विक्कर्तृत्वेऽपि यजमानगामिफलत्वोक्तेरस्ति पादा-
दिसंगतिः । पूर्वपक्षे कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यासिद्धिः । सिद्धान्ते प्रकृतस्य कर्तुर-
स्वातन्त्र्यात्तस्य यजमानाधीनत्वात्तत्कर्तृत्वमपि तदधीनमित्येकाधिकरण्यास्यविरुद्धवेति
सिद्धवत्कृत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह । किमिति । तत्र हेतुं प्रश्नद्वारा दर्शयति ।
कुत इति । फलश्रुतिमेव विशदयति । फलं हीति । श्रुतमपि फलमृत्विग्वं किं न
स्यात्तत्राऽऽह । तच्चेति । तत्र हेतुः । तस्येति । उद्गीथाद्युपास्तिविधीनां प्राप्तोद्देश-
नत्वात्कर्तृत्वधिकारिण एव प्राप्तेस्तस्यैवोद्देशनयोगात्तदाश्रितोपास्तीनां गोदोहनवदधिक-
ताधिकारत्वात्कर्तृत्वधिकारिण एव गोदोहनफलवेद्विद्याफलेन संगतिरित्याह । अधिक-
तेति । तथाऽपि कथमुपास्तीनां याजमानत्वं तत्राऽऽह । फलं चेति । अकर्तृत्वे
फलित्वमपि यजमानस्य न स्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यादित्यर्थः । यजमानगामि
फलमित्यत्र व्यभिचारं शङ्कते । नन्वेति । उत्सर्गतो याजमानं फलं वच-

१ क. ज. झ. 'मोणि कि' । २ ट. 'मि फलं न्या' । ३ ज. 'नायो श्रू' । ४ ठ. 'दिना । न' ।
५ छ. 'यं यं कामं' । ६ छ. 'पहारे' । ७ क. झ. 'सहान्यु' । ८ क. झ. 'षयास्ते' । ९ ठ. क. 'कथि' ।
१० झ. 'मित्येका' । ११ झ. 'रणतावि' । १२ छ. 'धिकरण' । १३ क. झ. क. घ. ठ. ड. 'कारि-
त्वा' । १४ छ. ठ. 'धिकरण' । १५ छ. झ. 'वतो विद्या' । १६ क. झ. अ. 'लितत्वं' ।

तमागापति" [बृ० १ । ३ । २८] इति । न । तस्य वाचनि-
कत्वात् । तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय
आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॥ ४५ ॥

नैतदस्ति स्वाभिकर्मण्युपासनानीति । ऋत्विक्कर्मण्येतानि
स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । किं कारणं तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे
यजमानेनर्त्विक्परिक्रियते । तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपा-
सनान्यधिकृताधिकारत्वात् । तस्माद्दोहनादिनियमवदेवर्त्वि-
ग्भिर्नैर्वर्त्तेरन् । तथा च " तं ह बको दालभ्यो विदांचकार स
ह नैर्मिश्रीयानामुद्राता बभूव" [छा० १ । २ । १३] इत्युद्रा-
तृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूक्तं कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत
इति । नैष दोषः । परार्थत्वाद्दालभ्योऽन्यत्र वचनात्फलसंबन्धा-
नुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

नात्कचिदपवादः स्यादित्याह । न तस्येति । वाचनिकापवादाभावे तूत्सर्गस्थितिरि-
त्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ ४४ ॥

अङ्गोपास्तीनां याजमानत्वान्न स्वतन्त्रफलमेति प्राप्ते सिद्धान्तयति । आर्त्विज्य-
मिति । तत्र प्रतिज्ञां विभज्ये । नैतदिति । अन्यकर्तृकत्वे कथमन्यस्य फलमिति
शङ्कते । किं कारणमिति । सूत्रावयवेनोत्तरमाह । तस्मै हीति । ऋत्विजो यज-
मानेन स्वगामिने फलाय क्रीतत्वान्नानुपपत्तिरित्यर्थः । साङ्गकर्मार्थं क्रीतत्वेऽपि ध्यानार्थ-
मक्रीतत्वात्कथमुपास्तीनामृत्विक्कर्मत्वं तत्राऽऽह । तदिति । अङ्गोपास्तीनामधिकृता-
धिकारत्वे फलितमाह । तस्मादिति । वासायुत्विक्कर्तृकत्वे श्रौतं लिङ्गमाह । तथा
चेति । तमुद्गीथारूपं प्रणवं प्राणादिदृष्टिविशिष्टं बको नामतो दालभ्यस्यापत्यं दालभ्यो
विदांचकार विदितवान् । विदित्वा च नैर्मिश्रीयानां सत्रिणामुद्राताऽऽसीदित्यर्थः ।
पूर्वपक्षबीजमनुवदति । यच्चिति । 'उत्सर्गतो याजमानत्वेऽपि फलस्य वचनादपवादो
यत्र नैवं तत्रोत्सर्गस्थितिरित्युक्तमित्याह । नेत्यादिना ॥ ४५ ॥

१ क. ड. ज. अ. ट. 'मिण कृत्विक्' । २ ड. अ. 'दिकर्मि' । ३ ट. 'मिवत्ये' । ४ ड.
अ. 'वर्तेर' । ५ ड. अ. 'मिषीयाणामु' । ६ ट. 'श्रय' । ७ क. ड. अ. 'कारित्वे' । ८ ड. 'दालभ्यस्या' ।
९ ड. अ. 'मिषीया' । १० ड. अ. 'याणां स' । ११ क. ड. अ. 'त्रियाणा' ।

अ. ३ पा. ४ सू. ४६४७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०१२

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥ (१३)

“यं वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषंमाशासत इति यज-
मानायैव तामाशासत इति होवाचेति ” “ तस्माद् ह वैविदुद्राता
ब्रूयात्कं ते काममागायानि ” [छा० १ । ७ । ८] इति ।
तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मा-
दङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥ (१३) .

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

“ तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विघ्नं बाल्येन तिष्ठांसेद्बाल्यं च
पाण्डित्यं च निर्विघ्नं मुनिरमौनं च मौनं च निर्विघ्नं ब्राह्मणः ”
[बृ० ३ । ५ । १] इति बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र संशयो मौनं

इतश्चोपास्तीनामृत्विक्कर्तृकत्वं यजमानगामिफलत्वं चेत्याह । श्रुतेश्चेति । उत्स-
र्गतः श्रुतिलिङ्गैश्च सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति । सिद्धे चोपास्तीनामृत्विक्कर्तृ-
कत्वे तन्निर्धारणानियमन्यायेन स्वतन्त्र फलत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ४६ ॥ (१३)

विधुरप्रभृतीनां मन्दाधिकारिणां धीसाधनोक्तिमसङ्गेनाङ्गोपासनमधमधीसाधनमेव
निर्धार्य पुनरुत्तममेव धीसाधनं वक्तुमारभते । सहकार्यन्तरेति । विषयवाक्यमुदाह-
रति । तस्मादिति । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा विदित्वाऽऽत्मानमेषणाभ्यो व्युत्थीय भिक्षा-
चर्यं चरन्तिस्म तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणेः पाण्डित्यं पण्डाऽध्ययनजा ब्रह्मबुद्धिस्त-
द्वापण्डितस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विघ्नं निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन ज्ञानबल-
भावेन युक्तितोऽसंभावनानिरासरूपमननेन शुद्धधीत्वेन वा तिष्ठासेत्स्थातुमिच्छेत् ।
उक्तुदाह्यार्थं बाल्यं चेत्यादिरनुवादः । श्रवणमननानन्तरं मुनिर्मनशीलो निदि-
ध्यासनपरः स्यात् । मौनादन्यद्बाल्यं, पाण्डित्यं चामौनं मौनं च निदिध्यासनं
निश्चयेन लब्धोक्तहेतुत्रयस्य ब्रह्मधीहेतुत्वाद्ब्रह्माहमित्यवगच्छतीति ब्राह्मणः साक्षा-
त्कृतब्रह्मा भवतीत्यर्थः । तत्र श्रुतं मौनं विषयीकृत्य मौनशब्दस्य सिद्धे पारिव्राज्ये
साध्ये च ज्ञानाभ्यासे प्रयोगसिद्धेः संशयमाह । तत्रेति । निरुपाविधिवान्वरङ्गसाध-
नमौनविधिसाधनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मौनस्यानुष्ठेयत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते तस्या-
नुष्ठेयत्वसिद्धिरिति मत्वा तं हेत्यादिवाक्यशेषादङ्गोपासनमृत्विक्कर्तृकत्ववदथ ब्राह्मण

१ क. स. ट. 'य आशा' । २ क. ड. अ. 'ति चर्त्वि' । ३ ट. 'विघ्नं वा' । ४ ड. अ.
'नफलगामित्वं' । ५ क. ल. 'लवस्त्वसि' ठ., ड. 'लसि' । ६ क. ख. ड. अ. 'मेवं नि' । ७ ड. अ.
'मेवैव' । ८ ड. अ. 'त्यायथ मि' । ९ ठ. ड. 'णः ग' । १० ड. अ. ठ. ड. ब्रह्म भ' ।

विधीयते न वेति । न विधीयत इति तावत्प्राप्तम् । बाल्येन तिष्ठा-
सेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात् । न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका
विभक्तिरुपलभ्यते तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुतः प्राप्तिरिति
चेत् । मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येव प्राप्तं
मौनम् । अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्येति ब्राह्मण-
इत्यत्र तावेन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात् ।
तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवि-
तुमर्हति समाननिर्देशत्वाविति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । सहकार्यन्तर-
विधिरिति । विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरे-
वाऽऽश्रयितव्योऽपूर्वत्वात् । ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्याव-
गतत्वमुक्तम् । नैष दोषः । मुनिशब्दस्य ज्ञानाविशयार्थत्वात् ।
मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात् “मुनीनामप्यहं व्यासः”

इति विधिहीनवाक्यशेषादथ मुनिरित्येषोऽपि न विधिरिति पूर्वपक्षयति । नेत्या-
दिना । ननु बाल्येनेत्युपक्रमे विधिश्रुतेर्मौनेऽपि विधिरस्तु नेत्याह । बाल्ये-
नेति । तदेवापपादयेति । न हीति । यद्यत्रापि विधेयत्वं तर्हि विधिः श्रूयते
बाल्यवन्न च श्रूयतेऽतः श्रोतव्यत्वे सत्यश्रवणाद्विध्यभावसिद्धिरित्यर्थः । तर्हि मौनवा-
क्यस्य का गतिरित्यत्राऽऽह । तस्मादिति । अनधिगतस्यानुवादायोगादन्यत्र विध्य-
नुपलब्धेर्विधिरेवायमिति शङ्कते । कुत इति । पाण्डित्यविधानादेव मौनमपि सिद्धं
तस्यैव मौनत्वादित्याह । मुनीति । मुनिशब्दस्य भिक्षुवचनत्वेऽपि तस्यान्यत्र विधा-
नादत्रानुवाद एवेति मत्वा मौनस्याविधेयत्वे हेत्वन्तरमाह । अपि चेति ।
एकवाक्यतानुरोधान्मौनवाक्येऽपि न विधिरित्यर्थः । यदा पाण्डित्येन मौनस्य प्राप्तिस्तदा
विधीयमानबाल्यस्येत्यं प्रशंसा । न हि पाण्डित्यं स्वरूपेण ज्ञानं किंतु बाल्येऽनुष्ठि-
तेऽनन्तरं मननापरपर्यायं पाण्डित्यं कृतं स्यात्तस्माद्बाल्यं प्रशस्तम् । यदा मौनस्यो-
त्तमाश्रमस्य विध्यन्तेरप्राप्तस्यानुवादस्तदा बाल्यमात्रानुष्ठानवानुत्तमाश्रमित्वेन स्तूयत
इति व्यक्ता स्तुतिरिति मत्वाऽऽह । तस्मादिति । बाल्यपाण्डित्यातिरिक्तस्य मौन-
स्याविधेयत्वान्न तन्मुमुक्षोरनुष्ठेयमिति प्राप्तं पक्षमनूय सिद्धान्तमाह । एवमिति ।
अपूर्वत्वमसिद्धमिति शङ्कते । नन्वेति । पण्डितशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वान्मुनिशब्दस्य
तदविशयगामित्वार्थभेदान्न पण्डितशब्देन मुनिशब्दस्य प्राप्तावितेत्याह । नेत्यादिना ।
वृद्धप्रयोगाभावे कथं तदर्थत्वं तत्राऽऽह । मुनीनामिति । आश्रमेऽपि प्रयोगेदर्शना-

१ क. अ. ट. 'सर्वं प्रा' । २ ड. अ. 'ब्रह्म' । ३ ज. 'ह्यर्थं वि' । ४ ड. अ. 'त्वं न वि' ।
५ ख. ड. अ. 'तिरस्ति तत्राऽऽ' । ६ ड. 'तिरस्तु तत्राऽऽ' । ६ क. 'न्तरं प्रा' । ७ ड. अ. 'न
पाण्डित्यं' । ८ ड. अ. 'पि यो' । ९ ठ. ड. 'योगादिनि' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ४७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०२१

[भ० गी० १० । ३७] इति च प्रयोगदर्शनात् । ननु मुनि-
शब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते “ गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं
वानप्रस्थम् ” इत्यत्र । न । “ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः ” इत्या-
दिषु व्यभिचारदर्शनात् । इतराश्रमसंनिधानां तु पारिशेष्यात्त-
त्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य । तस्माद्बाल्य-
प्राण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते ।
यत्तु बाल्य एव विधिपर्यवसानमिति तथाऽप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य
विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति । निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि
मौनस्य बाल्यप्राण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम् । तद्वतो विद्यावतः
संन्यासिनः । कथं च विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते । तद-
धिकारात् “ आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ
भिक्षाचर्यं चरन्ति ” इति । ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव

दनियतं ज्ञानातिशयवाचित्वं तस्य चान्यत्र विधानादनुवाद्यत्वमेवेति शङ्कते । नन्विति ।
उत्तमाश्रमे मुनिशब्दोऽसाधारणः साधारणो वेति विकल्पाऽऽद्यं प्रत्याह ।
नेति । साधारणत्वं त्वेकस्यानेकार्थत्वायोगादयुक्तमित्यभिप्रेत्य प्रयोगस्यान्यथासिद्धि-
माह । इतरेति । * मौनस्यापूर्वत्वमुपपाद्य तृतीयमिति पदं व्याकुर्वन्कलितमाह ।
तस्मादिति । वाक्यभेदप्रसङ्गादेकत्रैव विधिरित्युक्तं तत्राऽऽह । यत्त्विति । उपरि-
धारणवन्मौनं वाक्यभेदेन विधेयमित्यत्रैव हेत्वन्तरमाह । निर्वेदनीयत्वेति । कस्येदं
मौनं विद्यासहकारिण्या विधीयते तत्राऽऽह । तद्वत इति । विशेषणप्रापकं पृच्छति ।
कथमिति । प्रकरणं तथेत्याह । तदिति । पक्षेणेति पदं शङ्कोत्तरत्वेनावधारयति ।
नन्वित्यादिना । ब्रह्मैव प्रत्यगद्वयं वस्तु द्वैतं सर्वमविद्यामयमिति शास्त्रयुक्तिभ्यां सिद्धे
वत्साक्षात्कारसाधनाभ्यासे स्वयमेव पुरुषस्यौन्मुख्यादनर्थको विधिरिति चेदिते संन्यास-
प्रकरणात्तद्धर्मस्य अवगादेः साक्षात्कारहेतुभावस्यापूर्वत्वादेष्टव्यस्तद्विधिरिति समाधिः ।
विद्यावन्तमधिकारिविशेषं प्रति विधेरानर्थक्यमुक्तमित्याशङ्क्य विद्यावत इति विद्याति-
शययुक्तो बोध्यते किंतु विद्यादयाय तदुपायाभ्यासे प्रवृत्तस्तेनास्य पक्षे कदाचिद्वेद-

१ ड. अ. दृश्यते । २ ड. अ. अ. 'प्रस्थम्' । ३ ड. अ. 'नाच पा' । ४ ड. अ. अ. विधेः
प' । ५ ड. अ. अ. 'यं वि' । ६ ज. 'लेवाति' । ७ क. ड. ज. ठ. ड. चात्रावि' । ८ ड. अ.
'वादव' । ९ ड. अ. 'ति । असा' । १० ड. 'त्वं चैक' । ११ ड. अ. 'धत्वयो' । १२ ड. अ.
'व पृ' । १३ क. 'त्कारे हे' । १४ ड. अ. 'कथमयुक्त' ।

तत्रातिशयः । किं मौनविधिनेत्यत आह । पक्षेणेति । एतदुक्तं भवति यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन्नेष विधिरिति । विध्यादिवत् । यथा “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनौगन्धन्वाधानादिकं मङ्गजातं विधीयते । एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्यश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः “अभिसमावृत्य कुटुम्बे” [छा० ८ । १५ । १] इत्यत्र । तेन सुपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति । अत उत्तरं पठति—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः । कृत्स्नभावोऽस्य विशिष्यते बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यसतोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते । तस्माद्गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

दर्शनं प्राप्नोत्यतो विधेरर्थवत्तेति सूत्रपदार्थं विवृणोति । एतदिति । अतन्निष्ठवाक्यस्य बद्धिवाक्यत्वे दृष्टान्तमाह । विध्यादिवदिति । तदेव व्याचष्टे । यथेति । आदिर्मुख्यं प्रधानं विधेरादिविध्यादिदर्शपूर्णमासविधिः समिदादिस्तु विध्यन्वस्तत्राश्रुतविधिकेऽपि विधिरास्थेय इत्यर्थः । दृष्टान्तस्थमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति । एवमिति ॥ ४७ ॥ बाल्यादिप्रधानः संन्यासो यद्यनुष्ठेयस्त्वर्हः” कस्माद्गृहस्थेनोपसंहरति श्रुतिरित्यनन्तरसूत्रव्यावर्त्यमाह । एवमिति । गृहिणोपसंहारेऽपि कैवल्यश्रमस्य किं जावमित्याशङ्क्यानास्याविषयत्वं प्राप्तमित्याह । तेनेति । बहुलायाससार्धैर्धर्मबाहुक्यात्तेनोपसंहारो न तेनैव समापनादित्याह । अत इति । सूत्रं व्याचष्टे । तुशब्द इति । ननु यथा गृहिणो यज्ञादीनि कर्तव्यत्वेनोक्तानि तथाऽऽश्रमान्तराणामपि करणसंयमादिकर्मन्तराण्युच्यन्ते तथा च कोऽस्य विशेषस्त्वत्राऽऽह । आश्रमान्तरेति । गृहमेधिनिविशेषे सिद्धे फलितमाह । तस्मादिति ॥ ४८ ॥

१ क. अ. तत्र विद्याति । २ घ. तन्निषेधवि । ३ क. क. ज. अ. “नागन्यासा” । ४ ट. “कर्म” । ५ क. अ. श्रुतिसिद्धे । ६ क. ज. ट. “संहारस्त” । ७ क. अ. ट. विशेष्य । ८ क. अ. तस्यापि वि । ९ घ. अन्तर्निष्ठ । १० क. अ. “रास्थीयत इ” । ११ घ. “इ तस्मा” । १२ क. क. अ. ठ. क. “ध्यकर्म” । १३ क. “ते नै” ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ४९।५०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०२३

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥ (१४)

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि
वानप्रस्थगुरुकुलवासौ । दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः “ तप एव
द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः ” [छा० २ । २३ ।
१] इत्याद्या । तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्य-
वद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः । इतरेषामिति द्वयोराश्रम-
योर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठानवृत्तिभेदापेक्षया वेति द्रष्ट-
व्यम् ॥ ४९ ॥ (१४)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥ (१५)

“ तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विघ्नं बाल्येन तिष्ठासेत् ”
[बृ० ३ । ५ । १] इति बाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते । तत्र
बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्विते सति बालभावस्य

मौनं गार्हस्थ्यमित्याश्रमद्वयोक्तेरितराश्रमाभावाशङ्का कस्यचिद्वेत्तन्निरासार्थमाह ।
मौनवदिति । कथं तयोः श्रुतिमत्त्वं तत्राऽऽह । दर्शितेति । श्रुतिमत्त्वाविशेषे फलि-
तमाह । तस्मादिति । इतरेषामिति बहुकृत्या गार्हस्थ्यस्यापि परामर्शो न तु सिद्ध-
वदुपन्यास इत्याशङ्क्याऽऽह । इतरेषामितीति । गायत्री ब्राह्मः प्राजापत्यो बृह-
न्निति ब्रह्मचारी चतुर्विधः । एहस्थोऽपि वार्तावृत्तिः शालीनवृत्तिर्यायावरो घोरसं-
न्यासीति चतुर्विधः । वानप्रस्थश्च वैखानसौदुम्बरवालखिल्यफेनपद्मेदैश्वर्यवृत्तिः ।
तथा परिव्राडपि कुडीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदैश्चतुर्विध इति षोडशभेदास्तावदाश्रमा-
स्तत्तद्वर्गविशेषयुक्ताः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः । ततो ब्रह्मचारिणि वानप्रस्थे चानुष्ठानभेद-
मनुष्ठानभेदं वाऽपेक्ष्य बहूक्तिर्न गार्हस्थ्यमपेक्ष्य तस्य प्रागेवासिद्धित्वेनोक्तत्वा-
दित्यर्थः ॥ ४९ ॥ (१४)

— बाल्यस्य विधेयत्वमुपेत्यावान्तरवाक्यभेदेन मौनमपि विधेयत्वान्मुष्कुणा कार्यमि-
त्युक्तम् । इदानीं किं तद्बाल्यमिति वीक्षायामाह । अनाविष्कुर्वन्निति । अनुष्ठेयत्वेन
श्रुतं बाल्यं विषयत्वेनोदाहरति । तस्मादिति । तत्र बाल्ये विषये संशय इति
संबन्धः । संशयकारणमाह । बालस्येति । तर्हि बालभावो वयोविशेषोऽपि कल्प्य-
तामित्याशङ्क्य तदग्रहे हेतुमाह । बालेति । तद्वितश्रुत्या परिशिष्टं बाल्यमाश्रित्य

१ ड. ज. अ. ट. “तिसमतवे” । २ ज. “कुलवा” । ३ ड. ज. अ. “ष्ठानभे” । ४ ड. ज.
“भावश्च” । ५ क. ड. अ. “सप्रमे” । ६ छ. “स्तत्र धर्मे” । ७ छ. ठ. ड. “दं चापे” । ८ छ. बाल्यवि” ।

वधोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वात् । यथोपपादं
मूत्रपुरीषत्वादिकालचरितमन्तर्गतं वा भावंविशुद्धिरप्रकृष्टे-
न्द्रियत्वं दम्भादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः ।
किं तावत्प्राप्तं कामचारवादभक्षता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसि-
द्धतरं लोके बाल्यामिति तद्ग्रहणं युक्तम् । ननु पतितत्वादितो-
षप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम् । न । विद्यावतः संन्या-
सिनो वचनसामर्थ्यादोषनिवृत्तेः पशुर्हिसादिष्विवेति । एवं प्राप्तेऽ-
भिधीयते । न । वचनस्य गत्यन्तरसंभवात् । अविरुद्धे ह्यन्यस्मि-
न्बाल्यशब्दाभिलष्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना
युक्ता । प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते । ज्ञानाभ्यासश्च प्रधा-
नमिह यतीनामनुष्ठेयम् । न च सकृलायां बालचर्यायामङ्गीक्रिय-

संशयमभिनयति । यथेति । बाल्यशब्दार्थविवेचनेन स्वतन्त्रपुमर्थहेतुविद्यान्तरङ्गस्यैवा-
त्रापि निरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे तिष्ठन्मूत्रत्वाद्यपि विदुषोऽनुष्ठेयं सिध्यति ।
सिद्धान्ते बाल्यस्याप्रकृष्टेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धेरनुष्ठेयत्वान्न विदुषो यथेष्टचेष्टासि-
द्धिरिति मत्वा प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह । किं तावदिति । चरणं चारो वदनं वादो
भक्षणं भक्षस्ते कामवो यस्य स तथा तस्य भावस्त्वत्ता । यथोपपादं यथासंभवं यत्र
कापि मूत्रं च पुरीषं चास्येति तथोक्तस्त्वस्य भावस्त्वत्त्वम् । तत्र लोकप्रसिद्धं हेतुमाह ।
प्रसिद्धेति । शास्त्रान्तरविरोधादयुक्तमुक्तविधबाल्यस्य विधेयत्वमिति शङ्कते । नन्विति ।
आदिशब्देन शिष्टगर्हा गृह्यते । सामान्यशास्त्रसंकोचो विशेषविधेः स्यादित्याह । नेत्या-
दिर्ना । सामान्यविधेर्विशेषविधिना संकोचे दृष्टान्तमाह । पश्विति । विदुषो यथेष्ट-
चेष्टायामपि न दोषोऽस्तीति प्राप्तमनूय सिद्धान्तमाह । एवमिति । विदुषो यथेष्टचेष्टा
न विधेया शास्त्रान्तरविरोधादिति प्रतिजानीते । नेति । सामान्यशास्त्रस्थोक्तः संकोचो
बाल्येन विष्ठासेदितिवचनादित्याशङ्क्याऽऽह । वचनस्येति । सामान्यप्रवृत्तविधिश-
ाविरुद्धेऽयं संभवति तद्विरुद्धार्थकल्पनायोगान्न कामचारादि विधेयमित्युक्तमेव व्यनक्ति ।
अविरुद्धे हीति । इतश्च कामचारादि न विधेयमित्याह । प्रधानेति । किं तत्प्र-
धानं यदङ्गत्वेन बाल्यादि विधीयते, तदाह । ज्ञानेति । उक्तप्रधानोपकारित्वाभावात्
कामचारादि विधेयमित्युक्तम् । तद्विरोधित्वाच्च तदविधेयमित्याह । न चेति । किं तर्हि

१ क. ड. अ. 'पादम्' । २ ट. 'ता मा' । ३ क. 'वशु' । ४ ड. ज. अ. 'द्विर्दम्भदर्पप्र' ।
५ ड. ज. अ. 'यत्वादिरहितता वा' । ६ ज. ट. 'क्षणात्' । ७ ड. अ. 'आचरण' । ८ ड. अ.
'रगतस्य' । ९ ड. अ. 'त्र पु' । १० ड. ज. 'ना । समानवि' । ११ ड. ठ. ड. 'तनियमशा' ।
१२ ड. 'विरोधनि' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ५१] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०२५

माणायानां ज्ञानाभ्यासः संभाव्यते । तस्मादान्तरो भावविशेषो बाल-
स्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते । तदाहानाविष्कुर्व-
न्निति । ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविरुपापयन्दम्भद-
र्पादिरहितो भवेत् । यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेषामात्मा-
नमाविष्कर्तुमीहते तद्वत् । एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्या-
र्थानुगम उपपद्यते । तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—

“यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बह्श्रुतम् ।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥

गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।

अन्धषज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्” ॥

“अव्यक्तलिङ्गोऽव्येक्तचारः”

इति चैषमादि ॥ ५० ॥ (१५)

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे

तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥ (१६)

विवेकं बाल्यं तदाह । तस्मादिति । इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः । उक्तेऽर्थे सूत्रमादाय
योजयति । तदाहेति । कथं यथोक्तेऽर्थे बाल्यशब्दः प्रयुज्यते तत्राऽऽह । यथेति ।
अन्वयादिति पदं व्याकरोति । एवं हीति । अप्ररूढेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धिरक्षणबा-
ल्यस्य प्रधानोपकारित्वे मानमाह । तथा चेति । कुलीनत्वप्रकटनं सत्त्वं तद्वैपरीत्यम-
सत्त्वम् । शास्त्रार्थज्ञानराहित्यमश्रुतत्वं तद्वैपरीत्यं बहुश्रुतत्वम् । सदाचारनिरतत्वं सुवृ-
त्तत्वं दुराचारनिष्ठत्वं दुर्वृत्तत्वमिति भेदः । तत्किमिदानीं ब्रह्मधीयोग्यस्य मुमुक्षोर्ना-
स्त्येव किञ्चिदनुष्ठेयं तत्राऽऽह । गूढेति । चक्षुरिन्द्रियपारवश्यं निरसितुमन्धवदि-
त्युक्तम् । रसनादिपारवश्यं निरस्यति । जडवादिति । ज्ञानेन्द्रियपारवश्यं परिहृत्य
कुर्मेन्द्रियपारवश्यं परिहरति । मूकवदिति । धर्मध्वजि वाप्रकटनमव्यक्तलिङ्गत्वम् ।
तदेवं मुमुक्षोरुपरतसर्वेन्द्रियस्य श्रवणाद्विपरस्य मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानमवश्यंभाषीति
भावः ॥ ५० ॥ (१५)

बाल्यान्तमुच्चावचं विद्याहेतुमुक्त्वा तत्फलं विद्याजन्मकालं निरूपयति । ऐहिक-
मिति । उक्तहेत्वधीनधीजन्मविषये कारीर्यादिकले चित्रादिकले चोभयोपलब्धेर्वृ-

१ ड. अ. 'रेष्वात्मा' । २ ड. अ. ट. 'कार्यार्थ' । ३ क. 'न वाऽस' । ४ ट. चरन् । ५ ड.
अ. 'व्यक्तचरः' । ६ ड. एवमिति । ७ ड. अ. 'ज्ञयो' । ८ ड. 'श्यं भवतीति ।

सर्वपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वदित्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासा-
धनमवधारितं तत्फलं विद्या सिध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिध्य-
त्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् । इहैवेति ।
किं कारणम् । श्रवणादिपूर्विका हि विद्या । न च कश्चिदमुत्रं मे
विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते । समान एव
तु जन्मनि विद्याजन्माभिसंधौयैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते । यज्ञा-
दीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्वि-
द्यायाः । तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति । एवं प्राप्ते वदामः ।
ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति । एतदुक्तं
भवति यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न

स्तानुवादपूर्वकं संशयमाह । सर्वेति । श्रवणादिसामग्रीप्रतिबन्धशून्या विशिष्टधी-
सवभूमिरित्युक्तेरत्र पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रवणादीनां विद्योपायत्वनियमासिद्धिः ।
सिद्धान्ते प्रतिबन्धाभावापेक्षया तेषां तन्नियमसिद्धिरित्युपेत्य प्रश्नपूर्वकमैहिकत्वनि-
यमं पूर्वपक्षमाह । किमिति । फलद्वैविध्योपलब्धौ तन्नियमे नास्ति हेतुरिति शङ्कते ।
किमिति । तत्र कारणमाह । श्रवणादीति । चित्रादिवदमुत्रापि धीहेतुत्वं श्रव-
णादेः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । कथं । तर्हि तेषु प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां
कारीर्यादितुल्यत्वमाह । समान इति । श्रवणादीनां चक्षुरादवहोसाधनत्वात्काला-
न्तरीयकुम्भोपलम्भाय चक्षुरुन्मीलनाभाववज्जन्मान्तरीयविद्यायै श्रवणादिषु प्रवृत्त्ययोगा-
दुपलभ्यमानसंसारदुःखनिवृत्तये च विद्यासाधनदानानाज्ज्ञानात्कारीर्यादिवत्तुल्यजन्मन्येव
विद्याजन्मेत्यर्थः । यज्ञादीनां जन्मान्तरीयफलानां धीहेतुत्वस्य विविदिषावाक्यी-
यत्वाज्जन्मान्तरे धीजन्मेत्याशङ्क्याऽऽह । यज्ञेति । तेषां धीशुद्ध्या श्रवणादिषट्क-
त्वाद्विष्टेतेषु तेषु विद्याऽवश्यंभाव्यमित्यैहिकत्वनियम इत्यर्थः । श्रवणादीनां कारी-
र्यादितुल्यत्वे फलितमाह । तस्मादिति । श्रवणादिषु कृतेष्वपि न चेदत्र धीः
स्यात्तेषामतदुपायतैवेति प्राप्तमनूय चित्रावदानियतफलधीसाधनमिति सिद्धान्तमाह ।
एवमिति । कृतेष्वपि श्रवणादिषु कदाचिद्विद्या नोत्पद्यते चेत्तर्हि तेषां तदुपायत्व-
मनियतं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । एतदिति । कृतेष्वपि श्रवणादिष्वत्र विद्यानुदये
कारीर्यादाविव प्रतिबन्धो वा पौष्कल्याभावो वा तेषां कल्पनीयः प्रतिबन्धहीना हि
सामग्री कार्यहेतुर्न चैतावता तद्धेतुर्वैहितिरित्यर्थः । उपस्थितविपाकश्रवणादिविरो-

१ क. ड. अ. 'तेरित्य' । २ ग. 'तथाऽऽर' । ३ ट. 'न्तीति किं' । ४ ड. अ. 'त्र विद्या मेज्ञा' ।
५ क. ड. ज. अ. 'धाय ते' । ६ ट. 'यैव प्र' । ७ ड. अ. 'लक्ष्मि' । ८ ड. अ. 'वत्तद्गी' ।
९ ड. अ. 'धनत्वात्का' । ठ. ड. 'धनत्वा' । १० ड. अ. 'पु धि' । ११ ख. 'त्वहानिर' ।

क्रियत उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदेहैव विद्योत्पद्यते यदा
तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदाऽमुत्रेति । उपस्थितविपाकत्वं
च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति । यानि चैकस्य
कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति
न निपन्तुं शक्यते । यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति ।
शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलमित्येतावति पर्यवसितं न देशका-
लनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति । साधनवीर्यविशेषाच्चतीन्द्रियो
कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तत्प्रतिषद्धा परस्य तिष्ठति । न चावि-
शेषेण विद्यायामभिसंधिर्नोत्पद्यत इहामुत्र वा मे विद्या जायता-
मित्यभिसंधेर्निरङ्गकुशत्वात् । श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्य-
माना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते । तथा च श्रुतिदुर्बोधत्वमा-
त्मनो दर्शयति “श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि
बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽ-

धात्कर्मेण एव प्रतिबन्धमाशङ्क्याऽऽह । उपस्थितेति । तैरेव देशादिभिर्विद्यार्थमेव
श्रवणादि कर्म किमिति न विपच्यते तत्राऽऽह । यानीति । भोगार्थस्य कर्मणो
ज्ञानार्थस्य च श्रवणादेर्देशकालनिमित्तैकरूप्याभावे हेतुमाह । यत इति । कर्मणो
श्रवणादीनां प्रतिबन्धे तेभ्यो विद्योत्पत्तिवादि, शास्त्रं व्याहन्त्येतेत्याशङ्क्याऽऽह ।
शास्त्रमिति । तथाऽपि कर्मण एवं प्रतिबन्धकत्वं न श्रवणादीनामिति कुतो नियम-
स्त्वत्राऽऽह । साधनेति । यत्किं विद्याभावे कारीर्यादिवत्प्रतिबन्धादिसर्वकल्पनेन
विय आमुष्मिकत्वकल्पनमयुक्तमिहैव मे विद्या स्यादित्यभिसंधिदृष्टेरिति तत्राऽऽह ।
न चेति । इदं यमात्रसंसारदुःखस्यानेकजन्मगामित्वं जानतो यदा कदाचिदनर्थनिवृत्तिः
स्यादित्यभिसंधेः साधनसामर्थ्यानुसारेण संभावितत्वादित्याह । अभिसंधोर्वाति ।
यत्तु श्रवणादीनां चक्षुरादिवदृष्टफलत्वमिति तत्राऽऽह । श्रवणादीति । तेषां विद्या-
नाददृष्टद्वाराऽपि साधनत्वमवघातवदवगतं यज्ञादीनामनियतकालफलानां ज्ञानसाधन-
त्वविधेश्च विद्योत्पत्तेरनियतत्वमित्यर्थः । यत्तु यैज्ञादीनां घटकत्वादृष्टिषु श्रवणादिषु
विद्याऽवश्यंभाविनीति तत्र प्रतिबन्धसत्त्वस्य औत्तलिङ्गसिद्धत्वाभैवमित्याह । तथा
चेति । आत्मनः श्रवणमपि दुष्करं बहूनामित्याह । श्रवणार्थेति । कथंचन श्रव-
णेऽपि तत्कैलं ज्ञानं दुर्लभमित्याह । शृण्वन्तोऽपीति । तत्र हेतुः । आश्चर्यं इति ।

१ घ. ट. विद्या विपच्यते । २ ड. अ. 'द्योपपद्य' । ३ ड. ज. अ. 'लु प्रति' । ४ ड. अ.
'नि न ता' । ५ ड. अ. 'ति नि' । ६ ड. अ. 'या हि क' । ७ ड. अ. 'वतीति' । ८ ड. अ.
'त्येतेहा' । ९ ड. अ. विदः । १० ट. ड. 'मर्णां श्र' । ११ ट. ड. 'व ब' । १२ ट. ड. 'सत्त्वं
कल्पयामि' । १३ ड. अ. 'ज्ञानादीनां' । १४ क. ड. अ. 'फलज्ञा' । १५ ड. अ. 'शृण्वन्त इति' ।

अर्थो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ” [कठ० २ । ७] इति । गर्भस्थ
एवं च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंवि-
तात्साधनौज्ज्वलान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति । न हि गर्भस्थस्यै-
वैहिकं किञ्चित्साधनं संभाव्यते । स्मृतावपि—

“अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ”

[भ० गी० ६ । ३७] इत्यर्जुनेन पृष्ठो भगवान्वासुदेवः—

“न हि कल्याणकृत्कश्चिदुर्गतिं तात गच्छति ”

[भ० गी० ६ । ४०] इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोक-
प्राप्तिं साधुकुले संभूतिं चाभिधापानन्तरम्—

“तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।”

[भ० गी० ६ । ४३] इत्यादिन्द्र—

“अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ”

[भ० गी० ६ । ४५] इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति । तस्मादै-
हिकमाभुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम्
॥ ५१ ॥ (१६)

**एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधू-
तेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥ (१७)**

यथावदस्याऽऽत्मनो वक्ताऽऽश्वर्योऽङ्गुतवत्कश्चिदेव संभवति । सम्यगाचार्यसिद्धावपि
तच्छ्रुत्वा लब्ध्वा साक्षात्कर्त्ताऽस्याऽऽश्वर्यः । विष्टु साक्षात्कारः कुशलेनाऽऽचार्ये-
णानुशिष्टोऽपि शास्त्रात्परोक्षतो ज्ञाताऽप्याश्वर्य एवेत्यर्थः । संप्रत्याभुष्मिकत्वे धियो
लिङ्गमाह । गर्भस्थ इति । कयाऽनुपपत्त्या श्रुतिरिममर्थं दर्शयति ‘तत्राऽऽह । न
हीति । जन्मान्तरसंचितं साधनं जन्मान्तरेऽपि धियं साधयतीत्यत्र स्मृतिमाह ।
स्मृताविति । श्रवणादीनां पौष्कल्येऽपि श्रुतिस्मृतिलिङ्गात्पश्चाद्विचित्रादिवद-
नियतकालत्वसिद्धेर्नानैकान्तिकफलत्वं तेषामित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५१ ॥ (१६)

विद्यारूपे फले कालोत्कर्षापकर्षकृतो विशेषनियमो दर्शितः । संप्रति विद्याफलं
मोक्षे कस्यचिदपि विशेषनियमस्याभावं दर्शयति । एवमिति । विद्याफलं मुक्तिर्नि-
षयः सा किं विद्यावदुत्कर्षापकर्षकृतविशेषवती किंवा नेति फलस्योभयथादृष्टे
संशये प्रकृतविद्याफलस्य प्रसङ्गतो निरतिशयत्वोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे

१ ट. ‘व वा’ । २ ड. अ. ‘नादपि जन्मा’ । ३ क. ड. अ. ‘फलमो’ । ४ छ. ‘शयो-
क्या’ । ५ क. ड. अ. ‘यतोक्त्या’ ।

[अ. ३ पा. ४ मू. ५२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०२३

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्याल-
क्षणे फल ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः ।
एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । मुक्तिफलानियम इति । न खलु मुक्ति-
फले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशाङ्क्यः । कुतः ।
तदवस्थावधृतेः । मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते ।
ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था । न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति ।
एकलिङ्गत्वावधारणात् “अस्थूलमनणु ” [बृ० ३ । ८ ।
८] “स एष नेति नेत्यात्मा ” [बृ० ३ । ९ । २६]
“यत्र नान्यत्पश्यति ” [छा० ७ । २४ । १] “ब्रह्मे-
वेदममृतं पुरस्तात् ” [मुण्ड० २ । २ । ११] “इदं सर्वं यदय-
मात्मा ” [बृ० २ । ४ । ६] “स वा एष महानज आत्माऽ-
जरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म ” [बृ० ४ । ४ । २५]
“यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ” [बृ० ४ । ५ ।
१५] इत्यादिश्रुतिभ्यः । अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यवि-

मोक्षस्य कर्मसाध्यतया पुरुषार्थाधिकरणासिद्धिः । सिद्धान्ते तस्य ज्ञानैकसाध्यत्वात्-
तिसिद्धिरित्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षमाह । यथेति । मुक्तिरूपचयापचयवती फलत्वाद्विधाविदि-
त्यनुमानात्तस्याः कर्मसाध्यत्वाधिगमात्पुरुषार्थाधिकरणमयुक्तमित्याशङ्क्य सिद्धान्त-
मवतार्य प्रतिज्ञां विभजते । न खल्विति । उक्तेऽनुमाने जाग्रति कथमाशङ्का
निरवकाशेति शङ्कते । कुत इति । मुक्तिस्वरूपब्रह्मैकरूप्यावधारणशास्त्रविरोधा-
न्नानुमेति मत्वा सूत्रावयवमादाय व्याचष्टे । तदवस्थेति । मुक्तिर्नाम काचि-
दवस्था विद्यते चेदाद्वितीयत्वविरोधादवस्थात्वान्नाम्रदवस्थावदसावपि निवृत्तिमती
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । ब्रह्मैवेति । कथमेतावता मुक्तेरुत्कर्षनिकर्षकृतविशेषराहित्यमि-
त्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । न स्थानतोऽपीत्यधिकरणे निर्विशेषत्वमस्थूलादिश्रुत्या
ब्रह्मणो निरूपितमिति स्मारयति । एकेति । इतश्च मुक्तेर्निरावश्यकत्वमित्याह । अपि
चेति । काष्ठोपचयापचयाभ्यां ज्वालोपचयापचयछेदरन्तरङ्गबहिरङ्गतदभ्यासादिसाध-
नोपचयापचयाभ्यां विद्येयामुपचयापचयसंभवात्तत्फले मुक्तावपि तौ स्यातामित्याश-

१ ट. “मिना सा” । २ क. “जे व्युत्क” । ३ ज. “मुक्ताव” । ४ ट. “रोऽमृत” । ५ ठ. ड. “स्य
यमे” । ६ ठ. ड. “भिकारिणाऽस्ति” । ७ ड. ज. “नैक्यसा” । ८ ठ. ड. “यादिव” । ९ क. ड. अ.
“णत्वम” । १० क. अ. “धैर्य” । ११ क. ख. ड. अ. “विद्योपचया” ।

शेषात्स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले
मुक्तौ तद्व्यसार्धं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्यायाऽधिगम्यत इत्य-
सकृदवादिष्य । न च तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उप-
पद्यते निष्कृष्टाया विद्यात्वाभावाद्दुत्कृष्टेव हि विद्या भवति । तस्मा-
त्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिरूपोऽतिशयो भवेन्नभवेत् । न तु मुक्तौ
कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति । विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनिय-
माभावः कर्मफलवत् । न हि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणा-
मिव भेदोऽस्तीति । सगुणामु तु विद्यामु “ मनोमयः प्राणश-
रीरः ” [छा० ३ । १४ । २] इत्याद्यामु गुणावापोद्वापवशा-
द्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत् ।
तथा च लिङ्गदर्शनम् “तं यथा यथोपासते तदेव भवति” इति ।
नैवं निर्गुणायां विद्यायां गुणाभावात् । तथा च स्मृतिः—

ङ्क्च हेत्वन्तरं स्फोरयति । न विद्येति । विधैव सातिशया स्वसाध्येऽपि कथं-
चिदतिशयमादध्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तद्धीति । तर्हि मुमुक्षूणां विद्यार्थिनां प्रवृत्त्या-
नर्थक्यं तत्राऽऽह । विद्ययेति । तस्यामतिशयमाश्रित्य मुक्तौ नातिशयोऽस्वीत्युक्तम् ।
इदानीं विद्याऽपि मोक्षहेतुवत्स्वसाक्षात्कारलक्षणा नातिशयवतीत्याह । न चेति । कथं
तर्हि पूर्वाधिकरणे विद्याया विशेषो दर्शितस्त्वत्राऽऽह । तस्मादिति । मुक्तावपि तर्हि
तादृशोऽतिशयो भविष्यति तत्राऽऽह । न त्विति । विद्योत्पत्तिनान्तरीयकत्वेनावि-
द्यानिवृत्तिरूपाया मुक्तेरावश्यकत्वादित्यर्थः । मुक्तेर्निर्विशेषत्वे हेत्वन्तरमाह । विद्येति ।
एकरूपत्वादात्मनस्त्वदाकारविद्यायां विशेषाभावाद्नेकरूपफलोत्पादकत्वायौगात्तत्फले
विशेषासिद्धिरित्यर्थः । विद्यायां भेदाभावं प्रपञ्चयति । न हीति । सगुणविद्यावद्विद्या-
वादात्मविद्याया भेदः स्यादित्याशङ्क्य विषयभेदात्तत्र भेदेऽपि नात्र विषयभेदोऽ-
स्तीत्याह । सगुणास्त्विति । तत्र फलभेदे मानमाह । तथा चेति । दार्ष्टान्तिके विशे-
षमाह । नैवमिति । तत्त्वविद्याविशेषे गुणाभावे स्मृतिमाह । तथा चेति । कस्य
चिन्निर्गुणविद्यावतः पुरुषस्य गतिः फलमिति यावत् । तत्र न्यूनाधिकभावाभावे हेतु-

१ ड. अ. ट. 'वभूतमे' । २ ट. निष्कृष्टायां । ३ ड. अ. 'सिस्वरू' । ४ ट. 'वन्तंभ' ।
५ ड. अ. 'दोऽस्ति । स' । ६ क. अ. घ. ट. 'लनि' । ७ ड. अ. 'तिर्नान्त' । ८ क. ख. ड.
अ. 'द्यायां भे' ।

[अ. ३ पा. ४ सू. ५२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०३१

“न हि गतिरधिकाऽस्ति कस्य चि-
त्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ”

इति । तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्या-
यपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ५२ ॥ (१७)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं तृतीयाध्यायः ॥ ३ ॥

माह । सति हीति । पुनरुक्तेरर्थवत्त्वमाह । तदवस्थेति । तदेवं मुक्तेर्निरवश्यत्वान्न
कर्मसाध्यवेति युक्तं पुरुषार्थोधिकरणमिति भावः ॥ ५२ ॥ (१७)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदान-
न्दज्ञानकृते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये तृतीयाध्या-
यस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति समाप्तोऽयं तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ श्रीरस्तु ॥

॥ ॐ ॥

॥ श्रीः ॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

आवृत्तिसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्राये-
णात्यगात् । अथेह चतुर्थे फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं
चान्यदपि किञ्चिच्चिन्तयिष्यते । प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः
साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसूयामः । “ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ” [वृ० ४ । ५ । ६]
“ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ” [वृ० ४ । ४ । २१]
“ सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ” [छा० ८ । ७ । १]
इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः । किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहो-
स्विदावृत्त्येति । किं तावत्प्राप्तं सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत् ।

पूर्वाध्यायान्तिष्मधिकरणे मोक्षे प्रतिनियमाभावो दर्शितः । संप्रति मोक्षोपायिकवि-
द्यासाधनेषु श्रवणादिष्ववृत्त्याऽनुष्ठानप्रतिनियमं दर्शयति । आवृत्तीति । पूर्वोत्तरा-
ध्याययोः संबन्धं हेतुहेतुमद्भावं वक्तुं तार्त्वीयमर्थमनुव्रवति । तृतीय इति । साधनवि-
चारशेषद्योतनाय प्रायेणेत्युक्तम् । साधनाधीनत्वात्फलसिद्धेस्ताद्विचारयोरपि युक्तं
पौर्वापर्यमित्याशयवानाह । अथेति । कथं तर्हीहार्चिरादिवचनमित्याशङ्क्य फलो-
क्तिप्रसङ्गेन तदुक्तिरपि भविष्यतीत्याह । प्रसङ्गेति । अध्यायसंबन्धमुक्त्वा तदधिगमा-
धिकरणात्प्राक्तनाधिकरणानां तात्पर्यं दर्शयन्नवान्तरसंबन्धमाह । प्रथममिति । साक्षा-
द्देव श्रुत्युक्तं साधनं चिन्तितम् । अधुना फलार्थापत्तिरव्यवधानादिवृत्त्यादि चिन्त्यते तदर्थ-
पत्त्यायत्ता च तच्चिन्ता फलाध्याये संगतिरेवेति भावः । प्रथमाधिकरणस्य विषयमनूद्य
संशयमाह । आत्मेति । साधनेषूभयथात्वदृष्टेः श्रवणादिसाधनेषु संशयमुक्त्वा मुक्ति-
हेतुश्रौतात्मधीसाधनश्रवणादिष्ववृत्त्याऽनुष्ठानसाधनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रवणा-
दीनामवृत्त्यर्थत्वम् । सिद्धान्ते दृष्टार्थैव तेषां फलवीत्यङ्गीकृत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षयति ।
किं तावदिति । यथा प्रयाजादयः सकृदनुष्ठिता दर्शपूर्णमासफलोपकारिणस्तथा

तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात् । अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रिय-
माणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत् । नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्येवमादयः । एवमपि
यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति
नातिरिक्तम् । सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्ति-
रिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या । कुतः । अस-
कृदुपदेशात् “श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्येवंजाती-
यको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति । ननूक्तं यावच्छब्द-
मेवाऽऽवर्तयेन्नाधिकमिति । न । दर्शनपर्यवसानत्वादिषाम् । दर्श-
नपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति ।
यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि हि तद्वत् ।
अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाऽ-

श्रवणादिप्रत्ययोऽपि सकृदनुष्ठितः सम्यग्धीहेतुरित्यनर्थक्यमित्यर्थः । अवघातादिवत्फ-
लपर्यन्तमावृत्त्यनुष्ठानमाशङ्क्याऽऽह । तावतेति । शास्त्रस्य सकृदनुष्ठानेन कृतार्थ-
त्वेऽपि तत्पर्यन्तमनुष्ठानं किं न स्यात्तत्राऽऽह । अश्रूयमाणायामिति । दर्शनक्रि-
यायाः साधनाकाङ्क्षायां सकृदेव साधनोपदेशेन नैराकाङ्क्ष्ये संभवत्यसकृदुपदेशानुप-
पत्त्या तात्पर्यमावृत्तौ कल्प्यते तथा च नाशास्त्रार्थः कृतः स्यादिति शङ्कते । नन्विति ।
समुच्चितानां श्रवणादीनां साधनत्ववियोऽप्यसकृदुपदेशोपपत्तेरविरोधान्नावृत्तौ तात्प-
र्यमित्याह । एवमिति । निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारफलेषु श्रवणादिष्वनावृत्तिमपाकृत्य
सविशेषब्रह्मसाक्षात्कारफलेष्वहंग्रहोपासनेष्वनावृत्तिमपाकरोति । सकृदिति । श्रवणादी-
नामहंग्रहोपास्तीनां च प्रयाजादिवदनुष्ठानाददृष्टार्थतेति प्रोक्तं पूर्वपक्षमनूद्य सिद्धान्त-
यति । एवमिति । आवृत्तौ हेत्वभावमाशङ्क्य हेतुमवतार्य व्याचष्टे । कुत इत्या-
दिना । पूर्ववादी पूर्वोक्तं स्मारयति । नन्विति । अविद्योच्छेदेनाऽऽत्मनः स्वरूपवि-
स्थानरूपाया मुक्तेः श्रुत्यनुभवसिद्धत्वादाविद्यायाश्च विद्यानान्तरीयकत्वयोच्छेदस्य रज्जु-
तत्त्वसाक्षात्कारादौ दृष्टत्वेन श्रवणादीनां दृष्टफलत्वाद्यावत्फलमवघातादिवदावर्तनीयानि
तानीत्याह । नेत्यादिना । उक्तमेव स्फोरयति । दर्शनेति । यत्त्वहंग्रहोपासनेषु
सकृदुपेष्वावृत्तिशङ्कैव नास्तीति तत्राऽऽह । अपि चेति । यस्य स्यादह्मा न विचि-
कित्साऽस्ति देवो भूत्वा देवानप्येतीति लिङ्गादहंग्रहोपास्तीनामुपास्यसाक्षात्कारद्वारा
दृष्टार्थत्वस्य वक्तव्यत्वाद्यावत्फलमावृत्तिस्तावपि गम्यते शब्दसामर्थ्याच्च तास्वावृत्ति-

१ ड. अ. इत्यादं । २ झ. 'वसितत्वा' । ३ क. ज. झ. 'वर्तमा' । ४ झ. 'सावृत्त्यान' ।
५ ठ. ड. 'धनका' । ६ क. प्राप्तम् । ठ. ड. प्राप्तम् । ७ झ. अत्रावि ।

[अ. ४ पा. १ सू. २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०३५

भिधीयते । तथा हि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च
यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते । तथा ध्यायति
प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा
सैवमभिधीयते । विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो
दृश्यते । कचिद्विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहरति यथा “ यस्तद्वेद
यत्स वेद स मयैतदुक्तः ” [छा० ४ । १ । ४] इत्यत्र “ तु म
एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्ते ” [छा० ४ । २ ।
२] इति । कचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा “ मनो
ब्रह्मेत्युपासीत ” [छा० ३ । १८ । १] इत्यत्र “ भाति च तपति
च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ” [छा० ३ । १८ ।
३] इति । तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः । असकृदुपदे-
शस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ (१)

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति । तथा ह्युद्गीथविज्ञानं

रित्यर्थः । अन्तर्णीतावृत्तिगुणमुपासनमित्यत्र लोकसंमतिमाह । तथा हीति । ध्यान-
मपि तथाविधमित्यत्र तामेव दर्शयति । तथेति । उपासनशब्दश्रुतावावृत्तिसिद्धावपि
वेदेत्यादिमयोगे कथं तत्सिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । विदीति । विदिनोपक्रम्योपासि-
नोपसंहारे संवर्गविद्यामुदाहरति । यथेति । स रैको यद्वेद तत्प्राणतत्त्वं सर्वं धर्मफल-
मभिसंगच्छते । एवं रैकवदन्योऽपि यैत्रैकवेद्यं वेद तस्यापि सर्वसाधुफलावाप्तिर्भवति
स तथाभूतो रैको मथोक्तः । एतदिति क्रियाविशेषणम् । रैकमिव जानश्रुतिमल्पकं
कमात्येति हंसान्तरं प्रति हंसवचनम् । हे भगवो रैक यां देवतामुपास्ते तामेतां माम-
नुशाधि शिक्षय ज्ञापयेति जानश्रुतेरुक्तिः । अत्रोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यसिद्धये
विद्युपास्त्योरैकार्थ्यं वाच्यम् । उपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहारे दृष्टान्तमाह ।
यथेति । विद्युपास्त्योरैक्यमुपास्तिश्चाऽऽवृत्तिगुणेति स्थिते फलितमाह । तस्मा-
दिति । श्रवणादिष्वावृत्तेः शब्दसामर्थ्यलभ्यत्वाभावात्कथं तेषु तत्सिद्धिस्तत्राऽऽह ।
असकृदिति ॥ १ ॥

विषयसाक्षात्कारफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तौ हेत्वन्तरमाह । लिङ्गाच्चेति । न केव-
लमसकृदुक्तेरावृत्तिसिद्धिरपि तु लिङ्गादपीत्यर्थः । तदेव विवृणोति । लिङ्गमपीति ।

१ ड. अ. “न्तेषु व्यतिकरेण । २ क. ड. ज. अ. ट. “त्यत्रानु” । ३ ड. अ. “पास्तिनो” ।
४ ड. द. “यस्तद्वे” । ५ ड. “कनिक” ।

प्रस्तुत्य “ आदित्य उद्गीथः ” [छा० १ । ५ । १] इत्ये-
तदेकपुत्रतादोषेणापोद्य “ रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयात् ” [छा० १ ।
५ । २] इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धव-
त्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति । तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः ।
अत्राऽऽह । भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः । तेष्ववृ-
त्तिसाध्यस्यातिशयस्य संभवात् । यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवाऽऽत्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति तत्र
किमर्थाऽऽवृत्तिरिति । सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरा-
वृत्त्यभ्युपगम इति चेत् । न । आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः । यदि हि
“ तत्त्वमसि ” [छा० ६ । ८ । ७] इत्येवंजातीयकं वाक्यं
सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवाऽऽवर्त्यमा-
नमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात् । अथोच्येत न केवलं

हे पुत्र त्वं रश्मीनादित्यं च भेदेन पर्यावर्तयादिति तकारमन्तर्भाव्य पर्यावर्तयतादिति
मध्यमैकवचनं त्वंयोगात् । पर्यावर्तयोपास्त्वेत्यर्थः । आदित्यस्यैकस्यैवोद्गीथे संपाद्योपास-
नाच्चमेको मे पुत्रोऽसि त्वं तु रश्मीनुद्गीथे संपाद्य पर्यावर्तयतात्ततो बहवस्ते पुत्रा
भविष्यन्तीत्यत्र सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिर्देशितेत्येतल्लिङ्गमित्यर्थः । उद्गीथप्रत्ययावृत्तावपि
कथं प्रत्ययान्तरेषु तत्सिद्धिस्तत्राऽऽह । तैदिति । तेन प्रकृतेनोद्गीथप्रत्ययेन साक्षा-
त्कारफलतया ध्यानत्वेन वा सादृश्यादिति यावत् । सर्वप्रत्ययेष्वहंग्रहोपासनादिषु
श्रवणादिषु चेत्यर्थः । अधिकरणार्थमुक्त्वा तस्य निर्गुणब्रह्मविषयत्वमाक्षिपति । अत्रैति ।
अहंग्रहोपास्तयः श्रवणादयश्च सविशेषनिर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारफलास्त्वावदिहोदाहरणं
तत्राहंग्रहोपास्तवृत्तिमङ्गीकरोति । भवत्विति । श्रवणादिषु तां निराचष्टे ।
यस्त्विति । निर्गुणब्रह्मण्यापरोक्ष्यातिशयः साध्यो नास्ति तस्य नित्यापरोक्षत्वात्तेन
तत्र श्रवणाद्यावृत्तिरनर्थिकेत्यर्थः । ब्रह्मणो नित्यापरोक्षत्वेऽपि तावताऽविद्याध्वस्तेरभावः
तदर्थमागन्तुकः साक्षात्कारः श्रवणाद्यावृत्तिसाध्योऽस्तीति शङ्कते । सकृदिति । पूर्व-
वाद्याह । नाऽऽवृत्ताविति । अनुपपत्तिमेव प्रकटयति । यदीति । ज्योतिष्टोमादि-
वाग्वयवदावृत्तिमदपि तत्त्वमादिवाक्यं न स्वार्थं साक्षात्कारक्षममित्यर्थः । युक्तिप्रसङ्गा-
नसहितं वाक्यं स्वार्थं साक्षात्कारं जनयेदित्याह । अथेति । युक्तिसाहित्यमुपेत्याऽऽ-

१ क. ड. अ. ट. 'ति । तस्मात्तत्ता' । ज. 'ति । तस्मात्ता' । २ क. ड. ज. अ. 'ती भ' ।
३ ड. अ. 'देव नऽऽ' । ४ ड. तस्मादि' । ५ क. ख. ठ. ड. 'गुणे भ' ।

वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभा-
वयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति । तथाऽप्यावृत्त्यनर्थक्यमेव । साऽपि
हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथापि
स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेष-
विषयम् । यथाऽस्ति मे हृदये गूलमित्यतो वाक्याद्वात्रकम्पादि-
लिङ्गाच्च गूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते न विशेषमनुभा-
वति यथा स एव गूली । विशेषानुभवश्चाविद्याया निर्वर्तकस्तेद-
र्थाऽऽवृत्तिरिति चेत् । न । असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे
विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसंभवात् । न हि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्ति-
भ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामनवगन्तुं
शक्यते । तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्यते यदि
वा सामान्यमेवोभयथाऽपि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत
इत्यावृत्त्यनुपयोगः । न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्य-
नुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तृ-
णाम् । अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्ये-
केनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोप-
योगो यथा दीर्घप्रपादकग्रहणादिषु । न तु निर्विशेषे ब्रह्मणि
सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रसोत्पत्तावभ्यासापेक्षा

वृत्तिं प्रत्याह । तथाऽपीति । आवृत्तेरर्थवत्त्वं समर्थयमानः स्वयूध्यश्चोदयति ! अथा-
पीति । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेति । गूलविशेषस्यानुभवायोग्यत्वादिवमित्याश-
ङ्क्याऽऽह । यथेति । अस्तु प्रस्तुतेऽपि सामान्यधीरेव किं विशेषविधेत्याशङ्क्याऽऽह ।
विशेषेति । स तर्हि भावनाजन्यो वा शास्त्रयुक्तिजन्यो वा नाऽऽद्यस्तस्यामानज-
न्यत्वेनाविद्याध्वंसित्वायोगादिति मत्वा द्वितीयं प्रत्याह । नेति । प्रत्यक्षातिरिक्तस्य
न साक्षात्कारहेतुतेत्यर्थः । किंच युक्तिवाक्ये साक्षात्कारक्षमे तदक्षमे वा समर्थे चेदा-
वृत्त्यनर्थक्यम् । द्वितीयं निराह । न हीति । सामर्थ्यासामर्थ्ययोरवृत्त्यनर्थक्यमुप-
संहरति । तस्मादिति । शास्त्रयुक्त्योः साक्षात्कारहेतुत्वोपगमेऽपि व्यर्थाऽऽवृत्ति-
रित्याह । न चेति । मानस्वभावानुसारेणाऽऽवृत्त्यनर्थक्यमुक्तत्वां भेदस्वभावालोचन-
याऽपि तदानर्थक्यमाह । अपि चेति । यं कंचिदधिकारिणं प्रति श्रवणाद्यावृत्त्यन-

१ क. 'विधेदनालि' । २ ट. 'स्तस्तद' । ३ ट. 'प्रयुक्ते ए' । ४ क. ज. 'प्रवृत्ते शा' ।
५ क. ड. अ. 'न्यर' । ६ छ. ठ. 'ह । न विशे' । ७ क. ख. 'वत्वा फलस्व' ।

युक्तेति । अत्रोच्यते भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वम-
सीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्यतात् । यस्तु
न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवाऽऽवृत्तिः । तथा हि
च्छान्दोग्ये “ तत्त्वमसि श्वेतकेतो ” [छा० ६ । ८ ।
७] इत्युपदिश्य “ भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु ”
[छा० ६ । ८ । ७] इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्त-
दाशङ्काकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति । तथा
च “ श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ” [बृ० ४ । ५ ।
६] इत्यादि दर्शितम् । ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं
स्वमर्थमनुभाविष्यतुं न शक्नोति तत् आवर्त्यमानमपि नैव शक्य-
तीति । नैष दोषः । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । दृश्यन्ते हि
सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभास-
व्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः । अपि च तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं
त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे । तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितुं
जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते “ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ”
[तै० २ । १ । १] “ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ” [बृ० ३ । ९ ।
२८] “ अदृष्टं द्रष्टुं ” [बृ० ३ । ८ । ११] “ अविज्ञातं
विज्ञातुं ” [बृ० ३ । ८ । ११] “ अजमजरममरम् ” [त्रिसिं-
होत्त० २] “ अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम् ” [बृ० ३ । ८ । ८]

र्थक्यं चोच्यते सर्वानेव वा प्रतीतिं विकल्पयति । अत्रेति । आद्यमङ्गी-
करोति । भवेदिति । ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वाद्वाक्यस्य परोक्षबोधित्वे प्रामाण्यायो-
गादसति चित्तविक्षेपादिप्रतिबन्धे तस्यापरोक्षबोधित्वमेवेत्यर्थः । द्वितीयं
दूषयति । यस्त्विति । असंभावनादिप्रतिबन्धे तन्निवृत्त्यर्थमावृत्तिरर्थवतीत्यर्थः ।
तत्र श्रौतं लिङ्गमाह । तथा हीति । सूत्रकृताऽपि लिङ्गमङ्गीकृतमित्याह । तथा चेति ।
पूर्ववादी स्वोक्तं स्मारयति । नन्विति । अनुभवानुसारेण परिहरति । नेत्यादिना ।
कथमावृत्तिरर्थवत्त्वं दृष्टं येन नानुपपत्तिस्तत्राऽऽह । दृश्यन्ते हीति । वाक्यार्थज्ञा-
नस्य पदार्थधीपूर्वकत्वात्पदार्थयोश्च दुर्ज्ञानेत्वादावृत्त्या क्रमेणैव धीरिति हेत्वन्तरमाह ।
अपि चेति । तत्र तत्पदवाच्यमर्थमाह । तदिति । तस्यैव लक्ष्यमर्थमाह । सत्यमिति ।

१ ट. नामेति । २ घ. 'तिपाय' । ३ झ. ठ. ड. 'त्वात्तद्वा' । ४ ठ. ड. 'धैत्या' ।
५ क. 'ज्ञातत्वा' ।

[अ० ४ पा० १ सू० २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०३९

इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम् । तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा
निवर्तिताः । अस्थूलादिशब्दैश्च स्थूलपादयो द्रव्यधर्माः । विज्ञा-
नादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम् । एष व्यावृत्तसर्वसंसा-
रधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभिपुक्तानां
प्रसिद्धः । तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोता देहादारभ्य
प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः । तत्र
येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्ये-
तद्वाक्यं स्वार्थे प्रेमा नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थपूर्वकत्वाद्वाक्या-
र्थस्येत्यस्तस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्य-
भ्यासः । यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाऽप्यध्वारो-
पितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रै-
केनावधानेनैकमशमपोहत्यपरेणापरमिति युज्यते तत्रैकमवती
प्रतिपत्तिः । तच्च पूर्वरूपमेवाऽऽत्मप्रतिपत्तेः । येषां पुनर्निपुणम-
तीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति
ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्र-
त्योवृत्त्यानर्थक्यामिष्टमेव । सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां

अजमित्यादिवाक्यस्यार्थमाह । तत्रेति । अस्थूलादिवाक्यस्यार्थमाह । अस्थू-
लादीति । सत्यज्ञानादिवाक्यस्यापुनरुक्तमर्थमाह । विज्ञानादीति । श्रौते तदर्थे विद्व-
दनुभवमपि प्रमाणयति । एष इति । तत्पदार्थं वाच्यं लक्ष्यं च सप्रमाणमुक्त्वा त्वंप-
दार्थमपि विभज्य दर्शयति । तथेति । अवधारितो योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु यः
प्राणेन प्राणित्वात्यांदिनेति शेषः । स्यातामेतौ पदार्थौ तथाऽपि कथमावृत्तेरर्थवत्त्वं
तत्राऽऽहं । तत्रेति । यच्च मेयस्यानंशत्वादावृत्त्यानर्थक्यमिति तत्राऽऽह । यद्यपीति ।
आरोपितव्यावत्यांशबाहुल्यप्राक्रमवत्त्वं प्रतिपत्तेरर्थवदित्यर्थः । तत्त्वमसिवाक्यादहंब्रह्मे-
विवाक्यार्थज्ञाने सति कथं क्रमापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह । तत्त्विति । क्रमेण जावं पूर्व-
ज्ञानमात्मसाक्षात्कारात्पूर्वकालमेव तत्रोऽसंभावनादिनिराससहितवाक्योत्थत्वसाक्षा-
त्कारे नास्त्येवाऽऽवृत्त्यपेक्षेत्यर्थः । मन्दमध्यमौ प्रति साक्षात्कारात्पूर्वं श्रवणाद्यावृत्तेर-
र्थवत्त्वमुक्तम् । इदानीमुक्तं प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमुक्तं विवृणोति । येषामिति । उत्पन्नाऽपि
धीरावृत्तिमपेक्षते फलायेत्याशङ्क्याऽऽह । सकृदात । उत्पन्ने ज्ञाने यदावृत्त्या-

१ क. ज. 'जन्याद' । २ अ. 'त्मा दृष्टा श्रो' । ३ ड. ज. ट. 'श्रोतुर्देहा' । क. 'श्रोतो' ।
४ क. ज. 'कथं न स्वा' । ५ क. ज. 'प्रमाणमुत्पा' । ६ ड. ज. अ. ट. 'धैर्यज्ञानपूर्' । ७ ड. अ. 'धै-
ज्ञानस्थे' । ८ ट. 'शकत्वं' । ९ अ. 'त्र विक्त' । १० ट. 'त्यान' ।

निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते । सत्यमेवं
 युज्येत यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत् । बलवती ह्यात्मनो
 दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः । अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिप-
 द्यत इति चेत् । न । देहाद्यभिमानवदुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्या-
 भिमानत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं
 छिद्ये दह्य इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः । तथा ब्रह्मक्षेत्रेष्वपि
 पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः ।
 तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात् । देहादिवदेव चैतन्याद्-
 हिरुपलभ्यमानत्वादुःखित्वादीनाम् । सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेश्चैत-
 न्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति “यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै
 तन्न पश्यति” [बृ० ४।३।२३] इत्यादिना । तस्मा-
 त्सर्वदुःखैर्विनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः । न
 चैवमात्मानमनुभवतः किञ्चिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते । तथा च
 श्रुतिः “किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः
 [बृ० ४।४।२२] इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति ।
 स्मृतिरपि—

नर्थक्यं तदङ्गीकुर्वन्नाह । सत्यमिति । वाक्यादीदृशी धीः स्यादित्याशङ्क्याध्यक्षादि-
 विरोधानैवमित्याह । बलवतीति । सा वाक्यीयविद्योच्छेद्यत्वाद्भ्रान्तिरित्याश-
 ङ्क्याऽऽह । अत इति । दुःखित्वादिप्रत्ययस्य सर्वदा सर्वेषामुत्पद्यमानस्य बलवत्त्वादेव
 विद्योच्छेद्यत्वायोगान्न भ्रान्तिवेत्यर्थः । तथाविधस्यापि देहात्माभिमानस्य भ्रान्तित्वा-
 दुःखित्वाद्यभिमानस्यापि युक्तिबाधितस्य भ्रान्तिवत्सिद्धेर्नैवमित्याह । नेत्यादिना ।
 उक्तं दृष्टान्तं प्रत्यक्षदृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति । प्रत्यक्षं हीति । दुःखादयस्त्वत्त्वो
 नाऽऽत्मधर्मा वेद्यत्वात्संमतवदिति दार्ष्टान्तिकमाह । तथेति । व्यभिचारित्वाच्च दुःखा-
 दीनां रूपादिवत्त्वतो नाऽऽत्मधर्मवेत्याह । सुषुप्तेति । तर्हि चैतन्यमपि न स्वरूप-
 मनुवृत्तत्वादुःखादिवदित्याशङ्क्याऽऽह । चैतन्यस्येति । दुःखित्वादिधीर्मिथ्याभिमा-
 नश्चैतन्यमेवाव्यभिचारिन्नरूपमिति स्थिते फलितमाह । तस्मादिति । यथोक्तानुभवे
 वाक्यादिविरुद्धेऽपि किमित्यावृत्तिर्नेष्यते तत्राऽऽह । न चेति । तस्मादेवानुभवात्क-
 बलवत्येत्यत्र मानमाह । तथा चेति । रतिरासक्तिस्त्वत्फलं वृष्टिस्त्वृष्टेरपि फलं संतोष-
 इति भेदः । यत्तु साक्षात्कारात्पूर्वमावृत्तेरर्थवत्त्वमुक्तं तदधिकविवक्षया निगमयति ।

[अ. ४ पा. १ सू. ३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०४१

“ यस्त्वात्मपरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ”

[भ० गी० ३ । १७] इति । यस्य तु नैषोऽनुभवो
द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थ एवाऽऽवृत्त्यभ्युपगमः ।
तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थोत्प्रच्याव्याऽऽवृत्तौ प्रवर्तयेत् । न
हि वरघाताय कन्यामुद्राहयन्ति । नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृ-
तोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्येयाद्विपरीतप्रत्यय
उत्पद्यते । यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानां तं वाक्यार्थं जिहा-
सेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याऽ-
भ्युपेयते । तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृ-
त्तिसिद्धिः ॥ २ ॥ (१)

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ (२)

स्येति । द्रागिति झटिति । नियोगबलादावृत्तौ प्रवृत्तेर्नियोगार्थाऽऽवृत्तिर्नानुभवावै-
याशङ्क्याऽऽह । तत्रापि । अहं ब्रह्मास्मीतिप्रत्ययात्प्रच्याव्य नाऽऽवृत्तौ पुरुषं
वर्तयेत्प्रधानविरोधात् । अकर्त्रात्मानुभवाय हि श्रवणादिविधिर्न नियोगायेत्यर्थः ।
प्रधानविरोधायोगे 'दृष्टान्तमाह । न हीति । नियोगार्थमावृत्त्युपगमेऽपि तस्मादेवाक-
र्तृत्वमसिद्धेर्न तद्व्याहतिरित्याशङ्क्याऽऽह । नियुक्तस्येति । नियोगानङ्गीकारे कुतः
श्रोतव्यादिवाक्यैः श्रवणाद्यावृत्तिसिद्धिस्तत्राऽऽह । यस्त्विति । अप्रतिमानादसंभाव-
नादिप्रतिबन्धादिति यावत् । स्थिरीकारोऽसंभावनाद्यपोहेनावगमदार्ढ्यं वेदोपासीतेत्या-
वृत्तिर्वाचोयुक्तिः । आदिशब्देन श्रोतव्यादिवाक्यं गृह्यते । अहंग्रहोपासनेषु श्रवणा-
दिषु च सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारफलेष्वावृत्त्याऽनुष्ठानमित्याधिकरणार्थमुपसंहरति । तस्मा-
दिति । अपरब्रह्मविषयप्रत्यये स्वरूपावृत्तिवदित्यपर्यन्तः ॥ २ ॥ (१)

श्रवणमनननिदिध्यासनादि साधनान्यावृत्त्याऽनुष्ठेयानीत्युक्तम् । तत्र निदिध्यासन-
काले कथं प्रत्ययावृत्तिस्तत्राऽऽह । आत्मेति त्विति । यद्यपि शब्ददेव प्रमित
इत्यादिषु जीवब्रह्मैक्यं श्रुतिभिरुक्तं तथाऽपि तासामेव विरुद्धार्थत्वादुपचरितविषयत्व-
माशङ्क्यात्र समाधीयते । विरोधसमावेरविरोधाध्यायसंगतत्वेऽपि महावाक्यार्थविरोध-
समावेः समाधानान्तरङ्गत्वादिह संगतिरिति मत्वा विषयोक्तिपूर्वकमुभयथाप्रासिद्धेः संश-

१ क. जायेत । २ क. ड. ज. त. 'सपविप' । ३ क. ड. ज. 'नाद्वाक्या' । ४ ड. 'ति ।
मि' । ५ क. 'वृत्त्यभ्युप' ।

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः
किं वा मदन्य इत्येतद्विचारयति । कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगा-
त्मविषये श्रूयमाणे संशय इति । उच्यते । अयमात्मशब्दो
मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभव इतरथा
तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते । किं तावत्प्राप्तं नाह-
मिति ब्राह्मः । न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन
शक्यते ग्रहीतुं विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन । अप-
हतपाप्मादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः । ईश्व-
रस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः । ततः शास्त्रानर्थक्यम् ।
संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव । प्रत्य-
क्षादिविरोधश्च । अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं
प्रतिमादिष्वेव विष्ण्वाददर्शनमिति चेत्काममेवं भवतु ।
न तु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वरं इत्येतन्नः प्रापयितव्यम् ।

यमाह । य इति । संशयाभावादधिकरणमाक्षिपति । कथमिति । आत्मशब्दस्य
मुख्यार्थत्वे सत्यभेदसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तस्य मुख्यार्थत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयान्माना-
न्तरविरोधाच्च तन्मुख्यार्थत्वासिद्धेस्त्वदालम्बनेन संशयानाक्षेपोदधिकरणमारभ्यमित्याह ।
उच्यत इति । अत्रै च विरोधपरिहारेफले समाध्युपयोगितया प्रासङ्गिके ध्यानाव-
स्थायां प्रत्यक्तत्वेन ब्रह्मप्रतिपत्त्यनुष्ठानोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रुतीनामक-
गोचराणामुपचरितार्थत्वम् । सिद्धान्ते तासां मुख्यार्थत्वं फलतीत्याशयवान्निमृश्य
पूर्वपक्षं गृह्णाति । किमिति । द्वा सुपर्णेत्यादिभेदश्रुतेरुपास्योपासकादिभावभेदलिङ्गश्च
भेद इत्यर्थः । युक्तितो भेदमाह । न हीति । तयोर्विरुद्धगुणत्वमसिद्धमित्याशङ्क्या-
ऽऽह । अपहतेति । किं चाभेदेऽपि किमीश्वरस्य जीवात्मता किं वा जीवस्थेश्वरात्म-
तेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति । ईश्वरस्येति । द्वितीयं प्रत्याह । संसारिणोऽपीति ।
अहं सुखीत्याद्यनुभवेन विरुद्धत्वभावत्वाद्भेदो दहनवुद्दिनवादित्यनुमानेन च विरो-
धान्न तयोरेक्यमित्याह । प्रत्यक्षादीति । एकत्वोपदेशानां तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य
व्याजेन तद्वतिमाह । अन्यत्वेऽपीत्यादिना । तादात्म्यदर्शनाङ्गीकारे नास्ति विप्रवि-
पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । न त्वाति । एकत्वश्रुतीनां प्राप्तमुपचरितार्थत्वमनूद्य सिद्धान्त-

१ ड. अ. इति तावद्भिः । २ ट. 'शयः । उ' । ३ क. 'पाप्मादि' । ४ ड. ज. अ. ट.
'पाप्मत्वादि' । ५ क. 'श्वरो विप' । ६ क. 'गुणः शा' । ७ ट. 'सङ्गात्ततः' । ८ ट. 'कथमेव । सं' ।
९ क. ज. अ. 'त्येतावन्नः' । १० ड. अ. 'व्यमिति । ए' । ११ ठ. ड. 'पाधि' । १२ क. 'त्र वि' ।
१३ अ. ट. 'शङ्काव्या' ।

[अ. ४ पा. १ सू. ३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०४३

एवं प्राप्ते ब्रूमः । आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः । तथा हि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवेत्तमुपगच्छन्ति “ त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि देवते ” इति । तथाऽन्येऽपि “ अहं ब्रह्मास्मि ” इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । ग्राहयन्ति चाऽऽत्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि “ एष त आत्मा सर्वान्तरः ” [बृ० ३ । ४ । १] “ एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ” [बृ० ३ । ७ । ३] “ तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि ” [छा० ६ । ८ । ७] इत्येवमादीनि । यदुक्तं प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यतीति तदयुक्तं गौणत्वप्रसङ्गात् । वाक्यवैकल्याच्च । यत्र हि प्रतीकदृष्टि-भिरेपते सकृदेव तत्र वचनं भवति । यथा “ मनो ब्रह्म ” [छा० ३ । १८ । १] “ आदित्यो ब्रह्म ” [छा० ३ । १९ । १] इत्यादि । इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याहातः प्रतीकश्रुतिवैकल्यादभेदप्रतिपत्तिः । भेददृष्ट्यपवादाच्च । तथा हि “ अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ” [बृ० १ । ४ । १०] “ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ” [बृ० ४ । ४ । १९ । कठ० ४ । १० । आत्मप्रबो० १] “ सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद ” [बृ० ४ । ५ । ७] इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवादति । यत्तुक्तं न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव इति । नायं

यति । एवमिति । सिद्धान्तसूत्रं योजयति । आत्मेत्येवेति । तत्र मानमाह । तथा हीति । आत्मत्वोपगमान्तराणि दर्शयति । तथेति । आदिशब्देन तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमित्यादयो गृह्यन्ते । सूत्रावयवमवशिष्टं व्याचष्टे । ग्राहयन्तीति । परोक्तमनूद्य दूषयति । यदुक्तमित्यादिना । एकत्वश्रुतीनामपूर्वार्थत्वफलवत्त्वाभ्यां तात्पर्यसिद्धेरनूद्यवृत्तिसंभवे गौणत्वायोगाद्वैतश्रुतीनां तल्लिङ्गानां च तद्वैपरीत्यात्कल्पित-भेदालम्बनत्वान्मुख्यमेव जीवब्रह्मणोरैक्यमित्यर्थः । इतश्च नेदं प्रतीकदर्शनमित्याह । वाक्येति । भेदस्य निन्धमानत्वाच्चाभेदस्यैव प्रतिपाद्यतेत्याह । भेदेति । विरुद्धस्वभावत्वाद्भेदो जीवब्रह्मणोरित्युक्तमनूद्य प्रत्याह । यत्त्विति । बिम्बप्रतिबिम्बवक्षुपाधिकृतो विरुद्धधर्माभ्यासो न वास्तवस्तथा च तात्त्विकमैक्यमित्यर्थः ।

दोषः । विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः । यत्पुनरुक्तमीश्वराभावप्रसङ्ग इति तदसत् । शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च । न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः किं तर्हि संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति । एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरेस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते । यदप्युक्तमधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति । तदप्यसत् । प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपगमात् । तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य । “ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ” [बृ० २ । ४ । १४] इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति । प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत् । न । इष्टत्वात् । “ अत्र पिताऽपिता भवति ” [बृ० ४ । ३ । २२] इत्युपक्रम्य “ वेदा अवेदाः ” [बृ० ४ । ३ । २२] इति वचनादिष्यत एवास्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे । कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत् । यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः । नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या यद्येवं प्रैतिबु-

अभेदेऽपि संसार्यात्मत्वमीश्वरस्य संसारिणो वा तदात्मत्वमिति विकल्प्याऽऽद्ये यदुपपन्नं तदनुभाष्य दूषयति । यत्पुनरिति । अनभ्युपगमं विवृणोति । न हीति । द्वितीयं प्रश्नपूर्वकमङ्गीकरोति । किमिति । विरुद्धांशहान्या जीवस्य ब्रह्मत्वे प्रतिपाद्ये विरुद्धधर्मत्वमुक्तमसिद्धमेवेति फलितमाह । एवं चेति । संसारिणः संसारित्वापोहेन ब्रह्मत्वे साध्ये परोक्तमनूद्ये निरस्यति । यदपीति । अधिकार्यभावोदिरैकत्वज्ञानात्पूर्वमूर्ध्वं वेति विकल्प्याऽऽद्यं निराह । प्रागिति । द्वितीयमङ्गीकरोति । यत्रेति । श्रुतिश्रद्धालुतया शङ्कते । प्रत्यक्षादीति । तत्त्वज्ञानाद्मूर्ध्वं श्रुत्यभावंस्येष्टत्वान्नानिष्ठापत्तिरित्याह । नेष्टत्वादिति । तदेव स्पष्टयति । अत्रेति । गूढाभिप्रायः सन्पृच्छति । कस्येति । यस्य भ्रान्तिस्तस्याज्ञानमित्याह । यस्त्वमिति । स्वाभिप्रायं पूर्ववादी प्रकटयति । नन्विति । अविद्यातज्जभ्रान्त्योरनिर्वाच्यत्वाद्बोधे सति तयोरसत्त्वान्नाऽऽश्रयापेक्षेत्याह । यद्येवमिति । अनिर्वाच्यत्वादविद्यायाश्चोद्यान्तरमपि निरस्तमित्याह ।

१ क. ज. 'वंश' । २ अ. 'ता त्वीश्वर' । ३ ज. 'रस्येति' । ४ छ. 'प्रबु' । ५ क. 'य' तदुपपत्तिः ।

[अ. ४ पा. १ सू. ४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०४५

द्वोऽस्ति नास्ति कस्यचिदप्रबोधः । योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चिदवि-
द्यया किलाऽऽत्मनः सद्वितीयत्वादद्वैतानुपपत्तिरिति सोऽप्येतन
प्रत्युक्तः । तस्मादात्मैत्येवेश्वरे मनो दर्शयते ॥ ३ ॥ (२)

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥ (३)

“मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति”
[छा० ३ । १८ । १] तथा “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः”
[छा० ३ । १९ । १] “स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते” [छा०
७ । १ । ५] इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः । किं तेष्व-
ध्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति । किं तावत्प्राप्तं तेष्वध्यात्मग्रह एव
युक्तः । कस्मात् । ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात् । प्रती-
कानामपि ब्रह्मविकारत्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति । एवं प्राप्ते
ब्रूमः । न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात् । न हि स उपासकः प्रती-
कार्त्तं व्यस्तान्यात्मत्वेनाऽऽकलयेत् । यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्म-

योऽपीति । अभेदश्रुतीनां सिद्धे मुख्यार्थत्वे फलितमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ३ ॥ (२)

आत्मैत्वमतिरीश्वरे कार्येत्युक्तम् । इदानीं प्रतीकविशेषणस्यापीश्वरस्याऽऽत्मत्वात्त-
द्वारा प्रतीकेष्वात्मत्वधीरिति प्राप्ते प्रत्याह । न प्रतीक इति । प्रतीकोपासनान्युदा-
हृत्योपास्तिषुमयथादृष्टेः संशयमाह । मन इत्यादिना । जीवब्रह्मभेदं पूर्वोक्तमुपजीव्य
ब्रह्मदृष्टिमाप्तुं प्रतीकेषु ब्रह्माभिन्नजीवदृष्टिरहमिति कार्येति प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह ।
किं तावदिति । अत्र प्रासङ्गिकाहंमतिनिरासेन प्रतीकोपास्तिषु प्रयोगभेदोक्त्या पादा-
दिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रतीकोपास्तीनामहंग्रहोपास्तिभिरविशेषः । सिद्धान्ते विशेषः
सिध्यतीत्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षे हेतुं पृच्छति । कस्मादिति । प्रतीकेष्वात्मत्वग्रहे तेषामा-
त्मत्वोपपत्तिहेतुमाह । ब्रह्मण इति । तस्याऽऽत्मत्वेऽपि तेषां कथमात्मत्वं तत्राऽऽह ।
प्रतीकानामिति । ब्रह्मधीयुक्तानि प्रतीकान्यहमिति ग्राह्याणि ब्रह्माभिन्नत्वात्तद्व-
दित्यर्थः । द्विविधोपास्तिष्वविशेषे प्राप्ते सिद्धान्तमाह । एवमिति । न प्रतीकेष्वात्म-
मतिं कुर्यादैक्यचोदनाभावे सति स्वतोभिन्नत्वादुद्गीथादिवदित्याह । नेत्यादिना ।
यत्तु ब्रह्मरूपत्वादहमिति ग्राह्याणीति तत्र किमात्मत्वानुभवादात्मत्वेन ग्राह्याणि किं
वा मानान्तरसिद्धत्वान्नाऽऽद्य इत्याह । न हीति । द्वितीयमनूद्य दूषयति । यदिति ।

१ क. अ. 'दात्मन्येवे' । २ ट. 'त' । आत्मेश्वराधिकरणम् । न । ३ ट. 'तेष्वात्म' । ४ ज.
ट. 'नि यस्ता' । ५ ट. 'त्वेनावक्त' । ६ ठ. क. 'तत्तत्त्वम्' । ७ ड. 'पक्षहे' । ८ क. झ. 'पति हे' ।
९ क. 'तत्तत्त्वानु' ।

तीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चाऽऽत्मत्वमिति । तदसत् । प्रतीकाभा-
वप्रसङ्गात् । विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्व-
मेवाऽऽश्रितं भवति । स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीक-
त्वमात्मग्रहो वा । न च ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्व्वात्म-
दृष्टिः कल्प्या । कर्तृत्वाद्यनिराकरणात् । कर्तृत्वादिसर्वसंसार-
धर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः । तदनिराकरणेन
चोपासनविधानम् । अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्म-
ग्रहो नोपपद्यते । न हि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति ।
सुवर्णात्मनैव तु ब्रह्मात्मनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम ।
अतो न प्रतीकेष्व्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥ (३)

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥ (४)

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः । किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्ये-
ध्यसितव्याः किंवा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । कुतः संशयः ।

प्रसङ्गमेव प्रकटयति । विकारेति । तथाऽपि को दोषस्तत्राऽऽह । स्वरूपेति ।
वस्तुवृत्तेन विकाररूपेण नामादीनां ब्रह्मत्वायोगाज्जीवित्वलयेन जीवस्य ब्रह्मत्वोक्तिवत्प्र-
तीकत्वलयेन तेषामपि ब्रह्मत्वेकावाल्म्बनाभावादुपास्तिविधिर्न स्यादित्यर्थः । यत्तु
ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वमिति तत्राऽऽह । न चेति । प्रतीकोपदेशेषु कथं कर्तृत्वाद्यनिरा-
करणं तदाह । कर्तृत्वादिति । तन्निराकरणे तद्विधिरेव न स्यादिति भावः । प्रती-
कानां जीवस्य च परिच्छिन्नतया साम्यं गृहीत्वा फलितमाह । अतश्चेति । सत्यपि
तुल्यत्वे किमिति जीवस्य तेषु विधिवशादहंग्रहो न स्यात्तत्राऽऽह । न हीति । स्वरू-
पेणैक्याभावेऽपि रुचकस्वस्तिकयोः सुवर्णात्मनैक्यवादिहापि ब्रह्मात्मनैक्यादहंग्रहः
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । सुवर्णेति । विकाररूपविरस्कारेणैक्ये न प्रतीकतेत्युक्तमित्यर्थः ।
रुचकस्वस्तिकयोरपि मिथोव्यावृत्तयोरानुवृत्तसुवर्णाद्यात्मत्वकल्पनामृते सिध्यतीति सिद्ध-
वत्कृत्योपसंहरति । अत इति ॥ ४ ॥ (३)

अहंग्रहोपासनेष्विव प्रतीकोपासनेष्वहंग्रहेणानुष्ठानं नेत्युक्तम् । इदानीं प्रतीको-
पासनेष्वेव क किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संदिहानं प्रत्याह । ब्रह्मदृष्टिरिति । एकविष-
यत्वेनाधिकरणयोः संगतिं मन्वानो विषयसंशयो दर्शयति । तेष्वेवेति । प्रश्नपूर्वकं
संशयबजिमाह । कुत इति । उक्तमेव व्यक्तीकार्थं सामानाधिकरण्याधिक्यं तावदर्श-

१ क. 'व ब्र' । २ ड. अ. 'त्मत्वेनै' । ३ ट. 'ते' । प्रतीकाधिकरणम् । ब्र' । ४ ट. 'ण्य-
ध्यासि' । ५ अ. 'ह' । नेति । ६ ठ. ड. 'र्णात्मकत्वं क' ।

[अ० ४ पा० १ सू० ५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०४७

सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात् । अत्र हि ब्रह्मशब्दस्याऽऽ-
दित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते । आदित्यो ब्रह्म
प्राणो ब्रह्म विद्युद्ब्रह्मेत्यादिसमानविभक्तिर्निर्देशात् । न चात्राऽऽ-
ञ्जसं सामानाधिकरण्यमत्रकल्पते । अर्थान्तरवचनत्वाद्ब्रह्मादि-
त्यादिशब्दानाम् । न हि भवति गौरश्च इति सामानाधिकर-
ण्यम् । ननु प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादि-
वत्सामानाधिकरण्यं स्यात् । नेत्युच्यते । विकारप्रविलेपो ह्येवं
प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात् । ततश्च प्रतीकाभाविप्रसङ्गमवो-
चाम । परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्तत्त्वोपासनाधिकारो
बाधयेत । परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम् । तस्माद्ब्रह्मणोऽ-
ग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यत्रान्यद्दृष्टव्यध्यासे सति क किं दृष्टव्य-
स्यताभिर्ने संशयः । तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावा-
दित्येवं प्राप्तम् । अथ वाऽऽदित्यादिदृष्ट्य एव ब्रह्मणि कर्तव्या

यति । अत्रेति । तथाऽपि यथाकथंचिदस्य सामानाधिकरण्यस्य संभवे कुतः संशयसि-
द्धिरित्याशङ्क्य सोऽयमिति वदेकत्वनिमित्तं वा प्रकृतिविकारत्वनिमित्तं वा समारोपकृतं
वा तदिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति । न चेति । भिन्नार्थशब्देषु तदभावमुदाहरति ।
न हीति । द्वितीयमादत्ते । नन्विति । उपार्तिवैविरोधान्भैवमित्याह । नेतीति ।
प्रविलयपरमेव वाक्यं नोपास्तिपरमित्याशङ्क्योपासीवेति श्रुतिविरोधान्भैवमित्याह ।
परमात्मेति । प्रपञ्चप्रविलयद्वारा परमात्मपरत्वे वाक्यस्य कतिपयादित्यादिग्रहणमन-
र्थकम् । न च सर्वोपलक्षणार्थं तद्ग्रहणं मुख्यसंभवे लक्षणायोगादित्याह । परि-
मितेति । १० पक्षद्वयायोगात्परिशिष्टे तृतीये पूर्वोक्तः संशयः स्यादित्युपसंहरति । तस्मा-
दिति । प्रासङ्गिकप्रकृतप्रतीकोपासनेषु स्ववन्नपुमर्थहेतुषु ब्रह्मदृष्ट्याऽनुष्ठानोक्त्या पादा-
दिसंगतिः । पूर्वपक्षे लौकिकन्यायविरोधः । सिद्धान्तं तदविरोधः सिध्यतीत्यभिप्रेत्य
पूर्वपक्षयति । तत्रेति । यथाऽऽत्यन्तिकभेदो नमादिष्वहं ग्रहाभावे हेतुरुक्तस्त्वथा तेष्वेव
ब्रह्मधीनियामकं न किंचिद्दृष्टं तस्मादनियम इत्यर्थः । उक्तुष्टनिरुक्तयोर्दृष्टमेवो-
पास्यं फलविशेषवत्त्वाद्वाजादिवदित्याशङ्क्य साक्षात्पूर्वपक्षमाह । अथ वेति । आदि-
त्यादिशब्दानां प्रथमश्रुतानामनुरोधेन चरमश्रुतं ब्रह्मपदं नेतव्यमिति चेन्न । तथा सति

१ ट. 'रवि' । २ क. 'लय एव ह्ये' । ३ क. ड. ज. ब. 'न्यतरत्रा' । ४ क. ज. 'न्यतरह' ।
५ ट. 'मित्यस्ति सं' । ६ ठ. ड. 'स्तिविधिवि' । ७ क. ख. 'क्षवि' । ८ क. घ. 'इक्तः' । हेत्वर्थं
विवृणोति । एवमिति । तथा । ९ ठ. ड. 'भत्वाद्वा' ।

इत्येवं प्राप्तम् । एवं द्वावित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मो-
पासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा । तस्माच्च ब्रह्मदृष्टिरादित्या-
दिष्विति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । ब्रह्मदृष्टिरेवाऽऽदित्यादिषु
स्यादिति । कस्मात् । उत्कर्षात् । एवमुत्कर्षेणाऽऽदित्यादयो दृष्टा-
भवन्ति । उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात् । तथा च लौकिको न्यायोऽ-
नुमतो भवति । उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको
न्यायः । यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि । स चानुसर्तव्यः । विपर्यये प्रत्यवा-
यप्रसङ्गात् । न हि क्षत्तृदृष्टिपरिग्रहीतो राजा निकर्षं नीयमानः
श्रेयसे स्यात् । ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्र-
सङ्गो न च लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति ।
अत्रोच्यते निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात् । संदिग्धे तु तस्मिन्-
स्तर्भिर्यं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते ।
तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधारमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्थ-

फलाभावोपावादित्याह । ब्रह्मेति । पक्षद्वयेऽपि फलितमाह । तस्मादिति । आदि-
त्यादिदृष्ट्या ब्रह्मोपास्यमिव प्राप्ते सिद्धान्तयति । एवमिति । नियमहेतुं प्रश्नपूर्व-
कमाह । कस्मादिति । हेत्वर्थं विवृणोति । एवमिति । उत्कृष्टनिकृष्टयोरुत्कृष्टस्य
द्रष्टव्यत्वादादित्यादिदृष्ट्या ब्रह्मोपास्यमित्युक्तमाशङ्क्याऽऽह । तथा चेति । किं
तदनुसरणेनेत्याशङ्क्याऽऽह । स चेति । प्रसङ्गमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति । न हीति ।
ब्रह्मण एव फलमत इतिन्यायात्फलदातृत्वात्तस्यैवाऽऽदित्यादिधीभिरुपास्यतेति शङ्कते ।
नान्विति । किंच शास्त्रस्य स्वत एव प्रामाण्याच्च लौकिकन्यायापेक्षेत्याह । न चेति ।
ब्रह्मण एव फलदातृत्वेऽपि शास्त्रमादित्यादौ प्रतीके ब्रह्मधिया ध्येये तत्फलदमिति वा
ब्रवीत्यादित्यादिधिया ब्रह्मण्युपास्ये वेति शास्त्रार्थसंदेहे लोकानुसारेण निर्धारणमित्याह ।
अत्रेति । लौकिकन्यायस्य निश्चयहेतुत्वे विपक्षे दोषमाह । तेनेति । न केवलं लौकि-
कन्यायो निश्चायकः किं त्वादित्यादिशब्दानां प्रथमश्रुतत्वेन मुख्यार्थत्वमपीत्याह ।

१ क. 'दृष्ट्या ब्रह्मो' । २ ड. 'पासनं म' । ३ ट. 'दिषु' । ए. 'दिषु' । ४ क. ड. म. ट. 'नुगतो' ।
५ क. ज. म. ट. 'नुगन्तव्यः' । ६ क. 'सङ्गो न' । ७ क. 'रितशा' । ८ क. म. 'स्य प्रत्य' । ९ न.
ड. ड. 'वादित्याशङ्क्याऽऽह' । १० ठ. ड. 'मित्याह' ।

[अ० ४ पा० १ सू० ५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०४९

अथमप्यादिदिति श्लिष्यते । प्रथम्याच्चाऽऽदित्यादिशब्दानां
मुख्यार्थत्वमविरोधाद्ग्रहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ
पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्येया वृत्त्या सामानाधिकरण्या-
संभवाद्ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते । इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्द-
स्यैव एवार्थो न्याय्यः । तथा हि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्युपा-
सीत' 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति श्रुद्धा-
स्तादित्यादिशब्दान् । ततश्च यथा श्रुक्तिकां रजतमिति प्रत्ये-
तीत्यत्र श्रुक्तिवचन एव श्रुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्र-
तीतिलक्षणार्थः । प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति न तु तत्र
रजतमस्ति । एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते ।
वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनाऽऽदित्यादीनेवोपास्ति-
क्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति " स य एतदेवं विद्वानादित्यं
ब्रह्मेत्युपास्ते " [छा० ३ । १९ । ४] " यो वाचं ब्रह्मे-
त्युपास्ते " [छा० ७ । २ । २] " यः संकल्पं ब्रह्मेत्यु-
पास्ते " [छा० ७ । ४ । ३] इति च । यत्तूक्तं ब्रह्मोपासन-
मेवात्राऽऽदरणीयं फलवत्त्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्याये-
नाऽऽदित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात् । फलं त्वतिथ्याद्युपा-

प्रथम्यादिति । ब्रह्मशब्दस्य धीपरत्वे युक्त्यन्तरमाह । इतिपरत्वादिति । तस्येति-
परत्वमेव स्फोरयति । तथा हीति । आदित्यादिशब्देषु वैलक्षण्यमाह । श्रुद्धानिति ।
अस्तु ब्रह्मशब्दस्येतिपरत्वेमपरत्वमादित्यादिशब्दानां च शुद्धत्वं तथाऽपि कथं दृष्टि-
परत्वार्थपरत्वव्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह । ततश्चेति । रजतशब्दस्यापि श्रुक्तिका-
शब्दवदर्थपरत्वं चेदितिशब्दयोगो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । प्रतीतिश्चेत्तस्या निराल-
म्बनत्वायोगादस्त्येव रजतप्रतीत्याशङ्क्याऽऽह । प्रत्येत्येवेति । प्रतीतेराभास-
त्वाच्च योग्यमालम्बनमस्तीत्यर्थः । लोकसिद्धमर्थं प्रकृते योजयति । एवमिति ।
किं चाऽऽदित्यादीनां द्वितीयाश्रुत्योपास्तिवर्कमत्वेन प्राधान्यसिद्धेर्ब्रह्मशब्दस्य धीपरत्व-
मेवेत्याह । वाक्येति । उत्कृष्टनिकृष्टयोरुत्कृष्टमेवोपास्यं फलविशेषपरत्वाद्वाजादिवदि-
त्युक्तमनुवदति । यत्त्विति । आदित्यादीनामेवोपास्यत्वापेक्षद्वितीयाश्रुतिविरुद्धमनुमानमि-
त्याह । तदिति । कथं तर्हि फलसिद्धिरित्याशङ्क्य हेतोरन्यथासिद्धिमाह । फलं त्विति ।

१ ज० ठ. 'धाम हात' । २ क. ड. ज. अ. 'ह्यष्ट' । ३ क. 'तैव व्य' । ४ ट. 'ति स' ।
५ ज. ट. 'शुद्धास्त्वा' । ६ ज. ट. 'शब्दाः' । ततश्च । ७ क. 'किं वा' । ८ क. 'पासिक्' । ९ ज.
ट. 'स्ते' 'मनो ब्रह्मेत्युपास्ते' 'यः' । १० क. ज. 'ति' । य' । ११ ट. ड. 'त्वमा' ।

सन इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात् ।
वर्णितं चैतत् “ फलमत उपपत्तेः ” [अ० सू० ३ । २ । ३८]
इत्यत्र । ईदृशं चाऽऽत्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्य-
ध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्णवादीनाम् ॥ ५ ॥ (४)

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ (५)

“ य एवासौ तपति तमुद्रीथमुपासीत ” [छा० १ । ३ ।
१] “ लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत ” [छा० २ । २ । १]
“ वाचि सप्तविधं सामोपासीत ” [छा० २ । ८ । १]
“ इयमेवर्गमिः साम ” [छा० १ । ६ । १] इत्येवमादिष्व-
ङ्गावेबद्धेषूप्रासनेषु संशयः । किमादित्यादिषूद्रीथार्थदृष्टयो विधी-
यन्ते किं वोद्रीथादिष्वेवाऽऽदित्यादिदृष्टय इति । तत्रानियमो
नियमकारणाभावादिति प्राप्तम् । न ह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदु-

धर्मस्यैव फलदत्वात्कुतो ब्रह्मणस्त्वत्त्वं तत्राऽऽह । वर्णितं चेति । द्विती-
येतिशब्दश्रुतिभ्यामुत्कृष्टदृष्ट्या निरुष्टमुपास्यमितिन्यायानुगृहीताभ्यामुक्तानुमानभङ्गा-
दसंजातविरोधित्वेन प्रथमश्रुता आदित्यादय एव चरमश्रुततया संजातविरोधात्प्रत्यय-
मात्रपरब्रह्मशब्देनापि ब्रह्मदृष्टिविशिष्टा विशेषणतयोपास्यब्रह्मसामर्थ्यलब्धफलविशेषा-
ध्येया भवन्तीति भावः । कथं तर्हि ब्रह्मोपासनमिति प्रसिद्धितत्राऽऽह । ईदृशं
चेति ॥ ५ ॥ (४)

पूर्ववदुत्कर्षरूपविशेषानवधारणादनियमेन वा गीतित्वेन क्रियारूपोद्रीथादीनां फलसं-
निकर्षणोत्कर्षादादित्यादिषु तद्दृष्टिकरणे प्रथमनिर्दिष्टानामादित्यादिषु ब्रह्मदृष्टिवत्प्राथमि-
कादित्यादिषूद्रीथादिदृष्टिकरणे वा प्राप्ते प्रत्याह । आदित्यादीति । अङ्गाश्रितोपास-
नान्युदाहृत्य विशेषानुपलब्ध्या संशयमाह । य एवेत्यादिना । पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षा-
दित्यद्युसंज्ञकेषु लोकेषु हिंकारप्रस्तावोद्रीथप्रतिहारनिधनरूपं पञ्चप्रकारं सामोपास्यं लोका-
लोकदृष्ट्या तदुपास्यमित्यर्थः । वाचि सप्तविधमिति हिंकारप्रस्तावोकारोद्रीथप्रतिहारो-
पद्रवनिधनरूपं सप्तप्रकारं साम वाच्युपास्यं वागदृष्ट्या सामोपास्यमित्यर्थः । प्रासङ्गि-
काङ्गावबद्धोपासनेषु स्वतन्त्रफलेष्वनङ्गदृष्ट्याऽनुष्ठाननिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्व-
पक्षे दृष्टिकरणस्य फलवत्त्वम् । सिद्धान्तेऽपि तदविरुद्धं सिध्यतीति स्वीकृत्य पूर्वपक्ष-
माह । तत्रेति । नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्युक्तं व्यनक्ति । न हीति । वैव-

१ क. ‘के त’ । २ ट. ‘य’ । ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् । आ’ । ३ ट. ‘आज्ञेयपपत्तेः’ । ४ ट. ‘त’ ।
लोकेषु वा’ । ५ ड. अ. ‘वद्वे’ । ६ ट. ‘द्वेय’ । ७ क. ड. ज. अ. ‘दिष्ट्यादित्या’ । ८ अ. ‘सिध्वि’ ।
४ क. ट. ड. ‘स्तावागुद्री’ ।

[अ. ४ पा. १ सू. ६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०५१

त्कर्षविशेषोऽवधार्यते । ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपा-
प्मत्वादिगुणयोगाच्चाऽऽदित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधार-
यितुं न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षवि-
शेषावधारणे कारणमस्ति । अथ वा नियमेनैवोद्गीथादिमतय
आदित्यादिष्वध्यस्तेरन् । कस्मात् । कर्मात्मकत्वाद्दुद्गीथादीनां
कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः । उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना
आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति ।
तथा च “ इयमेवर्गग्निः साम ” [छा० १ । ६ । १] इत्यत्र
“ तदेतदेतस्यामृच्यधूढं साम ” [छा० १ । ६ । १] इत्यु-
क्त्वद्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निं तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋ-
क्सामहृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निहृष्टि-
चिकीर्षायाम् । क्षत्तरि हि राजहृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते
न राजनि क्षत्तृशब्दः । अपि च “ लोकेषु पञ्चविधं सामोपा-
सीत ” [छा० २ । २ । १] इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामा-
ध्यसितव्यमिति प्रतीयते । “ एतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ” [छा०

म्यहृष्टान्तं स्पष्टयति । ब्रह्मेति । अङ्गानङ्गयोरपि कस्यचिद्विशेषो गम्यतामित्याश-
ङ्क्याऽऽह । न स्त्विति । कर्मरूपाणामुद्गीथादीनामुत्कर्षमानमुपेत्य साक्षात्पूर्वपक्ष-
माह । अथ वेति । नियमहेतुं पृच्छति । कस्मादिति । उद्गीथादिकर्माङ्गानां
क्रियासमवायात्फलसाधनतयोत्कृष्टत्वादिति हेतुमाह । कर्मेति । किंच सिद्ध-
रूपादित्याद्यात्मना चेदुद्गीथादयो दृष्टास्तदा न फलहेतवः । यदा तूद्गीथा-
दिदृष्ट्याऽऽदित्यादयो दृष्टास्तदा तेषामपि फलहेतुत्वं स्यादित्याह । उद्गीथादीति ।
अनङ्गेष्वेवाङ्गमतिकर्तव्यत्वं पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगादपि भावीत्याह । तथा
चेति । तदेतदग्न्याख्यं सन्निभस्यां पृथ्वीलक्षणायामृच्यधूढमुपरि श्रितमिति यावत् ।
उक्तमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति । क्षत्तरीति । ऋचि पृथिवीहृष्टिः साम्नि चाग्निहृष्टिरष्टा
चेत्तदा प्रयोगवैपरीत्यं स्यात्तस्मात्पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगानुपपत्त्या तत्र कर्मा-
ङ्गभूतकर्माध्यासासिद्धिरित्यर्थः । इतश्चानङ्गेष्वङ्गमतिः कर्तव्येत्याह । अपि चेति ।
सप्तम्या लोकानां सामधीविषयत्वं निर्दिशादित्याह । अधिकरणेति । अन्यत्रापि सप्त-
मीश्वरेनङ्गेष्वङ्गधीर्भावीत्याह । एतदिति । पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यनङ्गेष्वङ्ग-

१ क. ड. ज. झ. ट. 'क्यतेऽव' । २ ज. ट. 'रणका' । ३ क. ट. 'तस्या' । ४ क. ख. ठ.
५ क. ख. ठ. ड. 'रि स्थित' । ६ ख. 'यिव्या ड' ।

२ । ११ । १] इति चैतदेव दर्शयति । प्रथमनिर्दिष्टेषु चाऽऽदि-
 त्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम् “ आदित्यो ब्रह्मेत्या-
 देशः ” [छा० ३ । १९ । १] इत्यादिषु । प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथि-
 व्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः “ पृथिवी हिंकारः ” [छा०
 २ । २ । १] इत्यादिश्रुतिषु । अतोऽनङ्गेष्वदित्यादिष्वङ्गम-
 तिक्षेप इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । आदित्यादिभूतय एवाङ्गेषूद्गीथा-
 दिषु क्षिप्येरन् । कुतः । उपपत्तेः । उपपद्यते ह्येवमपूर्वसंनिक-
 र्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः ।
 “यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति”
 [छा० १ । १ । १०] इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं
 दर्शयति । भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् “ य
 एतदेवं विद्वान्छोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ” [छा० २ । २ ।
 ३] इत्यादिषु । तेष्वप्यधिकृताधिकारात्मकतापूर्वसंनिकर्षेणैव फल-
 कल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत् । फलात्मकत्वाच्चाऽऽ-

दृष्टिः शिष्टेत्याह । प्रथमेति । आदित्यादावुद्गीथादिधीकरणात्तस्य फलवत्त्वसिद्धिरिति
 प्राप्तमनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । अनङ्गेष्वङ्गमविरुक्ता तथा चान्यथा नियमो
 निर्बाजित्वादयुक्त इति शङ्कते । कुत इति । नियमहेतुमवतार्य व्याकरोति । उपपत्ते-
 रिति । यथा प्रोक्षणादिना ब्रीह्यादिषु संस्कृतेषु कर्मापूर्वमुत्पद्यते तथा प्रकृतकर्मापूर्वसं-
 निधानावुद्गीथादीनामादित्यादिमतिभिस्तेषु संस्क्रियमाणेषु कर्मसमृद्धिरुपपद्यते तथा च
 कर्मसमृद्धिफलोपपत्तेरङ्गेष्वनङ्गमतिक्षेप इत्यर्थः । कर्मसमृद्धिरुपास्ति फलमित्येतदेवासि-
 द्धमित्याशङ्क्याऽऽह । यदेवेति । यत्र कर्मसमृद्धिः फलं श्रूयते तत्राङ्गेष्वनङ्गमति-
 क्षेपोऽस्त्वादित्यादिमति संस्कृतानामङ्गानां कर्मातिशयहेतुत्वात्स्वतन्त्रफलेषु पुनरुपासनेषु
 कथं मतिक्षेपः स्यादिति विवेको नास्तीति शङ्कते । भवत्विति । स्वतन्त्रफलेष्वपि तेषु
 प्रकृतकर्माङ्गव्यप्राश्रयेणाङ्गेष्वेव मतिकरणात्फलकल्पना युक्ता कर्माधिकृतस्यैव तदङ्गसं-
 बन्धेषूप्रासनेष्वधिकारात् । यथाऽधिकृताधिकारेषु गोदोहनादिषु स्वतन्त्रफलेष्वपि
 प्रकृतकर्माङ्गावष्टम्भेनैव फलमिष्टं तथेहापीति परिहरति । तेष्वपीति । यत्त्वादित्यादी-
 नामुद्गीथादीनां चोत्कर्षनिर्देशानवधारणमिति तत्राऽऽह । फलेति । तदेव स्फुटयति ।

१ क. अ. 'तदर्थ' । २ क. 'यु प्रक्षि' । अ. 'य प्रतिक्षि' । ३ अ. 'मसिद्धिः' । ४ क. अ.
 अ. 'तुतां द' । ५ क. अ. 'यु तदुपा' । ६ क. स्पष्टयति ।

[अ. ४ पा. १ सू. ६] आनन्दमिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०५३

दित्यादीनामुद्गीयादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः । आदि-
त्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु । अपि च “ओमि-
त्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत” [छा० १।१।१] “स्वलेतस्यैवाक्षरस्यो-
पव्याख्यानं भवति” [छा० १।१।१०] इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनो-
पक्रम्याऽऽदित्यादिमतीर्विदधाति । यत्तूक्तमुद्गीयादिमतिभिरुपा-
स्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति । तदयु-
क्तम् । स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः । आदित्या-
दिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गीयादीनां कर्मात्मकत्वात्तानपायात् ।
“तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम” [छा० १।६।१] इति
तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः । लक्षणा च
यथासंभवं संनिकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसंबन्धेन प्रवर्तते ।
तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निहृष्टिचिकीर्षा तथाऽपि प्रसि-
द्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयो-
रेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसंबन्धादिति निश्चीयते ।

आदित्यादीति । उपक्रमानुसारादप्यादित्यादिधीरुद्गीयादिषु कार्येत्याह । अपि चेति ।
द्वितीयां पूर्वपक्षोपपत्तिमनुभाष्य दूषयति । येदित्यादिना । कर्मभूयं भूत्वा कर्मभावं मनुभूयेति
यावत् । सिद्धरूपैरादित्यादिभिरध्यस्तैः साध्यरूपत्वं कर्मणोऽभिभूयेतेत्याशङ्क्याऽऽह ।
आदित्यादीति । माणवकेऽग्निधीरुद्गीयादिष्ववादित्यादिधियां गौणत्वादनभिमतदङ्गेष्व-
नङ्गधीरविरुद्धेत्यर्थः । यत्तु पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगानुपपत्त्या पृथिव्यादावृगादि-
धीरिति तत्राऽऽह । तदेतदिति । तद्वृष्टिमन्तरेणापि लक्षणोपपत्तौ पृथिव्यादावृगाद्य-
ध्यासो न कल्पनीय इत्यर्थः । संबन्धाभावे कथं लक्षणेत्याशङ्क्याऽऽह । लक्षणा
चेति । शौणो धावतीत्यत्र गुणवाचिशोणशब्देन गुणी लक्ष्यत इति संनिकृष्टा लक्षणा
अग्निरधीतेऽनुवाकमित्यत्राग्निशब्दस्वीत्रत्वादिगुणं लक्षयित्वा माणवकं लक्षयतीति
विप्रकृष्टा । न हि साक्षादेवाग्निशब्दार्थस्य माणवकसंबन्धोऽस्तीत्यर्थः । लक्षणाद्वैवि-
ध्येऽपि प्रकृते किं जातं तदाह । तत्रेति । ऋक्सामयोः पृथिव्यग्न्योश्च संनिकृष्टवा-
स्तवसंबन्धाभावेऽपि विप्रकृष्टेन पृथिव्यग्निबुद्धिसंबन्धेन तयोः संबन्धात्तच्छब्दाभ्यां
तल्लक्षणा युक्त्येत्यर्थः । तथाऽपि तयोरेव पृथिव्यग्न्योरेव तदेतदस्यामृच्यध्यूढं सामे-
त्यृक्सामशब्दप्रयोग इति योजना । मरुत्यासंभवे हेतुमाह । प्रसिद्धयोरिति ।

१ क. 'दिभ्य उ' । २ ड. ज. झ. 'ये क' । ३ घ. 'तत्वा' । ४ ज. झ. ट. एष । ५ क.
ख. ठ. ड. 'यस्मिन्' । ६ ठ. ड. 'वनाम्' । ७ ख. श्वेतो । ८ क. ख. 'चिविशेषण' । ९ घ. 'रेव'
त । १० क. ठ. 'तस्या' । ख. ड. 'तदेतस्या' ।

क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं
 पार्यते । “ इयमेवर्क् ” [छा० १ । ६ । १] इति च यथा-
 क्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति । पृथिव्यां ऋक्त्वेऽव-
 धार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात् । “ य एवं विद्वान्नाम
 गायति ” [छा० १ । ७ । ७०] इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञा-
 नमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम् । तथा “ लोकेषु पञ्चविधं
 सामोपासीत ” [छा० २ । २ । १] इति यद्यपि सप्तमीनि-
 दिष्टा लोकास्तथाऽपि साम्न्येव तेऽध्यस्पेरन्दिहतीयानिर्देशेन
 साम्न उपास्यत्वावगमात् । सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु
 साम लोकात्मनोपासितं भवति । अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्म-
 नोपासिताः स्युः । एतेन “ एतद्गान्त्रं प्राणेषु प्रोतम् ” [छा०

अन्यध्यदं हि सामेति प्रसिद्धयोः पृथगुक्तेस्त्वदेतदेतस्यामित्यत्रापि तयोरेवोक्तौ पौनरु-
 क्त्यात्पृथिव्यग्न्योश्चाध्यस्तऋक्सामसंनिधानाद्वक्सामशब्दयोर्लक्षणया पृथिव्यग्न्यर्थे-
 त्यर्थः । ऋचि पृथिवीधीः साम्नि चाग्निधीरित्येतावता संबन्धेन पृथिव्यग्न्योर्ऋक्साम-
 शब्दप्रयोगो लाक्षणिको नोपपद्यते क्षत्तरी राजधीकरणेऽपि राजनि क्षत्तृशब्दप्रयोगाद-
 र्शनादित्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । क्षत्त्रिति । यदा राजाऽपि क्षत्तुः सूतस्य रथनय-
 नादि कर्माऽऽचरति तदा, तत्र क्षत्तृशब्दो लक्षणया प्रयुज्यत एव । न च सति
 निमित्ते प्रयोगस्याऽऽवश्यकत्वं पङ्कजादिशब्दे व्यभिचारादिति भावः । ऋगादावेव
 पृथिव्यादिधीरित्यत्र हेत्वन्तरमाह । इयमेवेति । एतदेव व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति ।
 पृथिव्येति । ऋगनुवादेन पृथिवीत्वं विधेयमित्यवधारणसामर्थ्यादिधितमित्यर्थः ।
 इतश्चाङ्गेष्वनङ्गधीरित्याह । य एवामति । यत्त्वधिकरणनिर्देशादुपस्तिविषयत्वं लोका-
 नामिति तत्राऽऽह । तथेति । यदि सामधीर्लोकेष्वारोप्येत तदा साम्नेतितृतीयाथै
 द्वितीयाश्रुतिः परिणेत्या लोकेष्विति च सप्तमी द्वितीयाथै, कथंचिन्नेया तथा सत्युभ-
 यथाऽपि सप्तम्याः कल्प्यार्थत्वात्कल्पनालाधवाद्यथाश्रुतद्वितीयाथैयुरोधाया तृतीयाथै
 सप्तमी व्यास्येया तेन पृथिव्यादिलोकांलोकबुद्ध्या हिंकारादिसामोपास्यं तत्तः
 सप्तमी पूर्वपक्षे द्वितीयाथै सिद्धान्ते तृतीयाथैत्युभयथा भजनीया पूर्वपक्षे
 तु सामगतद्वितीयामङ्गोऽधिक इत्यर्थः । पृथिव्याद्यात्मना हिंकारादेरुपास्यत्वो-
 पदेशेन गायत्रस्यापि प्राणात्मनोपास्यत्वमुक्तमित्यतिदिशति । एतेनेति । यत्र
 द्वितीयासप्तम्यौ तत्रास्तु श्रुतिद्वयमङ्गगौरवपरिहारार्थमङ्गेष्वनङ्गधीः । यत्र तूभ-
 यत्र द्वितीया तत्रान्यतरश्रुतिमात्रमङ्गस्य पूर्वपक्षसिद्धान्तयोस्तु न्यत्वात्कथं

[अ. ४ पा. १ सू. ७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०५५

२ । ११ । १] इत्यादि व्याख्यातम् । यत्रापि तुल्यो द्विती-
यानिर्देशः “ अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत ”
[छा २ । ९ । १] इति तत्रापि समस्तस्य खलु साम्न उपा-
सनं साधु । “ इति तु पञ्चविधस्य ” [छा० २ । ७ । २] “ अथ
सप्तविधस्य ” [छा० २ । ८ । १] इति च साम्न एवोपास्य-
त्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवाऽऽदित्योद्यध्यासः । एतस्मादेव च साम्न
उपास्यत्वावगमात् “ पृथिवी हिंकारः ” [छा० २ । १ । १]
इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः ।
तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीयादिषु क्षिप्येरन्निति
सिद्धम् ॥ ६ ॥ (५)

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

कर्माङ्गसंबद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नाऽऽसनादिचिन्ता

नियमसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । यत्रापीति । छान्दोग्ये हि समस्तस्य सप्त-
विधस्य पञ्चविधस्य च साम्नो ध्यानं साधुगुणकमित्युपक्रम्य लोकेषु पञ्चविधं
सामोपासीतेति पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीय आदित्यः प्रति-
हारो द्यौर्निधनमित्यादिना पञ्चविधस्य साम्नो ध्यानमुक्तत्वेति तु पञ्चविधस्येत्युपसंह-
त्याथ तु सप्तविधस्येत्युपक्रम्य वाचि सप्तविधं सामोपासीतेत्यादिना सप्तविधस्याप्यु-
पासनमुक्तमेवं च समस्तस्य साम्न उपासनं साध्विति साम्न एवोपास्यत्वश्रुतेरिति तु
पञ्चविधस्य साम्न उपासनं साध्विति पञ्चविधस्यापि तस्योपास्यत्वश्रुतेः साम्न्येवाऽऽ-
दित्योद्यध्यासः स्थित्यतीत्यर्थः । यत्तु पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रथमश्रुते चरमश्रुतमध्यस्यव
इति तत्राऽऽह । एतस्मादिति । हिंकारोद्देशेन पृथिवीत्वविधाने हिंकारः पृथिवीति
निर्देशो युक्तस्तस्य वैपरीत्येऽपि साम्नोऽविकाराद्वच्यत्वावगमादङ्गेषु हिंकारादिष्वेवा-
नङ्गपृथिव्यादिदृष्टिः कार्येत्यर्थः । प्रथमश्रुत्यनुसारचरमश्रुतं नेयमिति न्यायोऽपि द्विती-
याश्रुत्या बाध्यो दुर्बलत्वादिति मत्वोपसंहरति । तस्मादिति ॥ ६ ॥ (५)

अङ्गाश्रितोपासनेष्वासीनकर्मतानियमाभाववादितरोपासनास्वपि तन्नियमाभावमाश-
ङ्क्याऽऽह । आसीन इति । विषयं परिशिनष्टि । कर्मेति । आदिपदेन स्थितिश-
यने गृह्येते । सम्यग्दर्शनशब्देन श्रवणाद्यभ्यासवासितमनःसहकृतवाक्यकृतसाक्षा-
त्कारो निरुच्यते । अङ्गोपासनेभ्यः सम्यग्दर्शनाच्चातिरिक्तान्युपासनानि विषयीक-

१ क. ट. 'ति सा' । २ क. ड. अ. 'त्याध्या' । ३ क. 'दित्यु पृ' । ४ क. अ. 'बन्धिषु ।
ट. 'बन्धिषु । ५ अ. 'ति पञ्चविधस्यापि । ६ ठ ड. 'त्याध्या' । ७ ख. 'नुवारा' ।

नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतत्त्वाद्भिज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किम-
नियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तन्तेति नियमेनाऽऽसीन
एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीर-
स्थितेरिति । एवं प्राप्ते ब्रवीति । आसीन एवोपासीतेति । कुतः ।
संभवात् । उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं न च तद्रूढतो
धावतो वा संभवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात् । तिष्ठतोऽपि
देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति । शया-
नेस्याप्यकस्मादेव निद्रयाऽभिभूयते । आसीनस्य त्वेवंजातीयको
भूयान्दोषः सुपरिहर इति संभवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अपि च ध्यायत्यर्थ एष र्तस्मानप्रत्ययप्रवाहकरणम् ।
ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गक्षेत्रेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचि-
त्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते. ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति ।

त्यानेकधानुष्ठानदृष्टेः संशयमाह । इतरेष्विति । शास्त्रियेषु प्रस्तुतोपासनेष्वनुष्ठा-
नविशेषचिन्तया पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे कर्माङ्गानां श्रितोपासनेषु दैहिकनियमासिद्धिः ।
सिद्धान्ते ध्यानस्य मनोव्यापारत्वेऽपि देहानवस्थाने मनोनवस्थानात्तेषु तन्नियमसिद्धि-
रिति मत्वा पूर्वपक्षयति । तत्रेति । मनोदेहयोर्भिन्नत्वान्मनोव्यापारमूपासनं प्रति देह-
व्यापारस्यानुपकारित्वादासीनेन तिष्ठता वा यथाकथंचिदनुष्ठेयानि प्रकृतान्युपासनानी-
त्यर्थः । अनङ्गाश्रितोपासनानां यथाकथंचिदनुष्ठानमिति पक्षमनूय सिद्धान्तयति ।
एवमिति । अत्रपूर्वकं नियामकमाह । कुत इति । संभवं वक्तुमुपासनशब्दार्थमाह ।
उपासनमिति । तथाऽपि कथं तदासीनस्यैवेति नियम्यते तत्राऽऽह । न चेति ।
तर्हि तिष्ठतो भविष्यति विक्षेपाभावात्तत्राऽऽह । तिष्ठतोऽपीति । तर्हि शयानस्य
देहधारणव्यापाराभावादुपासनं स्यान्नेत्याह । शयानस्येति । देहेऽनवस्थिते मनो-
नवस्थितेरध्यक्षत्वादासीनस्यैवोपासनमनुष्ठेयमिति परिकोषसिद्धमर्थमाह । आसीनस्य
त्विति ॥ ७ ॥

इतश्चोपासनमासीनकमेत्याह । 'ध्यानाच्चेति । सूत्रं विवृणोति । अपि चेति ।
उपास्तिध्यायत्योरेकार्थत्वेऽपि प्रकृते किं जातं तदाह । ध्यायतिश्चेति । अथ

१ क. ड. ज. अ. ट. 'त्वाङ्गान' । २ घ. 'वा व' । ३ क. ड. ज. अ. 'कारत्क' । ४ ट.
'रणाव्या' । ५ क. म. 'नश्वाप्य' । ६ घ. 'भूयेन । आ' । ७ घ. 'रिहार' । ८ क. घ. 'अतिषूपा' ।
९ घ. 'पु वैदिक' । १० क. 'रणाव्या' ।

[अ. ४ पा. १ सू. ९११] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०९७

आसीनश्चानायासो भवति । तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अपि च “ध्यायतीव पृथिवी” [छा० ७ । ६ । १] इत्यत्र
• पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति तच्च लिङ्गमु-
पासनस्याऽऽसीनकर्मत्वे ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥ (६)

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनाऽऽसनम्—

“ श्रुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ”

[भ० गी० ६ । ११] इत्यादिना । अत एव पत्रकादी-
नामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥ (६)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ (७)

दिग्देशकालेषु संशयः किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति ।
प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चि-

ध्यायतिर्यस्यां प्रयुज्यते साऽवस्था • तिष्ठतोऽपि संभवति नेत्याह । आसीनश्चेति ।
लौकिकं लिङ्गमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ८ ॥

तत्रैव वैदिकं लिङ्गमाह । अचलत्वं चेति । सूत्रं विभजते । अपि चेति ॥ ९ ॥

आसनविधानानुपपत्त्याऽप्युपासनस्याऽऽसीनकर्मत्वेत्याह । स्मरन्तीति । बाह्या-
सनविषयत्वेन सूत्रं योजयति । स्मरन्त्यपीति । शारीरासनविधानविषयत्वेनापि
तदेव योजयति । अत इति । उपासनस्याऽऽसीनकर्मत्वादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥ (६)

• अनङ्गाश्रितोपासनेष्वासननियमवदिगादिनियमोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह ।
यत्रेति । अनङ्गाश्रितोपासनानि विषयस्तेषु दिगादिनियमोऽस्त्युक्तं नेति विहितेषु
• द्विषादृष्ट्या संशयमाह । दांगति । अङ्गोपास्त्यतिरिक्तोपास्तिषु शालीयास्वेव दिगा-
दिनियमं विनाऽनुष्ठानक्रमचिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दिगादिनियमादेशेषु चित्तै-
काग्र्यमन्त्रेणानुष्ठानम् । सिद्धान्ते दिगादिष्वस्थित्वावेऽपि प्रधानानुगुण्यैदनुष्ठानमित्य-
ङ्गीकृत्यानङ्गोपासनानि नियतदिग्देशकालानि चोदनालक्षणत्वाद्द्वैश्वदेववदित्याशयेन पूर्व-
पक्षयति । प्रायेणेति । प्रदोषादिकाले प्राच्यादीदिशि वीर्यादिदेशे प्रकृतोपासनानुष्ठा-

१ क. अ. 'नस्याना' । २ क. अ. 'दर्यादासी' । ३ क. क. अ. 'व च प' । ४ क. 'स्ति वा ।
प्रा' । ५ अ. 'दिकालि' । ६ अ. 'ति । संश' । ७ क. क. 'प्यानु' ।

त्रियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः । यत्रैवास्व दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात् । एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात् । ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—

“समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-

विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने

गुहानिवासाश्रयणे प्रयोजयेत्”

[श्वेता० २ । १०] इति यथेति । उच्यते सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः सति त्वेतिस्मिस्तद्वत्तेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भवाऽऽचार्य आचष्टे । “ मनोनुकूले ” इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेवं दर्शयति ॥ ११ ॥ (७)

नमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति । तमिति । चोदनादिवशेनोक्तोपासनेषु न देशादनियमः किंतूपास्ये चित्तैकाग्र्यलक्षणार्थाक्षिप्त एव तन्नियम इत्युक्तं विवृणोति । यत्रेति । यत्तु चोदनालक्षणत्वादित्यनुमानं तत्र श्रुतदेशादिमत्त्वमुपाधिरिति वदन्नविशेषादिति व्याचष्टे । प्राचीनेति । प्राचीनप्रवणे प्राग्देशनिम्ने देशे वैश्वदेवेन यागविशेषेण यजेतेत्यादिवदत्र विशेषो न श्रूयते । ऐकाग्र्यं हि ध्यानं प्रत्यन्तरङ्गं तैस्मिन्मध्याह्नादावपि संभवति प्रदोषाद्यपेक्षायां शेषिवाधानियम इत्यर्थः । ध्यानान्तरङ्गमैकाग्र्यमपि नियतदिगाद्यपेक्षमित्याशङ्क्य हेतोरर्थान्तरमाह । एकाग्रताया इति । विशेषाश्रवणमसिद्धमिति शङ्कते । नान्वति । शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः । जलाशयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम् । चक्षुपीडनो मशकः । यथा श्रुतिसिद्धो विशेषस्तथाऽन्योऽपि कालादिविशेषो ध्याने स्यादित्यर्थः । वाचनिके नियमे सत्येव दिगादनियमनिरसनमित्याह । उच्यते इति । तद्वत्तेष्विति । तच्छब्देन श्रौतो विशिष्टो देशो गृह्यते तस्मिन्गता विशेषास्तु प्राचीनप्रवणादयस्तन्नियमे कदाचिदेकाग्रतायोगेनोपासनायोगात्प्रधानविरोधात्तदनियमः श्रयानित्यर्थः । नियमादनियमो युक्तः शोष्यानुगुण्यादित्यत्र सूत्रकारसंमतिमाह । इति सुहृदिति । उक्ताऽपि हि श्रुतिरस्माकमनुकूलैवेत्याह । मन इति ॥ ११ ॥ (७)

१ ज. “ति । उ” । २ ड. अ. “ति स” । ३ ट. “ति चेत” । ४ ट. “ति । एकाग्रताधिकरणम् । आ” । ५ उ. ड. तत्तस्मि” ।

[अ. ४ पा. १ सू. १२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०५९

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ (८)

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्थव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे । तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्य-
पर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम् । न हि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किञ्चिच्छासितुं शक्यम् । अनियो-
ज्यब्रह्मात्मैवप्रैतिपत्तौः शास्त्रस्याविषयत्वात् । यानि पुनरभ्युद-
यफलानि तेष्वेषा चिन्ता किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्यो-
परमेदुत यावज्जीविमावर्तयेदिति । किं तावत्प्राप्तम् । कियन्तंचि-
त्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य
कृतत्वादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । आप्रायणादेवाऽऽवर्तयेत्प्रत्य-
यम् । अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः । कर्माण्यपि हि जन्मा-
न्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि सदनुद्धपं भावनाविज्ञानं
प्रायणकाल आक्षिपन्ति “ सविज्ञानो भवति सविज्ञा-

देशाद्यविधानात्तदपेक्षावदङ्ग्रहोपास्तिष्वादेहपातादावृत्तेरविधानात्तदनपेक्षेत्याश-
ङ्क्याऽऽह । आप्रायणादिति । व्यवहितेन संबन्धार्थं वृत्तं कीर्तयति । आवृत्तिरिति ।
संप्रति संबन्धं वदन्निषयं विवेचयति । तत्रेति १० सम्यग्ज्ञाने जातेऽपि मुक्त्यर्थमा-
वृत्तिरामरणात्कार्येत्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । नियोज्यस्याधिकारिणोऽभावान्मुक्तेश्च
सम्यग्धीनान्तरीयकत्वादावृत्तिरनर्थिकेत्यर्थः । उक्तहेत्वभावाद्गुणान्मयोपयथादृष्टेरहं-
ग्रहोपास्तिषु संशयमाह । यानीति । शास्त्रीयाङ्ग्रहोपासनेषु स्वतन्त्रफलहेतुषु याव-
ज्जीवमनुष्ठानमिति चिन्तनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे सर्वोपासनेष्वावृत्तेरविशेषः । सिद्धान्ते
प्रकृतेषु विशेषे इत्युपेत्य विमृश्य पूर्वपक्षयति । किं तावदिति । सर्वोपासनेष्वा-
वृत्तौ विशेषो नेति प्राप्ते प्रकृष्टोपासनेष्वाभ्यासादावृत्तिः कार्येति सिद्धान्तमाह । एव-
मिति । उपास्यापरीक्ष्ये दृष्टफले सिद्धे तद्वारा दृष्टफलस्यापि सिद्धेऽवघातादिवदामर-
णादनुष्ठानमित्याह । अन्त्येति । अन्त्यप्रत्ययातिरेकेणैवोपासनानां फलप्राप्तियोगात्त-
त्तदर्थेनाऽऽवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । कर्माणीति । किमत्र प्रमाणं तदाह । सविज्ञा-
न इति । विज्ञानेन भोक्तव्यफलविषयभावनामयेन सहितो म्रियमाणो भोक्ता सविज्ञानः ।
सविज्ञानं विज्ञानेन सहितं फलम् । यस्मिन्विषये चित्तमस्य स यच्चित्तस्तेन विषयेण
दृढभिव्यक्तेन सह तेज उदानस्तेजोदेववाक्त्वादात्मा भोक्ता । म्रियमाणस्य भोक्तृज्ञान-

१ क. 'सन्तोष' । २ ड. अ. 'प्रतीतिः शां' । ३ घ. 'तेनो' । ४ ख. 'क्ता सविज्ञानः । मि'

नमेवान्ववक्रामति ” “ यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति ”
 “ प्राणस्तेजसा युक्तः सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं
 नयति ” इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । तृणजल्लोकानिदर्शनाच्च ।
 प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यप्रायणकालभावि
 भावनाविज्ञानमपेक्षेरन् । तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः
 प्रत्ययास्तेष्वेवाप्रायणादावृत्तिः । तथा च श्रुतिः “ स यावत्क्र-
 तुरेयमस्माल्लोकात्प्रैति ” इति प्रयाणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं
 दर्शयति । स्मृतिरपि—

“ यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ”

[भ० गी० ८ । ६] इति “प्रयाणकाले मनसाऽचलेन” [भ०
 गी० ८ । १०] इति च । “सोऽन्तवेलायामेतन्नयं प्रतिपद्येत ”
 इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति ॥ १२ ॥ (८)

वच्चे दृष्टान्तश्रुतिरपि प्रमाणमित्याह । तृणेति । यत्राप्ययात्मकानामपि कर्मणाम-
 न्त्यप्रत्ययाक्षेपेण फलजनकत्वं तत्र प्रत्ययात्मकानामुपासनानां किं वक्तव्यमित्यर्थः ।
 तर्हि कर्मवदृष्टद्वाराऽन्त्यप्रत्ययापेक्षोपासनानां स्यान्नेत्याह । प्रत्ययास्त्विति । तेषां
 धारावाहिकतया दृष्टद्वारेणाऽऽक्षेपकत्वसंभवे नादृष्टकल्पनेति भावः । सर्वभावानां स्वावा-
 न्तरजातीयनिरपेक्षतया भावनात्मकोपासनानां न भावनान्तरोपेक्षकत्वं स्वरूपसंनिधाने-
 नैवे चादृष्टफलोपयोगितेति मत्वोपसंहरति । तस्मादिति । तत्रापि दृष्टमित्येतद्व्या-
 चष्टे । तथाचेति । उपासकः सर्वनामार्थः । क्रतुः संकल्पविशेषः । अस्माल्लोकादभि-
 मानतो गृहीतादेहादिति यावत् । स्मार्तदर्शनमाश्रित्यापि सूत्रावयवं योजयति ।
 स्मृतिरिति । तत्रैव श्रौतदर्शनान्तरमाह । सोऽन्तेति । पूर्ववदुपासकः सर्वनाम्नोक्तः ।
 अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणैः संशंसितमसीति मन्त्रत्रयं स्मरेदित्यनुष्ठेयं मरणकालेऽपि
 दर्शयन्ती श्रुतिर्विज्ञानावृत्तिं सूचयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ (८)

१ क. 'जलायुका' । २ अ. 'जलायुका' । ३ क. ड. ज. अ. 'पावृ' । ४ अ. 'न्यत्प्रयाण' ।
 ५ अ. 'काले भाव' । ६ ट. 'ध्वाप्रयाणा' । ७ ड. अ. 'रस्मा' । ८ क. 'पि च प्र' । ९ क. 'ति
 सोऽ' । १० ड. अ. 'लादां क' । ११ ट. 'ति' । आप्रयाणाधिकरणम् । तं । १२ क. ख. ठ. ड.
 'क्षत्वाद्भाव' । १३ क. ठ. ड. 'राक्षेपक' । १४ क. ख. 'व वाह' । १५ क. ख. ठ. ड. 'णशं' ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष-

विनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ (९)

गतस्तृतीयशेषः । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रेतायते । ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते नै क्षीयते वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् । फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरैणैव फलोपभोगमपवृज्येत श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च “ न हि कर्म क्षीयते ” इति । नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति । नैष दोषः । प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्यदहोरात्र्यादिवत् ।

यथोपास्तार्त्तकाले कर्तव्यमस्ति न तथा ब्रह्मविद्यायां कर्तव्यं किञ्चिदस्यस्ति तदुत्पत्तिमात्रेणाशेषपापक्षयादित्याह । तदधिगम इति । साधनानुष्ठाने यत्नावि-
क्यार्थं फलाध्यायेऽपि साधनसंबन्धमनुष्ठानक्रमं विचार्य फलाध्यायस्थां फलचिन्ता-
मेवावतारयति । गत इति । दुरितमधिकृत्य तस्य फलावसानत्वप्रतीतिर्ज्ञानात्क्षयप्र-
तीतिश्च संशयमाह । ब्रह्मेति । तद्विपरीतफलं बन्धनसाधनमित्यर्थः । अत्र साक्षादेव
श्रौतब्रह्मात्मधियो दुरितक्षयफलोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे दुरितफलभोगम-
पेक्ष्य ब्रह्मधियो मोक्षहेतुत्वम् । सिद्धान्ते स्वोत्पत्तिनान्तरीयकत्वेन तस्यास्तद्धेतुत्व-
मित्युपेत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षयति । किं तावदिति । फलनाशयत्वाददृष्टस्य फलदानं
विना नाशो नास्त्येत्यर्थः । फलार्थत्वं कथमस्य सिद्धं तत्राऽऽह । फलेति । “ ब्राह्मणो
न हन्तव्यः ” “ न कलञ्जं भक्षयेत् ” इत्यादिनिषेधानुपपत्त्या दुरितस्यानिष्टफलत्वं
सिद्धमित्यर्थः । उक्तमेव स्फोरयति । यदीति । तदित्यनिष्टकर्मोक्तिः ।

“ नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोपेक्षितैरपि ”

इति स्मृतेरपि फलभोगं विना न नाशो दुरितस्येत्याह । स्मरन्तीति ।
भोगाद्वै कर्म न क्षीयते चेत्प्रायश्चित्तविध्यानर्थक्यमिति शङ्कते । नन्वात । तद्विधीनां
दोषनिर्हरणार्थत्वाभावाच्चैवमित्याह । नेति । यथा यस्याऽऽहिताग्नेरग्निगृहान्दहेदिति
प्राप्ते गृहदाहवत्याहिताग्नावधिकारिणि “ अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् ”
इति क्षामवतीष्टिर्विधीयते तथा पापसंबन्धिनि नरे प्राप्ते “ ब्रह्महा द्वादशवार्षिकं चरेत् ”

१ अ. प्रजाप. । ट. प्रतीय. । २ ड. अ. न वा क्षीयते इति । ३ ड. अ. गमुपमृयेत ।
४ झ. वृज्येत । ५ ड. अ. कर्माणि । ६ ड. अ. क्षीयन्ते । ७ ट. श्रुतिनां । ८ क. छ. ठ. ड.
वन्त्यहा । ९ ख. ठ. ड. बन्धनम् । १० ख. न्यसा । ठ. ड. न्यनावसानम् ।

अपि च प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणा-
 र्थता न त्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति । नन्वनभ्युपगम्यमाने
 ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यभोक्तव्यत्वादनिमोक्षः स्यात् ।
 नेत्युच्यते । देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवति ।
 तस्मान्न ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः ।
 तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरेषयोरश्लेषविनाशो भवतः ।
 उत्तरस्याऽश्लेषः पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् । तद्व्यपदेशात् ।
 तथा हि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्याऽऽगामिनो
 दुरितस्यानभिसंबन्धं विंदुषो व्यपदिशति “ यथा पुष्करप-
 लाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ”
 [छा० ४ । १४ । ३] इति । तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य
 दुरितस्य व्यपदिशति “ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयतेव
 हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ” [छा० ५ । २४ । ३] इति ।
 अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—

इत्यादिप्रायश्चित्तानि विधीयन्ते । तस्माद्ब्रह्महेत्यादिविशेषणमविकारिव्यावृत्तिपरं न फल-
 परमित्यर्थः । गृहदाहेष्ट्यादिवदित्यत्राऽऽदिपदेन भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्यादिनै-
 मित्तिकग्रहणं युक्तम् । गृहदाहोर्निष्पन्नत्वेन निष्पादयितुमशक्यत्वादधिकारिव्यावृत्त्य-
 र्थत्वं दुरितनिवृत्तेस्तु कर्तुं योग्यत्वादिष्टसाधनत्वबोधी प्रायश्चित्तविधिस्त्वत्फलः स्यादि-
 त्याशङ्क्य प्रायश्चित्तानां दोषनिवृत्तिफलत्वमुपेत्य प्रकृते वैषम्यमाह । अपि चेति ।
 मोक्षशास्त्रप्रामाण्यानुपपत्त्या विद्यया दुरितनिवृत्तिरेष्टव्येति शङ्कते । नन्विति ।
 दुरितफलभोगानन्तरं शास्त्रप्रामाण्यादेव मोक्षसिद्धेर्न तच्छास्त्रविरोधोऽस्तीत्याह ।
 नेतीति । ब्रह्मज्ञानस्य प्रायश्चित्तेभ्यो वैषम्यं दुरितानिवर्तकत्वेऽपि मोक्षशास्त्रविरोधे
 च फलितमाह । तस्मान्नेति । न ब्रह्मविद्या दुरितनिवर्तकहेतुरिति प्राप्तमनूय सिद्धा-
 न्तसूत्रमवतार्य प्रतिज्ञां व्याकरोति । एवमिति । विभागहेतुं प्रश्नपूर्वकमादत्ते ।
 कस्मादिति । उत्तराश्लेषविषयत्वेन हेतुं व्याचष्टे । तथा हीति । निषिद्धानाचरणा-
 द्यर्थं दुरिताश्लेषवचनमिति शङ्कानिरासार्थं विशिनष्टि । संभाव्यमानेति । पूर्वस्य
 कर्मणो नाशोऽपि हेतुं योजयति । तथेति । सगुणविद्यायामश्लेषविनाशवचन-
 मुदाहृत्य निर्गुणविद्यायामुदाहरति । अयमिति । कर्माश्लेषस्यापि तत्क्षयवचनमुपल-

१ क. ‘प्रसङ्गेन’ । २ क. ड. ज. घ. ‘द्याया वि’ । ३ ज. घ. ट. ‘वश्यं भो’ । ४ ड. म.
 ब्रह्मविद्याधि’ । ५ ड. म. ‘पूर्वाध’ । ६ ट. ‘रप्य’ । ७ ठ. ड. ‘दाहे निष्प’ । ८ क. ख. ड.
 ‘फलं स्या’ । ९ म. ट. ‘शास्त्रे’ ।

[अ. ४ पा. १ सू. १३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०६३

“ भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्ष्टे परावरे ”

[मुण्ड० २ । २ । ८] इति । यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कर्तव्यं स्यादिति । नैष दोषः । न हि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे विद्यत एव सा सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः । शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्यते न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि । न हि कर्म क्षीयत इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं न भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति । इष्यते एवं तु प्रायश्चित्तादिना तस्य क्षयः “ सर्वं पाप्मानं तरति ” “ तरति ब्रह्महत्याम् ” “ योऽश्वमेधेन यजते ” “ य उन्वैनमेवं वेद ” इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । यत्तुक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति । तदसत् । दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरक-

क्षणम् । एवं सिद्धान्तमुपपाद्य परोक्तमनुवदति । यदुक्तमिति । ज्ञानात्कर्मदाहादिपक्षे शास्त्रविरोधं प्रत्याह । नेत्यादिना । कर्मणो नास्ति फलदाने शक्तिरिति साधने वा शास्त्रविरोधः सत्यामेव तस्या भोगं विना तन्निवृत्तिसाधने वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति । न हीति । द्वितीयं प्रत्याह । सा त्विति । कथं तर्हि शास्त्रविरोधसमाधिस्तत्राऽऽह । शक्तीति । यत्तु “ नाभुक्तं क्षीयते कर्म ” इत्यादिस्मृतेर्न भोगादृते कर्मक्षयोऽस्तीति तत्राऽऽह । न हीति । अपवादस्तार्हि केनोत्सर्गस्य स्यादिति तत्राऽऽह । इष्यत इति । आदिशब्देन पूर्वत्र प्रायश्चित्तवदत्र विद्योच्यते ।

• • “ ज्ञानिनः सर्वपापानि शीर्यन्ते नात्र संशयः ।

क्रीडन्नपि न लिप्येत पापैर्नानाविधैरपि ”

इत्याद्याः स्मृतयः । प्रायश्चित्तानां न पापक्षयहेतुत्वं ग्रहदाहेष्ट्यादिवन्नैमित्तिकत्वेन फलान्तरयोगादित्युक्तमनुवदति । यत्त्विति । यथा मलिनः स्नायादित्युक्ते स्नानफलं मलनिवृत्तिर्गम्यते तथा ब्रह्महा द्वादशवार्षिकं व्रतं चरेदित्युक्ते ब्रह्महत्यानिवृत्तिर्व्रतफलं प्रतीयते तेन दृष्टत्यागेनादृष्टकल्पना न युक्त्याह । तदसदिति । प्रायश्चित्तानां पापनिवृत्तिफलत्वेऽपि विद्याया न तथात्वं तद्वन्ननिवृत्त्युद्देशेन तस्या विध्यभावादित्युक्तमनुवदति ।

१ क. ड. अ. शास्त्रकं । २ क. ‘दर्थना स्या’ । ड. अ. ‘दर्थनं स्या’ । ३ क. अ. न हि भो । ४ क. अ. ‘व प्रा’ । ५ क. अ. कुरितस्य । ६ ड. ज. अ. ‘निहनुतिफ’ । ७ ठ. ड. ‘कं च’ । ८ छ. ठ. ड. ‘त्यादिनि’ ।

ल्पनानुपपत्तेः । यत्पुनरेतदुक्तं न प्रापश्चित्तवदोषक्षयोद्देशेन विद्या-
विधानमस्तीति । अत्र ब्रूमः । सगुणामु तावद्विद्यामु विद्यत एव
विधानम् । तामु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत
उच्यते तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्य-
प्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते । निर्गुणायां तु विद्यायां
यद्यपि विधानं नास्ति तथाऽप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मभेदाहसिद्धिः ।
अश्लेष इति चाऽऽगामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्म-
विदिति दर्शयति । अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं
प्रतिपेद इव तथाऽपि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि
प्रेविलीयन्त इत्याह विनाश इति । पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविप-
रीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि
नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाऽहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल
इति ब्रह्मविदवगच्छति । एवमेव च मोक्ष उपपद्यते । अन्यथा

यदिति । दोषक्षयोद्देशेन सगुणविद्यामु वा विध्यभावो निर्गुणविद्यायां वेति विकल्पयति ।
अत्रेति । प्रथमं प्राह । सगुणास्त्विति । तासमैश्वर्यफलत्वान्न पापक्षयोद्देशेन विवि-
त्याशङ्क्याऽऽह । तास्त्विति । विधित्सितविद्यास्तुतिरेव पाप्मादिनिवृत्तिश्रुतिरित्याश-
ङ्क्याऽऽह । तयोश्चेति । उभयसंयोगित्वेन विद्याविविधसंभवादित्यर्थः । पाप्मदाहादि-
श्रुतेः स्तुत्यर्थत्वाभावे फलितमाह । अत इति । द्वितीये विध्यभावेमुपेत्य विद्यास्वभा-
वादेव पापक्षयफलत्वमाह । निर्गुणायां त्विति । विमतमात्मन्यशेषदुरितनिवर्तकं
दुरितकर्तृत्वादिबाधकत्वात्त्वप्रदुरितकर्तृत्वादिबाधकतया तत्कालीनदुरितबाधकज्ञान-
द्वोषवदिति भावः । सर्वत्रापि दुरितनिवर्तकस्य तुल्यत्वादाहाश्लेषविभागोक्तिरयुक्तेत्या-
शङ्क्याश्लेषोक्तेर्गतिमाह । अश्लेष इति चेति । सर्वमपि व्यापारं कार्यकरणसंघाता-
श्रयं पश्यन्नविक्रियब्रह्मात्मदर्शी कर्तृत्वमेव स्वस्य न मन्यते । न च परकर्तृकेण पाप-
न लिप्यते स्वयमित्यर्थः । विद्योत्पत्तेरुर्ध्वं कर्तृत्वाभिमानाभावेऽपि प्राग्भावात्कथं कर्म-
निवृत्तिरित्याशङ्क्य दाहोक्तिमुपपादयति । अतिक्रान्तेष्विति । विद्याधीनं कर्मनाशं
विधीवदनुभवानुसारेण विवृणोति । पूर्वमिति । मोक्षशास्त्रानुपपत्त्याऽपि विद्याधीना
पापहानिरित्याह । एवमेवेति । योगप्रभावाद्युपपदनेकदेहनिर्माणेनापराधेण सर्वकर्म-
फलोपभोगे मुक्तिर्युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह । अन्यथेति । कर्मणां नियतकालविपाकत्वाद्यु-

१ क. ज. 'पूर्वकै' । २ क. 'भेदा' । ३ क. ट. 'हप्रसि' । ४ ट. 'पु य' । ५ ड. 'ज. प्रली' ।
६ क. ड. ज. अ. 'वेप्रसि' । ७ ड. अ. 'त्वस्वरूपवि' । ८ क. ड. ज. अ. ट. 'प्यति का' । ९ क. क.
ठ. ड. 'वमभ्युपे' । १० ख. 'यकार' । ११ ठ. ड. 'द्यानुभे' । १२ ख. 'त्याह' ।

[अ. ४ पा. १ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०६५

ज्ञानादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात् । न च देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति । अनित्यत्वप्रसङ्गात् । परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य । तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम् ॥ १३ ॥ (९)

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥ (१०)

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशो ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निर्दिष्टौ । धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोधः इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते । इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः । कुतः ।

गपदुपभोगायोगादुपभोगस्यापि कर्मान्तरसंचयमन्तरेणासंभवात्कल्पशतातिक्रमकालभोग्यानामधुना भोक्तुमयुक्तत्वादीर्घकालानां च परिमितकालभोगानुपपत्तेर्न विद्यातिरेकेण निःशेषकर्मनिवृत्तिरित्यर्थः । सत्त्वपि कर्मान्तरेषु मोक्षहेतुकर्मवशान्मोक्षमनुभूय कर्मान्तरफलानि पश्चाद्भोक्ष्यन्त इत्याशङ्क्याऽऽह । न चेति । दृष्टफलत्वाच्च विद्याया न तत्फलस्य कालान्तरापेक्षा येनोत्पन्नविद्योऽपि कर्मफलान्यनुभूय पश्चान्मुच्येतेत्याह । परोक्षेति । श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ १३ ॥ (९)

ज्ञानात्पापनिवृत्तिमुक्त्वा तस्मादेव पुण्यनिवृत्तिमतिदिशति । इतरस्यापीति । अधिकरणस्यापूर्वविषयतां वक्तुं वृत्तं कीर्तयति । पूर्वस्मिन्निति । पुण्यं कर्म विषयस्तत्किं ब्रह्माधिया न क्षीयते क्षीयते वेति पूर्ववत्कर्मणां फलान्तत्वप्रतीतिज्ञानाद्वाहप्रतीतिश्च संशये पादादिसंगतिरतिदेशे पृथङ् न वाच्येति मन्वानोऽधिकं शङ्कामाह । धर्मस्येति । न सुकृतज्ञाने बाध्यबाधकभूते चोदनालक्षणत्वादग्निहोत्रदर्शपूर्णमासवत् । न च क्षीयन्ते चेत्यादिविरोधस्तस्य सामान्योपाधौ प्रवृत्तस्य सर्वे पाप्मान इतिविशेषानुसारेण पापकर्मणि संकोचात्पुण्यपापे विधूयेति पुण्यं फलार्थभोगेन पापं ज्ञानेन विधूयेति नियमतो विद्यावतः सुकृताधीनः संसारः स्यादिति भावः । अधिकशङ्कामनूद्य सिद्धान्तयति । इत्याशङ्क्येति । अतिदेशसूत्रपदानि व्याकरोति । इतरस्यापीति । शास्त्रीयत्वेन तयोर्विरोधो नास्तीत्युक्तमिति शङ्कते । कुत इति । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासयोरविरुद्धफलत्वान्न निवर्त्यनिवर्तकभावो न शास्त्रीयत्वादित्यभिप्रेत्य हेतोरप्रयो-

१ ट. म् । ब्रह्माधिगमाधिकरणम् । इ* । २ झ. 'ण्यक' । ३ ट. 'दक्षे' । ४ झ. ट. पुण्यक* । ५ झ. 'धिकाश' । ६ झ. 'यते चे' । ७ क. फलभो । ८ 'पयोगे' । ९ क. 'धिकां श' ।

तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात् । “ उभे
उ हैवैष एते तरति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्यादिश्रुतिषु
च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणशब्दपदेशात् । अकर्त्रात्मैत्वबोध-
निमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् “ क्षीयन्ते-
चास्य कर्माणि ” [मुण्ड० २ । २ । ८] इति चाविशेषश्रुतेः ।
यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो पठ्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्या-
कलितमिति द्रष्टव्यम् । ज्ञानापेक्षया निकृष्टफलत्वात् । अस्ति च
श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः “ नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः ” [छा०
८ । ४ । १] इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो
निवर्तन्त इत्यविशेषणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात् । पाते
त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासा-
मर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्ति-
रित्यवधारयति ॥ १४ ॥ (१०)

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥ (११)

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधा-

जकत्वमाह । तस्यापीति । पापं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः । कालात्ययापदिष्टत्वाच्च
नानुमानमित्याह । उभे इति । विमतं तत्त्ववीनिवर्त्य तद्विरुद्धत्वाद्गुरितवदितिप्रत्यनु-
मानविरोधाच्चायुक्तमनुमानमित्याह । अकर्त्रात्मेति । सामान्यश्रुतिविरोधाच्चानुमाना-
सिद्धिरित्याह । क्षीयन्ते चेति । यत्तु सामान्यशास्त्रस्य सर्वे पाप्मान इतिविशेषश्रुत्या
पाप्मकर्माणि संकोचः स्यादिति तत्राऽऽह । यत्रेति । पाप्मशब्दस्य निकृष्टफलकर्म-
विषयत्वादुत्कृष्टफलं कर्म कथं तेन गृह्यते तत्राऽऽह । ज्ञानेति । वृद्धप्रयोगाभावे
कथमुपचारेणापि पाप्मशब्दः सुकृते स्यात्तत्राऽऽह । अस्तीति । तत्रापि पाप्मश-
ब्दस्य सुकृतविषयत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य प्रक्रममनुसृत्याऽऽह । सहेति । यत्तु
पुण्यपापे विधूयेत्यत्र पुण्यं फलभोगेन पापं विज्ञानेन विधूयेति विभजनं तत्राश्रुतकल्प-
नाहेत्वभावादिति मत्वा ज्ञानसामर्थ्यादशेषकर्मक्षये तदश्लेषे च फलितमर्थं सूत्रावयवम-
वतार्य व्याकुर्वन्नाह । पाते त्वितीति । एतेन फलमधिकरणयोरुक्तम् ॥ १४ ॥ (१०)

तत्त्वज्ञानेन सर्वकर्मणामौत्सर्गिको लयो व्याख्यातः । संप्रत्यारब्धकर्मविषये तदप-
वादं दर्शयति । अनारब्धेति । वृत्तं कीर्तयन्नधिकरणस्य विषयमाह । पूर्वयोरिति ।

१ ड. अ. 'पु दु' । २ ड. ज. अ. 'त्मयो' । ३ स. दृश्यते । ४ ड. ठ. ज्ञानफलापे । ५ ट.
तु । ६ ट. 'ति । अतिदेशाधिकरणम् । अ' । ७ स. ठ. ड. पापक' । ८ क. स. 'नुस्मृत्याऽऽ' ।

[अ. ४ पा. १ सू. १५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०६७

रितः स किमविशेषेणाऽऽरब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत
विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते । तत्र “ उभे उ हैवैष
एते तरति ” [बृ० ४ । ४ । २२] इत्येवमादिश्रुतिष्वविशे-
षश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति । एवं प्राप्ते प्रत्याहानारब्धकार्ये
एव त्विति । अमृत्तफले एवं पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नापि
च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमा-
त्क्षीयेते न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं
जन्म निर्मितम् । कुत एतत् “ तस्य तावदेव चिरं यावन्न
विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये ” [छा० ६ । १४ । २] इति शरीर-
पातावधिकरणान्तर्क्षेमप्राप्तेः । इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति
स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्रुवीत तत्र शरीरपा-
तप्रतीक्षा नाऽऽचक्षीत । ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रोत्मावबोधः
कर्माणि क्षययन्कथं कानिचित्क्षयपथेत्कानिचच्चोपेक्षेत । न हि

ज्ञानार्थिनं कर्मक्षयं विषयीकृत्य क्षीयन्ते चेत्यविशेषश्रुतेस्तस्य तावदेव चिरमिति श्रुतेश्च
संशयमाह । स किमिति । श्रीती ब्रह्मधीरप्रतिबद्धैव फलदेत्यभिधानात्पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे क्षेमप्राप्तेरवधिकरणासिद्धिः । सिद्धान्ते विदुषोऽपि पारम्पर्यकर्मणा कंचित्काल-
मवस्थानात्तत्सिद्धिरित्यङ्गीकृत्य पूर्वाधिकरणन्यायेन पूर्वपक्षयति । तत्रेति । सिद्धान्त-
सूत्रं भवत्यर्थं व्याकरोति । एवमिति । सौत्रावधारणार्थमाह । न त्विति । अर्धभुक्तफले
कर्मणा कार्यद्वारा विक्षिणष्टि । याभ्यामिति । विद्याशक्त्यनुगृहीताविशेषश्रुतेर्विद्वदे-
हारम्भकयोरपि कर्मणोर्नाशः स्यादित्याक्षिपति । कुत इति । श्रुत्योत्तरमाह । तस्येति ।
कथमेवावता कर्मशेषसिद्धिस्तत्राऽऽह । इतरथेति । ज्ञानसमकालमेव सर्वकर्मक्षया-
न्मोक्षे ज्ञानमेव क्षेमप्राप्तेरवधिरिति न देहपातं तदवधिमभिधीत । तथा च श्रुताववध्य-
न्तरकरणलिङ्गाज्ञानादूर्ध्वमपिशरीरमनुवर्तमानं कर्मशेषं गमयति तदभावे तदनुवृत्तेरनु-
पपत्तेरित्यर्थः । विद्याया दृष्टसामर्थ्येन कर्मक्षयहेतुत्वान्न शास्त्रेण तन्निराकरणं दृष्टवि-
रोधिनस्तस्य आवलम्बनश्रुतिवदप्रामाण्यादिति शङ्कते । नन्विति । दाहकसंनिध्यवि-
शेषे दाहव्यवस्थसिद्धिरित्यत्र दृष्टान्तमाह । न हीति । तस्य तावदेव चिरमिति
विदुषो देहपातावधिकरणलिङ्गम् । उहालकादीनां तत्त्वविदामेव देहधारणविषयैः श्रुति-
स्मृतिलिङ्गैस्तत्त्वविद्विरपि गुरुभिः शिष्याणां संबन्धान्यथानुपपत्त्या चानुगृहीतं मन्त्रा-

१ ड. प्राप्ते इत्या । २ क. 'व तु पू' । ३ ड. 'ब्रह्माज्ञा' । ४ क. ड. ज. न. ट. 'मोक्ष्ये'
१ । ५ क. 'त्रात्मत्वाव' । ड. अ. ट. 'त्रात्मबो' । ६ क. ल. 'धीनक' । ७ ट. ड. 'ये न दा' ।

समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः क्षीयते केषांचिन्न क्षीयत
इति शक्यमग्नीकर्तुमिति । उच्यते । न तावदनाश्रित्याऽऽर-
ब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरूपपद्यते । आश्रिते च तस्मिन्कु-
लालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्ष-
यप्रतिपालनम् । अकर्त्रात्मैर्बाधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन
कर्माण्युच्छिनत्ति । बाधितमपि^१ तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानव-
त्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव । अपि च नैयात्र
विवदितव्यं ब्रह्मविदा^२ कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा
ध्रियत इति^३ । कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं
चापरेण प्रतिक्षेप्तुं^४ शक्येत । श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनि-
र्देशेनैतदेव निरुच्यते । तस्मादनारब्धकार्ययोरेव मुकृतदुष्कृत-
योर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥ १५ ॥ (११)

दिप्रतिबद्धस्याग्नेरदाहकत्ववज्ज्ञानस्य सर्वकर्मक्षये शक्तस्याप्यारब्धकर्मनिवृत्तौ^५ प्रतिबन्धं
कल्पयतीत्याह । उच्यत इति । किंच ज्ञानार्थं कर्म स्वयमेव देहमारभ्य ज्ञानं
तस्मिन्करोति कर्मान्तरारब्धे^६ वेति विकल्प्याऽऽद्यं^७ दूषयति । नेति । न हि ज्ञाना-
र्थस्य कर्मणो देहारम्भकत्वं कल्प्यं गौरवात्तेन कर्मान्तरारब्धे देहे^८ ज्ञानोत्पत्तिरित्यर्थः ।
न द्वितीयस्तथा सति ज्ञानस्योपजीव्यकर्मबाधकत्वानुपपत्तेरित्याह । आश्रिते चेति ।
अकर्त्रात्मज्ञानं कर्मनिदानमज्ञानं निवर्तयत्युपादानाभावे च कथं कर्मानुवृत्तिस्तत्राऽऽह ।
अकर्त्रात्मेति । कर्माण्यर्पाति संबन्धः । सोपादानानि कर्माण्युच्छिन्नानि^९ चेत्कथमारब्ध-
कर्मानुवृत्तिस्तत्राऽऽह । बाधितमिति । स्मृतिहेतुत्वेऽपि^{१०} संस्कारस्याविद्यावच्चैतन्यदो-
षत्वादपरोक्षभ्रमहेतुवेत्यभिप्रेत्य संस्कारवशादित्युक्तम् । विप्रतिपन्नान्प्रति जीवन्मुक्तिं^{११}
मुक्त्वा शिष्यान्प्रत्याह । अपि चेति । जीवन्मुक्तिः सप्तम्यर्थः । विवादायोगे हेतु-
माह । कथं हीति । प्रमाणवत्त्वादपि जीवन्मुक्तिः स्वीकार्येत्याह । श्रुतीति । उक्तमुत्सर्गा-
पवादमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ १५ ॥ (११)

१ ज. 'आत्मावधो' । २ क. ड. अ. 'तत्त्वधो' । ३ ड. अ. 'पि मि' । ४ ड. अ. 'चन्द्र-
दिक्षा' । ५ क. ड. ज. घ. अ. 'विदः क्रं' । ६ ट. 'यः' । अनारब्धकार्याधिकरणम् । अं । ७ ट.
ड. 'सौ पाकवद्वैकल्पं प्र' । ८ ठ. ड. 'न्धं वा कं' । ९ घ. 'कर्मण्य' ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति । अग्निहोत्रादि त्विति । तुशब्द आशङ्कामपनुदति यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवोस्यापि कार्यमित्यर्थः । कुतः । “ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन ” [वृ० ४ । ४, । २२] इत्यादिदर्शनात् । ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः । नैष दोषः । ज्वरमरणकार्ययोरपि द्विविधविषयोर्गुह्यमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात् । तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकर्मणोपपत्तेः । नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते । नैष दोषः । आरादुपकारकत्वात्कर्मणः । ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रेणाढ्या मोक्षकारणमित्यु-

विद्याजन्यकर्मक्षयस्याऽऽरब्धकर्मस्वपवादमुक्त्वाऽनारब्धकर्मस्वपि केषुचित्तदपवादं दर्शयति । अग्निहोत्रादीति । वृत्तसंकीर्तनपूर्वकमाधिकरणस्य तात्पर्यमाह । पुण्यस्येति । अग्निहोत्रादिनित्यैर्मित्तिककर्माणि विषयस्तेषामितरवज्ज्ञानेनाश्लेषविनाशौ स्यातां न वेति साधारणश्रुतेर्विविदिषाश्रुतेश्च संशये मुकुबशब्दस्य सर्वपुण्याविषयत्वादग्निहोत्रादीनामपि पुण्यान्तरवद्विनाशयत्वात्पङ्कक्षालनन्यायोपादादरुक्षुणाऽपि तानि नानुष्ठेयानीति प्रापय्य सिद्धान्तयति । इत्याशङ्क्येति । अत्र च ब्रह्मविद्यासामर्थ्याज्जित्यनैमित्तिकनिवृत्तिस्तेषां तदुत्पत्त्यर्थत्वादित्यापवादिकी पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे लौकिकन्यायादारुरुक्षोरपि नित्याद्यननुष्ठानम् । सिद्धान्ते तदनवतारात्पूर्वं ज्ञानोत्पत्तेस्तदनुष्ठानमौघ्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रं व्याचष्टे । तुशब्द इति । धोनाशयानामपि कर्मणामनुष्ठानस्य विद्योत्पत्त्यर्थत्वं पङ्कप्रक्षालनन्यायानवकाशात्पूर्वं ज्ञानादनुष्ठेयान्यग्निहोत्रादीनीति सिद्धान्तमविज्ञां विवृणोति । यदिति । अग्निहोत्राद्यनुष्ठानस्य विद्योत्पत्त्यर्थत्वे प्रमाणं पृच्छति । कुत इति । तत्र विविदिषावाक्यं प्रमाणयति । तमेतमिति । कर्मणां विद्योत्पत्त्यर्थत्वेऽपि न तथैककार्यत्वेति शङ्कते । नन्वाति । परमत्वेन परिहरति । नेत्यादिना । स्वमतं दर्शयितुं शङ्कयति । नन्वाति । स्वमतेन समाधत्ते । नेत्यादिना । आरादुपकारकत्वं स्फोरयति । ज्ञानस्येति । किंविषयमिदं कार्यैकत्वव-

१ ज. झ. 'न्यायो निर्दिष्टः । २ ड. झ. 'वास्य का' । ३ क. 'यैप्रापकत्वा' । ४ क. ड. झ. 'कार्यत्वेनोपपत्तेः । ५ झ. ट. प्रनाढ्या । ६ ट. ड. 'यादा' । ७ झ. 'त्र त्रं' । ८ क. ख. 'नत्वं वि' । ९ ट. ड. 'र्थत्वम्' ।

पचर्यते । अत एव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम् । न हि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति । अनियोज्यब्रह्मात्मत्व-प्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । सगुणामु तु विद्यासु कर्तृत्वा-नतिवृत्तेः संभवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि । तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः ॥ १६ ॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽदो विनि-योगवचनमेकेषां शास्त्रिणाम् “ तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यो द्विषन्तः पापकृत्याम् ” इति । अत उत्तरं पठति—

अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ (१२)

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्याऽपि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शास्त्रि-णाम् “सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति” इति । तस्या एव चेदमघवद-श्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति । तथाजातीय-कस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभ-योरपि जैमिनिवादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥ (१२)

चनं वदाह । अत इति । यतो विद्याकाले परस्ताद्वा कर्म नास्ति प्रागेव वदस्ति-त्वमत एवेति यावत् । धीकाले परस्ताद्वा कर्मासत्त्वं स्फुटयति । न हीति । निर्गुण-विद्याविषयत्वं सूत्रस्योपेत्य लाङ्गलभोजनयोर्जीवने हेतुतावद्धीकर्मणोः साक्षात्पारंप-र्याभ्यां मोक्षहेतुत्वमुक्तम् । संप्रति सगुणविद्याविषयत्वे सूत्रस्य सामञ्जस्यमभिप्रेत्याऽऽह । सगुणास्त्विति । तथाऽपि तस्य कुतो विद्यासंगतिस्त्वत्राऽऽह । तस्यापीति । सगुण-विद्याफले नित्यकर्मणां साक्षादुपयोगाभिप्रायमिदं सूत्रमित्यर्थः ॥ १६ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति । किमिति । काम्यकर्मविषयं वचनद्वयमिति सूत्र-मवतारयति । अत इति । तदक्षराणि व्याकरोति । अत इत्यादिना । उक्तेऽर्थे दार्ढ्यार्थ-माचार्यान्तरसंवादं दर्शयति । तथेति ॥ १७ ॥ (१२)

१ अ. ट. “त्वानिवृ” । २ क. “पत्तेः ॥ १६ ॥ किं” । ३ अ. “यं वा वेदवि” । ज. घ. “यं वा वि” । ४ क. अ. ट. तथैवजा” । ५ ट. “योः । अग्निहोत्राधिकरणम् । यं” ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥ (१३)

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमु-
क्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुद्वारेण सत्त्वशु-
द्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन
ब्रह्मविद्यया संहैककार्यं भवतीति । तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गव्यपा-
श्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति । “य एवं विद्वान्यजैति” “य एवं
विद्वान्जुहोति” “य एवं विद्वान्शंसति” “य एवं विद्वान्गायति”
“तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीते तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद
यश्च न वेद” इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलम-
प्यस्ति । तत्रेदं विचार्यते किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म
मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया संहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत
विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति । कुतः संशयः “तमेतमा-
त्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति” इति यज्ञादीनामविशेषेणाऽऽत्मवेद-
नाङ्गत्वेन श्रवणात् । विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावग-
मात् । किं तावत्प्राप्तं विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशे-
षत्वं प्रतिपद्यते न विद्योहीनम् । विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमा-
द्विद्याविहीनात् । “यदहरेव जुहोति तददः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं
विद्वान्” इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

पूर्वोक्ताग्निहोत्रादिष्वेवाङ्गावबद्धोपास्तिसाहित्यानियमं निरूपयति । यदेवेति ।
वृत्तं कीर्तयति । समधिगतमिति । विचारविषयं दर्शयति । तत्रेति । अङ्गसङ्गि-
विद्यासंयुक्तत्वे प्रमाणमाह । य एवमिति । नित्यमग्निहोत्रादिकर्म विषयीकृत्य संशय-
माह । तत्रेदमिति । प्रश्नपूर्वकं संशयकारणमाह । कुत इति । श्रौतब्रह्मधीहेतुतया
प्रकृतनित्यकर्मस्वङ्गाश्रितविद्यासंयोगानियमवादादत्र प्रासङ्गिकी पादादिसंगतिः । पूर्व-
पक्षे केवलकर्मणो मोक्षान्वयासिद्धिः । सिद्धान्ते तस्यापि पारंपर्यात्तत्सिद्धिरिति मत्वा
विमृश्य पूर्वपक्षमाह । किं तावदिति । अविशेषतो यज्ञेनेत्यादिश्रुतेरुभयस्यापि
कर्मणो विद्याङ्गत्वेत्याशङ्क्य ब्राह्मणाय दद्यादित्युक्ते विदुषे न तद्धीनायेति विशेषलाभ-
वदिहापीत्याह । नेत्यादिना । विद्यासहितस्य कर्मणो वैशिष्ट्ये मानमाह । यदहरिति ।

१ क. अ. हि ॥ १८ ॥ सुसं । २ ट. जते । य । ३ क. ड. अ. दानुदाय । ४ ड. अ.
ट. त नानेवंविदं ते । ५ ड. अ. युक्तं के । ६ ड. अ. द्याविही । ७ ख. तं संकी । ८ ड.
गादिनि ।

“बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि”

[भ० गी० २ । ३९]

“दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय”

[भ० गी० २ । ४९] इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते । यदेव विद्ययेति हि । सत्यमेतत् । विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद्ब्राह्मणात् । तथाऽपि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम् । कस्मात् “तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति” इत्येव विशेषणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात् । ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्रार्चात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम् । नैतदेवम् । विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम् । न तु “यज्ञेन विविदिषन्ति” इत्येवाविशेषेणात्मज्ञानाद्भूत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् । तथा हि श्रुतिः “यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” [छान्दो० १ । १ । १०] इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणीऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति ।

श्रौतेऽर्थे स्मृतिमनुकूलयति । बुद्धयेति । केवलस्याग्निहोत्रादेर्वीहेतुत्वाभावा-
न्मोक्षान्वयो नेति प्राप्तमनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । किं विद्यायुक्तस्य कर्मणो
विद्याहीनादन्तरङ्गत्वमुच्यते किं केवलं कर्म विद्याहेतुत्वे नेति तत्राऽऽद्यमङ्गीक-
रोति । सत्यमिति । द्वितीयं दूषयति । तथाऽपीति । तत्र प्रश्नपूर्वकं श्रुतिविरोधं
हेतुमाह । कस्मादिति । उक्तमर्थमाक्षेपसमाधिभ्यां साधयति । नन्वित्यादिना ।
केवलस्य कर्मणो विद्या प्रत्यनङ्गत्वमेव किं न स्यात्तत्राऽऽह । न त्विति । विविदि-
षन्ति यज्ञेनेत्यविशेषश्रुतमपि विद्यासाहेते यज्ञादावुपसंहर्तव्यमित्याशङ्क्य श्रुत्या केव-
लस्यापि कर्मणो वीर्यवत्त्वाभ्यनुज्ञानान्मैवमिति सूत्रव्याख्यापूर्वकमाह । तथा हीति ।

१ क. ट. “याही” । २ ड. अ. “त्रादेर्विश” । ३ ट. “याही” । ४ क. ड. ज. म. विद्या-
हिं । ५ ड. ज. म. “स्यत्रवि” । ६ क. “याही” । ७ ड. “श्चित्कर” । ८ ट. “रणाति” । ९ क. ड.
म. ट. “सवि” । १० क. “याही” ।

[अ. ४ पा. १ सू. १९] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०७३

कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तच्च तस्वप्रयोजनसाधनसद्वत्त्वम् । तस्माद्विद्या-
संयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्ष-
प्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्त-
द्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वा-
रेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धातात्प-
र्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति
स्थितम् ॥ १८ ॥ (१३)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥ (१४)

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः । इतरे
त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते
“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ संपत्स्ये” [छान्दो०
६ । १४ । २] इति “ ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येत ” इति चैवमा-

वीर्यवत्त्वप्रवृत्तिवपि कुतो विद्यासाधनत्वमित्याशङ्क्या किंचित्करस्य वीर्यवत्त्वायोगादि-
त्याह । कर्मणश्चेति । कर्मणां पारंपर्येण मोक्षान्वयं दर्शयितुमुपसंहरति । तस्मादिति ।
विधुरादेराश्रमकर्मस्वनविकारात्तदीये जप्यादि विद्यासाधनमित्यन्तरां चापीत्यत्रोक्तम् ।
इह तु विद्योपेतेषु कर्मसु शक्तस्य न तस्यागेन केवलकर्मकारिणो न विद्या सेत्स्यवीत्या-
शङ्क्य समाहितमिव द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥ (१३)

अनारब्धकार्यमग्निहोत्रादि विद्यायुक्तं केवलं च तद्धेतुत्वान्न क्षीयते ज्ञानेनेत्यु-
क्तम् । इदानीमारब्धकार्ययोः शुभाशुभयोज्ञानादीनवतयोनैवृत्तिप्रकारमाह । भोगे-
नेति । निर्गुणब्रह्मैवेद्विषयः स किं देहपातादूर्ध्वमपि संसारवान्नेति तन्निमित्तभावाभा-
वाभ्यां संदेहे पूर्वपक्षमग्रे दर्शयिष्यन्नादौ वृत्तानुवादेन सूत्रतात्पर्यमाह । अनारब्धेति ।
अत्र श्रौतब्रह्मविद्यातवो भोगेनाऽऽरब्धकर्मनिवृत्तौ ब्रह्मभावस्यावश्यभावोक्त्या पादादि-
संगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्मविदोऽपि न मुक्तिः । सिद्धान्ते तस्य साऽवश्यंभाविनी सत्यां
सामग्र्यां कार्यम्रौ व्यात् । अनारब्धकार्ये एवेत्यत्र नैवाऽऽरब्धकर्मनिवृत्तेर्व्यावृत्तिं
तस्य फलं भोगेन क्षयलक्षणमधुना दर्शयतीत्युक्तम् । इदानीं निर्गुणब्रह्म विद्वानारब्ध-
कर्मक्षयानन्तरमपि संसारी संसारसंबन्धयोग्यत्वात्पूर्वकालीनब्रह्म विद्वानिवेत्यनुमानेन

१ ट. 'धक्त्व' । २ ड. अ. 'तुद्वा' । ३ ड. अ. 'द्वाध्यायता' । ४ ट. म. 'अतिशयाधिकरणम् ।
भो' । ५ ड. ड. 'शैयन्तुप' । ६ क. ठ. ड. 'यं जाप्या' । ७ अ. ठ. 'रा वाऽपी' । ८ क. ख. 'क्षयित ।
९ ख. 'विद्यावाप्तिव' । १० क. तत्र । ११ अ. न प्रार' । १२ ख. 'शुचिर्वा' । १३ अ. 'विनि' ।
१४ क. 'विदार' ।



दिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्देह-
दर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत । न । नि-
मित्ताभावात् । उपभोगशेषक्षणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तं न च
तादृशमत्र किञ्चिदस्ति । नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमार-
प्स्यते । न । तस्य दग्धबीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मा-
न्तरं देहपात उपभोगान्तरमारभेत तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञा-
नेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः केवल्यमवश्यं
भवेतीति ॥ १९ ॥ (१४)

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतो

शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमः पादः ॥ १ ॥

पूर्वपक्षमाह । नन्विति । भोगनिमित्तकर्मवच्चमुपाधिरिति परिहरति । नेत्यादिना ।
तदेव स्फुटयति । उपभोगेति । तत्रेति पाकालीनब्रह्मविदुक्तिः । देहपातोत्तरका-
लीनेऽपि ब्रह्मविदि भोगनिमित्तं किञ्चिद्विष्यतीति साधनव्याप्तिमाशङ्क्याऽऽह ।
न चेति । अनारब्धं कर्म जन्मान्तरारम्भकमिति कुतः साधनाव्याप्तिरिति शङ्कते ।
नन्विति । तस्य ज्ञानेन प्रतिबद्धशक्तित्वान्मेवमित्याह । न तस्येति । किं तस्य
बीजं तदाह । मिथ्येति । केन तर्हि तस्य दाहः स्यात्तद्दर्शयति । तच्चेति ।
अथ संपत्स्यत इत्यादिश्रुतिबाधनाद्वीजाभावस्य च विद्वदनुभवसिद्धत्वाच्च पूर्वं कर्मानु-
मेयमिति भावः । प्रारब्धकर्मफलभोगादूर्ध्वं मोक्षेऽपि तत्कर्मजन्यानेकदेहसंभवात्तत्र च
विद्याप्रमोषोपपत्तेस्तत्कर्मणामश्लेषाभावेन मुक्त्यभावमाशङ्क्याधिकारिणां देहान्तरे
ज्ञानाप्रमोषस्याऽऽगमिकत्वादस्मदादीनामथ संपत्स्य इति श्रुतसिद्धत्वादारब्धभोगान-
न्तरं मुक्तिरवश्यंभाविनीत्यविकरणार्थमुपसंहरति । इत्यत इति । साधनानुष्ठानक्रमो
निर्गुणविद्याफलं चोक्तमिति पादार्थमुपसंहर्तुमितीत्युक्तम् ॥ १९ ॥ (१४)

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपाद-

शिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्ये-

विभागे न्यायनिर्णये चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१ ड. अ. 'रमते त' । २ क. 'श्यंभातीति' । ३ ड. अ. 'वति' । ४ ट. 'ति' । भोगाधिकरणम्
॥ १९ ॥ ५ क. ख. ठ. ड. 'त्वान्नापू' । ६ 'कक्षोपतं' । ७ क. ख. 'वे मु' । ८ क. ख. 'नान्मा-
क्षस्याऽऽ' । ९ क. ख. 'तिप्रसि' । १० ख. ठ. ड. 'ति पदा' ।

[अ. ४ पा. २ सू. १] आनन्दभिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०७५

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्य-
न्प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिकर्ममन्वाचष्टे । समाना हि विद्वद्-
विदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्रायणविषया श्रुतिः
“ अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रपतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे
प्राणस्तेजसि तेजः प्ररस्यां देवतायाम् ” [छा० ६ । ८ । ६]
इति । किमिह वाच एव वृत्तिमस्या मनसि संपत्तिरुच्यत उत
वाग्वृत्तेरिति विशेषः । तत्र वागेव तावन्मनसि संपद्यत इति
प्राप्तम् । तथा हि श्रुतिरनुगृहीता भवति । इतरथा लक्षणा
स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा ।
तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । वाग्वृ-
त्तिर्भनसि संपद्यत इति । कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते

पूर्वपादान्तिमाधिकरणे निर्गुणब्रह्मसंपत्तिरुक्ता संपत्तिः सगुणब्रह्मसंपत्तिं निरूपयि-
ष्यन्ननुत्क्रान्तौ वागादीनां मनसि वृत्तिलयं दर्शयति । वागिति । सगुणविद्याफलस्य
ब्राह्मलौकिकस्यार्चिरादिगतिप्रप्त्यस्यानुत्क्रम्य प्राप्त्ययोगात्तदर्थमुत्क्रान्तिनिरूपणं
व्यापिब्रह्मात्मभावे निर्गुणविद्याफले बन्निषेधार्थं चेत्यभिप्रेत्य पादस्याध्यायसंगतिमाह ।
अथेति । निर्गुणधीफलोक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । विदुषां नोत्क्रान्तिरत्रैव समवनी-
यन्त इति श्रुतेस्वस्तिकमुत्क्रान्तिचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह । समानेति । विद्वानपरब्रह्म-
विदुक्तः । पादार्थं संक्षिप्याऽऽद्याधिकरणस्य विषयमाह । अस्तीति । प्रयतः प्रयाणं
कुर्वत उच्चिकमिषोस्ति यावत् । वाङ्मनसि संपद्यत इत्यत्र वाचमधिकृत्य करणव्यु-
त्पत्त्या स्वरूपसंपत्तिप्रतीतिर्भावव्युत्पत्त्या च स्ववृत्तिसंपत्तिवित्तेः संशयमाह । किमिहेति ।
श्रौतसगुणब्रह्मधीफलार्थगत्युपयुक्तोत्क्रान्त्येकदेशनिरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे
कारणे कार्यलयनियमासिद्धिः । सिद्धान्ते लौकिकपरीक्षकाभीष्टनियमासिद्धिरिति मत्वा
पूर्वपक्षयति । तत्रेति । तत्र वाकशब्दश्रुतं हेतूकरोति । तथा हीति । वृत्तिमद्वाच-
कशब्दस्य वृत्तिमात्रपरत्वे दोषमाह । इतरथेति । लक्षणाऽपि शब्दवृत्तिवादविरुद्धे-
त्याशङ्क्याऽऽह । श्रुतीति । श्रुत्यनुसारिणमर्थमुपसंहरति । तस्मादाते । प्रकृतावेव
विकारलय इति नियमाभावं प्राप्तमनूद्य सिद्धान्तसूत्रं पूरयित्वा पठति । एवमिति ।
अध्याहारमसहमानः शङ्कते । कथामिति । उत्तराधिकरणालोचनया विवक्षितमध्या-

१ क. ड. ज. झ. 'ममाच' । २ ड. अ. विषयः । ३ ड. अ. प्रविल' । ४ ठ. ड. 'तिभाना-
भाव' । ५ छ. ट. ड. हेतुं क' । ६ ख. 'त्वे बाधकमा' । ७ ख. 'चनावि' ।

यावता वाङ्मनसीत्येवाऽऽचार्यः पठति । सत्यमेतत् । पठिष्यति
तु परस्तात् “अविभागो वचनात्” [अ० सू० ४ । २ ।
१६] इति । तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षतीति गम्यते ।
तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशि-
ष्यादविभाग इति । तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षा । वाग्वृत्तिः
पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः । कस्मात् ।
दर्शनात् । दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमा-
नायाम् । न तु वाच एव वृत्तिमस्या मनस्युपसंहारः केनचि-
दपि द्रष्टुं शक्यते । ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो
युक्त इत्युक्तम् । नेत्याह । अतत्प्रकृतित्वात् । यस्य हि यत् उत्पत्ति-
स्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य । न च मनसो वागुत्प-
द्यत इति किञ्चन प्रमाणमस्ति । वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमा-
श्रयावपि दृश्येते । पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तेजसस्याग्नेर्वृ-
त्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति । कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो
वाङ्मनसि संपद्यत इति । अत आह शब्दाच्चेति । शब्दोऽप्यस्म-
त्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥ १ ॥

हारं साधयति । सत्प्रामिति । वृत्तिमल्लयस्य वक्ष्यमाणत्वेऽपि प्रकृते किं जातं तदाह ।
तस्मादिति । विपक्षे दोषमाह । तच्चेति । तत्त्वस्य धर्मिणो वाचः प्रलयविवक्षाया-
मिह तत्र चाविभागसाम्यात्परत्रैवाविभागविशेषणमयुक्तमित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्य-
सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति । सूत्रस्याभीष्टमर्थं संक्षिपति । वागिति । सिद्धा-
न्तहेतुं प्रश्नपूर्वकमवतार्य व्याचष्टे । कस्मादिति । वृत्तिमदुपसंहारेऽपि तुल्यं दर्शन-
मित्याशङ्क्य लौकिकमागमिकं वा तदिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह । न त्वाति । द्वितीय-
मालम्बते । नान्वति । आगमस्यापि दृष्टानुसारात्प्रकृतौ विकारलयाक्तिपरत्वाद्वाचश्च
मनोविकारत्वाभावात्तत्र लयायोगाद्वृत्तिवृत्तिमतोरभेदधिया वाकशब्दो वृत्तावेवेत्याह ।
नेत्याहेति । तदेव विवृणोति । यस्येति । वागपि तर्हि मनसो विकारोऽस्तु न मानाभावादि-
त्याह । न चेति । वृत्तेरप्यतत्प्रकृतित्वात्कुतो मनसि लयस्त्वत्राऽऽह । वृत्तीति । दर्शनं विश-
दयति । पार्थिवेभ्य इति । श्रुतिविलक्षणाविषये श्रुतिन्यौर्येत्युक्तं स्मारयति । कथमिति ।
मुख्यार्थायोगादुपचारसिद्धिरिति सूत्रावयवमादाय व्याकरोति । अत इति ॥ १ ॥

१ ड. अ. 'त्येवमात्रा' । २ क. 'भेदम्' । प' । ३ ड. ज. अ. ट. 'वक्षितमिति' । घ. 'वक्ष्यती' ।
४ ड. ज. अ. ट. 'क्षायं वा' । ५ ड. अ. 'पूर्वमुप' । ६ ट. 'चिद्द्रष्टुं' । ७ ड. अ. लयो । ८ घ.
ड. ज. अ. ट. 'प्यस्मिन्पक्षे' । ९ झ. 'मर्थ्यासिद्धे' । १० क. झ. 'विषये' ।

[अ. ४ पा. २ सू. २।३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०७७

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥ (१)

“ तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भर्वा मन्द्रिपैर्मनसि संपद्यमानैः ”
[प्रश्न० ३ । ९] इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि
संपत्तिः श्रूयते । तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृ-
त्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वमलयासंभवाच्छब्दो-
पपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते । सर्वेषां
करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्ग्रहणं वाङ्म-
नसि संपद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥ (१)

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥ (२)

समधिगतमेतत् “ वाङ्मनसि संपद्यते ” [छा० ६ । ८ ।
६] इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति । अर्थे पदुत्तरवाक्यम् “ मनः
प्राणः ” [छा० ६ । ८ । ६] इति किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव
विवक्ष्यत उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्स-

वाचि दर्शितं न्यायं चक्षुरादिष्वविदिशति । अत एवेति । यतः प्रकृतिविकार-
भावाभावाच्च स्वरूपलभ्यो वाचोऽपि तु वृत्तिलयोऽत एव सवृत्तिके मनसि सत्येव सर्वा-
णीन्द्रियाणि तदनुवर्तन्ते न तु तत्र स्वरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । सूत्राक्षराणि व्याचष्टे ।
तस्मादिति । उत्क्रमणादूर्ध्वमिति यावत् । उपशान्तमौष्ण्यलिङ्गकं तेजोऽस्येति
तथोक्तः । पुनर्भवं प्रतिपद्यत इति शेषः । तत्रापि सर्वाणीन्द्रियाणि वृत्तिद्वारेणैव
मनोऽनुवर्तन्त इति संभन्धः । अत एवेत्युक्तं हेतुं सदृष्टान्तं स्पष्टयति । वाच
इमेति । यद्यत्राविशेषेण सर्वेन्द्रियाणां मनसि वृत्त्युपसंहारो विवक्षितस्त्वेति किमि-
त्याद्ये सूत्रे वाचः पृथग्ग्रहणं तत्राऽऽह । सर्वेषामिति ॥ २ ॥ (१)

इन्द्रियवृत्तिलयाधारस्य मनसो वृत्तिलयाधारं निरूपयति । तन्मन इति । वृत्त-
नूपाधिकरणस्य विषयमाह । समधिगतमिति । तस्मिन्नपि वाक्ये सवृत्तिकं मनोऽ-
वेकस्य व्युत्पत्तिद्विविध्यसिद्ध्या संशयमाह । किमिति । पूर्ववाक्यं दृष्टान्तयितुमपि-
शब्दः । अत्रापि पूर्ववत्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे श्रुत्यर्थसिद्धिः । सिद्धान्ते तदयोगाल्ल-
भणास्वीकरणमिति मन्वानो मनःशब्दश्रुत्या पूर्वपक्षयति । वृत्तीति । वाकशब्दवन्म-

१ ट. 'न । वाङ्मनोधिकरणम् । त' । २ ट. 'य तद्' । ३ क. इ. ज. अ. 'त्तरं वा' । ४ ड.
अ. 'वक्षितो' । ५ क. झ. ठ. ड. 'शितन्या' ।

पत्तिरेवात्रेति प्राप्तम् । श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतिकत्वोपपत्तेश्च ।
 तथा हि “अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणः” [छा० ६ । ५ ।
 ४] इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्प्रद्योनिं च प्राणम् । आपश्चान्न-
 मसृजन्तेति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु
 प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति ।
 एवं प्राप्ते ब्रूमः । तदेप्सोऽगृहीतबाह्येन्द्रियवृत्तिं मनो वृत्तिद्वारेणैव
 प्राणे प्रलीयत इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथा हि सुषुप्तोर्मुमू-
 र्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दान्तिमक्रौपां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते ।
 न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति । अतत्प्रकृतित्वात् ।
 ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम् । नैतत्सारम् । न हीदृशेन
 प्राणादिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे संपत्तुमर्हति । एवमपि
 ह्यन्ने मनः संपद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः । न ह्येतस्मिन्नपि
 पक्षे प्राणभावपरिणतान्मयोऽद्भ्यो मनो जायत इति किञ्चन प्रमा-

नःशब्दस्यौपचारिकत्वमाशङ्क्य बाधकाभावाद्न मुख्यार्थत्वमेवेत्याह । तदिति ।
 प्राणप्रकृतिकत्वे मनसो न मानमित्याशङ्क्याऽऽह । तथा हीति । अन्नमनसोरप्राण-
 योश्च प्रकृतिविकृतिमवेऽपि कथं प्राणमनसोस्तथात्वं तत्राऽऽह । आपश्चेति ।
 अबन्नयोः प्रकृतिविकृतिभावात्तत्कार्ययोरपि प्राणमनसोः प्रकृतिवादात्प्रत्यक्षा
 प्रकृतिविकृतित्वसिद्ध्या प्राणे वृत्तिमवो मनसो लय इति फलितमाह । अत-
 शेति । प्राणे लीयते मनः सवृत्तिकमिति प्राप्तमनूद्य सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याक-
 रोति । एवमिति । आगृहीताः सर्वतः स्वात्मन्युपसंहृत्वा बाह्येन्द्रियाणां वृत्तयो
 येन तन्मनस्तथा । दर्शनादिति पूर्वोक्तयुक्तिमत्र हेतुत्वेन संगृह्णाति । तथा
 हीति । मनःशब्दश्रुत्या स्वरूपसंपत्तिरेवेति किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । न चेति ।
 उक्तं स्मारयित्वा निरस्यति । तन्वित्पाद्विना । स्वकारणद्वारा विकारयोरन्योन्यं
 प्रकृतिविकारत्वे घटादेरपि शरावादिप्रकृतित्वप्रसक्तिरित्यसारत्वमेव साधयति । न
 हीति । प्राणादिककार्यकारणत्वोपगमेऽपि यो यस्य साक्षाद्विकारस्तत्रैव तस्य लयो
 युक्त इत्याह । एवमपीति । प्राणकारपरिणतानामपि मनःसंस्थितान्नाकारेण परिणा-
 मात्प्राणमनसोरपि साक्षात्प्रकृतिविकृतित्वमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । त्रयोः

१ क. क. ज. न. ट. 'तिलो' । २ क. सौम्य । ३ क. ज. 'नि प्रा' । ४ क. क. 'दप्यष्ट' ।
 ५ न. 'प्यात्मगृ' । ६ क. 'स्पन्दनात्मि' । ७ क. ज. न. ट. 'कायामवस्थितायां म' । ८ क. घ.
 प्राणादिकेन । ज. प्राणादिकेन । न. प्राणादिकेन । ट. प्रनादिकेन । ९ ज. ट. 'व प्रा' । १० क. 'त्वे न
 म' । ११ क. 'सो मा' ।

[अ० ४ पा० २ सू० ४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०७९

नमस्ति । तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः । वृत्त्य-
प्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति
दर्शितम् ॥ ३ ॥ (२)

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतच्चस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिलयो न
स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते ।
किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रिय-
पञ्जराध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य
तेजस्येव संपत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति । एवं
प्राप्ते प्रतिपद्यते सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽ-
विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राण-
वृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः । तदुपगमादिभ्यः । एवमेवेममात्मा-
नमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भव-
तीति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्श-

साक्षादप्रकृतिविकृतित्वे फलितमाह । तस्मादिति । कथं तर्हि मनःशब्दोपपत्तिस्त-
त्राऽऽह । वृत्तीति ॥ ३ ॥ (२)

यस्मिन्प्राणे मनसो वृत्तिलयस्तस्यापि वृत्तिलयाधारं निरूपयति । सोऽध्यक्ष
इति । वक्ष्यमाणपूर्वपक्षोपयोगित्वेन वृत्तं कीर्तयति । स्थितमिति । संपत्ति विषयो-
क्तिपूर्वकमुभयश्रुत्युपलब्धेः संशयमाह । इदमिति । पादादिसंगतयस्तु पूर्ववत् । फल-
भेदोऽपि तथेति स्वीकृत्य पूर्वपक्षयति । तत्रेति । प्राणस्य तेजःप्रकृतिकत्वाभावेऽपि
तेजसि वृत्तिलयस्योक्तन्यायेन शक्यशङ्क्यत्वात्तेजःशब्दस्य च भूतविशेषवाचिनो जीवे
प्रसिद्धचभावात्प्राणस्य जीवात्मन्युपगमनानुगमनावस्थानश्रुतीनां च तेजोद्वाराऽपि
वस्मिन्नुपगमनादियोगादुपपत्तेस्तेजस्येव प्राणवृत्तिलय इत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रमादाय
योजयति । एवमिति । परिशुद्धं चिद्धांतं व्यावर्तयति । अविद्येति । पूर्वोक्तन्या-
येन स्वरूपप्रलयं व्यवच्छिन्नमिति । तदिति । प्रश्नपूर्वकं हेतूनवधारयति । कुत इति ।
तत्रोपगमनं श्रुतिवो व्याकरोति । एवमिति । यथा राज्ञः प्रयाणाभिप्रायमात्रेण सर्वे
भृत्याः समागच्छन्त्येवमिति योजना । एतदिति क्रियाविशेषणम् । आदिशब्दश्च-

१ ट. 'म' । मनोधिकरणम् । सो । २ क. ड. ज. 'सिप्र' । ३ ट. इदा । ४ ड. 'पश्यते' ।
५ ट. 'येनाशङ्कत्वा' । ६ ड. 'येनाशक्य' । ७ ट. ड. जीवप्र ।

यति । विशेषेण च “तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति” [बृ० ४।४।२] इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति तदनुवृत्तितां चेतरेषाम्, “प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति” [बृ० ४।४।२] इति । “सविज्ञानो भवति” इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन् अपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु “प्राणस्तेजसि” इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः क्रियते । नैष दोषः । अध्यक्षप्रधामत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणैसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेः । ननु

हीतमनुगमनं श्रुत्या विशदयति । विशेषेणेति । आदिशब्दोपात्तप्रवस्थानमपि श्रुत्या व्याचष्टे । सविज्ञान इति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं करणजातं तेन पञ्चवृत्तिप्राणसहितेन सह तिष्ठतीति यावत् । अव्यवधानेन तेजःप्राप्तिश्रुत्या विरोधं शङ्कते । नन्विति । उभयश्रुत्यनुग्रहाय जीवे प्रलीयते तेन सह प्राणस्य तेजसि लयः स्यादित्याह । नेत्यादिना ॥ ४ ॥

सूत्रान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति । कथमिति । प्राणस्य जीवद्वारा तेजःसंपत्तिरिति सूत्रयोजनया दर्शयति । स इति १ न च प्राणस्य तेजोद्वारा जीवसंपत्तिस्तेजसो भूतद्वयद्वारा परस्मिन्नेव संपत्तेरिष्टत्वात् । तेजोग्रहणेनोपलक्षितेषु भूतेषु जीवस्य प्राणेन सह लयः स्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह । तेज इति । तेजःशब्देन भूतान्युपलक्षयितुं शक्यन्ते साहचर्यान् जीवस्य दमावाप्तो न प्राणस्य जीवे लय इति शङ्कते । नन्विति । मानान्तरालोच-

१ ट. ‘ति च प’ । २ ट. ‘स्मिन्नापी’ । ३ क. ‘पि वि’ । ४ अ. ‘तेजतः श्रुते’ । ५ ड. अ. ‘संयुक्तो’ । ६ क. ‘म’ । तच्छ्रुतेः । प्रा’ । ७ क. घ. ड. ज. अ. ट. ‘सीत्यतः श्रु’ । ८ क. अ. ‘मुपस्थाप’ । ९ ड. प्रलयः । १० क. अ. ‘लक्षितुं’ ।

[अ. ४ पा. २ सू. ६] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०८१

चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्या-
ध्यक्षस्य । नैष दोषः । सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽ-
प्युपसंख्यातत्वात् । योऽपि हि सुग्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः
पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि सुग्नोत्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते
वदितुम् । तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवेतत्तेजः
सहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

कथंतेजः सहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते यावतैकमेव तेजः-
श्रूयते प्राणस्तेजसीति । अत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥ (३)

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरेप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते
कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चेतमर्थं प्रश्न-
प्रतिवचने “ आपः पुरुषवचसः ” [छा० ५ । ३ । ३] इति ।
तद्व्याख्यातम् “ त्र्यात्मकत्वान्तु भूयस्त्वात् ” [ब० सू०
३ । १ । २] इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः
“ पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः ” इत्याद्या ।
स्मृतिरपि—

नया जीवस्योपसंग्रहो न तेजःशब्देनेति परिहरति । नेत्यादिना । यदाऽपि प्राणोऽ-
न्तराले जीवं प्राप्य पुनस्तेजः संपद्यते तदाऽपि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरुपपन्नेत्येतद्-
छान्देन साधयति । योऽपि हीति । श्रुत्यर्थमुक्तमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति । कथमिति । लक्षणया भूतान्तराश्रयणमयुक्तं
युक्त्यभावाद्भिति भावः । युक्तिपरं सूत्रमवतारयति । अत इति । तत्र प्रतिज्ञां विभ-
जते । नैकस्मिन्निति । स्थूलदेहस्य पञ्चात्मत्वदृष्टेस्तत्कारणं सूक्ष्मशरीरमपि पञ्चात्म-
कमनुमेयमित्युक्तेऽर्थे युक्तिमाह । कार्यस्येति । सूक्ष्मस्य पञ्चात्मकत्वे मानं भुवणः
सूत्रावयवं व्याचष्टे । दर्शयतश्चेति । ननु देहान्तरप्रेप्सावेलायामग्निरेव परिवेष्टितत्वं
प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामधिगम्यते न भूतसूक्ष्मपञ्चकपरिवेष्टितत्वं तत्राऽऽह । तदिति ।
सूत्रावयवस्यार्थान्तरमाह । श्रुतीति । अणव्यः सूक्ष्मा मीयन्त इति मात्राः प्राङ्मो-
क्षादविनाशिन्यो दशार्धानां पञ्चानां भूतानामित्यर्थः । जीवस्य भूताश्रयत्वं श्रुत्यन्तर-

१ ड. अ. 'संयुक्त' । २ ड. ज. अ. 'राल उप' । ३ ड. अ. 'संयुक्त' । ४ क. 'पृक्त' ।
५ ट. 'रस्य प्रे' । ६ क. ड. ज. अ. ट. 'ति । एत' । ७ क. ड. ज. अ. 'पृथ्वीम' । ८ ठ.
ड. जीवोप' ।

“ अण्डयो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्थानां तु याः स्मृताः ।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ”

[मनुस्मृ० १ । २१] इत्याद्या । ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु
करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायाम् “ कायं तदा पुरुषो भवति ”
[बृ० ३ । २ । १३] इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति “ तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः । अथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः ” [बृ० ३ । २ । १३] इति । अत्रोच्यते तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता । इह पुनर्भूतोपादानादेहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥ (३)

समाना चाऽऽमृत्युपक्रमाद-

मृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ (४)

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वद्विदुषोः समाना किं वा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते । न च विदुषः पुनर्भवः संभ-

विरुद्धमिति शङ्क्ये । नन्विति । तौ याज्ञवल्क्यार्थभागी । जीवाधारभूतकर्मणां बन्धप्रयोजकत्वेनाऽऽश्रयत्वं भूतानां देहोपादानत्वेनेत्यविरोधमाह । अत्रेति । कर्म हैवेत्यवधारणश्रुत्या वारितमाश्रयान्तरमित्याशङ्क्याऽऽह । प्रशंसेति । सोऽपि कर्मणां प्रकृष्टाश्रयत्वं वदन्निरुष्टाश्रयान्तरसत्त्वं सूचयतीत्यर्थः । कर्मणां भूतानां चाऽऽश्रयत्वसंभवे फलितमाह । तस्मादिति ॥ ६ ॥ (३)

उक्तोत्क्रान्तेरपरविद्यान्वयमन्वाचष्टे । समाना चेति । उत्क्रान्तिविषयस्तत्र विद्यायाऽमृतमश्रुत इति श्रुतेरस्य सोम्य पुरुषस्येत्यविशेषश्रुतेश्च संशयमाह । सेयमाति । विशयानानां संदिहानानामित्यर्थः । श्रौतापरविद्यासु फलमाप्नुयुपयोगित्वेनोत्क्रान्त्यन्वयोकत्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विदुषो देहादनुत्क्रान्तस्य मोक्षसिद्धिः । सिद्धान्ते तस्यापीतरवत्तस्मादुत्क्रान्तेरप्राप्तिबन्धेन तत्सिद्धिरित्यङ्गीकृत्य विद्ययाऽमृतमश्रुत इति सगुणोपासकानामप्यमृतत्वफलावगमात्सगुणब्रह्मविदो नैवोत्क्रान्तिरिति पूर्वपक्षयति । विशेषेति । अविदुष एवोत्क्रान्तिरिति विशेषवत्त्वमेव दर्शयति । भूतेति । पूर्वपक्षमा-

[अ. ४ पा. २ सू. ७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०८३

वति । “अमृतत्वं हि विद्वानश्रुते” इति स्थितिः । तस्मादवि-
दुष एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा
भवेत् । न । स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । यथा हि “यत्रैत-
त्पुरुषः स्वपिति नामाशिशिषति नाम पिपासति नाम” [छान्दो०
६ । ८ । १] इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनु-
कीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानु-
गुण्येन न तु विदुषो विशेषतो विधिस्त्यन्ते । एवमियमप्युत्क्रान्ति-
र्महाजनगतेवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयत-
स्तेजः संपद्यते स आत्मा तच्चमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम् । प्रतिषिद्धा
चैषा विदुषः “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति” [बृ० ४ । ४ । ६]
इति । तस्मादविदुष एवैषेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । समाना चैषो-
त्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्वितुमर्हति ।
अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबाजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य
कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवंसंसरति विद्वान्स्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्ष-
नाडीद्वारमाश्रयते । तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम् । नन्वमृतत्वं
विदुषा प्राप्तव्यं न च, तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं
सृत्युपक्रमो वेति । अत्रोच्यते । अनुपोष्य चेदमदग्ध्वाऽत्यन्तम-

निपति । नन्विति । वस्तुतत्त्वप्रतिपादनाय लोकसिद्धधर्माणामनूद्यमानत्वात् प्रकरणं
विद्वद्विषयमिति समापत्ते । नेत्यादिना । दृष्टान्तं विवृणोति । यथेति । दार्ष्टान्तिकं
विभजते । एवमिति । उत्क्रान्तेर्विद्वद्विषयत्वाभावे हेत्वन्तरमाह । प्रतिषिद्धेति ।
विशेषवत्त्वमुत्क्रान्तेरुक्तमुपसंहरति । तस्मादिति । सूतेमार्गस्योपक्रमादवार्कमिणां सगु-
णोपासकानां च तुल्यैवोत्क्रान्तिरिति सिद्धान्तंयति । एवमिति । अस्थे सोम्येत्याद्य-
विशेषश्रुतेर्विद्वदविदुषोः साधमणी चेदुत्क्रान्तिस्तर्हि तयोर्विशेषाभावद्विधावैयर्थ्ये
त्राऽऽह । अविद्वानिति । अवाङ्मनाडीभिरविद्वान्निवृत्तलोकं लोकान्तरं वा स्वकर्मानु-
सारं प्रतिपद्यते विद्वान्पुनर्भूयन्त्यया नाङ्ग्यं ब्रह्मलोकमिति विशेषस्तयोरित्यर्थः । सृतिः
प्रणं देवयानो मार्गस्त्वदुपक्रमात्तुल्योत्क्रान्तिरित्युक्तेऽर्थे सूत्रावयवं पातयति । तदेत-
दिति । अवशिष्टसूत्रावयवव्यावर्त्यं शङ्कामाह । नान्विति । सूत्रावयवमुत्तरत्वेनाव-
तार्यं व्याकरोति । अत्रेति । मनसैवान्कामान्पश्यन्मते स एकधा भवतीत्यादिश्रुतेर-

१ क. अ. श्रुतिः । २ क. ड. ज. अ. ‘षवन्तो वि’ । ३ ड. विधीयन्ते । ४ ट. ‘यमुत्क्रा’ ।
५ क. ड. ज. अ. ‘सीति प्र’ । ६ क. ज. अ. ट. ‘षः । तस्मा’ । ७ ड. ज. अ. ट. ‘भवितुं संत’ ।
८ क. अ. मोक्षं ना । ९ क. ‘स्य संस्थे’ ।
२-६४

विद्यादीन्केशानपरविद्यासामर्थ्याद्वापेक्षिकममृतत्वं प्रेक्षते संभ-
वति तत्र सत्पुपक्रमो भूताश्रयत्वं च । न हि निराश्रयाणां प्रोणानां
गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥ ७ ॥ (४)

तदाऽपीतिः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तेजः परस्यां देवतायामित्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तच्चथा-
प्रकृतं तेजः साध्यक्षं संप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः
पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी
पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्राऽऽत्यन्तिक एव
तावत्स्वरूपप्रविलय इति-प्राप्तम् । तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य
हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम् ।
तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । तत्ते-
जश्चाद भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतेरासंसारमोक्षा-
त्सम्यग्ज्ञाननिमित्ताददतिष्ठते—

“ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ”

चिरादिमार्गगमेनेन सेन्द्रियस्य फलभोगप्रतिपादनादिन्द्रियाणां च निराश्रयाणां गमन
योगाज्जीवस्यापि तदाश्रयभूताश्रयस्य गतिरवगतेत्याह । न हीति । अपरविद्यात्
मृतत्वमापेक्षिकमिति स्थिते तत्रोत्क्रान्त्यन्वयो युक्त इत्युपसंहरति । तस्मादि
॥ ७ ॥ (४)

उक्तोत्क्रान्तिकाले या सत्संपत्तिस्तत्स्वरूपं निरूपयति । तदाऽपीतेरिति । उदा-
रणवाक्यस्यार्थोक्तिपूर्वकमधिकरणस्य विषयं दर्शयति । तेज इति । बीजभावावशो
सत्संपत्तिं सिद्धवत्कृत्य विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरुक्ता संप्रति । संपत्तेरुभयथाह्येरात्यन्तिक
सत्संपत्तिरनात्यन्तिकी वेति संशयमाह । कीदृशीति । उत्क्रान्तिकालीनसत्संपत्तेः श्रुताय
सावशेषत्वसाधनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे देहादुत्क्रान्तस्यापुनरावृत्तिः । सिद्धा-
वस्यापि ज्ञानहीनस्य पुनरावृत्तिरिति विवक्षित्वा पूर्वपक्षयति । तत्रेति । पूर्वोक्तावत्प्र-
वित्वहेतोरभावादिति हेतुमाह । तत्प्रकृतित्वेति । उपपत्तिमेव दर्शयति । सर्वस्येति
विभवा सत्संपत्तिरात्यन्तिक्यन्तकालीनसत्संपत्तित्वाद्भावाद्देवः सत्संपत्तिवदित्युपसंहरति
तस्मादिति । सिद्धान्तसूत्रमादाय व्याकुर्वन्मुक्तानुमानस्य श्रुतिविरोधमाह । एवमिति

१ क. ड. ज. प्रेक्ष्यते । २ ज. ट. प्राणिनां । ३ ट. 'तिष्ठित' । ४ क. 'मामाग' । ५
'मनस्वेन्द्रि' । ६ क. ख. घ. 'तेरित्या' ।

[अ. ४ पा. २ सू. ९।१०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि ॥ १०८५

[कठ० ५ । ७] इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वे प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत । तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादते, विसंस्तितुमर्हति । तस्मात्तत्प्रकृति-
त्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवेषा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसुत आश्रय-
भूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथा हि नांढीनि-
ष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सूक्ष्ममुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात्सं-
चारोपपत्तिः । 'स्वच्छत्वाच्चाप्रतीयातोपपत्तिः' । अत एव च देहा-
निर्गच्छत्पार्श्वस्थेनोपलभ्यते ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनि-
मित्तेनेतरत्सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

उत्क्रान्तिकालीनसंसर्पत्तेरात्यन्तिकत्वे दोषान्तरमाह । अन्यथेति । इष्टापत्तिमाशङ्क्य
देहान्तरभोगाय कर्मविध्यनुपपत्तिरित्यनुमानस्य बाधकान्तरमाह । तत्रेति । ज्ञानवि-
ध्यनुपपत्त्याऽपि बाधितमनुमानमिव मत्वा ब्रूवे । विद्येति । युक्तितोऽपि बाधितं
वदित्याह । मिथ्येति । निदाननाशातिरेकेण निदानिनाशो नाऽऽत्यन्तिको युक्त
इत्यर्थः । यत्तु तत्प्रकृतिवत्त्वोपपत्तेरिति तत्राऽऽह । तस्मादिति । श्रुतार्थापत्तियुक्ति-
विरोधस्तच्छब्दार्थः ॥ ८ ॥

ननु यथासंसारविमोक्षाच्चेजआदिभूतसूक्ष्ममुक्तलक्षणमवतिष्ठते किमिति तर्हि देहा-
निर्गच्छदस्माभिर्नोपलभ्यते किमिति वा मूर्तान्तरैर्न प्रतिहन्यते तत्राऽऽह । सूक्ष्म-
मिति । स्वरूपसौक्ष्म्यसमुच्चयार्थश्चकार इत्यङ्गीकृत्य व्याख्याते । तच्चेति । उपलब्धे-
स्त्येतद्व्याकरोति । तथा हीति । परिमाणतः सूक्ष्म्याङ्गीकारे लाभं दर्शयति । तत्रेति ।
स्वरूपवत्स्वदङ्गीकारे लाभमाह । स्वच्छत्वादिति । उभयविधत्वादेवानुपलब्धिरपि सिद्धे-
त्याह । अत इति ॥ ९ ॥

सौक्ष्म्यकृत् लाभान्तरमाह । नोपमर्देनेति । तदेव विवृणोति । अत एवेति ॥ १० ॥

१ ज. 'वैः प्रमाण' । २ क. अ. 'पुत्तिप्र' । ३ क. 'तल' । ४ क. ड. ज. अ. 'पत्तिः' ॥ ८ ॥
सू. १५ क. घ. ज. अ. ट. 'तः परिमा' । ६ ट. नाभिभिः कर्म । ७ ड. ट. 'प्रतिधा' । ८ ट.
'वै' । ९ क. ड. ज. अ. 'च्छन्पार्श्व' । १० क. ड. ज. अ. 'व च सू' । ११ ड. अ. ट. 'लभ्य' ।
१२ ड. अ. 'सूक्ष्म' । १३ क. ख. ड. 'तस्माच्छ' ।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥ (५)

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैव ऊष्मा यमेतस्मिंश्शरीरे संस्प-
र्शेनोष्माणं विजानन्ति । तथा हि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे
विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवैदवस्था-
यामेव तूपलभ्येत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तं व्यपश्रय
एवैष ऊष्मेति । तथा च श्रुतिः “ उष्ण एव जीविष्यज्जीतो
मरिष्यन् ” इति ॥ ११ ॥ (५)

प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् ॥ १२ ॥

“ अमृतत्वं चानुपोष्य ” इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽ-
मृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगमः । तत्रापि केनचित्कारणे-
नोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति “ अथाकामयमानो योऽकामो
निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रा-
मन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्मार्प्येति ” [बृ० ४।४।७] इत्यतः
परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्ति-

सूक्ष्मदेहसद्भावे मानमौष्ण्यलिङ्गकमनुमानमपीत्याह । अस्यैवेति । सूत्रं विवृण्वन्ननु-
मानमेव स्फोरयति । अस्येति । औष्ण्यस्य सूक्ष्मदेहे व्यभिचारमाशङ्क्योपपत्तेरिति
योजयति । तथा हीति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्थूलशरीराविरिक्तं स्वाश्रयमूष्मा गम-
यतीत्युक्तम् । इदानीमागमोऽपि सूक्ष्मदेहधर्मत्वमस्य सूचयतीत्याह । तथा
चेति ॥ ११ ॥ (५)

उत्क्रान्तिकालीनसत्संपत्तेः सावशेषत्वमुक्तम् । संप्रत्युत्क्रान्तेर्निर्गुणब्रह्मवेदिष्वभा-
वमाह । प्रतिषेधादिति । व्यवहितेन संबन्धं दर्शयन्नधिकरणस्य तात्पर्यमाह । अमृ-
तत्वं चेति । परब्रह्मविदं विषयत्वेनोदाहरति । अथेति । मुक्तिप्रकरणोपक्रमार्थोऽ-
थशब्दः । बाह्यविषयवैतृष्ण्यमकामत्वम् । आन्तरकामवासनाराहित्यं निष्कामत्वम् ।
प्राप्तपरमानन्दत्वमाप्तकामत्वम् । सर्वात्मैकत्वदर्शित्वमात्मकामत्वम् । उत्तरमुत्तरं पूर्वस्थे
पूर्वस्य निमित्तमेवमकामयमानो ब्रह्मविदश्च श्रुतोऽस्तीत्यर्थः । तस्य किमुत्क्रान्तिरास्ति
किंवा नास्तीति पञ्चमीषष्ठीश्रुतिभ्यां संदेहे परब्रह्मविदो मुख्यामृतत्वे गत्युत्क्रान्त्यो-

१ ट. 'तमाहि' । २ ड. अ. 'स्मिञ्जीवच्छरी' । ३ क. घ. ड. ज. झ. ट. 'नोष्णिमानं वि' ।
४ क. विजानाति । ५ ज. 'पि क' । ६ ट. नोप' । ७ ट. 'ववद' । ८ ज. ट. 'स्थायां तू' । ९ ज.
'भ्यतेऽत' । १० ट. 'क्तशरीरव्य' । ११ ड. एवैष जी' । १२ ट. 'ति । संसाराधिकरणम् । प्र' ।
१३ क. ड. ज. झ. 'मो न । १४ क. झ. 'देहव्य' । १५ झ. 'स्य नि' । १६ क. झ. 'त्क्रान्ते' ।

[अ. ४ पा. २ सू. १३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०८७

रस्तीति चेत् । नेत्युच्यते । यतः शरीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात् । कथमवगम्यते “ न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति ” इति शास्त्रान्तरे पञ्चमीप्रयोगात् । संबन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शास्त्रान्तरगतया पञ्चम्या संबन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते । तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही संबध्यते न देहः । न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहेव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादिति । एवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

नैतदस्ति यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देहपादानत्वादिति । यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातृणां स्पष्ट उपलभ्यते । तथा ह्यर्त-

रभावोक्तेरत्र मासङ्गिकी पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे निषेधस्यान्यविषयत्वाद्विदुषोऽविदुषश्चाविशेषः । सिद्धान्ते शाखाद्वयेऽपि देहापादानोत्क्रान्तिनिषेधाद्विशेषसिद्धिरित्यभिप्रेत्य सिद्धान्विनो मतनिराकरणेन पूर्वपक्षे स्वमतमाह । नेत्यादिना । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति विदुषो देहादेवोत्क्रान्तिर्निषिध्यते न शरीरादिति शङ्कते । कथमिति । माध्यंदिनश्रुत्या प्रत्याह । न तस्मादिति । शरीरादुत्क्रान्तिनिषेधे का गतिः षष्ठीश्रुतेरित्याशङ्क्य पञ्चम्यन्तमाध्यंदिनश्रुत्या षष्ठ्यन्तकाण्वश्रुतिः संबन्धसामान्यविषयापादानेरूपसंबन्धविशेषे व्यवस्थापनीयेत्याह । संबन्धेति । माध्यंदिनश्रुतावपि तस्मादिति शरीरमेव परामृश्यतामित्याशङ्क्याऽऽह । तस्मादिति चेति । कस्वाहं वाक्यार्थः स्यादित्येपक्षाहमाह । न तस्मादिति ॥ १२ ॥

तथाऽपि प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य सप्राणस्य क्षेत्रज्ञस्य शरीरादुत्क्रान्तिः सिद्धेत्याह । सप्राणस्येति । परब्रह्मविदोऽपि गत्युत्क्रान्ती स्तामिति प्राप्तमनूय सिद्धान्तयति । एवमिति । सूत्रं हेतुत्वेन व्याख्यातुं बहिरेव प्रतिज्ञामाह । नैतदिति । तत्र हेतुतया सूत्रं योजयति । यत इति । उपलम्भमभिनयति । तथा हीति । उद-
स्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीत्यत्रोत्क्रान्त्यवाधेमत्त्वमस्मादित्युक्तं सशब्देन परामृश्यो-

१ क. 'षी सा शा' । २ ट. 'ति प्रा' । ३ ड. ज. अ. उत्क्रामन्ति । ४ ट. 'न संभ' । ५ ज. घ. 'स्य प्र' । ६ ड. ज. अ. 'त्क्रान्तिः प्र' । ७ ठ. 'था ह्यर्त' । ८ ड. 'त्वादेविदुषो विदुष' । ९ ख. 'नत्व' ।

भागप्रश्ने “ यत्रायं पुरुषो ज्ञियंत उदस्मात्प्रोणा उत्क्रामन्त्या-
हो नेति ” [बृ० ३ । २ । ११] इत्यत्र “ नेति होवाच पाक्ष-
वल्क्यः ” [बृ० ३ । २ । ११] इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिब्रू-
न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु मृत इत्यस्यामाशङ्क्यापामत्रैव सम-
वेनीयन्त इति प्रविलयं प्राणानां अतिज्ञाय तत्सिद्धये “ स उच्छृ-
यत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ” [बृ० ३ । २ । ११] इति सश-
ब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छृयनादीनि समामनन्ति ।
देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः । तत्सामान्यात् “ न तस्मात्प्राणा
उत्क्रामन्त्यत्रैव समवेनीयन्ते ” इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादा-
नस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः । यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति
व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः । येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्संब-
न्धिन्त्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वा-
दस्य वाक्यस्य देहापादानेव सा प्रतिषिद्धा भवति देहादुत्क्रान्तिः

उच्छृयनादिधर्मोक्तिर्यस्योच्छृयनाध्माने तस्यैवोत्क्रान्त्यवधित्वं देहस्येत्यर्थः ।
अथोच्छृयनादिधर्मजातं देहिनोऽस्तु तेन तस्यैवोत्क्रान्त्यवधित्वं नेत्याह । देह-
स्येति । काण्वश्रुतौ निषिध्यमानोत्क्रान्तेर्देहापादानत्वेऽपि माध्यंदिनश्रुतौ देहिन एव
तदपादानत्वं तस्यैव प्राधान्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तदिति । विद्याप्रकरणत्वसामा-
न्याद्ब्रह्मविदो देहापादानोत्क्रान्तिनिषेधः शाखाद्वयेऽपि तुल्य इत्यर्थः । तच्छब्देन
सर्वनाम्ना “ देहिनः प्रधानतया परामृष्टत्वात्कुतोऽत्र देहधीरित्याशङ्क्याऽऽह । अभे-
देति । प्राधान्याद्देहिनस्तच्छब्दाहत्वेऽपि देहदेहिनोरभेदोपचाराद्देहिपरामर्शिसर्वनाम्ना
देहस्यैव परामर्शोत्क्रामदेवोत्क्रान्तिरत्र निषिद्धेति पञ्चमीपाठे व्याख्येयमित्यर्थः ।
माध्यंदिनपाठस्य सिद्धान्तानुगुण्यमुक्त्वा काण्वपाठस्यापि तदानुगुण्यमाह । येषां
त्विति । न तस्येत्यादावपादानोपेक्षया चक्षुद्वौ वा मूर्ध्नि वैति देहाशानामुत्क्रान्त्यपा-
दानत्वेन प्रकृतानामिह संबन्धात्प्राप्तोत्क्रान्तिनिषेधपरत्वाच्च वाक्यस्य न तस्य प्राणा
देहाशेभ्यः सकाशादुत्क्रामन्तीति वाक्यविपरिणामादन्यथा वाऽप्राप्तनिषेधापादात्सं-
बन्धसामान्यार्थेष्वन्याश्च प्राणेन रसन्प्राणमय इत्यादिकर्तृकरणोपाध्युपहितत्वप्रकृत-
संबन्धविक्षेपपर्यवसानादन्यशास्त्रास्यापादानसंबन्धविक्षेपापेक्षाभावात्तस्य करणोपाधि-
भूताः प्राणा देहावयवेभ्यो नोत्क्रामन्तीति वाक्यार्थः स्यादित्यर्थः । इतश्च विद्वदुत्क्रा-

१ क. अ. ‘यते तद्’ । २ क. अ. ट. ‘प्राणाः क्राम’ । ३ क. अ. ‘होस्विनेति’ । ४ क. अ.
‘स्युत्क्रा’ । ५ क. अ. ‘वलीय’ । ६ क. अ. ‘वलीय’ । ७ क. अ. ‘देहिना’ । ८ क. अ. ‘रामशोक्तु’ ।
९ क. ठ. ड. ‘या चाप्रा’ ।

[अ. ४ पा. २ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०८९

प्राणा न वेद्मिनः । अपि च “ चक्षुष्टो वा श्रोत्रो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तत्प्राणान्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ” [बृ० ४ । ४ । २] इत्येवमविद्वद्विषयः सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा “ इति नु कामयमानः ” [बृ० ४ । ४ । ६] इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् “ अथाकामयमानः ” [बृ० ४ । ४ । ६] इति व्यपदेश्य विद्वत्सं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्पुत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वात् । न च ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्षण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात् । “ अत्र ब्रह्म समश्नुते ” इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥ (६)

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—

“ सर्वभूतात्मभूतस्य सम्पद्भूतानि पश्यतः ।

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदेषिणः ”

इति । ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते “ शुकः किल वेयासकिमुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे

न्तिनिषेधपरं वाक्यमित्याह । अपि चेति । व्यपदेशसामर्थ्येऽसिद्धमुपसंहरति । तस्मादिति । न केवलं मानाभावादेव गत्युत्क्रान्त्यभावः किंतु युक्त्यभावादपीत्याह । न चेत्ति । उपपत्त्यभावे हेतुमाह । निमित्तेति । गमनस्य कर्मकरणादिकारकासंभवादित्यर्थः । तयोः सत्त्वे भ्रमं नास्वीत्युक्तं तदसत्त्वे मानमस्वीत्याह । अत्रेति ॥ १३ ॥

“ नोक्रामन्ति मुनेः प्राणा व्यापी सर्वगतो हि सः ।

तेन व्याप्तमिदं सर्वं कुत उक्राम्य यास्यति ”

इतिस्मृतेरपि ब्रह्मविदो नोक्रान्तिर्गतिर्वेत्याह । स्मर्यते चेति । सूत्रं व्याचष्टे । स्मर्यतेऽपीति । अपदस्य प्राप्यपदशून्यस्य ब्रह्मविदः पदेषिणो देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति । तदभावादिति योजना । स्मृत्यन्तरविरोधं शङ्कते । नन्विति ।

१ क. अ. ‘व्ये स’ । ड. अ. ‘व्येषु स’ । २ झ. ‘दिशति वि’ । ३ झ. ‘सं त’ । ४ क. ज. अ. ‘दः स्म’ । ५ झ. ‘प्रथमस्तिद्व’ । ६ ड. ‘ति । तदुपपत्त्य’ । ७ क. झ. ठ. ड. ‘त्युक्त्वा त’ ।

पित्रा चानुगम्याऽऽहूतो भो इति प्रतिशुश्राव ” इति । न ।
सशरीरस्वैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग
इति द्रष्टव्यम् । सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात् । न ह्यशरीरं
गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः । तथा च तत्रैवोपसंहृतम्—

“ शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां भातिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः ।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत् ”

इति । तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः । गतिश्रु-
तीनां तु विषयमुपरिष्ठाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥ (६)

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥ (७)

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्म-
विदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते । कस्मात् । तथा
ह्याह श्रुतिः “ एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषा-

अपरविद्याचलनैषा गतिरित्याह । नेति । तत्र नियामकमाह । सर्वेति । आदि-
शब्देनानुगमनादि गृह्यते । तथाऽपि कथं सशरीरस्य गतिस्तत्राऽऽह । न
हीति । उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलयति । तथा चेति । स्मृत्यनुग्रहलब्धमर्थमुपसं-
हरति । तस्मादिति । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति स एनान्ब्रह्म गमयतीत्यादिगति-
श्रुतीनां तर्हि का गतिस्तत्राऽऽह । गतीति ॥ १४ ॥ (६)

परब्रह्मविदो ब्रह्मणि परस्मिन्प्राणानां प्रलयो दाशतस्तदयुक्तं त्रेषां पृथिव्यादिषु
लयश्रवणादित्याशङ्क्याऽऽह । तानीति । विद्वत्कलाप्रविलयो विषयः स किं पृथि-
व्यादिषु किंवा परस्मिन्नात्मनीति श्रुतिद्वयोपलब्धेः संदेहे श्रौतविद्याफलभूतकलावि-
लयो ब्रह्मण्येवेत्युक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रकृतविवे विकृतिलयसिद्धिः ।
सिद्धान्ते व्यवहारवस्तथात्वेऽपि तत्त्वतो ब्रह्मणि कलाविलयोपपत्तिरिति मन्वानः ।
सिद्धान्तमाह । तानीति । उक्तार्थे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह । कस्मादिति । यथा नद्यः
समुद्रं प्राप्य प्रलीयन्त एवमेवास्य जीवस्य परितः समन्तात्सर्वतोऽनवच्छिन्नप्रत्यग्ब्र-
ह्मद्रष्टुरिमाः स्वानुभवगम्याः प्राणशब्दाद्याः षोडशसंख्याकाः कलाः पुरुषायणास्तदाश्र-
यास्तमेव पुरुषं प्राप्य ब्रह्मविषयासङ्गत्यागेन तस्मिन्निष्ठाय विलयमासादयन्तीति

१ ट. 'मः । गत्युत्क्रान्तिप्रतिषेधाधिकरणम् । ता' । २ क. ख. घ. 'ते । तेन त' । ३ क. ख.
ठ. ड. ए. आन्त्रं । ४ ख. घ. 'लब्धे सं' । ५ क. ख. ठ. ड. उक्तेऽर्थे । ६ क. ख. लीयन्त ।

[म. ४ पा. २ सू. १५] आनन्दागारकृतटीकासंवलितशंकरभाष्यसमेतानि । १०२१

यणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ” [प्रश्न० ६ । ५] इति ।
ननु “ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः ” [मुण्ड० ३ । २ ।
७] इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि
कलानां प्रलयमाह स्म । न सा खलु व्यवहारापेक्षा पार्थि-
वाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति । इतरा तु
विद्वत्प्रतिपक्ष्यपेक्षा कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत
इति । तस्माददोषैः ॥ १५ ॥ (७)

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ (८)

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्या-
होस्विन्निरवशेष इति । तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्र-
सक्तौ ब्रवीति । अविभागापत्तिरेवेति । कुतः । वचनात् । तथा
हि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति “ भिद्येते चोऽऽसां नामरूपे पुरुष
इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति ” [प्रश्न० ६ । ५]

श्रुत्यर्थः । अस्याविकरणास्य पूर्वपक्षमाह । नन्विति । मनःप्राणयोरेकीकरणेन
कलानां पञ्चदशत्वं प्रतिष्ठाभावेन पृथिव्यादीनि तत्त्वानि कलाकारणान्युच्यन्ते ।
तथाच प्रकृतावेव विकारलय इति न्यायानुगृहीतश्रुत्या भूतेषु विद्वत्कलाविलय
इत्यर्थः । वस्तुस्थित्या परस्मिन्नात्मनि कलालयेऽपि व्यवहारदृष्ट्या पृथिव्यादिषु
वदुक्तिरविरुद्धा तेषु विलीय तैः सह परस्मिन्नात्मनि कलानां विलयासिद्धेश्च श्रुतिद्वय-
मविरुद्धमित्याह । न सा खल्विति । विद्वदविद्वद्दृष्ट्या श्रुतिद्वये प्रवृत्ते फलित-
माह । तस्मादिति ॥ १५ ॥ (७)

पृथिव्यादिद्वारा ब्रह्मण्युक्तस्य विद्वत्कलाविलयस्य निरवशेषत्वमाह । अविभाग
इति । प्रकृत्वमेव विद्वत्कलाविलयमधिकृत्य लयस्योभयथादृष्ट्या संशयमाह । स
पुनरिति । अत्र श्रौतधीफलभूतविद्वत्कलाविलयस्य निरवशेषत्वनिरूपणात्पादादिसं-
गतः । पूर्वपक्षे मोक्षासिद्धिः । सिद्धान्ते तत्सिद्धिरित्युपेत्य पूर्वपक्षयति । तत्रेति ।
विदुषो ब्रह्मणि कलाविलयः सावशेषो ब्रह्मणि कलाविलयत्वादुत्क्रान्तिकालीनकला-
विलयवदित्यर्थः । श्रुतियुक्तिविरुद्धमनुमानमिति सिद्धान्तयति । ब्रवीतीति । तत्र
श्रुतिविरोधं प्रश्नद्वारा दर्शयति । कुत इति । नदीसमुद्रन्यायेन पुरुषे कला विली-
यन्ते तासां च कलानां नामरूपे शक्यत्वात्मके अपि भिद्येते विदीर्येते पुरुषमात्रमवशि-

१ क. 'स्तं यन्ति । २ क. 'रमात्म' । ३ छ. कलास्ताः पृ' । ४ ट. 'षः । परे लयाधिकर-
णम् । अ' । ५ ड. अ. तासां ।

इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये
सावशेषत्वोपपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥ (<)

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासा-
मर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः
शताधिकया ॥ १७ ॥ (९)

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यार्गता चिन्ता । संप्रति त्वपरवि-
द्याविषयमेव चिन्तामनुवर्तयति । समाना चाऽऽस्त्युपक्रमद्वि-
द्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं तैमिदानीं सत्युपक्रमं दर्शयति ।
तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक
आयतनं हृदयम् “स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्व-
वक्रामति ” इति श्रुतेः । तदग्रेप्रज्वलनपूर्वका चक्षुरादिस्थाना-
पादानां चोत्क्रान्तिः श्रूयते “तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्यो-
तते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽ-
न्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ” [बृ० ४ । ४ । २] इति । सा
किमनियमेन विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनि-

व्यते स च विद्वानकलः कलाविरहितः सन्नमृतो भवति पूर्णरूपेण विष्टवीत्यर्थः ।
श्रुतिविरोधमनुमानस्योक्त्वा युक्तिविरोधमाह । अविद्येति । अनुमाननिरासफलमुपसं-
हरति । तस्मादिति ॥ १६ ॥ (<)

विद्वत्कलानां वचनादविभागापत्तिवदपरब्रह्मविदामपि “चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वेत्य-
विशेषवचनाद्यया कयाचिन्नाभ्यां प्राणनिष्क्रमणमिति प्राप्ते प्रत्याह । “तदोको-
ग्रज्वलनमिति । वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तराधिकरणानां तात्पर्यमाह । समाप्तेति ।
संप्रत्येतस्याधिकरणस्य वृत्तमनूय तात्पर्यमाह । समाना चेति । सूत्रमप्राप्त्याख्याद्वाराऽ-
धिकरणस्य विषयमाह । तस्येति । हृदयमायतनमित्यत्रै मानमाह । स इति । अस्तु
हृदयं जीवस्याऽऽलम्बनं तथाऽपि किं स्यादित्याशङ्क्योक्तम् । तदग्रेति । अदृष्टा-
क्षिप्तं प्रतिपत्तव्यज्ञानं प्रद्योतः । चक्षुष्टो वेतिद्वारानियमश्रुतेस्तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती-
विविशेषश्रुतेश्च संशयमाह । सा किमिति । उपासकानुपासकयोरनियमेन येन केन-

१ क. ड. ज. अ. ट. “वर्ता” । २ क. ज. “ग इति” । ३ ट. “गतवि” । ४ ज. “त्युक्तमि” ।
५ क. “तदिदा” । ६ ड. अ. ट. “प्रउ” । ७ ड. अ. “लनं तत्पूर्वं” । ८ क. ड. ज. अ. “मेनैव वि” ।
९ ड. “विद्विदु” । १० ड. ड. “व्या नि” । ११ ड. “मधि” । १२ क. ख. “त्र प्रमाणमाह” । १३ स. “क्षिप्तप्र” ।

[अ. ४ पा. २ सू. १७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०९३

यम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियममाप्तावाचष्टे ।
समानेऽपि हि विद्वद्विदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारे च
मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे । कुतः ।
विद्यासामर्थ्यात् । यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रा-
मेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत । तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात् । तच्छेष-
गत्यनुस्मृतिर्योगाच्च । विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धा गति-
रनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तूपैव प्रतिष्ठत
इति युक्तम् । तस्माद्भूदयालयेन ब्रह्मणो सूपासितेनानुगृहीतस्त-
द्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शतादितिरिक्तयेकशततम्या नाड्या
निष्क्रामतीतराभिरितरे । तथा हि हार्दविद्याप्रकृत्य समामनन्ति-

“ शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति

विष्वङ्कन्या उत्क्रमणे भवन्ति ”

[छा० ८ । ९ । ६] इति ॥ १७ ॥ (९) *

चिद्वारेणोत्क्रान्तिरुप वोपासकानामस्ति द्वारनियम इति विमर्शार्थः । अत्र चापरब्रह्म-
विदां फलार्थोत्क्रान्तैर्द्वारनियमोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे ध्यानरुताविशयशू-
न्यत्वं सिद्धान्ते तत्कृताविशयसिद्धिरिति सिद्धवत्कृत्य पूर्वपक्षमाह । श्रुतीति । चक्षुषो
वेत्याद्यविशेषश्रुतेर्यतः कुतश्चिदङ्गादुत्क्रामतीति प्राप्तमनुद्य सिद्धान्तमाह । आचष्ट
इति । तेन प्रद्योतेन प्रकाशितद्वारवत्त्वे चोत्क्रान्तेरिति शेषः । तस्य विदुषोऽविदुष-
श्चोच्चिन्मिषोरोको हृदयमायतनं तस्याग्रज्वलनं प्रद्योतसंज्ञितमादौ भवति तेन प्रका-
शितद्वारो विद्वानविद्वान्मूर्धन्यो यद्यपीष्यते तथाऽपि तयोरुत्क्रान्त्यपादानव्यव-
स्थायां हेतुं पृच्छति । कुत इति । तत्र सौत्रं हेतुमवधार्य व्यतिरेकद्वारा विवृणोति ।
विद्येति । स्थानान्तरेभ्योऽपि निष्क्रामन्नुत्कृष्टं फलमाप्नुयादित्याशङ्क्य सूत्रावयवं
व्याचष्टे । तच्छेषेति । स्थानान्तरेभ्यो निर्गच्छतामपि विशिष्टलोकाप्तौ विशिष्टगति-
चिन्तनविधानवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । फलितोक्तिपरत्वेनावशिष्टं सूत्रभागं व्याचष्टे ।
तस्मादिति । उक्तव्यवस्थायां श्रुतिमाह । तथा हीति ॥ १७ ॥ (९)

१ क. ड. अ. अ. ट. 'द्वारत्वे च' । २ क. 'कृष्टलो' । ३ ज. ट. 'बन्धा ग' । ४ ट. 'स्तथैव' ।
५ क. अ. 'णा समुपा' । ६ क. ड. अ. 'द्भावमा' । ७ घ. 'ताति' । ८ ड. अ. 'तमया ना' ।
९ ट. 'ति' । विद्यासामर्थ्याधिकरणम् । १० क. अ. 'त्क्रान्तौ य' । ११ क. 'कृष्टफ' ।

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

अस्ति हार्दविद्या “अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदैम” [छा० ८।१।१] इत्युपक्रम्य विहिता । तत्प्रक्रियायाम् “अथ या एता हृदयस्य नाड्याः” [छा० ८।६।१] इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्तत्वात्कम् “अथ यत्रैतदस्माच्छरीराद्गुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिर्ब्रह्ममाक्रमते” [छा० ८।६।५] इति । पुनश्चोक्तम् “तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति” [छा० ८।६।६] इति । तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन् रश्म्यनुसारीति गम्यते । तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्त्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभा-
वित्वादर्शयति च ॥ १९ ॥ (१०)

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसंबन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात् । नाडीरश्मिसंबन्धविच्छेदादिति चेन्न । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देह-

नाडीद्वारा निष्क्रान्तस्य ‘यदिदं’ रश्म्यनुसारित्वं तन्निश्चयायामपि तुल्यमित्याह । रश्मीति । प्रकरणशोधनपूर्वकं विषयमाह । अस्तीति । प्रथमोऽथशब्दो दहरविद्योपक्रमार्थो द्वितीयो रश्मिनाडीसंबन्धप्रदर्शनप्रारम्भार्थस्तृतीयस्त्वारब्धकर्मवासनानन्तर्यार्थः । एतदिति क्रियाविशेषणम् । चतुर्थोऽथशब्दस्तदेत्यर्थः । यत्रेति कालस्योक्तत्वात्प्रकरणशुद्धिलब्धं निगमयति । तस्मादिति । मूर्धन्बनाड्या निर्गच्छतः सगुणब्रह्मविदो रश्म्यनुसारित्वं किमहन्त्येव किं वाऽहनि रात्रौ चेति रश्मिनाडीयोगस्य कालविशेषाश्रित्ये रात्रौ रश्म्यमावावगमाच्च संशयमाह । तदिति । अत्र चापूरुषब्रह्मविदां फलाश्रये ब्रह्मनाड्या गच्छतां रश्म्यनुसारित्वस्याविशेषवादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे रात्रौ प्रेतानामहरागमनमपेक्ष्य फलप्राप्तिः । सिद्धान्ते स यावत्क्षिप्येतित्यादिश्रुतेस्तदैव तत्प्राप्तिरित्युपेत्य सिद्धान्तं प्रतिजानीते । आविशेषेति ॥ १८ ॥

सूत्रावयवेन पूर्वपक्षयित्वा तदवयवेन परिहरति । निशीति । तत्र पूर्वपक्षं विवृणोति । अस्तीति । सिद्धान्तमवतार्य व्याचष्टे । नेत्यादिना । शिरा नाड्याः ।

१ क. ज. ङ. ट. ‘स्ति दहरोऽस्मिन्ब्रह्मपुरे इति हा’ । २ क. ‘इमं दहरोऽस्मिन्ब्रह्मपुरे इत्यु’ । ३ ट. ‘त्यथै’ । ४ क. ज. ङ. ट. ‘री निष्क्रामतीति । ५ छ. ट. ‘त्री शि’ । ६ ट. ‘त्री प्रे’ । ७ क. छ. ‘त्यथै’ । ८ क. छ. छ. ‘त सूत्रेण शि’ ।

[अ. ४ पा. २ सू. १९] आनन्दागारेकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०९५

भावी हि शिराकिरणसंपर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः “ अमु-
ष्मादादित्यात्मप्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृष्टा आभ्यो नाडीभ्यः
प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृष्टाः ” [छा० ८ । ६ । २] इति ।
निदाघसमये च निशास्वापि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते प्रतापादि-
कार्यदर्शनात् । स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तरेरजनीषु शैशि-
रोष्वव दुर्दिनेषु । “ अहरेवेतद्रात्रौ दधाति ” इति चैतदेव दर्श-
यति । यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्य-
नुसारानर्थक्यं भवेत् । न ह्येतद्विशिष्टाधीयते यो दिवा प्रैति स
रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति । अथ तु
विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला
विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात् । मृत्युकालानियमात् । अथापि
रात्रावुपरतोऽहरागमं प्रतीक्षेत । अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मि-

नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वे प्रमाणोक्तिपरं सूत्रभागमादाय विभजते । दर्शय-
तीति । प्रतायन्ते विस्तीर्यन्ते सृष्टा गताः । नाडीरश्मिसंबन्धस्य श्रौतत्वेऽपि कुतो
यावद्देहभावित्वमित्याशङ्क्य युक्तिं दर्शयति । निदाघेति । चन्द्रगतप्रकाशान्यथानुप-
पत्त्या रात्रावस्ति सूर्यरश्मिरिति वक्तुमादिपदम् । न हि चन्द्रमस एव प्रकाशस्तस्यात्मन्य-
त्वात्तदयोगात् । तर्हि शिशिरादिष्वपि रात्रिषु किरणानुवृत्तिरुपलभ्येतेत्याशङ्क्याऽऽह ।
स्तोकेति । यद्रात्रौ तापो दृश्यते तदहरेव रात्रौ सविवा दधातीति धारणाभिधानं
स्तोकरश्म्यनुवृत्त्यभिप्रायमित्युक्तेऽर्थे श्रुत्यन्तरमाह । अहरेवेति । स यार्वाक्षिण्ये-
न्मनस्त्वावदादित्यं गच्छतीति नैरपेक्ष्यश्रुते रात्रौ प्रेतस्य न रश्म्यपेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह ।
यदीति । दिवामरणविषयमेतदित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । तर्हि रश्म्यनु-
सारित्वश्रुतेरर्थवत्त्वाय विदुषो रात्रौ प्रेतस्य फलसंबन्धो नास्ति तत्राऽऽह । अथ
त्विति । नित्यवत्फलसंबन्धवत्या विद्याया विधानान्न पाक्षिकफलतेत्यर्थः । तर्हि
विदुषो मरणमहन्त्येवेति नियमादुक्तदोषनिवृत्तिस्तत्राऽऽह । मृत्युकालेति । रात्रौ
मृतस्यापि तर्हि सूयोदयपर्यन्तप्रतीक्षा स्यात्तत्राऽऽह । अथापीति । आदिशब्देन
गर्वादि गृह्यते । यावत्तावदुपबन्धेन नैरपेक्ष्यश्रुतिविरोधाच्च न प्रतीक्षाकल्पनेत्याह ।

१ क. 'न्तरे रज' । २ ड. अ. ट. 'त्रौ विद' । ३ ट. 'ध्याभिधी' । ४ ड. ज. अ. 'र्ध्व आक्रम' ।
५ क. ड. ज. अ. 'गममुदीक्षे' । ६ घ. ठ. ड. 'त्रमा' । ७ क. ख. 'श्यत एव त' । ८ क. ख.
'वत्तर्हि क्षिण्ये' । ९ ठ. ड. 'बन्धेन विद्या' ।

संबन्धाहं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात् । “ स यावत्क्षिप्येन्म-
नस्तावदादित्यं गच्छति ” [छा० ८ । ६ । ५] इति च श्रुति-
रनुदीक्षां दर्शयति । तस्मात्तद्विशेषणैवेदं रात्रिदिवं रश्म्यनुसा-
रित्वम् ॥ १९ ॥ (१०)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अत एव चोदीक्षानुपपत्तेरप्राप्तिकफलत्वाच्च विद्याया अनि-
यतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि^१ अग्र्यमाणो विद्वान्प्राप्त्येव
विद्याफलम् । उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रती-
क्षादर्शनात् । “ आपूर्यमाणपक्षाद्यान्बुधदृक्छेति मासांस्तान् ”
[छा० ४ । १५ । ५] इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमिती-
मामाशङ्कामनेन सूत्रेणानुदत्ति । प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया ।
भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारेप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छ-

स यावदिति । अपरैर्विद्याविदो रश्म्यनुसारित्वस्याविशेषमुपसंहरति । तस्मादिति ।
॥ १९ ॥ (१०)

पूर्वाभिरेव युक्तिर्भी रात्राविव दक्षिणायनेऽपि मृतस्य फलाग्निरविशिष्टेत्याह ।
अतश्चेति । दक्षिणायने मृतो विद्वान्विषयः स किं विद्याफलं नाऽऽप्नोत्युताऽऽप्नोती-
त्युत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्नित्यवत्फलसंबन्धेन विद्याया विधानाच्च संदेहे दक्षिणा-
यनेऽपि मृतस्य ब्रह्मविदो विद्याफलमवश्यंभावीति साधनात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे
दक्षिणायने मृतस्य फलाभावादुत्तरायणमरणार्थं प्रयतितव्यम् । सिद्धान्ते हेत्वसिद्धे-
स्तादृक्प्रयत्नो नातीव फलवानित्यभिप्रेत्य सिद्धान्तमाह । अत इति । पूर्वाधिकरण-
न्यायेन सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह । उत्तरायणेति । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां दक्षि-
णायने मृतस्य विदुषो नास्ति फेलाग्निरिति पूर्वपक्षमनूय सिद्धान्तमाह । इतीमा-
मिति । अपनोदप्रकारमाह । प्राशस्त्येति । यत्तु भीष्मस्य प्रतीक्षादर्शनादिति
तत्राऽऽह । भीष्मस्येति । उत्तरायणमरणं प्राशस्त्यमित्यविदुषामभिज्ञां भिवचनरूपो
व्यवहारस्तत्पालनद्वारा सदाचारे तान्प्रवर्तयितुं तस्य कालप्रतीक्षणमित्यर्थः । तत्प्र-
तिपालनस्य गत्यन्तरमाह । पित्रिति । उत्तरायणस्य मार्गपर्वत्वेनापेक्षणीयत्वं श्रुत-
मित्युक्तं तत्कृतो दक्षिणायने मृतो विद्वान्विद्याफलमाप्नुयादित्याशङ्क्याऽऽह ।

१ क. क. ज. म. “स्माद्” २ ट. “म्” । रश्म्यधिकरणम् । अं । ३ क. क. म. एवोदी ।
४ क. “पि च मि” । ५ क. म. “स्य उत्तरायणम्” । ६ क. क. म. “रपरिपा” । ७ ठ. ड. “रविदो” ।
८ क. “द्विभ्यां द” । ९ क. फलप्राप्ति । १० ठ. ड. “ज्ञात्र” । ११ क. क. ठ. ड. “वदन” ।

[अ. ४ पा. २ सू. २१] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०९७

नवमृत्युताख्यपनार्थं च । श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति “आतिवाहिकास्त-
च्छिङ्गात्” [भ० सू० ४ । ३ । ४] इति ॥ २० ॥

ननु च—

“ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ”

[भ० गी० ८ । २३] इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरा-
दिकालविशेषः स्मृतावनावृत्तये नियतः कथं रात्रौ दक्षिणायने
वो प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

योगिनः प्रति च स्मर्यते

स्मर्ते चैते ॥ २१ ॥ (११)

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते ।
स्मर्ते चैते योगसारूप्ये न श्रुते । अतो विषयभेदात्प्रमाणविशे-
षाच्च नास्य स्मर्तस्य कालविनियोगस्य श्रुतेषु विज्ञानेष्वव-
तारः । ननु—

“ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ”

[भ० गी० ८ । २४] इति च श्रुतार्थेनैतौ देवयानपितृयाणौ

श्रुतेस्त्विति । न हि कालवादिनी श्रुतिः किं त्वातिवाहिकदेववार्थेत्यर्थः ॥ २० ॥

काल एवात्र प्राधान्येनोच्यते नाऽऽतिवाहिकी देवतेति स्मृतिमाश्रित्य शङ्कते ।
नन्विति । तदुत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति । अत्रेति । स्मर्तमुपासनं प्रत्ययं कालभेद-
विनियोगः स्मार्तोंऽभ्युपगम्यते प्रत्यासत्तेरिति व्याचष्टे । योगिन इति । योगी दह-
राद्युपासक एव किं न स्यात्तत्राऽऽह । स्मर्ते चेति । नित्यमभिहोत्रादीश्वराराध-
नरूपेण यदनुष्ठीयते स योगः “अनाश्रितः कर्मफलम्” इत्यादिस्मृत्यैः । इन्द्रियाणीन्द्रि-
याथेषु वर्तन्ते इति धारणापूर्वकोऽकर्तृत्वानुभवः सारूप्यमिति भेदः । श्रौतदहराद्युपा-
सनां स्मृत्यविषयत्वे फलितमाह । अत इति । श्रुतिस्मृत्योर्भिन्नार्थत्वं प्रत्यभिज्ञावि-
रुद्धमिति शङ्कते । नन्विति । कालभेदविषयत्वमङ्गीकृत्य विषयव्यवस्थोक्ता प्रत्य-
भिज्ञानेन कालाभिधानद्वारा देववोक्तौ श्रुतिस्मृत्योरेकार्थत्वेवेति कुत्रो विरोधशङ्के-

१ क. अ. “ति प्रा” । २ क. वा प्रेयमना । ज. वा मृतोऽना । ३ क. ज. “वैव दे” । ४ ट.
“यानौ प्र” । ५ क. “भित्त्याऽऽह” ।

प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति । उच्यते “तं कालं वक्ष्यामि”
[भ० गी० ८ । २३] इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य
परिहार उक्तः । यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवाऽऽ-
तिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न काश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥ (११)
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकान्नार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
शारीरकमीर्मासाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २॥

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ (१)

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । स्रुतिस्तु श्रुत्यन्तरे-
ष्वनेकधा श्रूयते नाडीरश्मिसंबन्धेनैका “अथैतेरेव रश्मिभि-
रूर्ध्व आक्रमते” [छा० ८ । ६ । ५] इति । अर्चिरादिकैका
“तेऽर्विषमभिसंभवन्त्यर्विषोऽहः” [बृ० ६ । २ । १५]
इति । “स एतं देवयानं पन्थानमापद्यामिलोकमागच्छति”
[कौषी० १ । ३] इत्यग्न्या । “यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोका-
त्प्रैति स वायुमागच्छति” [बृ० ५ । १० । १] इत्यपरा ।

स्याह । उच्यत इति । तदेवं दक्षिणायने मृतस्यापि विदुषो विद्याफलमवश्यंभावं
त्याधिकरणार्थमुपसंहरतुमितीत्युक्तम् ॥ २१ ॥ (११)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगव-
दानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे न्यायनिर्णये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अपरविद्याफलाय देवयानं पन्थानमवतारयितुं तदङ्गभूतोत्क्रान्तिर्विधिवत् । संप्र-
त्याङ्गिणं पन्थानमेव वक्तुं पादान्तरमारभ्यते । तत्र पूर्वाधिकरणे प्रायणकालानियमादि
द्याफलस्य चाऽऽवश्यकत्वात्प्रतीक्षणस्य चायुक्तेर्दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो विद्या
फलाप्तिरस्वीत्युक्तम् । प्रायणकालवत्प्रयतो गतिरनियतेत्याशङ्क्य परिहरति । अर्चि-
रादिनेति । वृत्तमनूय प्रकृतोत्तरमार्गमधिकरणस्य विषयत्वेनोदाहरति । आसृतीति
श्रुत्यन्तरेषु भिन्नासु सृतिष्विव यावत् । संशयहेतुं श्रुतिविप्रतिपत्तिं वक्तुमनेकमेत्यु-
क्तम् । अथेत्युक्रान्त्यानन्तर्योक्तिः । विरजा विरजसो रजःशब्दिवब्रह्मलोकसि विरोधि
विधुरा इति यावत् । उक्तं देवयानं पन्थानमधिकृत्य श्रुतिविप्रतिपत्तिं सूचितां हेतुं

१ ड. म. ‘शङ्कयार्थं प’ । २ क. ज. स. ट. ‘हिन्यो गृ’ । ३ क. ट. ‘कविधा । ४ क. ज. ट.
‘चिरभि’ । ५ क. स. ‘निरुक्ता । सं’ । ६ क. स. ‘त्रिनमेव प’ । ७ क. स. ‘पन्थानं वक्तुं । ८ ड.
स. ‘कविधे’ । ९ ट. ‘यानप’ ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १०९९

“सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति” [मुण्ड० १।२।११]
इति चापरा । तत्र संशयः । किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः
किं वैकैवानेकविशेषणेति । तत्र ‘मासं तावद्भिन्ना एताः सृतयः
इति । भिन्नप्रकरणत्वात् । भिन्नोपासनशेषत्वाच्च । अपि च “अथै-
तेरेव रश्मिभिः” [छा० ८।१६।५] इत्यवधारणमर्चिराद्य-
पेक्षायामुपरुध्येत । त्वरावचनं च पीड्येत “स यावत्क्षिप्ये-
न्मनस्तावदादित्यं गच्छति” [छा० ८।६।५] इति ।
तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति । एवं प्राप्तोऽभिदध्महे ।
अर्चिरादिनेति । सर्वो ब्रह्म प्रेम्पुरार्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति
प्रतिजानीमहे । कुतः । तत्प्रथितेः । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां
विदुषाम् । तथा हि पञ्चाम्रविद्याप्रकरणे “येऽचामी अरण्ये
श्रद्धां सत्यमुपासते” [बृ० ६।२।१५] इति विद्यान्तर-
शीलिनामप्यर्चिरादिका सृतिः श्राव्यते । स्यादेतत् । यामु
विद्यामु न काचिद्वतिरुच्यते तांस्वयमर्चिरादिकोपतिष्ठतां यामु

कृत्य संशयमाह । तत्रेति । अत्रापरविद्याफलाप्तिहेतुमार्गेक्योक्त्या पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे मार्गेबहुत्वे विकल्पः सिद्धान्ते तदैक्ये विकल्पशङ्कैव नेत्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयति ।
तत्रेति । सूचीनां मिथो भिन्नत्वे हेतुमाह । भिन्नेति । नानाप्रकरणस्थत्वेऽपि विद्या-
वदेकत्वं किं न स्यात्तत्राऽऽह । भिन्नेति । प्रतिप्रकरणं विद्याभेदाद्विभेदानामपि तद्वृ-
णत्वेन चिन्त्यानां गुणिभेदाद्वेदः स्यादित्यर्थः । गतिभेदे हेत्वन्तरमाह । अपि चेति ।
किंच वक्राध्वना गतिमपेक्षयावक्रेण गतिस्त्वरारवती कैल्प्यत एकत्वे तु किमपेक्ष्य त्वरा-
स्यात्तस्माद्विभेदसिद्धिरित्याह । त्वरेति । मार्गभेदे केनाध्वना ब्रह्मलोकाप्तिरित्या-
शङ्क्य संमुख्यायोगाद्व्याख्यादिवद्विकल्पः स्यादिति मत्वाऽऽह । तस्मादिति । उपा-
स्विभेदेषूपस्य ब्रह्मैक्यवद्गुणभूतगत्यैक्यसिद्धेरर्चिरादिस्त्वैव गतिरित्याह । एवमिति । तत्र
प्रविज्ञां विभजते । सर्वं इति । नानाविधाध्वसु श्रुतेषु कारणमवधारणे वक्तव्यमिति
पृच्छति । कुत इति । हेतुमवतार्य व्याचष्टे । तादिति । पञ्चाम्रविदुमेव तेऽर्चिष-
मपिसंभवन्तीत्यर्चिरादिगतेः श्रुतत्वात्कुतः सर्वेषामिति विशेषणं तत्राऽऽह । तथा
हीति । साधारणश्रुतेरश्रुतगतिकर्षाविषयत्वाद्विद्यान्तराणां स्वाधिकारस्थगतिनिरपेक्षाणां
नार्चिरादिगविसंगतिरिति शङ्कते । स्यादिति । एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वयुक्तत्वयोगा-

१ ज. छ. ट. “स्परमि” । २ क. ड. ख. ट. एवैताः । ३ क. अ. “गस्थितत्वा” । ४ क. च
संज्ञा । ५ क. “तो मा” । ६ क. ज. अ. तास्वेव । ७ क. कृत्यत ।

त्वेन्या श्राव्यते ताम् किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति । अत्रोच्यते । भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः स्रुतयः स्युः । एकैव त्वेषा स्रुतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकमपदनी कचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः । सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्वतिविशेषणानामप्युपसंहारः । विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्वन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथा हि “ ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति ” [बृ० ६ । २ । १५] “ तस्मिन्वसंति शाश्वतीः समाः ” [बृ० ५ । १० । १] “ सा या ब्रह्मणो जितिर्यो व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यञ्जते ” [कौषी० १ । ४] “ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति [छा० ८ । ४ । ३] इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्शयते । यत्वेतरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति । नैष दोषः । रश्मि-

द्वेरेव न भेदो गौरवादित्याह । अत्रेति । एकदेशप्रत्यभिज्ञानादपि गतेरैक्यं सर्वत्रेत्याह । सर्वत्रेति । यत्तु भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्ना गत्य इति तत्र प्रकरणभेदमात्रादेः गतिभेदो विद्याभेदाद्वा नाऽऽद्य इत्याह । प्रकरणेति । नै हि द्वितीय इत्याह विद्येति । तद्वेदेऽपि वेद्यब्रह्मैक्यवद्गुणभूतगत्यैक्यमविरुद्धमित्यर्थः । गन्तव्याभेदं विदुषोति । तथा हीति । ते ब्रह्मविदो नानाभोगदेशभाजि ब्रह्मलोके परावतो ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य पराः समाः प्रकृष्टान्संवत्सरान्वसन्ति यावदायुर्ब्रह्मणस्तावत्तत्र तिष्ठन्वीत्यर्थः तस्मिन्निति ब्रह्मलोको गृह्यते । शाश्वतीः समा नित्यान्संवत्सरान्वसंतीति पूर्ववत् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य या जितिः सर्वलोकजयो या च व्युष्टिर्व्याप्तिस्तां लभते समान देहतां प्राप्तः सन्नित्यर्थः । कस्यैतत्फलं तत्राऽऽह । तद्य इति । तत्तत्राधिकृतान् मध्ये ये केचिद्ब्रह्मचर्यादिसाधनेन ब्रह्मोपासते ते पुनरेतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मणाऽधिष्ठितं लभन्त इत्यर्थः । उक्तश्रुतीनां तात्पर्यमाह । तत्र तत्रेति । परोक्तमनूद्य प्रत्याह यत्त्विति । रात्रौ स्पष्टरश्म्यदृष्टेस्त्वदनुसारित्वाभावे तत्र मृतस्य प्राप्ते सोऽप्येतरे रश्मिभिरित्ययोगव्यवच्छेदार्थमवधारणं नान्ययोगव्यवच्छेदायेत्यर्थः । अन्ययोगव्यव

१ क. द. अ. 'त्वेन्याऽन्या' । २ क. अ. 'किमर्चि' । ३ ज. ट. 'प्रतिपादिनी' । अ. 'प्रतिपाद' । ४ ज. 'पि वि' । ५ क. अ. तु । ६ ज. अ. 'पि ग' । ७ क. 'सन्ति शा' । ८ ट. समा था । ९ क. अ. 'या व्यष्टि' । १० ट. जयन्ति । ११ क. अ. व्यष्टि । १२ ठ. द. न द्वि । १३ क. क. ठ. द. 'सन्तीति' । १४ ठ. द. च व्यष्टि ।

[अ४पा.३.सू.२] भानन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ६१०१

प्राप्तिपरत्वादस्य । न ह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्प-
चिरादींश्च व्यावर्तयितुम् । तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवापमवधार्यत इति
द्रष्टव्यम् । त्वरावचनं त्वचिराद्यपेक्षायापि गन्तव्यान्तरापेक्षायां
क्षेत्र्यार्थत्वाच्चोपरुध्यते । यथा निमेषमात्रेणात्राऽऽगम्यत इति ।
अपि च “अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन” [छा० ५।१०।८]
इति मार्गद्वयभ्रष्टान्नं कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षणा पितृयाणव्य-
तिरिक्तमेकमेव देवयानमार्चिरादिपर्वणं पन्थानं प्रथयति । भूर्यसां-
स्याचिरादिस्रुतौ मार्गपर्वण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र । भूर्यसां चाऽऽ-
नुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यचिरादिना तत्प्रथि-
तेरित्युक्तम् ॥ १ ॥ (१)

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ (२)

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषेणानामितरेतरविशे-

च्छेदकत्वमपि वचनस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । एकस्य वाक्य-
स्याप्राप्तमार्गप्रापकत्वं तस्य निरपेक्षत्वप्रतिपादकत्वं चायुक्तं वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः ।
उभयार्थत्वायोगे फलितमाह । तस्मादिति । विधिसामर्थ्यप्राप्तमयोगव्यवच्छेदमेव-
कारोऽनुवदतीत्यर्थः । यत्तु त्वरावचनं पीडितं स्यादिति तत्राऽऽह । त्वरेति । आचि-
रादिमार्गस्यैक्येऽपि कुतश्चिदन्यतो गन्तव्यादनेनोपायेन सत्यलोकं ज्ञातिं गच्छतीति
गन्तव्यभेदापेक्षया वचनं युक्तमित्यर्थः । देवयानमार्गैक्ये हेत्वन्तरमाह । अपि चेति ।
मार्गभेदे स्थानान्तरस्यापि योगात्तृतीयस्थानोक्तिर्न स्यादित्यर्थः । पितृयाणातिरिक्त-
मार्गैक्येऽपि किमित्त्राचिरादिनेति विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह । भूयांसीति । अल्प-
पर्वणा मार्गेण गन्तव्यमाप्तिसंभवे बहुपर्वणामार्गोपदेशो व्यर्थः स्यात्प्रेक्षावत्स्वप्नाप्रवृत्तेः ।
अतो भूर्यसां पर्वणामनुरोधेनाल्पीयसां तदनुप्रवेश एव युक्तो बहूनामनुग्रहस्य न्याय्य-
त्वादित्यर्थः । मार्गैक्ये जघन्यविकल्पशङ्काऽपि नेति वक्तुमपीत्युक्तम् ॥ १ ॥ (१)
सर्वत्राचिरादिर्भेदोपपत्त्यभिज्ञानाद्वैक्यमुक्तम् । संप्रत्येतं देवयानं पन्थानमापथा-
मिलोकमगच्छेति स वायुलोकमित्यत्राचिरात्मकान्यानन्तर्यप्रत्यभिज्ञानादचिरादोऽन-
न्तरं निवेशनीयो वायुरित्याशङ्क्याऽऽह । वायुमिति । इतरेतरविशेषणविशेष्यत्वे-
नोपसंहारोऽचिरादीनामुक्तः स कीदृश इति विचारयति । केनेति । मार्गपर्वणां विशेषे-

१ ट. 'या क्षिप्रार्थ' । २ क. ज. निमेष' । ३ ज. 'णाऽऽग' । ४ छ. 'गत्' । ५ ट. 'थोर्नैक' ।
६ क. 'तीयस्था' । ७ ट. 'यानव्य' । ८ छ. ज. 'यांसि चाधि' । ९ क. 'यसामानु' । १० ट. ज.
'सां च न' । ११ ट. 'मू' । अचिराद्यधिकरणम् । वा । १२ ट. ज. 'शेषाणामि' । १३ ट. ट. तस्या-
नर्थे । १४ ट. ट. 'मार्गे प' । १५ क. छ. ट. ट. 'च्छन्ति स' ।

षणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भावाऽऽचार्यो ग्रथयति । “ स एतं देवयानं पन्थानमापद्यामिलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् ” [कौ० १ । ३] इति कौषीतकिना देवयानः पन्थाः पठ्यते । तत्रार्चि-
रमिलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेश-
क्रमः क्वचिदन्वेष्टव्यः । वायुस्त्वर्चिरादौ वर्तेर्नि न श्रुतः कतमस्मि-
न्स्थाने निवेशयितव्य इति । उच्यते “ तेऽर्चिर्षमेवाभिसं-
भवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्केति
मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् ” [छा० ५ ।
१० । १] इत्यत्र संवत्सरात्पराश्रमादित्यादर्वाश्रं वायुमभिसंभ-
वन्ति । कस्मात् । अविशेषविशेषाभ्याम् । तथा हि “ स वायु-
लोकम् ” [कौ० १ । ३] इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः

षणविशेष्यत्वे सिद्धे योग्यतया स्वयमेव संनिवेशविशेषसिद्धेरनर्थकं तन्निरूपणमित्याश-
ङ्क्याऽऽह । सुहृदिति । संनिवेशविशेषणविशिष्टं विशेषणविशेष्यत्वं तदेतदित्युक्तम् ।
संक्षेपतोऽधिकरणस्य तात्पर्यमुक्त्वा विषयमाह । स इति । तत्र प्रथमश्रुतममिलोकम-
तिक्रम्य किमिति वार्योः संनिवेशो विचार्यते तत्राऽऽह । तत्रेति । असंदिग्धमंश-
मुक्त्वा संदिग्धमंशमाह । वायुस्त्विति । अर्चिषोऽनन्तरममिलोके वायुलोकमिति
पाठक्रमबलाद्वायुनिवेशयितव्यः किंवा वक्ष्यमाणन्यायेन संवत्सरदेवलोकयोः परस्ता-
दादित्यस्य चार्वागिति संशयात्स एव विचारविषय इत्यर्थः । अत्र चापरविद्याफलार्थं
मार्गपर्वणां संनिवेशविशेषचिन्तनात्पादादिसंगातिः । पूर्वपक्षे षष्ठानुक्रमस्यानुसरणं
सिद्धान्ते त्वर्थक्रमात्तस्य बाध्यतेति मन्वानो वायोरादित्यादव्यवहितपूर्वत्वेन संनिवेशं
सिद्धान्तमाह । उच्यते इति । पाठक्रमादग्रेनन्तरं निवेशनीयो वायुरिति शङ्कते ।
कस्मादिति । सूत्रपदेनोत्तरमाह । अविशेषेति । विशेषदर्शनस्यैव स्थानविशेषसंनि-
वेशहेतुत्वेऽपि वायोरर्चिरादिके पथि सामान्यप्राप्तावविशेषोक्तिरपि हेतुरिति मत्वा
न्याचष्टे । तथा हीति । कौषीतकिश्रुतेर्वाजसनेयिश्रुतिः श्रुत्यन्तरम् । पुरुषो ध्याता
लोको देहः । प्रैवीत्यत्र तदेति द्रष्टव्यं यदेत्युपक्रमात् । तस्मै प्राप्तायोपासकाय वायु-
स्तत्र स्वात्मानि विजिहीते द्वारं प्रयच्छतीति यावत् । वायुपक्षद्वारपरिमाणं दृष्टान्तेन

१ क. अ. कौषितं । २ क. क. अ. म. ‘मः कश्चिद’ । ३ क. क. म. ‘न्वेष्टव्यः । वा’ ।
४ म. ‘एदिव’ । ५ क. म. ‘लैन्यश्रु’ । ६ क. क. अ. म. ‘ने संनि’ । ७ क. अ. म. ‘वमभि’ ।
८ क. म. वायुसं । ९ क. म. ठ. क. पाठक । १० क. ठ. क. ‘वेशे हे’ । ११ क. वायु ।

[अ. ४ पा. ३ सू. २] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११०३

श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो हश्यते “ पदा वै पुरुषोऽस्माद्धोका-
त्प्रेति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथच-
क्रस्य स्वं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति ”
[वृ० ५ । १० । १] इति । एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्श-
नाद्विशेषादब्दादित्यपोरन्तराले वायुनिवेशयितव्यः । कस्मा-
त्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादविषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते ।
नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः । नैनुदाहृता श्रुतिः “ स एतं
देवयानं पन्थानमापद्यामिलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुण-
लोकम् ” [कौषी० १ । ३] इति । उच्यते । केवलोऽत्र पाठः
पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । पदा-
र्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते, “ एतमेतं चाऽऽगच्छति ” इति ।
इतरत्र पुनर्वायुमत्तेन रथचक्रमात्रेण छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्याऽऽ-
दित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः । तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषा-
भ्यामिति । वाजसनेयिनस्तु “ मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादा-
दित्यम् ” [वृ० ६ । २ । १५] इति समामनन्ति । तत्राऽऽदि-
त्यानन्तर्यायं देवलोकाद्वायुमभिसंभवेयुः । वायुमब्दादिति तु

स्पष्टयति । यथेति । विशेषोक्तिफलं निगमयति । एतस्मादिति । सिद्धान्तेनोपक्रम्य
पूर्वपक्षमाह । कस्मादिति । पाठक्रमादविषोऽनन्तरं निवेशनीयो वायुरित्यर्थः ।
वायुमत्तमार्गेणोर्ध्वमादित्यमाक्रमत इत्यूर्ध्वत्वश्रुतेर्देवचनत्वेऽप्यर्थक्रमद्योतितात्तेनेति
च वायुमत्तरथचक्रपरिमितावकाशस्योर्ध्वक्रमणं प्रति हेतुत्वसिद्धेर्वीयोरपि तन्निमित्तत्व-
दृष्टेर्द्वैशब्दश्रुतिसिद्धार्थक्रमेण पाठक्रमो बाध्यत इत्याह । नेत्यादिना । उक्तमेवार्थं
विवृण्वन्नाशङ्कते । नन्विति । तत्र सिद्धान्ती स्वाभिप्रायमाह । उच्यत इति । तर्हि
वाक्यस्य वैयर्थ्यं नेत्याह । पदार्थेति । स्वरूपविधिपरमेष्ठद्वचनं न क्रमपरमित्यर्थः ।
वाजसनेमिश्रुतावपि क्रमवाचिशब्दो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह । इतरत्रेति । कौषीतिक-
वाक्योक्तस्य वायोऽच्छान्दोग्योपदिष्टाचिरादिमार्गे निवेशमुक्तमुपसंहरति । तस्मादिति ।
वाजसनेयिना संवत्सरश्रवणात्कथं वायुमब्दादिति सूत्रं तत्राऽऽह । वाजसनेयिन-
स्त्विति । तर्हि देवलोकाद्वायुलोकमिति वक्तव्यमित्याशङ्क्य च्छान्दोग्याभिप्रायेणै-
षदुक्तमित्याह । वायुमिति । क्रमस्तर्हि कः स्यादित्याशङ्क्योभयश्रुत्यालोचनया

१ अ. खण्डेन । २ ज. ट. ननु तत्रोदा । ३ क. ड. ज. अ. 'लोकः' । ४ क. 'दार्थप्रदः' ।
५ क. ज. अ. एतं चैतं च स ग । ६ क. 'तं च स ग' । ७ ड. अ. तु च्छान्दोग्यश्रुः । ८ क. ख.
'ध्वंशु' । ९ ड. द. 'तत्र क्र' । १० क. ख. ड. द. 'युमि' ।

छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र
देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः । तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययाद्भा-
वप्युभयत्र ग्रंथयितव्यौ । तत्रापि माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः
पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥ (२)

तद्वितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥ (३)

“ आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम् ” [छा० ४ ।
१५ । ५] इत्यस्या विद्युत उपरिष्ठात्स वरुणलोकमित्ययं
वरुणः संबध्यते । अस्ति हि संबन्धो विद्युद्वरुणयोः । यदा हि
विशाला विद्युतस्तीव्रस्तन्नितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रवृत्त्यन्त्य-
थाऽऽपः प्रपतन्ति । “ विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा ”
[छा० ७ । ११ । १] इति च ब्राह्मणम् । अपां चाधिप-

क्रमं दर्शयति । छान्दोग्येति । तर्हि कथमेकवाक्यत्वं तत्राऽऽह । तत्रेति । तर्हि
देवलोकस्य प्राथम्यं संवत्सरस्य पश्चात्त्यं किं न स्यात्तत्राऽऽह । तत्रापीति । संव-
त्सरस्य मासारभ्यत्वान्मासानन्तर्ये स्थिते देवलोकः संवत्सरस्य परस्ताद्वयत्यादित्यान-
न्तर्याय देवलोकादपि वायुरुपरिष्ठाद्व्यव्यः । सूत्रे तु संवत्सरादेवलोकं प्राप्य वायु-
मभिसंभवतीति विवक्षितं वायुशब्दस्य देवलोकोपलक्षणार्थत्वात् । अतः श्रुतित्रयवशा-
द्देवलोकसहितवायोः संवत्सरादित्यान्तरालवर्तित्वमित्यर्थः ॥ २ ॥ (२)

वायोः संनिवेशे दर्शिते तदनन्तरपठितवरुणादिसंनिवेशं दर्शयति । तद्वितोऽधि-
वरुण इति । स वरुणलोकमित्यादिना श्रुतो वरुणादिविषयः स किमचिरादिमार्ग-
पर्वत्वेन न संबध्यते किंवा संबध्यत इति तस्य तत्र संनिवेशस्थानासंभवसंभ-
वाभ्यां संदेहे स वायुलोकं स वरुणलोकमिति वरुणादीनां पाठक्रमेण वायोरूर्ध्वमादि-
त्यात्प्रागूर्ध्वश्रुतिसिद्धार्थक्रमविरोधेन निवेशासिद्धेर्विद्युतश्चोपरिष्ठाद्व्यव्यमानवपुरुषस्यैव नेतृ-
त्वश्रवणाद्वरुणादीनामनुपयोगान्निवेशस्थानान्तराद्व्यव्य तेषां मार्गपर्वत्वेन संबन्धो
नास्तीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह । आदित्यादिति । विद्युतोऽनन्तरं वरुणसंनिवेशे
सूत्रोक्तं हेतुमाह । अस्तीति । तत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति । यदेति । विद्युदुद्वान-
नन्तरं वृष्टेष्टत्वात्कार्यकारणभावस्तयोरस्तीत्यर्थः । तत्रैव श्रुतिं संवादयति । विद्योतत
इति । अपां विद्युद्योगेऽपि वरुणस्य किमायातं तदाह । अपां चेति । वायोरनन्त-
रमधीतस्यापि वरुणस्य विद्युदानन्तर्यवदिन्द्रप्रजापत्योर्वरुणानन्तरमधीतयोरपि

[अ. ४ पा. २ सू. ४] आनन्दागारिकृतटीकासंवलितशार्करभाष्यसमेतानि । ११०५

तिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । वरुणाच्चधीन्द्रप्रजापती
स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च । आगन्तुकत्वादपि वरुणादी-
नामन्त एव निवेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्बिद्युच्चान्त्याऽचिरौदो
वर्त्मनि ॥ ३ ॥ (३)

आतिवाहिकास्तलिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवाचिरादिषु संशयः किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभू-
मयोऽथ वो नेतारो गन्तृणामिति । तत्र मार्गलक्षणभूता अचि-
रादय इति तावत्प्राप्तम् । तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथा हि
लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्व-
ममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा
प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यचिषोऽहरह् आर्प्यमाणपक्षमित्याद्याह ।
अथ वा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथाहि लोकशब्देनाग्न्यादीने-

स्थानान्तरं वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह । वरुणाच्चेति । तर्हि तयोर्मागपर्वत्वेन संगतिरेव
मा भूदित्याशङ्क्याऽऽह । पाठेति । आगन्तूनामन्वे निवेश इतिन्यायाच्चासाधार-
णस्थानहीनानां वरुणादीनां तडिदानन्तर्यमुक्तमित्याह । आगन्तुकत्वादिति । यथा
दर्शपूर्णमासिकविकृतौ नक्षत्रेषौ सोऽत्र जुहोत्यग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहेत्यादीनामु-
पहोमानां प्रधानशब्दगृहीतप्रकृतनारिष्ठहोमान्ते प्रयोगो निरूपितस्त्वथाऽचिरादिमा-
गेऽपि स्थानाभावेनाऽऽगन्तूनामन्वे निवेशः स्यादिति भावः । कथं विद्युतोऽन्त्यत्वं न हि
तदन्त्यत्ववाची शब्दोऽस्त्योऽस्त्याशङ्क्य विद्युदनन्तरं पर्वान्तरस्यानुकेस्तदन्त्यत्वमि-
त्याह । विद्युच्चेति । वरुणादीनामुपयोगस्त्वमानवेन सह नेतृत्वसंभवादिति वक्ष्यते ।
अत्र च विद्याफलार्थे पथि वरुणादीनां संनिवेशोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे वरु-
णादिपाठस्यावष्टाथैत्वं सिद्धान्ते वरुणादीनां स्थानान्तराभावेऽप्यागन्तूनामन्वे निवे-
शात्पाठस्य वष्टाथैतदेति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥ (३)

अचिरादीनां क्रमं निरूप्य स्वरूपं निरूपयति । आतिवाहिका इति । विषयो-
क्तिपूर्वकमुक्तिसाम्याल्लोकशब्दादतिनेतृत्वलिङ्गाच्च संशयमाह । तेष्वेवेति । अत्र च
विद्याफलप्राप्त्यर्थमचिरादावध्वनि प्रवृत्तस्य विदुषो गमयितृत्वचिन्तनात्पादादिसंगतिः ।
पूर्वपक्षे निर्देशस्य लोकश्रुतेर्वा मुरुयत्वं सिद्धान्ते न्यायवलिङ्गस्येत्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षमाह ।
तत्रेति । उक्तेऽर्थे निर्देशसाम्यं हेतुमाह । तदिति । उक्तमेव हेतुं वष्टान्तेन
स्पष्टयति । यथेति । पूर्वपक्षान्तरमाह । अथ वेति । कथं लोकशब्दप्रयोगेऽप्यचिरा-

१ क. ज. छ. ट. 'नादाधी' । २ ट. 'रादिव' । ३ ड. अ. 'हिकस्त' । ४ छ. 'तेष्वचि' । ५ ड.
वाऽतिने' । ६ ड. अ. हि कश्चिद्लोके ग्रामं । ७ क. ड. ज. म. 'मं न' । ८ क. ड. अ. 'य एता
३' । ९ क. ड. अ. 'दीनुप' । १० ठा. ड. 'शेषोर्ण' ।

तुबध्नाति “अग्निलोकमागच्छति” [कौषी० १ । ३] इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते “मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः” [बृ० १ । ५ । १६] इति च । तथा च ब्राह्मणम् “अहोरात्रेषु ते” लोकेषु सञ्जन्ते” इत्यादि । तस्मान्नाऽऽतिवाहिका अर्चिरादयः । अचेतनत्वादप्येषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाहानतिवाहयन्तीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति । कुतः । तल्लिङ्गात् । तथा हि “चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति” [छा० ४ । १५ । ५] इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति । तद्वचनं तद्विषयेमेवोपक्षीणमिति चेत् । न । प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्नवृत्त्यर्थं पुरुषाविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैष दोषः ।

दीनां भोगभूमित्वं तत्राऽऽह । लोकेति । मार्गपर्वणां भोगभूमित्वे श्रुतिमपि दर्शयति तथाचेति । अहोरात्रप्रभृतिषु लोकशब्दिषु भोगायतनेषु ते कर्मिणो ज्ञानिनश्च सति भोगमनुभवन्तीति यावत् । पक्षद्वयेऽपि फलितमाह । तस्मादिति । अर्चिरादिशब्दा नामचेतनेष्वन्यादिषु रूढत्वादपि न तेषामातिवाहिकत्वेत्याह । अचेतनत्वादिति तदेव व्यतिरेकदृष्टान्तेन स्फोरयति । चेतना हीति । सिद्धान्तसूत्रमादाय प्रतिज्ञा विभजते । एवमिति । तत्र हेतुं प्रश्नपूर्वकमादाय व्याचष्टे । कुत इति । अमानवपुरुषस्य विद्युदादावातिवाहिकत्वदृष्टेरर्चिरादीनामपि तदुन्नेयमित्यर्थः । यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायान्न तेषामातिवाहिकत्वसाधकमेवादिति शङ्कते । तदिति । उभयपरत्वे वाक्यभेदः स्यादिति भावः । प्राप्तगमयितृमानवपुरुषानुवादेनप्राप्तमानवत्ववादिस्वीकृत्यस्योभयपरत्वेन वाक्यभेदप्रसङ्गात्पूर्वेषामपि मानवपुरुषतया गमयितृत्वं ग्राह्यमित्याह । नेति । उक्तमेव प्रपञ्चयति । यदीति ॥ ४ ॥

लिङ्गस्यानुग्राहकन्यायाभावे गमकत्वासिद्धिरिति शङ्कते । नन्विति । न्यायोक्तिपरं सूत्रमवतारयति । नेति । चेतनस्य यत्नहीनस्योर्ध्वगतिश्चेतनान्तराधानेति लौकिकन्यायेन यत्नहीनानां गन्तृणां गमयितारोऽर्चिरादयश्चेतनाः स्युरिति सूत्रयो-

१ क. अ. तेषु । २ क. अ. ‘प्येतेषा’ । ३ ट. एतान्ब्र । ४ क. अ. ‘ति । यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात्तद्व’ । ५ ट. ‘य एवो’ । ६ अ. ‘स्ते मा’ । ७ क. अ. ज. अ. ट. ‘तु लिङ्ग’ । ८ अ. भोगानुभवम् । ९ ट. अ. स्फोटः ।

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदचिरादिमार्गास्ते . देहवियोगात्संपिण्डितकरण-
ग्राभा इत्यस्वतन्त्रा अचिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्य-
सोऽचिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता
इति गम्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्छितादयः संपिण्डितकरणाः
परमयुक्तवर्त्मनो भवन्ति । अनवस्थितत्वादप्यचिरादीनां न
मार्गलक्षणेत्वोपपत्तिः । न हि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसंभव
उपपद्यते । न च प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात् । ध्रुवत्वाच्च देव-
तात्मनां नायं दोषो भवति । अचिरादिशब्दता चेष्टमचिराद्यभि-
मानादुपपद्यते “ अचिषोऽहः ” [छा० ४ । १५ । ५ । ५ ।
१० । १] इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते ।
अचिषा हेतुनाऽहरभिसंभवति । अह्ना हेतुनाऽऽपूर्यमाणपक्षमिति ।
तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो
दृश्यते । गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्ण-

जनया ब्रूते । ये तावदिति । उभयोर्भिर्गतद्वयोर्व्यामोहादज्ञत्वमत्तत्सिद्धेर्गमयितृसिद्धेर्न
न्यायहीनं लिङ्गमित्युक्त्वा न्यायमेव स्फुटयति । लोकेऽपीति । पूर्वपक्षद्वयायोगे
हेत्वन्तरमाह । अनवस्थितत्वादिति । अहःशुक्लपक्षोत्तरायणानां कालान्तरेषु मार्ग-
चिह्नत्वमोगभूमित्वे न संभाव्येते तदा तेषामभावादिति हेतुं सावयति । न हीति । तर्हि
तदा गमनं प्रतीक्ष्य रात्र्यादौ प्रेतो गमिष्यति नेत्याह । न चेति । अनवस्थितत्वावि-
शेषादातिवाहिकत्वमपि कुतस्तेषामित्याशङ्क्याऽऽह । ध्रुवत्वादिति । अचिरादिश-
ब्दानामचेतनेषु रूढेर्तेषां देवतावाचित्वेत्याशङ्क्याऽऽह । अचिरादीति । न चाभि-
मन्यव्याहारादिदेहाभावे तदेवज्ञानार्जनवस्थाभिनि वाच्यम् । ऐश्वर्ययोगात्तासामनेकवि-
ग्रहग्रहेण्येगात् । अतो देवदत्तादिशब्दवदर्थवश्चेतनेषु भ्रूयतेत्यर्थः । जाड्याद्वद्व
इत्यादौ गुणवचनेषु जाड्यादिषु पञ्चमीदर्शनादचिरादीनां च गुणवचनत्वाभावाद्ब्रह्म
प्रत्यचिरादीनां हेतुत्वानवगमादचिष इत्यस्मादपादानत्वप्रतीतेर्नाऽऽतिवाहिकत्वसि-
द्धिरित्याशङ्क्याऽऽह । अचिष इति । तार्किकप्रक्रियासिद्धगुणत्वाभावेऽप्याश्रितत्वेन
वत्सिद्धेर्हेतवेष्टा पञ्चमीत्यर्थः । उक्तेऽर्थे लौकिकव्यपदेशं दर्शयति । तथा चेति ।

१ क. अ. 'रणप्रामाः प' । २ ट. 'क्षकत्वो' । ३ ड. अ. 'त्यक्तमधस्ता' । ४ ड. ज. म.
ट. 'त्वादेव' । ५ क. अ. ट. 'वन्ति । अ' । ६ ड. अ. 'लोकप्र' । ७ क. 'प्रेतोऽयं ग' । ८ ठ. ड.
'मव' । ९ ठ. ड. 'ह्यो' ।

गुप्तमिति । अपि चोपक्रमे “तेऽर्चिरभिसंभवन्ति” [बृ० ६ । २ । १५] इति संबन्धमात्रमुक्तं न संबन्धविशेषः कश्चित् । उपसंहारे तु “स एतान्ब्रह्म गमयति” [छा० ४ । १५ । ५] इति संबन्धविशेषोऽतिवाङ्मातिर्वाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तेनोपभोगसंभवः । लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तॄषु गमयितुं शक्यते । अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाङ्माते वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिर्वाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः । विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतेस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य समयितृत्वं श्रुतमिति । अत उत्तरं पठति—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥ (४)

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादप्यतिवाङ्मातया ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् । तान्वैद्युतोत्पुरुषोऽमानवः स एतस्य ब्रह्मलोकं गम-

इतश्चाचिरादिशब्दानां गमयितृविषयवेत्याह । अपि चेति । सामान्यवचने शब्दविशेषापेक्षिणि दृष्टे विशेषशब्देन तत्सामान्यं नियन्तव्यमिति न्यायादतिवाङ्मातिवाहकसंबन्धसिद्धिरिति हेत्वन्तरमेव स्फुटयति । उपक्रमेऽपीति । यत्तु भोगभूमित्वमर्चिरादीनामुक्तं तद्वृषयति । संपिण्डितेति । लोकशब्दाद्भोगभूमित्वमुक्तं प्रत्याह लोकेति । गन्तॄणां भूकृत्वाभावेऽपि वाक्यं शक्यं नेतुमिति फलितमाह । अ इति ॥ ५ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं शङ्कते । कथमिति । का पुनरनुपपत्तिस्तत्राऽऽह । विद्युत हीति । आविवाहकत्वमपि नियतं नेत्युक्ते प्रत्याह । अत इति । वरुणादिवचनादपवादमङ्गीकृत्य विभजये । तत इति । किं तर्हि तैरित्याशङ्क्याऽऽह

१ क. अ. “विषयमभि” । २ क. ट. एतान्ब्र । ३ ट. “वाहिषल” । ४ क. ड. ज. अ. “कल” । ५ क. अ. “गमयाम्ता” । ६ क. ड. ज. अ. ट. तद्य भो” । ७ अ. ट. “नरति” । ८ अ. “वाहक” । ९ क. ड. अ. “तद्भान” । १० क. ड. ज. अ. “तान्पुरु” । ११ क. ज. ट. “नव ए” । १२ क. ३ एतान्ब्रह्म । १३ घ. “लोकान्गम” । १४ क. स्फोटयति । १५ क. ए. ठ. ड. “क्रमे चेति” । १६ व अ. “वय नेतुं शक्यमि” ।

[अ. ४ पा. ३ सू. ७।८] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि ! ११०९

यतीति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्र-
तिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवग-
न्तव्यम् । तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽचिरादय
इति ॥ ६ ॥ (४)

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

“ स एनान्ब्रह्म गमयति ” [छा० ४।१५।५] इत्यत्र
विचिकित्स्यते किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं
मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः । ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च ।
तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मेनान्गमयत्यमानवः । पुरुष इति
बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः । अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य
कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात् । न तु परास्म-
न्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते । सर्वगतत्वात्प्र-
त्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम् ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

“ ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो

वरुणादयस्त्विति । तेषां स्वयमवाहकत्वेऽपि तस्माहाय्यकरणेन तथात्वाद्युक्तमचिरा-
दिशब्दानां गमयितृविषयत्वमित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ ६ ॥ (४)

गतिनिरूपणानन्तरं गन्तव्यं निरूपयति । कार्यमिति । ब्रह्मविषयीकृत्य संश-
यमाह । स इति । प्रश्नपूर्वकं वद्वेतुमाह । कुत इति । पूर्वपक्षस्याऽऽद्यो द्वितीय-
स्तुत्तरपक्षस्यानुगुणी हेतुः । प्रकृत्या गत्या गन्तव्यस्य विद्याफलभूतस्य ब्रह्मणो
निरूपणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे परविदोऽपि गत्युत्क्रान्ती सिध्यतः । सिद्धान्ते
ततोऽन्यस्यैव ते नियते स्यातामिति मन्वानः सूत्रं योजयन्नादौ सिद्धान्तमाह ।
तत्रेति । साधारणे ब्रह्मशब्दे कार्यविषयत्वं गतेरहेतुकमिति शङ्कते । कुत इति ।
हेतुमवधार्य व्याचष्टे । गतिरिति । सर्वगतत्वेऽपि प्रदेशान्तरवर्तिनस्तस्याऽऽकाश-
स्यैव गन्तव्यत्वमाशङ्क्याऽऽह । प्रत्यगिति ॥ ७ ॥

कार्यब्रह्म गन्तव्यमित्यत्र हेत्वन्तरमाह । विशेषितेति । सूत्रं व्याचष्टे । ब्रह्मेति ।
पहूक्या गन्तव्यस्य विशेषितत्वेऽपि कथं परस्य गन्तव्यत्वभिरसनं तत्राऽऽह ।

१ अ. अ. एतान् । २ क. ब्रह्म नयत्येनानमा । ड. अ. ब्रह्म नयत्येतानमा । ३ क. तः ।
४ क. ड. अ. स्य हि का । ५ कं. ड. अ. शत्वात् । ६ क. ख. ठ. ड. गतीति ।

वसन्ति” [बृ० ६ । २ । १५] इति च श्रुत्यन्तरे विशेषित-
त्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । न हि बहुवचनेन
विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते । कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः
संभवति बहुवचनम् । लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनि-
वेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी । गौणी त्वन्यत्र “ ब्रह्मेव
लोक एष सद्माह ” इत्यादिषु । अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि
परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात् । तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नय-
नम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि सम-
स्तस्यै जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति । अत्रो-
च्यते—

‘सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्म-
णस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते । परमेव हि ब्रह्म
विशुद्धोपाधिसंबन्धं कचित्केश्विद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपा-
सनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

न हीति । ऐक्यात्कार्यस्यापि ब्रह्मणो बहुक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह । कार्ये त्विति
चशब्दसूचित्रं युक्त्यन्तरमाह । लोकेति । परस्मिन्नपि कचिद्वैष्टा लोकश्रुतिरित्याश-
ङ्क्याऽऽह । गौणीति । ब्रह्मलोकेष्वित्यधिकरणसप्तम्या ब्रह्मण्ययोगादपि कार्यविष-
यैव गतिरिति हेत्वन्तरमाह । अधिकरणेति । सूत्रोक्तहेतूनां फलितं निगमयति
तस्मादिति ॥ ८ ॥

ब्रह्मशब्दश्रुतिविरोधं शङ्कते । नन्विति । दृढव्यवहारे प्रयोगप्रत्ययाभ्यां ब्रह्मशब्दस्य
परापरब्रह्मणोः शब्दं मुख्यत्वं तुल्यमित्याशङ्क्यानवच्छिन्नतयाऽर्थतो मुख्यत्वं परस्यै
वेत्याह । समस्तस्येति । सूत्रेण परिहरति । अत्रेति । मुख्यार्थायोगे यौगिकत्वं
याऽपि ब्रह्मपदं नेयमिति मत्वा व्याचष्टे । तुशब्द इति । अविरोधं साधयति । पर-
मेवेति । विशुद्धोपाधिसंबन्धं सात्त्विकोपाधिविशिष्टमिति यावत् ॥ ९ ॥

१ क. अ. ‘ति श्रु’ । २ क. अ. ‘रित्यवग’ । ३ क. अ. ‘शशि नाऽऽज’ । ४ क. अ. ‘म-
स्त’ । ५ ट. ‘ये स’ । ६ क. अ. ‘स्य हि ज’ । ७ क. अ. क. ‘ति प्रतिष्ठापि’ । ८ क. ‘स-
परत्र’ । ९ ट. ‘व त्र’ । १० क. अ. क. ट. ‘कृष्णात्कवि’ । ११ ट. ‘विद्वि’ । १२ क. क. ‘दश्यलो’
१३ क. क. ‘शब्दमु’ । १४ क. ‘धिमि’ ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १० ११] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११११

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते । न हि परस्माद्ब्रह्मणोऽ-
न्यत्र कचिन्नित्येतां संभावयन्ति । दर्शयति च देवयानेन पथा
प्रस्थितानामनावृत्तिम् “ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं
नाऽऽवर्तन्ते ” [बृ० ४ । १६ । ५] इति “ तेषामिह न पुन-
रावृत्तिरस्ति ” तयोर्ध्वमायन्नमुतत्वमेति ” [छा० ८ । ६ । ६ ।
काठ० ६ । १६] इति चेत् । अत्र ब्रूमः—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः
परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्पद-
शानाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः
परमं पदं प्रतिपद्यन्ते इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभि-
धानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । न ह्यर्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः
संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—

“ ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ”

इति । तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थग्रहे बहुतरकार्यलिङ्गमङ्गलकार्यग्रहेऽपि तुल्याऽनावृत्तिश्रुत्य-
नुपपत्तिरिति शङ्कते । नन्विति । तत्र हेतुः । न हीति । मा भूदधिरादिना गच्छ-
वामनावृत्तिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्रस्य श्रुत्वादित्योशङ्क्याऽऽह । दर्शयतीति । क्रममु-
क्त्यभिप्रायमनावृत्तिश्रवणमिति सूत्रेण प्रेत्याह । अत्रेति । सूत्राक्षराणि योजयति ।
कार्येति । साक्षादेव ब्रह्मप्राप्त्याऽनावृत्तिसिद्धौ किमिति परंपराश्रयणं तत्राऽऽह ।
न हीति ॥ १० ॥

क्रममुक्तौ स्मृतिं प्रमाणयति । स्मृतेश्चेति । तामेवोदाहरति । स्मृतिरिति । प्रवि-
संचरो महामलयस्वस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भस्थान्तोऽधिकारावसानं तदा कृता-
त्मानः शुद्धयित्वा ब्रह्मलोकनिवासिनस्त्वोत्पन्नसम्यग्धिषः सर्वे ब्रह्मणा मुच्यमानेन सह
परं पदं प्रविशन्तीति योजना । सिद्धान्तमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ११ ॥

१ क. ज. अ. ट. ‘स्यता संभवति’ । २ ज. अ. ‘तिपाय’ । ३ क. ‘सिस्तयो’ । ४ ज. ‘ति यात्र’ ।
५ क. ड. अ. ‘चेत्यत्र’ । ६ ट. ‘न्तस्ते त’ । ७ ड. अ. परं । ८ ड. अ. ‘अस्यैव’ । ९ अ. ‘त्याह’ ।

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः “ कार्यं वादरिः ” [अ० सू० ४ । ३ । ७] इत्यादिनेति । स इदानीं सूत्रैरेवोपप्रदर्शयते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः “ स एनान्ब्रह्म गमयति ” [छा० ४ । १५ । ५] इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः । मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरं मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

“ तयोर्ध्वमायममृतत्वमेति ” [छा० ८ । ६ । ६ । कोठ० ६ । १६] इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति । अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते तत्र कार्यं विनाशित्वात्कार्यस्य । “ अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम् ” [छा० ७ । २४ । १] इति प्रवचनात्परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पश्यते । न हि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति “ अन्यत्र धर्मोदन्यत्राधर्मात् ” [काठ० २ । १४] इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रकान्तत्वात् ॥ १३ ॥

उत्तरसूत्राण्याक्राङ्क्षापूर्वकमवतारयति । कमिति । ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थत्वमाश्रित्य परस्यैव ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमाह । परमिति । तत्र प्रतिज्ञा विभजते । जैमिनिस्त्विति । युक्तियुक्तस्यैव ग्राह्यत्वाद्भक्तगौरवमर्कचित्करमिति शङ्कते । कुत इति । सौत्रं हेतुमाह । मुख्यत्वादिति । गौणस्यापि मुख्यवद्ब्रह्मशब्दालम्बनत्वमिष्टमविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह । मुख्येति ॥ १२ ॥

इतश्च मुख्यमेव ब्रह्म गन्तव्यमित्याह । दर्शनाच्चेति । दर्शनं विभजते । तथेति । आपेक्षिकं तत्पक्षान्तरेऽपि स्यादित्याशङ्क्य मुख्यसंभवे नैवमित्याह । अमृतत्वं चेति । कार्यस्य नाशित्वे मानमाह । अथेति । परस्मिन् युक्ता गतिरित्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । परेति । कथमेवञ्ज्ञातमित्याशङ्क्य प्रकरणसामर्थ्यादित्याह । न हीति ॥ १३ ॥

१ ड. म. कः । २ ट. “रेव प्र” । ३ क. अ. म. “निर्वाचा” छ. “निराचा” । ४ ड. ज. म. एतान्म । ५ क. ड. म. “ति व” । ६ क. “वाङ्म” । ७ ट. “त्वादिति ॥ १३ ॥ न । ८ छ. छ. युक्त” । ९ ठ. ड. “नादिति ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १११३

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः॥ १४ ॥ (५)

अपि च “ प्रजापतेः सर्वां वेश्म प्रपद्ये ” [छा० ८ । १४ । १] इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः “ नाम-
रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म ” [छा० ८ । १४ । १]
इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । “ यशोऽहं
भवामि ब्राह्मणानाम् ” [छा० ८ । १४ । १] इति च सर्वात्मत्वे-
नोपक्रमणात् । “ न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः ”
[श्वेता० ४ । १९] इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्र-
सिद्धेः । सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता
“ तदपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्यमयम् ” [छा० ८ ।
५ । ३] इत्यत्र । पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मागापेक्षताऽवसीयते ।
तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम् । तावैतौ द्वौ पक्ष-
वाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः । तत्र

ब्रह्मश्रुतेरमुत्वश्रुतिलिङ्गात्तयोर्ध्वमायन्नितिप्रकरणाच्च परविषया गतिरित्युक्तम् ।
संप्रति प्रजापतेः सर्वां वेश्म प्रपद्ये प्राप्नुयामिति मरणकाले यः प्रतिपत्त्यभिसंधिः
प्राप्तिसंकल्पः स कार्यगोचर इति तस्यैव गन्तव्यत्वात्तद्व्यवस्थाऽऽह । न चेति ।
तद्विवृणोति । अपि चेति । परस्यैव गन्तव्यत्वे हेत्वन्तरमाह । यशोऽहमिति ।
आत्मा यशःशब्दार्थः । ब्राह्मणानामहमात्मा भवामि यशो राज्ञां यशो विशामिति
सर्वात्मत्वोक्तेरपि न परिच्छिन्नकार्यापत्तिरित्यर्थः । यशःशब्देन विश्रुतत्वमुक्तं नाऽऽत्मे-
त्याशङ्क्याऽऽह । नेति । अस्त्वधिकाराद्ब्रह्मविषयैव वेश्मप्रतिपत्त्यादिसंकल्पना तथाऽपि
कथं सा गतिपूर्विका वेश्मप्रतिपत्तेः स्तुतिमात्रत्वादित्याशङ्क्याऽऽह । सा चेति ।
तत्तत्र ब्रह्मलोकं केनापि ब्रह्मचर्यादिहीनैर्न न पराजितेत्यपराजिता पूरस्य ब्रह्मणो
हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुर्णा निर्मितं हिरण्यमयं वेश्म चास्ति तत्प्रपद्येति विद्वानिति दह-
रविद्यायां गतिपूर्विका वेश्मप्रतिपत्तिरुक्ता तेन परब्रह्मण्यपि वेश्मप्रतिपत्तिसाम्याद्गतिपूर्व-
कत्वं तस्याः सिध्यतीत्यर्थः । किंच पदगताविति स्मृतेरपि वेश्मप्रतिपत्तेर्मार्गापेक्षा भावी-
त्याह । पदेरिति । पूर्वपक्षमुपसंहरति । तस्मादिति । परं जैमिनिरित्यादिसिद्धान्तसूत्रा-
ण्युत्तरसूत्रत्वात्पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणीत्याशङ्क्य व्यवस्थार्थं पावनिकां करोति । ताविति ।
तथाऽपि कथं व्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह । तत्रेति । द्वितीये पक्षे ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थ-

१ ज. स. प्रथमि । २ ट. तस्यैव । ३ ट. ति स । ४ क. 'स्मत्त्वांनुक' । ५ ड. ज. ब.
ट. 'क्रमात् । ६ ट. 'का दहरवि' । ७ स. 'विमितं । ८ उ. ड. 'नामा' । ९ क. स. 'णा विनि' ।

गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं न तु मुख्यत्वा-
 दयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो द्वितीयः
 पूर्वपक्षः । न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चि-
 दाज्ञापयिता विद्यते । परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्या-
 न्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते, “विष्ण्वङ्कन्या उत्क्रमणे भव-
 न्ति” [छा० ८ । ६ । ६] इतिवत् । “प्रजापतेः सभां
 वेदम प्रपद्ये” [छा० ८ । १४ । १] इति तु पूर्ववाक्यवि-
 च्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते । सगुणेऽपि च
 ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवेदवकल्पते ।
 तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः । केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्ष-
 सूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्य-
 मानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति तदनुपपन्नं गन्त-
 व्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः । यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं
 ब्रह्म “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” “यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म”
 [वृ० ३ । ४ । १] “य आत्मा सर्वान्तरः” [वृ० ३ ।
 ४ । १] “आत्मैवेदं सर्वम्” [छा० २ । २५ । २]
 “ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्” [मुण्ड० २ । २ । ११]

लामात्तस्यैवोत्तरपक्षत्वमित्याहङ्क्याऽऽह । न हीति । यत्तु प्रकरणसामर्थ्यात्परविष-
 यत्वं गतेरिति तत्राऽऽह । परेति । यथा ब्रह्मनाडीगतिप्रशंसार्थं नाड्यन्तराणि विद्या-
 संसर्गशून्यान्येव तत्प्रकरणेऽनुकीर्त्यन्ते तथा दहरादिद्विधाश्रयगतिनिमित्तफलानु-
 कीर्तनं परविद्याधिकारेऽपि युज्यते तस्या गतिराहित्येऽपि, तत्पूर्वकफलस्य
 तथैव सिद्धेर्मेहतीयं विद्या निरतिशयैश्वर्यहेतुत्वादिति स्तुतिप्रकर्षसंभवादित्यर्थः ।
 यत्तु कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिर्नास्तीति तत्राऽऽह । पजेति । श्रुतिवाक्याभ्यां
 प्रकरणं हेयमिति भावः । यत्तु सर्वोत्पत्त्यनुक्रमणात्परविषयत्वं प्रतिपत्त्यभिसंधे-
 रिति तत्राऽऽह । सगुणेऽपीति । प्रशंसार्थमुपस्थास्यथ वा तदनुक्रमणमित्यर्थः । पर-
 विषयगत्ययोगे फलितमाह । तस्मादिति । पक्षान्तरमनुभाष्य दूषयति । केचिदित्या-
 दिना । ब्रह्मणो गन्तव्यत्वानुपपत्तिमुपपादयति । यदिति । यदुक्तविशेषणं परब्रह्म
 तस्य कदाचिदपि न गन्तव्यतेति संबन्धः । तस्य सर्वगतत्वे मानमाह । आकाशव-
 दिति । सर्वान्तरत्वेऽपि श्रुतिमाह । यदिति । सर्वात्मकत्वेऽपि श्रुतिमाह । आत्मैवेति ।

१ ड. अ. “तीयस्तु प” । २ ड. अ. “प्रतिप” । ३ ड. अ. “पि व” । ४ ड. अ. “णि च स” ।
 ५ ड. अ. “वत्कल्प” । ६ क. “पत्तिः । ग” । ७ ड. अ. “विश्वं व” । ८ ट. ड. “परं व” ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १११५

इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपप-
द्यते । न हि गतमेव गम्यते । अन्यो ह्यन्यद्रच्छतीति प्रसिद्धं
लोके । ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा ।
यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छति । तथाऽन-
न्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वीर्यकर्म स्वात्मभूतमेव
गन्तव्यं दृष्टं तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद्गन्तव्यता
स्यादिति । न । प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः । “ निष्कलं
निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्जनम् ” [श्वेत्ना० ६ । १९]
“ अस्थूलमनन्वहस्वर्मदीर्घम् ” [बृ० ३ । १८ । ८]
“ सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ” [मुण्ड० २ । १ । २]
“ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म ”
[बृ० ४ । ४ । २५] “ स एष नेति नेत्यात्मा ” [बृ० ३ ।
९ । २६] इत्यादिश्रुतिस्मृत्यापेक्ष्यो न देशकालादिविशेष-
योगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते । येन भूप्रदेशवयोवस्था-

अनुपपत्तिमेव स्फोरयति । न हीति । गतेरकिञ्चित्करत्वादित्यर्थः । प्राप्ते प्राप्ति-
फला गतिरयुक्तेत्येवद्व्यतिरेकेण स्फुटयति । अन्यो हीति । स्वरूपेण प्राप्तस्यापि
ब्रह्मणो विकाररूपत्तितया गन्तव्यतासिद्धिरिति दृष्टान्तेन शङ्कते । नन्विति । सर्वगत-
स्यायुक्ता गन्तव्यतेत्युक्तं प्रत्याह । तथेति । अनन्यत्वं साधनसाध्यत्वं विना प्राप्त-
त्वम् । यत्तु प्रत्यगात्मत्वाद्ब्रह्मणो न गन्तव्यतेति तत्राऽऽह । स्वात्मेति । एकस्यैव
ब्रह्मणो गन्तृगन्तव्यता सिध्यतीत्यत्र हेतुमाह । सर्वेति । तथाऽपि ग्रामादिवन्न गन्त-
व्यतेत्याशङ्क्याऽऽह । कथंचिदिति । वैषम्यं दर्शयन्नाह । नेत्यादिना । ब्रह्मणो
निर्विशेषत्वे मानमाह । निष्कलमित्यादिना “ अनादिमत्परं ब्रह्म ” इत्याद्या स्मृतिः ।
न्यायस्तु विशेषाणां तद्वद्दृष्टनिविष्टत्वेन दृश्यत्वासिद्धिरंशैः सदृश्यत्वापाताच्च तद्दृ-
श्यत्वं विना तत्सिद्धिर्जडत्वात्स्वतःसिद्धत्वे चाऽऽत्मानविरैकात्म्यस्य निर्विशेषवेति ।
देशकालादीत्यादिशब्देनावस्थावयवादि गृह्यते । निर्विशेषत्वे फलितमाह । येनेति । येन
सविशेषत्वेन भूप्रदेशादिदृष्टान्तेन ब्रह्मणो गन्तव्यता न तथा तस्य सविशेषवेति

१ क. 'चिदुप' । २ ड. ज. अ. गम्येत । ३ ज. 'न्योऽन्य' । ४ ड. अ. ट. 'शिष्टस्य द' ।
ज. 'शिष्टे द' । ५ ट. 'शिष्टस्य वा' । ६ क. ज. ट. वार्धकं । ७ ठ. 'षण्त्वा' । ८ ड. अ. 'मजमदी' ।
९ ड. ज. अ. ट. 'त्यादि' । १० क. अ. 'त्मनः क' । ११ ठ. ड. 'रेकतः स्फु' । १२ क. ख. ठ.
६. 'त्वे तद्दृश्य' । १३ क. ख. 'अतश्च द' ।

न्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात् । भूवयसोस्तु प्रवेशावस्थादिविशो-
षयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता । जगदुत्पत्तिस्थि-
तिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत् । न । विशेष-
निराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् । उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समा-
नमनन्यार्थत्वमिति चेत् । न । तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् ।
मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य खानृ-
तत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति । कस्मात्पु-
नरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वं न पुनरितरशो-
षत्वमितरासामिति । उच्यते । विशेषनिराकरणश्रुतीनां निरा-
काङ्क्षार्थत्वात् । न ह्यात्मन एकत्वेनित्यत्वशुद्धत्वाच्चवगतौ
सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः ।
“ तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ” [ईशा० ७]
“ अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि ” [बृ० ४ । २ । ४] “ विद्वान्न
बिभेति कुतश्चन ” “ एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाक-
रं किमहं पापमकरवम् ” [तैत्ति० २ । ९ । १] इत्यादिश्रु-
तिभ्यः । तथैवे च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात् । विकारान्वता-

योजना । दृष्टान्तेऽपि कथं गतस्यैव गन्तव्यतेत्याशङ्क्याऽऽह । भूवयसोस्त्विति ।
अवस्थादीत्यादिशब्देनावयवपरिणामादिग्रहः । सर्वशक्तित्वाद्युक्तं ब्रह्मणो विशेषवत्त्वेन
गन्तव्यत्वमित्युक्तं स्मरयति । जगदिति । अपरिणामिनोऽकारकत्वात्कारणत्वाय
परिणामित्वं कार्यप्रतियोगिशक्तिमत्त्वं चास्तीति कुतो गन्तव्यत्वासिद्धिरित्यर्थः । विशो-
षनिराकरणस्य निःशेषशोकादिनिरासफलत्वादुत्पत्त्यादिविधानस्य चाफलत्वात्फलवत्सं-
निधावफलं तदङ्गमिति न्यायाच्च ब्रह्मणः सविशेषत्वेति दूषयति । नेत्यादिना । उक्तमे-
वार्थं चोद्यसमाविभ्यां विवृण्वन्नादौ चोद्यं दर्शयति । उत्पत्त्यादीति । तासामनन्या-
र्थत्वमसिद्धमित्याह । नेति । एकत्वपरत्वमुपपादयति । मृदादीति । शेषशेषित्वे न्या-
मकाभावमादाय शङ्कते । कस्मादिति । नियामकं दर्शयति । उच्यत इति । फलव-
त्तया निराकाङ्क्षं स्फोरयति । न हीति । एकत्वज्ञाने सर्वाकाङ्क्षाशान्तिरित्यत्र श्रुती-
राह । तत्रेत्यादिना । श्रौते विद्याफले विद्वदनुभवमनुकूलयति । तथैवेति । द्वैतस्य
निन्द्यमानत्वादपि न प्रतिपाद्यतेत्याह । विकारेति । विशेषनिषेधश्रुतीनां निराकाङ्-

१ क. 'त्वश्रु' । २ क. 'यः कदाचि' । अ. 'यः कश्चिदा' । ३ क. क. अ. 'द्वयुत्पत्तेः' । ४ क.
ट. 'रवमित्या' । ५ ट. 'व वि' । ६ क. ख. 'यं त' । ७ ठ. ड. 'व्यतिष्ठति' ।

[अ. ४ वा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १११७

मिसंध्यपवादाच्च “मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति”
इति । अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं
शक्यम् । नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वप्रतिपादन-
सामर्थ्यमस्ति । प्रत्यक्षं तु तां सामान्यार्थत्वं समनुगम्यते । तथा
हि “तत्रैतच्छुद्धमुत्पत्तितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति”
[छा० ६ । ८ । ३] इत्युपेन्यस्योदके सत एवैकस्य जगन्मू-
लस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन
जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व ।
तद्ब्रह्म ” [तै० ३ । १ । १] इति च । एवमुत्पत्त्यादिश्रुती-
नामैकात्म्यावगमपरत्वाभानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः । अतश्च गन्त-
व्यत्वानुपपत्तिः । “ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ” [बृ० ४ ।
४ । ६] “ ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ” [बृ० ४ । ४ । ६] इति
च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति । तद्व्याख्यातम् “ स्पष्टो
ह्येकेषाम् ” [ब्र० सू० ४ । २ । १३] इत्यत्र । गतिकल्प-
नार्था च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारोऽन्यो
वा ततः स्यात् । अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः । पद्येवं

क्षज्ञानोत्पादकत्वे फलितमाह । अतो नेति । तुच्यमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि तथाविधधी-
जनकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । नैवमिति । न केवलं युक्तिमात्रेणोत्पत्त्यादिश्रुतीनामन्या-
र्थत्वं किंतु श्रुतिसामर्थ्यादपीत्याह । प्रत्यक्षं त्विति । तत्र च्छन्दोगश्रुत्या वासाम-
न्यार्थत्वं स्फुटयति । तथा हीति । तत्रेति मूलकारणोक्तिः । एतच्छुद्धं जगदात्मकं
कार्यमुत्पत्तितंमुत्पन्नमिति यावत् । तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छेति सत एवो-
त्तरत्र कार्यलिङ्गेन ज्ञेयत्वोक्तेस्तत्तेजोऽसृजतेत्यादिश्रुतीनां तच्छेषत्वं सिद्धमित्यर्थः ।
वैत्तिरीयश्रुत्याऽपि जन्मादिश्रुतीनामैक्यधीशेषत्वमाह । यत इति । वासामन्यपरत्वे
फलितमाह । एवमिति । ब्रह्मणोऽनेकशक्तिप्रत्वाभावेऽपि न परविषया गतिरित्यत्र
किमायातं तदाह । अतश्चेति । इतश्च परविषये न गतिरित्याह । न तस्येति । न
तस्मादिति माध्यंदिनश्रुत्या निषेधश्रुतेरन्यार्थत्वमाशङ्क्योक्तं स्मारयति । तदिति ।
गन्तव्यरूपालोचनया गतिरयुक्तेत्युक्तम् । अधुना गन्तृरूपालोचनयाऽपि सौ न युक्तेति
वक्तुं विकल्पयति । गतीति । अन्यानन्यत्वमाश्रित्याद्यौ विकल्पावत्यन्तभेदमाश्रि-
त्यान्त्य इति भेदः । आत्यन्तिकमनन्यत्वं किमिति न विकल्प्यते तत्राऽऽह । अत्य-
न्तेति । कल्पत्रयेऽपि दोषजिज्ञासया पृच्छति । यदीति । पक्षत्रयेऽपि दोषमाह ।

१ ट. ‘क्षाम’ । २ क. घ. ‘थेप्र’ । ३ क. ‘ति वा’ । ४ घ. ‘रो वाऽन्यो’ । ५ ठ. व. साऽयु’ ।

ततः किं स्यात् । अत उच्यते । यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो
नित्यप्राप्तत्वात् पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते । एकदेशैकदेशित्वक-
ल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः । विकारपक्षेऽ-
प्येतत्तुल्यं विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात् । न हि
घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः ।
विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद्ब्रह्मणः संसारगमनमप्यन-
वच्छ्रमम् । अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः । सोऽणुर्यापी मध्यमप-
रिमाणो वा भक्तिमुग्रहीति । व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः । मध्यम-
परिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः । अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानु-
पपत्तिः । प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुर-
स्तात् । परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य “ तत्त्वमसि ” [छा० ६ ।
८ । ७] इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः । विकारावयवपक्षयोरपि
समोनोऽयं दोषः । विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति
चेत् । न । मुख्यैकत्वानुपपत्तेः । सर्वेषु चैतेषु पक्षेष्वनिर्गोक्षप्र-

उच्यत इति । आद्यमनूद्य प्रत्याह । यदीति । प्रथमपक्षस्योत्थानमेव नास्तीत्याह ।
एकदेशेति । उक्तदोषसाम्याद्द्वितीयं निराह । विकारेति । नित्यप्राप्तत्वं दृष्टान्तेन
स्पष्टयति । न हीति । विपक्षे दोषमाह । परित्यागे वेति । पक्षद्वयेऽपि दोषान्तर-
माह । विकारेति । ब्रह्म सविकारं सावयवं चेष्टं तस्य सह विकारैरवयवैश्च निश्चल-
त्वात्कुवो जीवानां संसारगमनरूपं चलनं न हि स्थिरात्मनामस्थिरत्वं युक्तमन्यान-
न्यत्वं च विरुद्धत्वान्नोपगन्तुं शक्यमित्यर्थः । तृतीयमनुवदति । अथेति । तं त्रैधा
विकल्प्य दूषयति । सोऽणुरित्यादिना । अनित्यत्वप्रसङ्गो घटादिषु तथाह-
ष्टेरिति शेषः । पक्षद्वयानुपपत्तिं तर्कपादे वियत्पादे चोक्तां स्मारयति ।
प्रतिषिद्धे चेति । अन्यत्वपक्षे श्रुतिविरोधं दोषान्तरमाह । परस्मा-
च्चेति । पूर्वोक्तेऽपि पक्षद्वये श्रुतिविरोधस्य तुल्यत्वमाह । विकारेति ।
तयोस्तद्वतोऽन्यत्ववदनन्यत्वस्यापि भावान्नेति शङ्कते । विकारेति । भेदाभे-
दयोर्विरोधिनोरेकत्रायोगाद्बुद्धिव्यपदेशभेदाद्विकारावयवयोस्तद्वतो भेदे सत्ययुवसि-
द्धत्वादुपचारेणाभेदोक्तिरित्युक्तं जीवस्य ब्रह्मैक्यं स्यादित्याह । नेति । किं
च पक्षत्रयेऽपि संसारित्वस्य तात्त्विकत्वात्तस्याऽऽत्यन्तिकनाशो जीवरूपनाशाद-
युक्तं पक्षत्रयमपीत्याह । सर्वेष्विति । संसारित्वे निवृत्तेऽपि सिद्धान्तवन्न

१ क. स्यादिति । उ० । ड. अ. स्यात् । उ० । २ क. ड. ज. अ. “गेऽमा” । ३ ड.
“गे चामा” । ३ क. ज. “णुत्वेऽपि च कृ” । ड. ज. “णुत्वेऽपि कृ” । ४ क. “मस्यादि” । ५ ड.
ज. “मानो दो” । ६ क. ज. चैषु । ७ झ. “श्चलित्वा” । ८ क. झ. “स्तत्त्वतो” ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । १११२

सङ्गः । संसारात्मत्वानिवृत्तेः । निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः ।
ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमोच्च । पक्षे कैश्चिज्जल्पते नित्यानि नैमि-
त्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवप्यानुत्पत्तये काम्यानि प्रति-
षिद्धानि च परिह्रियन्ते । स्वर्गनरकानवाप्तये सांप्रतदेहोपभो-
ग्यानि च कर्माण्युपमोगेनैव क्षेप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपाता-
दूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसंधानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं
केवल्यं विनाऽपि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति ।
तदसत् । प्रमाणाभावात् । न ह्येतच्छास्त्रेण केनचि-
त्प्रतिपादितं मोक्षार्थित्थं समाचरेदिति । स्वमनीषया त्वेत-
त्किंतं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भवि-
ष्यतीति । न चैतत्तर्कयितुं शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात् ।
बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकार्थैकैकस्य
जन्तोः संभाव्यन्ते । तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवा-
त्कानिचिद्बुद्ध्यावसराणीदं जन्म निर्भिमते कानिचित्तु देशकाल-
निमित्तप्रतीक्षाण्यासत् इत्यतस्तेषामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन
क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्त-
रनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम् । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च “तद्य

जीवरूपनाशप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । ब्रह्मेति । संसारस्य कर्मनिमित्तत्वात्-
दभावेऽभावान्मुक्तिरनायाससिद्धेति मतं दर्शयति । यच्चिति । देहान्तरप्रतिसं-
धानं देन संबन्धस्त्वद्बुद्ध्यामिति यावत् । एवंवृत्तस्य नित्याद्यनुष्ठानववो वार्ण-
चरितस्य मुमुक्षोरित्यर्थः । किं शास्त्रादेव मुच्यते किंवा तर्कादिति
वकल्प्याऽऽद्ये प्रत्याह । तदसदिति । प्रमाणाभावं प्रकटयति । न हीति । द्वितीय-
नुबंदेति । स्वेति । स्वोत्प्रेक्षितमपि युक्तत्वादिष्टव्यमिति पक्षं प्रत्याह । न चेति ।
निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वं प्रपञ्चयति । बहुनीति । सर्वाण्येव तानि मुमुक्षुदेहे भोगेन
अपितानीत्याशङ्क्याऽऽह । तेषामिति । अनुपभुक्तकर्मेणां देहान्तरसंभवान्नित्याद्यनुष्ठा-
नववोऽपि तच्चज्ञानं विना नास्ति मोक्षाशेति फलितमाह । इत्यत इति । एकभवि-
त्त्वात्कर्मशायस्य वर्तमानभोगेन क्षपणसंभवान्मोक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य कृतात्ययेऽनुश-
यवानित्यत्रैकभविकत्वं दूषितमिति मत्वाऽऽह । कर्मेति । अनारब्धफलानामपि कर्मणां

१ क. 'त्वानतिवृ' । ट. 'त्वानुवृ' । २ क. ड. ज. अ. 'मात् । य' । ३ ड. अ. ट. निरुद्धे ।
४ क. ज. 'नि च क' । ५ अ. क्षिप्यन्त । ६ क. ज. 'नीषिक्या । ७ अ. न च त' । ८ ड. ज. अ.
९ 'नि क' । १० क. 'णि न-मा-त' ।

इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण ” [छा० ५ । १० । ७]
 इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां
 क्षेपकाणि भविष्यन्तीति । तत्र विरोधाभावात् । सति हि विरोधे
 क्षेप्यक्षेपकभावो भवति न च जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां
 नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः । श्रद्धिरूपत्वाविशेषात् । दुरितानां
 त्वश्रद्धिरूपत्वात्तत्ति विरोधे भवतु क्षेपणं न तु तावता देहान्तर-
 निमित्ताभावसिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः । दुश्चरितस्याप्यशे-
 पेक्षपणानवगमात् । न च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानु-
 त्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरात्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तर-
 स्याप्यनुनिष्पादितः संभवात् । स्मरति ह्यापस्तम्बः “तद्यथाऽऽ-
 ज्ञे फलार्थे” निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं धैर्यमाणमथां
 अनूत्पद्यन्ते ” इति । न चासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्य-
 प्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम् ।
 सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात् । संशयितव्यं तु भवति

नित्यनैमित्तिकेभ्यो निवृत्तेरुक्तचरितस्य मुक्तिरिति शङ्कते । स्यादेतदिति । किं
 सुकृतानामपि क्षेपकाण्याहो दुरितानामेवेति विकल्प्याऽऽद्यं निरस्यति । नेत्यादि
 तेषां सुकृतविरोधित्वे काम्यकर्मोपदेशवैयर्थ्यं तेषामपि तैर्विनाशादिति मन्वानो
 विवृणोति । सतीति । द्वितीयमङ्गीकरोति । दुरितानां त्विति । तर्हि तन्निवर्तने
 वैव देहान्तराभावानुक्तेरैक्यधीवैयर्थ्यं नेत्याह । न त्विति । केवलसुकृतावेवं
 नास्त्यप्रियस्यापि दुरितफलस्य तत्र दर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह । दुश्चरितस्य
 किंच मुमुक्षुभिरनुष्ठितनित्यनैमित्तिकवशाद्वापि देहान्तरसंभवाज्जोक्तचरितस्य मुक्त्या
 स्वीत्याह । न चेति । तेषामानुषङ्गिकफलतृप्तं संभावितमपि न प्रमितमित्याशङ्क्याऽ
 स्मरतीति । निमित्त आरोपिते सवीति यावत् । किंच काम्यनिषिद्धकर्मशेषवत्
 देहान्तरसिद्धेर्नोक्तचरितस्य मुक्तिरित्याह । न चेति । अस्मदादीनां स्थूलविद्या
 ग्धियं विना सर्वात्मना काम्याद्यवर्जनेऽपि ज्ञानादशेषकाम्यादिवर्जनासिद्धिरित्य-
 शङ्क्याऽऽह । सुनिपुणानामिति । प्रमादो भवत्येवेत्यनियमाज्जो जन्मान्तरमित्य-
 शङ्क्याऽऽह । संशयितव्यमिति । निमित्तसद्भावेऽपि निश्चयाभावे जन्मान्तरमिति

१ ट. 'क्षेप्य' । २ क. म. 'ति हि वि' । ३ क. म. 'क्षेपणं' । ४ ज. 'दुरित' । ५ क. '।
 ६ ट. 'स्यानु' । ७ ज. ट. 'जे निमित्ते फ' । ८. 'जे निमित्ते फ' । ८ ज. म. ट. 'धै' छा' ।
 निमित्ते छा' । १० क. 'गन्ध इत्यनू' । ११ म. च 'वर्ध' । १२ ज. ट. 'धै म' । १३ ट.
 धप' । १४ म. ट. 'नां चेति' । १५ क. 'रन्ध्रं' । १६ क. म. 'दुरि' ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११२१

तथाऽपि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव । न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञान-
गम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वं स्वभावस्याऽऽत्मनः कैवल्यमाको-
द्भिस्तुं शक्यम् । अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात् । स्यादे-
तत् । कर्तृत्वभोक्तृत्वं कार्यमनर्थं न तच्छक्तिस्तेन शक्यवस्था-
नेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति । तच्च न । शक्तिसद्भावे
कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात् । अथापि स्यान्न केवला शक्तिः
कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि । अत एकाकिनी सा
स्थिताऽपि नापराध्यतीति । तच्च न । निमित्तानामपि शक्ति-
लक्षणेन संबन्धेन नित्यसंबद्धत्वात् । तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्व-
भावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथं
चन मोक्षं प्रत्याशाऽस्ति । श्रुतिश्च “ नान्यः पन्था ग्विद्यतेऽय-
नाय ” [श्वेता० ३ । ८] इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वरयति ।
परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य संबन्धद्वारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षादि-

नमसिद्धमेव स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । तथाऽपीति । तस्य दुर्ज्ञानत्वे जन्मान्तराभाव-
स्यापि तथात्वोच्चैस्त्वक्षासिद्धिरित्यर्थः । किं चाऽऽत्मनि कर्तृत्वादि स्वाभाविकमारो-
पितं वाऽऽद्येऽपि तत्कार्यं तच्छक्तिर्वा स्वभावः । प्रथमे तस्मिन्नि-
वृत्ते स्थिते वा ‘मुक्तिर्नाऽऽद्यः स्वभावस्य’ निवर्तयितुमशक्यत्वात् । न
द्वितीयो व्याघातादित्याह । न चेत्ति । द्वितीयं शङ्कते । स्यादिति । किं शक्ते-
रस्ति कार्यारम्भकत्वमुत न । आद्येऽपि सा निरपेक्षा कार्यमारभते सापेक्षा वा
नाऽऽद्यं इत्याह । तच्च नेति । कल्पान्तरमुत्थापयति । अथापीति । अदृष्टादिनि-
मित्ताभावादुपभोगलक्षणोऽनर्थो नास्तीत्यर्थः । कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्निमित्तसंबन्धस्याऽऽ-
त्मनोऽदृष्टादिनिमित्तैः संबन्धस्य च शक्तिद्वया सदावनत्वात्कदाचित्तस्या भोगारम्भ-
कत्वसंभवाच्च मुक्तिरित्याह । तच्चेति । सा ज्ञेयकार्यं नाऽऽरभते तर्हि तस्या असम्ब-
न्धे कार्यैकगम्यत्वादिति मत्वा शक्तेर्वा कार्यस्य वा स्वाभाविकत्वनिरासंमुपसंहरति ।
तस्मादिति । आत्मनि कर्तृत्वादिरारोपितत्वे ज्ञानादेव तन्निवृत्तेर्न कर्मसाध्या मुक्तिरि-
त्युपेत्य ज्ञानमात्रायत्ता सेत्यत्र मानमाह । श्रुतिश्चेति । प्रासङ्गिके परमते परारुहे
मोक्षसिद्धये जीवस्य ब्रह्मात्मत्वोपगमेऽपि तुल्याऽनुपपत्तिरिति शङ्कते । परस्मादिति ।

१ क. 'स्वभा' । २ अ. 'कारुक्षयितु' । ३ अ. 'कर्तृत्वं का' । ४ अ. न शक्तिः । तद्वा ।
५ ट. 'वर्ग्यत्वा' । ६ अ. तथाऽपि । ७ क. स्थिता ना । ८ क. ज. 'वन्धात्' । ९ अ. मोक्षम ।
१० ज. अ. ट. 'स्य सर्वव्य' । ११ अ. 'त्वात्ताय' ।

प्रमाणाग्रहंतेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्रव्यवहारवत्तदुप-
पत्तेः । शास्त्रं च “यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति”
[बृ० २ । ४ । १४ ; ४० । ५ । १५] इत्यादिनाऽप्रबुद्धवि-
षये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये “यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्” [बृ० ३ । ४ । १४ ; ४ ।
५ । १५] इत्यादिना तदभार्थं दर्शयति । तदेवं परब्रह्मविदो
गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वात् कथंचन गतिरुपपादयितुं
शक्या । किंविषयाः पुनर्गेतिश्रुतय इति । उच्यते । सगुणवि-
द्याविषया भविष्यन्ति । तथा हि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य
गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म
प्रकृत्य गतिरुच्यते “यथा प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म स्वं ब्रह्म” [छा० ४ ।
१० । ५] इति “अथ यदिदंमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं
वेश्म” [छा० ८ । १ । १] इति च तत्रापि वामनीत्वा-
दिभिः सत्यकोमादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति
गतिः । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते यथा गतिप्रति-
षेधः श्रावितः “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति” [बृ० ४ । ४ ।
८] इति । “ब्रह्मविदोऽप्राप्तेः परम्” [तै० २ । १ । १]
इत्यादिषु तु सत्यं प्राप्तेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तर-

तत्त्वज्ञानात्प्राग्भवं वा व्यवहाराभावो नाऽऽद्यः स्वप्रवदुपपत्तेरित्याह । न प्राणि-
तत्रैव शास्त्रानुमतिमाह । शास्त्रं चेति । अप्रबुद्धविषय इति च्छेदः । द्वितीये ।
ङ्गस्येष्टतां शास्त्रोपपत्तेनाऽऽद्येष्टे । पुनरिति । प्रासङ्गिकं प्ररिह्य प्रकृतं निगमय
तदेवमिति । परमतं निराकृत्य पूर्वोक्तं स्वमतं प्रश्नपूर्वकं विवृणोति । किमि-
दिना । गतिश्रुतीनां सगुणधीविषयत्वं विज्ञापयति । तथा हीति । ब्रह्म प्रकृत
गतेरुक्तेस्तस्यो युक्तं परविषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । यत्रापि । सगुणवि-
षये गतिश्रुतिमुक्त्वा परविद्याविषये तदभावमाह । नेति । ब्रह्मत्वाविशेषात्त-
गतिरेषैवेत्याशङ्क्याऽऽह । यथेति । आप्रोतेर्गत्यर्थत्वात्परविद्याधिकारेऽपि गतिश्च
रस्वीत्याशङ्क्याऽऽह । ब्रह्मविदिति । ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सर्वान्तरत्वं सर्वात्मत्वं

१ क. ज. झ. ट. ‘श्रुतिरि’ । २ ट. प्राग्बोधा’ । ३ क. ‘व्यन्तीति । त’ । ४ अ. ‘ति’ ।
५ क. अ. ‘पि च वा’ । ६ क. ‘कामत्वादि’ । ७ अ. ‘ते तद्यथा’ । ८ झ. ‘विद्योश्च’ ।
८. ‘सादाव’ । १० क. ‘स्तस्यां यु’ । ११ क. ख. ‘कारे ग’ ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १४] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशंकरभाष्यसमेतानि । ११२३

प्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रवि-
लयापेक्षयाऽभिधीयते “ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति” [बृ० ४।४।६]
इत्यादिवेदिति द्रष्टव्यम् । अपि च परविषया गतिर्व्याख्याय-
माना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं ताव-
द्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते । स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्या-
समर्पितेन स्वास्थयेन तत्सिद्धेः । न च नित्यसिद्धनिःश्रेयसनि-
वेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोप-
पद्यते । तस्मादपरविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधा-
रणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारो-
प्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति । बोद्धम् “एतद्वै सत्य-
काम परं चापरं च ब्रह्म यदोक्तारः” [प्रश्न० ५।२] इत्या-
दिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति । उच्यते । यत्रा-
विद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधोऽस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते
तत्परम् । तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासना-
योपदिश्यते “मनोमयः प्राणशरीरो भावरूपः” [छा० ३।
१४।२। मेत्रे०.२।६] इत्यादिशब्दैस्तदपरम् । नन्वेवम-
द्वितीयश्रुतिरुपहंध्येत । न । अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया
परिहृतत्वात् । तस्यै चापरब्रह्मोपासनस्य तत्संनिधौ श्रूयमाणम्

त्यादिवर्णितो न्यायः । आप्रोविस्त्वाहं परविषये कथमित्याशङ्क्याऽऽह । स्वरूपेति ।
इत्थं परविषये नास्ति गतिरित्याह । अपि चेति । तदेव दर्शयितुं विकल्पयति ।
परेति । प्ररोचनपक्षं प्रत्याह । तत्रेति । स्वसंवेद्यत्वे हेतुमाह । अव्यवहितेनेति ।
स्वापादिव्यवृत्त्यर्थं विशिनष्टि । विद्येति । अनुचिन्तनपक्षं प्रतिक्षिपति । न चेति ।
पक्षद्वयनिरासफलं दर्शयति । तस्मादिति । कथं तर्हि केषांचिदाचार्याणां परविषय-
त्वोपगमो गतेरित्याशङ्क्य सूक्ष्मदृष्टिशून्यत्वादित्याह । तत्रेति । अपसिद्धान्तं शङ्कते ।
किमिति । सोपाधिकनिरुपाधिकत्वेन ब्रह्मणोभेदश्रुतिवैकल्यात्तेन नापरादान्वापत्ति-
रित्याह । बाढमिति । परापरविभागं प्रश्नपूर्वकं विशदयति । किमित्यादिना ।
उक्तमेवापसिद्धान्तपरिहारं चोद्यद्वारा स्फोरयति । नन्वित्यादिना । परापरविभागस्य
मिथ्यात्वे किं स्यादित्याशङ्क्यापरब्रह्मणो गन्तव्यत्वार्थं तदुपास्तिकत्वमाह । तस्येति ।

१ अ. 'पप्रपञ्च' । २ अ. 'दि च द्व' । ३ अ. 'दप्ये' । ४ अ. 'वैव ग' । ५ अ. 'णि
प्र' । ६ क. अ. 'बाढं द्वे' । ए' । ७ क. अ. 'वेधेनास्थ' । ८ अ. 'ब्रह्म व्यप' । ९ अ. 'शेषणेन के' ।
१० अ. 'न्वेवं सत्यद्वि' । ११ अ. ट. 'रुध्यते' । न । १२ अ. अ. ट. 'स्य त्वप' । १३ अ. 'स्फोटय' ।
१४ अ. 'शङ्क्य प' ।

“ स यदि पितृलोककामो भवति ” [छा० ८ । २ । १]
 इत्यादि जगद्वैश्वर्यलक्षणे संसारगोचरमेव फलं भवति । अनिवर्ति-
 तत्वादविद्यायाः । तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गम-
 नमविरुद्धम् । सर्वगतत्वेऽपि चाऽऽत्मन आकाशस्येव घटादिग-
 मने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्य “ तदुणसा-
 रत्वात् ” [ब्र० सू० २ । ३ । २९] इत्यत्र । तस्मात्
 “ कार्यं बादरिः ” [ब्र० सू० ४ । ३ । ७] इत्येष एव स्थितः
 पक्षः । “ परं जैमिनिः ” [ब्र० सू० ४ । ३ । १२]
 इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रेप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्ट-
 व्यम् ॥ १४ ॥ (५)

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण

उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया-गतिर्न परविषयेति । इदमिदानीं संदि-
 ह्यते किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति
 ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति । किं तावत्प्राप्तं सर्वेषामेवैषां विदुषाम-
 न्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथ्य हि “ अनियमः सर्वा-

अपरब्रह्मोपासनस्योक्तफलत्वेऽपि कथं तद्विषये गतिरित्याशङ्क्याऽऽह । तस्य चेति ।
 तस्य गन्तव्यत्वेऽपि गन्तृत्वमात्मनो विभुत्वादयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । सर्वेति । अने-
 वंचनीया गतिरनिर्वचनीयसगुणब्रह्मविषयैवोचितेति भावः । परविषये गत्यभावादपर-
 विषये तदुपपत्तेरस्मदुक्तैव पूर्वोत्तरपक्षव्यवस्थेत्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ १४ ॥ (५)

गन्तव्यविशेषोक्त्यनन्तरं गन्तृविशेषोक्त्यर्थमाह । अप्रतीकालम्बनानिति । संबन्धं
 वक्तुं वृत्तं कीर्तयति । स्थितमिति । अमर्निवपुरुषं त्रिषधीकृत्याविशेषश्रुतेस्तत्क्र-
 तुत्वेनागमनमानाच्च संशयमाह । इदमिति । विद्याफलार्थं देवयाने पथि गन्तृविशे-
 षोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे सर्वेषूपसनेऽनियमन्यायाद्विकारालम्बनेषु विशेषा-
 सिद्धिः । सिद्धान्ते प्रतीकोपासनाविरक्तिषु तत्क्रतुन्यायाद्विशेषसिद्धिरिति मत्वा
 विमृश्य पूर्वपक्षयति । किं तावदिति । परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्रेति कार्यब्रह्मोक्तिः । तत्र
 गुणोपसंहारस्थानियमाधिकरणन्यायं हेतुत्वेन स्मारयति । तथा हीति । प्रतीकालम्ब-

१ ट. ‘क्षणसं’ । २ ज. ट. ‘स्वात्मा’ । ३ अ. च । ४ अ. ‘तिपादन’ । ५ ट. ‘भामा’ ।
 ६ ट. ‘त्रि’ । ७ क. ख. ‘त्वेन ग’ । ८ क. ख. ‘मनाभावाच्च’ । ९ ट. ड. ‘यानपथे ग’ । १० ठ.
 ६. ‘स्थानि’ ।

[अ. ४ पा. ३ सू. १५] आनन्वगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११२५

साम् ” इत्यत्राविशेषणैवैषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति । एवं प्राप्ते
प्रत्याह । अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वा-
नन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो
मन्यते । न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिदोषोऽस्ति । अनि-
यमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः । तत्क्रतुश्चा-
स्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स
ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते “ तं यथा यथोपासते तदेव
भवेति ” इति श्रुतेः । न तु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीक-
प्रधानत्वादुपासनस्य । मन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते
यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् “ स एनान्ब्रह्म गमयति ” [छा० ४ ।

नानामपि पितृयाणवृत्तीयस्थानासंबन्धित्वात्प्रतीकविशेषत्वेन ब्रह्मणोऽपि वैध्यात्तत्वाद्ये
वै के चेत्यादिवाक्येन च तेषां ग्रहादेतान्ब्रह्म गमयतीत्येवच्छब्देन तेषामपि परामर्श-
सिद्धेर्विद्यान्तरेषु च गतेरवतारितत्वादविशेषणामानवः पुरुष एतान्सर्वानेव विकारालम्ब-
नान्ब्रह्मलोकं नयतीति प्राप्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षमनुभाष्य सिद्धान्तप्रविज्ञामवतार्य व्याक-
रोति । एवमिति । आश्रयान्तरप्रत्ययस्याऽऽश्रयान्तरे क्षेपो हि प्रतीको यथा नाम
ब्रह्मेत्यादौ नामादिषु ब्रह्माश्रयस्य प्रत्ययस्य प्रक्षेपः । तदालम्बनाः प्रतीकालम्बना-
स्त्वान्विहाय विकारालम्बनान्सगुणविद्यावतः सर्वानिति यावत् । यत्वनियमन्यायाद-
विशेषेण सर्वेषां विकारालम्बनानामेषा गतिरिति तद्वृष्यन्मुभयथाऽदोषादित्येतद्व्याचष्टे ।
न हीति । प्रतीकालम्बनान्न नर्थेति विकारालम्बनान्स्तु नयतीत्युभयथात्वोपगमे सत्यानि-
यमः सर्वोसीमिति न्यायस्य न कश्चिदोषः सर्वशब्दस्य प्रतीकालम्बनाविरिक्तविषयत्व-
सिद्धेरित्यर्थः । तत्क्रतुश्चैव पदं पदान्तराध्याहारेण व्याकरोति । तत्क्रतुरिति ।
तस्य हेतुत्वं साधयति । यो हीति । तत्र मानमाह । तर्माति । प्रतीकालम्बनैरपि
तद्विशेषणत्वेन ब्रह्म ध्यात्वमित्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह । न त्वाति । ब्रह्मदृष्ट्या नामा-
दीनामेव प्रतीकानां प्राधान्येनानुचिन्तनान्न प्रतीकालम्बनानां ब्रह्मक्रतुत्वमित्यर्थः ।
तत्क्रतुस्त्ववतीति न्यायस्य व्यभिचारं शङ्कते । नान्वति । न्यायस्यैतत्सर्गिकत्वेऽपि

१ ज. ट. “मे कश्चिदो” । २ ड. झ. “वन्तीति” । ३ अ. “तुमानपि” । ४ ठ. ड. “रुषः सर्वा” ।
५ ख. ठ. ड. “यतीति” । ६ क. ख. ठ. ड. “सर्वेषामि” । ७ क. ख. झ. ठ. “तत्क्रतुस्त्विति” । ८ झ.
ठ. ड. “तमाश्र” । ९ क. झ. “नान्वति” ।

१५।५] इति । भवतु यत्रैवमादृत्यवाद उपलभ्यते तद-
भावे त्वौत्सर्गिकेण तत्कतुन्यायेन ब्रह्मकतुनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषा-
मिति गम्यते ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥ (६)

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तर-
स्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति “ यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवेति ” [छा० ७।१।५] “ वाग्वा-
वान्नाम्नो भूयसी ” [छा० ७।२।१] “ यावद्वाचो गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवेति ” [छा० ७।२।२] “ मनो
वाग्वाचो भूयः ” [छा० ७।३।१] इत्यादिनां । स चायं
फलविशेषः, प्रतीकतत्त्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतत्त्वे तु
ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मान्न प्रतीकाल-
म्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥ (६)

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ

श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः

पादः ॥ ३ ॥

विशेषवचनादपवादवर्तमानाऽऽह । भवत्विति । आदृत्यवादः साक्षादपवादकः ॥ १५ ॥

इतोऽपि प्रतीकोपासनानां न ब्रह्मगतिरित्याह । विशेषं चेति । उत्कर्षोपकर्षव-
त्त्वात्फलस्य प्रतीकोपासनानां नैकरूपब्रह्मकतुत्वं तत्प्राप्तिर्वा हेतूपन्यापचयातिरेकेण
फले तदयोगादिवि व्याचष्टे । नामादिष्विति । फलविशेषोपलम्भेऽपि किमित्युपास-
नानां प्रतीकतत्त्वं तत्राऽऽह । स चेति । प्रतीकानामुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यर्थः ।
विपक्षे फलविशेषदृष्टेरन्विष्टत्वमाह । ब्रह्मेति । प्रतीकालम्बनानां विकारालम्ब-
नानां ब्रह्मलोकगतिरिति स्थिते फलितमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ १६ ॥ (६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्य-

भगवद्भानन्दज्ञानविरचिते शारीरकभाष्यविभागे

न्यायनिर्णये चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः

पादः ॥ ३ ॥

[अ. ४ पा. ४ सू. १] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११२७

संपद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसं-
पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति श्रूयते । तत्र संशयः
किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवाऽऽगन्तुकेन केनचिद्विशेषेणा-
भिनिष्पद्यत आहोस्विदात्मयत्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ।
स्थानान्तरेष्विवाऽऽगन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् ।
मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः । अभिनिष्पद्यत इति धोत्पत्तिपर्या-
यत्वात् । स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्नवस्थासु
स्वरूपानपापमद्विभाव्येत । तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत
इति न एवं प्राप्ते ब्रूमः । केतलेनैवाऽऽत्मनाऽऽविर्भवति न धर्मा-
न्तरेणेति । कुतः । स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात् ।

आद्ये पादे निर्गुणविद्याफलैकदेशो बन्धनिवृत्तिरुक्ता । द्वितीये सगुणनिर्गुणफला-
पिशेषत्वेन तद्विदोक्तान्त्यनुत्क्रान्ती चिन्तिते । तृतीये सगुणविद्याफलोपयोगि-
तया गतिगन्तव्यगन्तृविशेषा निरूपिताः । संप्रति चतुर्थे पादे परविद्याफलैकदेशो ब्रह्म-
भावाविर्भावः सगुणविद्याफलं च सर्वेश्वरतुल्यभोगत्वमवधारयिष्यते । तत्रापरविद्याप्रा-
प्यमुक्त्वा परविद्याप्राप्यमाह । संपद्येति । निर्गुणविद्याफलमुदाहर्तुं तद्विषयवाक्यमु-
दाहरति । एवमेवेति । स्वशब्दस्य स्वकीयवाचित्वेनाऽऽगन्तुकत्वभानात्स्वरूपवचनत्वे-
नानागन्तुकत्वबुद्धेः संशयमाह । तत्रेति । अत्र च निर्गुणब्रह्मविद्याफलस्य ब्रह्मभा-
वाविर्भावस्य नित्यसिद्धत्वोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे मोक्षस्य स्वर्गादेरविशेषः ।
सिद्धान्ते तस्य ततो विशेषोऽस्तीति गृहीत्वा विमृश्य पूर्वपक्षमाह । किमिति । विमरमाग-
न्तुकं फलत्वात्स्वर्गवदिति मत्वा हेतुमाह । मोक्षस्येति । अभिनिष्पत्तिशब्दादपि प्रागभूतस्य
निष्पत्तिः सिध्यतीति हेतुवन्तरमाह । अभिनिष्पद्यत इति । सिद्धान्तेऽपि स्यादभिनिष्प-
त्तिरौपचारिकीत्याशङ्क्याऽऽह । स्वरूपेति । उक्तानुमानादभिनिष्पत्तिशब्दाच्च
सिद्धमर्थं निगमयति । तस्मादिति । मुक्तेरागन्तुकत्वमनूय सिद्धान्त्यति । एवमिति ।
उक्तेऽनुमाने जीवति कथमनागन्तुकत्वं मुक्तेरित्याह । कुत इति । विशेषणश्रुतिवा-
च्यमनुमानमित्याह । स्वेनेति । परं ब्रह्म ज्योतिःशब्दितमुपसंपद्य साक्षादनुभूय तेनैव

१ क. म. संपाद्या । २ ज. म. 'स्वव' । ३ क. ख. घ. 'देशा व' । ४ द. 'शिवज्ञेन । ५ ठ.
६. 'ति । अतः' । ७ म. 'तस्मात्' । ८ क. 'तस्मात्' । ९ म. 'तस्मात्' । १० म. 'तस्मात्' ।

अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवच्छ्रमं स्यात् । नन्वात्मी-
याभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति । न । तस्यावचनीयत्वात् ।
येनैव हि केनचिद्भूषेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवाऽऽत्मीयेत्वोपपत्तेः
स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात् । आत्मवचनतायां त्वर्थ-
वत्केवलेनैवाऽऽत्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नाऽऽगन्तुकेनापररूपेणा-
पीति ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वाविस्थास्विह च स्वरूपांनपायसाम्ये सती-
त्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभितिष्यद्यत इत्युक्तः सै सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवाऽऽ-
त्मनाऽवतिष्ठते । पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमे-
वापीतो भवतीति चावस्थान्नयकलुषितेनाऽऽत्मनेत्ययं विशेषः ।
कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति प्रतिज्ञानादित्याह ।
तथा हि “ एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि ” [छा० ८ ।
९ । ३ ; ८ । १० । ४ ; ८ । ११ । ३] इत्यवस्थान्नयदोष-

स्वेन रूपेणाऽऽविर्भावोऽवस्थानमित्यनङ्गीकुर्वन्त्वं प्रत्याह । अन्यथेति । विधान्तं
स्वशब्दस्यार्थवत्त्वं शङ्कते । नन्विति । अज्ञातज्ञापकत्वे संभवत्यनुवादकत्वायोगात्
मित्याह । न तस्येति । तदेवावचनीयत्वं साधयति । येनेति । परपक्षे विशेषण-
नर्थक्यमुक्त्वा स्वपक्षे तदर्थवत्त्वमाह । आत्मेति । अर्थवत्त्वं स्फुटयति । केव-
नेति ॥ १ ॥

सूत्रान्तरमाकाङ्क्षाद्वाराऽवतारयति । कः पुनरिति । सूत्रस्थं मुक्तशब्दं यो
यति । योऽत्रेति । पूर्वत्रापि वस्तुतोऽस्यैवंभूषत्वाच्च विशेषमिति द्विरित्याशङ्क्यावस्था-
येऽपि यथाक्रमं व्यावहारिकरूपेणोपपद्यमानमाह । पूर्वत्रेति । जागरिते पुत्रादावहं
माभिमानादन्धवत्परवशो भवति स्वप्ने तन्नाशदृष्ट्या वासनामयं रोदनाद्यनुभवति सु-
विशेषज्ञानशून्यश्चिदातुरज्ञानमात्रपरवशस्तिष्ठतीत्यवस्थान्नयेण बन्धापरनाम्ना का-
व्येण दूषितं यदात्मरूपं तेनाऽऽत्मा संसारदशायामवतिष्ठते मोक्षे तु निर्वृष्टनिस्त्रि-
दुःखानुषङ्गप्रद्योतमानपरिशुद्धपरमानन्दरूपेणेति विशेष इत्यर्थः । सूत्रावयवं शङ्का-
वैकमादत्ते । कथामिति । प्रतिज्ञातमेव प्रकटयति । तथा हीति । प्रकृतोपपत्तिमिमां

१ क. ज. घ. ट. 'येन वि' । २ घ. 'यत्पत्तेः' । ३ क. 'वास्वतः' । ४ घ. स पूर्व । ५
'बन्धान्धो' । ६ क. स. ठ. ड. 'नान्याह' । ७ क. स. घ. 'नाऽऽत्मना सं' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. १] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११२३

विहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय “अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” [छा० ८ । १२ । १] इति चोप-
न्यस्य “स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः” [छा० ८ ।
३ । ४] इति चोपसंहरति । तथाऽऽख्यायिकोपक्रमेऽपि “य
आत्माऽपहतपाप्मा” [छा० ८ । ७ । १] इत्यादि मुक्तात्म-
विषयमेव प्रतिज्ञानम् । फलत्वेप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनवृत्ति-
मात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा । यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिप-
र्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तिविरोधोऽभिनिष्प-
द्यत इति तद्वत् । तस्माददोषः ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥ (१)

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते “श्रावता परं ज्योतिरुपसंघ” [छा०
८ । ३ । ४ । मैत्रे० २ । २] इति कार्यगोचरमेवैवं श्राव-
यति । ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि दृढत्वात् । न चान-
तिवृत्तो विकारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति । विकारस्याऽऽत-
त्वप्रसिद्धेरिति । नैष दोषः । यत आत्मेवात्र ज्योतिःशब्देनाऽऽ-
वेद्यते प्रकरणात् “य आत्माऽपहतपाप्मा विजये विमृत्युः”
[छा० ८ । ७ । १०] इति प्रकृते परस्मिन्नात्मानं नाकस्मा-
द्वैतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम् । प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रस-

शान्तरमाह । तथेति । फलत्वादांगन्तुकत्वं मुक्तेरुक्तं तत्राऽऽह । फलत्वेति । शब्द-
सामर्थ्यात्तदांगन्तुकत्वमुक्तमनूद्य दूषयति । यदपीति । हेतोरन्यथासिद्धत्वे शब्दस्य
चौपचारिकत्वे मुक्तेरनांगन्तुकत्वं युक्तमित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ २ ॥

ज्योतिरुपसंघस्य मुक्तत्वायोगमाशङ्क्य परिहरति । आत्मेति । सूत्रव्यावर्त्य-
माह । कथमिति । कार्यगोचरत्वे हेतुमाह । ज्योतिःशब्दस्येति । ज्योतिरुपसंघ
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति पूर्वोपर्यश्रुतेमुक्तेरन्यां ज्योतिःसंपत्तिरित्याशङ्क्य तदुप-
संघत इत्युक्त्वा स्वेनाभिनिष्पत्तिरित्यश्रवणादध्याहारे च तदुपसंघेत्युक्तिवैयर्थ्या-
न्वयविवक्षो भूतत्वेन कार्यत्वादित्यागे कुतो मुक्तिरित्याह । न चेति । विकारगोचर-
स्यापि मुक्तत्वमाशङ्क्याथ यदल्पं तन्मर्त्यमित्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह । विकारस्येति ।
चोद्योत्तरत्वेन सूत्रं योजयति । नेत्यादिना । प्रकरणमेव दर्शयति । य आत्मेति ।

१ क. 'त्वसि' । २ क. ज. अ. 'न्धनि' । ३ क. ज. अ. 'जना' । ४ ख. ट. यद्यप्य' । ५ क.
ट. 'रोगो वि' । ६ अ. 'तिकज्यो' । ७ क. अ. 'श्चिद्विमुक्तो' । ८ ज. अ. 'हान्यप्र' । ९ क. ख.
७. ८. 'क्तं प्रत्याह' ।

ज्ञात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते “ तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः” [बृ० ४। ४। १६] इति । प्रपञ्चितं चेत्तत् “ ज्योतिर्दर्शनात् ” [ब्र० सू० १। ३। ४०] इत्यत्र ॥ ३ ॥ (१)

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ (२)

परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्पुताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् “ स तत्र पर्येति ” । इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् “ ज्योतिरूपसंपद्य ” [छा० ८। ३। ४ । मेत्रे २२] इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्देदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणाऽऽत्मना मुक्तोऽवतिष्ठते । कुतः । दृष्टत्वात् । तथा हि “ तत्त्वमसि ” [छा० ६। ८। ७] “ अहं ब्रह्मास्मि ” [बृ० १। ४। १०] “ यत्र नान्यत्पश्यति ” [छा० ७। २४। १] “ न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ” [बृ० ४। ३। २३] इत्येवमादीनि वाक्यान्पविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति । यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्कृतुन्यायात् । “ यथोदकं शुद्धं शुद्धमासितं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गौतम ” [कठ० ४। १५] इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्या-

अकस्मात्प्रकरणविच्छेदं विनेति यावत् । प्रकरणादपि प्रयोगाभावे कथमात्माभ्रं ज्योतिःशब्दस्तत्राऽऽह । ज्योतिःशब्द इति । अत्रापेक्षितं न्यायं पूर्वोक्तं सूचयन्पुनरुक्त्याह । प्रपञ्चितं चेति ॥ ३ ॥ (१)

विदुषः स्वरूपेऽवस्थितस्यापि वैशेषिकादिब्रह्मणोऽन्धत्वमाशङ्क्याऽऽह । अविभागेनेति । विषयोक्तिपूर्वकं वादिप्रतिपक्षेः संशयमाह । परमिति । अत्र मुक्तब्रह्मणोऽत्यन्तभेदेवादात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे जीवेश्वरयोरात्यन्तिकमन्यत्वस्य सिद्धान्ते तयोरात्यन्तिकमभिन्नत्वमङ्गीकृत्य पूर्वपक्षयति । इति वीक्षायामिति सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याचष्टे । इति यस्येति । दृष्टत्वमेव स्फुटयति । तथा हीति परमात्मन्येक्येन दृष्टत्वे फलितमाह । यथेति । फलावस्थावादिवाक्येष्वविभागदृष्टत्वादपि मुक्तस्य परस्मादात्यन्तिकमैक्यमिति व्याख्यान्तरमाह । यथेति । उ

[अ. ४ पा. ४ सू. ५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११३१

न्यविभागमेव दर्शयन्ति । नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च । भेदनि-
र्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते “ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः ”
[छा० ७ । २४ । १] इति “ स्वे महिम्नि ” [छा० ७ ।
२४ । १] इति “ आत्मेरतिरात्मक्रीडः ” [छा० ७ । २५ ।
२] इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥ (२)

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

स्थितमेतत् “ स्वेन रूपेण ” [छा० ८ । ३ । ४] इत्य-
त्राऽऽत्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नाऽऽगन्तुंकेनापररूपेणेति ।
अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते स्वमस्य रूपं ब्राह्म-
पहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं
च तेनैव स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ।
कुतः । उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावसमात् । तथा हि “ ये
आत्माऽपहतपाप्मा ” [छा० ८ । ७ । १] इत्यादिना
“ सत्यैकामः सत्यसंकल्पः ” [छा० ८ । १ । ५] इत्येवम-
न्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा “ स तत्र
पर्यैति जक्षत्क्रीडन्प्रमाणः ” [छा० ८ । १२ । ३] इत्यै-
श्वर्यरूपमावेदयति “ तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ”

भेदनिर्देशस्य तर्हि का गतिस्तत्राऽऽह । भेदेति । उपचारो गतिरित्यत्र तथाऽन्यत्र
दृष्टत्वं हेतुमाह । स इति ॥ ४ ॥ (२)

ब्रह्मात्मतां प्राप्स्यस्यापि जीवस्य सप्रपञ्चत्वं चोदयति । ब्राह्मेणेति । वृत्तं कीर्त-
यति । स्थितमिति । विषयसंशयौ दर्शयति । अधुनेति । येन च ब्रह्मरूपेण मुक्त-
स्यावस्थानं तर्हि सप्रपञ्चमेव किंवा निष्प्रपञ्चमेवायं बोधयरूपमिति विप्रतिपत्तेः
संशये ब्रह्मणो मुक्तोपसृप्त्यस्य दृष्टिद्वयमाश्रित्योभयरूपत्वोक्त्या पादादिसंगतिः । पूर्व-
पक्षे सप्रपञ्चत्वश्रुतीनां वा निष्प्रपञ्चत्वश्रुतीनां वा मुख्यार्थत्वसिद्धिः । सिद्धान्ते
द्विविधश्रुतीनां दृष्टिद्वयावष्टम्भान्मुख्यार्थत्वोपपत्तिरित्युपेत्य पूर्वपक्षयति । अभिधीयत
इति । उपन्यासेन ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वसिद्धिं विवृणोति । तथा हीति । उपन्यासो नामो-
द्देशः स चान्यत्र ज्ञातस्यान्यविधानायानुवादः । आदिशब्दार्थविधिं दर्शयति । तथेति ।

१ छ. 'तमगति' । २ अ. 'त्रस्वरूप' । ३ क. 'न्तुनाऽप' । ४ क. 'ना'त' । ५ क. ज. 'न
रु' । अ. ट. 'न हेन रु' । ६ अ. एष । ७ ट. 'तस' । ८ ठ. ड. 'न त्र' । ९ छ. 'स्य सृष्टि' ।
१० क. ख. छ. 'जैमि' ।

[छा० ७ । २५ । २] इति च । “ सर्वज्ञः सर्वेश्वरः ” इत्या-
दिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहतपोऽप्यत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथाऽपि शब्दविकल्पजा एवैते । पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते । चैतन्यमेव त्वस्याऽऽत्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता । तथा च श्रुतिः “ एवं वा श्रेयसात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ” [बृ० ४ । ५ । १३] इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकोमत्वादयस्तु यद्यापि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते, सत्याः कामा अस्येति । तथाऽप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः । अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् “ न स्थानतोऽपि परस्पोभयलिङ्गम् ” [ब्र० सू० ३ । २ । ११] इत्यत्र । अत एव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःस्वाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत् । न हि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि निमित्तानि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीय-

अज्ञातज्ञापनं विधिः । आदिशब्देनोक्तं व्यपदेशमाह । सर्वज्ञ इति । विधेयान्तर
हितत्वेनानुद्देश्यस्याप्रतिपाद्यत्वेनाविवेयस्य च सिद्धवदभिधानं व्यपदेशः ॥ ५

पूर्वपक्षान्तरमाह । चित्ततन्मात्रेणेति । उपन्यासादिना नानुसत्वे दर्शिते का
चिदेकरसत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । यद्यपीति । कथं विकल्पमात्रत्वमित्याशङ्क्य काल
निकत्वात्पाप्मादेस्तन्निवृत्तिरूपाणां वेषामपि रहोः शिर इतिवत्कालनिकत्वमेवेत्याह
पाप्मादीति । किं तर्हि तस्य वास्त्वैव रूपं तदाह । चैतन्यमिति । तत्र ज्ञानमाह
तथा चेति । सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिवन्नेतुमशक्यत्वात्कुतो ब्रह्मणश्चैतन्यम
अवेत्याशङ्क्याऽऽह । सत्येति । उपाधिनामपि तदभेदाद्वास्तवमेव धर्मत्वमित्याश
ङ्क्याऽऽह । अनेकेति । उपन्यासस्यैव विधिव्यपदेशंयोगेतिमाह । अत इति । अने
काकारत्वस्य निषिद्धत्वादेवेति यावत् । दृष्टान्तेऽपि मुख्यत्वमाशङ्क्योक्तम् । न हीति

१ ज. ट. 'पाप्मेत्याद' । २ क. 'त्रेणा' । ३ ट. 'स्वस्वरू' । ४ ज. 'न इत्ये' । ५ ज. 'कामाद' । ६ श. 'पसं' । ७ क. 'व ज' । ८ क. 'व्देनैवोक्त' । ख. ठ. ब. 'व्देनैवोक्तव्य' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. ७।८] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११३३

विषयेत्वात्तेषाम् । तस्माभिरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन
बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्योद्बुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

**एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं
बादरायणः ॥ ७ ॥ (३)**

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यगोत्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहा-
रापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूप-
स्यामत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥ (३)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते “ स यदि पितृलोककामो भवति संक-
ल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति” [छा० ८।२।१] इत्यादि ।
तत्र संशयः । किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने
हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति । तत्र सत्यपि संकल्पादे-
वेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता । यथा लोकेऽस्म-
दादीनां संकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं
मुक्तस्यापि स्यात् । एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्येति ।

उपन्यासादीनामन्यथासिद्धत्वे श्रुतिसिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ ६ ॥

सिद्धान्तयति । एवमपीति । त्विन्मात्रस्यापि सतो ब्रह्मणस्तत्त्वात्तत्त्वविभागाद्विधा-
त्वसिद्धिरिति सूत्रार्थं विवृणोति । एवमित्यादिना ॥ ७ ॥ (३)

पूर्वाधिकरणेषु परविद्याफलमभिधायापरविद्याफलं प्रपञ्चयितुमधुनोपक्रमते । संकल्पा-
दिति । विप्रयं वक्तुं वाक्यमुदाहरति । हार्देति । एषकारस्यायोगान्ययोगव्यवच्छे-
दसाधारणतया संकल्पं विषयीकृत्य संख्यमाह । तत्रेति । अत्र च सगुणब्रह्मविदो
ब्रह्मभूतस्य विभूतिनिर्माणसाधननिरूपणत्वादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे लोकवृत्तानुसारि
चरणं सिद्धान्ते श्रुतिवृत्तानुसारि चरणमित्यभिप्रेत्यावधारणश्रुत्या संकल्पस्य निरपेक्ष-
त्वसिद्ध्या पूर्वपक्षानुत्थानमाशङ्क्याऽऽह । तत्रेति । लोकवदित्युक्तं विवृणोति ।
यथेति । मुक्तस्य पित्रादिभोगहेतुसंपत्तिः संकल्पाविरक्तयत्नादिसापेक्षा भोगहेतुसं-
पत्तित्वादस्मादिभोगहेतुसंपत्तिवदिति मत्वा दार्ष्टान्तिकमाह । एवमिति । अनुमान-
फलमाह । एवं दृष्टेति । लोकवृत्तानुसारेण श्रुतेरर्थवत्त्वसिद्धावेव तद्विपरीतं न कल्प्य-

१ क. 'यविषयत्वा' । २ क. ज. ट. च । ३ ट. केवलं । ४ ज. 'पेक्षा यु' । ५ ट. 'भ्यतीति ।
६ ट. द. 'तं च न ।

संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तर-
सामग्रीं मूलभाषपेक्ष्योच्यते । न च संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रा-
दयो मनोरथविजृम्भितवच्चञ्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं
पर्याप्ताः स्युरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादि-
समुत्थानमिति । कुतः । तच्छ्रुतेः ॥ “संकल्पादेवास्य पितरः समु-
चिष्टन्ति” [छा० ८ । २ । १] इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापे-
क्षया पीड्येव । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधायैव
स्याद्भवतु । न तु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमित्तीष्यते ।
प्राक्संपत्तेर्बन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । न च श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोक-
वदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चेषां यावत्प्र-
योजनं स्वैर्योपपत्तिः । प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंक-
ल्पस्य ॥ ८ ॥

मिह त्ववधारणस्य तदनुसरणे सत्यर्थवत्त्वमेव न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । संकल्पा-
दिति । पित्रादेः संकल्पप्रवृत्त्यन्यत्वे मनोरथविजृम्भितवच्चपुत्रादिवदर्थक्रियासामर्थ्याभाव-
दपि संकल्पाविरक्तसाधनापेक्षा वक्तव्येत्याह । न चेति । मनोरथनिर्मितादपि हर्षादि-
कार्यं दृष्टमित्याशङ्क्य ज्ञानमात्रसाध्यकार्यसत्त्वेऽपि ज्ञेयवस्तुसाध्यं कार्यं तत्र नास्ती-
त्याह । पुष्कलमिति । संकल्पस्य यत्नादिसापेक्षस्यैव पित्रादिनिर्माणहेतुत्वेत्येतदनु-
सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याकरोति । एवमिति । संकल्पस्य यत्नसापेक्षत्वेऽनुमानस्योक्त-
त्वान्न तस्य केवलस्य पित्राद्युद्भवहेतुत्वेति शङ्कते । कुत इति । श्रुतिविरुद्धव-
कालात्ययापदिष्टमनुमानमित्याह । तच्छ्रुतेरिति । किंच निमित्तान्तरमपि संकल्पा-
यत्नं वा यत्नान्तरसाध्यं वा तत्राऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति । निमित्तान्तर-
मिति । तस्य यत्नाद्यपेक्षस्य संकल्पापेक्षया विलम्बितोत्पत्तिकत्वात्प्राप्तदुत्पत्तेर्विदुषो
मोक्षसंकल्पत्वं स्यात्तत्रश्च द्वितीयस्यायुक्तत्वेत्याह । प्रागिति । यत्तु लोकवन्निमित्तान्-
तरापेक्षेति तत्राऽऽह । न चेति । यदपि मनोरथविजृम्भितवदतिचञ्चलत्वान्न भोग-
साधनत्वं संकल्पप्रसूतानां पित्रादीनामिति तत्राऽऽह । संकल्पेति । अस्मदादिसंक-
ल्पतेष्वहं स्वैर्यं कथं मुक्तसंकल्पितेषु कल्प्यते तत्राऽऽह । प्राकृतेति ॥ ८ ॥

१ क. अ. न. 'यानुयुति' । २ ट. 'येवं स्या' । ३ क. अ. 'मिथ्य' । ४ क. अ. 'प्राक्तत्संप' ।
५ क. अ. न. 'श्रुतिग' । ६ क. ट. ड. 'जीवन्नादि' । ७ क. ट. ड. 'सित्वा' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. ११०] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११३५

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥ (४)

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति
नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः । न हि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्य-
स्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतो संकल्पयति । श्रुतिश्चेतदर्शयति
“ अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ” [छा० ८ । १ । ६]
इति ॥ ९ ॥ (४)

अभावं बादरिग्राहं ह्येवम् ॥ १० ॥

“ संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ” [छा० ८ । २ ।
१] इत्यतः श्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रि-
याणि पुनः प्राप्तेऽर्थस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समी-

विदुषः सत्यसंकल्पत्वे लाभान्तरमाह । अत इति । उपासितुरीश्वराधीनो भोगो
न संकल्पमात्राद्भवितुमलमित्याशङ्क्य सूत्रं व्याकरोति । अत एवेति । सत्यसंकल्प-
त्वेऽपि कथमीश्वराधीनत्वं विदुषो नेष्यते तत्राऽऽह । न हीति । ईश्वरमसादाद्भोगः
स्यादित्यपि प्रार्थयमानो जनी दृश्यत इत्याशङ्क्याऽऽह । सत्यामिति । विदुषोऽन-
न्याधीनमैश्वर्यमस्तीत्यत्र मानमाह । श्रुतिश्चेति । विद्यानुवादद्वारा तत्फलोकित्यारम्भा-
थोऽयशब्दः ॥ ९ ॥ (४)

विदुषो ब्रह्मीभूतस्य संप्रपञ्चत्वनिष्प्रपञ्चत्वयोर्व्यावहारिकताच्चिक्छताभ्यां व्यवस्था-
मुक्त्वा संकल्पातिरिक्तेसाधनभावाभावयोरेकोपाधवापातवो विरोधालोकसिद्धपदपदार्था-
पेक्षायाः श्रुतेर्लौकिकादनुमानाद्वा इति पूर्वपक्षयित्वा पदपदार्थधीमात्रेण श्रुतेरपेक्षाया-
मपि वार्क्यार्थबोधने तदभावाद्धिमते यत्तद्यनपेक्षसंकल्पजन्यो योगजन्यसामर्थ्यदृष्ट-
त्वादगस्त्यकृतसमुद्रपानवदिभ्यनुमानानुपैहीतश्रुत्या बाधितत्वादानुमानस्य संकल्पमात्र-
सिद्ध्या विदुषो भोगहेतुसिद्धिरित्युक्तम् । संप्रत्यवधारणादन्ययोगव्यवच्छेदेन संक-
ल्पस्यैव पित्रादिसाधनत्वविहापि मनसेति विशेषणस्यान्ययोगव्यवच्छेदकत्वेनावधारणा-
थत्वाद्विदुषो देहाद्यभाव इति पूर्वपक्षयति । अभावमिति । मनसः सद्भावोऽपि किमिति
विदुषो न विचार्यते तत्राऽऽह । संकल्पादेवेति । शरीरेन्द्रियाणि विषयस्त्वानि
किं विद्यावतो मुक्तस्य सन्ति किंवा न सन्त्याहो सन्ति च न सन्ति चेतिवादिवि-
प्रविपक्षेः संशयमाह । शरीरेति । अत्र सगुणब्रह्मविदः संकल्पादेव देहादिभावाभा-

१ क. 'स्याधि' । २ ट. 'न्ति' इत्यादिभ्यु । ३ क. ज. अ. न स । ४ ठ. ड. 'कत्वाभ्यां' ।
५ क. झ. 'विदुषो' । ६ ट. ड. 'अभावं' । ७ ठ. ड. पदा । ८ ठ. मनःस । ९ क. झ. 'दिप्र' ।

क्षयते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं मही-
यमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् । एवं द्वाहाऽऽज्ञायः
“ मनसेतान्कामान्पश्यन्मते ” [छा० ८ । १२ । ५] “ य
एते ब्रह्मलोके ” [छा० ८ । १३ । १] इति । यदि मनसा
शरीरेन्द्रियैश्च विहरेत् मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः
शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवृच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं
प्रति मन्यते । यतः “ स एकधा भवति त्रिधा भवति ” [छा० ७ ।
२६ । २] इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति । न ह्यने-
कविधता विना शरीरभेदेनाऽऽञ्जसी स्यात् । यद्यपि निर्गुणायां
भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पश्यते तथाऽपि विद्यमान-
मेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः
सगुणविद्याफलभावेनोपात्तमिति ॥ ११ ॥

वयोरुक्त्या ब्रह्मवीफलविभूतेरुक्तेरस्ति पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विशेषणश्रुतेरनेकधा
भावश्रुतेर्वा मुख्यार्थत्वासिद्धिः । सिद्धान्ते द्वयोरपि श्रुत्सोर्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादेः
मुख्यार्थत्वोपपत्तिरित्यङ्गीकृत्य पूर्वपक्षसूत्रं योजयति । तत्रेति । सत्यामपि
विप्रविपत्तावभावनियमासिद्धिरिति शङ्कते । कस्मादिति । विशेषणश्रुत्या परिहरति
एवं हीति । पक्षान्तरेऽपि विशेषणमयोगव्यवच्छेदकत्वेन युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह ।
यदीति । अन्ययोगव्यवच्छेदाय मनसेतिविशेषणाद्धामेन पश्यतीत्यादाविवेकस्यावृत्ति-
र्गम्यते । अयोगव्यवच्छेदे तु न तथा विशेषणमर्थवदित्यर्थः । विशेषणफलमुपसंहरति ।
तस्मादिति ॥ १० ॥

पूर्वपक्षान्तरमाह । भावमिति । सूत्राक्षराणि योजयति । जैमिनिस्त्विति । विक-
ल्पामननं मनोभेदादेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह । न हीति । देहभेदाभावे मनो-
भेदस्यापि दुर्भणत्वाच्च तद्वेदकत्वं विकल्पामननमित्यर्थः । निर्गुणविद्याधिकारे पाठादिक-
ल्पामननं स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह । यद्यपीति । देहे प्रियादिभोगहीने निर्गुणज्ञाने स्तुति-
त्वेनानेकधात्वस्यान्वयेऽपि विशिष्टभोगसंसर्गयोग्ये दहराद्युपासने फलत्वेनान्वय इत्यर्थः ।
न च मनसेति विशेषणमन्ययोगव्यावर्तकं देहादि व्यवच्छिन्नसीति युक्तं त्रैत्रो धनुर्धर
इविवदयोगव्यवच्छेदेनापि तद्योगादिति भावः ॥ ११ ॥

१ ट. द्वात्रा । २ अ. “ते म” । ३ अ. ट. “हेमन” । ४ अ. “निरावा” । ५ अ. “भावे
वि” । ६ ट. द. सत्या वि । ७ ट. द. “पशु” ।

[अ. ४ पा. ४ सू. १२१३] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११३७

उच्यते—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिर्दर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदोऽशरीर इति । सत्यसंकल्पत्वात् । संकल्पवैचित्र्याच्च ।^१ द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति । उभयलिङ्गश्रुतिर्दर्शनादेवमिदमपीति ॥१२॥

तन्वमावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

सिद्धान्तयति । उच्यत इति । सूत्रं व्याचष्टे । बादरायण इति । मनसेतिविशेषणसामर्थ्यादेकधा भवेति त्रिधा भवतीत्यादिविकल्पामननसामर्थ्याच्चेत्यतःशब्दार्थे स्फुटयति । उभयेति । सशरीरत्वमशरीरत्वं चैकस्यैव विरुद्धमित्याशङ्क्य कालभेदादविरोधं दर्शयति । यदा त्विति । इतिशब्दस्योभयविधत्वमिति पूर्वेण संबन्धः । विषदुः संकल्पानुसारि कार्यमित्यत्र हेतुमाह । सत्येति । कार्यवैचित्र्ये हेतुः । संकल्पेति । धनुर्धरत्वादि हि विशेषणं पाक्षिकमाप्तविशेषपदयोगव्यवच्छेदकं युक्तं न हि चैत्रो धनुर्दधान एवावतिष्ठते । प्रकृते तु मनसैवानित्यादौ कामभोगेषु मनसो नित्यप्राप्तत्वात्तदनुवादेनान्ययोगनिवृत्त्यर्थेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमवतार्य व्याचष्टे । द्वादशाहवदिति । तस्य बहुकर्तृकतया सत्रत्वे नियतकर्तृकतयाऽहीनत्वे च हेतुमाह । उभयेति । द्वादशाहो हि यजमानबहुत्वादासनोपायनोपदेशाच्च सत्रं य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्तीत्युपायनचोदनादर्शनात्सप्तदर्शावराश्वतुर्दशतिपरमाः सत्रमासीरन्नित्यासनचोदनायाश्च द्वादशाहाधिकारे दृष्टत्वादासनोपायनोपदेशनयोरन्यतरत्वस्य सत्रलक्षणत्वाद्वद्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदित्येतिचोदनादर्शनाभिनियतकर्तृकत्ववंगमाच्च द्विरात्रवदहीनत्वं चास्य गम्यते । तथेदमपि विदुषः सशरीरत्वमशरीरत्वं च द्विविधश्रुतिसिद्धं विचित्रसंकल्पनिबन्धनमविरुद्धमित्यर्थः ॥ १२ ॥

विदुषो देहाद्यसत्त्वमयुक्तं भोगाभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽह । तन्वभाव इति । सप्ते देहाभावेऽपि तत्र संनिकर्षस्य ज्ञानहेतुर्वा मनःस्थितिमात्रहेतुत्वेनान्यथासिद्धत्वाद्योगिनश्च विद्यासामर्थ्यादेव मनोवस्थानादिति मत्वाऽऽह । संध्यवदिति । सूत्रा-

१ ज. ट. 'यशु' । २ ज. ट. 'तिलिङ्गद' । ३ क. 'रीर इति य' । ४ ख. यदि । ५ क. 'दा त्वश' । ६ ज. ट. 'यशु' । ७ ज. ट. 'तिलिङ्गद' । ८ ख. 'पद्यते । य' । ९ ड. 'वती' । १० क. 'कार्ये वै' । ११ ख. 'विध्यहे' । १२ घ. 'क्षिप्ती प्राप्ति वि' । १३ ख. 'नित्यं प्रा' । १४ घ. 'शवारा' । १५ ट. ट. 'सि' । १६ ख. 'सत्रमहीन' ।

यदां तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने
शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादि-
कामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ (५)

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरित्ते विद्यमाना एव पित्रादिकामा
भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥ (५).

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

“ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ” [ब्र० सू० ४ । ४ ।
११] इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिविषनेक-
शरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्रवत्सृज्यन्ते किंवा
सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा । तत्र चाऽऽत्म-
मनसोर्भेदानुपपत्तरेकेन शरीरेण, योगादितराणि शरीराणि निरा-
त्मकानीति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते । प्रदीपवदावेश इति । यथा

क्षराणि व्याकरोति । यदेत्यादिना । विदुषो देहादेरभावे मनसेविविशेषणोपपत्तिं हे
करोति । एवं हीति ॥ १३ ॥

तर्हि देहाद्युपादानमनर्थकं उत्राऽऽह । भाव इति । पुष्कलभोगसिद्धयर्थं देहाद-
दानमिति मेनवानः सूत्रं योजयति । भावे पुनरिति ॥ १४ ॥ (५)

संकल्पाधीनमनेकदेहनिर्माणमफलं निरात्मकेषु देहभेदेषु भोगायोगादित्या-
हुत्याऽऽह । प्रदीपवदिति । वृत्तानुवादपूर्वकं मुक्तस्योक्तानि सांक्रान्तिकानि शरीराणि
विषयीकृत्योभयथागलब्धेः संदेहमाह । भावमिति । तत्रेति मुक्तोक्तिः । मुक्तस्यापि
विद्याफलभूतस्य सांक्रान्तिकेषु प्रवेशप्रकारोक्त्या, प्रादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे भोक्तुरेव
त्वादेकत्रैव भोगसिद्धिः । सिद्धान्ते भोक्तुरेक्येऽपि स्वेच्छया तस्यानेकत्र भोगोपपत्ति-
रिति मत्वा पूर्वपक्षयति । तत्रेति । आत्मनो विभुत्वेऽपि मनस्येव चैतन्यव्यक्तेस्त-
दवच्छेदकैकदेहावस्थितस्य देहान्तरावेशायोगादन्तःकरणान्तरावदानेऽपि तस्या
नाद्यन्तःकरणान्तरावच्छिन्नस्य पुनरागन्तुकान्तःकरणावच्छेदासंभवात्संभवे च जीवमे-
वाद्भोगाननुसंधानप्रसङ्गादेकस्मादितराणि निरात्मकानीति प्राप्तमित्यर्थः । पूर्वपक्ष-
मनूय सिद्धान्तसूत्रमवतारयति । एवमिति । तत्र दृष्टान्तं व्याचष्टे । यथेति । दीपा

[अ. ४ पा. ४ सू. १५] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११३९

प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात् । एवमे-
कोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीरा-
ण्याविशति । कुतः । तथा हि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्
“स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तेधा नवधा” [छा०
७ । २६ । २] . इत्यादि । नैतदारूपत्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते
नापि जीवान्तरावेशे । न च निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः
संभवति । यच्चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति ।
नेष दोषः । एकमनोर्नुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि
सत्यसंकल्पत्वात्स्रक्षयति । सृष्टेषु च तेष्वाधिभेदादात्मनोऽपि
भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्षयते । एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकश-
रीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

दीनां भिन्नत्वेऽपि दीपत्वस्यैकत्वमेकवर्तिवैति दीपेषूपचर्यभिन्नवर्तिवैतिनां दीपानां भिन्न-
तेति दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमावेशशब्दित्वं दर्शयति । एवमिति । तत्र हेतुत्वेना-
वशिष्टं सूत्रावयवं व्याचष्टे । तथा हीति । यथा दारुयन्त्रं चैतन्यशून्यमपि चेतनेच्छाम-
नुरुध्यते तथा निर्माणशरीराणि सेन्द्रियाणीति कस्मान्नाभ्युपगम्यते तेन निरात्मक-
त्वमेव शरीरान्तराणामित्याशङ्क्याऽऽह । नैतदिति । यन्त्रवाहकस्य हि यन्त्राणि
भिन्नानि निर्माय ब्राह्मणोऽपि नानात्वेन व्यपदेशाभावाद्विदुषश्च तथा व्यपदेशात्तत्त-
द्देहोपाध्यवच्छेदो भावीत्यर्थः । तर्हि निर्माणदेहेष्वात्मान्तराणि सृजति विद्वानित्या-
शङ्क्याऽऽह । नापीति । जीवान्तरावेशेऽपि नैतदवकल्पत इति संबन्धः । एक-
स्यानेकधाभावश्रुतिविरोधाननुसंधानप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः । शरीरान्तराणां निरात्मकत्वाभावे
हेत्वन्तरमाह । न चेति । अहमनधिष्ठितानामचेतनानां प्रवृत्त्ययोगाद्भोगाभावप्रसङ्गाच्च
शरीरान्तरेषु न निरात्मकत्वमित्यर्थः । पूर्वपक्षबीजमनुभाषते । याच्चाति । स्वप्नानादि-
मनोभेदे सत्येव जीवभेदादेकमनःसंकल्पसमुत्थानात्तदायत्तानां मनसां भेदेऽपि जीवभे-
दाभावात्तत्तदुपाधिव्यक्तचैतन्यो विद्वानैश्वर्यभागित्युपगमे न किंचिदवद्यमिति परिहरति ।
नेत्यादिना । एकमनोनुवर्तनमेकाभिप्रायाविरोधित्वम् । उक्तेऽर्थे योगशास्त्रसंमतिमाह ।
एषैवेति । निर्माणचित्तान्यस्मिन्नामात्रं प्रवृत्तिभेदप्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामित्यादिनैषैव
प्रक्रियोक्तेत्यर्थः ॥ १५ ॥

१ ज. 'धा स' । २. 'धा प' । ३ ज. 'तथा' इ' । ३ ट. यश्चाऽऽत्म' ४ अ. 'नुवर्त्तन्ति ।
५ क. 'पु चैते' । ६ ठ. 'तिदी' । ७ अ. 'तितां' । ८ क. ख. घ. 'म्यन्ते ते' । ९ ख. घ. 'न यथा
व्य' । १० ट. 'अ. 'मानं नरा' ।

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते
यावता “ तत्केन कं विजानीयात् ” [बृ० ४ । ५ । १५]
“ न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ”
[बृ० ४ । ३ । ३०] “ सलिलं एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति ”
[बृ० ४ । ३ । ३२] इति चैवंजातीयका श्रुतिविशेषविज्ञानं
वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापे-

क्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ (६)

स्वाप्ययः सुषुप्तम् “ स्वप्नीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याच-
क्षते ” [छा० ६ । ४ । १] इति श्रुतेः । संपत्तिः कैवल्यम्
“ ब्रह्मैव सत्ब्रह्माप्येति ” [बृ० ४ । ४ । ६] इति श्रुतेः ।
तयोरन्यतरामवस्थामपेक्षयेत्तद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित्सुषुप्ता-
वस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यपावस्थाम् । कथमवगम्यते यत-
स्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम् “ एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय
तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति ” [बृ० २ । ४ ।
१४] “ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् ” [बृ० २ । ४ । १४]
“ यत्र सुप्तो न कंचन कार्यं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ”
[बृ० ४ । ३ । १९ । माण्डु० ५ । नृसिंहपूर्वता० ४ । १ । नृ०
उ० ता० १ । रामोत्तरता० ३] इत्यादिश्रुतिभ्यः । सगुण-

मुक्तस्य यथोक्तमैश्वर्यं विशेषज्ञाननिषेधकश्रुतिविरुद्धमिति शङ्कते । कथमिति
शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमवतारयति । अत इति । प्रतिज्ञां व्याचष्टे । स्वाप्यय इति
उक्तमेव व्यक्तीकर्तुं विभजते । क्वचिदिति । तत्केन कर्षित्यदिकं वाक्यं क्वचिदित्य-
च्यते द्वितीयस्तु क्वचिच्छब्दः सलिलादिवाक्यगोचरः । हेतुभागमाकाङ्क्षाद्वारा व्याच-
रोति । कथमित्यादिना । तत्रेत्युक्तवाक्यप्रकरणोक्तिः । तदधिकारः सुषुप्तिमोक्षयो-
न्यतरस्य प्रकरणम् । तत्र समुत्थानवाक्यं यत्र सुषुप्तावाक्यं त्वापाधिकारविषयम् । य-
त्त्वस्येति मोक्षाधिकारविषयमिति भेदः । विशेषज्ञानाभावाभिधानं सुषुप्तिमुक्त्योरन्यतरा-
प्रायेणेत्युक्तम् । इदानीमैश्वर्याभिधानस्य सगुणविद्याविषयत्वेन भिन्नगोचरत्वात् वि-
धाशङ्केत्याह । सगुणेति । कथं तर्हि सगुणविद्याफले मुक्तिशब्दप्रवृत्तिरित्युक्तम्

[अ४पा.४.सू.१७] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११४१

विद्याविपाकस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुप-
वर्ण्यते । तस्माददोषः ॥ १६ ॥ (६)

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनस्विरसायुज्यं ब्रजन्ति किं तेषां
निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः । किं ताव-
त्प्राप्तम् । निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति “ आप्नोति स्वारा-
ज्यम् ” [तैत्ति० १ । ६ । २] “ सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ”
[तै० १ । ५ । ३] “ तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ”
[छा० ७ । २५ । २; ८ । १ । ६] इत्यादिश्रुतिभ्य इति ।
एवं प्राप्ते पठति । जगद्व्यापारवर्जमिति । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं
वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानो भवितुमर्हति जग-
द्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवैश्वरस्य । कुतः । तस्य तत्र अकृतत्वाद-
संनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः ।
तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात् । नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च ।

संध्यायां दिवाशब्दवत्प्रत्यासात्तिमात्रेणेति मत्वाऽऽह । तस्मादिति ॥ १६ ॥ (६)

मनोदेहसर्गादाकुत्सर्गोऽयदैश्वर्यमुपासिबुरुक्तं यस्य जगत्सर्गेऽप्रमाणादपवादं दर्श-
यति । जगदिति । अपरब्रह्मणा सायुज्यं गतानामैश्वर्यं विषयीकृत्य तस्योभयथा-
दृष्ट्या संशयमाह । ये सगुणेति । सगुणब्रह्मविद्याफलभूतैश्वर्यस्य निरतिशयत्वेनिवा-
रणात्पादादिसंगतिः । पूर्वपक्षे विद्वदैश्वर्यस्य निरङ्कुशत्वादीश्वरमेवादनेकमत्या जग-
दुत्पत्त्यादिव्यवस्थासिद्धिः । सिद्धान्ते तद्वेदाभावात्परमेश्वराधीनतया जगदुदयादिव्य-
वस्थोपपत्तिरित्यभिप्रेत्य प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षयति । किं तावदिति । श्रुतानां श्रुतार्थग्रहेण
पूर्वपक्षवित्वा सिद्धान्तयति । एवमिति । तत्र प्रविज्ञां विभजते । जगदिति । तत्र
हेतुद्वयं प्रश्नपूर्वकमाह । कुत इति । ईश्वरस्य नित्यसिद्धस्यैव जगदुत्पत्त्यादिव्यापार
इत्यत्र प्रकरणादिति हेतुं विवृणोति । पर इति । प्रलयादुत्थानकाले सर्वस्य जगतो
यः कर्ता तस्यैव स्थित्यादावपि कर्तृत्वोक्तेरन्यस्य चाऽऽदिसर्गे कर्तृत्वाभावादीश्वरस्यैव
जगद्व्यापारे संनिधिरित्याह । तमेवेति । किंच परस्यैव नित्यत्वेन सहैत्वनपेक्षणस्य
ऋषशाक्तित्वाज्जगत्सर्जनं प्राति कल्प्यसामर्थ्यत्वाच्च विदुषामीश्वरविषयैव जगत्सृष्टिरे-
ष्टव्या । किंच पौर्वापर्यालोचनायामीश्वरस्यैव जगत्सर्गः शब्दाद्गम्यते । जन्मादिसूत्र-
मारभ्य चैतदुपपादिवम् । ततोऽद्वितीयप्रविज्ञा सिद्धैवेत्याह । नित्येति । ईश्वरस्य

१ ज. ट. 'न्ति ते' । २ ट. 'पाराधि' । ३ ठ. ड. 'क्षणः सा' । ४ ठ. ड. 'रित्युपेत' । ५ क.
च. स. प्रकृतत्वादिः ।

तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते ।
तेनासंनिहितास्ते जगद्वापारे । समनस्कत्वादेव चेतैषामनैकमत्ये
कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरो-
धोऽपि कदाचित्स्यात् । अथ कस्यचित्संकल्पमन्वयस्य संकल्प
इत्यविरोधः समर्थयेत ततः परमेश्वरोक्ततत्त्वमेवेतरेषामिति
व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधि-

कारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम् “ आप्नोति स्वाराज्यम् ” [तै० १ । ६ ।
२] इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशाभिरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति
तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । नायं दोषः । आधिकारिकमण्ड-
लस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतने-
ष्ववस्थितः परं ईश्वरस्तदप्यचेर्वेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्का-
रणमनन्तरम् “ आप्नोति मनसस्पतिम् ” [तै० १ । ६ ।

जगद्वापारे संनिधिमुक्त्वा विदुषां तत्रासंनिधिमाद्यप्रतिज्ञासिद्धयर्थं समर्थयते । तद-
न्वेषणेति । श्रूयते तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यादाविति शेषः । सृष्ट्युत्त-
रभाविनामुपासकानां सृष्टिकाले सत्त्वाभावात्पूर्वकल्पसिद्धानां प्रलयकाले मुक्तत्वात्
स्रष्टृत्वादि तेषां स्थितिमित्यर्थः । इतश्च विदुषां न निरङ्कुशैश्वर्यमित्याह । समनस्क-
त्वादिति । किं विदुषां समप्रधानत्वमाहो गुणप्रधानत्वम् । आद्ये समप्रधानान-
नियमेनैकमत्यादर्शनादेकस्य सिसृक्षायामपरस्य संजिहीर्षासंभवादपरायणमेव सर्गसंहारं
स्याताम् । अपरया द्वयोरपि नेश्वरत्वं कार्यविधादादित्यर्थः । द्वितीयमनुभाष्य दूष-
यति । अथेत्यादिना । एकामिप्रायानुर्वर्तितायामन्येषामागन्तुकैश्वर्याणामगृह्यमाण-
विशेषतया कस्यचित्प्राधान्यायोगतदनागन्तुकैश्वर्यपरमेश्वरवर्तित्वमित्तरेषामेवमित्यभि-
त्यर्थः ॥ १७ ॥

पूर्वपक्षर्वाजमनूय दूषयति । प्रत्यक्षेति । अनुवादमागं व्याकरोति । अथेति ।
परिहारमवतारयति । अत्रेति । नान्यमुक्त्वा हेतुमवतार्य व्याचष्टे । नेत्यादिना ।
अधिकारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकस्त्वत्र हेतुमाह । यदिति । यस्मात्कार-

१ अ. 'वैकमिति' । २ क. अ. 'वामादिमदिश्व' । ३ क. ज. अ. 'वैषा' । ४ ट. 'मनेकत्वे
कस्य' । ५ अ. 'राहृत' । ६ 'राभिप्रायत' । ६ ट. विदुषो । ७ अ. 'नेषु व्यव' । ८ अ. 'रमेश्व' ।
९ ट. व. 'ना च प्र' । १० ट. व. 'मनमाध्य ह' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. १९] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११४३

२] इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नो-
तीत्येतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चानन्तरम् “ वाक्पतिश्च-
क्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति ” [तै० १ । ६ । २]
इत्याह । एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वराय तमेवेतरेषा-
मेश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं परमेश्वरं रूपं न केवलं विका-
रमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपं
स्थितिमाहाऽऽभ्यासः “ तद्वानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादाऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ” [छा० ३ ।
१२ । ६] इत्येवमादिः । न च, तान्निर्विकाररूपमितरालम्बनाः

णारत्नाराज्यप्राप्त्यनन्तरमाहाऽऽप्नोति मनसस्पतिमिति । यदि पूर्वमेव निरङ्कुशं स्वारा-
ज्यमुक्तं तर्हि पश्चाद्दीश्वरप्राप्तिवचनं न स्यात्तस्माद्भेदे स्वाराज्यं न तु जगतः स्रष्टृत्वा-
दावित्यर्थः । विवक्षितार्थसिद्धये वाक्यार्थं कथयति । यो हीति । विदुषामीश्वराधी-
नमैश्वर्यं स्वाराज्यमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति । तदनुसारेणेति । परमेश्वराधीनम-
णिमादिलक्षणमैश्वर्यं विदुषां स्वाराज्यं न तु जगतः स्रष्टृत्वादीत्युक्तमर्थं तेषां सर्वेषु लोके-
ष्वित्यादिवाक्येषु संचारयति । एवमिति ॥ १८ ॥

निरतिशयैश्वर्यवदीश्वरोपासकास्तदात्मतां प्राप्ताः सातिशयैश्वर्यवन्तो भवन्तीत्य-
युक्तं तदात्मत्वविरोधादित्यल्लाङ्घ्यं ब्रह्मैक्येऽपि सगुणप्राप्तानां निर्गुणप्राप्त्यभाववदे-
तद्युक्तमिति वक्तुं ब्रह्मणो द्वैरूप्यमाह । विकारावर्तीति । तत्र प्रतिज्ञाविभागं
व्याचष्टे । विकारेति । चकारसूचितमर्थमाह । नेति । हेतुभागं व्याचष्टे । तथा
हीति । तत्र प्रथमतृतीयपादाभ्यां विकारावर्ति रूपमुच्यते द्वितीयचतुर्थपादाभ्यां
विकारावर्ति ब्रह्मणो रूपमुक्तमिति भेदः । अस्तु ब्रह्मणो विकारावर्ति रूपं तथाऽपि किं
स्यात्तत्राऽऽह । न चेति । वस्तुवस्तुत्वात्वेऽपि यथोपासनमेव तत्प्राप्तिरुपासनं च

१ ज. छ. अ. 'प्रोत्ये' । २ अ. 'गेर चा' । ३ ट. 'न्तरं वाक्यम्' । ४ ट. 'मेवैषा' ।
५ ट. 'वस्तु' । ६ ट. 'वस्तु' । ७ ट. 'वस्तु' । ८ ट. 'वस्तु' । ९ ट. 'वस्तु' । १० ट. 'वस्तु' ।

माप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव
द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त एवं
सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनन्ताप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति
द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती ।
“ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति
कुतोऽपमग्निः ” [कठ००५ । १५ । श्वेता० ६ । १४ । मुण्ड०
२ । २ । १०,] इति ।

“ न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ”

[भ० गी० १५ । ६] इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य
ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्र-
मेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते “ तमाहाऽऽपो वै

विध्यधीनं निरवग्रहमहत्त्वादिधर्मस्य चोपास्त्यगोचरत्वाद्गुणसितस्याप्राप्तिरिति फलि-
तमाह । अतश्चेति ॥ १९ ॥

विकारावर्ति रूपमस्तीत्यत्रैव श्रुतिस्मृती प्रमाणयति । दर्शयतश्चेति । प्रसिद्धे
प्रत्यक्षानुमाने प्रत्याचक्षणः सूत्राक्षराणि योजयति । दर्शयतश्चेत्यादिना । उक्तेऽर्थे
सुलभानि श्रुतिस्मृतिवचनानीति मन्वानो वाक्यमर्थमाह । तुदेवमिति ॥ २० ॥

अपरब्रह्मविदां विश्वस्रष्टृत्वाद्यभावे हेत्वन्तरमाह । भोगमात्रेति । न केवलं
स्वाराज्यस्य परमेश्वरायत्तवया विदुषां जगद्व्यापारराहित्यं किंतु तेन भोगमात्रेण-
साम्योक्तिलिङ्गादपीत्यर्थः । चकारार्थमाह । इतश्चेति । हेत्वन्तरमेवावशिष्टसूत्राक्षरयो-
जनया स्पष्टयति । यस्मादिति । तं ब्रह्मलोकगतमुपासकं हिरण्यगर्भः स्वसमीपमुपा-
गतं सानुनयमाह मया खल्वाप एवामृतमय्यो भीयन्ते हृदयन्ते भुज्यन्ते तवाप्यसाव-
मृतरूपोदकलक्षणो लोको भोग्यो यथासुखं भुज्यतामित्याह । तमाहेति । उपासक-

१ ट. 'गुणरू' । २ अ. 'छत ए' । ३ क. 'ग्रहं जगदेश्व' । ४ अ. 'छत इ' । ५ क. ज. अ.
'मेषा' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. २२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११४५

सल्लु मीयन्ते लोकोऽसौ " इति " स यथेतां देवतां सर्वाणि
भूतान्यवन्त्येवं ह्येवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति " तेनो एतस्ये
देवताये सायुज्यं सलोकतां जयति " [वृ० १ । ५ । २३]
इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

नन्वेवं सति स्मृतिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्तत्तत्त्वेषामा-
वृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्वादरायण आचार्यः पठति—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥ (७)

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वण्य देवयानेन पथ्य ये ब्रह्म-
लोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्मं ह वे ण्यश्चार्णवौ
ब्रह्मलोके वृत्तीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरं मदीयं सरो यस्मिन्न-

स्योपास्यदेवताया भोगमात्रसाम्ये श्रुत्यन्तरमाह । स यथेति । सशब्दो दृष्टान्तरपरः ।
अवन्ति भजन्ते । तत्रैव वाक्यान्तरमाह । तेनेति । उशब्दोऽप्यर्थः सलोकताम-
पीति संबध्यते । प्रकृतेनोपासनेनोपास्याया देवतायाः सायुज्यं तेन समानदेहतां
समानलोकतां च भावनाविशेषादाप्रोवीत्यर्थः ॥ २१ ॥

विदुषां निरङ्कुशैश्वर्यभाक्ते दोषमाशङ्कते । नन्विति । सह परमेश्वरस्यैश्वर्येणाति-
शयेन वर्तत इति साविशयं विदुषामैश्वर्यं तथा च परमेश्वराधीनत्वात्लौकिकैश्वर्यव-
त्कार्यं कार्यत्वाच्चान्तवदित्यर्थः । विद्वदैश्वर्यस्यान्तवत्त्वे का क्षतिरित्याशङ्क्य विदुषां मुक्तता
न स्यादित्याह । ततश्चेति । एतदुत्तरत्वेनोत्तरसूत्रं सूत्रकारं पूजयन्नवतारयति ।
अत इति । भगवानित्यनेन सर्वज्ञत्वादिसंपत्तिरुक्ता । आचार्यशब्देन शास्त्रार्थबहुली-
करणं सदाचारे श्रिण्याणां स्थापनं स्वयं तदाचरणं चेत्यत्र नैपुण्यमुक्तमिति भेदः । यत्तु
साविशयत्वेन कार्यत्वं तदवश्वान्तवत्त्वमित्यनुमानं तत्र किमैश्वर्यस्यान्तवत्त्वमात्रं साध्यं
किंवा मुक्त्यभावो विदुषामिति विकल्पाऽऽद्ये सिद्धसाध्यत्वं मत्वा द्वितीये क्रममु-
क्तिवादिश्रुतिविरोधमाह । अनावृत्तिरिति । सूत्रस्थं प्रतिज्ञापदं व्याचष्टे । नाडीति ।
अर्चिरादिपदोक्तदेवयानं पन्थानं स्मारयितुं विशेषणद्वयम् । ये ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ते
तं प्राप्य मुक्तभोगास्ततो नाऽऽवर्तन्त इति संबन्धः । कानि तानि शास्त्रोक्तानि विशे-
षणानीत्युक्ते यथाशास्त्रं तान्यनुक्रामति । यस्मिन्निति । इतो लोकात्पृथिवीशब्दिवा-
च्यवीयस्यां दिवि यो ब्रह्मलोकस्त्वस्मिन्नरण्यसंज्ञो द्वावर्णवावित्यर्थः । तस्मिन्नेवान्नमयं
हर्षकरं च सरोऽस्तीत्याह । यस्मिन्नैरमिति । सोमसवन इत्यत्र सोमशब्दोऽमृतव-

१ ज. 'अण्य' । २ ठ. ड. 'ज्यं स' । ३ क. झ. 'त्कार्यता' । ४ ठ. ड. 'पुण्य' । ५ क.
झ. 'यित्यादिश' ।

श्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजितां पूर्वज्ञाणो यस्मिंश्च प्रभुवि-
मितं हिरण्यं वेदम यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्चयते^१
ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिषु भुक्तभोगा आवर्तन्ते । कुतः ।
“तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति” [छा० ८ । ६ । ६ । कठ० ६ ।
१६] “तेषां न पुनरावृत्तिः” [बृ० ६ । ३ । १५] “एतेन
प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते” [छा० ४ । १५ ।
५] “ब्रह्मलोकमभिसंपद्यन्ते” [छा० ८ । १५ । १] “न च
पुनरावर्तते” [छा० ८ । १५ । १ । वासुदेवोप० ४]
इत्यादिशब्देभ्यः । अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा
वर्णितम् “कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्” [ब्र० सू०
४ । ३ । १४] इत्यत्र । सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्य-
सिद्धिनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः । तदाश्रयणेनैव हि सगु-
णैशरण्यानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः

चनः । कर्मज्ञानशून्यानां दुष्प्रोपत्वमपराजितत्वम् । ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्येति यावत् ।
प्रभुशब्दोऽपि हिरण्यगर्भमेवाधिकरोति । उक्तविशेषणवति ब्रह्मलोके मानमाह ।
यश्चेति । चन्द्रलोकादिनेति वैधर्म्योदाहरणम् । प्रतिज्ञामेवं व्याख्यायं मोक्षहेतुमाका-
ङ्क्षापूर्वकं व्याख्याति । कुत इत्यादिना । ननु दर्शितानामनावृत्तिश्रुतीनामर्थवैतन्त्र्या-
दविरोधेऽप्रामाण्यमिति नानुमानापबाधने सामर्थ्यमिममिहेति च विशेषणात्कल्पान्तरे
भवत्यावृत्तिरिति तत्राऽऽह । अन्तवत्त्वेऽपीति । ये तावदूर्ध्वरेतसः स्वाश्रमधर्ममात्र-
निष्ठा ब्रह्मचर्येण ब्रह्मलोकमधिगच्छास्तेषामन्तरेण विद्यां बन्धवध्वंसासिद्धेरस्त्येवाऽऽवृत्तिः ।
ये तु सगुणोपासकास्तेषामैश्वर्यस्य कल्पमात्रस्थायित्वेऽपि क्रममुक्तिविवक्षयाऽनावृत्तिर-
विरुद्धेत्यर्थः । सगुणब्रह्मविदामेवानावृत्तिरत्र प्रतिपाद्यते न निर्गुणब्रह्मविदां तत्र को
हेतुरित्याशङ्क्य तेषामावृत्तिशङ्काभावादित्याह । सम्यग्गतिः । सगुणब्रह्मविदामपि
ब्रह्मलोकगतानां तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनप्रसादादेवं मुक्तिरिति स्थिते सम्यग्दर्शनमनावृत्तिः
सुतरां सिध्यतीति कैमुतिकन्यायमाह । तदाश्रयणेनेति । उपासकानामीश्वराय-
त्तमैश्वर्यं न निरतिशयमित्यधिकरणार्थमुपसंहरुमितीत्युक्तम् । सूत्राभ्यासस्य प्रयोजन-
माह । अनावृत्तिः शब्दादिति । यत्राध्यायपरिसमाप्तिरेव तत्र पदस्यैवाभ्यासो दृष्टः
प्रकृते सूत्रस्यैवाभ्यासाच्चतुर्लोकस्य वैदान्त्यमीमांसाशास्त्रस्य समन्वयाविरोधसाधनफ-

१ क. घ. 'ता पुरी ब्रह्म' । २ क. घ. 'ते तं ते प्रा' । ३ घ. ट. 'वद्भुक्त' । अ. 'कद्रयुक्त' ।
४ अ. ट. 'यते' " न । ५ ज. ट. स । ६ ट. 'इतिश' । ७ ज. 'नपरायणा' । ८ ज. ट. 'व्यादि' । ९
क. 'ध्यायत्व' । १० क. घ. उ. द. 'य हे' । ११ क. घ. 'दवि' । १२ ठ. 'विशेषेऽप्रा' । १३ ठ. द. 'लोकं ग' ।

[अ. ४ पा. ४ सू. २२] आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेतानि । ११४७

शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥ (७)

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीम-
द्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

लानां साकल्येनोक्तत्वाद्धक्तव्यानवशेषात्परिसमापनमुचितमिति भावः ॥ २२ ॥ (७)

व्याख्याऽसंख्यातवर्तककचचयुरयस्तदुस्तर्कशङ्का
शङ्काव्याजप्रकारप्रसरणसमतावस्तुतत्त्वं श्रयन्ती ॥
श्रुद्धानन्दाह्मियुग्मस्मृतिभरिभृतप्राढगाढोक्तिरूढाऽऽ-
नन्दज्ञानप्रणीता जगति मुदमियं सद्धियां संविषत्ताम् ॥ १ ॥
सन्त्येव बहुलानीह व्याख्यानानि महाधियाम् ॥
व्याख्या तथाऽपि सौख्येन व्याख्यानाय मया कृता ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्द-
ज्ञानकृते श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्यविभागे न्यायनिर्णये चतुर्थो-
ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तमिदं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं सटीकशांकरभाष्यपुत्रम् ॥

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥



श्रीमद्द्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दांशकितवादित्व- | | | | |
| मधीयत एके | २ | ३ | ४३ | ६६२ |
| अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति | २ | ४ | ११ | ६९८ |
| अक्षरधियां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद्व- | | | | |
| त्तदुक्तम् | ३ | ३ | ३३ | ९०७ |
| अक्षरमम्बरान्तधृतेः | १ | ३ | १० | २३८ |
| अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यापैव तदर्शनात् | ४ | १ | १६ | १०६९ |
| अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् | ३ | १ | ४ | ७२१ |
| अङ्गावबद्धास्तु न शास्त्रासु हि प्रतिवेदम् | ३ | ३ | ५५ | ९५२ |
| अङ्गित्वानुपपत्तेश्च | २ | २ | ८ | ५०१ |
| अङ्गेषु यथाश्रयभावः | ३ | ३ | ६१ | ९६४ |
| अचलत्वं चापेक्ष्य | ४ | १ | ९ | १०५७ |
| अणवश्च | ५ | ४ | ७ | ६९१ |
| अणुश्च | २ | ४ | १३ | ७०० |
| अत एव च नित्यत्वम् | १ | ३ | २९ | २९० |
| अत एव च सर्वाण्यनु | ४ | २ | २ | १०७७ |
| अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा | ३ | ४ | २५ | ९९६ |
| अत एव चानृन्पाधिपतिः | ४ | ४ | ९ | ११३५ |
| अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् | ३ | २ | १८ | ७८९ |
| अत एव न देवता भूतं च | १ | २ | २७ | २१४ |
| अत एव प्राणः | १ | १ | २३ | १३४ |
| अतः प्रबोधोऽस्मात् | ३ | २ | ८ | ७७४ |
| अतश्चायनेऽपि दक्षिणे | ४ | २ | २० | १०९६ |
| अतस्त्वितरज्यापो लिङ्गाच्च | ३ | ४ | ३९ | १०१० |
| अतिदेशाच्च | ३ | ३ | ४६ | ९३९ |
| अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् | ३ | २ | २६ | ८०८ |
| अतोऽन्याऽपि द्वेकेषामुभयोः | ४ | १ | १७ | १०७० |
| अत्ता चराचरग्रहणात् | १ | २ | ९ | १७४ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा | १ | १ | १ | १८ |
| अदृश्यत्वाद्विगुणको धर्मोक्तेः | १ | २ | २१ | १९८ |
| अदृष्टानियमात् | २ | ३ | ५१ | ६७४ |
| अधिकं तु भेदनिर्देशात् | २ | १ | २२ | ४६१ |
| अधिकोपदेशाच्च बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् | ३ | ४ | ८ | ९९४ |
| अधिष्ठानानुपपत्तेश्च | २ | २ | ३७ | ५७५ |
| अध्ययनमात्रवतः | ३ | ४ | १२ | ९७८ |
| अनभिभवं च दर्शयति | ३ | ४ | ३५ | १००८ |
| अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः | १ | २ | १७ | १९० |
| अनारब्धकार्ये एव तु तदवर्धेः | ४ | १ | १५ | १०६६ |
| अनाविष्कुर्वन्नन्वयमात् | ३ | ४ | ५० | १०५३ |
| अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् | ४ | ४ | ३२ | ११४५ |
| अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दागुमानाभ्याम् | ३ | ३ | ३१ | ८९९ |
| अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् | ३ | १ | १२ | ७३९ |
| अनुकृतेस्तस्य च | १ | ३ | २२ | २६६ |
| अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् | २ | ३ | ४८ | ६७० |
| अनुपपत्तेस्तु न शारीरात् | १ | ५ | ३ | १६८ |
| अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदृष्टश्च तदुक्तम् | ३ | ३ | ५० | ९४२ |
| अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः | ३ | ४ | १९ | ९८४ |
| अनुस्मृतेर्बादरिः | १ | २ | ३० | २१७ |
| अनुस्मृतेश्च | २ | २ | २५ | ५४३ |
| अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः | ३ | २ | ३७ | ८०६ |
| अन्तर उपपत्तेः | १ | ३ | १३ | १८४ |
| अन्तरा चापि तु तदृष्टेः | ३ | ४ | ३६ | १००८ |
| अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः | ३ | ३ | ३५ | ९१२ |
| अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तच्छिद्वादिति चेन्नावि- शेषात् | २ | ३ | १५ | ६१८ |
| अन्तर्याम्यविदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् | १ | २ | १८ | १९२ |
| अन्तवच्चमसर्वज्ञता वा | २ | २ | ४१ | ५७७ |
| अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् | १ | १ | २० | १२४ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः | २ | २ | ३६ | ५७१ |
| अन्यत्राभावाच्च न तुणादिवत् | २ | २ | ५ | ४९६ |
| अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् | ३ | ३ | ६ | ८३५ |
| अन्यथानुमितौ च ब्रह्मशक्तिवियोगात् | २ | २ | ९ | ५०१ |
| अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् | ३ | ३ | ३६ | ९१३ |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च | १ | ३ | १२ | २४० |
| अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलाषात् | ३ | १ | २२ | ७४९ |
| अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके | १ | ४ | १८ | ३७२ |
| अन्यार्थश्च परामर्शः | १ | ३ | २० | २६५ |
| अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् | ३ | ३ | १७ | ८५९ |
| अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा | २ | २ | १७ | ५२४ |
| अपि च सप्त | ३ | १ | १५ | ७४१ |
| अपि च स्मर्यते | १ | ३ | २३ | २७० |
| " " | २ | ३ | ४५ | ६६५ |
| " " | ३ | ४ | ३० | १००३ |
| " " | ३ | ४ | ३१ | १००९ |
| अपि चैवमेके | ३ | २ | १३ | ७८५ |
| अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् | ३ | २ | २४ | ८०७ |
| अपीतौ तत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् | २ | १ | ८ | ४१९ |
| अप्रतीकालम्बनोन्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषा- | | | | |
| तत्कृतिश्च | ४ | ३ | १५ | ११२४ |
| अवाधाच्च | २ | ४ | २९ | १००३ |
| अम्बुवदग्रहणमनु न तथात्वम् | ३ | २ | १९ | ७९० |
| अभावं बादरिराह ह्येवम् | ४ | ४ | १० | ११३५ |
| अभिध्योपदेशाच्च | १ | ४ | २४ | ३८९ |
| अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् | २ | १ | ५ | ४१२ |
| अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः | १ | २ | २९ | २१६ |
| अभिसंख्यादिष्वपि चैवम् | २ | ३ | ५२ | ६७५ |
| अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् | २ | २ | ६ | ४९७ |
| अक्षपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् | ३ | २ | १४ | ७८६ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| अर्चिरादिना तत्प्रथितेः.... | ४ | ३ | १ | १०९८ |
| अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं | | | | |
| व्योमवच्च | १ | २ | ७ | १७१ |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् | १ | ३ | २१ | २६६ |
| अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्बृद्धिर्हि | २ | ३ | २४ | ६३४ |
| अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः | १ | ४ | २२ | ३७९ |
| अविभागेन दृष्टत्वात् | ४ | ४ | ४ | ११३० |
| अविभागो वचनात् | ४ | २ | १६ | १०९१ |
| अविरोधश्चन्दनवत् | २ | ३ | २३ | ६३३ |
| अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् | ३ | १ | २५ | ७५२ |
| अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः | २ | १ | २३ | ४९२ |
| अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतिः | ३ | १ | ६ | ७२४ |
| असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा | २ | २ | २१ | ५३९ |
| असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् | २ | १ | ७ | ४१८ |
| असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् | २ | १ | १७ | ४४७ |
| असंततेश्चाव्यतिकरः | २ | ३ | ४९ | ६७२ |
| असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः | २ | ३ | ९ | ६०६ |
| असर्वत्रिकी | ३ | ४ | १० | ९७७ |
| अस्ति तु | २ | ३ | २ | ५८७ |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति | १ | १ | १९ | ११६ |
| अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा | ४ | २ | २१ | १०७९ |

आ.

| | | | | |
|-------------------------------------|---|---|----|------|
| आकाशस्तष्टिङ्गात् | १ | १ | २२ | १३० |
| आकाशे चाविशेषात् | २ | २ | २४ | ५४९ |
| आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् | १ | ३ | ४१ | ३१२ |
| आचारदर्शनात् | ३ | ४ | ३ | ९७५ |
| आतिर्वाहकास्तष्टिङ्गात् | ४ | ३ | ४ | ११०० |
| आत्मकृतेः परिणामात् | १ | ४ | २६ | ३९१ |
| आत्मशुद्धीतिरितरवदुत्तरात् | ३ | ३ | १६ | ५६८ |
| आत्मानं चैवं विचित्राश्च हि | २ | १ | २८ | ४७३ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| आत्मशब्दाच्च | ३ | ३ | १५ | ८५५ |
| आत्मा प्रकरणात् | ४ | ४ | ३ | ११२९ |
| आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च | ४ | १ | ३ | १०४१ |
| आदरादलोपः | ३ | ३ | ४० | ९२१ |
| आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः | ४ | १ | ६ | १०५० |
| आध्यानाय प्रयोजनाभावात् | ३ | ३ | १४ | ८५३ |
| आनन्दमयोऽभ्यासात् | १ | १ | १२ | ११८ |
| आनन्दादयः प्रधानस्य | ३ | ३ | ११ | ८५० |
| आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् | ३ | १ | १० | ७३७ |
| आनुमानिकप्रत्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त- गृहीते दर्शयति च | १० | ४ | १ | ३२५ |
| आपः | २ | ३ | ११ | ६११ |
| आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् | ४ | १ | १२ | १०५३ |
| आभास एव च | २ | ३ | ५० | ६७२ |
| आमनन्ति चेन्नमस्मिन् | १ | २ | ३२ | २१९ |
| आर्त्विज्यमित्यौदुलोमिस्तस्मै हि परिकीयते | ३ | ४ | ४५ | १०१८ |
| आवृत्तिरसकृदुपदेशात् | ४ | १ | १ | १०३३ |
| आसीनः संभवात् | ४ | १ | ७ | १०५५ |
| आह च तन्मात्रम् | ३ | २ | १६ | ७८८ |

इ.

| | | | | |
|--|---|---|----|------|
| इतरपराप्रशस्ति इति चेन्नासंभवात् | १ | ३ | १८ | २५४ |
| इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोषप्रसक्तिः | २ | १ | २१ | ४५९ |
| इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु | ४ | १ | १४ | १०६५ |
| इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् | २ | २ | १९ | ५३४ |
| इतरे त्वर्थसामान्यात् | ३ | ३ | १३ | ८५२ |
| इतरेषां चानुपलब्धेः | २ | १ | २ | ४०३ |
| इयदामननात् | ३ | ३ | ३४ | ९१० |

ई.

| | | | | |
|-----------------------------|---|---|----|-----|
| ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः | १ | ३ | १३ | २४१ |
|-----------------------------|---|---|----|-----|

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-----------------------|----|-----|-----|-----|
| ईक्षतेर्नाशब्दम् | १ | १ | ५ | ८६ |

उ.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः | १ | ४ | २१ | ३७८ |
| उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् | २ | ३ | १९ | ६२९ |
| उत्तरा चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु | १ | ३ | १९ | २२६ |
| उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् | २ | २ | २० | ५३७ |
| उत्पत्त्यसंभवात् | २ | २ | ४२ | ५७९ |
| उदासीनानामपि चेवं सिद्धिः | २ | २ | २७ | ५४९ |
| उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् | १ | १ | २७ | १५० |
| उपादानात् | २ | ३ | ३५ | ६४८ |
| उपपत्तेश्च | ३ | २ | ३५ | ८१६ |
| उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च | २ | १ | ३६ | ४८२ |
| उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् | ३ | ३ | ३० | ८९८ |
| उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् | ३ | ४ | ४२ | १०१४ |
| उपमदं च | ३ | ४ | १६ | ९८० |
| उपलब्धिवदनियमः | २ | ३ | ३५ | ६४९ |
| उपसंहारदर्शनात्नेति चेन्न क्षीरवद्भि | २ | १ | २४ | ४६४ |
| उपसंहारोऽर्थाभिदाद्विधिशेषवत्समाने च | ३ | ३ | ५ | ८३४ |
| उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् | ३ | ३ | ४१ | ९२४ |
| उभयथा च दोषात् | २ | २ | १६ | ५२३ |
| ” ” | २ | २ | २३ | ५४१ |
| उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः | २ | २ | १२ | ५१३ |
| उभयव्यपदेशाच्चहिकुण्डलवत् | ३ | २ | २७ | ८०९ |
| उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः | ४ | ३ | ५ | १९७७ |

ऊ.

| | | | | |
|------------------------------|---|---|----|-----|
| ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि | ३ | ४ | १७ | ९८१ |
|------------------------------|---|---|----|-----|

ए.

| | | | | |
|--------------------------------|---|---|----|-----|
| एक आत्मनः शरीरे भावात् | ३ | ३ | ५३ | ९४७ |
| एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः | २ | ३ | ८ | ६०४ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| एतेन योगः प्रत्युक्तः | २ | १ | ३ | ४०४ |
| एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः , | २ | १ | १२ | ४२९ |
| एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः | १ | ४ | २८ | ३७२ |
| एवं चाऽऽत्मा कात्स्न्यम् | २ | २ | ३४ | ५६७ |
| एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः | ३ | ४ | ५२ | १०२८ |
| एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावापविरोधं बादरायणः | ४ | ४ | ७ | ११३२ |

ऐ.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् | ३ | ४ | ५१ | १०२५ |
|---|---|---|----|------|

क.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| कम्पनात् | १ | ३ | ३९ | ३१३ |
| करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः | २ | २ | ४० | ५७६ |
| कर्ता शास्त्रार्थवच्चात् | २ | ३ | ३३ | ६४७ |
| कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च | १ | २ | ४ | १६२ |
| कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः | १ | ४ | १० | ३४९ |
| कामकारेण चैके | ३ | ४ | १५ | ९७९ |
| कामाच्च नानुमानापेक्षा | १ | १ | १८ | ११६ |
| कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः | ३ | ३ | ३९ | ९१९ |
| काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहृत्त्वभावात् | ३ | ३ | ६० | ९६३ |
| कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः | १ | ४ | १४ | ३५९ |
| कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः | ४ | ३ | ७ | ११०९ |
| कार्याख्यानादपूर्वम् | ३ | ३ | १८ | ८६४ |
| कार्यात्यये तदध्यक्षेण स्थातः परमभिधानात् | ४ | ३ | १० | ११११ |
| कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः | २ | ३ | ४२ | ६६० |
| कृत्वात्ययेऽनुशयवान्दष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च | ३ | १ | ८ | ७२९ |
| कृत्स्नभावात्तु ग्रहिणोपसंहारः | ३ | ४ | ४८ | १०८२ |
| कृत्स्नप्रसक्तिर्निर्वयवत्वशब्दकोपो वा | २ | १ | २६ | ४४७ |
| क्षणिकत्वाच्च | २ | २ | ३१ | ५६० |
| क्षत्रियवृत्तगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् | १ | ३ | ३५ | ३१० |

ग.

| | | | | |
|--|---|---|----|-----|
| गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च | १ | ३ | १५ | ५२१ |
|--|---|---|----|-----|

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|-----|
| गतिसामान्यात् | १ | १ | १० | १०३ |
| गतेरर्थवच्चमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः | ३ | ३ | २९ | ८९७ |
| गुणसाधारण्यश्रुतेश्च | ३ | ३ | ६४ | ९६५ |
| गुणाद्वा लोकवत् | २ | ३ | २५ | ६३५ |
| गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् | १ | २ | ११ | १७६ |
| गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् | १ | १ | ६ | ९३ |
| गौण्यसंभवात् | २ | ३ | ३ | ५८८ |
| “ | २ | ४ | २ | ६८१ |

च.

| | | | | |
|--|---|---|----|------|
| चक्षुरादिवस्तु तत्सहस्रिष्ट्यादिभ्यः | २ | ४ | १० | ६९७ |
| चमसवदविशेषात् | १ | ४ | ८ | ३४५ |
| चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णर्जिनिः | ३ | १ | ९ | ७३६ |
| चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभा- वित्वात् | २ | ३ | १६ | ६२० |
| चितितन्मात्रेण तदस्मिन्कत्वादित्यौदुलोमिः | ४ | ४ | ६ | ११३२ |

छ.

| | | | | |
|---|---|---|----|-----|
| छन्दत उभयाविरोधात् | ३ | ३ | २८ | ८९७ |
| छन्दोविज्ञानान्नेति. चेन्न तथा चेतोर्षणनिगदात्तथाहि दर्शनम् | १ | १ | २५ | १४५ |

ज.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| जगद्वाचित्वात् | १ | ४ | १६ | ३६७ |
| जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहित्वाच्च | ४ | ४ | १७ | ११४१ |
| जन्माद्यस्य यतः | १ | १ | २ | ३० |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेतद्व्याख्यातम् | १ | ४ | १७ | ३७१ |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासनात्रैविध्यादाश्रित- त्वादिह तद्योगात् | १ | १ | ३१ | १५७ |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च | १ | ४ | ४ | ३३७ |
| ज्ञोऽत एव | २ | ३ | १८ | ६२७ |
| ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु सदा मननात् | २ | ४ | १४ | ७०१ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके.... | १ | ४ | ९ | ३४७ |
| ज्योतिर्दर्शनात्.... | १ | ३ | ४० | ३१७ |
| ज्योतिश्चरणाभिधानात्.... | १ | १ | २४ | १३८ |
| ज्योतिषि भावाच्च.... | १ | ३ | ३२ | २९८ |
| ज्योतिषैकेषामसत्यञ्जे.... | १ | ४ | १३ | ३५८ |

त.

| | | | | |
|--|---|---|----|------|
| त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्.... | २ | ४ | १७ | ७०५ |
| तच्छ्रुतेः.... | ३ | ४ | ४ | ९७२ |
| तद्वितोऽधि वरुणः संबन्धात्.... | ४ | ३ | ३ | ११०४ |
| तत्तु समन्ययात्.... | १ | १ | ४ | ४५ |
| तत्पूर्वकत्वाद्वाचः.... | २ | ४ | ४ | ६८४ |
| तत्प्राक्श्रुतेश्च.... | २ | ४ | ३ | ६८३ |
| तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः.... | ३ | १ | १६ | ७४२ |
| तथाच दर्शयति.... | २ | ३ | २७ | ६३५ |
| तथाचैकवाक्यतोऽपबन्धात्.... | ५ | ४ | २४ | ९९६ |
| तथाऽन्यप्रतिषेधात्.... | ३ | २ | ३६ | ८१७ |
| तथा प्राणाः.... | २ | ४ | १ | ६७७ |
| तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्.... | ४ | १ | १३ | १०६१ |
| तदधीनत्वादर्थवत्.... | १ | ४ | ३ | ३३३ |
| तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः.... | २ | १ | १४ | ४३३ |
| तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिण्यक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्.... | ३ | १ | १ | ७१५ |
| तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च.... | ३ | २ | ७ | ७६७ |
| तदभावेनिर्धारणे च प्रवृत्तेः.... | १ | ३ | २७ | ३१२ |
| तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः.... | २ | ३ | १३ | ६१४ |
| तदव्यक्तमाह हि.... | ३ | २ | २३ | ८०६ |
| तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात्.... | ४ | २ | ८ | १०८४ |
| तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्.... | १ | ३ | २६ | २७५ |
| तदोक्तोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्- च्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हादानीं गृहीतः शताधि- क्या.... | ४ | २ | १७ | १०९२ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् | २ | ३ | २९ | ६३८ |
| तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि निगमात्तद्रूपाभावेभ्यः | ३ | ४ | ४० | १०११ |
| तद्भूतो विधानात् | ३ | ४ | ६ | ९७३ |
| तद्वेतुव्यपदेशाच्च | १ | १ | १४ | ११३ |
| तन्निर्धारणानियमस्तदृष्टेः पृथग्घटप्रतिबन्धः फलम् | ३ | ३ | ४२ | ९२६ |
| तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् | १ | १ | ७ | ९६ |
| तन्मनः प्राण उत्तरात् | ४ | २ | ३ | १०७७ |
| तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः | ४ | ४ | १३ | ११३७ |
| तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमो- | | | | |
| क्षप्रसङ्गः..... | २ | १ | ११ | ४२५ |
| तस्य च नित्यत्वात्..... | २ | ४ | १६ | ७७४ |
| तानि परे तथाह्याह | ४ | २ | १५ | १०९० |
| तुल्यं तु दर्शनम् | ३ | ४ | ९ | ९७६ |
| तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य | ३ | १ | २१ | ७४५ |
| तेजोऽतस्तथाह्याह | २ | ३ | १० | ६०८ |
| त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च | १ | ४ | ६ | ३३९ |
| त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् | ३ | १ | २ | ७१९ |

द.

| | | | | |
|------------------------------------|---|---|----|------|
| दर्शनाच्च | ३ | १ | २० | ७४५ |
| ” ” | ३ | २ | २१ | ७९१ |
| ” ” | ३ | ३ | ४८ | २४० |
| ” ” | ३ | ३ | ६६ | ९६७ |
| ” ” | ४ | ३ | १३ | १११२ |
| दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने | ४ | ४ | २० | ११४४ |
| दर्शयति च | ३ | ३ | ४ | ८३३ |
| ” ” | ३ | ३ | २२ | ८७४ |
| दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते | ३ | २ | १७ | ७८८ |
| दहर उत्तरेभ्यः | १ | ३ | १४ | २४५ |
| दृश्यते तु | २ | १ | ६ | ४१४ |
| देवादिवदपि लोके | २ | १ | २५ | ४६५ |

| | अ० | पा० | ह० | पृ० |
|------------------------------------|----|-----|----|------|
| देहयोगाद्वा सोऽपि | ३ | ४ | ६ | ७६५ |
| द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् | १ | ३ | १ | २२१ |
| द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः | ४ | ४ | १२ | ११३७ |

ध.

| | | | | |
|--|---|---|----|------|
| धर्मं जैमिनिरत एव | ३ | २ | ४० | ८२१ |
| धर्मोपपत्तेश्च | १ | ३ | ९ | २३७ |
| धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः | १ | ३ | १६ | २५३ |
| ध्यानाच्च | ४ | १ | ८ | १०५६ |

न.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् | २ | १ | ३५ | ४८२ |
| न च कर्तुः करणम् | २ | २ | ४३ | ५८१ |
| न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः | ४ | ३ | १४ | १११३ |
| न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः | २ | २ | ३५ | ५६८ |
| न च स्मार्तमतद्वर्माभिलापात् | १ | २ | १९ | १९५ |
| न चाऽऽधिक्यरिक्कमपि पतनानुमानात्तदयोगात् | ३ | ४ | ४१ | १०१२ |
| न तु दृष्टान्तभावात् | २ | १ | ९ | ४२० |
| न तृतीये तथोपलब्धेः | ३ | १ | १८ | ७४४ |
| न प्रतीके न द्वि सः | ४ | १ | ४ | १०४५ |
| न प्रयोजनवत्त्वात् | २ | १ | ३२ | ४७७ |
| न भावोऽनुपलब्धेः | २ | २ | ३० | ५५९ |
| न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् | ३ | २ | १२ | ७८४ |
| न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् १ | १ | १ | २२ | १५३ |
| न वा तत्सहभावाश्रुतेः | ३ | ३ | ६५ | ९६६ |
| न वा प्रकरणभेदात्परोवरीपस्त्वादिवत् | ३ | ३ | ७ | ८३८ |
| न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् | २ | ४ | ९ | ६९४ |
| न वा विशेषात् | ३ | ३ | २१ | ८७३ |
| न विपदश्रुतेः | २ | ३ | १ | ५८५ |
| न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् | २ | १ | ४ | ४०८ |
| न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च | १ | ४ | ११ | ३५१ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः | ३ | ३ | ५१ | ९४५ |
| न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि | ३ | २ | ११ | ७८२ |
| नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नैतराधिकारात् | २ | ३ | २१ | ६३२ |
| नातिचिरेण विशेषात् | ३ | १ | २३ | ७४८ |
| नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः | २ | ३ | १७ | ६२२ |
| नाना शब्दादिभेदात् | ३ | ३ | ५८ | ९५९ |
| नानुमानमतच्छब्दात् | १ | ३ | ३ | २२७ |
| नाभाव उपलब्धेः | २ | २ | २८ | ५५९ |
| नाविशेषात् | ३ | ४ | १३ | ९७९ |
| नासतोऽदृष्टत्वात् | २ | २ | २६ | ५४६ |
| नित्यमेव च भावात् | २ | २ | १४ | ५१९ |
| नित्योपलब्ध्यनुपलब्धप्रसङ्गोऽन्यतरन्तियमो वाऽ- | | | | |
| न्यथा | २ | ३ | ३२ | ६४५ |
| नियमाच्च | ३ | ४ | ७ | ९७३ |
| निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च | ३ | २ | २ | ७५७ |
| निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावदेहभावित्वाददर्शयति च | ४ | २ | १९ | १०९४ |
| नेतरोऽनुपपत्तेः | १ | १० | १६ | ११४ |
| नैकस्मिन्दर्शयतो हि | ४ | २ | ६ | १०८१ |
| नैकस्मिन्नसंभवात् | २ | २ | ३३ | ५६२ |
| नोपमर्देनातः | ४ | २ | १० | १०८५ |

पः

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते | २ | ४ | १२ | ६९९ |
| पटवच्च | २ | १ | १९ | ४५८ |
| पत्यादिशब्देभ्यः | १ | ३ | ४३ | ३२४ |
| पत्युरसामञ्जस्यात् | २ | २ | ३७ | ५७१ |
| पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि | २ | २ | ३ | ४९४ |
| परं जौर्मानिर्मुख्यत्वात् | ४ | ३ | १२ | १११२ |
| परमतः सेतून्मानसंज्जन्धभेदव्यपदेशेभ्यः | ३ | २ | ३१ | ८११ |
| परात् तच्छ्रुतेः | २ | ३ | ४१ | ६५८ |
| परमिध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो | ३ | २ | ९ | ७६४ |

| | अ० | पा० | मू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि | ३ | ४ | १८ | ९८२ |
| परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वाच्चनुबन्धः | ३ | ३ | ५२ | ९४६ |
| पारिपुवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् | ३ | ४ | २३ | ९९४ |
| पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् | २ | ३ | ३१ | ६४४ |
| पुरुषविद्यायामिव चैतरेषामनाम्नानात् | ३ | ३ | २४ | ८७७ |
| पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः | ३ | ४ | १ | ९६८ |
| पुरुषाश्मवदति चेत्तथाऽपि | ३ | २ | ७ | ४९९ |
| पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् | ३ | २ | ४१ | ८२२ |
| पूर्ववद्वा | ३ | २ | २९ | ८१० |
| पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् | ३ | ३ | ४५ | ९३७ |
| पृथग्व्यपदेशात् | २ | ३ | २८ | ६३७ |
| पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः | २ | ३ | १२ | ६१२ |
| प्रकरणाच्च | १ | २ | १० | १७६ |
| प्रकरणात् | १ | ३ | ६ | २२८ |
| प्रकाशवच्चैवैषध्यात् | ३ | २ | १५ | ७८७ |
| प्रकाशादिवच्चैवैषध्यात् प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् | ३ | २ | २५ | ८०८ |
| प्रकाशादिवच्चैवं परः | २ | ३ | ४६ | ६६६ |
| प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् | ३ | २ | २८ | ८१० |
| प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् | १ | ४ | २३ | ३८५ |
| प्रकृतैतावच्च द्विं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः | ३ | २ | २२ | ८०० |
| प्रतिज्ञासिद्धेल्लिङ्गमात्रमर्थः | १ | ४ | २० | ३७७ |
| प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः | २ | ३ | ६ | ५९३ |
| प्रतिषेधाच्च | ३ | २ | ३० | ८१० |
| प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् | ४ | २ | १२ | १०८६ |
| प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् | २ | २ | २२ | ५४० |
| प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः | ४ | ४ | १८ | ११४२ |
| प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः | ३ | १ | ५ | ७२२ |
| प्रदानकदेव तदुक्तम् | ३ | ३ | ४३ | ९३० |
| प्रदीपवदादेशस्तथाहि दर्शयति | ४ | ४ | १५ | ११३८ |
| प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् | २ | ३ | ५३ | ६७५ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|-----|
| प्रवृत्तेश्च | २ | २ | २ | ४९१ |
| प्रसिद्धेश्च | १ | ३ | १७ | २५४ |
| प्राणगतेश्च | ३ | १ | ३ | ७२० |
| प्राणवता शब्दात् | २ | ४ | १५ | ७०४ |
| प्राणभृच्च | १ | ३ | ४ | २२७ |
| प्राणस्तथाऽनुगमात् | १ | १ | २८ | १५१ |
| प्राणादयो वाक्यशेषात् | १ | ४ | १२ | ३५६ |
| प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयी हि भेदे | ३ | ३ | १२ | ८५१ |

फ.

| | | | | |
|--------------------|---|---|----|-----|
| फलमत उपपत्तेः | ३ | २ | ३८ | ६१९ |
|--------------------|---|---|----|-----|

ब.

| | | | | |
|--------------------------------------|---|---|----|------|
| बहिस्तुभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च | ३ | ४ | ४३ | १०१६ |
| बुद्धयर्थः पादवत् | ३ | २ | ३३ | ८१५ |
| ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् | ४ | १ | ५ | १०४६ |
| ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः | ४ | ४ | ५ | ११३१ |

भ.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| भाकं वाऽनात्मविच्चात्तथाहि दर्शयति | ३ | १ | ७ | ७२६ |
| भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् | ४ | ४ | ११ | ११३६ |
| भावं तु बादरायणोऽस्ति हि | १ | ३ | ३३ | २९९ |
| भावशब्दाच्च | ३ | ४ | २२ | ९९३ |
| भावे चोपलब्धेः | २ | १ | १५ | ४४७ |
| भावे जाग्रद्वत् | ४ | ४ | १४ | ११३८ |
| भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् | १ | १ | २६ | १४८ |
| भूतेषु तच्छ्रुतेः | ४ | २ | ५ | १०८० |
| भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् | १ | ३ | ८ | २३० |
| भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति | ३ | ३ | ५७ | ९५६ |
| भेदव्यपदेशाच्च | १ | १ | १७ | ११४ |
| भेदव्यपदेशाच्चान्यः | १ | १ | २१ | १२९ |
| भेदव्यपदेशात् | १ | ३ | ५ | २२८ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| भेदश्रुतेः | २ | ४ | १८ | ७०७ |
| भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि | ३ | ३ | २ | ८३० |
| भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् | २ | १ | १३ | ४३१ |
| भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च : | ४ | ४ | २१ | ११४४ |
| भोगेन त्वितरे क्षर्पापत्त्वा संपद्यते | ४ | १ | १९ | १०७३ |

म.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः | १ | ३ | ३१ | २९६ |
| मन्त्रवर्णात् | २ | ३ | ४४ | ६४४ |
| मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः | ३ | ३ | ५६ | ९५४ |
| महर्क्षिर्वद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् | २ | २ | ११ | ५०८ |
| महर्द्धच्च | १ | ४ | ७ | ३४५ |
| मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च | ४ | ४ | २१ | ७१३ |
| मान्नवर्णिकमेव च गीयते | १ | १ | १५ | ११३ |
| मायामात्रं तु कैत्स्न्येनानुभविष्यत्स्वरूपत्वात् | ३ | २ | ३ | ७५८ |
| मुक्तः प्रतिज्ञानात् | ४ | ४ | २ | ११२८ |
| मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् | १ | ३ | २ | २२५ |
| मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् | ३ | २ | १० | ७७८ |
| मौनवदितुरेषामप्युपदेशात् | २ | ४ | ४९ | १०२३ |

य.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| यत्रैकाग्रता तत्राग्निशेषात् | ४ | १ | ११ | १०५७ |
| यथाच तक्षोभयथा | २ | ३ | ४० | ६५१ |
| यथाच प्राणार्दि | २ | १ | २० | ४५८ |
| यदेव विचयेति हि | ४ | १ | १८ | १०७१ |
| यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् | ३ | ३ | ३२ | ९०२ |
| यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् | ३ | ३ | ३० | ८९८ |
| यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् | २ | ३ | ७ | ५९८ |
| युक्तेः शब्दान्तराच्च | २ | १ | १८ | ४५० |
| योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते | ४ | २ | २१ | १०९७ |
| योनिश्च हि गीयते | १ | ४ | २७ | ३२१ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-------------------|----|-----|-----|-----|
| योनैः शरीरम् | ३ | १ | २७ | ७५५ |

र.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् | २ | २ | १ | ४०८६ |
| रश्म्यनुसारी | ४ | २ | १८ | १०९४ |
| रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् | २ | २ | १५ | ५२० |
| रूपोपन्यासाच्च | १ | २ | २३ | १०५ |
| रेतःसिग्योगोऽथ | ३ | १ | २६ | ७५४ |

ल.

| | | | | |
|---------------------------------------|---|---|----|------|
| लिङ्गभूयस्त्वात्तद्वि बलीयस्तदपि | ३ | ३ | ४४ | ९३६ |
| लिङ्गाच्च | ४ | १ | २ | १०३५ |
| लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् | २ | १ | ३३ | ४७८ |

व.

| | | | | |
|---|---|---|----|------|
| वदतीति चेन्न प्राज्ञोऽहि प्रकरणात् | १ | ४ | ५ | ३३८ |
| वाक्यान्वयात् | १ | ४ | १९ | ३७४ |
| वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च | ४ | २ | १ | १०७६ |
| वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् | ४ | ३ | २ | ११०१ |
| विकरणत्वाच्चेति चेतदुक्तम् | २ | १ | ३१ | ४७६ |
| विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् | ३ | ३ | ५९ | ९६२ |
| विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह | ४ | ४ | १९ | ११४३ |
| विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् | १ | १ | १३ | ११३ |
| विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः | २ | २ | ४४ | ५८१ |
| विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् | ३ | १ | १७ | ७४२ |
| विद्यैव तु निर्धारणात् | ३ | ३ | ४७ | ९३९ |
| विधिर्वा धारणवत् ... | ३ | ४ | २० | ९८६ |
| विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च | २ | ३ | १४ | ६१६ |
| विप्रतिषेधाच्च | ३ | २ | ४५ | ५८३ |
| विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् | २ | २ | १० | ५०२ |
| विभागः शतवत् | २ | ४ | ११ | ९७७ |
| विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपक्षदर्शनात् | १ | ३ | २७ | २७७ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| विवक्षितगुणोपपत्तेश्च | १ | २ | २ | १६६ |
| विशेषं च दर्शयति | ४ | ३ | १६ | ११२६ |
| विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ | १ | २ | २२ | २०४ |
| विशेषाच्च | १ | २ | १२ | १८० |
| विशेषानुग्रहश्च | ३ | ४ | ३८ | १००९ |
| विशेषितत्वाच्च | ४ | ३ | ८ | ११०९ |
| विहारोपदेशात् | २ | ३ | ३४ | ६४८ |
| विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि | ३ | ४ | ३२ | १००४ |
| वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्याद्वेव | १३ | २ | २७ | ७९० |
| वेधाद्यर्थभेदात् | ३ | ३ | २५ | ८८० |
| वैद्युत्तेनैव ततस्तच्छ्रुतेः | ४ | ३ | ६ | ११०८ |
| वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् | २ | २ | २९ | ५५८ |
| वैलक्षण्याच्च | २ | ४ | १९ | ७०७ |
| वैशेष्याच्च तद्वादस्तद्वादः | २ | ४ | २२ | ७१४ |
| वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् | १ | २ | २४ | २०७ |
| वैषम्यनैर्गुण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति | २ | १ | ३४ | ४८० |
| व्यतिरेकस्तद्वाधाभावित्वाच्च तूपलब्धवत् | ३ | ३ | ५४ | ९४२ |
| व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात् | २ | २ | ४ | ४९६ |
| व्यतिरेको गन्धवत् | २ | ३ | २६ | ६३६ |
| व्यतिरेकस्तद्वाधाभावित्वाच्च हीतरवत् | ३ | ३ | ३७ | ९१४ |
| व्यतिरेकस्तद्वाधाभावित्वाच्च हीतरवत् | २ | ३ | ३६ | ६४८ |
| व्यतिरेकस्तद्वाधाभावित्वाच्च हीतरवत् | ३ | ३ | ९ | ८४३ |
| श. | | | | |
| शक्तिविपर्ययात् | २ | ३ | ३८ | ६५० |
| शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् | १ | ३ | २८ | २७९ |
| शब्दविशेषात् | १ | २ | ५ | १६९ |
| शब्दश्चातोऽकामकारे | ३ | ४ | ३१ | १००४ |
| शब्दाच्च | २ | ३ | ४ | ५९० |
| शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्यु- पदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते | १ | २ | २६ | २१२ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--|----|-----|-----|------|
| शब्दादेव प्रमितः | १ | ३ | २४ | २७१ |
| शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गत्वा | | | | |
| तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् | ३ | ४ | २७ | २९२ |
| शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते.... | १ | २ | २० | १२६ |
| शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् | १ | १ | ३० | १५६ |
| शास्त्रयोनित्वात् | १ | १ | ३ | ३९ |
| शिष्टेश्च | ३ | ३ | ६२ | ९६५ |
| श्रुतस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि | १ | ३ | ३४ | ३०६ |
| शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः | ३ | ४ | २ | ९६९ |
| श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च | १ | ३ | ३८ | ३१२ |
| श्रुतत्वाच्च | १ | १ | ११ | १०४ |
| ” | ३ | २ | ३९ | ८२० |
| श्रुतेश्च | ३ | ४ | ४६ | १०१९ |
| श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् | २ | १ | २७ | ४६९ |
| श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च | १ | २ | १६ | १८६ |
| श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधः | ३ | ३ | ४९ | ९४० |
| श्रेष्ठश्च | २ | ४ | ८ | ६९२ |

स.

| | | | | |
|--|---|---|----|------|
| संज्ञातश्चेत् | | | | |
| संज्ञामूर्तिमूर्ति | | | | |
| संयमने त्वनुभूयस्त्वमात्मनि | | | | |
| संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च | | | | |
| स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिर्भ्यः | ३ | २ | ९ | ७७५ |
| संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः | ४ | ४ | ८ | ११३२ |
| सत्त्वाच्चावरस्य | २ | १ | १६ | ४४८ |
| संद्ये सृष्टिराह हि | ३ | २ | १ | ७५६ |
| सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च | २ | ४ | ५ | ६८४ |
| समन्वारम्भणात् | ३ | ४ | ५ | ९७३ |
| समवायाभ्युपगमाच्च साम्पादनवस्थितेः | २ | २ | १३ | ५१८ |
| समाकर्त्तात् | १ | ४ | १५ | ३६४ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| समाध्यभावाच्च | २ | ३ | ३१ | ६५१ |
| समान एवं चाभेदात् | ३ | ३ | १९ | ८६९ |
| समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्ताविष्यविरोधी दर्शनात्स्मृतेश्च | १ | ३ | ३० | २९१ |
| समाना चाऽऽस्त्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य | ४ | २ | ७ | १०८३ |
| समाहारात् | ३ | ३ | ३६ | ९६५ |
| समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः | २ | २ | १८ | ५३१ |
| संपत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति | १० | २ | ३ | २१७ |
| संपत्त्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् | ४ | ४ | १ | ११२७ |
| संबन्धादेवमन्यत्रापि | ३ | ३ | २० | ८७१ |
| संबन्धानुपपत्तेश्च | २ | २ | ३८ | ५७४ |
| संभृतिस्तुव्याप्त्यपि चातः | ३ | ३ | २३ | ८७५ |
| संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् | १ | २ | ८ | १७२ |
| सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् | १ | २ | १ | १६३ |
| सर्वथाऽनुपपत्तेश्च | २ | २ | ३२ | ५६२ |
| सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् | ३ | ४ | ३४ | १००७ |
| सर्वधर्मोपपत्तेश्च | २ | १ | ३५ | ४८४ |
| सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् | ३ | ३ | १ | ८२३ |
| सर्वव्यापि तद्व्यापि तद्व्याप्यात् | ३ | ४ | २८ | १४०१ |
| सर्वव्यापि तद्व्यापि तद्व्याप्यात् | ३ | ४ | २६ | ९९७ |
| सर्वव्यापि तद्व्यापि तद्व्याप्यात् | ३ | ३ | १० | ८४७ |
| सर्वव्यापि तद्व्यापि तद्व्याप्यात् | ३ | ४ | ३३ | १००५ |
| सहकारित्वेन च | ३ | ४ | ४७ | १०१९ |
| सहकार्यन्तरविधिः परीक्षणं तद्व्यापि तद्व्याप्यात् | ३ | ४ | ४७ | १०१९ |
| साक्षाद्भाषाज्ञानात् | १ | ४ | २५ | ३८९ |
| साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः | १ | २ | २८ | २१५ |
| सा च प्रशासनात् | १ | ३ | ११ | २४० |
| सामाव्यापत्तिरूपपत्तेः | ३ | १ | २२ | ७४६ |
| सामान्यास्तु | २ | २ | ३२ | ८१३ |
| सामीप्यास्तु तद्व्यापदेशः | ४ | ३ | ९ | १११० |
| सांपराये तद्व्याप्याभावात्तथा ह्यन्ते | ३ | ३ | २७ | ८९५ |
| सकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः | ३ | १ | ११ | ७३८ |

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| मुखविशिष्टाभिधानादेव च | १ | २ | १५ | १८६ |
| सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन.... | १ | ३ | ४२ | ३२१ |
| सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् | १ | ४ | २ | ३३५ |
| सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धे: | ४ | २ | ९ | १०८५ |
| सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः | ३ | २ | ४ | ७६१ |
| सैव हि सत्यादयः | ३ | ३ | ३८ | ९१६ |
| सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः | ४ | २ | ४ | १०७२ |
| स्तुतयेऽनुमातर्वा | ३ | ४ | १४ | ९७२ |
| स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् | ३ | ४ | २१ | ९९१ |
| स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् | ३ | २ | ३४ | ८१६ |
| स्थानादिव्यपदेशाच्च | १ | २ | १४ | ६८६ |
| स्थित्यदनाभ्यां च | १ | ३ | ७ | २२२ |
| स्पष्टो ह्येकेषाम् | ४ | २ | १३ | १०८७ |
| स्मरन्ति च | २ | ३ | ४७ | ६६८ |
| ” | ३ | २ | १४ | ७४४ |
| ” | ४ | १ | १० | १०५७ |
| स्मर्यते च | ४ | २ | १४ | १०८२ |
| स्मर्यतेऽपि च लोके | ३ | १ | १९ | ७४५ |
| स्मर्यमाणमनुमानं स्मर्यादिति | १ | ३ | २५ | २११ |
| स्मृतेश्च | १ | ३ | ६ | १७० |
| ” | ४ | ३ | ११ | ११११ |
| स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश- दोषप्रसङ्गात् | ३ | १ | १ | ३९६ |
| स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् | २ | ३ | ५ | ५९१ |
| स्वपक्षदोषाच्च | २ | १ | १० | ४२४ |
| ” | २ | १ | २९ | ४७३ |
| स्वशब्दोन्मानाभ्यां च | २ | ३ | २२ | ६३३ |
| स्वात्मना चोत्तरयोः | २ | ३ | २० | ६३१ |
| स्वाध्यायस्य तथैवेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सव- वच्च तन्नियमः | ३ | ३ | ३ | ८३२ |
| स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि | ४ | ४ | १६ | ११४० |

वर्णानुक्रमः ।

९२

| | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---|----|-----|-----|------|
| स्वाप्ययात् | १ | १ | ९ | ११० |
| स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः | ३ | ४ | ४४ | १०१७ |
| हं. | | | | |
| हस्तादयस्तु स्थितेऽर्तो नैवम् | २ | ४ | ६ | ६८६ |
| हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्त- | | | | |
| दुक्तम् | ३ | ३ | २६ | ८८८ |
| दृष्टक्षेप्या तु मनुष्याधिकारत्वात् | १ | ३ | २५ | २७३ |
| चनाच्च | १ | १ | ८ | ९९ |



